श्रीमद् भगवद्गीता

विपुल-भाष्य

भाष्यकार

दयानन्द भार्गव

॥श्रीहरिः॥

शुभाशंसा

आचार्य दयानन्द भार्गव का श्रीमद्भगवद्गीता का विपुल-ाष्य स्थालीपुलाकन्याय से देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता ई। प्रसन्नगम्भीर शैली में लिखा गया यह भाष्य जहाँ एक ोर विद्वानों के मनस्तोष का हेतु बनेगा वहाँ साधकों के लिये ाधनोपयोगी और जनसामान्य के लिये जीवनोपयोगी ामग्री भी उपलब्ध करायेगा। श्री रामशरण नाटाणी ने भाष्य ा जो वैशिष्ट्य बताया है मैं उससे अक्षरशः सहमत हूँ।

– आचार्य युगलकिशोर मिश्र

कुलपति, जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीमद्भगवद्गीता के विपुल-भाष्य का वैशिष्ट्य

- वेद तथा गीता में विज्ञान-दृष्टि से समन्वय
- गीता के कर्मयोग का वैदिक कर्मकाण्ड से समन्वय
- गीता के आधार पर षड् वैदिक दर्शनों में समन्वय
- गीता की तत्त्वमीमांसा और आध्यात्मिक साधना का मन्वय
- विविध रुचि वाले साधकों के लिये पृथक्-पृथक् साधना-पद्धति
- 142 पृष्ठों की भूमिका में गीता का सर्वाङ्गीण परिचय
- किसी सम्प्रदाय-विशेष के प्रति अनाग्रह
- गम्भीर वैदुष्यपूर्ण किन्तु जीवनोपयोगी व्याख्या
- मूल के दुरूह अंशों की सरल व्याख्या
- यज्ञ जैसी रहस्यपूर्ण अवधारणाओं की तर्कसङ्गत व्याख्या
- भक्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण
- आचार-मीमांसा का तलस्पर्शी विवेचन
- कर्म में अकर्म का रहस्योद्घाटन
- सगुण-निर्गुण का समन्वय

इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालने में भाष्यकार ने अपने 51 वर्षों के विश्वविद्यालय के अध्ययन-अध्यापन-अनुसन्धान तथा महात्माओं, साधकों और विद्वानों के सत्सङ्ग के विरल अनुभव का पूरा उपयोग किया है। शास्त्रों की गम्भीर चर्चाओं को जन-जन तक पहुँचाने का तथा सिद्धान्तों को व्यावहारिक धरातल पर प्रयोगात्मक रूप देने का यह एक ठोस प्रयास है, जिसकी वर्तमान ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित होने से पहले ही राजस्थान पत्रिका में लेखमाला के रूप में पढ़कर प्रबुद्ध पाठकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

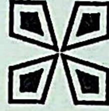
–रामशरण नाटाणी, हंसा प्रकाशन

ॐ

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

श्रीमद्भगवद्गीता

भाषानुवादसहित विपुलभाष्योपेता



भाष्यकार

आचार्य दयानन्द भार्गव

अध्यक्ष, वेदवाचस्पति पण्डितमधुसूदनओझा वेदविज्ञानपीठ

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृतविश्वविद्यालय, जयपुर



With Best Compliments from -

Goyal

For Kindoori Lal Dwarka Prasad Goyal

Charitable Trust, JAIPUR

Tel : 0141-2369798 , 2369432



हंसा प्रकाशन

जयपुर

ISBN : 978-81-88257-72-0

प्रकाशक : हंसा प्रकाशन
57, नाटाणी भवन, मिश्रराजाजी का रास्ता,
चांदपोल बाजार, जयपुर-302 001

संस्करण : प्रथम 2009

टाईप सैटिंग : आइडियल कम्प्यूटर सेन्टर,
3580, जौहरी बाजार, जयपुर

मुद्रक : शीतल ऑफसेट, जयपुर

ॐ

❋ समर्पण ❋

श्रीमती भार्गवी लक्ष्मीः पत्नी मे सहधर्मिणी
कर्त्तव्ये तत्परा नित्यं दुःखे वापि सुखेऽपि वा;
तस्यै समर्प्यते भाष्यं विपुलाख्यमिदं मया
दयानन्देन सानन्दं बहुसम्मानपूर्वकम्॥

मेरी सहधर्मिणी पत्नी श्रीमती लक्ष्मी भार्गव दुःख में, सुख में सदा कर्त्तव्य में तत्पर रहती हैं; उनको यह विपुल नामक भाष्य मैं, दयानन्द, सानन्द अत्यन्त सम्मानपूर्वक समर्पित करता हूँ।

—भाष्यकार



ॐ

प्रोचना

गीता पुण्या त्रिवेणीयं भक्तेर्ज्ञानस्य कर्मणः।
स्नातकास्तेऽत्र ये स्नाता अन्ये तु स्नातकब्रुवाः ॥१॥
कुरुक्षेत्रे रणक्षेत्रं धर्मक्षेत्रायितं यया।
नास्ति शास्त्रान्तरं लोके यद्व्रजेत्तुल्यतां तया ॥२॥
मोहेन मूर्च्छितो लोको यदा जागर्त्ति नो तदा।
श्रवणे श्रावणीयेयं गीता–सञ्जीवनी सदा॥३॥
किङ्कर्त्तव्यविमूढानां ध्वान्ते मार्गप्रदर्शिका।
चैतन्यज्योतिषा दीप्ता गीता सूर्यप्रभासमा॥४॥
कामश्शुम्भो निशुम्भश्च क्रोधस्तौ राक्षसावुभौ।
गीता दुर्गा तयोर्हन्त्री रागद्वेषप्रणाशिनी॥५॥
लतां फलासक्तियुतां छिनत्ति
महातमिस्रं प्रभया भिनत्ति
तापत्रयं नाशयति प्रकामं
किञ्चिन्न वा साधयतीयमेका॥६॥
इदं घृतं वेदपयः–प्रसूतं संसारपङ्के कमलं पवित्रम्।
कामस्य नाशे शिवनेत्रतुल्यं सङ्गीतशास्त्रं मनसोऽपहारि॥७॥
समस्तकालुष्यविरुद्धयुद्धे शङ्कापहारी जयशङ्खनादः।
पुंसः प्रकृत्या भिदि राजहंसः, सोऽहम्महावाक्यजपोऽजपाख्यः॥८॥
अपूर्वविज्ञानविधेस्तथा च ज्ञानस्य गौरीशिखरोऽतितुङ्गः।
कर्तृत्वगर्वप्रगरापहारी, मन्त्राक्षरः कृष्णमुखोद्गतोऽयम्॥९॥
गीता सुगीता भवरोगहन्त्री, गीता कुगीता भ्रममात्रकर्त्री।
तस्मादहं तां विपुलं विवृण्वन् पथापि कृष्णस्य चरामि शुक्लः॥१०॥
इयं स्निग्धच्छाया विपुलसुखदात्री शरणदा
बलाद् भोगासक्तिप्रबलविषहन्त्री करुणया
यया पात्रं भोगेष्वनुभवति योगं प्रमुदितः
महत्त्वं को वास्या गदितुमिह शक्तो भुवि नरः॥११॥

गीता भक्ति, ज्ञान और कर्म की पावन त्रिवेणी है, इसमें स्नान करने वाले ही वस्तुतः स्नातक हैं; शेष तो नाम–मात्र के ही स्नातक हैं॥१॥

जिस गीता ने कुरुक्षेत्र में युद्धक्षेत्र को भी धर्मक्षेत्र में बदल दिया, कोई भी दूसरा शास्त्र उसकी तुलना नहीं कर सकता है॥२॥

जब मनुष्य मोह से मूर्च्छित होकर चेत नहीं पाता हो तो सदा यह गीता की सञ्जीवनी कान में रखनी चाहिये॥३॥

किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ों के लिये अन्धकार में रास्ता दिखाने वाली चैतन्य की ज्योति से प्रदीप्त यह गीता सूर्य की प्रभा के समान है॥४॥

काम और क्रोध दो शुम्भ–निशुम्भ राक्षस हैं, तथा राग-द्वेष का आत्यन्तिक नाश करने वाली गीता उन दोनों को मारने वाली दुर्गा है॥५॥

यह अकेली ही क्या–क्या नहीं कर देती – फलासक्ति की लता को काट डालती है, अपनी प्रभा से महान्धकार को भेद डालती है, और तीनों प्रकार के तापों का समूल नाश कर देती है॥६॥

यह वेदरूपी दुग्ध से उत्पन्न घृत है, संसाररूपी पङ्क में स्थित पवित्र कमल है, काम को भस्म करने वाला शिव का तृतीय नेत्र है और मनोहारी सङ्गीतशास्त्र है॥७॥

यह सारे पापों के विरुद्ध छेड़े गये युद्ध में निश्शङ्क बना देने वाला जयशङ्खनाद है, पुरुष और प्रकृति में विवेक करने वाला राजहंस है तथा 'सोऽहम्' महावाक्य का अजपा जप है॥८॥

यह अपूर्व ज्ञान–विज्ञान का उत्तुङ्ग गौरीशङ्कर शिखर है तथा कर्तृत्व के अहङ्कार–विष को दूर करने वाला कृष्ण–मुख से निःसृत मन्त्राक्षर है॥९॥

ठीक से समझने पर गीता भवरोग का नाश करती है, किन्तु गलत समझने पर यह केवल भ्रम ही उत्पन्न करती है, अतः मैं गीता पर विपुल–भाष्य करते समय कृष्ण के मार्ग पर चलता हुआ भी शुक्ल बना रहा हूँ॥१०॥

यह शरण देने वाली तथा विपुल सुख देने वाली स्निग्ध छाया है एवं करुणापूर्वक भोगासक्ति के प्रबल विष का नाश करने वाली है जिससे सुपात्र व्यक्ति भोगों में भी प्रमुदित भाव से योग–युक्त रहते हैं; इसकी महिमा को संसार में कौन व्यक्ति कह सकता है॥११॥

इसीलिए गीता पर अभिनवगुप्त हों या शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य हों या वल्लभाचार्य, सभी प्राचीन आचार्यों ने अपने-अपने भाष्य लिखकर अपना जीवन सार्थक बनाया है। हमारे अपने युग में लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक हों या महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी, महर्षि अरविन्द हों या आचार्य रजनीश, सभी ने गीता को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा है। न आर्यसमाजानुयायी श्री दामोदरपाद सातवलेकर को ही और न ही सनातनधर्मानुयायी पण्डित मधुसूदन ओझा को ही गीता पर अपनी लेखनी चलाये बिना शान्ति मिली। फिर एक नयी टीका क्यों? प्रश्न का समाधान इसके अतिरिक्त हमारे पास नहीं है कि पाठक हमारे भाष्य के कुछ अंशों को स्वयं देखें और पायें कि हमारे भाष्य में कुछ पठनीय है तो प्रस्तुत भाष्य की सार्थकता स्वतःसिद्ध हो जायेगी।

सर्वप्रथम भाष्य के उपोद्घात के ही कतिपय अंश देखे जायें –

आज का जीवन संघर्षमय हो गया है। यह संघर्ष तनाव पैदा करता है। हमारे सामने या तो यह विकल्प है कि हम तनाव से बचने के लिए संघर्ष से ही पलायन कर जाएँ अथवा उस संघर्ष में रहकर तनाव की पीड़ा को भोगते रहें। श्रीकृष्ण ने एक तीसरा विकल्प सुझाया है। वे कहते हैं कि तनाव कर्म से उत्पन्न नहीं होता अपितु राग-द्वेष से अथवा कामना से उत्पन्न होता है। हम कामना को छोड़कर कार्य करें। कामना नहीं होगी तो बन्धन नहीं होगा और कर्म करेंगे तो हमारी अपनी लोकयात्रा तो सुखपूर्वक होगी ही, लोक-कल्याण भी होगा। इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ दोनों सिद्ध होंगे। कर्म छोड़ने पर दोनों की ही हानि होगी। यदि हम राग-द्वेषपूर्वक ही कर्म करते रहे तो कर्म हमारे लिए पीड़ाकारक बने रहेंगे और साथ ही हम लोकसंग्रह के स्थान पर राग-द्वेषवश अपने शत्रु

उत्पन्न कर लेंगे। इस प्रकार गीता ने एक व्यावहारिक समस्या का एक व्यावहारिक समाधान सुझा कर मनुष्य मात्र के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

गीता का सन्देश यह है कि सिपाही रणभूमि में, किसान खेत में, गृहिणी रसोईघर में, व्यापारी दुकान पर, सफाई कर्मचारी सड़क पर – सभी अपना–अपना कार्य तत्परता से करते हुए परमात्म दृष्टि रखें, विषयभोग की दृष्टि नहीं, तो वे जीवन के परम लक्ष्य को भी प्राप्त हो सकते हैं और सामाजिक अभ्युदय भी हो सकता है।

× × ×

गीता के पूर्ववर्ती साहित्य पर दृष्टिपात करें तो वैदिक साहित्य तीन भागों में विभाजित दृष्टिगोचर होता है – कर्म काण्ड, उपासना काण्ड तथा ज्ञान काण्ड। ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म का, आरण्यक ग्रन्थों में उपासना का तथा उपनिषदों में ज्ञान का प्राधान्य है। गीता की विशेषता यह है कि इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों को ही समान महत्व दिया गया है। इस प्रकार गीता समस्त वैदिक वाङ्मय का नवनीत है।

× × ×

अन्य प्राणी केवल कर्म करते हैं, भक्ति और ज्ञान मनुष्य में ही सम्भव है। भक्ति और ज्ञान के कारण मनुष्य के कर्म में भी अन्य प्राणियों की अपेक्षा कुछ विशेषता आ जाती है – उसका कर्म केवल आहार, निद्रा और मैथुन तक सीमित न रहकर परोपकार और सेवा के रूप में विस्तार पाता है।

(१) कर्म में साधन आधिभौतिक पदार्थ होते हैं और फल भी आधिभौतिक पदार्थ ही होता है। ऐसे कर्मकाण्ड का प्रतिपादन ब्राह्मण ग्रन्थों में है। (२) भक्ति अथवा उपासना सगुण ब्रह्म की ही हो सकती है। उसमें धूप, दीप आदि भौतिक पदार्थ भी साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं किन्तु उसका लक्ष्य भौतिक पदार्थों की प्राप्ति न होकर ईश्वर की प्राप्ति है। (३) उपनिषद् में ज्ञान काण्ड है। ज्ञान में भौतिक पदार्थ न साधन है, न साध्य। कर्म, भक्ति और ज्ञान का स्थूल रूप से यही भेद है।

× × ×

कर्म का परिणाम एक बात है और कर्म का फल दूसरी बात है। उदाहरणतः – किसी व्यक्ति ने बेईमानी करके पैसा कमा लिया। वह अमीर हो गया। यह तस्कर कर्म का परिणाम है, फल नहीं। तस्कर कर्म का फल तो यह है कि इससे आत्मा मलिन होती है। यह आत्मा की मलिनता ही वासना अथवा संस्कार कहलाती है। एक दूसरा उदाहरण लें, एक व्यक्ति ने तपस्या की। उससे उसका शरीर क्षीण हो गया। यह तप का परिणाम है। तप का फल यह है कि उसकी आत्मा निर्मल हुई। अभिप्राय यह है कि कर्म का जैसा परिणाम हो वैसा ही फल भी हो – यह आवश्यक नहीं। कर्म का परिणाम प्रायः प्रत्यक्ष होता है इसलिए हम सबको दिखाई दे जाता है। कर्म का फल साधारण मनुष्यों की दृष्टि से ओझल ही रहता है, इसलिए हमें दिखाई नहीं देता। जिनकी दृष्टि सूक्ष्म है वे कर्म के फल को देख लेते हैं। ऐसे ही व्यक्ति ऋषि कहलाते हैं, जिनका लक्षण है – धर्म के तत्त्व के साक्षात् कर्त्ता। इन ऋषियों की वाणी ही श्रुति कहलाती है। मनु के अनुसार श्रुति उन विषयों का प्रतिपादन नहीं करती जिन्हें हम प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा जान सकते हैं; यही वेद की वेदता है –

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते
एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।

कामना दो प्रकार की हैं – एक सहज कामना, दूसरी कृत्रिम कामना। निष्काम कर्म का अर्थ होगा – सहज कामना से किए गए कर्म। एक उदाहरण से इसे समझें। भोजन का समय हुआ। पत्नी ने पति को कहा कि भोजन कर लीजिए। पति भोजन के स्थान पर चले आए और भोजन करने लगे। यहाँ पति में भोजन करने की सहज इच्छा थी। दूसरे दिन पत्नी ने फिर कहा कि भोजन कर लीजिए। पति ने पूछा कि क्या बना है? पत्नी ने कहा

कि आज तो आपकी मनपसन्द की मटर–पनीर की सब्जी बनाई है। पति ने कहा कि आज खाने का मन तो नहीं था लेकिन मटर–पनीर की सब्जी बनी है तो भोजन कर लेता हूँ। यह कृत्रिम इच्छा का उदाहरण है। खाने की सहज इच्छा नहीं है लेकिन मटर–पनीर की सब्जी का नाम सुनकर खाने की इच्छा पैदा हो गई। इसे बोलचाल की भाषा में हम इस प्रकार कहेंगे कि पहले दिन सच्ची भूख थी, दूसरे दिन नकली भूख पैदा कर ली गई। शास्त्रीय भाषा में कहेंगे कि पहले दिन इच्छा उत्थित अर्थात् स्वयं पैदा हुई थी। दूसरे दिन इच्छा उत्थाप्य अर्थात् बलपूर्वक पैदा की गई थी। दोनों कर्मों का फल भी प्रत्यक्ष है। पहले दिन सच्ची भूख पर किया गया भोजन स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ, उससे शरीर की शक्ति बढ़ी। दूसरे दिन भूख न होने पर भी स्वादवश किया गया भोजन लाभप्रद सिद्ध होने के स्थान पर अजीर्ण रोग का कारण बना। शास्त्रीय भाषा में कहें तो सहज कामना अथवा उत्थित आकांक्षा से किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं बना जबकि कृत्रिम कामना अथवा उत्थाप्य आकांक्षा से किया गया कर्म बन्धन का कारण बन गया।

× × ×

हम केवल अपनी कृतज्ञता दूध देने वाली गाय को गोग्रास देकर ही अभिव्यक्त नहीं करते; उस कौए को भी बलिवैश्वदेव यज्ञ का भाग देते हैं जो कौआ ऊपरी तौर से तो हमारा कोई उपकार नहीं करता किन्तु हमारे इर्द–गिर्द पर्यावरण को दूषित करने वाले न जाने कितने मलबे को चाटकर बिना वेतन लिए सफाई मजदूर का काम करता है। अभिप्राय यह है कि प्राणी मात्र एक धागे में पिरोये मनकों के समान है; एक मनका भी निकल जाए तो पूरी माला टूट जाती है। यज्ञ की अवधारणा का मूल सहयोग है, संघर्ष नहीं ।

यज्ञ विज्ञान का विषय है। यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा जाता है। किन्तु ज्ञान के बिना कर्म अन्धा है। यज्ञ कर्म है, तो ब्रह्म ज्ञान है। यज्ञ का आधार ब्रह्म है। यज्ञ का फल अनित्य है, ब्रह्म ज्ञान का फल अमृतत्व है। इसका अर्थ हमारे देश में बहुत गलत लगा लिया गया। कर्म का फल क्योंकि अनित्य है इसलिए कर्म को हेय और ज्ञान को उपादेय मान लिया गया। हम वेद के इस आदेश को भूल गए कि नित्य और अनित्य अथवा अमृत और मृत्यु सदा साथ–साथ रहते हैं। अनित्य लहरों में ही नित्य समुद्र का दर्शन संभव है। क्या किसी ने बिना तरङ्गों वाला समुद्र देखा है ? किन्तु यदि कोई तरङ्गों को ही समुद्र मान लें तो उसे तरङ्ग के विलीन होने पर समुद्र का ही नाश मानना होगा। हमें चेतना से जुड़ना है अन्यथा हमारा कर्म निर्जीव यान्त्रिक क्रिया बनकर रह जाएगा। आज हमारे कर्मकाण्ड की यही स्थिति है और इसीलिए कर्मकाण्ड के प्रति दिन–प्रतिदिन अरुचि बढ़ रही है। ज्ञान के बिना कर्म अन्धा है तो कर्म के बिना ज्ञान भी पङ्गु है। विज्ञान कर्म और ज्ञान को जोड़ता है।

× × ×

कुछ धर्म सामान्य हैं, जैसे – अहिंसा, करुणा आदि। कुछ धर्म विशेष हैं, जैसे – क्षत्रिय का धर्म है अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठाना। आपाततः ऐसा लगता है कि ये दोनों विरोधी बाते हैं। किन्तु वस्तुतः ये एक–दूसरे की पूरक हैं। यदि क्षत्रिय अन्याय के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाएगा तो दुष्ट सर्वत्र हिंसा फैला देंगे। इस प्रकार विशेष धर्म सामान्य धर्म में सहायक है न कि उसका विरोधी।

दूसरी ओर यदि क्षत्रिय शस्त्र का प्रयोग करते समय आसक्ति का भाव रखेगा तो उसका शस्त्र न्याय की स्थापना का साधन न रहकर स्वार्थ की सिद्धि का साधन बन जाएगा। गीता में इन दोनों बातों को विस्तार से समझा कर श्रीकृष्ण ने पूरी मानव–जाति का परम कल्याण किया है।

गीता का सन्देश है कि अन्याय का जमकर विरोध करो। किन्तु इस विरोध को प्रतिक्रिया का रूप नहीं ले लेना चाहिए। इसलिए अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वाले को अन्दर से पूरा संन्यासी होना चाहिए। इसलिए गीता में निवृत्ति का पूरा विवरण है। यही कारण है कि गीता निवृत्तिमार्गी शंकराचार्य को भी भाती है। अहिंसक

महात्मा गांधी भी गीता के भक्त हैं। अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वाले को अन्दर से संन्यासी होते हुए आवश्यकता पड़ने पर बाहर से जुझारू योद्धा भी होना चाहिए। इसलिए गीता में क्षात्र–धर्म का भी विवरण है। इसलिए गीता महात्मा गांधी को ही नहीं, शहीद भगतसिंह को भी प्रिय थी।

अहिंसा धर्म है। किन्तु क्या सभी परिस्थितियों में अहिंसा धर्म है? यदि कोई न्यायाधीश अपराधी को यह मानकर दण्ड न दे कि दण्डित करने पर अपराधी को दुःख होगा तो क्या यह धर्म कहलाएगा? यदि वह किसी निरपराध की निर्मम हत्या करने वाले को प्राणदण्ड दे, तो क्या वह अधर्म हो जाएगा? एक सैनिक अपने देश पर आक्रमण करने वालों पर गोली चलाने से इन्कार कर दे तो क्या इसे धर्म मानेंगे ? शल्य चिकित्सक रोगी के हित के लिए उसका अङ्गच्छेद भी करता है किन्तु कोई इसे अधर्म नहीं कहता। अध्यापक अपने छात्रों की ताड़ना करता है, माता–पिता पुत्र की ताड़ना करते हैं, धर्माचार्य अपने शिष्यों को दण्डित करते हैं, किन्तु इन क्रियाओं को कोई अधर्म नहीं मानता। इन्हीं सूक्ष्मताओं के कारण यह कहा जाता है कि धर्म का तत्त्व गुहानिहित है। इसलिए यह कहना पड़ा कि धर्म–अधर्म का निर्णय शास्त्र के आधार पर ही करना होगा।

मैं किसी को कष्ट न पहुँचाऊँ तो मुझे हिंसा का पाप तो नहीं लगेगा किन्तु जब तक मैं दूसरों के हित की भी चिन्ता न करूं तब तक मुझमें सर्वभूतहित के गुण का आधान नहीं होगा। हम निर्दोष होने मात्र से महात्मा या महाशय या महाभाग नहीं बनते, उसके लिए उदारता, मुक्तहस्तता, परगुण-प्रशंसा आदि विधायक गुण भी चाहिए।

× × ×

आनन्द के तीन रूप हैं – परानन्द, स्वानन्द तथा आत्मानन्द। अनुकूल विषय न मिले तो परानन्द नहीं मिल सकता। शरीर तथा मन की स्थिति ठीक न होने पर स्वानन्द भी नहीं मिलता। ये दोनों आनन्द सोपाधिक हैं अर्थात् सशर्त हैं। भोजन होगा तो भोजन का आनन्द आएगा; शरीर तथा मन स्वस्थ होंगे तो गहरी नींद आएगी। आत्मानन्द निरुपाधिक है, उसके लिए कोई शर्त नहीं है कि अमुक होगा तो आत्मानन्द होगा। आत्मानन्द आकाश के समान सदा सभी जगह रहता ही है।

परानन्द और स्वानन्द का स्रोत भी आत्मानन्द ही है। सोपाधिक का मूलस्रोत निरुपाधिक ही होता है। आकाश का एक छोटा-सा भाग घट की सीमाओं के भीतर है। इसे घटाकाश कहते हैं। घट के बाहर आकाश की कोई सीमा नहीं होती। उसे महाकाश कहते हैं। घटाकाश सोपाधिक है, महाकाश निरुपाधिक है। महाकाश है इसीलिए घटाकाश का भी अस्तित्व है। बिना महाकाश के घटाकाश हो ही नहीं सकता। निष्कर्ष यह निकला कि निरुपाधिक के कारण ही सोपाधिक होता है। आत्मानन्द आकाश के समान निरुपाधिक है वही परानन्द तथा स्वानन्द का मूलस्रोत है।

सोपाधिक सदा सीमित एवं अल्प होता है, निरुपाधिक असीम होता है। असीम का ही दूसरा नाम भूमा है। उपनिषद् कहते हैं – भूमा में आनन्द है, अल्प में आनन्द नहीं है। हम सभी अनुभव करते हैं कि जहाँ कहीं भी सीमा आ जाती है वहीं हम दुःखी हो जाते हैं। अतः सुख चाहिए तो असीम से जुड़ें। सीमा का जितना अधिक विस्तार होगा आनन्द उतना ही अधिक होगा, यह हम सभी जानते हैं । तभी तो लखपति करोड़पति और करोड़पति अरबपति बनना चाहता है। किन्तु धन से होने वाला आनन्द क्योंकि सोपाधिक है; अतः वह कितना ही अधिक क्यों न हो, होता सीमित ही है। उपनिषद् कहते हैं कि धन से अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती, मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता।

× × ×

वैशेषिक मत में जगत् का उपादान कारण क्षर है और निमित्त कारण अक्षर है। जिस प्रकार घड़े का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार है। वैशेषिक दर्शन अव्यय पुरुष का वर्णन नहीं करता। अव्यय पुरुष न

कारण है न कार्य; अपितु वह सबका आलम्बन है। इस अव्यय पुरुष का वर्णन वेदान्त करता है, वैशेषिक दर्शन नहीं।

× × ×

विज्ञान की दृष्टि से देखें तो सांख्य का मत वैशेषिक की अपेक्षा विज्ञान के अधिक निकट है। आधुनिक विज्ञान परमाणुवाद का समर्थन नहीं करता। वह क्वान्टम के सिद्धान्त को मानता है – जो सांख्य की प्रकृति के अधिक निकट है। जहाँ तक प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध है, गीता इन दोनों को स्पष्ट शब्दों में अनादि मानती है। साथ ही यह भी घोषित करती है कि कर्तृत्व प्रकृति का है, पुरुष केवल भोक्ता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि परमाणुओं से बनी है। ईश्वर की इच्छा मात्र से परमाणु सृष्टि को बना देते हैं। ईश्वर परमाणुओं का नियन्ता है। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति स्वयं ही जगत् को बना देती है, ईश्वर की आवश्यकता नहीं। वेदान्त के अनुसार आत्मा से ही विश्व बना हुआ है। वेदान्त का आत्मा से अभिप्राय अव्यय पुरुष है, जो क्षर और अक्षर दोनों से परे है। गीता में इस अव्यय पुरुष को ही पुरुषोत्तम कहा गया है।

× × ×

प्राकृतिक स्थिति के आधार पर कर्म के प्रसंग में अधिकारी भेद से वर्ण-व्यवस्था की चर्चा की जाती है। किन्तु भक्ति अथवा ज्ञान में वर्ण-व्यवस्था कहीं आड़े नहीं आती। शबरी और निषाद उत्कृष्ट भक्त थे, रैदास और कबीर उत्कृष्ट ज्ञानी थे। किन्तु जहाँ तक कर्म का प्रश्न है वहाँ किस कर्म का कौन अधिकारी है, यह देखना आवश्यक है। भारतीय चिन्तन में जिसको जो अधिकार प्राप्त है, वही उसका कर्त्तव्य भी है। यदि द्विज को वेद पढ़ने का अधिकार है तो वेद पढ़ना द्विज का कर्त्तव्य भी है। यदि क्षत्रिय को शस्त्र धारण करने का अधिकार है, तो शस्त्र धारण करना उसका कर्त्तव्य भी है। इसी आधार पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शस्त्र का त्याग करने से रोका था।

× × ×

भारतीय शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी की रुचि को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। विद्यार्थी की रुचि को स्थूल रूप में चार भागों में बाँटा गया था –

(१) चिन्तन-प्रधान रुचि (२) क्रिया-प्रधान रुचि (३) व्यवहार-प्रधान रुचि, (४) शिल्प-प्रधान रुचि ।

इन चारों प्रकार की रुचि वाले छात्रों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय विद्यार्थियों की नैसर्गिक प्रतिभा को ध्यान में रखने के साथ–साथ यह भी ध्यान में रखा गया कि वे शिक्षा की समाप्ति पर समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें। चिन्तन-प्रधान रुचि वाले छात्रों के लिए दर्शन, साहित्य आदि लौकिक विषयों के साथ–साथ वेद का अध्ययन भी अनिवार्य था। वे छात्र राष्ट्र को दृष्टि प्रदान करते थे। अध्यापन इनका सहज कर्म था। इस शिक्षा को पाकर शङ्कराचार्य जैसे दार्शनिक, कालिदास जैसे कवि और याज्ञवल्क्य जैसे वेदवेत्ता हो गए, जिनका सिक्का आज भी पूरा विश्व मानता है।

क्रिया-प्रधान रुचि वालों को राजनीति तथा प्रशासन की शिक्षा दी जाती थी। सैनिक शिक्षा भी ऐसे ही छात्रों को मिलती थी। इस प्रकार की शिक्षा पाकर चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ, अशोक जैसे सम्राट् और महाराणा प्रताप जैसे वीर योद्धा उत्पन्न हुए ।

व्यवहार-प्रधान रुचि वाले व्यापार तथा कृषि की शिक्षा पाते थे। गुप्तकाल में व्यापारियों के बल पर ही सारे संसार का सोना खिंचकर भारत में आ गया था। इस काल को विदेशियों ने स्वर्णयुग नाम से अभिहित किया है। वेदों में ऐसी समुद्री नौकाओं का वर्णन है जिनको चलाने के लिए सौ–सौ चप्पुओं का सहारा लेना पड़ता था। ये नौकाएँ उस समय की व्यापारिक समृद्धि की सूचक हैं। कृषि के क्षेत्र में वैदिक साहित्य में ऐसे हलों का उल्लेख है जिन्हें बत्तीस बैल खींचते थे। उस समय की सस्य सम्पदा का क्या कहना !

शिल्प-प्रधान रुचि वालों के लिए हस्तकलाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। ढाका की मलमल तो इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है ही, कुतुबमीनार के निकट चन्द्र नाम के राजा के शिलालेख से अंकित वह लौह स्तम्भ उस समय की शिल्पी प्रगति के जीते-जागते प्रमाण के रूप में आज भी आकाश में गर्व से सिर उठाए खड़ा है, जिस पर पिछले दो हजार वर्ष से निरन्तर पड़ने वाली धूप और वर्षा जंग का एक कण भी नहीं जमा पाई। जिस देश में शिक्षा की यह व्यवस्था रही हो वहाँ क्या कभी निर्धनता रह सकती थी? वस्तुतः हमने निर्धनता को कभी समस्या माना ही नहीं, हमारे सामने समस्या थी उचित शिक्षा व्यवस्था की। नागरिकों को समुचित शिक्षा प्राप्त हो जाए तो राष्ट्र आर्थिक रूप से पिछड़ा रह ही नहीं सकता। दुर्भाग्य से हमने 'गरीबी हटाओ' के आन्दोलन को प्राथमिकता और 'शिक्षा' को अन्तिम वरीयता प्रदान करके बिना बीजारोपण किए फल खाने की इच्छा की। स्पष्ट है कि हम सफल नहीं हो पाए।

× × ×

हमारी काल गणना में दो नाम मुख्य हैं – ब्रह्मा और मनु। इन्हीं दो महापुरुषों में से मनु को गीता ज्ञान प्राप्त हुआ था। मनु को यह ज्ञान विवस्वान् से प्राप्त हुआ है और विवस्वान् को स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने पूर्व जन्म में यह ज्ञान दिया। अतः यद्यपि उपलब्ध गीता का समय महाभारत काल है तथापि गीता का ज्ञान उतना पुराना है जितने पुराने विवस्वान् हैं।

गीता का ज्ञान सर्वप्रथम लगभग १९,६०,८५,१०३ (तदनुसार ईस्वी सन् २००९) वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण से विवस्वान् और विवस्वान् से मनु को मिला था। निश्चय ही आधुनिक इतिहासकार इतनी लम्बी-लम्बी संख्याओं को देखकर चकरा जाते हैं किन्तु वर्तमान वैज्ञानिक जब सूर्य की अथवा पृथ्वी की आयु का निर्धारण करते हैं तो उनकी गणनाओं में इतनी लम्बी–लम्बी अवधियाँ सामान्य रूप से आती रहती हैं।

पुराण किसी एक देश का इतिहास नहीं है; अपितु पूरी सृष्टि का इतिहास है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकार तो चुप ही रहते हैं, किन्तु वैज्ञानिक बहुत कुछ खोजते रहते हैं और उनकी खोजें पुराणों के वक्तव्यों से आश्चर्यजनक रूप से समानता रखती हैं। ऐसे में पुराणों के वक्तव्यों पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

गीता के ज्ञान को इतना प्राचीन मानना हमें इसलिए अविश्वसनीय लगता है कि हम अपनी वर्तमान सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मान बैठे हैं जबकि सच यह है कि मानव जाति कितनी ही सभ्यताओं का उत्थान–पतन देख चुकी है। भारतवर्ष में मोहनजोदड़ो की सभ्यता के तथा अमरीका में मय सभ्यता के बचे अवशेष यह बताते हैं कि सभ्यताएँ बनती और मिटती रहती हैं। किसी भी स्थिति में आज की वैज्ञानिक खोजों के बाद यह मानना अत्यन्त हास्यास्पद होगा कि मानव सभ्यता पिछले ३००० अथवा ५००० वर्षों में ही सिमटी हुई है।

× × ×

शल्य कर्ण के सारथी थे। अर्जुन के साथ युद्ध करने के लिए जाते समय शल्य ने बारम्बार अर्जुन की प्रशंसा की। उन्होंने बारम्बार यह कहा कि अर्जुन के सामने कर्ण नहीं टिक सकता। इससे कर्ण का मनोबल गिर गया। वह परास्त हो गया। भारतीयों के साथ विदेशियों ने भी यही किया। हम भारतीयों को विदेशियों ने यह सिखाया कि हम भारत के बाहर से आक्रान्ता बन कर आए थे। हमने यहाँ के आदिवासियों को मार–मारकर भगा दिया। इससे हमें यह लगने लगा कि हम आततायियों की सन्तान हैं। हमारा स्वाभिमान समाप्त हो चला। हमें बताया गया कि हमारा दर्शन पलायनवादी है, उसी के कारण हम दरिद्र बने हैं। हमें इतिहास लिखना आता ही नहीं । हमारे नाटकों में 'ऐक्शन' नहीं रहता, इसलिए वे नाटक हैं ही नहीं। वैदिक ऋषि सत्य जानता नहीं था, वह तो

सत्य की खोज में भटक रहा था कि किस देवता की पूजा करूँ इत्यादि-इत्यादि। अभिप्राय यह कि हमारे पास न दर्शन है, न इतिहास, न साहित्य, न धर्म, इस सबके लिए हमें पश्चिम की शरण में जाना पड़ेगा, और यह कहना कि पश्चिम की चीज विदेशी है कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि हम तो खुद ही विदेशी हैं – भारत के बाहर से आए हैं। आश्चर्य यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों में स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती मना चुकने के बाद भी यही सब कुछ पढ़ाया जा रहा है जो हमारे विदेशी आक्रान्ता हमें सिखा गए थे। तब राष्ट्रीय ऐश्वर्य का उदय हो तो कैसे हो?

भाष्य के उपोद्घात के इन अंशों के अनन्तर अब स्वयं भाष्य के अध्यायानुक्रम से कतिपय चुने हुए अंश देखें जायें –

द्वितीय अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

जब अपरिमित परिमित हो जाता है तो एक अनेक बन जाता है। अपरिमित एक नामरूप रहित होता है, परिमित अनेक तथा नामरूप युक्त हो जाता है। इसलिए अपरिमित अनिरुक्त है, परिमित निरुक्त है। श्रुति कहती है कि प्रजापति निरुक्त भी है अनिरुक्त भी, परिमित भी है अपरिमित भी – **उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चा-निरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितिश्च।** प्रश्न होता है कि अपरिमित को परिमित कौन बनाता है। उत्तर है कि माया अपरिमित को परिमित बनाने वाली शक्ति का नाम है। यह माया ब्रह्म से उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार दाहकता की शक्ति अग्नि से अभिन्न है। यही शक्ति और शिव का युगल है जिसे कलाकार अर्द्धनारीश्वर के रूप में अङ्कित करते हैं।

– गीता २.१६ पर विपुल-भाष्य

गीता का तर्क है कि जहाँ-जहाँ भी परिवर्तन होता है, वहाँ उसका कोई न कोई स्थिर आधार भी होता है। यदि सभी ग्रह घूम रहे हैं तो उनका आधार आकाश तो स्थिर है ? विज्ञान कहता है कि आकाश भी निरन्तर फैल रहा है – एक्सपैन्डिंग यूनिवर्स। तो फिर आकाश भी परिवर्तनशील हुआ, अतः उस आकाश का भी आधार होना चाहिए। आकाश का यह स्थिर आधार ही आत्मा है। इसीलिए श्रुति की घोषणा है कि आकाश आत्मा से उत्पन्न हुआ – **आत्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः।**

– गीता २.१८ पर विपुल-भाष्य

प्रायश्चित्त स्वेच्छा से किया जाता है। तप भी स्वेच्छा से किया जाता है। किन्तु किसी को दण्डित बलपूर्वक किया जाता है। उद्दण्ड व्यक्ति कभी अपना अपराध स्वीकार नहीं करता है, न अपराधी मनोवृत्ति को छोड़ने को तैयार होता है। दुर्योधन ऐसा ही उद्दण्ड व्यक्ति है। उसने श्रीकृष्ण के समझाने पर यह उत्तर दिया था कि वह बिना युद्ध के सुई की नोंक के बराबर भी भूमि नहीं देगा – **सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव।** ऐसा व्यक्ति न तो पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त करने वाला है, न भविष्य में अपराधी मनोवृत्ति को छोड़ने वाला है। इसे शस्त्र द्वारा दण्डित करना ही एकमात्र विकल्प शेष रह गया है। शस्त्र से दण्डित किए जाने पर दो इष्ट फल होंगे – स्वयं दुर्योधन दण्डित होकर पवित्र हो जाएगा तथा समाज उसके द्वारा भविष्य में किए जाने वाले अपराधों से मुक्त हो जाएगा। इसलिए शास्त्र ने आज्ञा दी कि यदि आततायी सामने हो तो उसे बिना सोचे मार ही देना चाहिए – **आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।**

– गीता २.३३ पर विपुल-भाष्य

इतिहास इस बात का साक्षी है कि मानव जाति अभी तक इस स्थिति में नहीं आई है कि युद्ध को सर्वथा नकार सके। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर चीन और पाकिस्तान ने हम पर निरन्तर युद्ध थोपे और पण्डित जवाहर

लाल नेहरू जैसे शान्तिवादी को भी राष्ट्ररक्षा के लिए शस्त्रों का सहारा लेना पड़ा। फिर लालबहादुर शास्त्री और अटल बिहारी वाजपेयी के समय भी भारत को शस्त्र उठाना पड़ा। इन सभी अवसरों पर हमने ''जय किसान'' के साथ ''जय जवान'' का भी घोष लगाया। इस प्रकार क्या हमने स्वतन्त्रता के बाद की इस अर्धशताब्दी में श्रीकृष्ण की गीता को ही अनेक बार नहीं दोहराया है?

– गीता २.३१-३३ पर विपुल-भाष्य

प्रसिद्ध है : यथा – पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। जैसे अध्यात्म में बुद्धि का स्थान मुख्य है वैसे ब्रह्माण्ड में सूर्य का स्थान केन्द्र में है। सूर्य के ऊपर भी दो पिण्ड हैं – परमेष्ठी और स्वयम्भू तथा सूर्य के नीचे भी दो पिण्ड हैं – चन्द्रमा और पृथ्वी। सूर्य से ऊपर अमृतत्व है। सूर्य से नीचे मृत्यु तत्त्व है। सूर्य दोनों के मध्य में है। इधर अध्यात्म में महान् और अव्यक्त का सम्बन्ध विद्या से है, मन और शरीर का सम्बन्ध अविद्या से है। बुद्धि इन दोनों के बीच समभाव में स्थित है। किन्तु जब वह अविद्या से अभिभूत हो जाती है तो अस्थिर हो जाती है। यही उसकी अव्यवसायात्मकता है।

– गीता २.४१ पर विपुल-भाष्य

यजुर्वेद ने विद्या (ज्ञान) तथा अविद्या (कर्म) दोनों की साथ–साथ उपासना करने का स्पष्ट आदेश दिया है। अविद्या से मृत्यु को पार किया जाता है तथा विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति की जाती है। यजुर्वेद के ही प्रथम प्रामाणिक भाष्य शतपथ ब्राह्मण ने मानो इसी भाव की व्याख्या करते हुए कह दिया है कि मृत्यु में अर्थात् कर्म में अमृत अर्थात् ज्ञान तथा अमृत अर्थात् ज्ञान में मृत्यु अर्थात् कर्म ओतप्रोत है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के इन वक्तव्यों के आलोक में ही तो हमें गीता की व्याख्या करनी होगी, अन्यथा वेद तथा गीता में विरोध मानना होगा। गीता को तो परम्परा उपनिषद् रूपी धेनुओं का अमृत दुग्ध मानती है अतः गीता और श्रुति में विरोध मानना तो किसी को भी स्वीकार्य नहीं है।

– गीता २.४७ पर विपुल-भाष्य

ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के कर्म त्यागने के प्रस्ताव को स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया है। कर्म को छोड़ा नहीं जा सकता और छोड़ा जाना चाहिए भी नहीं।

– गीता २.४७ पर विपुल-भाष्य

गृहस्थ की तो बात ही क्या, अकर्म तो संन्यासी के लिए भी इष्ट नहीं है। अकर्म के ६ प्रकार हैं। आलस्य अकर्म का प्रथम रूप है। निरर्थक कर्म करना अकर्म का दूसरा रूप है। आसक्तिपूर्वक स्वार्थ–वश कर्म करना अकर्म का तीसरा रूप है। शास्त्र विरुद्ध कर्म करना चौथा अकर्म है। शास्त्रोक्त कर्मों को छोड़ बैठना पाँचवाँ अकर्म है तथा सबसे सम्पर्क काट कर अपनी ही दुनिया में विचरण करते रहना छठा अकर्म है। भगवत्पाद शङ्कराचार्य जैसे निवृत्तिमार्गी संन्यासी भी इन छहों प्रकार के अकर्मों से सदा बचते रहे। उन्होंने लोक संग्रह के लिए शास्त्र प्रणयन तथा प्रवचन तो किया ही, संन्यासी होकर भी माता की अन्त्येष्टि में शास्त्रोक्त पुत्र–धर्म निभा कर अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया कि संन्यासी भले ही कितनी ही ऊँची भूमिका को प्राप्त हो जाए किन्तु शास्त्रोक्त कर्मों की उपेक्षा नहीं करे। गीता जैसे उत्कृष्ट शास्त्र के होते हुए भी हमारे देश की जो दुर्दशा हुई उसका एकमात्र कारण उपर्युक्त ६ प्रकार के अकर्मों के प्रति आसक्ति है। आलस्य, शास्त्रविरुद्ध कर्मों का आचरण तथा शास्त्रविहित कर्मों का त्याग – यही हमारी आपत्ति का कारण है।

– गीता २.४७ पर विपुल-भाष्य

कर्म का उत्प्रेरक विवेक बने, न कि फल की वासना । विवेकपूर्वक कर्म किया जाए और फल न मिले – यह सम्भव ही नहीं । कारण होने पर कार्य होगा ही। यदि ऐसा नहीं होता है तो कहीं कारण में विकलता है।

कर्म को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण बनाने की चिन्ता करनी चाहिए। फिर समस्त सम्पत्ति स्वयं ही हमारे आधीन हो जाएगी, हम आध्यात्मिक ही नहीं, आधिभौतिक दृष्टि से भी निर्धन नहीं रहेंगे।

— गीता २.४७ पर विपुल-भाष्य

श्रीकृष्ण ने गीता में सभी दार्शनिक मतों का सुन्दर ढंग से सामञ्जस्य बिठाया है। गीता के अनुसार यदि हम अव्यय पुरुष को केन्द्र में रखें तो वेदान्त दर्शन प्रतिफलित होगा। अक्षर पुरुष को केन्द्र में रखने पर सांख्य दर्शन और क्षरपुरुष को केन्द्र में रखने पर वैशेषिक दर्शन निष्पन्न होंगे। इस प्रकार अपेक्षा भेद से तीनों दर्शन भिन्न होने पर भी परस्पर विरोधी सिद्ध नहीं होंगे अपितु एक–दूसरे के पूरक ही होंगे। यह बात समझ में आ जाए तो श्रुति–विप्रतिपन्नताजनित शास्त्रीय मोह दूर हो सकता है और तब बुद्धि समता में स्थित होकर कर्मयोग का अनुष्ठान कर सकती है।

जहाँ मध्ययुग में विद्वानों ने अपनी समस्त शक्ति एक–दूसरे के मत का खण्डन करने में लगा दी वहाँ आज आवश्यकता इस बात की है कि गीता द्वारा प्रदर्शित अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष की अवधारणा को समझकर श्रुति तथा प्रस्थानत्रयी के आलोक में दर्शनों के विरोध का परिहार करने में अपनी शक्ति और बुद्धि लगाएँ। (संसार के मोह को तो छोड़ें ही, सम्प्रदाय के मोह को भी छोड़ें।)

— गीता २.५३ पर विपुल-भाष्य

शतपथ ब्राह्मण में परमात्मा को कूर्म क्यों कहा गया इसकी व्याख्या की गई है। यदि हम किसी खुले स्थान पर जाकर चारों क्षितिज को देखें तो यह लोक कछुए के ही आकार का है। ऊपर अर्द्धगोलाकार आकाश है, नीचे समतल पृथ्वी। कछुए का यही आकार है। क्योंकि लोक प्रजापति की प्रतिकृति है इसलिए प्रजापति को भी कूर्म कह दिया गया है। कूर्म का ऐसा स्वभाव है कि जब वर्षा नहीं होती तो लम्बे समय तक अपने अंगों को समेट कर पृथ्वी के अन्दर बैठा रहता है और इसमें उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। जो साधक आत्मा में लीन है वह इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है किन्तु इसमें उसे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

— गीता २.५८ पर विपुल-भाष्य

मन चन्द्रमा से सम्बद्ध होने के कारण स्निग्धधर्मा है। स्नेह संस्कारों से लिप्त करा देता है। बुद्धि सूर्य से जुड़ी होने के कारण तेजोधर्मा है। तेज में लेप नहीं होता है। अतः सारी स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि स्नेहधर्मा मन बुद्धि पर हावी है या तेजोधर्मा बुद्धि मन पर। यदि बुद्धि प्रबल है तो कर्म होंगे किन्तु संस्कार नहीं बनेंगे। यही जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्त कर्म करता है किन्तु विषयों के प्रति आसक्त नहीं होता । यह अवस्था जीवन का चरम लक्ष्य है, न कि कर्मों का छोड़ बैठना।

— गीता २.६५ पर विपुल-भाष्य

सामान्यतः हम पाप और अघ को पर्यायवाची मान लेते हैं किन्तु इन दोनों में अन्तर है। पाप का सम्बन्ध कारण-शरीर से है, अघ का सम्बन्ध सूक्ष्म-शरीर से है। सूक्ष्म-शरीर के तीन घटक अग्नि, वायु तथा सोम में असन्तुलन हो तो सूक्ष्म-शरीर में विकृति आ जाती है। इसे ही अघ कहा जाता है। अग्नि मनोमय है, वायु प्राणमय तथा सोम वाङ्मय। मन का कार्य चिन्तन है, प्राण का कार्य क्रिया–व्यापार है तथा वाक् भोग्य है। इन तीनों में सन्तुलन बना रहे तो सूक्ष्म शरीर स्वस्थ रहता है अन्यथा अस्वस्थ हो जाता है। कोई व्यक्ति केवल चिन्तन ही करता रहे, सक्रिय न हो तो भी ठीक नहीं। ऐसा व्यक्ति भी ठीक नहीं जो केवल भागदौड़ ही में लगा रहे और

कभी निश्चल होकर चिन्तन करे ही नहीं। इसी प्रकार भोग्य पदार्थों के भोग के साथ चिन्तन एवं क्रियाशीलता का सन्तुलन होना चाहिए। यह सूक्ष्म-शरीर को स्वस्थ रखने का सूत्र है।

– गीता २.६५ विपुल-भाष्य

तृतीय अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

वैध यज्ञ का अनुष्ठान अत्यन्त दुष्कर है। अग्निहोत्री ही श्रौत यज्ञ कर सकता है। फिर १६ यज्ञविधि के जानकार और चतुर्वेद के ज्ञाता पुरोहित चाहिए। सोमलता मिलनी कठिन है। उसके अभाव में पूतिका ढूँढनी होती है। और भी अनेकानेक उपकरण तथा सामग्री चाहिए जो दुर्लभ भी है तथा महँगी भी। तो क्या हम श्रौत यज्ञ के फल से वञ्चित ही रह जाएँगे? शास्त्रकारों ने यहाँ एक करुणापूर्ण मार्ग प्रतिपादित किया है; जो यज्ञ के रहस्य को जानता है, वह भी यज्ञ के फल का भागीदार बन जाता है। यह वेद के जानने का बहुत बड़ा फल है। प्रायः पूछा जाता है कि वेद पढ़ने का फायदा क्या है? उत्तर है कि यदि वेद विद्या को ठीक ढंग से समझ कर पढ़ा जाए तो उस ज्ञान का भी वही फल है जो वैदिक कर्मानुष्ठान का। यह कर्म और ज्ञान के समन्वय का एक नया ही आयाम है – दोनों का फल समान है।

× × ×

शरीर २४ धर्मों की चिति से बना है जिन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है। शरीर का मूल कामना, अज्ञान और कर्म है। इन तीनों की समष्टि ही कारण शरीर कहलाती है। विस्तार में जाएँ तो इसके ८ घटक हैं – अव्यक्त, महान्, अहङ्कार तथा ५ तन्मात्राएँ। ये ही देह का मूल कारण हैं; अतः इन्हें बीजचिति कहा जाता है। ये मन के विवर्त हैं।

दूसरी चिति देवचिति है। यह सूक्ष्म शरीर भी कहलाती है। इसके ११ घटक हैं – ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कमेन्द्रियाँ तथा १ मन। यह सब प्राण के विवर्त हैं।

तीसरी चिति यह पञ्चभौतिक स्थूल शरीर है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना है। यह वाक् का विवर्त हैं, जिसके ये ५ घटक हैं।

इस प्रकार जिसे हम शरीर मानते हैं वह तो वस्तुतः अत्यन्त स्थूल है। उसके पीछे सूक्ष्म तथा कारण शरीर हैं। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर यहीं रह जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर देहान्तर में चले जाते हैं। यही पुनर्जन्म है। आत्मा तो सर्वव्यापक है, वह कहीं आता–जाता नहीं है।

× × ×

पहली बात – कर्मों का विवेक करना चाहिए। सुरापान, भ्रूणहत्या आदि निषिद्ध कर्म करना कर्मठता नहीं है, अपितु शठता है। जलताड़नादि निरर्थक कर्म भी त्याज्य हैं। ग्राह्य हैं केवल शास्त्रोक्त कर्म।

दूसरी बात – शास्त्रोक्त कर्मों का फल अवश्यम्भावी है, किन्तु हमें उस फल पर दृष्टि नहीं रखनी है। कर्म का वास्तविक फल चित्त-शुद्धि है। लौकिक फल तो आनुषङ्गिक है।

तीसरी बात – कर्म करते समय दृष्टि नानात्व पर नहीं अपितु एकत्व पर रहनी चाहिए। ज्ञानपूर्वक कर्म का यही अर्थ है। एकत्व ज्ञान का विषय है, अनेकत्व कर्म का। अन्तर् में दृष्टि एकत्व पर रखते हुए बाहर में वर्णाश्रमानुसार कर्म करने चाहिए। जिसकी एकत्व दृष्टि नहीं है, कर्म उसके लिए अवश्य बन्धन का कारण बनता है। श्रीशङ्कराचार्य अद्वैतनिष्ठ थे; अतः उनका कर्ममय जीवन बन्धन का कारण नहीं बना। उन्होंने संन्यासी होने पर भी अपनी माता की अन्त्येष्टि क्रिया में उपस्थित रह कर लोकसंग्रह का जो आदर्श प्रस्तुत किया वह बोधिसत्व की उस कामना का ही स्मरण कराता है, जिसमें वे राज्य और स्वर्ग की तो बात ही क्या, मोक्ष को भी छोड़कर प्राणिमात्र का सुख–दुःख दूर करने की बात करते हैं –

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्।।

ऐसा उदात्त आदर्श हमारे सम्मुख था फिर भी हम मोक्ष के लोभ में लोकसंग्रह तथा कर्म से विमुख होकर ऐसी स्थिति में आ गए कि गीता जैसे ज्ञान से वञ्चित पश्चिमी देशों को हमें स्वयं भी अपनी अपेक्षा अधिक विकसित मानना पड़ रहा है। यह कर्म की उपेक्षा का ही फल है।

चौथी बात है – हमारे कर्म में मुख्यता तप की हो, श्रम की नहीं। तप आन्तरिक कर्म है जिसका सम्बन्ध प्राण से है, श्रम बाह्य कर्म है जिसका सम्बन्ध वाक् से है। (वाक् का अर्थ यहाँ वाणी नहीं अपितु भौतिक पदार्थ है।) प्राण असङ्ग है, वाक् ससंग है। हम कर्म से होने वाली आत्माभिव्यक्तिजनित प्रसन्नता में अपने को केन्द्रित करें, कर्मजन्य भौतिक पदार्थों की उपलब्धि में मन को न रमाएँ। इस प्रकार हम कर्म करते हुए भी असङ्ग रह सकते हैं।

पाँचवीं बात – निष्काम कर्म पूर्व सञ्चित कर्मों के आवरण की निवृत्ति के कारण मोक्ष में सहायक है। इसे ही चित्त-शुद्धि भी कहा जाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि निष्काम कर्म में 'आम के आम और गुठली के दाम' वाली कहावत चरितार्थ होती है। निष्काम कर्म से चित्त शुद्धि होकर आत्मबल तो बढ़ता ही है, लोक कल्याण द्वारा सहज ही परोपकार भी सिद्ध हो जाता है।

– गीता के तृतीय अध्याय पर विपुल–भाष्य का उपोद्घात

गीता का कर्मयोग सुप्रसिद्ध कर्मकाण्ड से भिन्न है। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने युद्ध के लिए प्रेरित किया। युद्ध कोई कर्मकाण्ड नहीं था, अपितु विशुद्ध सामाजिक दायित्व था। इस दृष्टि से यदि ज्ञानकाण्डी गीता को कर्मपरक न मानते रहे हैं तो यह दृष्टि गलत नहीं है किन्तु सकाम कर्मकाण्ड और निष्काम कर्मयोग को एक मानकर गीता को निष्काम कर्मयोग का भी विरोधी मान लेना एक ऐसी भूल है जिसका समर्थन मूल गीता कभी नहीं कर सकती।

– गीता ३.८ पर विपुल-भाष्य

शेष प्राणी बिना सिखाए ही यज्ञीय जीवन जीते हैं। चींटियों को देखें कि किस प्रकार मिलकर अन्न का एक–एक दाना इकट्ठा करती हैं किन्तु कोई चींटी किसी दाने पर अपना स्वत्व नहीं जमाती। सब मिलकर अन्न जुटाती हैं और मिल कर खाती हैं। उनके बीच कभी अपने–पराए का भाव लेकर अन्न के लिए संग्राम नहीं होता।

यही स्थिति मधुमक्खियों की है। छत्ते में सभी मिलकर शहद इकट्ठा करती हैं और मिल कर उसे भोगती हैं। यह "सह नौ भुनक्तु" का श्रुति के आदेश के पालन का जीता-जागता निदर्शन है। किन्तु मनुष्य की स्थिति दूसरी है।

मनुष्य आवश्यकता से अधिक जुटाता है और दूसरे मनुष्यों के पास भोजन न होने पर भी अपने अतिरिक्त परिग्रह में से उन्हें देने को तैयार नहीं होता। इसीलिए उसके लिए अतिथि-यज्ञ का विधान करना पड़ता है; उसे यह सिखाना पड़ता है कि जो अकेले खाता है, वह मानो शुद्ध पाप ही खाता है – "केवलाघो भवति केवलादी।"

– गीता ३.९ पर विपुल-भाष्य

श्रौत यज्ञों में चार कर्म होते हैं जिनसे यज्ञ सम्पन्न होता है। वे चार कर्म – होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न होते हैं। हम कोई भी काम करें उसमें ये चार कर्म करने ही पड़ते हैं। उदाहरणतः मकान बनाने की क्रिया का लें। पत्थर आदि सामग्री को मकान निर्माण के अनुरूप काटना–छाँटना होता का कर्म है। इसे ही शस्त्र कर्म कहते हैं। फिर चिनाई की जाती है, यह अध्वर्यु का ग्रह कर्म है। चिनते समय सीमेन्ट अथवा गारे का,

ईंट अथवा पत्थरों पर फैलाना ही स्तोत्र कर्म है जिसे उद्गाता करता है। यदि इन कर्मों में शिल्पी कहीं गलती करे तो इन्जीनियर उसे निरीक्षण करके ठीक करवाता है। यही ब्रह्मा का कर्म है।

– गीता ३.१० पर विपुल-भाष्य

आज यह विवाद मुख्य बना है कि समाजवाद अच्छा है या व्यक्तिवाद। गीता के अनुसार आसक्ति भाव है तो दोनों खराब, आसक्ति नहीं है तो दोनों अच्छे। समाजवादी भी जब स्वार्थ के भाव से प्रेरित रहते हैं तो समाज सेवा के नाम पर अपना घर भरने में ही तत्पर दिखाई देते हैं।

– गीता ३.२२ पर विपुल-भाष्य

वर्णधर्म के आधार पर सबका कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न है। प्रश्न उठता है कि ब्राह्मण वेद-पाठ करता है तो क्या इस आधार पर उसे सफाई करने वाले मजदूर को हेय दृष्टि से देखना चाहिए ? ऐसा करने पर लोकसंग्रह का विघात ही होगा। इसी प्रकार संन्यासी को भी गृहस्थ को हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। सभी अपने–अपने वर्णाश्रमानुसार अनासक्त भाव से अपना–अपना कर्म करते हुए आदरणीय हैं । यही समानता का अर्थ है ।

– गीता ३.२० पर विपुल-भाष्य

यह बात सर्वसम्मत है कि कोई भी कर्म करने के लिए ऊर्जा चाहिए। ऊर्जा का शास्त्रीय नाम वीर्य है। यह वीर्य तीन प्रकार का है – ब्रह्मवीर्य अर्थात् मन की ज्ञानशक्ति, क्षत्रवीर्य अर्थात् प्राण की क्रियाशक्ति और विट्वीर्य अर्थात् वाक् की अर्थशक्ति। इन तीन शक्तियों से होने वाला कर्म वीर्यकर्म कहलाता है। यही शक्तियाँ जब वाणी, बुद्धि और शरीर का सहारा लेती हैं तो आरम्भकर्म बनता है। इस आरम्भकर्म द्वारा वीर्यकर्म सक्रिय बनता है, वही विसर्ग कर्म है। इसी विसर्ग कर्म से पदार्थों का आदान–प्रदान होता है जिसे यज्ञकर्म कहा जाता है। इसी आदान–प्रदानात्मक कर्म पर समाज की स्थिति टिकी है। इसीलिए यज्ञ को प्रथम धर्म कहा जाता है – "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।"

– गीता ३.२० पर विपुल-भाष्य

हम वर्णाश्रम व्यवस्था को मानें या न मानें, इतनी बात स्पष्ट है कि समाज में सभी लोग एक ही व्यवसाय नहीं कर सकते। कोई सैनिक होगा, कोई अध्यापक, कोई व्यापारी, कोई डॉक्टर, कोई इन्जीनियर। इन सबकी अपने–अपने व्यवसायानुसार अलग–अलग आचार-संहिता होगी जिसे हम व्यावसायिक आचार संहिता कह सकते हैं। इस आचार-संहिता के नियम व्यवसायानुसार कभी विरोधी भी हो सकते हैं एक सैनिक के लिए अपने शत्रु को शस्त्र द्वारा मारना उचित हो सकता है, किन्तु एक व्यापारी के लिए किसी को थप्पड़ मारना भी न केवल नैतिक दृष्टि से गलत है, अपितु कानून की दृष्टि से भी अपराध है। यदि ये सैनिक और व्यापारी अपनी आचार-संहिता को छोड़कर दूसरे की आचार-संहिता को अपनाना चाहें तो कैसी भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, यह आसानी से समझा जा सकता है। सैनिक अहिंसा व्रत लेकर बैठ जाएगा और देश में शत्रु घुसता चला जाएगा तथा व्यापारी आपस में लड़ मरेंगे, अतः दोनों को अपने–अपने धर्म का ही पालन करना चाहिए – परधर्म का नहीं।

– गीता ३.३१ पर विपुल-भाष्य

चोरी आदि करते समय धन की कामना ही प्रेरणा देती है। उस कामना के कारण चोर का यह ज्ञान भी ढक जाता है कि पकड़े जाने पर न्यायालय उसे दण्डित करेगा जबकि प्रत्यक्ष में भी यह देखने में आ रहा है कि पकड़े जाने पर चोर सजा पाते हैं। जब कामना के कारण इतना स्थूल ज्ञान भी ढक जाता है तो उस सूक्ष्म ज्ञान की तो बात ही क्या है जिसके होने पर मनुष्य अपने कर्म का शास्त्रोक्त परिणाम जान सकता है। शास्त्रोक्त परिणाम स्वर्ग, नरक आदि प्रत्यक्ष नहीं हैं, अपितु परोक्ष हैं, जिन्हें केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है। कामना से अभिभूत होने पर जब न्यायालय द्वारा दिए जाने वाले प्रत्यक्ष दण्ड का भी भय चोरी आदि कर्मों से नहीं रोक

पाता तो फिर परोक्ष नरकादि का भय तो उसे क्या रोकेगा? इसलिए प्रमाणित होता है कि कामना ज्ञान–विज्ञान को नष्ट कर देती है।

– गीता ३.३९ पर विपुल-भाष्य

कामना के अनेक स्वरूप हैं। शास्त्रकारों ने कामनाओं को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा है – पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। इन तीनों के कारण ही मनुष्य दीनता को प्राप्त हो जाता है। पुत्रैषणा के अन्तर्गत परिजनों से सुख प्राप्त करने की कामना आती है। इसके लिए मनुष्य परिजनों का मुखापेक्षी हो जाता है। वित्तैषणा के पीछे मनुष्य धनिकों का दास बन जाता है और लोकैषणा अर्थात् यश की इच्छा की पूर्ति के लिए नाना प्रकार की मायाचारिता करता है। इस प्रकार सभी इच्छाएँ मनुष्य को दीन–हीन बना देती हैं। अतः कामना का त्याग ही श्रेयस्कर है।

– गीता ३.३९ पर विपुल-भाष्य

चतुर्थ अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

सूर्य यज्ञ का उत्तम उदाहरण है। वह निरन्तर प्रकाश और शक्ति देता है किन्तु उसमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं है। वह अपने कर्म से इसीलिए लिप्त नहीं होता। अहंकार-रहित होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना और किसी फल की इच्छा नहीं करना यही गीता का उपदेश है और हम देखते हैं कि सूर्य में यह सभी शर्तें पूरी हो रही हैं मानो वह साक्षात् गीता के सन्देश का ही रूप है। दूसरी ओर मनु ने इसी गीता के सन्देश को केन्द्र में रखकर मनुस्मृति में अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा दी। इक्ष्वाकुवंशी राजाओं में राम जैसे अवतारी पुरुष ने पुनः गीता के ही उपदेश को अपने जीवन में उतारा। इसका यह अर्थ होता है कि गीता के सन्देश को हम सूर्य की चर्या में, मनु के विधान में और इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के जीवन में साक्षात् देख सकते हैं। अतः गीता का ज्ञान कोई नई घटना नहीं है। भारतीय परम्परा किसी भी ज्ञान को सादि नहीं मानती। इसी अर्थ में वेद का ज्ञान अनादि है। जैन भी अपने सिद्धान्त को अनादि और बुद्ध भी अपने धर्म को सनातन कहते हैं।

– गीता ४.१ पर विपुल-भाष्य

वस्तुतः आत्मा में अनन्त ज्ञान की शक्ति है। राग और द्वेष उस शक्ति को सीमित कर देते हैं। हमारी सारी ज्ञान की शक्ति वहीं केन्द्रित हो जाती है जहाँ हमारा राग अथवा द्वेष है। यदि हम अपने किसी परिचित को न पहचान पाएँ तो उसे बुरा लगता है; क्योंकि यह माना जाता है कि जिसे हम प्रेम करेंगे उसे सदा स्मरण रखेंगे। इसका उल्टा भी सत्य है जिसके प्रति हमारा उपेक्षा भाव होता है वह हमें याद नहीं रहता। क्योंकि संसार के अधिकतर पदार्थों के प्रति न हमारा राग है न द्वेष इसलिए हमारा ज्ञान केवल उन थोड़े से पदार्थों तक सीमित रह जाता है जिन पदार्थों से हमारा राग या द्वेष है। इसके विपरीत जिसका न कहीं राग है न द्वेष, उसका ज्ञान व्यापक रहता है।

– गीता ४.५ पर विपुल-भाष्य

प्रत्येक जीवन में दिव्यता है। जो श्रीकृष्ण की दिव्यता को जान लेगा वह अपनी भी दिव्यता को जान लेगा क्योंकि ब्रह्म और जीव तत्त्वतः भिन्न नहीं है। जब हम उसे जानते हैं जो अजन्मा है तो हम श्रीकृष्ण को भी जान लेते हैं और अपने आपको भी जान लेते हैं।

– गीता ४.९ पर विपुल-भाष्य

गुण स्वभाव का निर्णय करता है। यह स्वभाव मनुष्य के कर्म में प्रकट होता है। जब तक हम अपने गुण या स्वभाव के अनुसार कर्म करते हैं तब तक हमारा कर्म सहज होता है। सहज कर्म में यह भाव उत्पन्न नहीं होता

कि हमने कोई बड़ा काम किया। इससे अहंकार उत्पन्न नहीं होता, अहंकार ही कर्त्तृत्व है –"अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।" किन्तु जब कोई कर्म हमारे लिए स्वाभाविक नहीं होता है तो हमें उस कर्म के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है और तब ऐसा लगता है कि हमने कोई बड़ा काम किया। यही अहंकार है। इसे ही कर्त्तृत्वाभिमान कहते हैं। मनुष्य यदि अहंकार से बचना चाहे तो अपने स्वभावानुसार सहज कर्म करे, ऐसा कर्म करे जिसे वह अनायास कर सके। अनायास कर्म में जब मनुष्य का कुछ भी आयास नहीं लगता तो उसे लगता है कि उस कर्म के करने में उसका कुछ भी व्यय नहीं हुआ। तब वह आसानी से अपने अव्यय स्वरूप को समझ लेता है। तब वह कर्म का कर्त्ता नहीं रहता, केवल द्रष्टा रहता है।

– गीता ४.१३ पर विपुल-भाष्य

सुख और दुःख दोनों बाँधते हैं। जब हमें सुख मिलता है तो हम इस चिन्ता में पड़ जाते हैं कि कहीं यह सुख हमसे छिन न जाए और जब हमें दुःख नहीं भी मिल रहा होता है तब भी हम इस चिन्ता में रहते हैं कि कहीं दुःख न आ जाए। सुखी से सुखी व्यक्ति भी इन दो प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त नहीं रह पाता। इसलिए वह बन्धन में ही है। मुक्त तो वही है जिसे न सुख के छिनने की चिन्ता है, न दुःख के आने की। यही वीतरागता है, यही मुक्ति है।

– गीता ४.२१ पर विपुल-भाष्य

जब समस्त चेष्टा समाधि में रुक जाती है तो मानो समाधि की अग्नि में क्रियाओं की आहुति दे दी जाती है। यह भी यज्ञ का ही एक रूप है।

– गीता ४.२१ पर विपुल-भाष्य

मान लें कि किसी कमरे में बहुत लम्बे समय से अँधेरा है किन्तु उसमें जैसे ही प्रकाश किया जाता है, अँधेरा कितने ही लम्बे समय से और कितना भी घना क्यों न हो, प्रकाश से तत्काल दूर हो जाता है। पाप अँधेरा है, ज्ञान प्रकाश है। पाप कितना भी अधिक हो, ज्ञान के सामने नहीं टिक पाता। इसलिए अतीत में किए गए पापों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान की नौका पाप के समुद्र से पार ले जाने वाली है।

– गीता ४.३६ पर विपुल-भाष्य

पञ्चम अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

विचार करना चाहिए कि क्रिया कहाँ होती है ? क्रिया तो प्रकृति में होती है। दूसरे शब्दों में समस्त क्रिया शरीर में हो रही है। आँख में देखने की क्रिया हो रही है, कान में सुनने की क्रिया हो रही है। मैं उस क्रिया को जान रहा हूँ किन्तु उस क्रिया को कर नहीं रहा; क्रिया रजोगुण का कार्य है। मैं त्रिगुणातीत हूँ। ऐसी स्थिति में साधक स्पष्ट जानता है कि इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों में बरत रही है –

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।

ऐसी स्थिति में तत्त्व का जानने वाला यह समझ लेता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा –

नैव किञ्चिद् करोमीति युक्तो मन्येत् तत्त्ववित्॥

– गीता ५.८ पर विपुल-भाष्य

वस्तुतः अज्ञान अथवा माया अन्धकार के समान है। अन्धकार का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह तो केवल प्रकाश का अभाव है। किन्तु फिर भी अन्धकार से हम प्रभावित होते हैं। इसलिए हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि अन्धकार नहीं है। इसलिए वेदान्त में माया को सदसदनिर्वचनीय कहा गया है। अन्धकार का अस्तित्व

नहीं है इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि वह है, और अन्धकार अपना काम करता है इसलिए यह भी नहीं कह सकते कि वह नहीं है।

– गीता ५.१६ पर विपुल-भाष्य

प्रश्न होता है कि यदि ब्राह्मण, गऊ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में सर्वत्र ही ज्ञानी को ब्रह्म दिखाई देता है तो क्या वह सबके प्रति एक जैसा ही व्यवहार करेगा? विचार करना चाहिए कि ज्ञानी भी सवारी तो हाथी पर ही कर सकता है, कुत्ते पर नहीं। क्रिया में तो द्वैत अथवा विषमता रहती ही है, अद्वैत अथवा समव्यवहार सम्भव नहीं है। शास्त्र कहे या न कहे, दूध तो गाय का ही पेय होगा, कुतिया का नहीं। इसलिए शंकराचार्य ने कहा कि दृष्टि में अद्वैत हो सकता है, व्यवहार में नहीं – "भावाद्वैतं सदा कुर्यात्, क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।" इसलिए गीता में भी समदर्शिता की बात की गई है, समवर्तिता की नहीं। ज्ञानी समदर्शी होता है, समवर्ती होना तो सम्भव ही नहीं है।

– गीता ५.१८ पर विपुल-भाष्य

अहिंसक यह चिन्ता नहीं करता कि दूसरे क्या कर रहे हैं। वह सबको स्वतन्त्र छोड़ देता है। यह अहिंसा का मार्ग है जो सबको स्वतन्त्र छोड़ देता है, सब उसे स्वतन्त्र छोड़ देते हैं, यही तो मुक्ति है।

– गीता ५.२४ पर विपुल-भाष्य

कुण्डलिनी अपनी प्रसुप्त अवस्था में मूलाधार चक्र में स्थित रहती है। इस चक्र का स्थान रीढ़ की हड्डी के नीचे की ओर का अन्तिम छोर है। मूलाधार गंध का स्थान है। इसके बाद स्वाधिष्ठान चक्र है जो रस का स्थान है; इसके बाद क्रमशः मणिपूर, अनाहत और विशुद्धि चक्र है जो क्रमशः रूप, स्पर्श और शब्द के स्थान हैं। तदनन्तर आज्ञा–चक्र है जो मन का स्थान है फिर सहस्रार चक्र। मूलाधार से लेकर सहस्रार पर्यन्त सात स्थान क्रमशः भूः भुवः स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् नामक सात लोकों का प्रतिनिधित्व करते हैं अर्थात् पिण्ड में ही पूर्ण ब्रह्माण्ड का दर्शन किया जा सकता है।

मूलाधार के जागृत होने का फल है – रोग मुक्ति और प्रसन्नता। स्वाधिष्ठान चक्र का फल है – प्रातिभ ज्ञान। मणिपूर का फल है – शरीर का ज्ञान। काव्य प्रतिभा अनाहत चक्र के जागृत होने से प्राप्त होती है। विशुद्धि चक्र व्यक्ति को त्रिकालज्ञ बना देता है। आज्ञा–चक्र से ब्रह्म–भाव प्राप्त होता है और सहस्रार से सिद्धि होती है। यह कुण्डलिनी योग का एक आभास मात्र है जिसका पूरा विवरण तन्त्रों में उपलब्ध होता है किन्तु जिसके अनुष्ठान की सम्भावना अनुभवी गुरु की देखभाल में ही सम्भव है। भूल कर भी इसका अभ्यास केवल पुस्तक पढ़ कर नहीं करने लगना चाहिए।

– गीता ५.२४ पर विपुल-भाष्य

षष्ठ अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

परमात्मा न्यायकारी तो है ही, दयालु भी है। उसकी दयालुता इस बात पर है कि मनुष्य जैसा चाहे वैसा बोये – इसमें वह पूर्ण स्वतन्त्र है। कोई मनुष्य कितनी भी विकट परिस्थिति में क्यों न हो किन्तु वह इतनी दीन स्थिति में कभी नहीं आता कि उसे अपराध करने के लिए विवश होना पड़े। परमात्मा ने बहुत दयालुतापूर्वक उसे यह स्वतन्त्रता दी है कि अगर वह पाप न करना चाहे, तो कोई व्यक्ति या परिस्थिति उसे पाप करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। यह उसकी दयालुता का ही परिणाम है किन्तु साथ ही परमात्मा न्यायकारी भी है; अतः यदि एक बार मनुष्य पाप कर ले तो फिर उसे पाप का फल भोगना ही पड़ता है। मनुष्य जिस प्रकार पाप न करने में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार पाप करने में भी स्वतन्त्र है। पशु को कोई स्वतन्त्रता नहीं है कि वह पाप और पुण्य में चुनाव कर सके। प्रकृति उससे जैसा कराती है उसे वैसा ही करना पड़ता है। यह उसकी परतन्त्रता है, क्योंकि वह

कर्म–योनि में नहीं है, भोग–योनि में है। मनुष्य को यह स्वतन्त्रता है। इसलिए मनुष्य के लिए ही शास्त्र बने हैं। पशुओं के लिए शास्त्र नहीं बने।

– गीता ६.५ पर विपुल-भाष्य

जो जितेन्द्रिय है वह अनुकूल-प्रतिकूल में समभाव रखता है। यह समभाव परमात्म-तत्त्व का सूचक है। जिसे यह समभाव प्राप्त हो गया उसने परमात्मा को भी प्राप्त कर लिया क्योंकि निर्विकारता ही परमात्मा का लक्षण है। गीता में शीत और उष्ण उस परिस्थिति के लिए कहा गया है जो पूर्वकृत प्रारब्ध कर्मों के कारण प्राप्त होती है। सुख–दुःख वर्तमान में किए जाने वाले कर्म की सफलता–असफलता से उत्पन्न होते हैं। मान और अपमान में मान और अपमान करने वाला दूसरा व्यक्ति भी प्रत्यक्ष–गोचर रहता है। इन सभी प्रकार की परिस्थितियों में सम रहने की बात गीता ने कही है।

– गीता ६.७ पर विपुल-भाष्य

कहा गया है कि साधक को अपरिग्रही होना चाहिए। अपरिग्रह का एक अर्थ तो यह है कि मनुष्य अपने आपको भोग्य पदार्थों का स्वामी न समझे। स्वामित्व का अर्थ है – दूसरे को अपना दास बनाने की इच्छा। हम अपने को जिसका स्वामी समझते हैं, चाहते हैं कि वह हमारी इच्छा के अनुकूल चले। यदि वह वैसा नहीं करता तो हमें दुःख होता है। अपरिग्रह का दूसरा अर्थ है कि हम परिग्रह के गुलाम न हो जाएँ। परिग्रह की गुलामी का अर्थ है – पराधीनता । अपरिग्रह का अर्थ है – स्वतन्त्रता । पदार्थों का उपयोग करें क्योंकि पदार्थों के उपयोग के बिना जीवन-यात्रा सम्भव नहीं है, किन्तु पदार्थों के गुलाम न बनें ।

– गीता ६.१४ पर विपुल-भाष्य

युक्त का एक महत्वपूर्ण अर्थ है कि हम जो भी कार्य करें उसे पूरे मनोयोग से करें। ऐसा करने पर कर्म हमारे सिर पर सवार नहीं होगा। यदि व्यक्ति दफ्तर में कार्यालय का काम करते समय घर की समस्याओं के बारे में सोचता रहेगा और घर में घर पर पूरा ध्यान न देकर कार्यालय की समस्याओं में उलझा रहेगा तो उसके स्वभाव में चिड़चिड़ाहट के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा क्योंकि दफ्तर में लोग उससे कार्यालयों की समस्या का समाधान चाह रहे हैं और उसका मन घर की समस्याओं में उलझा है। घर की समस्याओं का समाधान कार्यालय में तो मिलेगा नहीं और इसलिए वह विषाद से भर कर स्वयं भी सबसे असन्तुष्ट हो जाएगा।

– गीता ६.१७ पर विपुल-भाष्य

ज्ञान और वैराग्य एक–दूसरे के उपकारक हैं। इस देश के बहुत बड़ी संख्या में साधु ज्ञान की आराधना के बिना ही वैराग्य द्वारा आत्मकल्याण की इच्छा कर लेते हैं। उन्हें इस बात की तरफ ध्यान देना चाहिए कि इस देश के सभी वे विरक्त पुरुष, जिनका स्मरण हम आज भी करते हैं, आजीवन ज्ञान की साधना में लगे रहे। यदि आज का साधु वर्ग भी उसी प्रकार ज्ञान की आराधना में लग जाए तो उनका स्वयं का कल्याण तो होगा ही, प्राच्य विद्याओं के क्षेत्र में भी एक अद्भुत क्रान्ति घटित हो जाएगी। प्राच्यविद्याएँ प्रायः अर्थकारी नहीं हैं, किन्तु मुक्ति–दायिनी हैं। यदि मुक्ति को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानने वाला त्यागी वर्ग ज्ञान की आराधना में लगे तो वह सर्वथा उचित ही होगा। अतीत में भी और वर्तमान में भी अनेकानेक संन्यासियों ने ज्ञानोपासना के द्वारा सरस्वती माता के कोश की श्रीवृद्धि की है।

– गीता ६.१८ पर विपुल-भाष्य

गुणातीत स्थिति में दुःख का कोई अर्थ नहीं रहता क्योंकि दुःख रजोगुण का प्रभाव है और जिस सुख में गुण-मात्र का अभाव है वहाँ रजोगुण भी नहीं है। अतः जो गुणातीत स्थिति में स्थित हो गया उसे बड़ा से बड़ा दुःख भी विचलित नहीं कर पाता।

– गीता ६.२२ पर विपुल-भाष्य

मन जहाँ भी जाए वहाँ आत्मभाव की भावना कर ले क्योंकि परमार्थतः तो सब आत्मरूप ही हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह भी समझने की है कि मन की चञ्चलता का भी अपना एक प्रयोजन है। हमारे साथ प्रति पल कुछ न कुछ घटित होता रहता है। यह घटनाक्रम बहुत तेजी से बदलता है। अभी शरीर में कहीं पीड़ा हुई, अभी कोई किसी विषय पर बात करने आ गया, अभी खाने की इच्छा हुई। यह सब घटनाक्रम बहुत तेजी से बदलता है। यदि मन गतिशील न हो तो वह इन सब परिवर्तनों की सूचना हमें तत्काल न दे पाए और तब हमारे लिए यथोचित व्यवहार करना ही सम्भव न रहे। आवश्यकता इस बात की है कि हम जब चाहें तब मन को गति दे सकें और जब चाहें तब मन को रोक सकें।

– गीता ६.२४ पर विपुल-भाष्य

दृष्टि दृष्टि का भेद है। जिसकी दृष्टि आकार पर है उसे खाँड के खिलौनों में हाथी, घोड़े आदि दिखाई देते हैं। जिसकी दृष्टि खाँड पर है उसे खाँड ही दिखाई देती है। इस दृष्टि के कारण सामान्य व्यक्ति को जो पदार्थ संसार दिखाई देता है ज्ञानी व्यक्ति को वही पदार्थ आत्मा दृष्टिगोचर होता है। अतः सिद्धपुरुष को सर्वत्र भगवत् दर्शन होता रहता है। उसके लिए भगवान् कहीं भी अदृश्य नहीं होते हैं और न वह भगवान् के लिए अदृश्य रह जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि जब सब कुछ भगवत् रूप ही है तो फिर भगवान् के लिए अदृश्य हो सकने का कोई उपाय ही नहीं है। प्रारम्भ में साधक भले ही अन्तर्मुख होकर ही भगवान् को देख सके, किन्तु अन्त में जाकर तो वह अन्तर्मुख रहे या बहिर्मुख, उसे सर्वत्र भगवान् ही दिखाई देते हैं।

– गीता ६.३१ पर विपुल-भाष्य

वैराग्य एक से होने वाली निराशा को सामान्यीकरण के द्वारा सबके प्रति निराशा के भाव में बदल देता है। तब हम एक जगह ठोकर खाने के बाद दूसरी जगह इस आशा में नहीं उलझते कि शायद वहीं सफलता मिल जाए। तब हमारी वितृष्णा किसी एक सुख के प्रति न होकर सुख–मात्र के प्रति हो जाती है और तब वह दौड़ समाप्त हो जाती है जिस दौड़ के कारण मन चञ्चल है, इसलिए श्रीकृष्ण ने अभ्यास के साथ वैराग्य की आवश्यकता का भी प्रतिपादन किया।

– गीता ६.३५ पर विपुल-भाष्य

कोई व्यक्ति पैसा कमाने के लिए व्यापार में लाख–दो लाख रुपये लगा दे तो प्रारम्भ में उसे धन छोड़ना पड़ता है, किन्तु इसे कोई भी त्याग नहीं कहता, क्योंकि यहाँ धन छोड़ने का प्रयोजन धन कमाना है, धन छोड़ना नहीं। इसी प्रकार यदि तपस्वी भोगों की प्राप्ति के लिए भोगों को छोड़ता है तो इसे भोगों का त्याग करना नहीं कहा जा सकता है। और जहाँ भोगों का त्याग नहीं है, वहाँ योग नहीं है। इसके विपरीत योगी भले ही भोगों का बाहर से त्याग न करे किन्तु अन्दर से भोगों की इच्छा छोड़ देता है। बाहर से भोगों को छोड़ दिया किन्तु अन्दर से भोगों की इच्छा को नहीं छोड़ा, ऐसे तपस्वी की अपेक्षा वह योगी श्रेष्ठ है जिसने बाहर से भोग नहीं छोड़े हैं, किन्तु अन्दर से भोगों की इच्छा छोड़ दी है।

– गीता ६.४६ पर विपुल-भाष्य

सप्तम अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

एक दृष्टि है कि संसार दुःखमय है। एक अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि हममें से अधिकतर लोग यही अनुभव करते हैं कि वे दुःखी हैं किन्तु हमारे दुःख का कारण यह नहीं है कि संसार का स्वरूप दुःखमय है। संसार तो ईश्वर का रूप है फिर वह दुःख रूप कैसे हो सकता है? दुःख का कारण नकारात्मक मन है। विधायक मन दूध के गिलास को देखता है तो भरे हुए भाग को देखता है। नकारात्मक मन को गिलास का खाली भाग

नजर आता है। नकारात्मक मन सदा संघर्ष करता है – जो नहीं है उसे पाने के लिए। जो नहीं है मैं उसे पा लूँगा – यह अहंकार का स्वर है। जो है वह प्रभु की असीम कृपा का फल है – यह प्रार्थना का स्वर है। अहंकारी को कुछ नहीं मिल पाता। जो प्रार्थना में जीता है उसे सबकुछ मिला हुआ ही है।

– गीता के सप्तम अध्याय के विपुल-भाष्य का उपोद्घात

हमारी साधना दो भागों में बँट जाती है। एक साधना वह है जहाँ अहंकार अर्थात् कर्तृत्व है, संकल्प है। वहाँ तक पाप–पुण्य का द्वन्द्व है। इस साधना से पुण्य कर्मों द्वारा स्वर्ग मिल सकता है, किन्तु मोक्ष नहीं। दूसरी साधना वह है जहाँ साधक कर्तृत्व का अभिमान छोड़ देता है और इसलिए वहाँ कर्म उसे स्पर्श ही नहीं कर पाते। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह कर्म छोड़ देता है, किन्तु वह कर्म–कर्तृत्व का अभिमान अवश्य छोड़ देता है। फल यह होता है कि वह सब कुछ करते हुए भी कर्म से लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्म उसके लिए बन्धन नहीं बन पाता। वह पाप–पुण्य का अतिक्रमण करके सदा के लिए मुक्त हो जाता है। जहाँ तक कर्म का प्रश्न है, कर्म वह भी बुद्धिपूर्वक ही करता है, किन्तु वह उन कर्मों का अपने आपको कर्त्ता नहीं मानता।

– गीता ७.४ पर विपुल-भाष्य

वास्तव में सत्य तो अखण्ड है, अद्वैत है किन्तु समझाने के लिए हमें अखण्ड को खण्ड–खण्ड करके समझना पड़ता है। कभी हम कारण और कार्य का भेद करते हैं, कभी अदृश्य और दृश्य का भेद करते हैं, कभी सूक्ष्म और स्थूल का भेद करते हैं, कभी ब्रह्म और जगत् का भेद करते हैं, कभी ब्रह्म और जीव का भेद करते हैं, कभी शुभ और अशुभ का भेद करते हैं, किन्तु विचार करें तो जन्म और मृत्यु जैसी विरोधी अवधारणाएँ भी परस्पर इतने अविभाज्य रूप में जुड़ी हैं उनमें से कोई एक दूसरी के बिना रह ही नहीं सकती। जन्म न हो तो मृत्यु किसकी हो और मृत्यु न हो तो जन्म किसका हो।

– गीता ७.७ पर विपुल-भाष्य

जल दृश्य है, स्थूल है किन्तु उसमें जो रस है वह अदृश्य और सूक्ष्म है। इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य तो पिण्ड रूप हैं और स्थूल हैं किन्तु उनमें रहने वाली प्रभा सूक्ष्म है।

जो स्थूल है वह भौतिक होने के कारण विश्लेषण की पकड़ में आ सकता है। एक वैज्ञानिक जल का विश्लेषण करके हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का पता लगा सकता है, किन्तु रस का पता उस विश्लेषण से नहीं लगेगा। रस केवल हमारे अनुभव में आता है, वह सूक्ष्म है।

– गीता ७.८ पर विपुल-भाष्य

परमात्मा के बिना केवल प्रकृति के आधार पर टिकने वाली नैतिकता अशुभ के विरुद्ध शुभ के संघर्ष पर टिकी है। ऐसी नैतिकता में सदा देवासुर संग्राम चलता रहता है। जिस संग्राम में अधिकतर आसुरी भाव विजयी हो जाते हैं और दैवी भाव पराजित हो जाते हैं। किन्तु जो पाप–पुण्यातीत परमात्मा से जुड़ जाता है उसके जीवन में सात्विकता सहज भाव से आती है; इसके लिए उसे संघर्ष नहीं करना पड़ता। वस्तुतः परमात्मा का मार्ग संघर्ष का नहीं है, प्रार्थना का है, जबकि प्रकृति का मार्ग संघर्ष का है। संघर्ष में जय–पराजय दोनों हैं, किन्तु प्रार्थना में सदा जय ही है। हमारी प्रार्थनाएँ इसलिए विफल हो जाती हैं कि हम प्रार्थना को भी संघर्ष का रूप दे देते हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि हमें सफलता मिले, विफलता न मिले। ऐसी प्रार्थना कभी सफल हो भी सकती है और कभी विफल भी होगी क्योंकि जीवन तो सफलता–विफलता का जोड़ है; उसमें केवल सफलता ही रहे – यह सम्भव नहीं है। प्रार्थना का अर्थ है – समर्पण। प्रभु की जो इच्छा हो हम उसी में खुश हैं – यदि प्रार्थना का यह अर्थ लिया जाए तो प्रार्थना कभी विफल नहीं हो सकती।

– गीता ७.१३ पर विपुल-भाष्य

अर्जुन युद्धभूमि में अपने सम्बन्धियों के मोहवश युद्ध से विरत होकर भिक्षाचर्या को उत्तम समझ रहा था। किन्तु भिक्षाचर्या करने मात्र से कोई गुणातीत स्थिति को प्राप्त नहीं हो जाता। अर्जुन का सारा शोक इस बात का था कि युद्ध में उसे अपने सम्बन्धियों को मारना होगा। श्रीकृष्ण ने उसे याद दिलाया कि मरता शरीर है, आत्मा नहीं। अपने को शरीर मान लेना अहम्भाव है और शरीर को अपना मान लेना ममता है। ये दोनों ही भाव मनुष्य को सम्मोहित करते हैं जिसके कारण मनुष्य शरीर के मरने पर अपना मरना और शरीर के दुःख–सुख को अपना दुःख–सुख समझ लेता है। मोहित होने का अर्थ है जो जैसा नहीं है, उसे वैसा मान लेना।

– गीता ७.१३ पर विपुल-भाष्य

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि ज्ञान मार्ग अलग है और भक्ति मार्ग अलग है। स्वयं गीता की भी ज्ञानपरक और भक्तिपरक व्याख्याएँ अलग–अलग हुई हैं। विचार यह करना चाहिए कि जब स्वयं श्रीकृष्ण ज्ञानी को उत्तम भक्त मानते हैं तो ज्ञान और भक्ति को दो मार्ग मानना कहाँ तक उचित है? वैसे भी यदि ज्ञान और भक्ति को दो पृथक् तत्त्व माना जाए तो यह मानना होगा कि भक्ति में ज्ञान नहीं रहता। बहुत से विचारक ऐसा समझते भी हैं कि शङ्कराचार्य प्रभृति तो ज्ञान-मार्गी थे जिन्होंने ज्ञान द्वारा सिद्धि प्राप्त की और मीरा जैसे साधक भक्ति द्वारा सिद्धि को प्राप्त हुए। शङ्कराचार्य अथवा मीरा के बाह्याचरण में भले ही भिन्नता लगे किन्तु आन्तरिक अभिप्राय में कोई भिन्नता नहीं है। ये दोनों ही सांसारिक सुख–भोगों के प्रति विमुख हैं। दोनों परम विरक्त हैं। दोनों का ही चित्त परम–तत्त्व में लीन है। दोनों ही न आर्त्त हैं, न अर्थार्थी, न जिज्ञासु। फिर दोनों को ही ज्ञानी–भक्त कहने में कहाँ आपत्ति आती है? जो शङ्कराचार्य का शास्त्रोपदेश कर्म देख कर और मीरा का नृत्य–गान देख कर दोनों में भेद करना चाहते हैं वे दो म्यानों के आकार–प्रकार के भेद के आधार पर उन दोनों म्यानों के अन्दर रखी तलवार की समानता को नकारने की नासमझी कर रहे हैं।

– गीता ७.१३ पर विपुल-भाष्य

नचिकेता ने यह जानना चाहा कि मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है? यमराज ने कहा कि हे नचिकेता! तू कुछ भी माँग ले, पर यह प्रश्न मत पूछ। यमराज ने नचिकेता के सामने उन सब पदार्थों को लेने का प्रस्ताव रखा जिन पदार्थों की कामना मन्द–बुद्धि व्यक्ति देवताओं से किया करता है। नचिकेता ने एक ही प्रश्न किया कि क्या ये पदार्थ सदा बने रहेंगे ? यमराज को कहना पड़ा कि इनमें कोई भी पदार्थ सदा बना रहने वाला नहीं है। नचिकेता ने कहा कि जो आज है, कल नहीं है, ऐसे पदार्थ को लेकर मैं क्या करूँगा। मुझे अमृतत्व का ज्ञान दो।

– गीता ७.२३ पर विपुल-भाष्य

आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहें तो भूत दृश्य है, ऊर्जा अदृश्य । ऊर्जा सर्वत्र फैली है किन्तु भूत परिमित स्थान पर ही है। ऊर्जा से भी अधिक सूक्ष्म चेतना है। ऊर्जा की भी एक सीमा है, किन्तु चेतना की कोई सीमा नहीं।

– गीता ७.२४ पर विपुल-भाष्य

यदि हम दूसरे के इष्ट मार्ग के प्रति हेय बुद्धि रखेंगे तो द्वेष उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता और द्वेष उत्पन्न होते ही हम उस द्वन्द्व के चक्कर में फँस जाएँगे जो ऐसा सम्मोहन उत्पन्न करता है कि हमें सत्य दिख ही नहीं पाता। सत्य को देखे बिना भला जन्म–मरण से छुटकारा कैसे हो सकता है?

– गीता ७.२८ पर विपुल-भाष्य

हम चंचल चित्त के द्वारा परमात्मा को जानना तो दूर रहा, भौतिक जगत् को भी नहीं जान पाते। भौतिक विज्ञानी भौतिक जगत् का जितना अंश जान पाते हैं उतना अंश जान पाने के लिए भी उन्हें युक्त–चेतस् अर्थात्

एकाग्रचित्त होना पड़ता है। यदि वे वैज्ञानिक अपने चित्त को सर्वथा स्थिर कर लें तो उन्हें अधिभूत में भी ब्रह्म का दर्शन होने लगेगा। इसलिए आज के जो उच्च कोटि के वैज्ञानिक हैं वे जड के पीछे छिपी चेतना को स्वीकार करने लगे हैं। गीता भूत को क्षरपुरुष कह कर यही संकेत दे रही है कि भौतिक अस्तित्व के पीछे भी चेतना है।

– गीता ७.३० पर विपुल-भाष्य

अष्टम अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

अपने व्यक्तित्व की वे सब परतें छीलते चले जाएँ जो हमने अपने चारों ओर से एकत्र कर ली हैं तो पता चलेगा कि शरीर, मन, बुद्धि, सबका निर्माण उधार ली हुई सामग्री से हुआ है। हमारा अपना स्वभाव – वह जो हमारे अपने अस्तित्व का अविभाज्य अङ्ग है – केवल चेतना है। जानने की शक्ति हमारी अपनी है, वह हमने कहीं से ली नहीं है। यही अध्यात्म है। शेष सब विभाव है, प्रकृति है; पुरुष नहीं।

– गीता ८.३ पर विपुल-भाष्य

हमारा चिन्तन ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करता है। व्यक्तित्व के निर्माण में हमारे भावों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। यदि व्यक्ति का भाव शुद्ध नहीं है तो वह कितना ही सज–सँवर ले, वह कभी आकर्षक व्यक्तित्व का धनी नहीं हो सकता।

– गीता ८.५ पर विपुल-भाष्य

परमात्मा निर्गुण ही नहीं है वह सगुण भी है। अतः प्रारम्भ में तो उसके सगुण रूप का ही चिन्तन करना होगा। अन्त में यही चिन्तन निर्विकल्पता में बदल जाएगा। तब आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहेगा। इसलिए गीता ने श्रुति का अनुकरण करते हुए परमात्मा के ऐसे गुणों का वर्णन किया है जिन पर साधक अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है।

– गीता ८.९ पर विपुल-भाष्य

वेद शब्द के तीन अर्थ हैं – सत्, चित्, आनन्द। वेद शब्द विद् धातु से निकला है और विद् धातु के तीन अर्थ व्याकरण में बताए गए हैं – सत्ता, ज्ञान तथा लाभ। इसी आधार पर वेद शब्द सच्चिदानन्द का वाचक बन जाता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो सत् है उसका कभी नाश नहीं हो सकता। अतः वेद जिस सत् तत्त्व का वर्णन करता है वह तत्त्व अक्षर अर्थात् अविनाशी है। अद्वैत दृष्टि में द्वैत नहीं हो सकता। अतः जो जो सत् है वह वह ही चिदानन्द भी है।

– गीता ८.११ पर विपुल-भाष्य

जो साधक अपने को महत् से जोड़ देता है, वह महात्मा है। महत् तत्त्व से जुड़ने का अर्थ है – बुद्धि से परे चले जाना। वस्तुतः बुद्धि ने ही तो हमें यह गणना करना सिखलाया है कि अमुक कामना की पूर्ति के लिए अमुक योजना बनानी चाहिए। इसलिए महात्मा अपने को उसी बुद्धि से परे की शक्ति पर छोड़ देता है। परम संसिद्धि का अर्थ है – कृतकृत्यता जब कुछ प्राप्तव्य शेष न रह जाए। जब कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता तब पुनः जन्म लेना अनावश्यक हो जाता है। तब वह चक्र टूट जाता है जिसे आवागमन कहा जाता है।

– गीता ८.१५ पर विपुल-भाष्य

जैसे रेखा की लम्बाई है, किन्तु बिन्दु की नहीं; वैसे ही काल की लम्बाई है, किन्तु क्षण की नहीं। क्षण काल का वह लघुत्तम खण्ड है जिसका आगे कोई खण्ड नहीं हो सकता। जब हम क्षण में टिक जाते हैं तो काल की पकड़ से बाहर हो जाते हैं। क्षण वर्तमान है, वह इतना छोटा है कि उसमें अतीत और भविष्य के लिए जगह ही नहीं है। यदि हम वर्तमान में स्थिर हो जाएँ तो न अतीत की स्मृति के लिए अवकाश रहता है न भविष्य की

कल्पनाओं के लिए। वहाँ केवल चेतना – शुद्ध चेतना शेष रह जाती है। यह शुद्ध चेतना ही काल की पकड़ से, मृत्यु के पाश से, परे है।

– गीता ८.१६ पर विपुल-भाष्य

संसार के पदार्थ अप्राप्त हैं अतः उन्हें प्राप्त करने के लिए कर्म करना पड़ता है; भगवान् प्राप्त ही हैं उन्हें जानने के लिए कर्म से अलग होना पड़ता है, इसलिए कहा गया है कि जागतिक पदार्थों का मार्ग भगवान् के मार्ग से भिन्न है। भगवान् कर्म से प्राप्त नहीं होते – इस कारण एक विचारधारा पनपी कि कर्म छोड़ दो। किन्तु कर्म किसी से भी नहीं छूटा; आचार्य शङ्कर भी कर्म नहीं छोड़ पाए, वे बत्तीस वर्ष की अल्पायु में इतना काम कर गए कि दूसरे लोग अस्सी वर्ष की आयु पाकर भी नहीं कर पाए।

– गीता ८.२२ पर विपुल-भाष्य

गीता ने विद्या-सापेक्ष कर्मों के करने वालों को ब्रह्मविद् कहा है तथा लोक कल्याणकारी विद्या-निरपेक्ष कर्मों के करने वालों को भी योगी कहा है। स्पष्ट है कि इन दोनों ही प्रकार के कर्मों में मनुष्य को स्वार्थ त्याग करना पड़ता है। यदि ये कर्म सकामभाव से भी किए जाएँ तो भी साधक को शास्त्रानुसार अपने तन, मन और धन की सुविधा तो न्यूनाधिक छोड़नी ही पड़ती है। अतः इन कर्मों का फल सुखद ही है, किन्तु फिर भी जब तक कामना है, बन्धन तो है ही, मोक्ष नहीं है।

– गीता ८.२४ पर विपुल-भाष्य

नवम अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

श्रीकृष्ण ने कहा कि जहाँ श्रद्धा नहीं, वहाँ भगवद्दर्शन भी नहीं। भगवद्दर्शन हृदय से होता है, बुद्धि से नहीं। जहाँ बुद्धि ठहर जाती है, वहीं प्रकृति की सीमा है और जहाँ प्रकृति की सीमा है, वहीं परमात्मा का प्रारम्भ है। तर्क का महत्व है – प्रकृति को जानने में, विज्ञान में। श्रद्धा का महत्व है – परमात्म दर्शन में, परम सत्य के साक्षात्कार में। महत्व दोनों का है किन्तु जन्म–मरण के चक्र से तो श्रद्धा ही मुक्त कर सकती है।

– गीता ९.३ पर विपुल-भाष्य

श्रीकृष्ण के पास मानुषी देह भी है और उसमें निहित परम दिव्य तत्त्व भी है। जिनकी दृष्टि परम दिव्य तत्त्व पर है उनके लिए उनकी मानुषी देह भी दिव्य बन जाती है जैसे मंदिर में स्थित मूर्ति के कारण मंदिर की चारदीवारी भी पूज्य एवं पावन हो जाती है। देह परम तत्त्व का मंदिर ही तो है। किन्तु जिनकी दृष्टि शरीर पर है उनके लिए शरीर में स्थित दिव्य आत्मा भी शरीर के समान भौतिक ही होकर रह जाती है, जैसे कि भौतिक दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए देवमूर्ति भी पाषाण का एक टुकड़ा ही होती है। श्रीकृष्ण के शरीर पर दृष्टि डालें तो वे हम सबकी तरह एक साधारण मनुष्य हैं किन्तु उनकी दिव्यता पर दृष्टि डालें तो वे भगवान् हैं।

– गीता ९.११ पर विपुल-भाष्य

परमात्मा आनन्द रूप है। यह जगत् उसके आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। आनन्द शब्द जिस √टुनदि धातु से निकलता है उस धातु का अर्थ है – समृद्धि। ब्रह्म का बृंहण कहो या उसका आनन्द भाव कहो – एक ही आशय है। बृंहण का अर्थ विस्तार है और आनन्द का अर्थ समृद्धि है। ब्रह्म का यही विस्तार है कि उससे संसार का बृंहण हो जाता है और यही उसकी समृद्धि भी है।

– गीता ९.१४ पर विपुल-भाष्य

भगवदुपासना निरन्तर चलने वाली है। भगवदुपासना कोई कर्म नहीं है, एक भाव है, एक स्मरण है, जो सदा बना रहना चाहिए। ऐसा नहीं है कि दिन में एक घंटा उपासना करेंगे, शेष तेईस घंटों में अन्य कार्य। चौबीस

घंटों में ही अन्य कार्य भी चलेंगे और साथ ही चौबीस घंटे ही भगवदुपासना – चैतन्य की निकटता भी बनी रहेगी।

– गीता ९.१४ पर विपुल-भाष्य

ओङ्कार अव्यक्त ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसलिए ओङ्कार को भी गीता ने भगवान् ही बतलाया। अन्य समस्त शब्द विचारजन्य हैं, ओङ्कार की ध्वनि वह ध्वनि है जो निर्विचारता में स्वतः उद्भूत होती है। श्वास के अन्दर जाने के साथ 'सो' तथा बाहर निकलने के साथ 'हम्' की ध्वनि होती है। यही 'सोऽहम्' है जिसका जप बिना प्रयास के होता रहता है। इसलिए इसे अजपाजप कहते हैं। इस 'सोऽहम्' में सूक्ष्मता में जाने पर बीच के व्यञ्जन अक्षर निकल जाते हैं और 'ओम्' ही शेष रहता है। यह ध्वनि तब सुनाई पड़ती है जब चित्त अत्यन्त शान्त और मौन हो जाता है, जब चित्त में कोई कोलाहल नहीं रहता।

– गीता ९.१७ पर विपुल-भाष्य

परमात्मा ही सृष्टि का बीज है। किन्तु लौकिक बीज में और परमात्मा में एक अन्तर है। लौकिक बीज अपना स्वरूप खोकर वृक्ष बनता है। परमात्मा अपने स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए संसार को जन्म दे देता है। अतः परमात्मा अव्यय बीज है, ऐसा बीज़ जिसका कभी नाश नहीं होता। इसे ही बृंहण कहा जाता है; जहाँ कारण अपने स्वरूप को निर्विकार बनाए रखते हुए भी कार्य को उत्पन्न कर देता है।

– गीता ९.१८ पर विपुल-भाष्य

संसार का जैसा स्वभाव है उसे स्वीकार करें। हम दुनिया की प्रकृति को नहीं बदल सकते। अपनी दृष्टि को बदलें। दुःख को स्वीकार करें, दुःख से भागें नहीं। यह न समझें कि सुख मिल जाएगा तो सब कुछ मिल जाएगा क्योंकि सुख के साथ और सुख के पीछे भी दुःख आएगा – जैसे दिन के बाद रात अनिवार्यतः आती ही है। तो दुःख–सुख के प्रति तटस्थ हो जाएँ – कामना छोड़ने का यही एक मार्ग है। कामना छूटी तो वह मन गया जो सत्य को अनुकूलता–प्रतिकूलता के आधार पर दो भागों में बाँट देता था।

– गीता ९.१९ पर विपुल-भाष्य

त्रयी विद्या के जानकार सोमपान द्वारा पापों का निवारण कर भगवान् का यज्ञ से पूजन करते हैं। किन्तु साथ ही स्वर्ग की प्रार्थना भी करते हैं। वे पुण्य का अर्जन करके इन्द्र-लोक में दिव्यभोगों को भोगते हैं। लम्बे समय तक उस स्वर्ग के विशाल भोगों को भोग कर वे पुण्य के क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक में आ जाते हैं।

– गीता ९.२१ पर विपुल-भाष्य

जब हम इस आनन्द को भगवान् में खोजते हैं तो हमारी खोज सही दिशा में होती है; किन्तु जब हम आनन्द को पैसे में खोजते हैं तो खोज तो ठीक चीज रहे हैं किन्तु खोज की दिशा गलत है। धन की देवी लक्ष्मी है। हम लक्ष्मी की पूजा करें किन्तु लक्ष्मी को भगवान् से भिन्न न मानें। साथ ही लक्ष्मी से कुछ माँगें नहीं तो लक्ष्मी का पूजन भी भगवान् का ही पूजन हुआ। यह देवी–देवताओं के पूजन की सही विधि है।

– गीता ९.२३ पर विपुल-भाष्य

पदार्थों का समर्पण गौण है, मुख्य है समर्पण का भाव। पदार्थ दिए किन्तु यह भाव बना रहा कि मैंने पदार्थ दिए तो यह गहरा अज्ञान है। प्रथम तो पदार्थ मेरे थे ही नहीं, दूसरे भगवान् को पदार्थों की आवश्यकता कहाँ है? पदार्थ तो उपलक्षण है। पत्र, पुष्प, फल – ये तीन एक ही पदार्थ की तीन स्थितियाँ हैं। प्रथम पत्र आता है, फिर पुष्प और फिर फल। पत्र से भी पहले पानी है। इन चारों पदार्थों को देने का भाव यह है कि साधक विकास की किसी भी स्थिति में हो, वह अपने को भगवदर्पण कर सकता है। भगवान् उसके समर्पण को स्वीकार कर लेंगे।

– गीता ९.२६ पर विपुल-भाष्य

गीता के नवम अध्याय का अन्त इस घोषणा के साथ होता है कि संसार अनित्य है और सुख रहित है। इसमें किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि संसार क्षणभङ्गुर है। जहाँ तक काल का सम्बन्ध है, हम एक क्षण में ही जीते हैं। हमें रहने के लिए दो क्षण कभी नहीं मिलते। दूसरे हम प्रथम क्षण में जो होते हैं, दूसरे क्षण हजार प्रयत्न करने पर भी वैसे नहीं रह सकते, बदल जाते हैं। भोक्ता भी प्रति क्षण बदल रहा है, भोग्य पदार्थ भी प्रति क्षण बदल रहे हैं। एक क्षण में मैंने जिसे एक रूप में देख कर चाहा, अगले क्षण में उसका वह रूप ही बदल गया। इसलिए अब मैं उसे नहीं चाह सकता। फिर किस पर भरोसा करके किसे चाहें ?

– गीता ९.३३ पर विपुल-भाष्य

दशम अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

जब सबका आदि और अन्त है तो कोई तत्त्व ऐसा भी होना चाहिए जो अनादि–अनन्त हो। असत् में से तो कुछ आ नहीं सकता। जो उत्पन्न हो रहा है वह कहाँ से उत्पन्न हो रहा है? मान लें क, ख से उत्पन्न हो रहा है तो ख कहाँ से उत्पन्न हो रहा है? ख, ग में से उत्पन्न हो रहा है। यह क्रम चलते–चलते जब हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ एक स्वयम्भू तत्त्व उपलब्ध होता है, जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, वहीं हम भगवान् को पा लेते हैं। यदि हम ऐसा तत्त्व मानें ही नहीं तो अनवस्था दोष आ जाएगा, कारण-कार्य परम्परा का कहीं अन्त ही नहीं होगा। जो परम कारण है, जो सबका कारण है, किन्तु जिसका कोई कारण नहीं है, वही भगवान् है।

– गीता १०.२–३ पर विपुल-भाष्य

मन सदा खण्ड को देखता है, इसलिए चंचल रहता है। अस्तित्व के एक खण्ड से दूसरे खण्ड पर जाना ही चंचलता है। जब हम अखण्ड को देखते हैं तो इस चंचलता का कोई कारण नहीं रहता। अखण्ड कहें, अस्तित्व कहें, परमात्मा कहें – एक ही बात है। मन के चंचल होने के कारण मन के सभी निर्णय अस्थिर होते हैं। इस अस्थिरता से ऊपर उठ कर बुद्धि स्थिर और निश्चित निर्णय कर पाती है। यह बुद्धि भी चेतना से ही शक्ति ग्रहण करती है।

– गीता १०.४ पर विपुल-भाष्य

संसार के दूसरे पदार्थों को प्राप्त करने के लिए गति करनी पड़ती है, कर्म करना पड़ता है। किन्तु आत्म–रूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिए गति छोड़नी पड़ती है, निष्कम्प होना पड़ता है। गति का फल संयोग है और जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। गति संयोग कराती है तो गति ही वियोग भी करा देती है किन्तु जो योग स्थिति के कारण होता है, उसका वियोग नहीं हो सकता; क्योंकि जब गति ही नहीं है तो वियोग कैसे होगा।

– गीता १०.७ पर विपुल-भाष्य

चिन्तन का केन्द्र मस्तिष्क है। भावों का केन्द्र हृदय है। हृदय और मस्तिक के अतिरिक्त भी हमारे शरीर में एक तीसरा केन्द्र है – नाभि। हमारे अस्तित्व का वास्तविक केन्द्र नाभि ही है। वेद में केन्द्र के लिए नाभि शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारे शरीर में जितने छिद्र हैं सबका प्रयोजन है। आँख, कान, नाक, मुँह, मूत्रेन्द्रिय और मलद्वार सब में कुछ न कुछ क्रिया होती है। नाभि एक ऐसा छिद्र है जिससे कोई क्रिया नहीं होती। इसलिए नाभि पर ध्यान केन्द्रित करने से चित्तवृत्ति भी निश्चल हो जाती है।

– गीता १०.९ पर विपुल-भाष्य

एक दृष्टि है कि हम अपूर्ण हैं। यह अपूर्णता स्पष्ट है। हमारा शरीर, मन और बुद्धि – सब ही अपूर्ण हैं। हम जब अपने आपको शरीर, मन या बुद्धि समझ लेते हैं तो यह मानना कठिन हो जाता है कि हम पूर्ण हैं और

जब तक हम पूर्ण न हों, तब तक हम ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? क्योंकि हमारा शरीर, मन और बुद्धि कभी भी पूर्ण नहीं होता, इसलिए हम कभी भी ब्रह्म नहीं बनते। यह तर्क द्वैतवाद का आधार है।

– गीता १०.१२ पर विपुल-भाष्य

विज्ञान विस्तार में जाता है, ज्ञान गहराई में जाता है। गहराई में जाने पर केन्द्र मिलता है, विस्तार में जाने पर परिधि मिलती है। ज्ञान में एकत्व है, परिधि में अनेकत्व है। स्पष्ट है कि दोनों में परस्पर विरोध है। गीता की विशेषता यह है कि उसमें इस विरोध का परिहार करते हुए ज्ञान और विज्ञान का समन्वय स्थापित किया गया है। एक ही आत्मा ब्रह्माण्ड की अनेकता में परिणत हुई है इसलिए आत्मा की एकता और ब्रह्माण्ड की विविधता में कोई विरोध नहीं है।

– गीता १०.१९ पर विपुल-भाष्य

अच्छा–बुरा तो हमारा व्यक्तिगत दृष्टिकोण है। अस्तित्व में न कुछ अच्छा है, न बुरा। अस्तित्व के लिए मृत्यु भी उतनी ही आवश्यक है जितना जन्म। हम अपने राग–द्वेष के कारण जन्म को अच्छा और मृत्यु को बुरा मान लेते हैं। वस्तुतः ये दोनों ही ईश्वर के रूप हैं। यह समझ आ जाने पर न जन्म के प्रति राग रहता है न मृत्यु के प्रति द्वेष। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा था कि जो उसकी विभूति को जान लेता है वह विचलित नहीं होता।

– गीता १०.३४–३६ पर विपुल-भाष्य

एकादश अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

आँख से ईश्वर को कैसे जाना जा सकता है? इसी बिन्दु पर निराकार के उपासक कई बार यह आग्रह कर लेते हैं कि ईश्वर साकार हो ही नहीं सकता। ऐसे सभी लोग द्वैतवादी हैं। उनके लिए ईश्वर पृथक् है, जगत् पृथक् है। किन्तु अद्वैतवादी के लिए तो दो का अस्तित्व है ही नहीं। फिर वह साकार को भी ईश्वर से पृथक् कैसे मान सकता है ?

– गीता ११.४ पर विपुल-भाष्य

असीम को जानने के लिए अहं का विसर्जन आवश्यक है। मजेदार बात यह है कि अहं का विसर्जन करते ही हम स्वयं असीम हो जाते हैं और परम तत्त्व भी असीम है, अतः असीम होते ही हम स्वयं ही परम तत्त्व बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम यह नहीं कहते हैं कि 'ब्रह्म है', हम कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' हम 'ब्रह्मास्ति' नहीं कहते, अपितु 'ब्रह्मास्मि' कहते हैं।

– गीता ११.८ पर विपुल-भाष्य

धर्मात्मा कहते रहे हैं कि सोने का मूल्य मिट्टी से अधिक नहीं है। यहाँ बाजार–भाव की चर्चा नहीं है, बाजार में तो एक तोला सोने के बदले टनों मिट्टी खरीदी जा सकती है। यहाँ तात्त्विक मूल्य की चर्चा है। विज्ञान बताता है कि जो कार्बन कोयले में है वही कार्बन हीरे में है। अतः तत्वतः कोयला और हीरा दोनों एक ही हैं, दोनों कार्बन के ही रूप हैं। जिसकी यह तात्त्विक दृष्टि हो जाती है उसके लिए हीरा कोयले का टुकड़ा ही बन जाता है। सच्चे वैराग्य का मूल यही तात्त्विक दृष्टि है।

– गीता ११.१३ पर विपुल-भाष्य

विराट् को देखकर हमारी क्षुद्रता विलीन हो जाती है। जब तक हमारी दृष्टि विराट् पर न जाए तब तक ही हम इस क्षुद्रता में सम्मोहित रहते हैं, किन्तु विराट् पर दृष्टि जाते ही यह अहङ्कार टूट जाता है कि मैं बहुत कुछ अथवा सब कुछ हूँ। प्रतीति होने लगती है कि मैं तो कुछ भी नहीं हूँ। इसी प्रतीति को भगवान् बुद्ध ने शून्यता नाम दिया है। हम विराट् में से उत्पन्न होते हैं, विराट् में ही स्थित हैं तथा विराट् में ही लीन हो जाते हैं।

– गीता ११.१५–३१ पर विपुल-भाष्य

अर्जुन तो 'सव्यसाची' है, इतना कुशल है कि बाएँ हाथ से भी बाण का संधान कर लेता है। उसकी प्रकृति उसे प्रमाद नहीं करने देगी – "प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।" लोग आरोप लगाते हैं कि कर्मवाद ने भारतीयों को आलसी बना दिया। बुद्ध, महावीर, शङ्कर – ये सभी कर्मवादी थे, लेकिन इन जैसा पुरुषार्थी संसार में ढूँढ़ना कठिन है।

– गीता ११.३३ पर विपुल-भाष्य

वस्तुतः कामना की उपस्थिति तथा परमात्म-दर्शन में वैसा ही विरोध है जैसा अन्धकार और प्रकाश में है। कामना है तो परमात्म दर्शन नहीं हो सकता और परमात्म दर्शन हो जाए तो कामना नहीं टिक सकती। दूसरे शब्दों में कामना ही तो जीव को ब्रह्म नहीं होने देती। कामना गई तो जीव तो ब्रह्म है ही – "जीवो ब्रह्मैव नापरः।" श्रीकृष्ण जैसा गुरु मिल जाए तो कामना स्वतः ही विलीन हो जाती है। गुरु का काम कामनाओं का विलय करना है, कामनाओं की पूर्ति करना नहीं।

– गीता ११.३५–४६ पर विपुल-भाष्य

ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति के संसार का सञ्चालन करने के कारण त्रिमूर्ति ईश्वर भी संसार का हिस्सा बन जाता है। जो जिसका सञ्चालन करता है, वह स्वयं भी उससे ऊपर नहीं उठ सकता। जो पुलिसवाला कैदी को बाँधता है, वह स्वयं भी कैदी से बँध जाता है। पुलिसवाला कैदी को छोड़कर नहीं जा सकता। सामान्यतः यह समझा जाता है कि कैदी पुलिसवाले के बन्धन में है; किन्तु इससे भी बड़ा सत्य यह है कि पुलिसवाला भी कैदी के बन्धन में है। ईश्वर ही जगत् को नहीं पकड़े हैं, जगत् ने भी ईश्वर को पकड़ रखा है। अतः ईश्वर जगत् का ही भाग है।

– गीता ११.४८ पर विपुल-भाष्य

जो प्रकृति से ऊपर उठे, तर्क से ऊपर उठे, उसके लिए प्रकृति के नियम भी पीछे छूट जाते हैं। राणा भेजा विष का प्याला, अमृत कर पी जाना ! विष मारता है – यह प्रकृति का नियम है पर मीरा प्रकृति से ऊपर उठ गई तो प्रकृति के नियम उस पर लागू नहीं हो सके और विष भी उसके लिए अमृत हो गया। यह भक्ति का प्रभाव है। प्रह्लाद को उसके पिता ने पहाड़ से गिराया, आग में जलाया। प्रकृति के नियम लागू होते तो उसे मर जाना चाहिए था। किन्तु वह भक्त था, प्रकृति के नियम उस पर लागू नहीं हुए। प्रकृति के सब नियम तोड़कर खम्भे में से नरसिंह रूप धर कर भगवान् प्रकट हो गए। ये सब घटनाएँ हमें इसलिए कपोल–कल्पित प्रतीत होती हैं, क्योंकि हम कभी तर्क से ऊपर उठ ही नहीं पाए।

– गीता ११.५४ पर विपुल-भाष्य

द्वादश अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

तर्क शुष्क है और अप्रतिष्ठित है। तर्क की कोई प्रतिष्ठा या आधार-भूमि नहीं है। कोई मान्यता ऐसी नहीं है जिसके यदि पक्ष में तर्क हों, तो विपक्ष में तर्क न हों। इसीलिए तर्क के आधार पर खड़ा हुआ कोई मत निर्विवाद नहीं होता। इसीलिए तार्किक का अर्थ ही हो गया जो वाद-कुशल हो, जो अपने विरोधी को परास्त करके अपना मत स्थापित कर सके। तर्क एक प्रकार की कुश्ती है। कुश्ती में दो पहलवान लड़ते हैं, जो बलवान् होता है वह जीत जाता है; इस बात का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि सत्य किधर है।

– गीता १२.२ पर विपुल-भाष्य

जो सर्वव्यापक है, वही देशातीत हो जाता है और जो सार्वकालिक है, वही कालातीत हो जाता है। अतः शास्त्र ब्रह्म को सर्वव्यापक और सार्वकालिक भी बताते हैं और साथ ही देशानवच्छिन्न और कालानवच्छिन्न भी बताते हैं। इस दार्शनिक समझ ने ही इस देश को शून्य का आविष्कार करने की सामर्थ्य प्रदान की । शून्य निषेध रूप में अत्यन्ताभाव को भी बताता है और विधि रूप में पूर्णता को भी बताता है। शून्य स्वयं में कुछ भी नहीं

है, किन्तु फिर भी वह सब संख्याओं का मूलाधार है। यदि हम शून्य से आगे बढ़ें तो १ की संख्या प्राप्त हो जाती है और यदि हम शून्य से पीछे हटें तो – १ की संख्या प्राप्त हो जाती है; यदि शून्य ही न हो तो १ अथवा – १ की संख्या के प्राप्त करने का आधार ही नहीं रह जाएगा।

– गीता १२.३ पर विपुल-भाष्य

कल्पना करें कि एक व्यक्ति निराकार का उपासक है। भगवान् की मूर्ति नहीं बन सकती – यह मान कर वह मूर्ति तोड़ने के लिए मोहम्मद गजनवी की तरह अपने प्राणों को भी दाँव पर लगा देता है। वह मूर्ति तोड़ भी देता है। किन्तु भगवान् मूर्त नहीं हैं, अमूर्त हैं – यह मान कर भी यह अमूर्त भगवान् को जानने का कितना प्रयत्न करता है ? उसका पुरुषार्थ केवल मूर्त का खंडन करने तक सीमित है, अमूर्त को जानने की लगन उसमें नहीं है। यदि वह वस्तुतः अमूर्त को जान ले तो फिर मूर्ति तोड़ने में उसका कोई रस शेष नहीं रह जाएगा।

– गीता १२.५ पर विपुल-भाष्य

भगवान् प्राणि–मात्र के कल्याण में लगे हैं, अध्यापक भी यदि विद्यार्थी के कल्याण पर दृष्टि रखे तो वह वही कर रहा है जो भगवान् कर रहे हैं अर्थात् दोनों ही प्राणियों के कल्याण में लगे हैं। अतः अध्यापक का अध्यापन–कर्म भगवान् के लिए किया गया कर्म हो जाएगा। यह एक उदाहरण सभी कर्मों पर घट जाएगा। चिकित्सक की दृष्टि यदि अपनी फीस पर न रहकर रोगी के दुःख दूर करने पर है तो उसका चिकित्सक–कर्म बन्धन न बनकर भगवदुपासना बन जाएगा। उसे फीस मिलती है – यह आनुषंगिक है, किन्तु उसकी दृष्टि फीस पर नहीं, रोगी के कष्ट-निवारण पर है। अतः उसका मुख्य प्रयोजन रोगी का कष्ट निवारण हो गया ।

– गीता १२.१० पर विपुल-भाष्य

हमारी कामनाएँ इतनी अनन्त हैं कि वे कभी पूरी नहीं होतीं। हम कर्म करते हैं और बहुधा उससे अभीष्ट फल मिल भी जाता है। किन्तु फिर भी हमें कभी तृप्ति नहीं होती क्योंकि जैसे ही हमें कोई फल मिल जाता है, हमें उस फल में कोई रस नहीं रह जाता है। मन का स्वभाव है कि वह प्राप्त की उपेक्षा करके अप्राप्त को ही प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। यही हमारे असंतुष्ट तथा दुःखी रहने का मूल कारण है। हम फल पर दृष्टि न रखें। फल की चिन्ता भगवान् पर छोड़ दें।

– गीता १२.११ पर विपुल-भाष्य

वस्तुस्थिति तो यह है कि भक्त के कर्त्तव्य–पालन में कोई प्रयत्न रहता ही नहीं है, उससे सहज वही होता है जिसमें सबका कल्याण होता है। उसे तो यह बोध भी नहीं होता कि वह किसी कर्त्तव्य का पालन कर रहा है। इसलिए उसमें उसे किसी प्रकार का अहंकार भी नहीं होता। समाजदर्शन में लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। भक्त की चर्या का लक्ष्य भगवद्दर्शन है। भगवद्दर्शन का एक आनंन्द है जो अलौकिक है, जबकि सुख नितान्त लौकिक है।

– गीता १२.१५ पर विपुल-भाष्य

त्रयोदश अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

भौतिक विज्ञान और अध्यात्म में यह अन्तर है कि यदि कोई वैज्ञानिक एक आविष्कार करे तो दूसरे लोग भी उस आविष्कार का लाभ उठा सकते हैं; उन्हें स्वयं विज्ञान का सिद्धांत जानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु मार्ग तो दिखा सकता है किन्तु साध्य तक पहुँचने के लिए उस मार्ग पर चलना साधक को स्वयं ही पड़ता है।

– गीता १३.१ पर विपुल-भाष्य

चाहे भक्ति हो चाहे ज्ञान, आचरण का महत्व सर्वत्र है। यह दृष्टि पश्चिम से सर्वथा भिन्न है। वहाँ किसी दार्शनिक के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की ही चिन्ता की जाती है, उसके आचरण की चर्चा नहीं होती। आचरण उसका व्यक्तिगत जीवन माना जाता है। भारतीय परम्परा यह मानती है कि ज्ञान की कसौटी आचरण है। यदि ज्ञान सच्चा है तो यह हो ही नहीं सकता कि वह व्यक्ति के आचरण में न उतरे।

– गीता १३.७–१० पर विपुल-भाष्य

जैसे सोने में सारे आभूषण रहते हैं अथवा स्याही में सारी वर्णमाला रहती है, वैसे ही भगवान् में समस्त प्राणी रहते हैं। इसलिए जहाँ कोई भी अवयव है वह अवयव भगवान् का ही है। जो द्वन्द्वातीत को जान लेता है उसे द्वन्द्व में भी द्वन्द्वातीत का ही दर्शन होता है। जिसकी दृष्टि महाकाश पर है उसे घटाकाश में भी महाकाश ही दिखता है। जिसकी दृष्टि निराकार पर है उसे साकार में भी निराकार दिख जाता है।

– गीता १३.१३ पर विपुल-भाष्य

यह आत्मदर्शन, जो आवागमन से छुटकारा दिला देता है, कैसे हो – यह जिज्ञासा ही वस्तुतः करने योग्य जिज्ञासा है। शेष सभी जिज्ञासायें समय और शक्ति का अपव्यय करने वाली ही हैं। गीता अत्यन्त संक्षेप में, केवल दो श्लोकों में, ऐसे चार उपायों का वर्णन करती है जो आवागमन के चक्र से छुटकारा दिला सकते हैं। ये चारों उपाय सफलता देने वाले हैं, साधक अपनी रुचि के अनुसार इनमें से किसी भी एक उपाय को अपना कर अपना कल्याण कर सकता है। गीता का कोई ऐसा आग्रह नहीं है कि अमुक उपाय ही अपनाया जाए। यही दृष्टि गीता की सर्वप्रियता का कारण है।

– गीता १३.२३-२४ पर विपुल-भाष्य

केवल स्थूल शरीर ही क्षेत्र नहीं है मन, बुद्धि और अहंकार भी क्षेत्र हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि हमारे क्रोधादि भाव और पाप–पुण्यादि विचार भी प्रकृति का हिस्सा हैं, हमारा स्वरूप नहीं है। मैं हाथ–पैर आदि नहीं हूँ – यह समझ लेना अपेक्षाकृत आसान है, किन्तु क्रोधादि भाव और पाप–पुण्यादि तथा विचारों के साथ हमारा तादात्म्य और भी अधिक सूक्ष्म, अतएव और भी अधिक शक्तिशाली, है। किन्तु यदि थोड़ा गहरे में जाएँ तो पता चलेगा कि विचार भी दृश्य ही हैं, द्रष्टा नहीं ।

– गीता १३.२६ पर विपुल-भाष्य

चतुर्दश अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

पृथ्वी का उत्पन्न होना सर्ग है और पृथ्वी का नष्ट हो जाना प्रलय है। प्रश्न होता है कि जब पृथ्वी नहीं होती तब जीवों का क्या होता है? उत्तर है कि उस समय जीवों का स्थूल शरीर नहीं रहता, किन्तु उनके संस्कार बने रहते हैं। इन संस्कारों का आधार ही कारण-शरीर कहलाता है। प्रलय की स्थिति में जीव कारण-शरीर सहित बने रहते हैं।

– गीता १४.२ पर विपुल-भाष्य

भक्ति का अर्थ है – भजन । भजन का अर्थ गीतात्मक कीर्तन नहीं है, भजन का अर्थ है – चिन्तन का विषय बनाना। हम धन को या पद–प्रतिष्ठा को अपने चिन्तन का विषय बनाकर धन की भक्ति भी कर सकते हैं, पद–प्रतिष्ठा की भक्ति भी कर सकते हैं। हम प्रायः अनेक विषयों की भक्ति एक साथ किया करते हैं। हमें धन भी चाहिए, प्रतिष्ठा भी चाहिए, सत्ता भी चाहिए, सुविधा भी चाहिए। यह व्यभिचारिणी भक्ति हुई।

– गीता १४.२६ पर विपुल-भाष्य

सात्त्विक व्यक्ति में ज्ञान और विवेक बना रहता है, इसलिए वह गलत काम नहीं कर सकता। यह प्रत्यक्ष

अनुभव का विषय है कि अच्छे काम मनुष्य को प्रसन्नता देते हैं। संस्कृत भाषा में प्रसन्न के दो अर्थ हैं – सुख और निर्मलता। अभिप्राय यह है कि जहाँ निर्मलता है वहीं सुख है।

– गीता १४.१६ पर विपुल-भाष्य

पञ्चदश अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

जीव अपने कर्मानुसार इस संसार–वृक्ष में ऊर्ध्व गति तथा अधोगति को प्राप्त होते हैं। मरणोपरान्त स्थूल शरीर तो यहीं पञ्चभूतों में मिल जाता है। आत्मा सर्वव्यापक है – अतः उसमें गति सम्भव ही नहीं है। गति केवल सूक्ष्म शरीर करता है।

– गीता १५.१ पर विपुल-भाष्य

समझना चाहिए कि प्रथम तो हमारी कामनाओं का कभी अन्त ही नहीं आता – एक कामना पूरी होती है कि दूसरी कामना उत्पन्न हो जाती है। दूसरे, यदि अभीष्ट पदार्थ हमें मिल भी जाता है तो वह सदा नहीं रहता। इस प्रकार कामनाएँ हमें सदा–सदा भटकाती रहती हैं।

– गीता १५.५ पर विपुल-भाष्य

सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध फूल का सुगन्ध से है। फूल तो एक स्थान पर ही रहता है किन्तु उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर यहीं रह जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर दूर तक की यात्रा करता है। यही सूक्ष्म शरीर अपने कर्म तथा ज्ञान के अनुसार नया स्थूल शरीर धारण कर लेता है।

– गीता १५.८ पर विपुल-भाष्य

बंधन का कारण राग है, विषयों का सेवन नहीं। प्रकृति प्रकृति का भोग कर रही है, यह समझ लेने पर विषयों के प्रति राग उत्पन्न नहीं होता। जीव चेतन स्वरूप है। अतः वह चेतन परमात्म तत्त्व का ही आनन्द ले सकता है, जड प्रकृति का भोग नहीं कर सकता। किन्तु अज्ञानी अपने आपको प्रकृति मानकर प्रकृति के भोग को अपना भोग मान लेता है। यही राग है, यही बंधन है।

– गीता १५.९ पर विपुल-भाष्य

वास्तविकता यह है कि हिन्दू समस्त चराचर को भगवद्रूप ही मानता है। वह जब किसी पाषाण खण्ड के आगे नतमस्तक होता है तो वह पत्थर को नहीं, भगवान् को ही नमस्कार करता है।

– गीता १५.१२ पर विपुल-भाष्य

अक्षर पुरुष अथवा जीवात्मा है तो परमात्मा का अंश किन्तु भूल से उसने अपना सम्बन्ध प्रकृति से मान लिया है इसलिए वह अक्षर अर्थात् अविनाशी होते हुए भी अपने को नश्वर मानकर दुःखी होता है और निर्विकार होते हुए भी अपने को विकृत मानता है। उसकी इसी भूल का स्मरण दिलाने के लिए गीता में अक्षर को कूटस्थ बताया गया है।

– गीता १५.१६ पर विपुल-भाष्य

किसी शास्त्र में तीन ही विषयों का वर्णन रहता है – संसार, जीव तथा परमात्मा। संसार क्षर–पुरुष है, जीव अक्षर-पुरुष, परमात्मा अव्यय-पुरुष । क्षर अधिभूत है, अक्षर अधिदैव है तथा अव्यय अध्यात्म है। इन तीनों से बहिर्भूत कुछ भी नहीं। इन तीनों का वर्णन करने के कारण गीता सम्पूर्ण शास्त्र है।

– गीता १५.१६-१७ पर विपुल-भाष्य

षोडश अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

मनुष्य की एक सहज प्रवृत्ति होती है कि वह दूसरों के सुख से ईर्ष्या करता है और दूसरों के दुःख में उसे थोड़ी तसल्ली मिलती है कि दुःख दूसरे पर ही आया, वह स्वयं दुःख से बच गया। साधक को यह प्रवृत्ति बदलनी होती है। उसे दूसरों के सुख में ईर्ष्या के स्थान पर प्रमोद–भावना तथा दूसरों के दुःख में करुणा का भाव रखना होता है।

– गीता १६.२ पर विपुल-भाष्य

गीता के अनुसार आसुरी सम्पदा के घटक हैं – कर्त्तव्याकर्त्तव्य का अज्ञान, अपवित्रता, अनाचार, असत्य, नास्तिकता, कामुकता, अनात्मवाद, अदूरदर्शिता, उग्रता, विनाशकारी प्रवृत्ति, वासना, दम्भ, मान, मद, मोह, असत्प्रवृत्ति, अशुचि, असीम चिन्ता, विलासिता, क्रोध, अन्यायपूर्वक अर्थोपार्जन, मनोराज्य में विचरण, संहार, अहंकार, आत्मविकत्थन, चापल्य, स्तब्धता, विधि–विरुद्ध कर्म, दर्प, परमात्मद्रोह तथा लोभ।

– गीता १६.१०-१८ पर विपुल-भाष्य

आसुरी सम्पदा का विस्तार बहुत है। पदे–पदे हमसे जो प्रमाद होता रहता है उसका लेखा–जोखा रखना बहुत कठिन है। आसुरी सम्पदा की नींव बहुत गहरी है। हम जन्म–जन्मान्तर में इसीलिए भटक रहे हैं कि आसुरी भाव हमें पकड़े हैं।

– गीता १६.२० पर विपुल-भाष्य

प्रश्न होता है कि शास्त्र की प्रामाणिकता का आधार क्या है? वस्तुतः शास्त्र साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की वाणी है। जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया तथा जिनका चित्त एकाग्र हो गया, पारमार्थिक सत्य का दर्शन वे ही कर सकते हैं। हम तो सत्य को सदा अपने राग-द्वेष के चश्मे से रंग कर देखते हैं। यही शास्त्रों की प्रामाणिकता का आधार है कि वे वीतरागों की वाणी है।

– गीता १६.२४ पर विपुल-भाष्य

सप्तदश अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

सात्विक व्यक्ति ज्ञान की कामना करते हैं। इसलिए वे देवों की उपासना करते हैं। देव सौर प्राण हैं। ये सौर प्राण प्रकाश और ज्ञान को देने वाले हैं। गायत्री मंत्र में की गई प्रार्थना इसीलिए सर्वोत्कृष्ट मानी गई है कि उसमें सविता से बुद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। बुद्धि से ही धर्म और अधर्म का विवेक होता है।

– गीता १७.४ पर विपुल-भाष्य

गुणों के अनुसार स्थूल रूप में व्यक्तित्व के तीन प्रकार हैं – सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक । इनमें सात्विक व्यक्ति को रसपूर्ण, स्निग्ध, सुपाच्य तथा हृदय को सशक्त बनाने वाले भोजन प्रिय होते हैं। उसके भोजन करने का प्रयोजन है – शरीर की दीर्घकालिक स्थिति, प्राणशक्ति, आरोग्य, सुख तथा प्रेम की वृद्धि।

– गीता १७.८–१० पर विपुल-भाष्य

जो यज्ञ शास्त्रोक्त विधि के अनुसार किसी फल की इच्छा के बिना अपना कर्त्तव्य मानकर किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक होता है। जो यज्ञ फल को लक्ष्य बनाकर प्रदर्शन करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए किया जाता है, वह यज्ञ राजस है। जो यज्ञ विधि के बिना, अन्नदान किए बिना, मन्त्र–रहित तथा दक्षिणा और श्रद्धा के बिना किया जाता है, वह यज्ञ तामस है।

– गीता १७.११ पर विपुल-भाष्य

धर्म कोई बाह्य यान्त्रिक क्रिया नहीं है जिसे दिखाकर हम दुनिया की वाहवाही लूट सकें अपितु वह एक ऐसी आन्तरिक मनःस्थिति है जिसे भले दुनिया जाने या न जानें, हम स्वयं तो जानते ही हैं। उस अपनी आन्तरिक मनःस्थिति को जानकर हम ईमानदारी से देखें कि हम सात्त्विक हैं, राजसी हैं अथवा तामसिक हैं।

– गीता १७.१४-१६ पर विपुल-भाष्य

शरीर को कष्ट देना तप के अन्तर्गत नहीं माना गया । वस्तुतः तप विषय–विकारों का त्याग करने में है, अपने को कष्ट देने में नहीं। यदि साधक की दृष्टि सम्यक् है तो विषय-विकारों के त्याग से सुख ही मिलता है, दुःख नहीं।

– गीता १७.१७ पर विपुल-भाष्य

धर्म के क्षेत्र में दिखावे का कोई स्थान नहीं है। धर्म का फल किसी दूसरे को नहीं देना है कि हम उसे जतावें कि हम धर्म कर रहे हैं। हाँ, दूसरे यह जानकर कि हम तप कर रहे हैं, हमारा सम्मान कर सकते हैं। किन्तु यह सम्मान तप का फल नहीं है, तप का फल तो आत्मशुद्धि है।

– गीता १७.१७ पर विपुल-भाष्य

दैवी–सम्पत् तो सात्त्विक वृत्ति ही है, जहाँ न अहङ्कार है न फलासक्ति। यह वृत्ति न केवल स्वर्ग–प्राप्ति का हेतु है प्रत्युत परम्परया मोक्ष का कारण भी है। अतः साधक को सात्त्विक वृत्ति का ही आश्रय लेना चाहिए। सात्त्विक वृत्ति लौकिक अभ्युदय का कारण होने से सम्पत्ति तो है ही, आत्मोत्थान का कारण होने से वह दैवी भी है।

– गीता १७.२० पर विपुल-भाष्य

किसी कर्म को सत्कर्म होने के लिए प्रथम तो उस कर्म को सत् – शाश्वततत्त्व – पर टिका होना चाहिए। जिस कर्म के करते समय परमात्मा का स्मरण नहीं हो, वह कर्म अत्यन्त तुच्छ लौकिक कामनाओं से जुड़कर हेय हो जाता है, भले ही वह कर्म शास्त्रोक्त ही क्यों न हो। दूसरे, वह कर्म उदात्त उद्देश्य से किया जाए, किसी सङ्कीर्ण स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं। तीसरे, वह कर्म निन्दनीय न हो।

– गीता १७.२३ पर विपुल-भाष्य

अष्टादश अध्याय के भाष्य के कतिपय अंश

क्षीणोदर्क साधक अपनी ही मुक्ति की चिन्ता करता है, भूमोदर्क साधक अपनी मुक्ति के साथ–साथ लोक–कल्याण का भी भाव रखता है। क्षीणोदर्क की तुलना बौद्ध धर्म के हीनयान से तथा भूमोदर्क की तुलना बौद्धधर्म के महायान से की जा सकती है। जैन परम्परा का एकलविहारी मुनि क्षीणोदर्क है तथा तीर्थङ्कर, गणधर प्रभृति भूमोदर्क हैं।

– गीता १८.५ पर विपुल-भाष्य

एक विचित्र विसंगति है। भोगों के भोगने में दुःख है और कर्त्तव्य–कर्मों के नहीं करने में दुःख है। किन्तु हमें इससे उल्टी प्रतीति होती है – हमें भोगों को भोगने में सुख की प्रतीति होती है और कर्त्तव्य–कर्मों के करने में दुःख की प्रतीति होती है। अतः हम भोग तो भोगना चाहते हैं किन्तु कर्त्तव्य–कर्म नहीं करना चाहते । यही व्यक्ति के दुःख का कारण बन जाता है और यही समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में बाधक बन जाता है। जिस राष्ट्र के नागरिक भोग अधिक से अधिक भोगना चाहें और कर्म कम से कम करना चाहें, वह राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता। यह अधर्म का मार्ग है।

– गीता १८.७ पर विपुल-भाष्य

राजसी व्यक्ति को करने के लिए हर समय कुछ न कुछ चाहिए। कुछ करने में भी त्याग है; आराम छोड़कर ही कुछ किया जा सकता है। राजसी व्यक्ति नींद छोड़ता है। खाना–पीना भी छोड़ देता है। उसे हर समय काम

चाहिए। वस्तुतः वह निश्चल नहीं बैठ सकता किन्तु अपनी चञ्चलता को छिपाने के लिए कर्मठता का आवरण ओढ़ लेता है। लोग उसकी प्रशंसा करते हैं कि वह अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाता, वह समय की कीमत जानता है – इत्यादि इत्यादि। वस्तुस्थिति यह है कि वह निश्चल बैठ ही नहीं सकता।

संसार में दो ही मार्ग हैं – राग का मार्ग और त्याग का मार्ग। राग का मार्ग सिखाना नहीं पड़ता – "सीख बिना नर सीखत है विषयादिक सेवन की चतुराई।" त्याग के मार्ग का उपदेश देना ही शास्त्र का कार्य है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि त्याग क्या है? प्रायः समझा जाता है कि घर–बार छोड़ देना त्याग है। सभी आरण्यक पशु घर-बार छोड़े हुए ही हैं तो क्या ये त्यागी कहलाएँगे? किसी भी पशु के पास कोई रुपया–पैसा नहीं रहता तो क्या वे त्यागी हो जाएंगे? वस्तुतः राग का त्याग, त्याग है।

वस्तुतः अहङ्कार में गर्व के साथ दीनता–हीनता का भाव भी शामिल है। मैंने अच्छा किया, यह गर्व का भाव है, मैंने बुरा किया, यह हीनता का भाव है। मैंने किया, यह दोनों स्थितियों में है। मैंने किया ही नहीं, यह निरहङ्कारिता है – इसमें न गर्व का भाव है न हीनता का। अर्थात् अहङ्कार गया तो श्रेष्ठता की ग्रन्थि भी गई, हीनता की ग्रन्थि भी गई। तब समस्त कर्म स्वतः झड़ जाते हैं। तब यह संशय भी नहीं रहता कि हम कर्म में सफल होंगे या नहीं।

– गीता १८.८ पर विपुल-भाष्य

'मुझे भगवान् सदा ही, अभी और यहीं, प्राप्त हैं' भक्त का ऐसा भाव उसे भविष्य में स्वर्गादि मिलने के प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न होने देता। जिसके हाथ में हीरे हों, वह भला भविष्य में कंकर–पत्थर मिलने की आशा के प्रति क्यों आसक्त होने लगा ?

गीता में त्याग के दो अर्थ हैं। ज्ञानी के लिए त्याग का अर्थ है – कर्तृत्व के अहङ्कार का त्याग तथा कर्मयोगी के लिए त्याग का अर्थ है – फल के प्रति आसक्ति का त्याग। फल दोनों का एक ही है – कर्मबन्धन का अभाव।

– गीता १८.१७ पर विपुल-भाष्य

न प्रकृति के पास यह विकल्प है कि वह क्रिया न करे, न पुरुष के पास यह विकल्प है कि वह क्रिया करे। जहाँ विकल्प न हों वहाँ पाप–पुण्य का प्रश्न ही नहीं होता । न प्रकृति को कुछ करने में पाप–पुण्य होता है, न पुरुष को कुछ न करने में पाप–पुण्य होता है । यह सांख्य दर्शन की स्थिति है।

– गीता १८.१९ पर विपुल-भाष्य

संसार दो भागों में विभक्त है – द्रष्टा और दृश्य। इसी कारण हमें द्वैत सत्य प्रतीत होता है। द्रष्टा उत्तम पुरुष है अर्थात् 'मैं' और दृश्य मध्यम पुरुष अर्थात् 'तू' है। इन दोनों में जो दूर होता है वह अन्य पुरुष अर्थात् 'वह' हो जाता है। यही हमारी भेद बुद्धि का आधार है। किन्तु यह भेद केवल व्यावहारिक अर्थात् सापेक्ष है। जो मेरे लिए 'तू' है उसके लिए वह स्वयं 'मैं' है और "मैं" उसके लिए 'तू' है।

वस्तुतः तो हम दोनों ही हैं। दोनों का अस्तित्व 'है' अर्थात् दोनों में 'है–पना' है। यह "है–पना" ही अपेक्षा भेद से कभी 'मैं' हो जाता है कभी 'तू' हो जाता है। निरपेक्ष रूप में तो न मैं मैं है न तू तू है, केवल अस्तित्व है। यह अस्तित्व ही परमात्मा है जो एक है और जो सब परिवर्तनशीलों में अपरिवर्तित रहने के कारण सत्य है। जो कभी हो और कभी न हो वह व्यावहारिक सत्य हो सकता है, पारमार्थिक सत्य तो वही है जो तीनों कालों में है।

– गीता १८.२० पर विपुल-भाष्य

ऋक् से मूर्त्त पदार्थ, वायु से गति तथा साम से तेज अथवा ज्ञान उत्पन्न होता है। यह मूर्त पदार्थ ही तमोगुण है, गति ही रजोगुण है तथा ज्ञान ही सत्त्वगुण है। इन तीन गुणों का विवेचन सांख्य दर्शन में हुआ है। इस प्रकार

सांख्य दर्शन का आधार पूर्णतः वैदिक है। यह हम इसलिए कह रहे हैं कि कई विद्वानों ने सांख्य का मूल वेदेतर बताने का प्रयत्न किया है। त्रिगुण का सिद्धान्त, जो कि सांख्य दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है, स्पष्ट रूप से अथर्ववेद संहिता में उल्लिखित है – ''पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्'' (अथर्ववेद १०,८,४३) अथर्ववेद के इसी त्रिगुण के सिद्धान्त का आधार लेकर अथर्ववेद के उपवेद, आयुर्वेद में पित्त, वात तथा कफ का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ।

– गीता १८.७–९ पर विपुल-भाष्य

हम सामान्यतः समझते हैं कि दुःख ही मन को विकृत करता है, किन्तु वस्तुतः सुख भी मन को समता में नहीं रहने देता। सुख से मन में जो उत्तेजना होती है वह हमें अनुकूल प्रतीत होती है। इसलिए हम उसके प्रति चिंतित नहीं होते। दुःख से जो उद्विग्नता उत्पन्न होती है वह हमें प्रतिकूल लगती है। अतः हम उससे मुक्त होना चाहते हैं।

– गीता १८.२६ पर विपुल-भाष्य

तामसी व्यक्ति की एक पहचान है कि वह सदा दुःखी रहता है। उसके दुःखी रहने के अनेक कारण हैं। प्रथम तो वह यह जानता है कि वह अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहा। इसलिए वह स्वयं से ही असंतुष्ट रहता है। आलस्य के कारण वह अपना कर्त्तव्य नहीं कर पाता इसलिए उसका असंतोष सदा बना रहता है। दूसरे उसके आस–पास दूसरे लोग उन्नति कर जाते हैं। अतः वह ईर्ष्या की भावना से तप्त रहता है। तीसरे आलस्य के कारण वह सदा अभावग्रस्त रहता है। इसलिए दुःखी रहना उसका स्वभाव ही बन जाता है। दुःख को रजोगुण से जोड़ा जाता है किन्तु यहाँ तमोगुण से जोड़ा गया है। जो दुःख चंचलता के कारण होता है वह रजोगुण का परिणाम है, किन्तु जो दुःख आलस्य के कारण होता है वह तमोगुण का परिणाम है।

– गीता १८.३२ पर विपुल-भाष्य

कोई व्यक्ति व्यापार कर रहा है तो हम मानते हैं कि यह प्रवृत्ति है, कोई व्यक्ति ध्यान कर रहा है तो हम समझते हैं कि यह निवृत्ति है। गीता कहती है कि यह समझ ऊपरी है। यदि कोई गृहस्थ किसी व्यक्तिगत कामना के बिना व्यापार करता है तो उसका कर्म भी अकर्म है। यदि वह व्यापार में न किसी का शोषण करता है, न किसी प्रकार की बेईमानी करता है, तो वह व्यापार के द्वारा समाज की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। दूसरी ओर एक व्यक्ति तपस्या करता है, ध्यान करता है, किन्तु साथ ही यह भी समझता है कि इस साधनामय जीवन के कारण वह दूसरों से बड़ा हो गया है, तो उसकी निवृत्ति भी प्रवृत्ति बन जाएगी। ऐसा ही विवेक कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में करना चाहिए।

– गीता १८.३० पर विपुल-भाष्य

सुख भी त्रिविध है। भोजन, शयन, मैथुन का सुख तो पशु को भी होता है। सात्त्विक सुख वह है जिसके लिए अभ्यास करना पड़े। शास्त्र में पहले कोई सुख मालूम नहीं होता, शास्त्र बिल्कुल नीरस प्रतीत होते हैं, किन्तु जिन्हें अभ्यास हो जाता है वह व्याकरण जैसे शुष्क विषय में भी इतना रस लेते हैं कि उसके पीछे खाना–पीना तक भूल जाते हैं। यह अभ्यास से ही सम्भव है। जिसका अभ्यास नहीं है, उसे यह सुख बकवास लगता है। पहले पहल तो सभी करणीय कर्म विषोपम लगते हैं। यदि कर्त्तव्यपालन कड़वा न हो तो सभी कर्त्तव्य का पालन न करने लगें ? किन्तु धर्माचरण का फल सदा अमृतोपम होता है। यह सात्त्विक सुख का स्वरूप है। यह सुख उसे ही प्राप्त होता है जिसकी बुद्धि निर्मल है।

– गीता १८.३७-३९ पर विपुल-भाष्य

सत्वगुण की पहचान है – अद्वैतदृष्टि। अद्वैतदृष्टि का फल है – वीतरागता। जहाँ वीतरागता है वहाँ समता है। सात्विक साधक धर्माधर्म में विवेक रखता है। उसकी सभी क्रियाएँ भगवत्प्राप्ति का ही एकमात्र लक्ष्य लेकर चलती हैं। वह प्रतिकूल प्रतीत होने वाले कर्त्तव्यों से भी च्युत नहीं होता है। ये सत्त्वगुण के लक्षण हैं।

– गीता १८.४२ पर विपुल-भाष्य

वर्ण का अर्थ है – रंग । इस आधार पर कुछ लोगों ने यह कल्पना की कि आर्य लोग गौर वर्ण के थे और भारत के मूल निवासी काले रंग के थे। अतः आर्यों ने मूल निवासी को शूद्र कहकर काले रंग का बता दिया। यह कल्पना सर्वथा निर्मूल है। वैदिक साहित्य में ही तीन गुणों के तीन रंग बताए हैं – सफेद, लाल, काला – "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्।" आर्य और आर्येतर के बीच काल्पनिक संघर्ष के प्रसंग से इसे जोड़ना सर्वथा अप्रामाणिक है। गीता के अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्णों का सम्बन्ध प्रकृति के तीन गुणों से है, किन्हीं दो जातियों के बीच संघर्ष से नहीं।

– गीता १८.४७-४८ पर विपुल-भाष्य

साधक किसी भी वर्ण का क्यों न हो उसे अद्वैत भाव रखना चाहिए, अनासक्त होना चाहिए, अहंकार नहीं करना चाहिए, सुख–दुःख में विचलित नहीं होना चाहिए, धर्म–अधर्म का विवेक करना चाहिए और शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए ही सुख तथा भगवत्प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए। यह आचार संहिता सभी वर्ण वालों के लिए समान है।

– गीता १८.५१-५३ पर विपुल-भाष्य

यदि वेद के अध्यापन का कार्य भी अहंकार और लोभ से प्रेरित होकर किया जाएगा तो राजसी हो जाएगा और मोह के वशीभूत होकर किया जाएगा तो तामसी हो जाएगा। यदि सेवा का कार्य भी अनासक्तिपूर्वक राग–द्वेष से रहित होकर किया जाएगा तो वह सात्त्विक हो जाएगा। अभिप्राय यह हुआ कि कोई कार्य अपने आप में न बड़ा अर्थात् सात्त्विक है और न तामसी अर्थात् छोटा है। कबीर का जुलाहे का काम भी सात्त्विक था। रावण का वेद का वैदुष्य भी तामसी था। इसलिए हमारी परम्परा ने जुलाहे कबीर को सम्मान दिया और ब्राह्मण रावण को दुर्जनता का पर्याय माना। मान–अपमान का निर्णय तीन गुणों के आधार पर किया गया न कि शूद्र या ब्राह्मण के आधार पर। यही गीता-सम्मत दृष्टि है।

– गीता १८.५६ पर विपुल-भाष्य

जल के प्रबल प्रवाह में हाथी भी बह जाते हैं क्योंकि हाथी जल का अंश नहीं बन पाते किन्तु उसी प्रवाह में छोटी–सी मछली भी प्रवाह के प्रतिकूल तैर जाती है क्योंकि वह जल का अंग बन गई है।

– गीता १८.५४ पर विपुल-भाष्य

अंग अपने लिए कुछ भी नहीं करता, जो कुछ भी करता है अंगी के लिए करता है। हाथ भोजन बनाता है तो अपने लिए नहीं पूरे शरीर के लिए, मुख भोजन चबाता है तो पूरे शरीर के लिए। हम जो भी कार्य करें वह अपने लिए न करके ईश्वर के लिए करें, जिसके हम अंग हैं। ऐसी स्थिति में हमारे सभी कर्म सिद्धि प्रदान करने वाले बन जाएँगे। इसी बात को समझाने के लिए ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चारों वर्णों को विराट् पुरुष का अंग बताया गया है। मुख ब्राह्मण है, भुजाएँ क्षत्रिय हैं, वैश्य जंघा है और शूद्र पाँव हैं। शरीर के सभी अंग जिस प्रकार अपना ही कार्य करते हैं दूसरे अंग का नहीं उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण स्वभाव के अनुरूप शास्त्र निर्दिष्ट कर्म तो करना चाहिए, किन्तु उस कर्म को अपने लिए न मानकर समष्टि के लिए मानना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे कर्म का फल नहीं मिलेगा, किन्तु उसका लक्ष्य कर्म फल न होकर कर्म करना

है। हाथ भोजन बना देता है, भोजन से मिलने वाली पुष्टि पर उसकी दृष्टि नहीं रहती। फिर भी वह पुष्टि उसे स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

– गीता १८.५७ पर विपुल-भाष्य

जो संसार से विमुख होकर परमात्मा की ओर अभिमुख हो जाता है उसमें स्पर्द्धा की भावना समाप्त हो जाती है। परमात्मा को चाहे कितने भी लोग कितना भी चाहें उनमें स्पर्द्धा नहीं होती क्योंकि परमात्मा अनन्त है। अनन्त में से अनन्त निकल जाए तो भी अनन्त ही शेष रह जाता है।

– गीता १८.५८ पर विपुल-भाष्य

सांसारिक वस्तुओं का नियम है कि वे मिलने पर सुख देती हैं। परमात्मा का नियम इसके विपरीत है। परमात्मा मिलेगा तो शान्ति नहीं मिलेगी, अपितु हम शान्त हो जाएँगे तो परमात्मा मिल जाएगा। बल्कि ठीक तो यह कहना होगा कि हमारा अपना शान्त रूप ही परमात्मा है। अर्थात् जब हम अशान्त हैं तो जीव हैं, जब शान्त हैं तो परमात्मा हैं।

– गीता १८.६० पर विपुल-भाष्य

भगवान् हमारा अपना स्वरूप है। उससे अधिक निकट और कुछ भी नहीं है। जब गुरु यह सुझाता है कि तुम स्वयं ही ब्रह्म हो तो फिर भगवान् के लिए की जाने वाली सारी भाग–दौड़ की निरर्थकता समझ में आ जाती है।

अशान्त मन का लक्षण है कि वह वर्तमान में सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु परमात्मा सदा वर्तमान में है। अशान्त मन सदा भविष्य में रहता है, इसलिए अशान्त मन का कभी परमात्मा से मिलन नहीं होता।

– गीता १८.६१–६२ पर विपुल-भाष्य

हम वर्ण-व्यवस्था के विरोधी भी क्यों न हों, इतना तो निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना–अपना स्वभाव होता है, अपनी–अपनी रुचि होती है। उसकी यह रुचि उसे भिन्न–भिन्न कार्यों में प्रवृत्त करती है। यदि वह कार्य उसके स्वभाव के अनुकूल होगा तो उसे उस कार्य में आनन्द आएगा, अन्यथा उसे वह कार्य भार रूप प्रतीत होगा।

– गीता १८.६५ पर विपुल-भाष्य

श्रीकृष्ण आत्मिक स्तर पर बोल रहे हैं, बौद्धिक स्तर पर नहीं। इसलिए गीता का कोई सम्प्रदाय नहीं बन सका। सम्प्रदाय के लिए एक आग्रह चाहिए – कर्म ही ठीक है, ज्ञान नहीं; अद्वैत ही ठीक है, द्वैत नहीं। गीता का ऐसा कोई आग्रह नहीं। इसलिए यह द्वैतवादी सांख्य को भी मान्य है, अद्वैतवादी वेदान्ती को भी, ज्ञानवादी शङ्कर भी इसके अनुयायी हैं, कर्मवादी तिलक भी। आत्मा में सभी बुद्धियाँ समाहित हैं – हाथी के पाँव में सबके पाँव की तरह।

– गीता १८.६० पर विपुल-भाष्य

शरणागति इस ज्ञान से उत्पन्न होती है कि अस्तित्व में हम अकेले नहीं हैं। अस्तित्व बहुत बड़ा है। हम उसके एक अत्यन्त छोटे हिस्से हैं।

– गीता १८.६६ पर विपुल-भाष्य

श्रीकृष्ण ने कहा कि यह उपदेश उसे नहीं देना चाहिए जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, इस उपदेश को सुनना न चाहे और जिसकी दृष्टि सदा दोष ढूँढने में लगी रहे।

– गीता १८.६७ पर विपुल-भाष्य

यह महत्वपूर्ण है कि गीता के अधिकारी के लिए भक्ति, श्रद्धा और अनसूया अर्थात् ईर्ष्या के अभाव की शर्त लगाई गई है। बहुत पढ़े-लिखे होने की शर्त नहीं लगाई गई, न बहुत बुद्धिमान होने की शर्त लगाई गई। परम सत्य परम सरल है।

– गीता १८.६७ पर विपुल-भाष्य

वेदान्त कहता है कि यह संसार ही अज्ञान से उत्पन्न हुआ है। मन अपनी आवरण शक्ति से सच्चाई को ढक लेता है और विक्षेप शक्ति से जो है ही नहीं उसे उत्पन्न कर देता है। मन में विक्षेपण की, प्रोजेक्ट करने की शक्ति है। जैसे सिनेमा में पट पर प्रोजेक्टर उन पदार्थ और क्रियाओं को प्रोजेक्ट करके उत्पन्न कर देता है जो पट पर हैं ही नहीं, उसी प्रकार मन अपनी विक्षेप शक्ति से उन पदार्थ और क्रियाओं का विक्षेपण कर देता है जो वस्तुतः हैं ही नहीं। हम उन पदार्थ तथा क्रियाओं से अज्ञानवश सम्मोहित होकर सुख–दुःख के झूले में झूलने लगते हैं, पाप–पुण्य की दुविधा में उलझे रहते हैं।

– गीता १८.७३ पर विपुल-भाष्य

बहुत बार सवाल उठता है कि भारत में तो गीता जैसा शास्त्र था फिर इस देश ने हजारों साल पराधीनता क्यों भोगी? यह देश दरिद्र क्यों हुआ? यहाँ अशिक्षा क्यों है? सवाल करना मुनासिब है। लेकिन अर्जुन के बाद इस देश में किसी धनुर्धारी को गीता सुनाई ही किसने? अथवा किस धनुर्धारी ने गीता सुनने की जिज्ञासा प्रकट की? गीता को योगियों के लिए मान लिया गया, धनुर्धारियों ने गीता से अपना नाता ही तोड़ लिया। गीता संन्यासियों के द्वारा मंदिरों में उन वृद्ध स्त्री–पुरुषों के बीच कहने-सुनने की चीज मान ली गई जिनमें न वक्ता धनुर्धारी हो सकता है, न श्रोता। अलबत्ता कोई योगी भले ही हो जाए। पर इससे क्या? योग के साथ धनुर्धारी भी चाहिए न?

– गीता १८.७८ पर विपुल-भाष्य

— • —

प्रस्तावना

खण्ड एक

'भगवद्गीता' नाम का महत्त्व

किसी ग्रन्थ के नाम का अपना महत्त्व होता है। संस्कृत भाषा में ग्रन्थ के नामकरण की अपनी एक विशिष्ट परम्परा है। संस्कृत में समास बनाने की सुविधा रहती है अतः उसमें ग्रन्थ का नाम तो छोटा–सा रहता है किन्तु उसका अर्थ इतना विशाल होता है कि पूरे ग्रन्थ का सार ही उस नाम में आ जाता है। उदाहरणतः ''वेद'' शब्द को लिया जा सकता है। ''वेद'' शब्द में दो ही अक्षर हैं तथापि इसका अर्थ इतना अधिक है कि जो कुछ भी ''विद्यमान'' है अथवा जो कुछ भी ''वेदितव्य'' है अथवा जो कुछ भी ''विन्दनीय अर्थात् प्राप्तव्य'' है वह सब अर्थात् सत्, चित् और आनन्द का भाव इस छोटे से ''वेद'' शब्द द्वारा प्रकट हो जाता है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद जैसे शब्दों का अर्थ किया जाए तो केवल इन शब्दों के अर्थ–मात्र करने पर पूरी वेद-विद्या समझ में आ जाती है। संसार की अन्य किसी भाषा के शब्दों में इतना विपुल अर्थ प्रकट करने की क्षमता नहीं है।

भगवद्गीतोपनिषद् – अपने आलोच्य ग्रन्थ ''गीता'' के नाम के महत्त्व को संक्षेप में देखने का प्रयत्न करने पर एक पूरा जीवन-दर्शन हमारे सामने उजागर होने लगता है। ग्रन्थ का पूरा नाम है भगवद्+गीता+उपनिषद् = भगवद्गीतोपनिषद्। शब्दार्थ की दृष्टि से लें तो अर्थ होगा — ''भगवान् के द्वारा गायी गई उपनिषदें''। थोड़ा और समझें तो ''भगवान्'' का अर्थ है – ''भग से युक्त'' और ''उपनिषद्'' का अर्थ है – ''निकट बैठना''। निकट बैठ कर कुछ रहस्य की बातें की जाती हैं, अतः उपनिषद् का अर्थ रहस्य-विद्या भी है। रहस्य की बात सर्वविदित नहीं हुआ करती। उपनिषद् का अर्थ होगा कुछ ऐसे रहस्य जो सर्वविदित नहीं हैं। अब सर्वप्रथम भगवान् का अर्थ समझें।

यूं तो भगवान् शब्द का उच्चारण आबालवृद्ध सभी किया करते हैं किन्तु इस शब्द में आए भग का अर्थ बहुत कम लोगों को ज्ञात है। 'भम्' को प्राप्त व्यक्ति भगवान् कहलाता है। 'भम्' का अर्थ है – ज्योति। सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि और विद्युत् – ये पाँच ज्योतियाँ हम सबकी परिचित हैं। किन्तु ये सब ज्योतियाँ भौतिक हैं। एक ज्योति अभौतिक भी है जिसे आत्मज्योति अथवा ज्ञानज्योति कहते हैं। ज्योति वह है जो किसी को प्रकाशित करे। सूर्य, चन्द्र आदि के प्रकाश में घट-पट आदि पदार्थ दिखाई पड़ते हैं अतः वे ज्योति कहलाती हैं। सामान्यतः हम कहते हैं कि सूर्य स्व-पर-प्रकाशक है अर्थात् सूर्य अपने आपको भी प्रकाशित कर देता है और नदी–पर्वत आदि को भी प्रकाशित कर देता है; किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि सूर्य अपने को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। यदि हममें ज्ञान न हो तो न हमें सूर्य दिखाई देगा, न सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होने वाले नदी-पर्वत ही दिखाई देंगें। श्रुति कहती है कि आत्मज्योति के बिना सूर्य, चन्द्र, तारे और विद्युत् भी प्रकाशित नहीं होते फिर अग्नि की तो बात ही क्या है? उस ज्ञान–ज्योति के रहने पर ही सब उसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

इस तथ्य को समझने पर यह समझना सरल होगा कि ''भम्'' आत्मज्योति अथवा ज्ञानज्योति का ही

नाम है क्योंकि वही ज्योति वास्तविक ज्योति है। जो उस 'भम्' को गमयति – प्राप्त करा दे वही "भग" है। उस आत्मज्योति को प्राप्त करवाने वाले ६ साधन हैं – (१) धर्म, (२) ज्ञान, (३) वैराग्य, (४) ऐश्वर्य, (५) यश तथा (६) श्री। अतः इन ६ का ही नाम भग है –

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः, श्रियः,
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

भग के इन ६ घटकों पर विचार करें तो पता चलेगा कि इन ६ को प्राप्त कर लेने पर परिपूर्णता प्राप्त हो जाती है। इसीलिए भगवान् शब्द पूर्णता का सूचक है। गीता के वक्ता श्रीकृष्ण इन सभी घटकों से युक्त होने के कारण भगवान् कहलाए और भगवान् होने के कारण वे आत्मज्योति से युक्त थे। यह गीता ग्रन्थ उन्हीं के द्वारा कहा गया है अतः इसका नाम भगवद्गीता है। गीता नाम के अनेक अन्य ग्रन्थ भी हैं किन्तु भगवद्गीता तो केवल यही महाभारतस्थ गीता है जिसका हम विवेचन कर रहे हैं।

हमारे भग को हमारी अविद्या आवृत किए है अतः हम भगवान् नहीं हैं किन्तु भगवान् की वाणी को सुन कर, समझकर हम अपनी अविद्या को दूर कर भगवत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। हमारे वैराग्य को राग–द्वेष ने, ज्ञान को अविद्या ने, ऐश्वर्य को अस्मिता ने तथा धर्म्म को अभिनिवेश ने अभिभूत कर रखा है। हमारी भगवत्ता की प्राप्ति में ये अविद्या, अस्मिता, राग–द्वेष और अभिनिवेश ही बाधक हैं। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में इन्हें पाँच क्लेश कहा है – **अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः**। सारा पुरुषार्थ इन पाँच अविद्या के आवरणों को दूर करके अपनी भगवत्ता को प्रकट करने में है। गीता के प्रवक्ता श्रीकृष्ण में यह भगवत्ता स्वतः ही प्रकट थी, अतः उन्हें हम भगवान् का अवतार कहते हैं। उपासना में हम भक्त हैं और श्रीकृष्ण उपास्य हैं, किन्तु ज्ञान की भाषा में हम भी भगवान् हैं, श्रीकृष्ण भी भगवान् हैं, अन्तर केवल इतना है कि हमारी भगवत्ता आवृत है, श्रीकृष्ण की अनावृत है। अब संक्षेप में भग के ६ घटकों की चर्चा करना उचित होगा।

भग के छह घटक – १. प्रथम वैराग्य को लें । किसी गरीब को दो रुपए मिल जाएँ तो वह परम प्रसन्न हो जाता है। वही दो रुपए यदि किसी करोड़पति को मिलें तो उसे कुछ भी प्रसन्नता नहीं होती, दो रुपए उसके लिए अत्यन्त तुच्छ हैं। इसे ही हम इस रूप में कह सकते हैं कि दो रुपए की राशि के प्रति उसमें वैराग्य है। इसी प्रकार जिसे आत्म-सम्पदा प्राप्त है उसके लिए त्रिलोकी का वैभव भी तुच्छ है। वह उसकी परवाह नहीं करता। यही वैराग्य नाम का प्रथम भग है जिससे युक्त व्यक्ति भगवान् कहलाता है।

२. द्वितीय भग ज्ञान है। ज्ञान हम सबको है किन्तु यहाँ ज्ञान से अभिप्राय इन्द्रियातीत आत्मा, ईश्वर आदि पदार्थों के ज्ञान से है। आत्मा, ईश्वर आदि का ज्ञान भी हमें शास्त्र पढ़ कर हो गया है। किन्तु हमारा यह ज्ञान परोक्ष होने के कारण स्पष्ट नहीं है। जिन्हें इन सूक्ष्म विषयों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान है उनका ज्ञान ही भग कहलाता है। स्पष्ट है कि जिसे ऐसा ज्ञान प्राप्त है वही उपनिषद् अर्थात् रहस्य अथवा ब्रह्मविद्या का उपदेश देने का अधिकारी है। उसे ही आप्त पुरुष कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति के वचनों का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से खण्डन करना उचित नहीं है। अपने योगज प्रत्यक्ष द्वारा वह जिन तथ्यों का साक्षात्कार करता है उन तथ्यों को हम न इन्द्रियों से जान सकते हैं, न बुद्धि से। अतः यह कहा गया है कि उनके वचनों में अकल का दखल नहीं है –

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा
ये भावान्, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥

३. भग का तीसरा घटक ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य अलौकिक शक्तियाँ हैं। पुराणों में विशिष्ट महापुरुषों में अणिमा, महिमा आदि विशिष्ट सिद्धियों का वर्णन है। हनुमान जी का समुद्र लाँघ जाना ऐसी ही सिद्धि के कारण सम्भव हुआ था। पुराणों के ये वर्णन बहुत से लोग कपोल–कल्पित मान लेते हैं। ध्यान देने की बात है कि पतञ्जलि

के योग-सूत्र को सभी सम्प्रदाय प्रामाणिक मानते हैं। उसके विभूति-पाद में ऐसी अनेक सिद्धियों का उल्लेख है। जो लोग पुराण की घटनाओं को कल्पित मानते हैं वे भी स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन की ऐसी अनेक अद्भुत घटनाओं को प्रामाणिक इसी आधार पर मानते हैं कि स्वामीजी योगी थे। श्रीकृष्ण के जीवन में ऐसी चमत्कारिक घटनाएँ भरी पड़ी हैं। अतः उनका भगवान् होना ही सिद्ध होता है।

४. भग का चौथा घटक धर्म्म है। धर्म्म का अभिप्राय है जो हमारे स्वरूप की रक्षा करता है। उष्णत्व अग्नि का धर्म है क्योंकि उष्णता ही अग्नि का स्वरूप बनाती है। यदि उष्णता नहीं है तो अग्नि भी नहीं है। मननशीलता मनुष्य का धर्म है। जो मननशील नहीं हैं वे आकृति से भले ही मनुष्य दिखें किन्तु वस्तुतः वे पशुओं से भिन्न नहीं हैं – **धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।** जो स्वभावतः ही धर्म का पालन करे वह भग के धर्म नामक घटक से युक्त माना जाएगा। धर्म ही हमारा जीवन है –

यो धृतः सन् धारयते स धर्म्म इति कथ्यते।
धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः॥

श्रीकृष्ण तो बारम्बार धर्म की स्थापना के लिए जन्म धारण करते रहते हैं –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

५–६. उपर्युक्त चार घटक ऐश्वर्य्य, धर्म, ज्ञान और वैराग्य अविद्या का नाश करने वाले हैं। अविद्या का नाम होने पर यश और श्री स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। श्रीकृष्ण का यश तो सर्वत्र है ही। उनकी श्री अर्थात् शोभा का वर्णन भी कवियों ने यह कह कर किया है कि -"**मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।**" यदि श्रीकृष्ण जैसा व्यक्तित्व भारतीय कवियों को न मिला होता तो भारतीय काव्य माधुर्यविहीन ही रह जाता। जादू वह जो सर पर चढ़ कर बोले। श्रीकृष्ण की श्री ने रसखान जैसे मुस्लिम धर्मावलम्बी को भी पागल बना दिया, फिर औरों की तो बात ही क्या है?

श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य्य – श्रीकृष्ण का वैराग्य "**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि**" जैसे वाक्यों से सिद्ध है जहाँ उन्होंने कह दिया है कि त्रिलोकी में उनके लिए कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं है। पाँच हजार साल बाद भी गीता को महात्मा गांधी जैसे महापुरुष अपनी माँ बताते हैं – इतने से ही श्रीकृष्ण के ज्ञान की महिमा स्पष्ट हो जाती है। श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य्य इतने से ही प्रकट है कि उनका पूरा जीवन चमत्कारिक घटनाओं से भरा हुआ है। धर्म के स्रोत शास्त्र के प्रति उनकी निष्ठा भी स्पष्ट है। वे शास्त्र को ही प्रमाण मानते हैं – **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**" इस प्रकार श्रीकृष्ण भग के सभी घटकों से पूर्णतया युक्त होने के कारण भगवान् हुए और उनके द्वारा गाई जाने के कारण गीता भगवद्गीता कहलाई।

बाकी बचे 'गीता' तथा 'उपनिषद्' शब्द को भी हम देखें ताकि "भगवद्गीतोपनिषद्" नाम का पूरा महत्व पाठकों के सामने आ सके और वे जान सकें इस नाम में किस प्रकार महर्षि वेदव्यास ने गागर में सागर भर दिया है।

गीता पद का अभिप्राय

गीत शब्द से हम सब परिचित हैं। गीत शब्द का ही स्त्रीलिङ्ग में गीता रूप बनता है। गीता का अर्थ है – गाई हुई। भगवद्गीता का अर्थ होगा – भगवान् द्वारा गाई हुई। हम भगवान् का अर्थ बता चुके हैं। अब गीता के अर्थ पर विचार कर लिया जाए। गीता शब्द यहाँ उपनिषद् का विशेषण है, आज हम इस शब्द का सौकर्य की दृष्टि से संज्ञा की तरह प्रयोग कर रहे हैं, यह एक दूसरी बात है।

पहली बात तो समझने की यह है कि 'भगवान् द्वारा गाई हुई' कहने के स्थान पर भगवान् द्वारा 'बनाई गई' अथवा 'कही गई' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता था, किन्तु यहाँ गीता शब्द का प्रयोग एक विशेष अभिप्राय से किया गया है। जब किसी वक्तव्य को विस्तार दिया जाता है तो वह गीत बन जाता है। यह पारिभाषिक विषय है। ऋग्वेद में मन्त्र हैं, उन्हें ऋचा कहा जाता है। उन्हीं ऋचाओं को जब गाकर बोला जाता है तो उनकी साम संज्ञा हो जाती है। यह साम ही गीत है – **गीतिषु सामाख्या**। कहा जाता है कि एक ऋचा के बोलने में जितना समय लगता है, साम गान में उससे तिगुना समय लगता है। सारांश यह हुआ कि संकुचित का विस्तार गीत है।

गीता का विषय – अब प्रश्न होता है कि गीता में किस विषय का विस्तार किया गया है जिसके कारण इसे गीता कहा गया? उत्तर यह है कि ऐसे दो विषय हैं जिनका गीता में विस्तार है – अव्यय पुरुष एवं बुद्धियोग। इन दो विषयों का संक्षिप्त रूप गीता से पूर्व भी वैदिक साहित्य में हमें उपलब्ध था किन्तु गीता ने उनका विस्तार कर दिया। अतः गीता का गीता नाम सार्थक है।

देखना है कि अव्यय पुरुष तथा बुद्धियोग का वैदिक साहित्य में संक्षिप्त रूप क्या था और गीता ने उनका क्या विस्तार किया। एक वाक्य में कहें तो कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में इन दो विषयों का सैद्धान्तिक पक्ष प्रतिपादित था किन्तु गीता में सिद्धान्त के साथ इनका व्यावहारिक रूप भी बता दिया गया – यही गीता द्वारा वैदिक साहित्य में प्रतिपादित विषय का विस्तार है। गीता के उपदेष्टा कृष्ण वेदान्त का पाठ पढ़ाने कुरुक्षेत्र में नहीं आए थे, न अर्जुन ही वेदान्त पढ़ने आया था। अर्जुन तो लड़ने आया था और कृष्ण उसके रथ के सारथी बनकर आए थे। इस सन्दर्भ में अव्यय पुरुष अथवा बुद्धियोग की चर्चा का कोई प्रसङ्ग नहीं था। चर्चा होती ही तो युद्ध-नीति की अथवा शस्त्र-सञ्चालन की होती। किन्तु अर्जुन ने एक व्यावहारिक समस्या खड़ी कर दी – क्या राज्य के लोभ से अपने गुरुजनों अथवा भाई-बन्धुओं को मारना उचित है? यह प्रश्न भी कोई ब्रह्मचर्चा का विषय नहीं था लेकिन प्रश्न साधारण भी नहीं था। अतः इसका उत्तर देने के लिए श्रीकृष्ण को अव्यय पुरुष के स्वरूप का ही प्रतिपादन नहीं करना पड़ा अपितु बुद्धियोग की चर्चा भी करनी पड़ी। अव्यय पुरुष की चर्चा किए बिना स्वजनों की हत्या की विभीषिका दूर नहीं हो सकती थी और बुद्धियोग की चर्चा के बिना युद्ध में होने वाली हिंसा के पाप का भय अर्जुन के मन से नहीं निकाला जा सकता था। बात इतनी-सी ही नहीं थी। यदि अर्जुन का प्रश्न अनुत्तरित रह जाता और अर्जुन युद्ध से विरत हो जाता तो संसार में अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने का मार्ग सदा के लिए अवरुद्ध हो जाता। कोई भी दुर्योधन किसी भी युधिष्ठिर का स्वत्व हड़प जाता और ऐसी स्थिति में युधिष्ठिर के लिए चुपचाप बैठे रहना धर्म मान लिया जाता और दुर्योधन के विरुद्ध संघर्ष करना पाप सिद्ध हो जाता। अर्जुन के प्रश्न ने तो यही स्थिति उत्पन्न कर दी थी। यह स्थिति उस स्थिति से सर्वथा भिन्न है जिस स्थिति में उपनिषद् का कोई शिष्य गुरु के पास ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाता है। उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान था; यह चर्चा भी विस्तार से थी कि इस जगत् का मूल कारण ब्रह्म है। किन्तु इस ब्रह्मज्ञान में से अर्जुन के प्रश्न का उत्तर कैसे निकले – यह सूझबूझ श्रीकृष्ण की ही थी। श्रीकृष्ण ने उस ब्रह्म ज्ञान का वितान किया; अंग्रेजी शब्द का प्रयोग करें तो कहें कि ''एक्सटेन्शन'' किया। गीता में ब्रह्मज्ञान का प्रायोगिक रूप है। यही गीता का गीतात्व है, यही गीता की मौलिकता है। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि गीता की इसी मौलिकता के कारण परम्परा ने उसे ''उपनिषद्'' की महनीय संज्ञा प्रदान की। उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग है। वेद भगवान् की वाणी है और श्रीकृष्ण भी स्वयं भगवान् हैं तो फिर उनकी वाणी को उपनिषद् क्यों न कहा जाता? उपनिषद् शब्द संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग है, अतः उसका विशेषण गीता शब्द भी स्त्रीलिङ्ग में रखा गया।

वैदिक साहित्य और गीता – अब यह देखना चाहिए कि वैदिक साहित्य में वह कौन–सा अंश था जिसका विस्तार गीता में श्रीकृष्ण ने किया। पहला तत्व तो अव्यय पुरुष है। अव्यय पुरुष शुद्ध ज्ञान रूप है। उसमें किसी प्रकार का विकार है ही नहीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी अव्यय पुरुष का रूप समझा कर यह बताया कि जो निर्विकार है उसमें पाप का अंश कैसे आ सकता है। अर्जुन हत्या के पाप से डर रहा था। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट घोषणा की कि जो समझता है कि मैंने मारा और जो समझता है कि कोई मरा, वे दोनों ही अज्ञानी हैं; न कोई मारता है, न कोई मरता है –

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

यह तत्व अव्यय पुरुष का रूप समझे बिना नहीं समझा जा सकता। अव्यय पुरुष का यह स्वरूप ऋग्वेद में **अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्** कह कर प्रकट किया गया है। इस अजन्मा को ही वहाँ अव्यय भी कहा गया है – **स न ऊर्जे अव्ययं पवित्रं धाव धारया।** इसी अव्यय की महिमा को ब्राह्मण ग्रन्थों ने **यन्न व्येति तदव्ययम्** कह कर और उपनिषदों ने **परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति** कह कर अभिव्यक्त किया है। गीता इसी अव्यय पुरुष की व्याख्या कर रही है किन्तु एक सर्वथा नवीन प्रसङ्ग में। गीता का उपदेश किसी तपोवन या ऋषि के आश्रम में नहीं हो रहा अपितु एक युद्ध क्षेत्र में रथ के अन्दर दिया जा रहा है। स्वाभाविक है कि गीता श्रुति के वाक्यों का वितान कर रही है, यद्यपि उसका मूल श्रुति में ही है।

अर्जुन पाप से डर रहा है और ज्ञान का बहाना लेकर भिक्षाचर्य्या द्वारा अपना गुजारा करके कर्म से भागना चाहता है। श्रीकृष्ण ने इस मार्ग को अनार्यों द्वारा सेवित मार्ग बताया है। यूँ तो वेद ने ही विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और कर्म के समन्वय की बात कह दी थी किन्तु वहाँ यदि कोई संशय रह भी गया हो तो उपनिषद् ने तो स्पष्ट ही कर दिया कि कुछ लोग केवल ज्ञान को सिद्धि का उपाय समझते हैं किन्तु ऐसा नहीं है और ज्ञानहीन कर्म भी मोक्ष नहीं दे सकता –

ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं तत्र सिद्धये।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥

ऐसी स्थिति में अर्जुन का कर्म छोड़ने का प्रस्ताव ज्ञान नहीं अपितु ज्ञानाभास – गीता के शब्दों में प्रज्ञावाद ही है। अतः श्रीकृष्ण को कहना पड़ा कि ज्ञान और कर्म को पृथक्–पृथक् अज्ञ लोग माना करते हैं, विज्ञ नहीं – **सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।** स्पष्ट है कि वेद, उपनिषद् आदि में प्रतिपादित अव्यय के रूप तथा बुद्धियोग का ही प्रतिपादन श्रीकृष्ण कर रहे हैं फिर भी उनकी अपनी मौलिकता है जिसके कारण श्रीकृष्ण के वचनों को "भगवान् के द्वारा गाया गया" बताया जाता है।

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट हो गया कि श्रीकृष्ण वैदिक मान्यता का ही विस्तार कर रहे हैं। फिर भी गीता में कुछ वक्तव्य ऐसे मिलते हैं कि जिन्हें लेकर श्रीकृष्ण को वेद विरोधी बताने तक का दुस्साहस कुछ नासमझ लोग किया करते हैं। ऊपर हमने "प्रज्ञावाद" शब्द उद्धृत किया है। गीता का मूल वाक्य है – **प्रज्ञावादांश्च भाषसे।** यहाँ प्रज्ञावाद शब्द निन्दार्थक है। प्रज्ञावाद की निन्दा करने का अर्थ कोई मूर्ख भी यह नहीं करेगा कि श्रीकृष्ण प्रज्ञा की निन्दा कर रहे हैं। प्रज्ञा तो सर्वथा स्तुत्य है, निन्दनीय है – प्रज्ञावाद। अब इसी तर्ज पर गीता का वेदवाद शब्द समझा जाए तो सीधा–सा अर्थ होगा वेदवाद निन्दनीय है, वेद तो सर्वथा स्तुत्य है। वेदवाद क्या है, उसका क्या अभिप्राय है, यह स्वयं गीता ही बता देती है। वेदोक्त कर्मों के द्वारा सांसारिक भोगों की प्राप्ति की लालसा ही निन्दनीय है – **क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।** वेद तो त्याग का ही उपदेश देता है –

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। जो वेद को भोग प्राप्ति का साधन समझते हैं – गीता उनकी निन्दा करती है, वेदों की नहीं।

वेदों के साथ एक और भी अन्याय हुआ। वेदों को पवित्र माना गया – इतने तक तो ठीक था किन्तु वेदों को इतना पवित्र मान लिया गया कि वे केवल पूजने की वस्तु रह गए – यह गलत हुआ। वेद जीव के लिए बने हैं और जीव को जीवन जीना है। वेद जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे किसी वायवी शक्ति को प्रसन्न करने के लिए नहीं बने हैं। शास्त्रकारों ने कहा है कि वेद धर्म का मूल है। किन्तु यहाँ भी व्याख्याकारों ने धर्म का अर्थ अग्नि में मन्त्र बोल–बोलकर आहूति देना कर दिया। गीता ने वेद के सन्देश को दैनन्दिन जीवन में उतारने की बात कही। स्थितप्रज्ञ की अवधारणा कोई अलौकिक अवधारणा नहीं है। वह नितान्त प्रतिदिन के व्यवहार की अवधारणा है। जिन्होंने वेद को हौवा बना दिया था, श्रीकृष्ण ने उन्हें ही 'वेदवादरत' कहा है।

गीता और उपनिषद् – गीता को क्योंकि उपनिषद् कहा गया है, अतः यह भी एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या गीता उपनिषद् हो सकती है। उपनिषद् तो वेद के अन्तिम भाग का नाम है और गीता महाभारत का भाग है न कि वेद का। परम्परा में भी गीता को स्मृति कहा जाता है। इस प्रसङ्ग को समझने के लिए श्रुति और स्मृति का भेद समझना होगा। जिसने किसी सत्य का दर्शन किया, वह द्रष्टा कहलाता है और द्रष्टा का वाक्य श्रुति कहलाता है – **द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः।** सत्य का साक्षात्कार ऋषियों ने किया, अतः ऋषियों के वाक्य श्रुति हैं। जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया उसके वाक्यों में सन्देह नहीं किया जा सकता अतः वे वाक्य स्वतः प्रमाण माने जाते हैं। यहाँ वेद के स्वतः प्रमाण माने जाने का कारण है। स्मृति उन व्यक्तियों के वचनों का नाम है जिन व्यक्तियों ने श्रुति को सुना – **श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः।** जिसने सुना किन्तु देखा नहीं उसकी बात स्वतः प्रमाण नहीं हो सकती। उसकी बात तो उतने अंश तक ही सत्य है जितने अंश तक वह श्रुति के अनुकूल हो। श्रुति और स्मृति का यही भेद है।

गीता को देखें तो वह साक्षात् श्रीकृष्ण के वचन हैं। श्रीकृष्ण भगवान् हैं। भगवान् तो स्वयं ही सत्यस्वरूप हैं। उनके वचनों को श्रुति अथवा उपनिषद् कहने में क्या आपत्ति हो सकती है? तथापि यह सत्य है कि गीता वैदिक साहित्य का भाग नहीं है। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि उपनिषद् दो प्रकार के हैं – एक ईश, केन, कठ आदि प्रसिद्ध उपनिषद् जिन्हें हम श्रौत उपनिषद् कह सकते हैं और एक गीता जिसे हम स्मार्त उपनिषद् कह सकते हैं।

तनिक और विश्लेषण करें तो हम यह देख ही चुके हैं कि गीता वेदों का अनुकरण करती है अतः इसे स्मृति कहना उचित ही है। किन्तु गीता केवल अनुकरण ही नहीं करती। उसकी अपनी मौलिकता भी है। इस दृष्टि से उसे स्वतन्त्र उपनिषद् का दर्जा भी दिया जाना गलत नहीं है।

इस सारी चर्चा में सारभूत बात यह है कि सिद्धान्त के साथ व्यावहारिक रूप भी रहना चाहिए। गीता ने यही किया कि जिस ब्रह्मज्ञान का सैद्धान्तिक रूप वेदों में था उसका व्यावहारिक रूप भी हमारे सामने रख दिया। अर्जुन ब्रह्मज्ञान का व्यावहारिक रूप यह प्रस्तुत करना चाह रहा था कि ज्ञानी को कर्म से पलायन कर जाना चाहिए। आज भी अनेक लोग जिसमें गीता के कई भक्त भी शामिल हैं – ज्ञान का यही अर्थ ले रहे हैं। यह गीता का सिद्धान्त पक्ष नहीं है अपितु पूर्वपक्ष है। श्रीकृष्ण ने इसका निराकरण करके जिस बुद्धियोग का प्रतिपादन किया, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग कल्याण का नहीं है – **नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।** इस मार्ग की व्याख्या करते समय उन्होंने एक नहीं अपितु अनेक उपनिषदों का सहारा लिया। ये उपनिषद् ईश, केन, कठ आदि नहीं थीं अपितु कुछ और ही उपनिषद् थीं।

उपनिषद् शब्द का तात्पर्य

गीता के उपनिषदों पर विचार करने से पूर्व उपनिषद् शब्द पर विचार करें।

उपनिषद् शब्द भारतीयों के लिए अपरिचित नहीं है। ईश, केन, कठ आदि उपनिषदों के नाम भी विद्या–प्रेमियों ने सुने हैं। इतने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपनिषद् कुछ ऐसे ग्रन्थों के नाम हैं जिनमें ब्रह्मविद्या का विवेचन है। ब्रह्मविद्या का ही दूसरा नाम वेदान्त भी है। अतः उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय वेदान्त है – यह बात भी भारतीय साहित्य से थोड़ा-बहुत परिचित पाठक जानते हैं। फिर भी उपनिषद् शब्द का अर्थ गीता के प्रकरण में जानना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि स्वयं ''गीता'' शब्द ''उपनिषद्'' का विशेषण है। ''गीता'' शब्द का उपयोग हम आजकल संज्ञा के रूप में कर रहे हैं किन्तु व्याकरण की दृष्टि से गीता का अर्थ है – ''गायी गई''। जब हम ''गायी गई'' कहते हैं तो सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ''गायी गई'' क्या वस्तु? उत्तर है – ''गायी गई उपनिषद्''। प्रश्न होता है कि ''किसके द्वारा गायी गई''? तो उत्तर है – ''भगवान् के द्वारा गायी गई उपनिषद्'' अथवा भगवद्गीतोपनिषद्। ''भगवत्'' और ''गीता'' शब्द की व्याख्या हम कर चुके हैं। अब उपनिषद् शब्द का अभिप्राय स्पष्ट करना है। यह भी पहले ही स्पष्ट कर दें कि ''उपनिषद्'' शब्द संस्कृत भाषा में स्त्रीलिङ्ग है। इसीलिए ''गीता'' भी स्त्रीलिङ्ग है। हिन्दी में ''उपनिषद्'' शब्द का प्रयोग प्रायः पुल्लिंग में भी हो जाता है। अतः ''गायी गई उपनिषद्'' को अशुद्ध नहीं मान लेना चाहिए। संस्कृत भाषा की दृष्टि से ''गाया गया उपनिषद्'' कहना अशुद्ध होगा।

मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् – प्रश्न होता है कि गीता नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ को उपनिषद् क्यों कहा जाता है? उपनिषद् तो ईश, केन, कठ आदि ग्रन्थों का नाम है जो कि वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग माना जाता है। वैदिक साहित्य के चार भाग हैं – मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। गीता वैदिक साहित्य का भाग नहीं है, फिर इसे उपनिषद् कैसे मान लिया गया। इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने के लिए हमें संस्कृत साहित्य में उपनिषद् शब्द का प्रयोग ढूँढ़ना पड़ेगा।

पहले वैदिक साहित्य को देखें। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि इस अग्नि की उपनिषद् वाक् है – **तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषद्**। स्पष्ट है कि यहाँ उपनिषद् का अर्थ कोई ग्रन्थ नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् में भी ''उपनिषद्'' शब्द ग्रन्थ के अर्थ में नहीं आया है। वहाँ कहा गया है कि जो कार्य विद्या, श्रद्धा तथा उपनिषद्पूर्वक किया जाता है वह अधिक फलदायी होता है – **स यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति**। यहाँ भी उपनिषद् का कुछ अन्य ही अर्थ होना चाहिए, ग्रन्थ–विशेष नहीं।

महाभारत में उपनिषद् का प्रयोग किस रूप में हुआ, यह जानना भी महत्वपूर्ण होगा, क्योंकि गीता महाभारत का ही भाग है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि वेद की उपनिषद् सत्य है, सत्य की उपनिषद् दम है, दम की उपनिषद् दान है, दान की उपनिषद् तप है, तप की उपनिषद् त्याग है, त्याग की उपनिषद् सुख है, सुख की उपनिषद् स्वर्ग है तथा स्वर्ग की उपनिषद् शम है –

वेदस्योपनिषत्सत्यं, सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषद्दानं, दानस्योपनिषत्तपः।
तपसोपनिषत्त्यागः, त्यागस्योपनिषत्सुखम्।
सुखस्योपनिषत्स्वर्गः, स्वर्गस्योपनिषच्छमः।

यहाँ उपनिषद् शब्द आठ बार आया है और एक बार भी उपनिषद् का प्रयोग प्रसिद्ध ईश, केन, कठ आदि ग्रन्थों के अर्थ में नहीं हुआ है।

एक बात और ध्यान देने की है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो पंक्ति आती है वहाँ उपनिषद् शब्द का प्रयोग बहुवचन में है, एकवचन में नहीं। इतनी बात स्पष्ट है कि गीता एक ग्रन्थ है, अनेक ग्रन्थों का समूह नहीं है। यदि गीता ग्रन्थ को बतलाने के लिए ही उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया होता तो एकवचन कहना ही पर्याप्त था। **श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु** कहकर बहुवचन का प्रयोग करना बिल्कुल आवश्यक नहीं था।

देखना यह है कि उपनिषद् का वह कौन–सा अर्थ है जिस अर्थ में गीता को उपनिषद् कह दिया गया। ऊपर जो हमने उदाहरण दिए, उनसे यह तो स्पष्ट है कि उपनिषद् शब्द का प्रयोग ईश, केन, कठ आदि ग्रन्थों के अर्थ में रूढ़ होने पर भी इस शब्द का कोई अन्य अर्थ भी है। जब रूढ़ अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ खोजना हो तो हमें यौगिक अर्थ पर जाना चाहिए। उपनिषद् शब्द का यौगिक अर्थ है उप=उपपत्ति, नि=निश्चय, षत्=प्रतिष्ठा। अर्थात् उपनिषद् उपपत्ति बताकर निश्चयपूर्वक किसी कर्म की स्थापना करता है। छोटे बच्चे को भी कोई कार्य करने को कहें तो वह पूछता है कि ऐसा क्यों करना चाहिए। मान लें एक छोटा बच्चा सड़क पर दायीं ओर चल रहा है। हम उसे कहते हैं कि बायीं ओर चलो। बालक तत्काल पूछता है कि ऐसा क्यों? हम उसे समझाते हैं कि सड़क पर सब लोगों को अपनी बायीं ओर चलने का नियम इसलिए बना है कि एक दिशा में जाने वाले सभी लोग सड़क के एक ओर ही चलेंगे तो भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाने वाले वाहन अथवा यात्री परस्पर टकराएँगे नहीं और दुर्घटना नहीं होगी। बायीं ओर चलना एक कर्म हुआ; ऐसा करने से दुर्घटना नहीं होगी – यह उस कर्म की उपपत्ति हुई। बालक ने इस उपपत्ति को समझकर बायीं ओर चलने के निश्चय को हृदयङ्गम कर लिया, यह इस कर्म की उपनिषद् हुई। तात्पर्यार्थ हुआ कि कर्म की इतिकर्त्तव्यता का ज्ञान कराने वाली उपपत्ति ही उपनिषद् है। उपनिषद् को कर्म का रहस्य अथवा मर्म भी कह सकते हैं। उपनिषद् ज्ञान रूप है, किन्तु उपनिषद् केवल ज्ञान नहीं है अपितु कर्म में प्रवृत्त करने वाला ज्ञान है। इसीलिए तो जैसा हमने ऊपर कहा है – छान्दोग्योपनिषद् यह कहती है कि उपनिषद्पूर्वक किया गया कर्म बलवान् होता है।

उपनिषद् का ऐसा अर्थ अनेक विद्वानों को ठीक नहीं लगेगा क्योंकि उपनिषद् शब्द विशुद्ध ज्ञान के अर्थ में प्रसिद्धि पा चुका है तथापि छान्दोग्योपनिषद् जैसी श्रुति हमें यह अर्थ करने को बाधित करती है। वस्तुस्थिति यह है कि आचार्य शङ्कर ने कर्म और ज्ञान के विरोध की बात बहुत बलपूर्वक कही है। इसलिए जब उन्होंने गीता का ज्ञानपरक अर्थ किया तो उन्हें यह भी कहना पड़ा कि गीता में कर्म का समर्थन नहीं है। दूसरी ओर लोकमान्य तिलक ने गीता का कर्मपरक अर्थ किया तो उन्हें शङ्कराचार्य का खण्डन करना पड़ा। सच में इन दोनों मनीषियों को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं थी। श्रुति कहती है कि विज्ञान यज्ञ तथा कर्म की व्याख्या करता है – **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि च।** याजुषी श्रुति तो विद्या और अविद्या के समुच्चय की बात स्पष्ट अक्षरों में ही कह रही है –

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

शतपथ ब्राह्मण मृत्यु तथा अमृत को अन्योन्यानुप्रविष्ट बता ही रहा है। यह ठीक है कि ज्ञान का स्वरूप भिन्न है तथा कर्म का स्वरूप भिन्न है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये दोनों एक दूसरे के सहयोगी नहीं बन सकते।

ज्ञान और कर्म परस्पर उपकारक – आज का वैज्ञानिक कर्म द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। वह प्रयोगशाला में एक प्रयोग करता है और उसके आधार पर एक सिद्धान्त की खोज करता है। प्रयोग कर्म रूप है और सिद्धान्त ज्ञान रूप है। उस सिद्धान्त के आधार पर वह अनेक नवीन तकनीकों की खोजें करता है। यहाँ ज्ञान कर्म में सहायक हो जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है कि ज्ञान और कर्म परस्पर उपकारक हो रहे हैं।

ज्ञानवादियों का कहना है कि उनका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मज्ञान का कर्म से विरोध है, जब जीव को यह ज्ञान हो गया कि वह ब्रह्म है तो फिर भला वह कर्म क्यों करेगा? आपाततः यह बात ठीक लगती है किन्तु विचार करें कि स्वयं शङ्कराचार्य जैसे ब्रह्मज्ञानी से भी क्या कर्म छूट गए थे? बल्कि ३२ वर्ष की अल्पायु में जितना कर्म वे कर गए उतना कर्म तो कोई कर्मवादी भी शायद ही कर पाए। ज्ञानवादी का मत है कि ब्रह्मज्ञानी नित्य नैमित्तिक कर्म तो करता है किन्तु काम्य कर्म नहीं करता। अतः काम्य कर्म का तो ज्ञान से विरोध है ही।

गीता की स्थिति देखें। युद्ध तो काम्य कर्म ही है। फिर श्रीकृष्ण जैसे ज्ञानी ने अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा क्यों दी। इस प्रश्न के उत्तर में ही गीता की उपनिषद् छिपी है। युद्ध सामान्यतः काम्य कर्म है और बन्धन का कारण भी है किन्तु यदि सुख–दुःख, जय–पराजय, हानि–लाभ, जन्म-मरण जैसे द्वन्द्वों से ऊपर उठकर अनासक्त भाव से युद्ध जैसा कर्म भी किया जाए तो वह बन्धन का कारण नहीं रहता – यही गीता का कहना है।

युद्ध तो उपलक्षण है। कोई भी कर्म कामना से किया जाए तो बन्धन का कारण बन जाएगा। सन्ध्यावन्दन नित्य कर्म है। मान लें कि कोई व्यक्ति सन्ध्या इसलिए करता है कि लोग उसकी प्रशंसा करें कि वह व्यक्ति कितना धार्मिक है तो उसके लिए सन्ध्या जैसा नित्य कर्म भी काम्य कर्म बन जाएगा और बन्धन का कारण भी बन जाएगा। किन्तु एक सिपाही देश–रक्षा के अपने कर्त्तव्य के पालन करने की भावना से निन्दा–प्रशंसा की चिन्ता किए बिना शत्रु से देश को बचाता है तो क्या सिपाही के उस कर्म को हम निन्दनीय मानेंगे? श्रीकृष्ण का कहना है कि निन्दनीय तो यह है कि वह सिपाही पाप से बचने का बहाना भरकर युद्धभूमि से भाग निकले। यदि हम ऐसा करने लगें तब तो समाज की अथवा राष्ट्र की कोई व्यवस्था ही नहीं बन पाएगी। अर्जुन यही करने चला था और श्रीकृष्ण ने उसे ऐसा करने से ही रोका।

दुःख-सुख में द्रष्टा ज्ञाता – प्रश्न थोड़ा जटिल है। ब्रह्म ने सृष्टि की रचना की और स्वयं भी उसमें अनु प्रविष्ट हो गया – **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**। प्राचीन काल से ही यह प्रश्न उठता रहा है कि परिपूर्ण ब्रह्म को सृष्टि बनाने की क्या आवश्यकता थी। यह प्रश्न तब उत्पन्न होता है जब हम यह मान लेते हैं कि प्रत्येक कर्म किसी न किसी कामना से प्रेरित होकर ही किया जाता है। हमारी यह मान्यता गलत भी नहीं है, किन्तु अधूरी अवश्य है। सामान्यतः कर्म कामना से ही प्रेरित होते हैं, किन्तु कुछ कर्म स्वाभाविक भी होते हैं। स्वाभाविक कर्मों का कारण नहीं ढूँढा जाता। ब्रह्म ज्ञान-कर्म उभयरूप है। सर्जन उसका स्वाभाविक कर्म है। इसे ही शास्त्रकार ब्रह्म की लीला कहते हैं। लोग आक्षेप लगाते हैं कि ब्रह्म की लीला अद्भुत है कि हम इतने दुःखों में फँस गए हैं। वस्तुतः दुःख में हमें ब्रह्म की लीला ने नहीं फँसाया है अपितु हमारे अज्ञान ने फँसाया है। भगवान् ने तो राम के अवतार के रूप में हमें यह शिक्षा दी कि दुःख में भी मनुष्य कैसे अविचलित रह सकता है। गीता की स्थितप्रज्ञ की स्थिति तो पूरी की पूरी दुःख-सुख में द्रष्टा ज्ञाता बने रहकर समभाव रखने की है।

ब्रह्म सृष्टि करता है किन्तु स्वयं उसमें लिप्त नहीं होता। फिर जीव ब्रह्म का अंश हो कर कर्म से दूर कैसे भाग सकता है? कर्म तो उसे करने ही होंगे किन्तु कर्म उसे बाँधे कैसे नहीं – यही रहस्य अथवा मर्म गीता में बताया गया है। इसी रहस्य को उपनिषद् कहा जाता है।

यह चर्चा व्यर्थ का शब्दजाल नहीं है। कर्म में तो आबाल–वृद्ध सभी निरत हैं किन्तु कर्म उनके लिए भारभूत भी बना हुआ है। कर्म से डर कर कुछ लोग संन्यास का सेवन करते हैं। किन्तु देखने में यह आता है कि वे भी झंझटों से छूट नहीं पाते। आश्रम, मठ, शिष्य–मण्डली और न जाने कौन–कौन सी मुसीबतें संन्यासी को घेर लेती हैं। कहा जा सकता है कि संन्यासी इन झंझटों में फँसता नहीं है। यही होना भी चाहिए। किन्तु गीता कहती है कि गृहस्थ भी तो अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति निर्लिप्त रहकर कर सकता है।

निष्कर्ष तो यह है कि गृहस्थ हो अथवा संन्यास, आसक्ति बन्धन का कारण है।

गीता में उपनिषद् अर्थात् गीता का सारांश

हम पहले इस ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं कि गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक पंक्ति आती है जिसका अर्थ है, ''श्रीमद्भगवान् द्वारा गाई गई उपनिषदों में ब्रह्मविद्या में योगशास्त्र में अमुक नाम वाला अमुक अध्याय''. (सम्पूर्ण हुआ)। पुराण आदि साहित्य के अध्याय अथवा सर्ग अथवा ग्रन्थ के अन्त में ऐसी पंक्ति रहती है जिसमें ग्रन्थ अथवा अध्याय के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक महत्व की सूचना रहती है। गीता की ही उपर्युक्त पंक्ति को लें तो इस छोटी–सी पंक्ति में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। प्रथम तो गीता का गायन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण हैं – यह सूचना इससे मिलती है। दूसरे इस गीता में अनेक उपनिषद् हैं। तीसरे इस गीता में ब्रह्मविद्या भी है और योगशास्त्र भी। आज हम देखते हैं कि अनेक सभाओं में ब्रह्मविद्या अथवा वेदान्त की चर्चा सन्त-महात्मा किया करते हैं। दूसरी ओर अनेक योग के केन्द्र खुले हैं जहाँ लोग आसन-प्राणायाम आदि किया करते हैं और रोमन लिपि के प्रभाव से योग को योगा कहा करते हैं। गीता उन वेदान्त की चर्चाओं में तो उपयोगी है ही क्योंकि उसमें ब्रह्मविद्या की चर्चा है; गीता का उपयोग योग में रुचि रखने वालों के लिए भी है क्योंकि यह योगशास्त्र भी है। वेदान्त की चर्चा में तो गीता का उपयोग प्रायः होता है किन्तु आसन-प्राणायाम के योग केन्द्रों में गीता शायद ही कभी सुनने को मिले। सच बात यह है कि गीता के योगशास्त्र को जाने-समझे बिना दीर्घ श्वास लेना फेफड़ों को साफ़ करने में भले ही उपयोगी हो जाए किन्तु उसे योग न कह कर व्यायाम कहना चाहिए। योग तो एक समग्र जीवन शैली का नाम है और गीता में उसी की चर्चा है। पतञ्जलि का योगसूत्र भी इसी जीवनशैली का प्रतिपादन करता है। जिनकी रुचि योग में है उन्हें गीता का पारायण अवश्य करना चाहिए। यह बात इसलिए कही जा रही है क्योंकि आज स्वास्थ्य लाभ के लिए योग के प्रति लोगों की रुचि तो जागी है किन्तु वे इस ओर ध्यान नहीं दे रहे कि जिस योग का वे लाभ उठाना चाहते हैं उस योग का शास्त्र गीता है।

अब प्रश्न है कि गीता में वे कौन–सी उपनिषदें हैं जिनकी ओर गीता के हर अध्याय के अन्त में आने वाली पंक्ति संकेत करती है। पण्डित मधुसूदन ओझा ने गीता में ऐसी चौबीस उपनिषदें बताई हैं और उनके शिष्य पण्डित मोतीलालजी शास्त्री ने उन उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय का भी विस्तार से उल्लेख किया है। इस व्याख्याकारद्वयी ने इन चौबीस उपनिषदों के माध्यम से गीता के प्रतिपाद्य विषय का एक नए प्रकार से ही वर्गीकरण कर दिया है। उपनिषद् शब्द की व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। उपनिषद् वह ज्ञान है जो किसी कर्म की उपपत्ति बताकर निश्चयपूर्वक हमें उस कर्म में स्थापित कर देता है। श्रीकृष्ण को अर्जुन को युद्ध कर्म में स्थापित करना है। इसके लिए वे चौबीस उपपत्तियाँ अथवा युक्तियाँ देते हैं। ये चौबीस उपपत्ति ही वे चौबीस उपनिषद् हैं जो गीता में दी गई हैं और जिनके लिए गीता प्रत्येक अध्याय के अन्त में यह कहती है कि ''श्रीमान् भगवान् द्वारा प्रतिपादित उपनिषदों में''– इत्यादि। यह बात और समझ लेने की है कि अर्जुन को तो कुरुक्षेत्र में एक युद्ध करना था किन्तु हम में से प्रत्येक को जीवन में हर समय संघर्ष करना पड़ता है। अतः यह जीवन ही कुरुक्षेत्र है और जीवन का प्रत्येक संघर्ष एक युद्ध है। फलतः श्रीकृष्ण ने जो कुछ अर्जुन के लिए कहा, वह मनुष्यमात्र के लिए प्रासङ्गिक है।

गीता की चार विद्याएँ – श्रीकृष्ण और अर्जुन के प्रसङ्ग से सम्बद्ध गीता के प्रारम्भ के ६४ श्लोक हैं। उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। उनमें कोई उपनिषद् अथवा उपपत्ति नहीं दी गई है। शेष ६३६ श्लोकों में २४ उपनिषद् हैं। ये २४ उपनिषद् भी ६ भागों में विभक्त हैं। पहले संक्षेप में इन ६ विभागों को समझ लें और फिर एक-एक उपनिषद् की चर्चा करेंगे। गीता में चार विद्याएँ हैं – राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या तथा आर्षविद्या।

प्रथम विभाग में इन्हीं चार विद्याओं का प्रारम्भ करते हुए यह बताया गया है कि सब विद्याओं के मूल में ब्रह्म है। इस विभाग में एक उपनिषद् है।

दूसरा विभाग राजर्षि विद्या का है। इसमें वैराग्य की चर्चा है। ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग प्रसिद्ध हैं। इन तीनों के मूल में वैराग्य अवश्य रहना चाहिए – यही गीता का विशेष प्रतिपाद्य है। इसे ही बुद्धियोग कहा जाता है। इस विद्या का विस्तार आठ उपनिषदों में हुआ है।

तीसरा विभाग सांख्य से जुड़ा है। इस विभाग में सिद्धविद्या बताई गई है जिसका प्रयोजन पुरुष और प्रकृति के बीच विवेक करना है। दार्शनिक इसे ही विवेकख्याति कहते हैं। इस विभाग में दो उपनिषद् हैं।

चौथा विभाग राजविद्या का है। इसका सम्बन्ध ईश्वर से है। ईश्वर ही ऐश्वर्य का मूल है। उपासक ईश्वरोपासना करते हुए किस प्रकार ऐश्वर्य सम्पन्न हो – यह बताने के लिए इस विभाग में तीन उपनिषद् बताई गयी हैं।

पाँचवाँ विभाग धर्म का प्रतिपादन करने वाला है और आर्षविद्या से जुड़ा है। धर्म ही विश्व की स्थिति को बनाए हुए है। धर्म का अर्थ है, शास्त्रोक्त कर्म। कर्म के अभाव में चेतन पदार्थ तो क्या जड पदार्थ भी अपनी स्थिति नहीं बनाए रह सकते – यह बात सात उपनिषदों द्वारा समझाई गई है।

छठे विभाग में उपर्युक्त चारों विद्याओं का उपसंहार करते हुए ज्ञान एवं विज्ञान अथवा ज्ञान एवं कर्म की समन्विति पर बल दिया गया है। इस विभाग में तीन उपनिषद् हैं।

चौबीस उपनिषद्– इस प्रकार गीता का सारा प्रतिपाद्य कुल २४ उपनिषदों में सिमट जाता है। अब हम एक-एक उपनिषद् के विषय को संक्षेप में देखेंगे –

प्रथम उपनिषद् वह है जहाँ अर्जुन अपने शोक का प्रदर्शन करता है। सभी भारतीय दर्शन दुःख के निवारण का उपाय बताते हैं। जीव अज्ञानवश शोकग्रस्त है। अर्जुन का भी शोक अज्ञान के ही कारण था। श्रीकृष्ण ने उसी अज्ञान को दूर किया। दुःख की प्रतीति होना ज्ञान का प्रारम्भ बिन्दु है। कतिपय लोग दुःख का अनुभव ही नहीं कर पाते। उनकी शास्त्र में कोई रुचि भी नहीं होती। वे शास्त्र को निरर्थक समझते हैं। संसार के दुःख का बोध होना पहली उपनिषद् है। इसके बिना व्यक्ति को शास्त्रोपदेश निरर्थक ही प्रतीत होता है।

द्वितीय उपनिषद् में यह बताया गया है कि अव्यय आत्मा नित्य है। शरीर आते–जाते रहते हैं। अनित्य शरीर के नष्ट होने से भयभीत नहीं होना चाहिए। जब तक शरीर है तब तक सुख-दुःख तो रहेंगे ही; यदि व्यक्ति आत्मस्थ हो तो वह सुख-दुःख में समभाव बनाए रह सकता है। प्रकृति में विकार होते हैं, आत्मा निर्विकार है। प्रकृति द्वन्द्वात्मक है, आत्मा निर्द्वन्द्व है। छोटे–बड़े सभी प्राणी मृत्यु से भय खाते हैं, किन्तु वस्तुतः आत्मा अमर है। अतः मृत्यु से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। यह अभय का भाव वैराग्य की प्रथम सीढ़ी है।

प्रायः हमारे लिये कर्म भारभूत हैं। अतः कर्म को त्यागने की सहज ही प्रवृत्ति मनुष्य में होती है। **तृतीय उपनिषद्** में बताया गया है कि कर्म इसलिए भार प्रतीत होते हैं कि हममें आसक्ति है। आसक्तिपूर्वक किया गया शास्त्रोक्त कर्म भी बन्धन का ही कारण है। अतः शास्त्रविरुद्ध तो कर्म करने ही नहीं चाहिए; शास्त्रोक्त कर्म भी आसक्तिपूर्वक नहीं करने चाहिए। संस्कार पुनः-पुनः राग-द्वेष में व्यक्ति को घसीटते हैं, अतः प्रज्ञा को स्थिर रखना चाहिए। सुख–दुःख में विचलित नहीं होना चाहिए। स्थितप्रज्ञ शुभ-अशुभ में राग-द्वेष नहीं करता। वह विषयों से आकृष्ट नहीं होता। विषयों का ध्यान काम, क्रोध, मोह आदि उत्पन्न करता है। वासना का क्षय होने पर ही व्यक्ति ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होता है।

चतुर्थ उपनिषद् में बताया गया है कि एक मार्ग है कर्मत्याग का। दूसरा मार्ग कर्मयोग का है। इन दोनों की अपेक्षा बुद्धियोग श्रेष्ठ है। कर्म का त्याग वस्तुतः सम्भव ही नहीं है। जीवनयात्रा भी कर्म के बिना नहीं चल

सकती। अकर्म से कर्म ही श्रेष्ठ है। कर्मबन्धन से बचने का उपाय है – यज्ञार्थ कर्म किया जाए। यज्ञ एक सार्वभौम प्रक्रिया है। पूरे अस्तित्व में आदान–प्रदान चल रहा है। हम भी उसी के एक भाग हैं। हम उस प्रक्रिया में भागीदार बनें। आत्मनिष्ठ रहकर ही कर्म करने चाहिए। स्वयं श्रीकृष्ण भी कर्म में निरत रहते हैं यद्यपि उन्हें कुछ भी प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं है। वस्तुतः त्रिगुणात्मक प्रकृति मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त कराती है। आत्मा में कर्तृत्व नहीं है। जब हम अस्तित्व से अपने को अलग करके देखते हैं, तब ही हममें यह अहङ्कार उत्पन्न होता है कि हम कर्म के कर्त्ता हैं।

पाँचवीं उपनिषद् में यह बताया गया है कि मनुष्य की स्थिरता को राग-द्वेष विचलित करते हैं। राग-द्वेष के कारण अव्यय पुरुष की ज्ञानज्योति मलिन हो जाती है और व्यक्ति दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। राग-द्वेष से छुटकारा पाने का उपाय है कि मनुष्य इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संयम करे।

छठी उपनिषद् में यह स्पष्ट किया गया है कि यह गीता ज्ञान श्रीकृष्ण ने प्रथम बार अर्जुन को ही नहीं दिया। यह ज्ञान उन्होंने सर्वप्रथम विवस्वान् को दिया था। यह घटना उनके पूर्वजन्म की है।

सातवीं उपनिषद् में बताया गया है कि ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों ही अव्ययात्मा में स्थित पुरुष के लिए उपादेय हैं। इनमें से किसी का भी अनुसरण किया जा सकता है तथापि वर्णव्यवस्था का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण के लिए ज्ञान, रजोगुण प्रधान क्षत्रिय के लिए कर्म तथा रजोगुण मिश्रित तमोगुणी वैश्य एवं शूद्र वर्ण के लिए भक्ति श्रेयस्कर है। यह व्यवस्था आन्तरिक दृष्टि से व्यक्ति के गुणों पर और व्यवहार की दृष्टि से उसके कर्मों पर आश्रित है तथा स्वाभाविक होने के कारण ईश्वर द्वारा बनाई गई माननी चाहिए। इसका निर्माण मनुष्यकृत नहीं है। गुणों का तारतम्य व्यक्ति में रहता ही है। उसी आधार पर उसे अपना कर्त्तव्य भी निर्धारित करना चाहिए। यही वर्णधर्म का आशय है। यज्ञ सर्वोत्तम कार्य है। यज्ञ के अनेक प्रकार हैं। भोजन ग्रहण करने जैसी क्रिया भी एक यज्ञ है। योगाभ्यास, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि यज्ञ के ही रूप हैं। यज्ञ–कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता। ज्ञान-यज्ञ सर्वोत्कृष्ट है।

आठवीं उपनिषद् में कर्म और ज्ञान का विवेक किया गया है। वस्तुतः कोरा कर्म अथवा कोरा ज्ञान श्रेयस्कर नहीं। बुद्धियोग साथ मिलने पर इनका विरोध नहीं रहता। बुद्धियोगी कर्म करता है अतः वह कर्मयोगी भी है और वह कामना नहीं करता अतः वह ज्ञानयोगी भी है। एक दृष्टि से बुद्धियोगी ज्ञानयोगी ही है किन्तु कर्म करते हुए भी वह मानो कर्म नहीं करता। बुद्धियोग का अर्थ है उस अव्ययात्मा में अपने चित्त को स्थिर रखना जिसमें कभी कोई विकार नहीं आता और इसलिए जो किसी भी कर्म से कभी प्रभावित नहीं होता।

नवीं और राजर्षिविद्या की अन्तिम उपनिषद् बताती है कि बुद्धियोग योग के बिना प्राप्त नहीं होता। योग का अर्थ केवल शीर्षासन करना अथवा प्राणायाम करना नहीं है। ये योग में सहायक अवश्य हो सकते हैं। योग वस्तुतः एक समग्र जीवन शैली है जिसमें अति को बचा कर सन्तुलन स्थापित करना होता है। आहार–विहार, सोना–जागना, सब में सन्तुलन रहना चाहिए। यही भगवान् बुद्ध की प्रसिद्ध मध्यम प्रतिपदा है। आन्तरिक दृष्टि से योग का अर्थ है चित्तवृत्ति की स्थिरता। यह स्थिरता कामनाओं के छोड़ने पर प्राप्त होती है। कामनाएँ छूट जाएँ तो गहरा से गहरा दुःख भी मनुष्य को विचलित नहीं कर सकता। योग की यही पराकाष्ठा है। योग का फल आत्यन्तिक सुख है। योगी सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करता है। सम्पूर्ण अस्तित्व ब्रह्म का ही स्वरूप है, फिर ऐसा कौन–सा पदार्थ है जिसमें ब्रह्म न हो। सर्वत्र ब्रह्मदर्शी योगी समस्त कार्य करता है किन्तु उसे दर्शन सर्वत्र ब्रह्म के ही होते हैं। चञ्चलता योग की शत्रु है। अभ्यास और वैराग्य से चित्त को स्थिर किया जा सकता है। योग की पूर्णता यदि इस जन्म में न मिले तो अगले जन्म में इस जन्म की साधना काम आती है, वह व्यर्थ नहीं जाती। श्रीकृष्ण ने योगी को तपस्वी, ज्ञानी और कर्मनिष्ठ से भी बड़ा बताया है।

निवृत्ति–प्रवृत्ति विवाद – इस नवीं उपनिषद् के साथ ही राजर्षिविद्या का मुख्य प्रकरण सम्पन्न हो जाता है। इस विद्या का वर्णन मुख्यतः गीता के छठे अध्याय पर्यन्त २१६ श्लोकों में है। यह क्योंकि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है अतः इसका वर्णन सर्वप्रथम है। विशेषता यह है कि इस प्रकरण में निवृत्तिमार्ग के वैराग्य तथा प्रवृत्ति–मार्ग की कर्मठता का समन्वय इस प्रकार से है कि राग-द्वेष के कारण होने वाला बन्धन भी न हो और अकर्मण्यता से उत्पन्न होने वाली दरिद्रता भी न आए। इसी स्वर्णिम मार्ग का प्रतिपादन करने के कारण गीता केवल भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में लोकप्रिय हो रही है। निवृत्ति–प्रवृत्ति का विवाद पुराना है। दोनों के फल भिन्न–भिन्न हैं। जो समझते हैं कि इन दोनों का समन्वय नहीं हो सकता, वे जीवन की अधूरी समझ में ही जी रहे हैं।

हम नौ उपनिषदें दे चुके हैं। प्रसिद्ध है कि हमारे दुःख के पाँच कारण हैं – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। इनमें राग-द्वेष के द्वन्द्व को एक मानने पर चार ही कारण दुःख के बनते हैं। इन चारों कारणों के चार प्रतिपक्ष हैं। राग-द्वेष का प्रतिपक्षी वैराग्य है, अविद्या का प्रतिपक्षी ज्ञान है, अस्मिता का प्रतिपक्षी ऐश्वर्य्य है तथा अभिनिवेश का प्रतिपक्षी धर्म है। गीता में इन चार प्रतिपक्षियों में से वैराग्य को प्रथम स्थान राजर्षिविद्या के अन्तर्गत इसलिए दिया गया है कि वह गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। अब क्रमप्राप्त अविद्या के प्रतिपक्षी ज्ञान का प्रतिपादन सिद्धविद्या के अन्तर्गत, अस्मिता के प्रतिपक्षी ऐश्वर्य्य का प्रतिपादन राजविद्या के अन्तर्गत तथा धर्म का प्रतिपादन आर्षविद्या के अन्तर्गत करना है। इनमें सिद्धविद्या की दो, राजविद्या की तीन तथा आर्षविद्या की सात उपनिषद् हैं। अन्त में उपसंहार की तीन उपनिषद् हैं।

अव्ययात्मा का साक्षात्कार – दसवीं उपनिषद् में बताया गया है कि अव्ययात्मा का साक्षात्कार ज्ञान तथा विज्ञान के समन्वय से ही सम्भव है। विज्ञान के अन्तर्गत अक्षर और क्षर को जानना होगा। प्रकृति ही विश्व का उपादान है, पुरुष तो विश्व का आलम्बन है। भूमि से लेकर अहङ्कार पर्यन्त प्रकृति का ही विस्तार है। अव्यय पुरुष प्रकृति में व्याप्त है किन्तु प्रकृति अव्यय पुरुष में व्याप्त नहीं है। पुरुष का आश्रय लेकर ही माया को तरा जा सकता है। आसुरी माया आत्म-साक्षात्कार में बाधक है। ज्ञाननिष्ठ भक्त सर्वश्रेष्ठ है, यद्यपि आर्त, जिज्ञासु और अर्थ का इच्छुक भी अव्यय पुरुष की उपासना करता है। देवपूजा का फल देवपद है जो कि अस्थायी है किन्तु आत्मोपासना का फल आत्मपद स्थायी है। जो योगमाया से आच्छन्न हैं, वे आत्मोपासना को छोड़कर देवोपासना करते हैं। मुक्ति तो आत्मोपासक को ही मिलती है।

ग्यारहवीं उपनिषद् में बताया गया है कि प्रकृति पर अधिकार पाने के लिए १२ विवर्तों को जानना होता है : ब्रह्म-कर्म, आधिदैविक-आधिभौतिक, आधियाज्ञिक–आध्यात्मिक, सृष्टि–प्रलय, भुक्ति–मुक्ति तथा गति-आगति। कर्म दो प्रकार के हैं – विद्या-सापेक्ष और विद्या-निरपेक्ष। प्रथम का फल देवलोक है, दूसरे का फल पितृलोक। ये दोनों लोक आवागमन के चक्र के अन्तर्भूत हैं। मुक्ति का मार्ग तो अव्यय की उपासना ही है। अव्यय का उपासक वेद, यज्ञ, तप और दान के फल का भी अतिक्रमण कर जाता है। इस प्रकार ग्यारहवीं उपनिषद् तक गीता के ७वें तथा ८वें अध्याय में ज्ञान का निरूपण करने वाली सिद्धविद्या सम्पन्न होती है। इसे जान कर उस अविद्या से छुटकारा मिलता है जिस अविद्या के वशीभूत होकर जीव पाप-पुण्य के द्वन्द्व में उलझ कर जन्म-मरण के चक्र में ही फंसा रहता है।

गीता के ९वें अध्याय से लेकर १२वें अध्याय पर्यन्त इस राजविद्या का वर्णन है जिसे जानकर मनुष्य अस्मिता के चंगुल से छूट जाता है। अस्मिता अल्पता का भाव है। राजविद्या में ऐश्वर्य्य अर्थात् भूमाभाव है। भूमाभाव का ज्ञान अल्पता के कण्टक को निकाल देता है। बारहवीं उपनिषद् में यह बताया गया है कि ऐश्वर्य्य की प्राप्ति ईश्वर के स्वरूप को जान कर ही मिल सकती है। सांसारिक सुख-भोग क्षणिक हैं। ईश्वरोपासना वास्तविक विभूति प्रदान करती है। **बारहवीं उपनिषद्** में बताया गया है कि ईश्वर ही प्रकृति द्वारा विश्व का निर्माण करता

है। जब तक आसुरी माया का साम्राज्य है ईश्वर का दर्शन नहीं हो सकता। दैवी माया ही ईश्वर का ज्ञान करा सकती है। उसके लिए मनुष्य को सात्त्विक होना चाहिए। ईश्वर की उपासना यज्ञ, पुरुष, वेद अथवा प्रकृति के रूप में की जा सकती है।

ईश्वर गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत्, प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान तथा बीज है। हम जिस रूप में भी चाहें उसकी उपासना कर सकते हैं। संसार द्वन्द्व रूप है किन्तु ये सभी द्वन्द्व ईश्वर की विभूति हैं और आत्मकल्याण के साधक हैं। यज्ञ कर्म्म का फल भी ईश्वरार्पित कर देना चाहिए। ईश्वर प्राप्ति के लिए या तो समस्त कर्मों का फल ईश्वरार्पित कर देना चाहिए या आत्मोपासना करनी चाहिए। इस प्रकार गीता के नवें अध्याय में बारहवीं उपनिषद् है। गीता के दशम तथा एकादश अध्याय में **तेरहवीं उपनिषद्** है। इसमें बताया गया है कि क्षमा, सत्य, दम, शम, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप तथा दान आदि सद्गुणों का आधार तो ईश्वर है ही, दुःख तथा अपयश का आधार भी वही है। अर्थात् ईश्वर सदसद् भावों की प्रतिष्ठा है। इस उपनिषद् में ईश्वर के ऐश्वर्य्य का विस्तार से वर्णन है। इस ऐश्वर्य्य का सार यह हैं कि संसार में जो कुछ भी ऐश्वर्य्य है वह ईश्वर का ही अंश है। वह ऋषियों में भृगु है तो वृक्षों में अश्वत्थ और ऋषियों में नारद। वह अश्वों में उच्चैःश्रवा है तो हाथियों में ऐरावत। इस प्रकार हम संसार में फैली विभूति में ईश्वर के दर्शन कर सकते हैं। इस ऐश्वर्य्य के बोध से हीनता की ग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है। यही ईश्वर का विराट् रूप है। योगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखा दिया था। कोई साधक भी योग द्वारा विराट् रूप को प्राप्त कर सकता है। इस विराट् रूप को देखकर ही मनुष्य को कर्म करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। यह विराट् रूप हमारे चारों ओर विकीर्ण है किन्तु हम अज्ञानवश इसकी उपेक्षा करते हैं। दिव्य चक्षुओं से ही इस रूप का दर्शन हो सकता है। यह विराट् पुरुष का महामायावच्छिन्न रूप है। सामान्यतः वह योगमाया से ही अवच्छिन्न रूप में दिखाई देता है।

सगुण तथा निर्गुण – चौदहवीं उपनिषद् में सगुण तथा निर्गुण उपासना का विवरण है। यह गीता का १२वाँ अध्याय है। लोकसंग्रही कर्मठ व्यक्ति के लिए सगुणोपासना ही श्रेष्ठ है। सामान्य मनुष्य निर्गुण की उपासना इसलिए नहीं कर सकता कि निर्गुण अव्यक्त है। उपासना का श्रेष्ठ रूप है – कर्मफल को ईश्वरार्पित कर देना। इस प्रकार ९ से १२वें अध्याय पर्यन्त गीता में राजविद्या का उल्लेख है। इसमें कुल १५१ श्लोक हैं।

अन्त में १३वें अध्याय से अन्त पर्यन्त गीता में आर्षविद्या का वर्णन है। यह आर्षविद्या अभिनिवेश की प्रतिपक्षी धर्म्मबुद्धि का विधान करती है तथा इसमें १४ से २१ तक की उपनिषदों का समावेश है तथा कुल १८९ श्लोक हैं।

पन्द्रहवीं उपनिषद् में प्रकृति–पुरुष का वर्णन है। प्रकृति के तीन गुण हैं – सत्त्व, रजस्, तमस्। शरीर में रहने वाला पुरुष ही शारीरक है। महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, इन्द्रियाँ, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना तथा धृति विकार सहित क्षेत्र हैं। धर्म का अर्थ है वैराग्य तथा अनहङ्कार। सर्वव्यापक परमपुरुष का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। ईश्वर का स्वरूप ज्ञान धर्म की प्रेरणा देने वाला है।

सोलहवीं उपनिषद् में बताया गया है कि महद्ब्रह्म ही संसार का मूल कारण है। ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण – दोनों रूपों को जानना चाहिए। गुणातीत को अनन्य भक्ति से ही जाना जा सकता है। जो गुणों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रति उदासीन है – वही समता को प्राप्त कर सकता है। वह सुख–दुःख, मान–अपमान, शत्रु–मित्र के प्रति समता का भाव रखता है।

सत्रहवीं उपनिषद् में विश्व को एक ऐसे अश्वत्थ वृक्ष के समान बताया गया है जिसका मूल ऊपर है तथा शाखाएँ नीचे हैं। यह विश्व सनातन है। इसका मूल ब्रह्म है किन्तु अज्ञानवश जीव उससे पृथक् होकर कर्मफल भोगता है।

अठारहवीं उपनिषद् में आसुरी सम्पदा का उल्लेख है। यह सम्पदा ज्ञान तथा सत्कर्मों से रहित है। काम, क्रोध, लोभ इस आसुरी सम्पदा के आधार हैं। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता आदि सब आसुरी भाव हैं। आसुरी भाव में शुभाशुभ का विवेक नहीं रहता। आसुरी सङ्कल्प विकल्प इस प्रकार के हैं कि "मैंने यह पा लिया, अब यह और पा लूँगा। आज मैंने अमुक शत्रुओं को जीत लिया, अब शेष को भी जीत लूँगा।" यह सब भाव नरक में ले जाने वाले हैं।

उन्नीसवीं उपनिषद् में तीन गुणों के आधार पर श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, दान आदि को भी सात्विक, राजसी तथा तामसी बताया गया है। यही उपनिषद् हमें आचार–मीमांसा का बोध देती है। त्याग भी तीन प्रकार का है। कर्त्ता और कर्म्म भी तीन प्रकार के हैं।

बीसवीं उपनिषद् के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का कर्म निर्धारित है। समाज व्यवस्था बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने लिए निर्धारित कर्म को न छोड़े, भले ही उस कर्म में दोष भी क्यों न हो। देश रक्षा आदि के लिए युद्ध में शत्रु को मारना भी पड़ता है, किन्तु यह कर्म क्षत्रिय के लिए निर्धारित है। अतः उसे यह कर्म छोड़ना नहीं चाहिए, अन्यथा समाजव्यवस्था छिन्न–भिन्न हो जाएगी।

इक्कीसवीं उपनिषद् कहती है कोई भी कर्म निष्काम बुद्धि से किया जाने पर बन्धन का नहीं अपितु मोक्ष का कारण बन जाता है।

इस प्रकार सात उपनिषदों में आर्षविद्या सम्पन्न की गई है।

अन्त में उपसंहार के अन्तर्गत **बाईसवीं उपनिषद्** में बताया गया है कि सर्वोत्कृष्ट आत्माश्रय है। उत्तम अधिकारी के लिए सिद्धविद्या, मध्यम के लिए राजविद्या तथा तृतीय कोटि के अधिकारी के लिए आर्षविद्या है। राजर्षिविद्या असामान्य अधिकारी के लिए है। इस प्रकार अधिकारी–भेद से गीता भिन्न–भिन्न विद्याओं का उपदेश देती है।

तेईसवीं उपनिषद् का कथन है कि स्वार्थ बुद्धि छोड़कर आत्मबुद्धि रखनी चाहिए। यही परम पुरुषार्थ है। यह विद्या अधिकारी को ही देनी चाहिए।

अन्तिम **चौबीसवीं उपनिषद्** गीता के ज्ञान की महिमा बताती है।

गीतानुसारिणी काल-गणना

महात्मा ईसा के प्रादुर्भाव को दो सहस्र वर्ष पूरे हो चुके हैं। इक्कीसवीं शताब्दी की सर्वत्र चर्चा हुई। ख्रीस्तीय संवत्सर विश्व के इतिहास लेखन का आधार बन गया है। हम किसी घटना को ईसा के पूर्व या पश्चात् बता कर अङ्कित करते हैं। हमारे सामान्य कामकाज में यह गणना उपयोगी भी सिद्ध हो रही है। किन्तु वस्तुतः जब हम मानव जाति के इतिहास की बात करें तो हमें किसी दूसरी ही काल–गणना का सहारा लेना पड़ता है। यह सृष्टि इतनी नई नहीं है कि इसका इतिहास कुछ हजार सालों में समेटा जा सके।

सृष्टि की उत्पत्ति

स्पष्ट है कि सृष्टि का इतिहास सृष्टि की उत्पत्ति से ही प्रारम्भ होगा। सन् २००९ में सृष्टि की उत्पत्ति को १,९६,०८,५३,१०९ वर्ष हो गए हैं। यह संख्या इतनी बड़ी है कि साधारणतः हम इस पर विश्वास नहीं कर सकते। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय परम्परा ने अपने प्रतिदिन के कार्यों में सङ्कल्प करते समय इस संख्या को इस भाषा में सुरक्षित रखा है कि कोई भी शुभ कार्य करते समय हम कहते हैं कि मैं ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध में श्री श्वेतवराहकल्प में वैवस्वत मन्वन्तर में २८वें कलियुग के प्रथम चरण में इस कार्य को करूँगा। इस सङ्कल्प की भाषा में दो शब्द (वैवस्वत तथा मन्वन्तर) ऐसे आए हैं जिनका सम्बन्ध गीता से भी है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते

हैं कि हे अर्जुन! जो ज्ञान मैं तुम्हें दे रहा हूँ वह ज्ञान मैंने अपने पिछले जन्मों में इससे पहले भी दिया था। मैंने यह ज्ञान विवस्वान् को दिया, विवस्वान् ने यह ज्ञान मनु को दिया और मनु ने यह ज्ञान इक्ष्वाकु को दिया। आज काल–दोष से यह ज्ञान लुप्त हो गया है और अब यही ज्ञान मैं तुम्हें फिर से दे रहा हूँ –

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

जो गीता में हमें आज उपलब्ध है उसका ज्ञान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को महाभारत के युद्ध में दिया। यह सर्वविदित है और उसका काल कलियुग का प्रारम्भ अर्थात् ५१०९ वर्ष पूर्व का है। वर्तमान गीता के ज्ञान को ५ सहस्राब्दियाँ पूरी हो चुकी हैं अथवा कहें कि यह ज्ञान ५१ शताब्दी पूर्व दिया गया था। इतिहासकार इसे भले ही न मानें, किन्तु परम्परा तो यही मानती आ रही है। ख्रीस्त सन् से हर चीज की काल-गणना करने का अभ्यास हो जाने के कारण हमें किसी रचना को ईसा से ५–६ शताब्दी पूर्व ले जाने में बड़ी कठिनाई अनुभव होती है। यूनानी सभ्यता पश्चिमी सभ्यता का मूल है और यूनानी सभ्यता ५–६ शताब्दी ईस्वी पूर्व में अरस्तू और प्लेटो जैसे मनीषियों को जन्म दे चुकी थी। बस हम पश्चिम की सभ्यता का इतिहास वहीं से शुरू करते हैं। ५–६ शताब्दी ईस्वी पूर्व में भारत में भी भगवान् बुद्ध तथा भगवान् महावीर जैसी विभूतियाँ हुई थीं। किन्तु हमारी सभ्यता का इतिहास यहाँ से प्रारम्भ नहीं होता। उपनिषद्, ब्राह्मणग्रन्थ और वैदिक संहिताएँ भगवान् बुद्ध से पहले बन चुके थे। स्वयं जैन भी भगवान् महावीर को प्रथम नहीं, अपितु अन्तिम तीर्थङ्कर मानते हैं। पश्चिम के विद्वान् जब गीता जैसे ग्रन्थ का काल–निर्णय करने लगते हैं तो कभी उसे ईसा की पहली शताब्दी का ग्रन्थ बताते हैं, कभी ईसा से पूर्व की पहली शताब्दी का। वेदों का समय कभी १२०० ईस्वी पूर्व बताया जाता है कभी ३००० ईस्वी पूर्व। किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् अथवा गीता जैसे किसी भी ग्रन्थ के निर्माण के सम्बन्ध में इतिहासकार कभी भी एकमत नहीं हो पाते किन्तु किसी भी स्थिति में उनका इतिहास ईसा के ३००० वर्ष पूर्व से ही चालू होता है।

दूसरी ओर भारतीय परम्परा प्रत्येक घटना का एक निश्चित काल बताती है। इस काल–गणना को समझे बिना यह ख्याल नहीं आ सकता कि गीता में जिस विवस्वान् और मनु की चर्चा है वे कब हुए और भगवान् कृष्ण ने अपने पूर्व जन्म में कब गीता का ज्ञान विवस्वान् को दिया। भारतीय परम्परा इतिहास का प्रारम्भ सृष्टि के प्रारम्भ से करती है। वेद सृष्टि का प्रारम्भ उस समय से मानते हैं जब सृष्टि अपने कारण में लीन होने के कारण अभिव्यक्त नहीं हुई थी ओर सब ओर तम ही तम था – **तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे**। इसी घटना को मनुस्मृति ने इस रूप में दोहराया है – **आसीदिदं तमोभूतम्**। वायुपुराण, मत्स्यपुराण आदि अन्य ग्रन्थ भी इसी का अनुमोदन करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति हुई तो मनुष्य प्रारम्भ से ही सभ्य नहीं हो गया। उसने सभ्यता का विकास किया मणिजा युग में, जबकि मानव–समाज को साध्य, महाराजिक, आभास्वर तथा तुषित नाम के चार भागों में विभक्त किया गया। इस युग का सङ्केत वेद में प्राप्त होता है – **यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**। इसी युग में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऊहापोह हुआ कि यह सृष्टि असत् से उत्पन्न हुई अथवा सत् से, रज से अथवा व्योम से अथवा जल से। अभी यह बहस चल रही थी कि तुषित जाति में एक महापुरुष हुए – ब्रह्मा, जिन्होंने हमें यह बोध दिया कि सृष्टि जड पदार्थ से उत्पन्न नहीं हुई है अपितु इसकी उत्पत्ति चेतना से हुई है – **आनीदवातं स्वधया तदेकम्**। यही चेतन पदार्थ दर्शन में ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रह्मा का द्वितीय परार्ध

हमारे इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ यह है कि ये सर्वोच्च ज्ञान देने वाले ब्रह्मा तुषित जाति में उत्पन्न हुये थे जो तुषित जाति ही बाद में चलकर शूद्र नाम से प्रसिद्ध हुई। पण्डित मधुसूदन ओझा और पण्डित मोतीलाल

शास्त्री कट्टरपंथी ब्राह्मण थे। परन्तु इन दोनों गुरु-शिष्यों की इतिहास के प्रति ऐसी सत्यनिष्ठा थी कि उन्हें यह स्वीकार करने में तनिक भी सङ्कोच नहीं हुआ कि ब्रह्मज्ञान को सर्वप्रथम देने वाले ब्रह्मा एक तुषित जाति के व्यक्ति थे। आज उसी तुषित जाति के उत्तराधिकारी शूद्र वर्ण को हीन मानने का अधिकार हमें कैसे मिल गया – यह इतिहासकारों के लिए गवेषणा का विषय होना चाहिए। यह तुषित जाति उस साध्य युग में शिल्पोपजीवी थी। अतः उसका सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान था। इसी के मुख्य पुरुष ब्रह्मा को आज हम सङ्कल्प में 'ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध' में कहकर याद किए जा रहे हैं। वस्तुतः ब्रह्मा का स्वयं का नाम कुछ और ही था, ब्रह्मवाद की स्थापना करने के कारण उनका यशोनाम अथवा उपनाम ब्रह्मा पड़ गया। इन्होंने केवल ब्रह्मवाद की स्थापना ही नहीं की, विश्व व्यवस्था भी स्थापित की। मुण्डकोपनिषद् में इन्हें इसी रूप में स्मरण किया गया है – **ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।**

विश्व व्यवस्था करते समय ब्रह्मा ने ही वैवस्वत मनु को भारत का प्रथम सम्राट् नियुक्त किया। ब्रह्मा से पूर्व जब तक ब्रह्मवाद् नहीं आया था तब तक बहुदेववाद प्रचलित था और दूसरी ओर राजनीति के क्षेत्र में भी कोई एक सम्राट् नहीं था अपितु सामूहिक शासन की व्यवस्था थी जिसे वर्तमान प्रजातंत्र का पूर्व रूप कहा जा सकता है। उधर बहुदेववाद के स्थान पर एक ब्रह्मवाद आया – **आनीदवातं स्वधया तदेकम्** – तो राजनीति में सामूहिक शासन के स्थान पर राजतन्त्र स्थापित हुआ और मनु इस देश के प्रथम राजा बने। ब्रह्मा ने जिस ईश तत्त्व की स्थापना की उसे मानने वाले प्रदेश को इसी कारण 'एश्या' कहा गया जिसे हम अभी भी एशिया कहते हैं। यह विवेचन पण्डित मधुसूदन ओझा के शोध के आधार पर है। विद्वज्जन इसके बलाबल पर विचार करें।

हमारी काल-गणना में दो नाम मुख्य हैं – ब्रह्मा और मनु। इन्हीं दो महापुरुषों में से मनु को गीता ज्ञान प्राप्त हुआ था। मनु को यह ज्ञान विवस्वान् से प्राप्त हुआ और विवस्वान् को स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने पूर्व जन्म में यह ज्ञान दिया। अतः यद्यपि उपलब्ध गीता का समय महाभारत काल है तथापि गीता का ज्ञान उतना पुराना है जितने पुराने विवस्वान् हैं।

विवस्वान् अथवा मनु को समय जानने के लिए हमें उस काल–गणना का आधार लेना पड़ेगा जिसका वर्णन मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में है। आज यह स्पष्ट हो गया है कि सूर्य भी स्थिर नहीं है अपितु अपने केन्द्र के चारों ओर उसी प्रकार परिक्रमा कर रहा है जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। सूर्य यह परिक्रमा ४३,२०,००० वर्षों में पूरी करता है। अतः हमारे इतने वर्षों का, सूर्य का, एक वर्ष बनता है। इतने वर्षों में हमारी एक चतुर्युगी अर्थात् कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग पूरे हो जाते हैं जिनकी अवधि क्रमशः १७,२८,०००, १,२९,६००, ८,६४,००० तथा ४,३२,००० वर्ष है। यह सूर्य का एक वर्ष हुआ। सूर्य की पूर्णायु १००० वर्ष है। अतः ४,३२,००,००,००० वर्ष सूर्य की पूर्णायु है जिसे १५ से विभक्त करने पर एक मन्वन्तर निकलता है। अभी सृष्टि के ६ मन्वन्तर बीत चुके हैं। यह सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। इसे ही वैवस्वत मन्वन्तर कहा जाता है। गणित फैलाएँ तो पता चलेगा कि इस वैवस्वत मन्वन्तर का काल इस प्रकार बनता है –

६ मन्वन्तर	=	१,८४,०३,२०,०००
२७ चतुर्युगी	=	११,६६,४०,०००
१ युगत्रयी	=	३८,८८,०००
२८वें कलियुग का प्रथम चरण	=	५,१०९
कुल योग	=	१,९६,०८,५३,१०९

इसका यह अर्थ हुआ कि गीता का ज्ञान सर्वप्रथम १,९६,०८,५३,१०९ वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण से विवस्वान् और विवस्वान् से मनु को मिला था। निश्चय ही आधुनिक इतिहासकार इतनी लम्बी–लम्बी संख्याओं को देखकर चकरा

जाते हैं किन्तु वर्तमान वैज्ञानिक जब सूर्य की अथवा पृथ्वी की आयु का निर्धारण करते हैं तो उनकी गणनाओं में इतनी लम्बी–लम्बी अवधियाँ सामान्य रूप से आती रहती हैं।

पुराण किसी एक देश का इतिहास नहीं है अपितु पूरी सृष्टि का इतिहास है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकार तो चुप ही रहते हैं किन्तु वैज्ञानिक बहुत कुछ खोजते रहते हैं और उनकी खोजे पुराणों के वक्तव्यों से आश्चर्यजनक रूप में समानता रखती हैं। ऐसे में पुराणों के वक्तव्यों पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

अनादि अनन्त काल

गीता के ज्ञान को इतना पुराना मानना हमें इसलिए अविश्वसनीय लगता है कि हम अपनी वर्तमान सभ्यता को ही एकमात्र सभ्यता मान बैठे हैं जबकि सच यह है कि मानव जाति कितनी ही सभ्यताओं का उत्थान–पतन देख चुकी है। भारतवर्ष में मोहनजोदड़ो की सभ्यता के तथा अमरीका में मय सभ्यता के बचे अवशेष यह बताते हैं कि सभ्यताएँ बनती और मिटती रहती हैं। किसी भी स्थिति में आज की वैज्ञानिक खोजों के बाद यह मानना अत्यन्त हास्यास्पद होगा कि मानव सभ्यता पिछले ३००० वर्षों में ही सिमटी हुई है।

अनादि अनन्त काल के मापने के लिए सूर्यनारायण का मापदण्ड ही काम दे सकता है, किसी व्यक्ति का प्रादुर्भाव नहीं । भारतीयों ने उसी मापदण्ड पर काल की गणना की है और वही उनके इतिहास का आधार बना है। भगवान् कृष्ण ने जब विवस्वान् और मनु को दिये गए ज्ञान के लुप्त हो जाने की बात कही थी तो वे सभ्यताओं के उत्थान–पतन की ओर ही सङ्केत कर रहे थे। यदि हम पूर्वाग्रहवश इन सङ्केतों को कपोल–कल्पित मानते रहे तो सत्य हमारे हाथ नहीं लग पाएगा।

— • —

खण्ड दो

विद्या-दृष्टि

भारतीय चिन्तन तथा पाश्चात्य चिन्तन में एक मूलभूत अन्तर है। भारतीय चिन्तन कारण पर जाता है जबकि पाश्चात्य चिन्तन की दृष्टि कार्य पर रहती है। इस देश की एक प्रमुखतम समस्या है – निर्धनता। सभी राजनीतिक दल निर्धनता को दूर करने की घोषणा करते हैं। समझा जाता है कि निर्धनता को दूर करने के लिए ठीक अर्थनीति का अवलम्बन लिया जाना चाहिए। यह पश्चिमी दृष्टि हुई।

भारतीय दृष्टि के अनुसार निर्धनता एक परिणाम है। निर्धनता का कारण है – अज्ञान और आलस्य। निर्धनता दूर करनी हो तो अज्ञान को दूर करना चाहिए। यह भारतीय दृष्टि हुई। क्या कभी हमने सोचा कि गरीबी की समस्या का समाधान हमारी आर्थिक नीति में नहीं, अपितु हमारी शिक्षा नीति में छिपा है। हम सोचते हैं कि हमारी सब मुसीबतों की जड़ गरीबी है लेकिन शास्त्रकार कहते हैं कि सब दुःखों का मूल अविद्या है। गरीबी अंकुर है, अविद्या बीज है। अविद्या नहीं रहे तो गरीबी स्वतः मिट जाएगी। दर्शन शास्त्र में दुःख के जो पाँच कारण बताए गए हैं, अविद्या उनमें प्रथम है शेष चार कारण हैं – अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अस्मिता को ऐश्वर्य से, राग–द्वेष को वैराग्य से तथा अभिनिवेश को धर्म से मिटाया जा सकता है तो अविद्या को विद्या से ही समाप्त किया जा सकता है। हम इन पर क्रमशः विचार करें ।

विद्यार्थी की रुचि

विद्या के सम्बन्ध में प्रथम बात यह समझने योग्य है कि सबकी रुचि एक जैसी नहीं होती। हमारी शिक्षा पद्धति सबके लिए प्रायः एक जैसी शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाकर चलती है। हिन्दी के अमर उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द अपने विद्यार्थी जीवन में परीक्षा में बारम्बार अनुत्तीर्ण होते रहे क्योंकि उनकी रुचि गणित में नहीं थी और गणित में उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। आज भी अनेक ग्रामीण विद्यार्थी अत्यन्त प्रतिभा होने पर भी इसलिए पिछड़ जाते हैं कि उनकी अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा में गति नहीं होती। क्या कभी हमने सोचा कि भारत के जिन महान् गणितज्ञों ने शून्य तथा दशमलव प्रणाली जैसे क्रान्तिकारी आविष्कार किए वे अंग्रेजी अथवा अन्य किसी विदेशी भाषा का एक अक्षर भी नहीं जानते थे। फिर आज हम यह क्यों मान बैठे हैं कि अंग्रेजी के ज्ञान के बिना विज्ञान में गति नहीं हो सकती ? अंग्रेजी की अनिवार्यता को हमने बिना विचारे स्वीकार कर लिया है। हाँ, जिनकी गति और रुचि हो, वे अँग्रेजी ही क्यों, कितनी भी देशी–विदेशी भाषायें पढ़ें, किन्तु किसी भाषा को अनिवार्यतः थोपा न जाये।

भारतीय शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी की रुचि को ध्यान में रख कर बनाई गई थी। विद्यार्थी की रुचि को स्थूल रूप में चार भागों में बाँटा गया था –

(१) चिन्तनप्रधान रुचि (२) क्रियाप्रधान रुचि (३) व्यवहारप्रधान रुचि (४) शिल्पप्रधान रुचि।

इन चारों प्रकार की रुचि वाले छात्रों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय विद्यार्थियों की नैसर्गिक प्रतिभा को ध्यान में रखने के साथ–साथ यह भी ध्यान में रखा गया कि वे शिक्षा की समाप्ति पर समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें। चिन्तनप्रधान रुचि वाले छात्रों के लिए दर्शन, साहित्य आदि लौकिक विषयों के साथ–साथ वेद का अध्ययन भी अनिवार्य था। ये छात्र राष्ट्र को दृष्टि प्रदान करते थे। अध्यापन इनका सहज कर्म था। इस शिक्षा को पाकर शङ्कराचार्य जैसे दार्शनिक, कालिदास जैसे कवि और याज्ञवल्क्य जैसे वेदवेत्ता हो गए, जिनका सिक्का आज भी पूरा विश्व मानता है।

क्रियाप्रधान रुचि वालों को राजनीति तथा प्रशासन की शिक्षा दी जाती थी। सैनिक शिक्षा भी ऐसे ही छात्रों को मिलती थी। इस प्रकार की शिक्षा पाकर चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ, अशोक जैसे सम्राट् और महाराणा प्रताप जैसे वीर योद्धा उत्पन्न हुए।

व्यवहारप्रधान रुचि वाले व्यापार तथा कृषि की शिक्षा पाते थे। गुप्तकाल में व्यापारियों के बल पर ही सारे संसार का सोना खिंचकर भारत में आ गया था। इस काल को विदेशियों ने स्वर्णयुग नाम से अभिहित किया है। वेदों में ऐसी समुद्री नौकाओं का वर्णन है जिनको चलाने के लिए सौ–सौ चप्पुओं का सहारा लेना पड़ता था। ये नौकाएँ उस समय की व्यापारिक समृद्धि की सूचक हैं। कृषि के क्षेत्र में वैदिक साहित्य में ऐसे हलों का उल्लेख है जिन्हें बत्तीस बैल खींचते थे। उस समय की सस्य सम्पदा का क्या कहना?

शिल्पप्रधान रुचि वालों के लिए हस्त कलाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। ढाका की मलमल तो इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है ही, कुतुबमीनार के निकट चन्द्र नाम के राजा के शिलालेख से अंकित वह लौह स्तम्भ उस समय की शिल्पी प्रगति के जीते-जागते प्रमाण के रूप में आज भी आकाश में गर्व से सिर उठाए खड़ा है जिस पर पिछले दो हजार वर्ष से निरन्तर पड़ने वाली धूप और वर्षा जंग का एक कण भी नहीं जमा पाई। क्या यह सब प्रगति विज्ञान की विधिवत् शिक्षा के बिना ही हो गई ?

जिस देश में शिक्षा की यह व्यवस्था हो वहाँ क्या कभी निर्धनता रह सकती थी? वस्तुतः हमने निर्धनता को कभी समस्या माना ही नहीं, हमारे सामने समस्या थी उचित शिक्षा व्यवस्था की। नागरिकों को समुचित शिक्षा प्राप्त हो जाए तो राष्ट्र आर्थिक रूप से पिछड़ा रह ही नहीं सकता। दुर्भाग्य से हमने 'गरीबी हटाओ' के आन्दोलन को प्राथमिकता और 'शिक्षा' को अन्तिम वरीयता प्रदान करके बिना बीजारोपण किए फल खाने की इच्छा की। स्पष्ट है कि हम सफल नहीं हो पाए।

ऊपर जिन चार प्रकार के शिक्षाक्रमों का उल्लेख है उनमें से शिल्प तथा कला का अभ्युदय व्यापारी वर्ग पर, व्यापार का अभ्युदय प्रशासक वर्ग पर तथा प्रशासन की सुचारुता चिन्तक वर्ग पर निर्भर करती है। चिन्तक दृष्टि देता है, प्रशासक उस दृष्टि को क्रियान्वित करता है। यदि दृष्टि सम्यक् है तो प्रशासन भी सुचारु होगा। सम्यक् प्रशासित राष्ट्र में व्यापार प्रगति करता है और व्यापार द्वारा लाई गई समृद्धि में शिल्प और कलाएँ फलती–फूलती हैं। इस प्रकार ये चारों वर्ग एक–दूसरे के सहयोगी बनते हैं, प्रतियोगी नहीं। यह मार्ग वर्ग–संघर्ष का नहीं अपितु वर्ण–मैत्री का है। यही वह गीता प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था है जिसे समय–समय पर हम अपनी प्रगति का बाधक मानते हैं।

वर्ण-व्यवस्था और जातिप्रथा में अन्तर है। वर्ण-व्यवस्था के विवरण में कहीं अस्पृश्यता नाम की चीज नहीं है। वर्तमान में वे जातियाँ भी जो वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से शूद्र वर्ण के अन्तर्गत आती हैं परस्पर छुआछूत बरतती हैं। यदि अस्पृश्यता वर्णव्यवस्था का अङ्ग होती तो शूद्र कहे जाने वाले लोग तो एक–दूसरे को अस्पृश्य न मानते, क्योंकि वे सभी एक वर्ण के हैं। इतना ही नहीं ब्राह्मणों के बीच भी परस्पर छुआछूत चलती है। कान्यकुब्ज ब्राह्मण गैर-कान्यकुब्ज ब्राह्मण के हाथ का बना भोजन नहीं करता। गौड़ ब्राह्मण सारस्वत ब्राह्मण को अपने से नीचा बताता है। फलितार्थ यह है कि छुआछूत वर्णव्यवस्था का अंग नहीं है, यह जातिप्रथा के आधार पर कपोल कल्पित एक शास्त्र–विरुद्ध रूढ़िमात्र है। सामान्य व्यक्ति वर्ण और जाति में भेद न करने के कारण छुआछूत को वर्ण-व्यवस्था के साथ जोड़कर वर्ण-व्यवस्था को ही निन्दनीय मानने लगा है।

दृष्टि के दो पक्ष

ऊपर हमने चिन्तक वर्ग का उल्लेख किया कि वह दृष्टि प्रदान करता है। इस चिन्तक वर्ग ने अतीत में जो दृष्टि प्रदान की उसके दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष है – सब में समदृष्टि। समदृष्टि का आधार है – आत्मा। यह

परमार्थ पक्ष है जिसमें ऊँच–नीच का कोई स्थान नहीं। दृष्टि का दूसरा पक्ष है – सब परिस्थितियों में समभाव रखना। हानि-लाभ, जय-पराजय, मान-सम्मान किसी भी स्थिति में मन का सन्तुलन न खोना ही गीता की स्थितप्रज्ञता है। आत्मा की दृष्टि से न कोई छोटा है न बड़ा – यह सामाजिक क्षेत्र में एकता का सूत्र है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में विचलित न होना व्यक्तित्व की परिपक्वता का सूचक है। यह आत्म–दृष्टि प्रदान की इस देश के चिन्तक वर्ग ने। हम इस आत्म–दृष्टि से विचलित हो गए तो देश का पराभव हो गया। इस आत्म-दृष्टि से राष्ट्र को और नागरिक को विचलित न होने देने का दायित्व चिन्तक वर्ग का है। चिन्तक वर्ग ही अध्यापन का कार्य करता है। क्या हमारा अध्यापक अपने छात्रों को इस समता-मूलक दृष्टि और स्थितप्रज्ञता का प्रशिक्षण दे रहा है? यदि वह ऐसा नहीं कर रहा तो यह प्रथम प्रमाद है जिससे शेष समस्त दोष उद्भूत होते हैं।

चिन्तक वर्ग के बाद प्रशासक वर्ग आता है। प्रशासक वर्ग का कार्य यह देखना है कि कहीं किसी के प्रति अन्याय न हो और यदि कोई अन्याय करे तो वह समुचित दण्ड पाए। यही दण्डनीति का सार है। यदि प्रशासक वर्ग स्वयं ही अन्याय करने लगे तो उसका निराकरण कौन करेगा? प्रायः यही हो रहा है। प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों हो रहा है? उत्तर यह है कि अध्ययन–काल में यदि आत्म–दृष्टि नहीं मिली तो व्यवहार-काल में अपने-पराए का भेद कैसे मिट सकता है और जब तक अपने-पराए का भेद है तब तक न्याय कैसे किया जा सकता है? आत्मदृष्टि नहीं तो लोभ और भय से ऊपर कैसे उठा जा सकता है और जो लोभ और भय से ग्रस्त है वह सत्य का अनुसरण कैसे करेगा ?

जब प्रशासक वर्ग न्याय की स्थापना नहीं कर पाता तो अराजकता फैलती है। इस अराजकता का लाभ उठाकर व्यापारी वर्ग भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाता है। भ्रष्टाचार से एक बार तो आपाततः लाभ होता ही है। व्यापारी की दृष्टि केवल लाभ पर होती है। भ्रष्टाचार का अर्थ है अधर्म अर्थात् तमोगुण। तमोगुण-प्रधान आचरण से तमोगुण-प्रधान अर्थ की वृद्धि होती है। तमोगुण-प्रधान अर्थ का उपयोग मादक–द्रव्यों के सेवन जैसे तमोगुण-प्रधान कार्यों में ही होता है।

जब अर्थ का उपयोग तमोगुण-प्रधान कार्यों में हो रहा हो तो शिल्प और कला को प्रश्रय कौन देगा? पॉप संगीत के सामने लोक संगीत मर रहा है। शास्त्रीय संगीत सिनेमा संगीत के सामने घुटने टेक रहा है। कुम्हार के हाथों से घड़ी सुघड़ सुराही का स्थान प्रदूषण फैलाने वाली प्लास्टिक की बोतले ले रही हैं।

शास्त्रों में ६ शिल्पी गिनवाए गए हैं – खाती, जुलाहा, नाई, धोबी, चर्मकार तथा कुम्हार। ये वे लोग हैं जिन्हें आजकल पिछड़ी जातियाँ कहा जाता है। महात्मा गांधी एक सीमा के आगे यन्त्रीकरण के इसलिए विरुद्ध थे कि यन्त्र इन लोगों की रोजी–रोटी छीन लेता है। आज हम इस समस्या को तीन दृष्टियों से देख सकते हैं। प्रथमतः आर्थिक दृष्टि से यदि इन जातियों को अधुनातन उपकरण दे दिए जाते हैं तथा आधुनिक तकनीक का प्रशिक्षण दे दिया जाता है तो ये अपने परम्परागत हस्त-कौशल का उपयोग करके इतनी कलात्मक चीजें बना सकते हैं कि मशीन से बनी चीजें उसके मुकाबले में मात खा जाएँगी। खाती, जुलाहे, चर्मकार और कुम्हार अपनी कलाकृतियों के द्वारा देश को विदेशी मुद्रा कमाकर दे सकते हैं। आवश्यकता इनके उचित प्रशिक्षण की है। आज 'एन्टीक' के नाम पर पुरानी कलाकृतियाँ विदेशियों द्वारा मुँह माँगे दामों पर खरीदी ही जा रही है। तब हाथ की बनी नई कलाकृतियाँ विदेशी बाजार में अपना स्थान क्यों नहीं बना सकतीं? दूसरे, शिक्षा की दृष्टि से इन्हें इनके काम में न आने वाले विषय न पढ़ा कर इनके उपयोगी विषयों की ही शिक्षा इन्हें दी जाए। तीसरे, सामाजिक दृष्टि से इनके प्रति ऊँच-नीच का भाव सर्वथा समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

अर्थ शेष पुरुषार्थों से विलग नहीं

गीतासमग्र दृष्टि लेकर चलती है। अर्थ पुरुषार्थ को शेष पुरुषार्थों से विलग करके नहीं देखा जाना चाहिए। ऊपर हमने चतुर्विध शिक्षा का उल्लेख किया है। इस चतुर्विधता का आधार मनुष्य के चार घटक हैं – आत्मा, बुद्धि, मन तथा शरीर। चिन्तक आत्मा का, प्रशासक बुद्धिपक्ष का, व्यापारी मन का तथा श्रमजीवी शरीर का विशेष उपयोग करता है। इसमें आत्मा और बुद्धि का पक्ष संस्कृति है, मन तथा शरीर का पक्ष सभ्यता है। पुरुषार्थों की दृष्टि से आत्मा का सम्बन्ध मोक्ष से है। जहाँ मोक्ष अर्थात् स्वतंत्रता नहीं है, जहाँ धर्म अर्थात् न्याय नहीं है और जहाँ काम अर्थात् सुख नहीं है वहाँ केवल अर्थ अर्थात् नोटों के पुलिन्दे क्या मनुष्य को सन्तुष्ट कर सकते हैं ? जब चिन्तक, प्रशासक, व्यापारी और श्रमजीवी सभी केवल 'बैंक बैलेन्स'' बढ़ाने में लगे हों वहाँ आँकड़ों में गरीबी भले कम हो जाए (हालाँकि वह भी कम होती लग नहीं रही है।) लेकिन मनुष्य के मन की दीनता तो बढ़ेगी ही।

जब पब्लिक स्कूल मोटी रकम के बदले ''उत्तम शिक्षा'' बेच रहे हों और निर्धनों के बच्चों को स्कूल में पीने का पानी भी न मिल रहा हो तब यह कहना कि सबको विकास का समान अवसर है, एक क्रूर मजाक ही है। न्यायालयों में दशकों से लटके लाखों मामले हमारी न्याय व्यवस्था की कहानी कह रहे हैं। व्यापारी एक ओर शोषक के रूप में बदनाम हैं दूसरी ओर आर्थिक नीतियों की अस्थिरता के शिकार हैं। श्रमजीवी अपने वंश–परम्परागत व्यवसाय छोड़ने को आतुर हैं।

हम विदेशियों की नकल का मोह छोड़ें। शिक्षा को भारतीय स्वरूप दें। ऊपर हमने मुख्यतः विद्या के जिस रूप की चर्चा की है वह अपरा विद्या है। इस अपरा विद्या का मूल पराविद्या है जिसे हमने आत्मविद्या कहा है। वेद का आदेश है कि परा तथा अपरा दोनों ही विद्याओं को जानना चाहिए।

अंग्रेजों ने इस देश में ऐसी शिक्षा प्रणाली लागू की जो केवल क्लर्क पैदा कर सकती थी। इसीलिए कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, स्वामी दयानन्द और महर्षि अरविन्द जैसे चिन्तकों ने उस शिक्षा–पद्धति के विकल्प में नई शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन भी किया किन्तु क्या यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि स्वतंत्रता के पचास वर्ष बीत जाने पर भी हम उस शिक्षा प्रणाली में रञ्च मात्र भी परिवर्तन नहीं कर पाए जो शिक्षा प्रणाली लॉर्ड मैकाले इस देश में दो शताब्दी पूर्व इस घोषणा के साथ लागू कर गए थे कि उस शिक्षा को पाकर भारतीय केवल शरीर से काला रह जाएगा किन्तु दिलोदिमाग से विलायती बन जाएगा? यह अविद्या बनाम विद्या की चर्चा हुई। अब अस्मिता को लें।

ऐश्वर्य की अवधारणा

दुःख का एक कारण है – अस्मिता। स्मित का अर्थ है – मन्द मुस्कान। मन्द मुस्कान स्वाभाविक आनन्द की सूचक है। जहाँ आनन्द का अभाव है वहाँ अस्मिता है। जीवन के प्रति दो प्रकार के दृष्टिकोण हैं – विधायक तथा निषेधात्मक। विधायक दृष्टिकोण उसे देखता है जो है, निषेधात्मक दृष्टिकोण उसे देखता है जो नहीं है । एक सूफी सन्त की कथा है। उसके पास जूते नहीं थे। एक व्यक्ति उसके पास से गुजरा और कहा कि कितने दुःख की बात है कि आपके पास जूते भी नहीं हैं। सूफी सन्त मुस्कराए और बोले खुदा का लाख–लाख शुक्र है कि मेरे पास टाँगें हैं, उस सामने बैठे फकीर को देखो उसके पास टाँगें ही नहीं हैं। यह विधायक दृष्टिकोण का उदाहरण है। अनेक व्यक्तियों के पास बहुत कुछ होता है पर वे सदा यही रोना रोते हैं कि उन्हें बहुत परेशानी है। यह अस्मिता का उदाहरण है। अनेक व्यक्तियों के पास केवल दो समय खाने के लिए रोटी ही उपलब्ध है किन्तु वे सदा यही कहते हैं कि भगवान् का धन्यवाद। सब प्रकार का आनन्द–मंगल है। यह ऐश्वर्य की दृष्टि है।

अस्मिता का प्रतिकार ऐश्वर्य ही करता है। ऐश्वर्य का अर्थ सोना–चाँदी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का एक आभामण्डल है। आधुनिक विज्ञान उसे 'इलेक्ट्रोमैगनेटिक फील्ड' कहता है। वैदिक साहित्य उसे महिमा मण्डल कहता है। वेद की परिभाषा में उसे 'साम' कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं कि जो भी तेज है वह साम है। गीता में श्रीकृष्ण ने अपने को वेदों में सामवेद बताया है। यह महिमा मण्डल अथवा साम ही ऐश्वर्य है। सूर्य पिण्ड की रश्मियों का प्रसार सूर्य का महिमा मण्डल है। यही उसका ऐश्वर्य है। यही उसकी विभूति है। यदि उसका यह महिमा मण्डल न हो तो वह पिण्ड मात्र तक सीमित रह जाएगा। यही उसका संकोच है। संकोच ही अस्मिता है। विस्तार ही ऐश्वर्य है।

हमारे ऐश्वर्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है। जिनसे हमारा आन्तरिक सम्बन्ध है वे हमारे अन्तर्वित्त हैं, उदाहरणतः हमारा प्राण, इन्द्रिय, शरीर, स्त्री, पुत्र आदि। जिनसे हमारा बाहरी सम्बन्ध है, वे बहिर्वित्त हैं, उदाहरणतः धन, मकान, वस्त्र आदि। ये दोनों प्रकार के वित्त हमारा ही विस्तार हैं, अतः ये हमारे ऐश्वर्य कहलाते हैं।

इन दोनों प्रकार के वित्तों से हमारा सम्बन्ध तीन प्रकार का हो सकता है। हम इनके प्रति आसक्ति न रखें तो यह विभूति सम्बन्ध होगा। यदि हम इनके प्रति आसक्ति रखें तो वह बन्ध सम्बन्ध होगा। इन दोनों सम्बन्धों के बीच में एक तीसरा सम्बन्ध योग सम्बन्ध है। योग सम्बन्ध में हम पदार्थ के प्रति आसक्ति तो रखते हैं किन्तु वह आसक्ति बहुत तीव्र न होकर सामान्य होती है। नियम यह है कि आसक्ति जितनी अधिक होगी आत्मा का स्वाभाविक ऐश्वर्य उतना ही कम हो जाएगा। अभीष्ट यह है कि हमारा ऐश्वर्य के साथ विभूति सम्बन्ध हो। कदाचित् योग सम्बन्ध भी रह सकता है किन्तु बन्ध सम्बन्ध तो सदा दुःख का ही कारण बनता है।

ईश्वर से जीव का सम्बन्ध

हमने ऊपर विधायक दृष्टि की बात की। जीव ईश्वर का अंश है। ईश्वर ऐश्वर्य से परिपूर्ण होने के कारण ही ईश्वर कहलाता है। जो जीव उस ईश्वर के ऐश्वर्य से अपना सम्बन्ध जोड़कर अपने में परिपूर्णता का भाव रखते हैं वे अस्मिता अर्थात् आनन्द के अभाव से बच कर आनन्द के भाव में रहते हैं। जो ईश्वर के ऐश्वर्य से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते वे कितना भी भौतिक ऐश्वर्य क्यों न पा लें, सदा दरिद्र ही बने रहते हैं। वस्तुतः मनुष्य की लालसा इतनी अधिक है कि सारे संसार का वैभव भी उसे तृप्त नहीं कर सकता। इसीलिए वह अतृप्त बना रहता है। तृप्ति का साधन भौतिक सामग्री नहीं प्रत्युत ईश्वर के ऐश्वर्य से अपना तादात्म्य स्थापित करना है। कभी–कभी हम किसी भौतिक सम्पदा को प्राप्त न करने पर भी यह अनुभव करते हैं कि हम बहुत सुखी हैं। उस समय बहुत हल्कापन महसूस होता है। लगता है कि हमारे पास सब कुछ है। यही भाव ऐश्वर्य है। यह ईश्वर के साथ जीव का सम्बन्ध जुड़ने से पैदा होता है। आत्मा पूर्ण अखण्ड तथा विकासशील है। यदि हमें कदाचित् अपूर्णता, खण्डात्मकता तथा संकोचितता का बोध होता है तो उसे अनात्म धर्म समझना चाहिए।

हँसना और रोना

हास और अट्टहास भी सुख से उत्पन्न होते हैं। किन्तु वह सुख सहज नहीं होता। कहावत प्रसिद्ध है कि जो बहुत हँसता है उसे रोना भी पड़ता है। इस कहावत का अभिप्राय यह है कि विषय हमारे हास का कारण बनते हैं। जब वे विषय हमसे छिन जाते हैं तो हमें दुःखी होना पड़ता है। स्मित आत्मा के सहज सुख का सूचक है। उसमें कुछ छिन जाने का भय नहीं है क्योंकि समभाव कभी छिन नहीं सकता, भले ही अज्ञानवश ढक जाए।

आत्मविश्वास शब्द का प्रयोग हम प्रायः करते हैं। आत्मविश्वास का शब्दार्थ है – आत्मा में विश्वास। आत्मा में विश्वास का अभिप्राय है – यह मानना कि मैं परिपूर्ण हूँ; कोई भी परिस्थिति मुझे दीन–हीन नहीं बना सकती। वस्तुतः मेरे दो रूप हैं – एक शारीरिक आत्मा, दूसरा प्रत्यगात्मा। शारीरिक आत्मा हम सबका

अलग–अलग है। यह उत्पन्न होता है और मरता है। प्रत्यगात्मा हम सबका एक है। यह न उत्पन्न होता है न मरता है। प्रत्यगात्मा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य नामक भोगों से युक्त होने के कारण भगवान् है। शारीरिक आत्मा इन ऐश्वर्यों से वञ्चित है। जिसकी दृष्टि शारीरिक आत्मा पर है वह दीन–हीन ही बना रहता है क्योंकि जरा, रोग, मृत्यु आदि का भय उसे सदा बना रहता है। कभी–कभी शारीरिक आत्मा जरा, रोग, मृत्यु के भय को भुलाकर स्त्री, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि के मद में लिप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह हीनता की ग्रन्थि की बजाए उच्चता की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाता है। हीनता अथवा उच्चता की ग्रन्थि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; दोनों का सम्बन्ध शारीरिक आत्मा से है। घमण्डी लोगों को प्रायः सन्त लोग मृत्यु की स्मृति दिलाया करते हैं कि यह शरीर नश्वर है सब वैभव यहीं रखा रह जाएगा। ऐसा भाव प्रायः मनुष्य को दीन–हीन बना देता है। दोनों ही स्थितियाँ अवाञ्छित हैं। अभीष्ट तो यह है कि मनुष्य शारीरिक आत्मा से ऊपर उठकर प्रत्यगात्मा से जुड़े जो सहज वैभवशाली है। प्रत्यगात्मा ऐश्वर्यहीनता से तो मुक्त करता है किन्तु घमण्ड का भाव उत्पन्न नहीं करता है। यही ग्रन्थिहीन निर्ग्रन्थ रूप है।

क्लेश का एक कारण है – अभिनिवेश। अभिनिवेश का एक अर्थ मृत्यु का भय है। छोटे–से–छोटे कीड़े से लेकर मनुष्य पर्यन्त सब मृत्यु से डरते हैं। उपनिषद् में अमृतत्व की प्राप्ति का उपाय बताया है – इन्द्रियों को अन्तर्मुख बनाकर प्रत्यगात्मा का दर्शन। बहिर्मुख इन्द्रियाँ ही कुत्सित इच्छाएँ उत्पन्न करती हैं। वे इच्छाएँ हमें जन्म–जन्मान्तर में भटकाती रहती हैं। यही मृत्यु का पाश है। इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने पर हमारा सम्बन्ध प्रत्यगात्मा से जुड़ जाता है। वहाँ तृप्ति का भाव है; भटकाव नहीं है। अतः वहाँ आवागमन नहीं है। यही अमृतत्व है।

प्रसिद्ध है कि ''अधभरी गगरी छलकत जाए'', ''थोथा चना बाजे घना।'' जिसके पास आगन्तुक वैभव है, वह अन्दर से तो खोखला होता है किन्तु बाहर से अपने बड़प्पन का बखान करता रहता है। जिसके पास सच्चा ऐश्वर्य है वह शोर नहीं मचाता। उसके मुख पर एक आनन्द का भाव खेलता रहता है किन्तु वह ऐसी घोषणा नहीं करता फिरता कि वह बहुत बड़ा ज्ञानी है। कर्मकाण्ड का एक बहुत रहस्यमय पक्ष है कि और देवताओं के लिए तो आहूति बोलकर दी जाती है किन्तु प्रजापति के लिए आहुति देते समय मंत्र मन में ही बोला जाता है, जोर से नहीं। ऐश्वर्य भावना की वस्तु है, कहने की नहीं। भावना मानसिक होती है, वाचिक नहीं। जैसे अपने बड़प्पन की डींग हाँकना श्रेयस्कर नहीं, उसी प्रकार अपनी हीनता का भी बखान नहीं करना चाहिए। शब्द में बहुत शक्ति है; जो रात–दिन यह मंत्र जपते रहते हैं कि वे बहुत दुःखी हैं, वे सचमुच ही दुःखी हो जाते हैं। जपने योग्य महामंत्र यह है कि मैं वह ब्रह्म हूँ – सोऽहम्। जो इस मंत्र का जप करते हैं वस्तुतः ब्रह्मभाव को उपलब्ध हो जाते हैं।

ब्रह्म के तीन ऐश्वर्य हैं – ज्ञान, क्रिया और अर्थ। जो ब्रह्मभाव में स्थित है वह जीव भी इन तीनों ऐश्वर्यों को प्राप्त हो जाता है। ज्ञान के प्रसंग में अनेक व्याख्याता क्रिया और अर्थ की निन्दा किया करते हैं। विचारणीय है कि भगवान् राम, भगवान् कृष्ण अथवा ब्रह्मज्ञानी शंकराचार्य प्रभृति, क्या क्रिया अथवा अर्थ से वंचित थे? इन सभी का जीवन कर्मठता से अलंकृत था और ये सभी अर्थ सम्पदा से भी सम्पन्न थे। फिर किस आधार पर हम निकम्मेपन और दरिद्रता को ज्ञान के साथ जोड़ सकते हैं। वस्तुतः ज्ञान, क्रिया और अर्थ क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमोगुण से जुड़े हैं। तीनों का अपना–अपना महत्त्व है। तीन मिलकर ही सृष्टि का सञ्चालन करते हैं। जब कर्म की अथवा अर्थ की निन्दा की जाती है तब यह समझना चाहिए कि ज्ञानहीन कर्म और ज्ञान तथा कर्म से रहित अर्थ निन्दनीय है। ज्ञानहीन कर्म निश्चय ही अन्धे की दौड़ है जो कभी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कराती। ज्ञान तथा कर्म से रहित अर्थ सम्पदा भी विपत्ति का ही कारण बनती है। पैतृक सम्पत्ति के बल पर अपना पेट भरने वाले ऐसे व्यक्तियों का जीवन भी स्पष्टतः ही गर्हित होता है, जिनके पास न विद्याबल है न कर्मकुशलता।

हमने शब्द के महत्त्व की चर्चा की। शल्य कर्ण के सारथि थे। अर्जुन के साथ युद्ध करने के लिए जाते समय शल्य ने बारम्बार अर्जुन की प्रशंसा की। उन्होंने बारम्बार यह कहा कि अर्जुन के सामने कर्ण नहीं टिक सकता। इससे कर्ण का मनोबल गिर गया। वह परास्त हो गया। हम भारतीयों को विदेशियों ने यह सिखाया कि हम भारत के बाहर से आक्रान्ता बन कर आए थे। हमने यहाँ के आदिवासियों को मार-मार कर भगा दिया। इससे हमें यह लगने लगा कि हम आततायियों की सन्तान हैं। हमारा स्वाभिमान समाप्त हो चला। हमें बताया गया कि हमारा दर्शन पलायनवादी है, उसी के कारण हम दरिद्र बने हैं। हमें इतिहास लिखना आता ही नहीं। हमारे नाटकों में 'एक्शन' नहीं रहता, इसलिए वे नाटक हैं ही नहीं। वैदिक ऋषि सत्य जानता नहीं था; वह तो सत्य की खोज में भटक रहा था कि किस देवता की पूजा करूँ। अभिप्राय यह कि हमारे पास न दर्शन है, न इतिहास, न साहित्य, न धर्म। इस सबके लिए हमें पश्चिम की शरण में जाना पड़ेगा और यह कहना कि पश्चिम की चीज विदेशी है कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि हम तो खुद ही विदेशी हैं – भारत के बाहर से आए हैं। आश्चर्य यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों में स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती मना चुकने के बाद भी वही पढ़ाया जा रहा है जो हमारे विदेशी आक्रान्ता हमें सिखा गए थे। तब राष्ट्रीय ऐश्वर्य का उदय हो तो कैसे हो?

भक्ति का शब्दार्थ है – भाग । हम भगवान् की भक्ति करें – यह कहने का अर्थ है कि हम अपने को भगवान् का भाग मानें। भगवान् का भाग होने पर हम भी भग अर्थात् ऐश्वर्य से युक्त हो जाएँगे और तभी वह स्मित का भाव प्रकट होगा जो अस्मिता का प्रतिरोधक है।

गीता में वैराग्य का स्वरूप

प्रत्येक की कुछ पसन्द होती है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को कुछ व्यक्ति अथवा चीजें नापसन्द होती हैं। शास्त्रीय भाषा में इस पसन्द-नापसन्द को राग-द्वेष कहा जाता है। जिस चीज को हम पसन्द करते हैं उसे प्राप्त करना चाहते हैं और यदि वह प्राप्त न हो तो हमें दुःख होता है। जिस चीज को हम नापसन्द करते हैं उसे हम अपने से दूर रखना चाहते हैं। किन्तु यदि वह चीज हम पर थोप दी जाए तो भी हमें दुःख होता है। इस प्रकार हमारी पसन्द-नापसन्द हमारे दुःख का कारण बन जाती है।

दुःख और दुःख के कारण में भेद है। गरीबी दुःख है, अज्ञान और आलस्य दुःख का कारण है। दुःख के कारणों को क्लेश कहा जाता है। शास्त्रकारों ने पाँच क्लेश माने हैं – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। यदि ये पाँच न हों तो दुःख नहीं हो सकता। इन पांच में से अभी हम राग-द्वेष की ही चर्चा करेंगे।

हम पसन्द-नापसन्द अर्जित करते रहते हैं। ये पसन्द-नापसन्द एक जन्म की नहीं है अपितु अनेक जन्मों की है। हमें कभी किसी पदार्थ अथवा व्यक्ति में अनुकूलता लगी तो हमें वह पसन्द आने लगा। यही राग है। जब हमें कुछ अनुकूल लगता है तो हम चाहते हैं कि वह सदा हमें मिलता रहे। यही काम है। यह काम सहज नहीं है, कृत्रिम है, किसी घटना विशेष से उत्पन्न हुआ है। यदि वह कामना पूर्ण न हो तो वह क्रोध को जन्म दे देती है। दूसरी ओर हम जिस परिस्थिति को नहीं चाहते और वह परिस्थिति उत्पन्न हो जाए तो भी हमें क्रोध आता है। इस प्रकार राग और द्वेष काम और क्रोध को जन्म देते रहते हैं।

काम और क्रोध दोनों ही मन की शान्ति भंग करते हैं फिर भी हम इनके वशीभूत होते रहते हैं। ऐसा क्यों होता है? वस्तुतः हमें यह आशा बनी रहती है कि हमारी कामना पूरी हो जाएगी। इसीलिए हम कामना का निराकरण नहीं करते हैं। हममें नित्य नई इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इनमें कुछ इच्छाएँ ऐसी होती हैं जिन इच्छाओं को हम कभी पूरी कर ही नहीं सकते। ऐसी इच्छाएँ हमें सदा क्षुब्ध बनाए रखती हैं। दूसरी स्थिति यह बनती है

कि हमारी इच्छा पूरी हो तो सकती है किन्तु परिस्थिति उसे पूरा नहीं होने देती। ऐसी इच्छाएँ भी दुःख देती रहती हैं। तीसरी इच्छाओं का विषय ऐसा होता है जिसकी कामना अनेक व्यक्ति किया करते हैं। ऐसी स्थिति में हमारा उन व्यक्तियों से संघर्ष होता रहता है जो उस ही पदार्थ की इच्छा करते हैं जिसकी हम, और इस प्रकार हम दुःखी बने रहते हैं। मान लें कि हमारा इष्ट पदार्थ हमें मिल भी जाए तो उस इष्ट पदार्थ की देखभाल का कष्ट बना रहता है। एक स्थिति ऐसी भी आती है कि हमारा मन उस पदार्थ से ऊब जाता है और वह पदार्थ इष्ट के स्थान पर अनिष्ट हो जाता है। यदि ये सब परिस्थितियाँ अनुकूल भी बनी रहें तो विषयों के भोग की साधनभूत हमारी इन्द्रियाँ भोग भोगते–भोगते शिथिल हो जाती हैं और विषयों के रहने पर भी हम उनके भोगने में असमर्थ होने के कारण दुःखी रहते हैं।

कामनाओं की प्रकृति – कामनाओं का यही स्वभाव है। कामनाओं की ऐसी प्रकृति देखकर सामान्यतः यही उपाय सुझाया जाता है कि कामनाओं का उन्मूलन कर देना चाहिए। कामनाए न रहेंगी तो कर्म स्वतः ही छूट जाएँगें और कर्म छूटने पर कर्मों के संस्कारों से उत्पन्न होने वाली वासना भी नहीं रहेगी। वासना न रहेगी तो राग–द्वेष न रहेगा तथा राग–द्वेष न रहेगा तो दुःख भी न होगा। यह उपाय मोटे तौर पर ठीक नजर आता है और अधिकतर लोग ऐसा मानकर घर–बार तथा आजीविकोपार्जन छोड़कर यह मान लेते हैं कि उन्होंने राग–द्वेष छोड़ दिया है। देखना यह है कि सचमुच ऐसा हो जाता है क्या?

गीता कहती है कि प्रथम तो कोई व्यक्ति बिना कर्म के एक क्षण भी नहीं रह सकता। दूसरे, शास्त्र की आज्ञा है कि यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म नहीं छोड़ने चाहिए, ये तीनों पवित्र करने वाले हैं। तीसरे सहज कर्म दोषयुक्त होने पर भी नहीं छोड़ने चाहिए। भावार्थ यह है कि कर्मों को सर्वथा छोड़ देना असम्भव भी है और शास्त्र विरुद्ध भीं है। श्रुति की आज्ञा है कि सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहिए।

ऐसी स्थिति में कर्म तो करने हैं। प्रश्न होता है कि कौन–से कर्म करने चाहिए? उत्तर है कि वे ही कर्म करने चाहिए जो सहज अर्थात् ईश्वरीय कामना से प्रेरित हों? प्रश्न होता है कि ईश्वरीय कामनाएँ कौन–सी हैं? उत्तर है कि यह शास्त्र से जाना जा सकता है। निष्कर्ष यह हुआ कि शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिए। प्रश्न हुआ कि शास्त्रोक्त कर्म क्या राग–द्वेष उत्पन्न नहीं करेंगे। इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें कर्म की प्रकृति का विश्लेषण करना होगा।

सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण – प्रत्येक कर्म ज्ञानपूर्वक होता है तथा प्रत्येक कर्म का कुछ फल भी होता है। ज्ञान सत्वगुण रूप है अतः उसमें राग नहीं होता। कर्म रजोगुण रूप है, उसी में कामना रहती है। फल अर्थरूप होने से तमोगुण प्रधान है अतः उसमें राग अभिभूत रहता है। राग को समझना हो तो कर्म को समझना होगा। कुछ संस्कार हमने जन्म-जन्मान्तरों में संग्रह किए हैं। कुछ संस्कार हम वर्तमान में अर्जित कर रहे हैं। कुछ संस्कार हमारी स्मृति में उद्बुद्ध रहते हैं।

जो भी विषय हमारी इन्द्रियों के सामने उपस्थित होते हैं हम संगृहीत संस्कारों के बल पर उन विषयों के सम्बन्ध में राग अथवा द्वेष का भाव निर्मित कर लेते हैं। स्मृति में स्थित यह भाव ही हमें सुख या दुःख देता रहता है। यह सामान्य स्थिति हुई। यहीं वैराग्य का प्रश्न उदित होता है। यदि हम उस कर्म में आसक्ति रखते हैं तो वह कर्म एक संस्कार का निर्माण कर देता है। यह संस्कार हमें राग अथवा द्वेष में फँसा देता है। यदि हम उस कर्म में तटस्थता का भाव रखते हैं तो राग या द्वेष का भाव निर्मित नहीं हो पाता। निष्कर्ष यह हुआ कि एक ही कर्म राग–द्वेष का कारण बन भी सकता है और नहीं भी बन सकता। महत्वपूर्ण यह है कि हम उस कर्म में आसक्ति रखते हैं अथवा तटस्थता। निष्कर्षतः वैराग्य का अर्थ कर्म छोड़ना नहीं है अपिंतु शास्त्रोक्त कर्म करते हुए तटस्थता का भाव रखना है।

आसक्ति आसञ्जन रूप है। आसञ्जन का अर्थ है चिपकना। चिपकने का गुण आर्द्र पदार्थ में रहता है। मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। चन्द्रमा सोम रूप होने से आर्द्र है। अतः मन आसक्ति रूप है। बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है। सूर्य तेजो रूप है, अतः वह कहीं आसक्त नहीं होता। अतः बुद्धि तटस्थ रहती है, वह न आकर्षित होती है न विकर्षित। मन आर्द्र होने से आसक्त हो जाता है और वह अपेक्षा करने लगता है। यही राग है। जब हमारी कामना सहज होती है तो मन गौण हो जाता है, बुद्धि प्रधान रहती है, जब हमारी कामना कृत्रिम होती है तो मन प्रधान हो जाता है और बुद्धि गौण हो जाती है।

हमारे कर्म में मन काम कर रहा है या बुद्धि, इसकी एक पहचान है। यदि विषय बिना बुलाए आ रहे हैं तो समझना चाहिए कि हमारा मन प्रधान हो गया है। यदि विषयों को हम स्वेच्छा से नियंत्रणपूर्वक आमंत्रित करते हैं तो समझना चाहिए कि बुद्धि प्रधान है। शास्त्र विरुद्ध कर्म हमारे न चाहने पर भी स्वतः होते रहते हैं, अतः वहाँ मन प्रधान है। जब हम न चाहते हुए भी किसी अनुचित कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं तो समझना चाहिए कि मन बुद्धि पर सवार हो गया है।

मन बुद्धि पर सवार न हो इसके लिए राग–द्वेष का स्वरूप समझना चाहिए। प्रथम तो यह समझना आवश्यक है कि वैराग्य राग-द्वेष के प्रति द्वेष का नाम नहीं है। राग–द्वेष के प्रति राग भी वैराग्य नहीं है। वैराग्य न द्वेष से उद्भूत होता है, न राग से। वैराग्य एक स्वाभाविक स्थिति है, उसके लिए किसी बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं। राग और द्वेष न रहे तो वैराग्य स्वयं ही प्रकट हो जाता है। जब हम प्रयत्नपूर्वक वैराग्य लाना चाहते हैं तो वह वैराग्य हमारे किसी राग अथवा द्वेष से प्रेरित होता है।

कल्पना करें कि हम संसार से दुःखी हो गए। हमने घर-बार छोड़ दिया। यह त्याग दुःख के प्रति द्वेष के कारण हुआ। इसे गीता ने राजस त्याग कहा है। कर्म करेंगे तो दुःख होगा – इस भय से कर्म छोड़ने का दुराग्रह करना तामस त्याग है। सात्विक त्याग की परिभाषा है कि शास्त्रोक्त कर्म करना किन्तु कर्म के फल में आसक्ति न रखना।

इस त्याग में कुछ भी नहीं छोड़ा जाता पर सब कुछ छूट जाता है। ऐसे विरक्त पुरुष के घर–बार, धन–धान्य, स्त्री–पुत्र, कारोबार सब कुछ बना रहता है फिर भी उसकी आसक्ति किसी के प्रति नहीं होती। जो सर्वाकार है; हम उसे निराकार कहते हैं, जो सर्वग्राही है उसे हम सर्वत्यागी कहते हैं। ऊपर से देखने पर रागी और वैराग्यवान् में कोई भेद नहीं होता। स्वयं श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन किसी भी पूर्णतः सांसारिक व्यक्ति की भाँति का है, फिर भी उन्हें योगिराज कहा जाता है। वैराग्य अथवा राग कोई बाहरी वस्तु नहीं है, वह नितान्त आन्तरिक भाव है।

हम समझते हैं कि रागयुक्त व्यक्ति सबके काम आता है, वैराग्य-युक्त व्यक्ति किसी के काम नहीं आता। वस्तुस्थिति बिल्कुल विपरीत है। रागी व्यक्ति तो जो कुछ भी करता है स्वार्थपूर्ति के लिए ही करता है, भले ही वह परोपकार का कितना भी ढोंग क्यों न करे। वैराग्यवान् को ही कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना होता, अतः वही वस्तुतः किसी दूसरे का कुछ भला कर सकता है। गीता में इसे ही लोकसंग्रह कहा गया है। आज राजतंत्र के स्थान पर लोकतंत्र स्थापित हो चुका है। लोकतंत्र में सफलता का मूलमंत्र लोकसंग्रह है किन्तु बिना वैराग्य के लोकसंग्रह एक बहुत बड़ा ढोंग बन जाता है। आज अनेक राजनेता देश सेवा और समाज सेवा के नाम पर किस प्रकार संकीर्ण स्वार्थों की सिद्धि में लगे हैं, यह वैराग्य के बिना लोकसंग्रह के प्रयास का नमूना है।

वैराग्य के दो रूप हैं। एक रूप निषेधपरक है। इस दृष्टि में संसार का कोई भी पदार्थ भगवान् नहीं है। यह नेति नेति का मार्ग है। इस दृष्टि वाला व्यक्ति संसार से उदासीन हो जाता है। यह क्षीणोदर्क मार्ग है। दूसरी दृष्टि में संसार के सभी पदार्थों में भगवान् है। इस दृष्टि वाला व्यक्ति संसार की सभी गतिविधियों में रुचि लेता

है। यह भूमोदर्क मार्ग है। यद्यपि दोनों ही मार्ग कल्याणकारक हैं तथापि स्वयं श्रीकृष्ण का झुकाव भूमोदर्क मार्ग की ओर है।

हमने ऊपर काम और क्रोध की चर्चा की है। गीता में काम से क्रोध की उत्पत्ति मानी गई है। क्रोध से एक अन्य दोष उत्पन्न होता है – सम्मोह। मोह के दो अर्थ हैं – अज्ञान और आसक्ति। दोनों ही अर्थों में व्यक्ति अपनी सूझबूझ खो देता है। सूझबूझ का खो देना ही बुद्धि का नष्ट हो जाना है और बुद्धि का नाश सर्वनाश का मूल है क्योंकि बुद्धि के समाप्त होते ही हम पर मन सवार हो जाता है।

सर्वाकार और निराकार – हमने राग की चर्चा की। यह राग पाँच प्रकार का है – छोटों का बड़ों के प्रति राग श्रद्धा है, बड़ों का छोटों के प्रति राग वात्सल्य है, समान स्थिति वालों के प्रति राग मैत्री है, जड के प्रति राग काम है तथा जब ये चारों प्रकार के राग एक ही के प्रति हों तो वह राग रति कहलाता है। श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में ये पाँचों प्रकार के राग अपने प्रति अर्जित किए। भक्तों ने उन्हें श्रद्धा दी, माता–पिता आदि ने वात्सल्य दिया, अर्जुन आदि ने सख्यभाव दिया तथा सूरदास जैसे कवियों ने उनके पीताम्बर, वंशी आदि जड उपकरणों के प्रति कामना प्रकट की। इस प्रकार वे रति के विषय बने। सांसारिक सम्बन्धों में पति–पत्नी एक दूसरे के श्रद्धा, वात्सल्य, मैत्री तथा काम के पात्र बनते हैं। अतः उनका सम्बन्ध भी रति कहलाता है। जैसे सर्वाकार ही निराकार है, वैसे ही सर्वविध राग वैराग्य बन जाता है। भगवद्रति तथा दाम्पत्य रति वैराग्य में परिणत हो जाते हैं, अतः दोनों ही महनीय हैं।

इन पाँच प्रकार के रागों में श्रद्धा सत्त्वगुणात्मक है, वात्सल्य और स्नेह रजोगुणात्मक है, काम तमोगुणात्मक है तथा रति त्रिगुणात्मक है। इस अपेक्षा से राग में तारतम्य है। इसी अपेक्षा से माता–पिता के प्रति रागभाव को शुभ तथा धन के प्रति राग को अशुभ कह दिया जाता है। किन्तु जब वैराग्य की सच्ची दृष्टि उदित होती है तो शुभ और अशुभ का वह द्वन्द्व भी इसलिए समाप्त हो जाता है कि तब साधक को आसक्ति बाँध नहीं पाती। वह सब कुछ करते हुए भी कहीं बँधता नहीं। यही दुःख मुक्ति का उपाय है। यही द्वन्द्वातीत समत्व की स्थिति है।

धर्म-तत्त्व

मानव के दुःख के पाँच कारणों में से अन्तिम है – अभिनिवेश। अभिनिवेश को आधुनिक भाषा में हम पूर्वाग्रह कह सकते हैं। बिना विचारे हमने यह मान रखा है कि हम शरीर हैं, शरीर का सुख ही एकमात्र सुख है तथा धन ही उस सुख का एकमात्र साधन है। जरा सा विचार करें तो पता चलेगा कि जिनके पास विपुल धन राशि है तथा सभी तथाकथित सुख के साधन भी हैं, वे भी सुखी नहीं हैं प्रत्युत व्याकुल होकर अहर्निश इधर से उधर भटकते रहते हैं। यह एक उदाहरण–मात्र है। वस्तुतः हमारे पूर्वाग्रह अनेक प्रकार के हैं। उन पूर्वाग्रहों में अनेक पूर्वाग्रह सिद्धान्तों के नाम पर भी फल रहे हैं। ऐसे सिद्धान्तों को मत कहते हैं। विश्व में अनेक मत–मतान्तर हैं। सब अपने–अपने मत को श्रेष्ठ तथा दूसरों के मतों को निकृष्ट मानने का पूर्वाग्रह लेकर चलते हैं। परिणाम होता है – पारस्परिक संघर्ष। विश्व के इतिहास में सर्वाधिक युद्ध मतों के नाम पर हुए हैं। वर्तमान में पाकिस्तान कश्मीर में जो सशस्त्र संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करता रहता है उसका आधार भी वह इस्लाम को मानता है। सशस्त्र युद्धों के अतिरिक्त भी मत–मतान्तरों के बीच एक प्रकार का शीतयुद्ध चलता रहता है, जो शान्ति के स्थान पर अशान्ति ही फैलाता है। यह सब अभिनिवेश अथवा पूर्वाग्रह का फल है।

अभिनिवेश अथवा पूर्वाग्रह का प्रतिकार धर्म द्वारा होता है। धर्म क्या है? धर्म वह शक्ति है जो किसी पदार्थ के स्वरूप को बनाए रखती है। उदाहरणतः उष्णता अग्नि का स्वभाव है, अतः उष्णता अग्नि का धर्म हुआ। उष्णता के समाप्त हो जाने का अर्थ है अग्नि का समाप्त हो जाना। उष्णता ही अग्नि को धारण करती है अतः उष्णता

अग्नि का धर्म हुआ। उष्णता को अग्नि का धर्म किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया है, वह अग्नि का अकृत्रिम धर्म है। अतः उष्णता को हम अग्नि का अपौरुषेय धर्म कह सकते हैं। उष्णता अग्नि का धर्म अतीत में भी था, वर्तमान में भी है तथा भविष्य में भी रहेगा अतः उसे हम अग्नि का सनातन धर्म भी कह सकते हैं। उष्णता अग्नि का धर्म है – इस तथ्य की जानकारी देने वाला कोई व्यक्ति हो सकता है। उस व्यक्ति को हम ऋषि अथवा वैज्ञानिक कह सकते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि धर्म का साक्षात्कार करने वाला तो कोई व्यक्ति हो सकता है किन्तु धर्म का निर्माण कोई नहीं करता है। जिसका निर्माण व्यक्ति करता है वह उसका मत हो सकता है, किन्तु वह धर्म नहीं होता। वैदिक ऋषियों ने यह दावा कभी नहीं किया कि वे सत्य का निर्माण कर रहे हैं, उन्होंने केवल सत्य का दर्शन किया। मत विवाद का विषय बनता है क्योंकि वह व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) है, धर्म निर्विवाद होता है क्योंकि वह वस्तुनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) है।

हमने मत को ही धर्म मान लिया और प्रायः यह कहा जाता है कि हमारा राज्य धर्मनिरपेक्ष है। चुनाव का एक प्रमुख मुद्दा बनाया जा रहा है कि हम सेक्यूलरिज्म के पक्षधर हैं। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि सभी मतों के मानने वालों के प्रति समान दृष्टि रखे – सेक्यूलरिज्म का यही अर्थ है, किन्तु यदि राज्य धर्मनिरपेक्ष हो जाएगा तो राष्ट्र को धारण ही कौन करेगा? वस्तुतः संसार का कोई भी राज्य धर्मनिरपेक्ष हो ही नहीं सकता, चाहे वह राज्य साम्यवादी ही क्यों न हो। क्या साम्यवादी राज्य न्याय अथवा सत्य का समर्थन नहीं करेगा? फिर वह धर्म-निरपेक्ष कैसे हो सकता है?

गीता का धर्म मत–निरपेक्ष है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो जिस रूप में उपासना करता है वह भगवान् को उसी रूप में प्राप्त कर लेता है। मत हमारी रुचि का विषय है और हम सबकी रुचि एक जैसी नहीं हो सकती । जब हम सबकी रुचि एक ही प्रकार की हो – ऐसा दुराग्रह करते हैं तो मतान्धता का जन्म होता है। धर्म हमारी रुचि का विषय नहीं है। सब धर्म का पालन करें – यह आग्रह दुराग्रह नहीं है, अपितु सत्याग्रह है।

चिन्तक हो अथवा प्रशासक, दोनों ही अपने–अपने ढंग से धर्म की स्थापना का प्रयत्न करते हैं। चिन्तक अपने चिन्तन बल पर धर्म की अपरिहार्यता का प्रतिपादन करता है। प्रशासक दण्डनीति द्वारा अधर्म का दमन करता है। जिस राष्ट्र में धर्म स्थापित रहता है वहाँ की प्रजा ''गुप्त'' अथवा रक्षित रहती है। चिन्तक अथवा ब्राह्मण अपने को शर्मा तथा प्रशासक अपने को वर्मा कहते हैं। ''शर्मन्'' चर्मन का ही रूप है। जिस प्रकार चमड़ी शरीर के रक्त, मांस आदि पदार्थों को अस्तव्यस्त होने से रोकती है उसी प्रकार चिन्तक चिन्तन द्वारा समाज को अव्यवस्थित होने से रोकता है। अतः वह समाज का ''शर्मन्'' अथवा चर्मन् है। प्रशासक अथवा क्षत्रिय बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करता है अतः वह राष्ट्र का ''वर्मन्'' अथवा कवच है। आन्तरिक अराजकता को चिन्तक तथा बाह्य आक्रमण के भय को क्षत्रिय रोकता है, तभी प्रजा गुप्त अथवा रक्षित रहती है।

समाज अथवा व्यक्ति पर दृष्टिपात करें कि समाज कैसे स्थिर रह सकता है तथा व्यक्ति किस प्रकार अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है तो हमें धर्म का स्वरूप प्राप्त हो जाएगा। पुराणों ने धर्मवंश का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। धर्म की १३ पत्नियाँ हैं – श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री तथा मूर्ति। इनमें से श्रद्धा से सत्य, मैत्री से प्रसन्नता तथा निर्मलता, दया से अभय, शान्ति से सुख, तुष्टि से सन्तोष, पुष्टि से स्वाभिमान, क्रिया से योग, उन्नति से स्वावलम्बन, बुद्धि से सम्पन्नता, मेधा से स्मृति, तितिक्षा से क्षेम, ह्री से अभ्युदय तथा मूर्त्ति से जीव और ईश्वर उत्पन्न हुए। यही धर्म का वंश है। इसी के कारण व्यक्ति तथा समाज की स्थिति बनी रहती है।

दूसरी ओर अधर्म का विवाह हिंसा से हुआ। हिंसा से अनृत उत्पन्न हुआ। हिंसा से ही निकृति भी पैदा हुई जिसके नरक तथा भय नामक दो पुत्र हुए। नरक का विवाह माया से हुआ। माया से मृत्यु उत्पन्न हुई। भय

का विवाह वेदना से हुआ जिसके दुःख नामक पुत्र हुआ। मृत्यु से जरा, व्याधि, शोक, तृष्णा, क्रोधादि पुत्र उत्पन्न हुए।

धर्म-अधर्म के उपर्युक्त विवरण में ऐसे सनातन सत्य उद्घाटित हो रहे हैं जो सार्वभौम हैं। क्या इन्हें विवाद का विषय बनाया जा सकता है? क्या ये किसी एक पुरुष या वर्ग विशेष की सम्पत्ति हैं? यही सार्वभौम, सार्वकालिक, अपौरुषेय सनातन धर्म का स्वरूप है। जब मतवाद इस धर्म का स्वरूप ढक लेता है तो विवाद का जन्म होता है और सिद्धान्त के नाम पर व्यक्तिपूजा को प्रश्रय मिलता है।

धर्म देश-काल-पात्र सापेक्ष है। उदाहरणतः अहिंसा को लें। अहिंसा का अर्थ है कि हमारे किसी शारीरिक, मानसिक अथवा वाचिक कर्म से किसी को किसी प्रकार का दुःख न हो। अहिंसा धर्म है। किन्तु क्या सभी परिस्थितियों में अहिंसा धर्म है? यदि कोई न्यायाधीश अपराधी को यह मानकर दण्ड न दे कि दण्डित करने पर अपराधी को दुःख होगा, तो क्या यह धर्म कहलाएगा? यदि वह किसी निरपराध की निर्मम हत्या करने वाले को प्राण दण्ड दे, तो क्या वह अधर्म हो जाएगा? एक सैनिक अपने देश पर आक्रमण करने वालों पर गोली चलाने से इनकार कर दे तो क्या इसे धर्म मानेंगे? शल्य चिकित्सक रोगी के हित के लिए उसका अङ्गच्छेद भी करता है किन्तु कोई इसे अधर्म नहीं कहता। अध्यापक अपने छात्रों की ताड़ना करता है, माता–पिता पुत्र की ताड़ना करते हैं, धर्माचार्य अपने शिष्यों को दण्डित करते हैं, किन्तु इन क्रियाओं को कोई अधर्म नंहीं मानता। इन्हीं सूक्ष्मताओं के कारण यह कहा जाता है कि धर्म का तत्त्व गुहानिहित है। इसलिए यह कहना पड़ा कि धर्म–अधर्म का निर्णय शास्त्र के आधार पर ही करना होगा।

अर्जुन को यह भ्रम हो गया था कि कौरव पक्ष के लोगों पर शस्त्र चलाने में अधर्म होगा। उसे यह लगा कि कौरव पक्ष में तो उसके अपने ही भाई–बन्धु और गुरुजन खड़े हैं। यह उसका मोह था। कर्त्तव्य-पालन में अपने–पराये का विचार नहीं किया जाता। दूसरा भ्रम उसे यह हो गया कि हिंसा में पाप है जबकि आततायी को समाप्त कर देने में पाप नहीं है। तीसरा भ्रम उसे यह हो गया कि भिक्षावृत्ति युद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्या एक क्षत्रिय योद्धा के लिए ऐसा सोचना उचित है? यदि सभी ऐसा सोच लें तो अन्याय का प्रतिकार सम्भव ही नहीं रह जाएगा और न जाने कितने निरंकुश दुर्योधन इस पृथ्वी को नरक में बदल डालेंगे। चौथा भ्रम अर्जुन को यह हो गया कि युद्ध करना राज्य के लोभ का सूचक है। श्रीकृष्ण ने उसे अनासक्त भाव से कर्म करने का रहस्य बताया। पाँचवाँ भ्रम अर्जुन को यह हो गया था कि वह कर्म छोड़ सकता है। श्रीकृष्ण ने बताया कि किसी के लिए भी कर्म छोड़ देना असम्भव है। इस दृष्टि से देखें तो पूरी गीता में अर्जुन की भ्रान्तियों को दूर करने के निमित्त से धर्म का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है।

भगवान् वेदव्यास को एक वेदना थी कि उनकी यह बात कोई नहीं सुनता कि धर्म के पालन से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है। अर्थ और काम सबको सहज ही चाहिए। धर्म के पालन से सब बचना चाहते हैं। यही मानव जीवन की विडम्बना है। विडम्बना का हेतु है। मानव के एक ओर ईश्वर है, दूसरी ओर जगत् है, मानव मध्य में है। मानव को ईश्वर अपनी ओर खींचता है, जगत् अपनी ओर खींचता है। यदि मनुष्य जगत् की ओर खिंच जाता है तो उस पर अधर्म हावी हो जाता है। यदि वह ईश्वर की ओर खिंच जाए तो वह धर्मारूढ़ हो जाता है। जगत् तो ईश्वर का दास है। जो ईश्वर की ओर गया, जगत् तो स्वयं ही उस ओर खिंच जाता है। जो जगत् की ओर भागता है, जगत् उससे भाग जाता है क्योंकि जीव जगत् का स्वामी नहीं बन सकता, जगत्पति तो ईश्वर ही है। जो जगत्पति की शरण में जाता है, वह स्वयं भी जगत्पति बन जाता है।

धर्म का मार्ग ऋजु है, किन्तु सब कुछ ऋजु मार्ग से ही सिद्ध नहीं होता। ऋजु मार्ग से ही सब कुछ सिद्ध हो जाता तो शास्त्र ही पर्याप्त थे, शस्त्रों की आवश्यकता नहीं थी। शास्त्र का सम्बन्ध धर्म से है तो शस्त्रों का

सम्बन्ध राजनीति से है। राजनीति का दूसरा नाम दण्डनीति भी है। धर्म और राजनीति एक–दूसरे का उपकार करते हैं। राजनीति अथवा दण्डनीति धर्म अर्थात् न्याय की रक्षा करती है। राजनीति सदा सरलता से ही काम नहीं लेती वह शठ के प्रति शठता भी बरतती है, कुटिल के प्रति कुटिलता भी बरतती है किन्तु उसका लक्ष्य सदा साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश रहता है। जिस राष्ट्र की रक्षा शस्त्र करते हैं वहाँ शास्त्र फलते–फूलते हैं। जब भारत की रक्षा शस्त्रधारी नहीं कर पाए तो आक्रान्ताओं ने हमारे शास्त्रों को जला कर उनसे अपने हमाम का पानी गरम किया। न जाने इस प्रक्रिया में कितने शास्त्र काल कवलित हो गए। ऐसा इसलिए हुआ कि इस देश की राजसत्ता धर्म के भ्रम में राजनीति को भुला बैठी। पृथ्वीराज चौहान ने विदेशी आक्रान्ता को १७ बार हराया किन्तु १७ बार ही क्षमा कर दिया। यह क्षमा न धर्म था, न राजनीति।

विदेशी आक्रान्ता ने पृथ्वीराज को एक बार हराया और इस देश को सदियों के लिए गुलाम बना लिया। राजसत्ता की जरा सी भूल की सजा सदियों तक पूरे राष्ट्र को भोगनी पड़ी। महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण ने भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि सभी सेनापतियों को छल से मरवा कर राजनीति का पाठ पढ़ाया था। एक बार एक अबला द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करने का प्रयास करके कौरव पक्ष ने धर्म की सभी मर्यादाओं का उल्लंघन कर दिया था। तब उस पक्ष को समाप्त करने के लिए किसी भी उपाय का अवलम्बन अनुचित नहीं था। काश ! मध्यकाल के राजपूत राजा महाभारत के इस सन्देश को पढ़ पाते तो इस देश को इतनी लम्बी परतंत्रता न भोगनी पड़ती। ये राजा वीरता में कम न थे, किन्तु कूटनीति में पिछड़े हुए थे। विदेशी आक्रान्ता वीर न थे, किन्तु छल-कपट में माहिर थे।

राजनीति में आवश्यक होने पर कुटिलता की अनुमति है किन्तु राजनीति का लक्ष्य केवल धर्म की स्थापना है। राजनीति धर्म की फसल की रक्षा के लिए लगाई जाने वाली काँटेदार बाड़ है। लेकिन यदि बाड़ ही फसल को खाने लगे, तो ऐसी बाड़ को भी उखाड़ फेंकना पड़ता है। इतिहास में क्षत्रियों के आततायी होने पर ब्राह्मण परशुराम को भी उनके विरुद्ध हथियार उठाना पड़ा था। यह आपद्धर्म था।

अवसर पड़ने पर हमें परधर्म भी अपनाना पड़ सकता है। परशुराम ने यही किया। ऐसा परधर्म होता है सदा स्वधर्म की रक्षा के लिए। यदि वही स्वधर्म का विरोधी बन जाए तो वह परधर्म भयावह बन जाता है। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध अध्यापक–छात्रों का एक वर्ष के लिए पढ़ना–पढ़ाना छोड़ कर स्वतंत्रता संग्राम में कूदने के लिए आह्वान किया था। यह आपद्धर्म था। आज स्वतंत्र राष्ट्र में यदि अध्यापक-छात्र पढ़ना-पढ़ाना छोड़कर नारेबाजी में अपना समय और शक्ति लगाए तो वह अधर्म ही होगा।

यदि हम धर्म तत्त्व को ठीक से समझ लें तो अभिनिवेश अथवा पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सन्तुलित जीवन बिता सकते हैं। मतवादों के कारण जितना विवाद चलता है वह धर्म के स्वरूप को ठीक से न समझने का परिणाम है।

— • —

खण्ड तीन

गीता का क्षर पुरुष और वैशेषिक दर्शन

भारतीय चिन्तन का थोड़ा–सा भी परिचय जिन्हें है वे आत्मा शब्द से अवश्य परिचित हैं। आत्मा शब्द सुना प्रायः सबने हैं किन्तु आत्मा शब्द का अभिप्राय क्या है, यह जानना सरल नहीं है। ऐसा माना जाता है कि दर्शन शास्त्र में आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण है। किन्तु जब हम आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जानने के लिए दर्शनों का सहारा लेना चाहते हैं तो एक विचित्र स्थिति उत्पन्न होती है। वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन और वेदान्त – तीनों ही वैदिक दर्शन हैं। यह आशा की जाती है कि इन तीनों दर्शनों में आत्मा का स्वरूप एक जैसा बताया गया होगा, किन्तु इन तीनों दर्शनों के अध्ययन से जब हमें यह पता चलता है कि इन तीनों दर्शनों में आत्मा का स्वरूप अलग–अलग बताया गया है तो हमें बहुत निराशा होती है। सहज ही एक जिज्ञासु अथवा साधक को यह भ्रान्ति हो जाती है कि वह किस दर्शन की बात को सत्य माने। दुराग्रहवश किसी एक दर्शन को सत्य और दूसरों को मिथ्या मान लेना एक और बात है लेकिन वस्तुतः तो मनुष्य तर्क, अनुभव और शास्त्र के आधार पर सत्य–असत्य का निर्णय करना चाहता है।

ऐसी विकट परिस्थिति में केवल गीता ही हमारी सहायता कर सकती है। आत्मा का एक पर्यायवाची शब्द पुरुष है। गीता का कहना है कि पुरुष तीन हैं – क्षर, अक्षर और अव्यय।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

इससे पूर्व कि दर्शनों की चर्चा की जाए संक्षेप में यह जान लेना उपयोगी होगा कि क्योंकि पुरुष तीन हैं इसलिए तीन दर्शन आत्मा का तीन प्रकार से वर्णन करते हैं। वैशेषिक दर्शन क्षर पुरुष का वर्णन करता है, सांख्य दर्शन अक्षर पुरुष का वर्णन करता है और वेदान्त अव्यय पुरुष का वर्णन करता है। यदि ये बात समझ ली जाए तो जिज्ञासु या साधक को विभिन्न दर्शनों में आत्मा का विभिन्न निरूपण देख कर कोई भ्रान्ति नहीं होगी। ऐसी दृष्टि में यह सिद्ध होगा कि ये दर्शन एक-दूसरे के परिपूरक हैं, न कि विरोधी। समन्वय की यह दृष्टि हमें केवल गीता से ही प्राप्त हो सकती है। गीता की समन्वय दृष्टि को समझे बिना जो केवल दर्शनों के अध्ययन में लगे रहते हैं उन्हें दर्शनों के पारस्परिक विवाद का निरर्थक वाग्जाल तो हाथ लगता है, किन्तु आत्मा के तत्व के नवनीत से वे वंचित ही रह जाते हैं। गीता की ऐसी महिमा है।

वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त में आत्मा – क्षर, अक्षर और अव्यय पुरुष को केन्द्र में रख कर क्रमशः वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त आत्मा का वर्णन करते हैं। स्वयं गीता में इन तीन पुरुषों के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि क्षर तो भूत है, अक्षर कूटस्थ है और अव्यय ईश्वर है। इस बात को इस तरह समझा जा सकता है कि क्षर का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, अक्षर का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है और अव्यय का सम्बन्ध कारण शरीर से है। स्थूल शरीर वह है जिसका आभास हमें जागृत अवस्था में होता है। जिसे हाड़–मांस का पुतला कहा जाता है। यह पंच महाभूतों से बना है। सूक्ष्म शरीर का आभास हमें स्वप्नावस्था में होता है। यह सूक्ष्म प्रकृति से बना है; जो पंचभूतों का कारण है और जिसे पंच तन्मात्रा कहा जाता है। कारण शरीर का अस्तित्व सुषुप्ति अर्थात्

गहरी नींद के समय प्रतीति में आता है। यह कारण शरीर सत्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुणों से बना है। इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का ही सम्बन्ध क्षर, अक्षर और अव्यय पुरुष से है। संक्षेप में इतना जान लेने के बाद अब एक–एक दर्शन में आत्मा के स्वरूप को थोड़ा विस्तार से जान लेना उपयोगी होगा।

सर्वप्रथम क्षर पुरुष का विवेचन करने वाले वैशेषिक दर्शन को लें। जो कुछ हमें इस विश्व में आँखों से दिखाई दे रहा है वह सब क्षर ही है। क्षर इस जगत् का उपादान कारण है। इसी का विवेचन करने के कारण वैशेषिक दर्शन द्रश्यमान जगत् को छह भागों में बाँट कर उसका विवेचन करता है। वे छह पदार्थ हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। क्योंकि हमें आत्मा का वर्णन अभीष्ट है इसलिए हम इन छह पदार्थों के विस्तार में न जाकर केवल एक पदार्थ द्रव्य का ही निरूपण करेंगे क्योंकि वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा भी एक द्रव्य है। सभी द्रव्य परिवर्तनशील हैं। परिवर्तनशीलता का ही दूसरा नाम क्षर है। वैशेषिक दर्शन में क्योंकि आत्मा को भी एक द्रव्य मान लिया है इसलिए यह स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन आत्मा के क्षर रूप का ही वर्णन कर रहा है। इतना अवश्य है कि वैशेषिक दर्शन आत्मा के भी दो भेद मानता है – जीवात्मा और परमात्मा। इनमें परमात्मा अक्षर पुरुष है क्योंकि इसमें परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार वैशेषिक मत में जगत् का उपादान कारण क्षर है और निमित्त कारण अक्षर है। जिस प्रकार घड़े का उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार है। वैशेषिक दर्शन अव्यय पुरुष का वर्णन नहीं करता। अव्यय पुरुष न कारण है न कार्य, अपितु वह सबका आलम्बन है। इस अव्यय पुरुष का वर्णन वेदान्त करता है वैशेषिक दर्शन नहीं।

वैशेषिक दर्शन की दृष्टि – वैशेषिक दर्शन की दृष्टि यह है कि यदि छहों पदार्थों के तात्त्विक रूप का ज्ञान हो जाए तो एक ओर तो वह इन पदार्थों के स्वरूप को मानकर अभ्युदय की सिद्धि कर सकेगा और दूसरी ओर वह जीव और ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानकर निःश्रेयस की भी सिद्धि कर लेगा। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि ही धर्म का प्रयोजन है। वैशेषिक दर्शन में आत्मा को सिद्ध करने के लिए बहुत से कारण ये हैं –

प्राणापान-निमेषोन्मेष-जीवन-मनोगतीन्द्रियान्तर-विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।

यहाँ जितने भी चिह्न आत्मा के बताए गए हैं वे सभी प्रकृति के हैं। स्पष्ट है कि वैशेषिक का लक्ष्य क्षर पुरुष है। अक्षर पुरुष इस क्षर पुरुष से विशिष्ट है। वैशेषिक दर्शन में ब्रह्म शब्द से ईश्वर का ही ग्रहण होता है।

वैशेषिक जब आत्मा के दो भेद करता है – जीव और ईश्वर, तो निश्चय ही वह अक्षर का भी विवेचन करता है। ईश्वर के ही तीन रूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। ब्रह्मा के रूप में वह स्रष्टा है, विष्णु के रूप में वह पालक है और महेश के रूप में संहारक है। जीव हाड़–मांस के बने हुए शरीर का आत्मा है और ईश्वर विश्व का आत्मा है। ईश्वर की इच्छा से यह विश्व बनता है किन्तु इस विश्व का उपादान कारण परमाणु है।

यह तो स्पष्ट ही है कि यह विश्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पंचभूतों से बना है। यदि इन पाँच भूतों का विशकलन किया जाए और विशकलन करते–करते यदि हम ऐसे खण्ड तक पहुँच जाएँ जिसके आगे खण्ड न हो सके तो उस अन्तिम खण्ड को हम परमाणु कहेंगे। यह परमाणु ही मिल कर सृष्टि बनाते हैं। परमाणु व्यक्त है, सांख्य की प्रकृति के समान अव्यक्त नहीं। वैशेषिक दर्शन का कहना है कि व्यक्त से ही व्यक्त सृष्टि बन सकती है, अव्यक्त से व्यक्त सृष्टि नहीं बन सकती। यह भी एक कारण है कि वैशेषिक दर्शन क्षर पुरुष को ही जगत् का कारण मानता है। ईश्वर की इच्छा सृष्टि का निमित्त तो है किन्तु वह उपादान कारण नहीं। अव्यय पुरुष न किसी का कार्य है न किसी का कारण। किन्तु वैशेषिक दर्शन में उसकी चर्चा नहीं है। क्षर पुरुष को केन्द्र में रखने का एक परिणाम यह हुआ कि वैशेषिक दर्शन में आत्मा को भी अपने मूल रूप से अचेतन ही मान लिया गया। वैशेषिक दर्शन के अनुसार मुक्त अवस्था में आत्मा में चेतना नहीं रहती क्योंकि चेतना आत्मा

का आगन्तुक धर्म है, स्वाभाविक धर्म नहीं है। वेदान्तियों ने न्याय वैशेषिक दर्शन की आत्मा की इस अवधारणा पर कड़ा प्रहार किया है कि चेतन जीव को जड बनाने का लक्ष्य रखना कोई बुद्धिमता का कार्य नहीं है।

वस्तुतः भारतीय दर्शन मनुष्य के चिन्तन के क्रमिक विकास को बताते हैं। हमारी दृष्टि सबसे पहले इस स्थूल शरीर पर ही जाती है। इस स्थूल शरीर को भूतमात्रा अथवा भूतग्राम ही कहा जाता है। आत्मा शब्द का प्रयोग अहम् अथवा मैं के लिए होता है। जब हम यह कहते हैं कि मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, तो स्थूल शरीर के लिए ही 'मैं' का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में वैशेषिक दर्शन क्षर पुरुष को ही आत्मा मानकर चलता है। ये हमारी चेतना का प्रथम स्तर है। सांख्य दर्शन और वेदान्त दर्शन ने वैशेषिक दर्शन की आलोचना की। किन्तु फिर भी वैशेषिक दर्शन की आस्तिक दर्शन के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। जिसका अर्थ यह है कि शरीर की भी अथवा पार्थिव पदार्थों की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। वैशेषिक दर्शन के इस चिन्तन का ही परिणाम है कि उसने केवल निःश्रेयस को ही धर्म का लक्ष्य नहीं माना अपितु अभ्युदय को भी समान महत्व दिया।

वैशेषिक दर्शन का विशिष्ट योगदान– भूतविज्ञान की दृष्टि से परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन का विशिष्ट योगदान माना जा सकता है। क्षर अथवा भौतिक जगत् को महत्व देने के कारण वैशेषिक दर्शन के समान–तंत्र न्याय दर्शन ने तर्क का विकास किया। जहाँ पाणिनि शब्द का विश्लेषण कर रहे थे वहाँ कणाद् पदार्थ का विश्लेषण कर रहे थे। ये दोनों सभी शास्त्रों में उपयोग में आते हैं इसलिए यह मान्यता प्रचलित हो गई कि कणाद का वैशेषिक दर्शन और पाणिनि का व्याकरण सभी शास्त्रों का उपकार करने वाले हैं –

काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्।

इतना होने पर भी जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में परमाणुवाद का स्थान क्वान्टम् सिद्धान्त ने ले लिया उसी प्रकार भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भी वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद के स्थान पर सांख्य दर्शन का त्रिगुणवाद आया जिसके केन्द्र में क्षर पुरुष न होकर अक्षर पुरुष था।

अक्षर पुरुष और सांख्य दर्शन

गीता ने क्षर, अक्षर और अव्यय पुरुष के माध्यम से आत्मा को तीन स्तरों पर विवेचित किया है। इनमें वैशेषिक दर्शन ने क्षर आत्मा को केन्द्र में रखा। क्षर आत्मा सबसे स्थूल है। वैशेषिक दर्शन में आत्मा का एक पदार्थ है अथवा द्रव्य के रूप में विवेचन है। स्पष्ट है कि यह विवेचन आधिभौतिक है। सांख्य दर्शन ने आधिदैविक दृष्टि अपनाई। सांख्य ने परमाणु के स्थान पर प्रकृति को जगत् का उपादान कारण माना। हमें तीन चीजें उपलब्ध होती हैं – पदार्थ, क्रिया और ज्ञान। अतः इस जगत् का कारण भी त्रयात्मक होना चाहिए। इसलिए सांख्य में प्रकृति ने तीन गुण माने – तमोगुण का सम्बन्ध पदार्थ से है, रजोगुण का सम्बन्ध क्रिया से है और सत्वगुण का सम्बन्ध ज्ञान से है। इन तीन गुणों से ही प्रकृति बनी है और वह प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है। यह प्रकृति अक्षर है। यह अव्यक्त है। यह जब व्यक्त होती है तो क्षर बन जाती है। अक्षर को परा प्रकृति और क्षर को अपरा प्रकृति कहा जाता है। सत्व, रजस् और तमस् जब तक साम्य अवस्था में रहते हैं, तब तक प्रकृति अव्यक्त बनी रहती है जैसे ही क्षोभ के कारण प्रकृति साम्यावस्था से हट कर विषम अवस्था में आती है वैसे ही वह प्रकृति व्यक्त हो जाती है। व्यक्त प्रकृति ही महान् कहलाती है। यह महान् वह तत्व है जिस पर जब चित् प्रतिबिम्बित होता है तो अहंकार का जन्म होता है। अहम् भोक्ता है इसलिए अहंकार के उत्पन्न होने पर भोग्य पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न हो जाती हैं और दूसरी ओर भोगने का साधन ग्यारह इन्द्रियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार महत् ही सारी सृष्टि की योनि है। गीता में स्पष्ट कहा गया है –

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।

तीन दृष्टियाँ

सांख्य दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम को समझाने के लिए तीन दृष्टियों से विचार किया गया है –

(१) मूल प्रकृति सबका कारण है किन्तु उसका कोई कारण नहीं। यही प्रकृति है।

(२) मूल प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है और महान् अहंकार को जन्म देता है। इसलिए महान् कार्य भी है और कारण भी है। इसी प्रकार अहंकार महान् का कार्य है और पंच तन्मात्राओं का कारण है। पंच तन्मात्राएँ अहंकार का कार्य है और पंच महाभूतों का कारण है अतः महान् अहंकार और पंच तन्मात्राएँ कारण भी हैं और कार्य भी। यही प्रकृति-विकृति है।

(३) अहंकार से उत्पन्न होने वाली पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन कार्य तो है, किन्तु वे किसी को जन्म नहीं देती। इसी प्रकार पंच महाभूत भी स्वयं पंच तन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं किन्तु स्वयं किसी को उत्पन्न नहीं करते। ये विकृतियाँ हैं।

इस प्रकार प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत एक मूल प्रकृति है। द्वितीय श्रेणी में सात प्रकृति–विकृति है और तृतीय श्रेणी में सोलह विकृतियाँ हैं। ये चौबीस प्राकृतिक पदार्थ हैं; पच्चीसवाँ पदार्थ पुरुष है जो न किसी का कारण है न किसी का कार्य है।

पंच तन्मात्राओं से पंचभूत उत्पन्न होते समय एक–एक गुण अधिक होता जाता है। शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है उसमें एक ही गुण शब्द है। वायु शब्द तन्मात्रा के सहित स्पर्श तन्मात्रा से उत्पन्न होता है इसलिए उसमें शब्द और स्पर्श दोनों हैं। तेज में स्पर्श के साथ रूप भी जुड़ जाता है। जल में शब्द, स्पर्श और रूप के साथ रस जुड़ जाता है और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श और रूप के साथ गन्ध भी जुड़ जाता है।

इन्द्रिय–मन और प्रज्ञान मन

सांख्य सूत्र में महत् को मन भी कहा गया है – "महदाद्यं कार्य्यं तन्मनः" दूसरी ओर हमने ऊपर कहा है कि अहंकार से इन्द्रियाँ और मन उत्पन्न होता है। यहाँ इन दोनों मनों के बीच में भेद समझना चाहिए। जो मन अहंकार से उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय–मन है और महत् को जो मन कहा गया है वह प्रज्ञान मन है। प्रज्ञान मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। सांख्य के अनुसार इसी मन पर विज्ञान अर्थात् बुद्धि टिकी है। जैसे सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित है वैसे बुद्धि के प्रकाश से ही मन प्रकाशित है। इस प्रकार सांख्य के मन में बुद्धि भी समाहित है। गीता में मन और बुद्धि को अलग–अलग करके प्रकृति के आठ भेद बना लिए गए –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।

सांख्य के इस विवेचन को यदि उपनिषद् की भाषा में कहना चाहें तो पुरुष का अर्थ होगा पंचकोष युक्त अव्यय पुरुष। मूल प्रकृति ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम नामक पाँच देवताओं की समष्टि का नाम होगा। प्रकृति–विकृति सूक्ष्म प्रकृति है और विकृति स्थूल प्रकृति है।

सांख्य के अनुसार जगत् का कारण प्रकृति है। पुरुष का जगत् के निर्माण में कोई योगदान नहीं। पुरुष चेतन अवश्य है। सांख्य दर्शन में न्याय वैशेषिक के सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का भी कोई स्थान नहीं। स्वयं प्रकृति में जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति है।

जहाँ तक गीता का सम्बन्ध है अव्यय पुरुष की प्रतिपादिका होने के कारण सांख्य के सभी सिद्धान्त गीता को मान्य नहीं तथापि वह सांख्य के समान् जगत् का कारण अव्यक्त को ही मानती है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।

सांख्य दर्शन के दो सिद्धान्त ऐसे हैं जिसके सम्बन्ध में गीता पूर्णतः सहमत नहीं। प्रथम तो गीता का कहना है कि यद्यपि जगत् अव्यक्त में उत्पन्न हुआ तथापि अव्यक्त अक्षर नहीं क्योंकि अक्षर कभी बदलता नहीं। जिस अव्यक्त से जगत् बना है वह अव्यक्त क्षर ही है। अक्षर केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। सांख्य जिसे अव्यक्त प्रकृति कहता है वह अक्षर नहीं अपितु क्षर ही है। सांख्य अपने मत के पक्ष में मुण्डकोपनिषद् का यह वक्तव्य प्रस्तुत करता है –

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।

अर्थ यह है कि जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार विधि भाव अक्षर से ही उत्पन्न होते हैं। वास्तविकता यह है कि यहाँ दीर्घ सन्धि करके 'अक्षर' यह पाठ मान लिया गया है, किन्तु वस्तुतः यहाँ अक्षर यह पाठ नहीं है अपितुः 'क्षर' पाठ ही है।

वस्तुस्थिति यह है कि गीता में और उपनिषद् में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग कभी क्षर के लिए होता है कभी अक्षर के लिए और कभी अव्यय के लिए भी। उदाहरणतः गीता में कहा गया है कि ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न होता है – **ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।**

स्पष्ट है कि यहाँ ब्रह्म का अर्थ क्षर ब्रह्म है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि ब्रह्म नाम, रूप और अन्न उससे उत्पन्न होते हैं जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है और जिसका तप ज्ञानमय है।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।

ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ यदि विवेक से काम न लिया जाए तो शास्त्र का सुसंगत अर्थ लग ही नहीं सकता। अभिप्राय यह है कि गीता के अनुसार जगत् का उपादान कारण क्षर है, अक्षर नहीं। अक्षर केवल निमित्त कारण है।

गीता का सांख्य से सूक्ष्म मतभेद होने पर भी गीता ने स्थान–स्थान पर सांख्य दर्शन का आश्रय लिया है। गीता पुरुष को सांख्य के समान विकार–रहित मानती है जिसका न जन्म होता है न मरण। गीता का अर्जुन को यह उपदेश कि वह त्रिगुणातीत हो जाए, सांख्य का ही फलितार्थ है। गीता में स्पष्ट कहा गया है कि प्रकृति के गुण ही सब कर्म किया करते हैं, अहंकार से उत्पन्न मूर्खतावश मनुष्य अपने आपको कर्त्ता मान बैठता है। इसके विपरीत तत्त्वज्ञ यह मानकर कि गुण ही गुणों में टिके हुए हैं, स्वयं आसक्त नहीं होते।

सांख्य मत

गीता का एक प्रसंग सांख्य और योग की एकता पर बल देता है। यहाँ सांख्य का अर्थ ज्ञान और योग का अर्थ कर्म है। स्पष्ट है गीताकार के मन में सांख्य के प्रति अत्यन्त सम्मान का भाव है इसलिए सांख्य को समझे बिना गीता को नहीं समझा जा सकता।

विज्ञान की दृष्टि से देखें तो सांख्य का मत वैशेषिक की अपेक्षा विज्ञान के अधिक निकट है। आधुनिक विज्ञान परमाणुवाद का समर्थन नहीं करता। वह क्वान्टम के सिद्धान्त को मानता है – जो सांख्य की प्रकृति के अधिक निकट है। जहाँ तक प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध है, गीता इन दोनों को स्पष्ट शब्दों में अनादि मानती है। साथ ही यह भी घोषित करती है कि कर्तृत्व प्रकृति का है पुरुष केवल भोक्ता है –

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।

गीता में गुण सिद्धान्त का उपयोग बहुत विस्तार से किया गया है। रजोगुण रागात्मक है। यह आसक्ति से पैदा होता है और मनुष्य को कर्म से बाँध लेता है। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है और मनुष्य को प्रमादी तथा आलसी बना देता है। सत्त्व का काम ज्ञान उत्पन्न करना है। रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है जिससे अशान्ति होती है। तमोगुण प्रमाद उत्पन्न करता है। सत्त्वगुण का फल निर्मलता है। जो तीनों गुणों से अतीत है वही मुक्त होता है। जो सुख–दुःख में समान है, जिसके लिए सोना व पत्थर बराबर है, जो प्रिय–अप्रिय में तुल्य बुद्धि रखता है, मान–अपमान में विचलित नहीं होता, वही गुणातीत है, वही परम सुख को प्राप्त होता है।

वस्तुतः गीता ने पूरे जीवन को तीन गुणों के आधार पर विभाजित करके सांख्य दर्शन का बहुत विस्तार कर दिया है। उदाहरणतः गीता ने आहार, यज्ञ, तप, दान इन सभी को सात्विक, राजसी और तामसी रूप में विभक्त करके सांख्य दर्शन के गुण सिद्धान्त के आधार पर हमें पूरी आचार–संहिता प्रदान की। इस प्रकार सांख्य और गीता एक–दूसरे के उपकारक सिद्ध हो रहे हैं।

अव्यय पुरुष और वेदान्त

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि परमाणुओं से बनी है। ईश्वर की इच्छा मात्र से परमाणु सृष्टि को बना देते हैं। ईश्वर परमाणुओं का नियन्ता है। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति स्वयं ही जगत् को बना देती है, ईश्वर की आवश्यकता नहीं। वेदान्त के अनुसार आत्मा ही विश्व बना हुआ है। वेदान्त का आत्मा से अभिप्राय अव्यय पुरुष है जो क्षर और अक्षर दोनों से परे है। गीता में इस अव्यय पुरुष को ही पुरुषोत्तम कहा गया है –

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।

जब श्रुति यह कहती है कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है तो ब्रह्म से श्रुति का अभिप्राय अव्यय पुरुष से है। वेदान्त का कहना है कि सांख्य की प्रकृति पुरुष के बिना अधूरी है और वह स्वयं सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकती। हम देखते हैं कि कुछ भी सृष्टि करने के लिए प्रथम इच्छा होनी चाहिए। तदनन्तर हम जो कुछ करना चाहते हैं उसकी एक योजना बनाते हैं। यह योजना बनाना प्राण का व्यापार है। इसे ही तप या क्रतु कहा जाता है। तदनन्तर हम योजना के अनुसार शरीर से कर्म करते हैं। तब किसी वस्तु का निर्माण होता है। अभिप्राय यह है कि मन की इच्छा, प्राण का तप और वाक् अर्थात् शरीर का श्रम मिलकर सृष्टि का निर्माण करते हैं।

इच्छा, तप और श्रम को ही वेद में क्रमशः काम, क्रतु और कर्म कहा गया है–**"काममय एवायं पुरुष इति यो यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते इति।"**

मन, प्राण और वाक् ही आत्मा

मन, प्राण और वाक् ही आत्मा हैं। यही अव्यय पुरुष के तीन घटक हैं और यही सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। सांख्य का यह कहना कि पुरुष का सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं, वेदान्त की दृष्टि में ठीक नहीं है। अव्यक्त प्रकृति ही सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकती उस प्रकृति की अध्यक्षता अव्यय पुरुष करता है जैसा कि गीता में कहा गया है – **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्** इति। वेदान्त दर्शन में जिस अव्यय पुरुष की चर्चा है उस अव्यय पुरुष की प्राप्ति का उपाय गीता में बताया गया है। इसलिए गीता में वेदान्त दर्शन तो है ही किन्तु

उसके अतिरिक्त वह विज्ञान भी है जिस विज्ञान के लिए श्रुति कहती है कि विज्ञान यज्ञ और कर्म का रहस्य खोलता है – **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि च।** यह गीता की विशेषता है।

गीता में अव्यक्त प्रकृति से ही सृष्टि मानने वालों को बुद्धिहीन कहा गया है। योगमाया के कारण जीव अव्यय पुरुष को नहीं जान पाता, वह त्रिगुणात्मक प्रकृति में ही भटकता रहता है। गीता में इस स्थिति का वर्णन बहुत विस्तार से है –

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति मामजमव्ययम्॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

यह सच है कि सामान्यतः हमें सब कुछ अव्यक्त से ही उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता और सब कुछ अव्यक्त से लीन होता हुआ भी दिखाई देता है। किन्तु यह मायाजाल का परिणाम है कि प्रकृति तो दिखाई देती है और प्रकृति से परे अव्यय पुरुष प्रत्यक्ष नहीं होता। परिणामस्वरूप हम प्रकृति की उपासना में ही लीन हैं और इसी कारण जन्म-मरण के चक्र में उलझे रहते हैं।

सांख्य दर्शन और वेदान्त दर्शन में यह अन्तर है कि सांख्य अहम् को महत् से और महत् को प्रकृति से उत्पन्न हुआ मानता है किन्तु वेदान्त अहम् का अवलम्बन अव्यय पुरुष को मानता है। यह अव्यय अक्षर का भी आलम्बन है। यदि समस्त विश्व को अपना शरीर मानने वाला अव्यय ईश्वर है तो चौरासी अंगुल के शरीर को अपना शरीर मानने वाला अव्यय जीव है। जीव अव्यय की अन्तिम गति ईश्वर अव्यय है। माया के कारण अव्यय अक्षर में उसी प्रकार ओत–प्रोत हो गया है जिस प्रकार चीनी पानी में घुल-मिल जाती है। जब तक अव्यय का आश्रय न लिया जाए तब तक सत्य का पता नहीं लग सकता।

वैशेषिक दर्शन क्षर को सब कुछ मानता है। सांख्य दर्शन अक्षर को सब कुछ मानता है। वेदान्त अव्यय को ही सब कुछ मानता है। इस विवाद के कारण जिज्ञासु अथवा साधक को बहुत भ्रम हो जाता है। जब तक इस भ्रम का निवारण न हो तब तक व्यक्ति वाग्विलास तो कर सकता है किन्तु सत्य को नहीं जान सकता।

विवाद का हल

इस विवाद को हल करना होगा। वस्तुस्थिति यह है कि सृष्टि के तीन स्तर हैं – स्थूल, सूक्ष्म और कारण। स्थूल का सम्बन्ध क्षर से, सूक्ष्म का सम्बन्ध अक्षर से और कारण का सम्बन्ध अव्यय से है। भारतीय मनीषियों ने इन तीनों का ज्ञान क्रमिक रूप में दिया। हमारा लक्ष्य भले ही अव्यय पुरुष का साक्षात् करना हो किन्तु उसके लिए क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष को भी जानना होगा। वैशेषिक दर्शन क्षर पुरुष का विश्लेषण करते हुए परमाणुवाद तक पहुँचता है। स्थूल जगत् की यही सीमा है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक ने ईश्वर को परमाणु का नियन्ता माना है। वैशेषिक इससे आगे जाने के लिए तैयार नहीं है। भारतीय चिन्तन की यह पहली कक्षा है। सांख्य दर्शन भारतीय चिन्तन की दूसरी कक्षा है। उसमें प्रकृति ही सब कुछ है। शास्त्र का सिद्धान्त है कि सत्य तक पहुँचने के लिए कभी असत्य का भी सहारा लिया जाता है –

उपायाः शिक्षमाणानां बालानांमुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।

जब सत्य का पता चलता है तो असत्य का निषेध कर दिया जाता है। उदाहरणतः जब हम छोटे बच्चे को यह बताते हैं कि कागज पर लिखी हुई एक आकृति 'क' है तो वस्तुतः हम सत्य नहीं कह रहे हैं। 'क' एक ध्वनि है जिसे श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकता है, कागज पर बनी हुई आकृति तो उस ध्वनि का प्रतीक मात्र है। किन्तु बालक को समझाने के लिए उस प्रतीक को ही 'क' कह दिया जाता है। इस दृष्टि से देखें तो वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त तीन दर्शन नहीं हैं अपितु एक ही दर्शन के तीन प्रकरण हैं जो क्रमशः क्षर, अक्षर और अव्यक्त का वर्णन करते हैं। ब्रह्म–सूत्र के प्रथम सूत्र में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है उस ब्रह्म को दूसरे सूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बताया गया है। यह कार्य क्योंकि अव्यय, अक्षर और क्षर तीनों मिलकर करते हैं अतः प्रथम सूत्र में ब्रह्म का अभिप्राय इन तीनों की समष्टि है। वस्तुस्थिति यह है कि पुरुष तो अव्यय ही है, अक्षर परा प्रकृति है और क्षर अपरा प्रकृति है; किन्तु अव्यय के संयोग से इन्हें भी पुरुष कह दिया जाता है।

जिस प्रकार सांख्य दर्शन का सूत्र सांख्य–सूत्र है और कारिका सांख्य-कारिका है; उसी प्रकार वेदान्त के सूत्र ब्रह्म-सूत्र हैं तो गीता को वेदान्त की कारिका मानना चाहिए। इन दोनों के रचयिता वेदव्यास ही हैं। गीता को शब्द वेद व्यास ने दिए किन्तु उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त कृष्ण के ही हैं। वेदान्त का प्रयोजन भी जीव और ईश्वर की एकता बताना है। गीता का भी यही प्रयोजन है। ईश्वर समष्टि है, जीव व्यष्टि है। इसलिए दोनों में भेद भी है। किन्तु दोनों में अंश–अंशी सम्बन्ध है इसलिए दोनों में अभेद भी है।

ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री का चौथा सूत्र है –"तत्तु समन्वयात्"। अभिप्राय यह है कि यद्यपि जगत् का साक्षात् कारण क्षर है तथापि वह अक्षर और अव्यय के समन्वय के बिना सृष्टि नहीं बना सकता अतः इन्हें भी जगत् का कारण मान लिया गया है।

गीता की गणना वेदान्त की प्रस्थान–त्रयी में होती है। प्रस्थान–त्रयी के शेष दो ग्रन्थ उपनिषद् और ब्रह्म सूत्र हैं। उपनिषद् श्रुति है; उसका मुख्य आधार ऋषियों का साक्षात् ज्ञान है। वह स्वतः प्रमाण है। उसके लिए तर्क की आवश्यकता नहीं। दूसरी ओर ब्रह्मसूत्र दार्शनिक ग्रन्थ है। उसमें उपनिषद् में प्रतिपादित सत्य का ऊहापोह पूर्वक प्रतिपादन है। ये दोनों ही ग्रन्थ सिद्धान्त की चर्चा करते हैं। गीता की विशेषता यह है कि इन दोनों में प्रतिपादित सिद्धान्त को व्यावहारिक जीवन में उतारने का उपाय उसमें बताया गया है।

जिस प्रकार सांख्य दर्शन के सत्य के साक्षात्कार का उपाय योग दर्शन में है उसी प्रकार वेदान्त के सिद्धान्त को जीवन में घटाने का उपाय गीता में है।

जिसे हम वेदान्त कह रहे हैं उसे उत्तर–मीमांसा भी कहा जाता है। वस्तुतः मीमांसा के दो भाग हैं – पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा, जिनमें क्रमशः कर्म और ज्ञान का निरूपण है। गीता की यह विशेषता है कि इसमें ज्ञान और कर्म दोनों का एक साथ निरूपण है। इस दृष्टि से गीता केवल वेदान्त का ही प्रायोगिक पक्ष नहीं बताती अपितु पूर्व-मीमांसा का व्यावहारिक पक्ष भी उजागर करती है।

गीता का त्रिपुरुषवाद

सांख्य दर्शन का प्रायोगिक पक्ष योग दर्शन में है। गीता में उसका भी समावेश कर लिया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि सभी योग के अंगों का उल्लेख गीता में है। इसका अर्थ यह होता है कि गीता भारतीय दर्शनों को विरोधी न मानकर परिपूरक मानती है। वास्तविक स्थिति भी यही है। इस स्थिति को न समझने के कारण मध्यकाल में हमारे दार्शनिक पूरे बलपूर्वक एक दूसरे के खण्डन में लग गए। साधक यह नहीं समझ पाता कि यदि ये सभी दर्शन वैदिक हैं तो एक दूसरे का खण्डन क्यों कर रहे हैं? गीता के त्रिपुरुषवाद के सिद्धान्त को समझने पर दर्शनों के पारस्परिक विरोध का परिहार हो जाता है। वस्तुतः गीता का त्रिपुरुषवाद वेद की त्रयी की अवधारणा

पर टिका है। त्रयी में ऋक्, यजु और साम आते हैं। इन तीनों के तीन देवता हैं – अग्नि, वायु और आदित्य। अग्नि से पदार्थ का निर्माण होता है, वायु का सम्बन्ध गति से है और आदित्य का सम्बन्ध तेज अथवा ज्ञान से है। ये ही सांख्य दर्शन के तीन गुण तमस्, रजस् और सत्त्व हैं। ये ही तीन गुण क्रमशः पदार्थ, क्रिया और ज्ञान का कारण बनते हैं। इनका ही सम्बन्ध क्रमशः वाक्, प्राण और मन से है। इन मन, प्राण और वाक् की त्रयी का उल्लेख यजुर्वेद और बृहदारण्यक उपनिषद् दोनों में है। अभिप्राय है कि भारतीय चिन्तन की वेद से लेकर गीतापर्यन्त सभी परम्परा त्रिपुरुषवाद से परिचित है। यह त्रिपुरुषवाद ही वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का परिहारं कर सकता है। यह सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए जैसा प्रयत्न गीता में हुआ वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

मध्यकाल के दार्शनिक जहाँ इस देश के चिन्तन को खंड–खंड में बाँट रहे हैं वहाँ वेद और गीता उस चिन्तन को एकता के सूत्र में पिरो रहे हैं। पूरे राष्ट्र को भावनात्मक रूप से जोड़ने में वेद और गीता की सही समझ ही सक्षम है। इन ग्रन्थों में ही साम्प्रदायिकता का समीचीन समाधान उपलब्ध है।



खण्ड चार

गीता का विज्ञान

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह वचन दिया कि वे उसे विज्ञान सहित ज्ञान का उपदेश देंगे तथा उस ज्ञान सहित विज्ञान को जानकर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा –

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

ज्ञान शब्द पुराना है। उससे हम सब परिचित हैं। विज्ञान शब्द भी पुराना है किन्तु उसके अर्थ के सम्बन्ध में आज एक प्रकार का भ्रम फैला हुआ है। हम विज्ञान को आज 'साइन्स' शब्द का अनुवाद मान कर वेदों में हवाई जहाज बनाने का तरीका ढूँढ़ रहे हैं। वेदों में विज्ञान है किन्तु वह विज्ञान सृष्टि-विद्या है न कि हवाई जहाज बनाने का तरीका। प्रमाण के लिए विज्ञान शब्द का अर्थ देखें। तैत्तिरीयारण्यक कहता है कि विज्ञान वह है जिसके आधार पर यज्ञ का तथा कर्म का विस्तार किया जाता है – **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि च** । गीता में विज्ञान का यही अर्थ है। गीता में यज्ञविद्या बताई गई है – इसीलिए श्रीकृष्ण ने यह कहा कि मैं विज्ञान का उपदेश दूँगा। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि गीता में हवाई जहाज, कम्प्यूटर अथवा दूरदर्शन बनाने की विद्या बताई गई है।

विज्ञान का अर्थ यज्ञ विद्या अर्थात् सृष्टि विद्या – विज्ञान का यह अर्थ स्पष्ट हो जाने पर कि विज्ञान का अर्थ यज्ञ विद्या है हम यह भी समझ लें कि यज्ञ विद्या सृष्टि विद्या ही है। पुरुष सूक्त में स्पष्ट बताया गया है कि यह सृष्टि एक यज्ञ से उत्पन्न हुई। उधर हम यह भी सुनते हैं कि यह सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न हुई। इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। ब्रह्म कारण है, सृष्टि कार्य है तथा यज्ञ वह प्रक्रिया है जिस प्रक्रिया द्वारा ब्रह्म रूपी कारण से सृष्टि रूपी कार्य उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया को बतलाना सृष्टि विद्या अथवा विज्ञान का कार्य है।

ब्रह्म कारण है। वह एक है । श्रुति बारम्बार ब्रह्म को एक तथा अद्वितीय बता रही है – **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**। यही अद्वैतवाद का आधार है। ब्रह्म तो सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत भेद से रहित है ही, उससे उत्पन्न होने वाला विश्व भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है – **ब्रह्मैवेदं सर्वम्**। कारण–कार्य में दो प्रकार का सम्बन्ध रहता है। पिता से पुत्र उत्पन्न होता है तो पुत्र पिता से पृथक् हो जाता है। समुद्र से तरङ्ग उत्पन्न होती है तो तरङ्ग समुद्र से पृथक् नहीं हो जाती। इसे ही विवर्त कहा जाता है। यह विश्व ब्रह्म का विवर्त है। जो जिसका विवर्त होता है वह उसी से उत्पन्न होता है, उसी पर स्थित होता है तथा उसी में विलीन हो जाता है। घट मिट्टी से बनता है, मिट्टी पर ही स्थित रहता है तथा मिट्टी में ही विलीन हो जाता है। घट बनने से पहले भी मिट्टी थी, घट बनने के बाद भी मिट्टी ही है तथा घट के नष्ट हो जाने पर भी मिट्टी ही रह जाती है। सत्य तो मिट्टी है, घड़ा, सुराही, शिकोरे ये नाम–रूप के विकार हैं। तत्त्वतः घड़ा, सुराही और शिकोरा मिट्टी ही है। '**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**' का यही अभिप्राय है। यह विश्व उत्पन्न होने से पहले, उत्पन्न होने के बाद तथा प्रलय के पश्चात् भी ब्रह्म ही है। हाँ, सृष्टि के समय नाम–रूप पदार्थों में नानात्व बना देते हैं, किन्तु एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से तत्त्वतः भिन्न नहीं होता क्योंकि दोनों ही तत्त्वतः उसी प्रकार ब्रह्म हैं जिस प्रकार दो लहरें तत्त्वतः समुद्र ही होती हैं, यद्यपि दिखाई दो देती हैं। अद्वैतवाद का यही मर्म है। इस अद्वैत अथवा एकत्व को समझ लेना ही ज्ञान है। इसी ज्ञान की प्रशंसा श्रुति करती है कि जिसने एकत्व को जान लिया उसका शोक और मोह दूर हो जाता है – **तत्र को मोहः कः शोक**

एकत्वमनुपश्यतः। इसी अद्वैत की प्रशंसा वेदान्ती करते हैं। करनी भी चाहिए क्योंकि यह उत्तर मीमांसा का विषय है।

उत्तर मीमांसा के साथ पूर्व मीमांसा भी जुड़ी है। पूर्व और उत्तर शब्द ही बता रहे हैं कि दोनों मीमांसा के दो पक्ष हैं। दुर्भाग्य से हमने इन दोनों को पूरक न मानकर विरोधी मान लिया। उत्तर मीमांसा का विषय ब्रह्मज्ञान है तो पूर्व मीमांसा का विषय यज्ञविज्ञान है। ब्रह्मज्ञान यदि अनेकत्व में एकत्व को दिखलाता है तो यज्ञविज्ञान यह बताता है कि एक अनेक में किस प्रकार परिणत हो गया। अनेकत्व में एकत्व को देखना यदि ज्ञान है तो एकत्व से अनेकत्व की उत्पत्ति का रहस्य जान लेना विज्ञान है। ब्रह्मज्ञान की चर्चा इस देश में बहुत होती है किन्तु यज्ञविज्ञान का रहस्य अल्प परिचित ही है। यद्यपि हम यज्ञ को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं तथापि हमारे मानस में यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि परम तत्त्व तो ब्रह्म है। वही ज्ञेय है। यज्ञ को हमने वायु की शुद्धि के साधन तक सीमित कर दिया है अथवा यह मान लिया कि यज्ञ से देवता प्रसन्न होकर लौकिक फल दे दिया करते हैं।

यज्ञ की अवधारणा – यज्ञ का इतना संकुचित अर्थ करना हमारे अज्ञान का सूचक है। गीता में यज्ञ की भूरि-भूरि प्रशंसा है। कहा गया है कि जो व्यक्ति यज्ञ के लिए कर्म करता है उसके सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं – **यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**। जो यज्ञशेष का अमृत भोगते हैं वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं – **यज्ञ-शिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्**। स्पष्ट है कि गीता की यज्ञ की अवधारणा उस सामान्य अवधारणा से भिन्न है जिसके अनुसार यज्ञ स्वर्ग का साधन मात्र है। यहाँ तो यज्ञशेष के भोगने का फल सनातन ब्रह्म की प्राप्ति बताया गया है। ऐसी स्थिति में यज्ञविज्ञान को किसी भी प्रकार ब्रह्मज्ञान से हीन नहीं माना जा सकता।

यज्ञविज्ञान पर एक विहङ्गम दृष्टि डालना उचित होगा। ब्रह्म अनन्त अपरिमित देशकाल से अवच्छिन्न है – यह सर्वजन प्रसिद्ध है। यह विश्व सान्त परिमित और देशकाल से अवच्छिन्न है – यह प्रत्यक्ष गोचर ही है। ब्रह्म कैसे विश्व रूप में परिणत होता है – यही विचार हमें यज्ञविज्ञान के अन्तर्गत करना है।

जो अपरिमित है वह सुखी है और शान्त है। कामना ही उसकी शान्ति को भङ्ग कर सकती है। श्रुति कहती है कि ऐसी ही एक कामना प्रजापति के मन में आई कि मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ – **एकोऽहं बहु स्याम्**। इस कामना का उत्पन्न होना था कि ब्रह्म अपरिमित से परिमित हो गया। अपरिमित ब्रह्म जैसे ही परिमित हुआ, वह पुरुष बन गया। पुर नाम सीमा का है; जिसकी सीमा-रेखा है वही पुर है – **लेखा हि पुरः**। जो पुर में रहे, वही पुरुष है। ब्रह्म की कामना उसे सीमित बना कर पुरुष बना देती है। यह पुरुष तप करता है। तप आन्तरिक व्यापार है – मानसी योजना है। इसी मानसी योजना की क्रियान्विति के लिए किया गया व्यापार श्रम है – यही विश्व को जन्म देता है। मन से कामना होती है, प्राणों से तप और वाक् से श्रम। विश्व के निर्माण से पुरुष को ये तीन सोपान पार करने होते हैं।

परिमित होने का अर्थ है – केन्द्र की उत्पत्ति। अपरिमित की परिधि ही नहीं है तो केन्द्र कहाँ से होगा? कामना जैसे ही ब्रह्म को सीमित करती है उसका एक केन्द्र बन जाता है। यह केन्द्र ही प्रजापति है जिसके लिए श्रुति कहती है कि यह प्रजापति स्वयं अजायमान है किन्तु सबके गर्भ में रह कर नानाविध सृष्टि कर देता है –

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।

प्रजापति सृष्टि बनाता नहीं है, प्रत्युत स्वयं ही सृष्टि बन जाता है। केन्द्र ही गति करके रेखा बन जाता है और रेखा ही परिधि बनकर पिण्ड बन जाती है। तत्व तो केन्द्रबिन्दु ही है, उसी का एक रूप व्यास है, दूसरा रूप परिधि है।

पुरुष जब सृष्टि रूप में परिणत होता है तो अपनी बलि दे देता है। यही पुरुष-मेध यज्ञ है। अपरिमित का सीमा में बँध जाना ही उसकी बलि है। यह बलिदान ही विश्व का कारण है। प्रश्न होता है कि ब्रह्म सीमा में

कैसे बँधता है? उत्तर यह है कि पुरुष को सीमा में बाँधने वाली शक्ति का नाम माया है। माया उसे इसलिए कहते हैं कि वह परिमित बना देती है। माया कहाँ से आती है? उत्तर यह है कि माया ब्रह्म की शक्ति है तथा शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद होता है। अतः माया की स्वीकृति से द्वैत का प्रसङ्ग नहीं आता।

थोड़ा और स्पष्ट करें। ब्रह्म कूटस्थ है आनन्दरूप है, रस रूप है – रसो वै सः। वह तो कृतकृत्य है, उसे सृष्टि उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता है। ब्रह्म रस रूप है किन्तु उस रस के साथ ही बल भी ब्रह्म में है। ये बल कूटस्थ नहीं है, अपितु क्रियारूप है। प्रलयावस्था में वे बल सुषुप्त रूप में ब्रह्म के साथ रहते हैं । ब्रह्म में जैसे ही सिसृक्षा होती है ये बल जागरूक हो जाते हैं। माया इन्हीं बलों में से एक है। वही ब्रह्म को सीमित बनाती है।

सीमित होते ही ब्रह्म में क्षोभ हो जाता है। यह क्षोभ उसकी शान्ति भङ्ग कर देता है। किन्तु ब्रह्म तो आनन्द रूप है; उसकी शान्ति भङ्ग होने का यह अर्थ नहीं है कि वह दुःखी हो जाता है। आनन्द के दो रूप हैं– प्रथम शान्तानन्द, जिसका अनुभव हमें सुषुप्ति अवस्था में होता है जबकि हमें कुछ नहीं चाहिए, द्वितीय समृद्धानन्द है जिसका अनुभव हमें तब होता है जब हम जिस पदार्थ को चाहें वह पदार्थ हमें मिल जाए। प्रलयावस्था में ब्रह्म में शान्तानन्द था तो सर्जन के समय उसमें समृद्धानन्द रहता है।

समृद्धानन्द का आधार यज्ञ है। क्षोभ के कारण पुरुष में अशनाया उत्पन्न होती है। अशना का अर्थ है– भूख। अशना को भोजन पहुँचाने वाली शक्ति अशनाया है। जिसे हमने ऊपर केन्द्र कहा है, उसे हृदय भी कहा जाता है। हृदय का अर्थ है जो हरति अर्थात् लाता है, द्यति अर्थात् देता है और यच्छति अर्थात् संयमित करता है। इसे हृदय में अशनाया बल भोजन लाकर देता है – यही यज्ञ में आहुति का पड़ना है। यह विष्णु प्राण का कार्य है। जो भोजन पदार्थ का अङ्ग बन जाता है, वह ब्रह्मौदन है। शेष भाग को पदार्थ बाहर फेंक देता है, यही प्रवर्ग्य है। यह शिव प्राण का कार्य है। इस आदान–प्रदान का संयमन करना ब्रह्मा प्राण का कार्य है। इस प्रकार ब्रह्मा–विष्णु–महेश मिलकर उस यज्ञ को चलाते हैं जिस यज्ञ पर यह संसार टिका है। यह यज्ञ छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े पिण्ड में चल रहा है। यही यज्ञ की सर्वव्यापकता है। जब तक आहरण और प्रदान की क्रिया में सन्तुलन बना रहता है, तब तक ही वह यज्ञ चलता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है। विश्व की स्थिति के लिए जितना ब्रह्मौदन आवश्यक है, प्रवर्ग्य भी उतना ही आवश्यक है क्योंकि एक का प्रवर्ग्य ही दूसरे का ब्रह्मौदन बनता है। जो ऑक्सीजन पौधे छोड़ते हैं वे हमारे लिए जीवनप्रद है, जो श्वास हम छोड़ते हैं वह पौधों का भोजन है। यह एक चक्र है, जिसका अनुकरण करना हम सबका कर्त्तव्य है। हम प्रकृति से कुछ लें, तो प्रकृति को कुछ दें भी। तब ही सृष्टि का क्रम बना रह सकता है। हम प्रवर्ग्य का भोग करें। यज्ञशेष ही प्रवर्ग्य है। ब्रह्मौदन पर हमारा अधिकार नहीं है। सृष्टि का यह यज्ञ ब्रह्म में समृद्धानन्द का सर्जन करता है। इसीलिए हमने कहा कि प्रलयावस्था में ब्रह्म में शान्तानन्द है तो सृष्टि के समय उसमें समृद्धानन्द है। आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है, वह उससे कभी भी छूटता नहीं है।

ब्रह्म में इच्छा की उत्पत्ति का प्रश्न – एक प्रश्न सदा बना रहता है कि ब्रह्म जब परिपूर्ण है तो उसमें इच्छा उत्पन्न ही क्यों होती है। सायणाचार्य ने नासदीय सूक्त का भाष्य करते समय इस प्रश्न का समाधान इस रूप में किया है कि जब जीवात्माओं के कर्म परिपक्व होकर फलोन्मुख होते हैं तो परमात्मा इसलिए सृष्टि उत्पन्न करते हैं कि जीव अपने कर्मों का फल भोग सकें। जब तक जीवों के कर्म अपरिपक्व रहते हैं तब तक सृष्टि की आवश्यकता नहीं होती। जीवों ने ये कर्म पहले कल्प में किए होते हैं। कल्पों की परम्परा अनादि है, अतः यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि प्रथम कल्प में कर्म कहाँ से आए।

विषय गम्भीर है। शास्त्रों में सृष्टिविद्या पर बहुत विस्तार से विचार किया है। फिर भी पहेली पूरी तरह सुलझ गई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नासदीय सूक्त ने यह साहसपूर्ण घोषणा कर दी है कि मालूम नहीं सृष्टि

का रहस्य पूर्णतः परमात्मा भी जानता है या नहीं – **योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।** माया का मायात्व यही तो है कि उसे सत्, असत् अथवा सदसद् किसी भी कोटि में नहीं रख सकते –

न सती नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद् विलक्षणा माया वस्तु प्रकृतिरिष्यते।।

किन्तु इस घोषणा का यह अर्थ नहीं कि हम अज्ञेयवाद के अनुयायी बन जाएँ। हमें सच्चे वैज्ञानिक की भांति सृष्टि विद्या के रहस्य को समझने का निरन्तर प्रयास करना है। इसीलिए तो स्वाध्याय को ऐसा यज्ञ कहा गया जिसका अनुष्ठान मृत्यु पर्यन्त करना चाहिए जिसका स्वाध्याय–चिन्तन–मनन चल रहा है, उसका विकास निश्चित है। जिसका स्वाध्याय–यज्ञ बन्द हो गया वह जीवित रहते हुए भी उस जड़ के समान है जिसका क्षरण तो होता है किन्तु विकास नहीं।

गीता की कर्म–मीमांसा

हम अपनी दिनचर्या पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि हमारी सारी चर्या दो भागों में बँटी है – या तो हम कुछ कर्म करते हैं या कुछ जानते हैं। करने का विश्लेषण कर्म–मीमांसा में होता है, जानने का विश्लेषण ज्ञान–मीमांसा में होता है। ये दोनों मीमांसा मिल कर पूरे जीवन का विश्लेषण कर देती हैं।

कर्म–मीमांसा के अन्तर्गत कर्मों का विभाजन अनेक प्रकार से किया गया है। कर्म का एक विभाजन इस प्रकार है – १. नित्य, २. नैमित्तिक, ३. काम्य, ४. नित्य नैमित्तिक, ५. नित्य काम्य, ६. नैमित्तिक काम्य।

नित्य क्रम वे हैं जिनके किए बिना हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। भोजन करना, पानी पीना, मल–मूत्र का विसर्जन, वे ऐसे कर्म हैं जो न हों तो हम जीवित ही न रहें। प्रतिदिन सन्ध्या करना नित्य कर्म है। प्रतिदिन स्नान करना भी नित्य कर्म है। प्रातः स्नान किया जाए तो ये नित्य कर्म कहलाएगा किन्तु किसी विशेष कारण से स्नान किया जाए तो वह नित्य नैमित्तिक कर्म कहलाएगा। प्रातः स्नान करने के बाद भी यदि कोई घर की सफाई में लग जाए और उसका शरीर मैला हो जाए तो दोपहर को दुबारा भी स्नान करना पड़ सकता है, ये नित्य नैमित्तिक कर्म हुआ। यहाँ नित्य का अर्थ प्रतिदिन नहीं है अपितु आवश्यक है। काम्य कर्म वे हैं जो विशेष फल की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, यह काम्य कर्म हुआ। पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ किया जाता है, यह भी काम्य कर्म हुआ।

कर्मों में आदान–प्रदान – इन सभी प्रकार के कर्मों में आदान–प्रदान होता है। हम सन्ध्या करें तो प्राण शक्ति देनी पड़ती है। जब हम प्राण–शक्ति नहीं देना चाहते, तो सन्ध्या नहीं करते किन्तु यदि हम सन्ध्या न करें तो आत्मबल भी प्राप्त नहीं होता। अभिप्रायः यह है कि प्रत्येक कर्म में पहले कुछ देना होता है तभी कुछ प्राप्त होता है। यह ऐसा नियम है जिसका पालन सबको सर्वत्र करना ही पड़ता है। इसीलिए इसे सनातन धर्म कहा जाता है।

भोजन खाने का कर्म सभी करते हैं। हम प्रायः दाल-रोटी को भोजन समझते हैं। किन्तु वस्तुतः अन्न सात हैं – **यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत् पिता।** ये सात अन्न हैं – १. ज्ञान, २. क्रिया, ३. वाक्, ४. वायु, ५. तेज, ६. जल, ७. मिट्टी।

इनमें ज्ञान का सम्बन्ध मन से है, क्रिया का सम्बन्ध प्राण से है और शेष पाँच अन्नों का सम्बन्ध वाक् अर्थात् स्थूल शरीर से है। ये मन, प्राण और वाक् मिल कर ही हमारा स्वरूप बनता है। उपनिषदों का कहना है कि हमारे शरीर में जितने अस्थि आदि ठोस पदार्थ हैं वे सब पृथ्वी से बने हैं, रक्त आदि तरल पदार्थ पानी से बने हैं, शरीर की उष्णता तेज से बनी है, श्वास वायु से बना है, शरीर का खाली स्थान आकाश से बना है–

अस्मिन पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिन सा पृथ्वी यद् द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः यत्संचरति स वायुः यत् सुषिरं तदाकाशम् इति।

इन पाँचों भूतों की स्थिति प्राण के बिना सम्भव नहीं है और प्राण मन के बिना सम्भव नहीं है। सूर्य हमारे इन सातों अन्नों को लेता रहता है। इस कारण हमारे शरीर में जो कमी आ जाती है उसको पूरा करने के लिए सातों प्रकार के अन्न हमें ग्रहण करने होते हैं। सात अन्नों में ज्ञान से हमारा मन बलवान् बनता है, क्रिया से प्राण बलवान् बनता है। वाक् से आकाश को भोजन मिलता है। इसीलिए हम अकेले में चुपचाप नहीं बैठ सकते, कोई न कोई बात करने के लिए चाहिए। यदि कोई न हो तो रेडियो सुनते रहते हैं या दूरदर्शन का कार्यक्रम देखते हैं। इसी प्रकार श्वास के लिए वायु, उष्णता के लिए तेज चाहिए। ज्ञान, क्रिया, शब्द, तेज और वायु – ये पाँच प्रकार के अन्न हमें स्वतः प्राप्त होते रहते हैं लेकिन जल और मिट्टी अर्थात् गेहूँ इत्यादि अनाज प्रयत्नपूर्वक जुटाने पड़ते हैं। कुआं खोदे बिना पानी नहीं मिलता, खेती किए बिना गेहूँ आदि प्राप्त नहीं होते। वे अन्न केवल चेतन ही नहीं खाते हैं – जड भी खाते हैं। यदि कोई मकान बहुत दिनों बन्द रहे उसमें वायु या प्रकाश न पहुँचे तो मकान जर्जर होने लगता है।

यदि अज्ञानवश कोई दूषित पदार्थ खा लिया जाए तो रोग हो जाता है उसे दूर करने के लिए जो औषधि इत्यादि ली जाती है वह नैमित्तिक कर्म है। हमारे शरीर के भी तीन भाग हैं। ऊपर हमने केवल स्थूल शरीर की चर्चा की। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर भी है। आयुर्वेद में इन्हीं तीन को शरीर, सत्त्व और आत्मा नाम से पुकारा गया है। स्थूल शरीर की तीन धातुएँ हैं – वात, पित्त और कफ। वात् वायु है, पित्त अग्नि और कफ पानी है। जब तक इन तीनों में समानता बनी रहती है तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। गीता में इसके लिए कहा गया है –

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

युक्त आहार का लेना नित्य कर्म है। यदि शरीर में रोग हो जाए तो उसके शमन के लिए औषधि लेना नैमित्तिक कर्म है।

आयुर्वेद जिसे सत्त्व कहता है दर्शन उसे सूक्ष्म शरीर कहता है। इसी में सत्त्व, रजस् तथा तमस् नामक तीन गुण रहते हैं। इन तीनों के तारतम्य के आधार पर हमारी प्रकृति बनती है। एक बात ध्यान देने की यह है कि जहाँ गुण है वहाँ दोष अवश्य है –

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः

जहाँ गुण नहीं है वहाँ दोष भी नहीं है तथा जहाँ दोष नहीं है वहाँ गुण भी नहीं है। यदि निर्गुण बनना है तो निर्दोष बनना होगा।

तीन प्रकार के शरीर – स्थूल शरीर के घटक वात, पित्त और कफ हैं। सूक्ष्म शरीर के घटक काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह तथा मात्सर्य हैं। इनमें प्रथम तीन रजोगुण से तथा अन्तिम तीन तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। यदि ये छह न रहें तो सत्त्व अर्थात् सूक्ष्म शरीर अथवा मन भी नहीं रहेगा। इन छहों के बीच सन्तुलन बनाए रखने के लिए किए जाने वाले सन्ध्या तर्पण, गुरुसेवा, देवदर्शन आदि कर्म नित्य हैं।

सूक्ष्म शरीर के बाद कारण शरीर आता है। इस शरीर में विद्या तथा अविद्या रहती है। इनके दोनों के बीच भी सन्तुलन बनाए रखने के लिए किए जाने वाले कर्म नित्य कहलाते हैं।

इन तीनों प्रकार के शरीरों में स्थूल शरीर की रक्षा आयुर्वेद द्वारा, सूक्ष्म शरीर की रक्षा धर्मशास्त्र द्वारा तथा कारण शरीर की रक्षा वेदान्त द्वारा होती है। इन तीनों शास्त्रों को परस्पर सामञ्जस्य बना कर चलना होता है।

इन तीनों ही प्रकार के शास्त्रों में तीनों प्रकार के कर्मों का विधान है। उदाहरणतः आयुर्वेद में सन्तुलित भोजन का विधान नित्य कर्म के अन्तर्गत आएगा तथा रोग होने पर समुचित औषधि का विधान नैमित्तिक कर्म के अन्तर्गत आएगा। शरीर को पुष्ट करने के लिए रसायन आदि का विधान काम्यकर्म माना जाएगा।

इन तीनों प्रकार के कर्मों में नित्य, नैमित्तिक कर्म त्याज्य नहीं हैं क्योंकि उनके द्वारा स्वरूप की रक्षा होती है। यदि स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा तो फिर मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी। युक्ताहार न लेने पर शरीर दुर्बल हो जाएगा और दुर्बल शरीर से धर्म की साधना भी न होगी। अतः स्वरूप रक्षा के लिए किए गए नित्य नैमित्तिक कर्म बन्धन का कारण नहीं हैं।

बन्धन का कारण काम्य कर्म हैं। काम्य कर्म विशेष–वृद्धि के लिए किए जाते हैं। विशेष–वृद्धि की कामना स्वरूपरक्षा के लिए नहीं की जाती अपितु रागवश की जाती है। यह राग ही आसक्ति के कारण वासना उत्पन्न करता है। यह वासना ही अच्छी-बुरी गति का कारण बनती है। इस वासना को ही जैन परम्परा राग और बौद्ध परम्परा तृष्णा नाम से अभिहित करती है। निषेध आसक्ति का है, कर्म का नहीं।

भारतीय चिन्तन – भारतीय चिन्तन में स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर पर अधिक बल दिया गया। एलोपैथी की अनेक औषधियाँ शरीर की वेदना को कम कर देती हैं, किन्तु हृदय को दुर्बल बना देती हैं। यह सूक्ष्म शरीर की कीमत पर स्थूल शरीर को आराम देने का उदाहरण हुआ। पाप कर्म द्वारा पैसा प्राप्त करना कारणशरीर की कीमत पर स्थूल शरीर के पोषण का उदाहरण बनेगा। शास्त्र ऐसे समस्त कर्मों का निषेध करता है जिनसे एक शरीर को तो लाभ हो जाए किन्तु दूसरे शरीर को हानि पहुँचे। स्थूल शरीर के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट होने वाले व्यक्ति को शास्त्रों के ऐसे सब विधान अनुचित प्रतीत होते हैं। यह स्थूल दृष्टि का फल है।

हमारे ऊपर तीन प्रकार के आक्रमण होते रहते हैं – आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक। प्रकृति प्रदत्त भूकम्प आदि सङ्कट आधिदैविक हैं। अभी अनुसन्धान से यह बात सम्मुख आई है कि बूचड़खानों में क्रूरतापूर्वक मारे जाने वाले पशुओं का करुण क्रन्दन भूकम्प का कारण बनता है। शास्त्रों में प्राकृतिक आपदाओं से बचने के उपायों का विधान है। इसके लिए ब्रह्मशक्ति अपेक्षित है। मनुष्यकृत आपदाएँ आधिभौतिक कहलाती हैं। इसके लिए ज्ञानशक्ति अपेक्षित है। शत्रुओं के आक्रमण से सैनिक ही देश को बचाते हैं। आध्यात्मिक दुःख स्वयं की गलती से आते हैं। इसके दूर करने के लिए विवेक की आवश्यकता है।

अतिवृष्टि-अनावृष्टि दैव के आधीन है, वह दुःख है। किन्तु परिमित वृष्टि अमृत है। आधिभौतिक आक्रमण भी विवेकपूर्वक किया जाए तो इष्ट ही होता है। पागल को बिजली के करंट लगाने से लाभ होता है। आध्यात्मिक दोष भी कभी सुखप्रद हो जाता है। देर तक सोते रहने पर ट्रेन छूट जाती है तो बुरा लगता है। लेकिन यदि वह ट्रेन आगे जाकर दुर्घटनाग्रस्त हो जाए तो उसका छूट जाना सुखप्रद सिद्ध हो जाएगा। वस्तुस्थिति यह है कि यदि कोई भी कर्म भगवदर्पण बुद्धि से किया जाए तो वह सुखदायी ही होता है।

गीता का निष्काम कर्मयोग

सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ कामना से हुआ। प्रजापति ने कामना की कि मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। यह कामना ही सृष्टि का मूल बनी। यह कामना न होती, तो सृष्टि भी न होती। सृष्टि ही नहीं, कोई भी कर्म बिना कामना के नहीं हो सकता। हम जो भी कार्य करते हैं, उसके पीछे प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई न कोई कामना अवश्य रहती है।

ऐसी स्थिति में निष्काम कर्म का क्या अर्थ होगा? कामना दो प्रकार की है – एक सहज कामना, दूसरी कृत्रिम कामना। निष्काम कर्म का अर्थ होगा – सहज कामना से किए गए कर्म। एक उदाहरण से इसे समझें। भोजन का समय हुआ। पत्नी ने पति को कहा कि भोजन कर लीजिए। पति भोजन के स्थान पर चले आए और भोजन करने लगे। यहाँ पति में भोजन करने की सहज इच्छा थी। दूसरे दिन पत्नी ने फिर कहा कि भोजन कर लीजिए। पति ने पूछा कि क्या बना है। पत्नी ने कहा कि आज तो आपकी मनपसन्द की मटर–पनीर की सब्जी बनाई है। पति ने कहा कि आज खाने का मन तो नहीं था लेकिन मटर–पनीर की सब्जी का नाम सुनकर खाने की इच्छा पैदा हो गई। इसे बोलचाल की भाषा में हम इस प्रकार कहेंगे कि पहले दिन सच्ची भूख थी दूसरे दिन नकली भूख पैदा कर ली गई। शास्त्रीय भाषा में कहेंगे कि पहले दिन इच्छा उत्थित अर्थात् स्वयं पैदा हुई थी, दूसरे दिन इच्छा उत्थाप्य अर्थात् बलपूर्वक पैदा की गई थी। दोनों कर्मों का फल भी प्रत्यक्ष है। पहले दिन सच्ची भूख पर किया गया भोजन स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ, उससे शरीर की शक्ति बढ़ी। दूसरे दिन भूख न होने पर भी स्वादवश किया गया भोजन लाभप्रद सिद्ध होने के स्थान पर अजीर्ण रोग का कारण बना। शास्त्रीय भाषा में कहें तो सहज कामना अथवा उत्थित आकांक्षा से किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं बना जबकि कृत्रिम कामना अथवा उत्थाप्य आकांक्षा से किया गया कर्म बन्धन का कारण बन गया।

आजकल 'डाइटिंग' का फैशन है। अब डॉक्टर इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि भोजन करने का सर्वोत्तम नियम यह है कि जब स्वाभाविक भूख लगे तो अवश्य खाना चाहिए। किन्तु जब तक स्वाभाविक भूख न लगे तब तक भोजन कदापि नहीं करना चाहिए। भोजन करने की एक तालिका बना कर भूख लगे तब उसे दबाना और जब भूख न हो तब भी यन्त्रवत् खा लेना – रोगों की जड़ है। लोग मोटापा कम करने के लिए 'डाइटिंग' अर्थात् ऊनोदरी करते हैं किन्तु फिर भी उनका मोटापा कम नहीं होता। अस्थाई रूप में ऊनोदरी से मोटापा कम हो भी जाए तो ऊनोदरी छोड़ते ही मोटापा फिर आ घेरता है। मोटापा घटाने का सर्वोत्तम उपाय है – जब तक स्वाभाविक भूख न लगे तब तक न खाना और उतना ही खाना जितना स्वाभाविक भूख के लिए आवश्यक है, स्वादवश नहीं खाना। इसके लिए स्वाभाविक भूख और कृत्रिम भूख में अन्तर करना सीखना होगा।

स्वाभाविक और कृत्रिम इच्छाएँ – केवल भूख ही नहीं, हमारी प्रत्येक इच्छा दो प्रकार की हो सकती है – स्वाभाविक और कृत्रिम। गीता का मूल मंत्र है कि स्वाभाविक कामना से प्रेरित होकर किए कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते, कृत्रिम इच्छा से प्रेरित कर्म सदा बन्धन का कारण बनते हैं। आज की दुनिया विज्ञापनों की है। प्रायः विज्ञापन हममें कृत्रिम इच्छाएँ जगाते हैं। ऐसे विज्ञापनों के पीछे उपभोक्ता का हित निहित नहीं रहता अपितु विज्ञापनदाता का स्वार्थ निहित रहता है। विज्ञापनों के द्वारा कृत्रिम इच्छा उत्पन्न करके उपभोक्ता साधनों का अपव्यय उन उत्पादनों के क्रय करने में हो जाता है जो उत्पादन अनावश्यक ही नहीं हानिप्रद भी हैं। फलतः आवश्यक पदार्थों के खरीदने के लिए पैसा बचता ही नहीं। आज हमारी प्राथमिकताएँ रंगीन टी.वी. और फ्रिज हैं, दूध और फल नहीं। शराब को मस्ती और ऐश्वर्य का प्रतीक बनाकर तथा धूम्रपान को पौरुष का प्रतीक बनाकर विज्ञापित किया जाता है। यदि किसी बच्चे को जन्म से किसी ऐसे नगर में रखा जाए जहाँ शराब तथा धूम्रपान का सेवन कोई भी न करता हो तो क्या उस बच्चे में कभी शराब पीने अथवा धूम्रपान करने की इच्छा उत्पन्न हो सकती है? यही इन इच्छाओं के कृत्रिम होने का प्रमाण है। प्रकृति ये इच्छाएँ पैदा नहीं करती, मनुष्य ने अपने मन से इन इच्छाओं का निर्माण कर लिया है।

इच्छाओं को हम इस प्रकार भी विभक्त कर सकते हैं कि कुछ इच्छाएँ ईश्वरीय देन हैं तथा कुछ इच्छाएँ मनुष्यकृत हैं। पैदा होते ही शिशु दुग्धपान की इच्छा करता है। यह ईश्वरीय इच्छा है। क्या कोई ज्ञानी दार्शनिक उस शिशु को यह परामर्श दे सकता है कि उसे दुग्धपान की इच्छा नहीं करनी चाहिए? यदि इच्छा–मात्र ही बन्धन

का हेतु हो तो शिशु तो जन्म से ही दुग्ध–पान की इच्छा करने के कारण बन्धन में बँध जाएगा। बन्धन में बँधने से बचने के लिए यदि वह शिशु दुग्धपान से विमुख हो जाए तो मुक्ति तो दूर की बात है, वह आत्महत्या के महत्पाप का भागी ही होगा। फलितार्थ यह हुआ कि हमारी प्रत्येक इच्छा दमन योग्य नहीं है। ईश्वरीय इच्छाएं तो पुरुषार्थ द्वारा पूरी किए जाने योग्य हैं। ईश्वरीय इच्छाओं की पूर्ति के लिए जो कर्म किए जाते हैं वे अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ की महनीय संज्ञा को प्राप्त होते हैं। जो इन पुरुषार्थों से दूर भागता है, वह त्यागी नहीं प्रत्युत तमोगुण से ग्रस्त आलसी जीव है।

शास्त्रों का प्रमाण – यह प्रश्न सचमुच विकट है कि कौन–सी इच्छाएँ ईश्वर कृत हैं और कौन–सी इच्छाएँ मनुष्य कृत कृत्रिम हैं। यदि इस विवेक का भार अल्पज्ञ मनुष्यों पर छोड़ दिया जाए तो 'मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार जितने मनुष्य हैं उतनी ही सम्मतियाँ बन जाएँगी। अतः इस विवेक का भार मनुष्य पर नहीं छोड़कर शास्त्र पर छोड़ना होगा। शास्त्र साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की वाणी है।

प्रश्न होता है कि शास्त्र अनेक हैं। हम किस शास्त्र को प्रमाण मानें? कुरान, बाइबिल और वेद की बात तो दूर की है, स्वयं वेद को मानने वालों में ही वेदान्तियों और नैयायिकों का विरोध सर्वविदित है। पूर्वमीमांसा वैशेषिक और सांख्य परस्पर विवाद कर रहे हैं। ऐसे में किस शास्त्र को प्रमाण मानें। वेद में इसका एक सटीक उत्तर दिया है। खगोल में ग्रह–उपग्रह तथा अग्नि आदि दैवी शक्तियाँ कुछ क्रियाएँ कर रही हैं। ब्रह्माण्ड का अस्तित्व इन क्रियाओं पर ही निर्भर है। आधुनिक विज्ञान बताता है कि इन प्राकृतिक क्रियाओं में यदि थोड़ा-सा भी हेर-फेर हो जाए तो प्रलय अथवा महाप्रलय तक हो सकती है। इन प्राकृतिक क्रियाओं का संतुलन ही विश्व को धारण किए है। इन प्राकृतिक क्रियाओं को धर्म कहा जा सकता है। धर्म उसे ही तो कहते हैं जो धारण करे। प्रकृति में चलने वाली ये क्रियाएँ मेरी अथवा आपकी इच्छाओं से तो हो नहीं रही हैं। अतः इन क्रियाओं को ईश्वरीय इच्छाओं का ही परिणाम मानना होगा।

हम भी उन्हीं तत्त्वों से बने हैं जिन तत्त्वों से विश्व बना है। विश्व में चलने वाली क्रियाओं से यदि विश्व का स्वरूप स्थिर रहता है तो उन क्रियाओं के अनुकरण पर किया गया कर्म मेरे स्वरूप को भी स्थिर रख सकता है। सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि मुझे विश्व की दैवी शक्तियों का अनुकरण करना चाहिए। वैदिक कर्मयोग का यही आधार है। वेद का स्पष्ट आदेश कि अधिदैव में जो क्रियाएँ देव कर रहे हैं वही क्रियाएँ मैं भी करूँ – **यद्देवा अकरवँस्तत्करवाणि।** इसके लिए प्रथम तो हमें वैदिक साहित्य का अध्ययन करना होगा और फिर वैदिक साहित्य में विहित कर्मों का अनुष्ठान करना होगा।

मनु ने एक श्लोक में हमारे सामने एक दुविधा उपस्थित की है – कामात्मता प्रशस्त नहीं है और अकामता उपलब्ध नहीं है – **कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।** ऐसी स्थिति में हम सभी कामना से ग्रस्त होने के कारण निन्दनीय बन जाएँगे। मनु का समाधान है कि अकामता तो उपलब्ध नहीं है किन्तु कामना को सीमित अवश्य किया जा सकता है। हम वेद के अध्ययन की कामना करें तथा वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान की कामना करें – **काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।** इन दो कामनाओं के अतिरिक्त शेष सभी कामनाएँ गर्हित हैं। वेद के अध्ययन से अधिदैव का स्वरूप ज्ञात होगा। यह ज्ञान पक्ष हुआ। इसी मार्ग से हमें अपने धर्म का ज्ञान होगा, क्योंकि वेद ही धर्म का मूल है – **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।** धर्म के ज्ञान के अनन्तर उसका अनुष्ठान करना वैदिक कर्मयोग है। यह कर्मपक्ष हुआ। हमारी कामनाओं की ये ही दो सीमाएँ हैं। ज्ञान की इच्छा अर्थात् जिज्ञासा और कर्म की इच्छा अर्थात् चिकीर्षा। किन्तु इन दोनों के साथ वेद की शर्त लगी है। वेद को जानने की इच्छा करनी चाहिए तथा वेदोक्त कर्मों को करने की इच्छा करनी चाहिए।

यह सब व्यवस्था प्रथम दृष्टि में साम्प्रदायिक जैसी लगती है। वेद एक सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ माने जाते हैं। उनको केन्द्र में रखकर की गई व्यवस्था सार्वभौम तो नहीं ही हो सकती है। गीता भी एक सम्प्रदाय विशेष का ही ग्रन्थ माना जाता है। वेद तथा गीता की चर्चा से क्या हम एक सम्प्रदाय विशेष का ही पोषण कर रहे हैं। सम्प्रदायवाद के भयानक परिणाम पूरे विश्व में भोगे गए हैं। वेद तथा गीता भी क्या वैसे ही सम्प्रदायवाद को प्रोत्साहित करने में निमित्त बनेंगे?

वेद कुछ ग्रन्थों का नाम तो है किन्तु वेद कुछ तत्त्वों का नाम भी है। हम विश्व में देखें तो तीन तत्व दृष्टिगोचर होते हैं – अर्थ, क्रिया और ज्ञान। संक्षेप में अर्थ का नाम ऋक्, क्रिया का नाम यजुः और ज्ञान का नाम साम है। अर्थ, क्रिया और ज्ञान को वेद की भाषा में मूर्त्त, गति और तेज कहते हैं। ये तीन तत्व सार्वभौम हैं, सर्वव्यापक हैं। यही तीन तत्त्व त्रयी है, ये ही त्रयी वेद है। इसी त्रयी के आधार पर अग्नि, वायु और आदित्य की देवत्रयी, भूः भुवः स्वः की लोकत्रयी तथा प्राण, अपान, व्यान की प्राणत्रयी प्रतिष्ठित है। देवत्रयी अधिदैव है, लोकत्रयी अधिभूत है, प्राणत्रयी अध्यात्म है। अधिदैव, अधिभूत तथा अध्यात्म से बहिर्भूत कुछ भी नहीं है। अतः वेद सर्वव्यापक है। यह दृष्टि समझ में आ जाए तो यह भी समझ में आ जाएगा कि वेद साम्प्रदायिक नहीं हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने इस सम्प्रदायातीत दृष्टि को अत्यन्त व्यावहारिक रूप देते हुए यह घोषणा कर दी; जो जिस रूप में भगवान् की उपासना करता है, भगवान् उसे उसी रूप में प्राप्त हो जाते हैं।

वेद और गीता के सम्प्रदायातीत रूप पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ अपेक्षित है। अभी केवल संकेत मात्र इसलिए कर दिया गया कि गीता के निष्काम कर्म का सन्देश सम्प्रदाय की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर समझा जा सके। शास्त्र का आधार देवविज्ञान है, साम्प्रदायिक मान्यता नहीं। विज्ञान से धर्म बनता है, मान्यता से मत बन सकता है, धर्म नहीं। वेद अथवा गीता किसी मत का प्रतिपादन नहीं करते, धर्म का निरूपण करते हैं जिस धर्म का आधार सूत्र हमने ऊपर बताया है।

ईश्वरीय कामनाओं की सहजता – ईश्वरीय कामनाएँ सद्यः जात शिशु में स्तनपान की इच्छा के समान सहज ही उत्पन्न होती हैं, वे उत्पन्न की नहीं जातीं। उन ईश्वरीय इच्छाओं से प्रेरित होकर किए गए कर्म भी सहज ही होते हैं, आयासपूर्वक किए नहीं जाते हैं। यदि हमारे कर्मों में कहीं आयास का अंश है तो समझना चाहिए कि हमारे कर्मों की प्रेरणा के पीछे कृत्रिम इच्छाएँ काम कर रही हैं। जिस कर्म के पीछे आयास होगा, वह कर्म आनन्द का कारण न बन कर भारभूत ही बन जाएगा। यदि ज्ञान हमारा स्वभाव है तो कर्म भी हमारा स्वभाव है। तब ही तो गीता यह कहती है कि कोई बिना कर्म के क्षण मात्र भी नहीं रह सकता। यदि कर्म हमारा स्वभाव है तो उसे अनायास घटित होना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक किया गया कर्म स्वभाव नहीं हो सकता, वह विभाव है। गीता में उसे विकर्म कहा गया है।

क्या श्वास लेने में हमें कोई प्रयत्न करना पड़ता है? श्वास लेना एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कर्म है कि उस कर्म के बिना हम दो–चार मिनट ही जिन्दा रह सकते हैं, उससे अधिक नहीं। फिर भी उस कर्म में हमें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। श्रुति कहती है कि वेद भगवान् के निःश्वास हैं। जैसे हमें श्वास लेने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता उसी प्रकार भगवान् को वेद के निर्माण में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। किसी कालिदास अथवा रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे सच्चे कवि से पूछो कि आप इतनी अच्छी कविता लिखने में कितना परिश्रम करते होंगे तो उत्तर मिलेगा कि परिश्रमपूर्वक तो हम कोई अच्छी कविता लिख ही नहीं पाए। जब भी कोई अच्छा काव्य बना है, तो बिना प्रयत्न के सहज भाव से बना है। प्रयत्नपूर्वक तुकबन्दी हो सकती है, काव्य नहीं। देवों ने वेद बनाए तो वे वेद सहज स्फूर्त थे। अतः वेद अजर अमर काव्य बन गए – **पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।** वेदों को केवल शब्दराशि ही नहीं समझना चाहिए, तत्त्व वेद पर ध्यान दें तो त्रयी का अर्थ समस्त सृष्टि है। स्रष्टा ने यह

इतनी विशाल तथा सुन्दर सृष्टि बिना प्रयत्न के बना डाली क्योंकि उसकी सिसृक्षा सहज कामना का परिणाम थी, कृत्रिम कामना से उत्पन्न नहीं हुई थी।

निष्काम कर्म का अर्थ है कि जीवन में हमारे कर्म स्वतःस्फूर्त काव्य की भांति प्रवाहित हों, भारभूत न बनें। ऐसे कर्म बन्धन नहीं बनते, वे तो जीव के स्वभाव हैं। स्वभाव कभी बन्धन नहीं बनता है। जीव यदि स्वभाव में स्थित हो जाए तो वह ईश्वर ही है। सारे वेदान्त का यही तो सार है – **जीवो ब्रह्मैव नापरः।**

निष्काम कर्म का मार्ग

जो साधक राग–द्वेष से रहित है वह इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करते रहने पर भी प्रसाद को प्राप्त होता है। पहले कहा जा चुका है कि प्रसाद का अर्थ निर्मलता भी है और प्रसन्नता भी। साधक की निर्मलता और प्रसन्नता को राग–द्वेष ही दूषित करते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप आदि विषयों में प्रवृत्त हों तो यह साधक की मलिनता का कारण नहीं बनता और न उसके दुःख का कारण ही बनता है। प्रश्न होता है कि वीतराग साधक में जब दुःख नहीं रहते तो उसका क्या फल है? दुःखों के अभाव का फल बुद्धि की स्थिरता है –

प्रसादे सर्वदुःखानाम् हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते॥

हमारी बुद्धि दुःख के कारण ही विचलित होती है और विचलित होकर कुमार्ग पर चल पड़ती है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में सुख और दुःख सजातीय हैं। हमारी बुद्धि केवल दुःख में ही विचलित नहीं होती, सुख में भी विचलित होती है। सुख और दुःख दोनों ही इन्द्रियों से जुड़े हैं। आनन्द आत्मा का स्वभाव है, उसका इन्द्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रियों से जुड़े हुए सुख–दुःख आते हैं और चले जाते हैं। इस कारण दोनों ही बुद्धि को चंचल बना देते हैं। इसके विपरीत आत्मानन्द शाश्वत है, इसलिए वह बुद्धि को स्थिर बनाता है। इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति न रखना ही वीतरागता है। जिसमें यह वीतरागता आ जाती है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

मन की चंचलता – इसके विपरीत यदि राग है तो दुःख–सुख मन को चंचल बनाए रखेंगे और मन की चंचलता चित्त को चंचल बना देगी तथा चित्त की चंचलता बुद्धि को चंचल बना देगी। अस्थिर बुद्धि का सम्बन्ध आत्मा से विच्छिन्न हो जाता है।

जिसकी बुद्धि चंचल है अर्थात् शान्त आत्मा से जिसकी बुद्धि का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है उसकी बुद्धि होते हुए भी न होने के समान है क्योंकि वह सत् असत् का विवेक नहीं कर सकती। सत् असत् का विवेक करना ही भावना है। जिसमें यह विवेक नहीं है वह शान्त भी नहीं रह सकता और जो शान्त नहीं है उसे सुख भी नहीं हो सकता –

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

सत्-असत् का विवेक न कर पाने का अर्थ है – मूर्च्छा। स्पष्ट है कि मूर्च्छित मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। सत्-असत् का विवेक ही जागरण है। जब तक हममें विवेक नहीं है तब तक आत्मानन्द की तो बात ही क्या, हम वस्तुतः सांसारिक सुखों को भी नहीं भोग पाते। बुद्धि की चंचलता के कारण जो व्यक्ति अशान्त हो गया उस व्यक्ति को कभी भोजन करते देखना चाहिए। वह एकाग्रचित्त से भोजन भी नहीं कर पाता और परिणामस्वरूप भोजन के रस का भी सुख नहीं ले पाता। प्रातःकाल का समय है। शीतल सुगन्धित वायु बह रही है। पक्षियों का मधुर कलरव हो रहा है। आकाश में सूर्योदय का मनोरम दृश्य है। किन्तु जिसका चित्त चंचल है उसके लिए यह

सब व्यर्थ है। न उसकी आँख उषा का रूप–पान कर पाती है न उसके कान पक्षियों का मधुर संगीत सुन पाते हैं। न उसकी स्पर्शेन्द्रिय मंद समीर की शीतलता को भोग पाती हैं। यह उदाहरण है कि किस प्रकार चंचल चित्त वाला व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों को भी नहीं भोग पाता, आत्मानन्द प्राप्त करने की बात तो बहुत दूर की है। इसके विपरीत जिसका चित्त स्थिर है उसके लिए आत्मानन्द तो सदा उपलब्ध है ही, सारा संसार भी आनन्दमय हो जाता है। उसे इन्द्रियों के विषयों में भी आत्मानन्द के दर्शन होते हैं। जित देखूं तित तू ही तू है।

अभिप्राय यह है कि चित्त की चंचलता आत्मानन्द से तो वंचित करती ही है इन्द्रियों का विषयसुख भी नहीं भोगने देती। इसके विपरीत जिसका चित्त स्थिर है वह आत्मानन्द के साथ विषयों का भी भोग सुचारु रूप से कर पाता है। अर्थात् एक के दोनों लोक बिगड़ जाते हैं और दूसरे के दोनों लोक सुधर जाते हैं। चित्त की स्थिरता की इतनी बड़ी महिमा है। आज योग के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की व्याख्याएँ की जा रही हैं किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने तो चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है – **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**

चित्त की स्थिरता की इतनी बड़ी महिमा देखकर श्रीकृष्ण चित्त के चंचल होने का विश्लेषण करते हुए यह बताते हैं कि किस प्रकार चित्त की चंचलता को रोका जाए। मनुष्य कितना भी सावधान हो उसके मार्ग में ऐसे अवसर आ ही जाते हैं कि उसकी बुद्धि विचलित हो जाती है। ऐसे अवसरों को गीता ने उन तूफानों की भांति माना है जो तूफान नाव को विचलित कर देते हैं। जो साधना के पथ पर चल रहे हैं उनके सामने भी प्रारब्ध कर्म के कारण ऐसे अवसर आ जाया करते हैं जिनके सामने दिल काँप जाता है। उदाहरणतः किसी का एकमात्र युवा पुत्र दुर्भाग्य से काल कवलित हो जाए तो वह अविचलित नहीं रह पाता तथा विश्वामित्र जैसे तपस्वी भी मेनका को देखकर विचलित हो गए थे तो ऐसे अवसरों पर साधारण मनुष्य की बात ही क्या है। इसी स्थिति का विश्लेषण करते हुए गीता कहती है –

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इन्द्रियों से विषयों को न भोगा जाए – यह मार्ग अव्यावहारिक है। दूसरी ओर इन्द्रियाँ विषयों को भोगेंगी तो आसक्ति भी उत्पन्न होगी ही। ऐसी स्थिति में बुद्धि द्वारा मन पर अंकुश रखना होता है कि मन राग-द्वेष में लिप्त न हो। इसी बिन्दु पर साधक को समस्त शक्ति लगानी चाहिए। उपनिषद् ने इस विषय को एक सुन्दर रूपक द्वारा स्पष्ट किया है – इन्द्रियाँ अश्व हैं, मन लगाम है तथा बुद्धि सारथि है। शरीर रूपी रथ में बैठा आत्म रूपी रथी अपने लक्ष्य पर पहुंच सके – इसके लिए मन की लगाम पर बुद्धि के सारथि का नियन्त्रण होना परम आवश्यक है। मन का धर्म है आसक्ति, बुद्धि का धर्म है – विवेक। आसक्ति के वशीभूत होकर यदि साधक अपना विवेक खो बैठे तो समझना चाहिए कि घोड़ों की लगाम सारथि के हाथ से छूट गई है। अब रथ में बैठे रथी की दुर्गति अवश्यम्भावी है।

जाग्रत विवेक – किसका विवेक जागृत है और कौन अपना विवेक खो बैठा है – इसकी पहचान एक रूपक की भाषा में गीता ने बताई है। यहाँ गीता दर्शन की भाषा में न बोलकर काव्य की भाषा में बोल रही है। गीता कहती है संयमी उस निशा में जागता है जिस निशा में सब प्राणी सोया करते हैं तथा सब प्राणी जब जागते हैं वह समय संयमी मुनि के लिए निशा का होता है –

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

जब हमें कोई गहरी बात कहनी होती है तो हम काव्यमयी भाषा का सहारा इसलिए लेते हैं कि वह भाषा लचीली होती है और सूक्ष्म तत्त्व को अभिव्यक्त करने में सक्षम होती है। इस शैली का अनुकरण श्रुति में

भी किया गया है। ईशोपनिषद् नाम से प्रसिद्ध यजुर्वेद के अन्तिम चालीसवें अध्याय में कहा गया है कि सत्य का मुख स्वर्ण के ढक्कने से आवृत है। इसी प्रकार की काव्यमयी भाषा यहाँ भी प्रयुक्त की गई है। श्लोक का आशय यह है कि संयमी का चित्त प्रत्यगात्मा पर केन्द्रित होता है; वह इन्द्रियातीत सूक्ष्म तत्त्वों के अनुभवों के प्रति जागृत रहता है तथा इन्द्रियों के विषयभूत स्थूल तत्त्वों में उसकी आसक्ति नहीं होती, मानो वह उन विषयों के प्रति सुप्त रहता है। उधर असंयमी बहिर्मुख होता है। उसके लिए इन्द्रियों के विषय ही सब कुछ होते हैं, सूक्ष्म विषयों का उसे आभास ही नहीं होता, मानो वह उनके प्रति सुप्त रहता है। यह स्थूल अर्थ है। विस्तार में जाएँ तो संयमी तथा असंयमी की दृष्टि में सर्वत्र विरोध मिलेगा। इस विरोध का कारण संयमी का अन्तर्मुख होना तथा असंयमी का बहिर्मुख होना है। इसी तथ्य को इस श्लोक में काव्यमयी भाषा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

आगे के तीन श्लोकों में साधक को कामनाओं से मुक्त होने की बात कही जा रही है। प्रथम अवस्था में तो उत्थाप्य कामना अर्थात् कृत्रिम कामनाओं को छोड़ने की ही बात की जाती है किन्तु अन्तिम अवस्था में उत्थित कामना अर्थात् स्वाभाविक कामना भी छोड़ने को कहा जाता है। मदिरापान की कामना कृत्रिम है; उसे तो प्रत्येक स्थिति में छोड़ना ही है। आहार की कामना स्वाभाविक है, किन्तु अपनी उच्च भूमिका में साधक ऐसी कामनाओं से भी मुक्ति पा लेता है। यही संन्यास की स्थिति है। संन्यासी को भोजन मिला तो भी ठीक, न मिला तो भी ठीक। गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकता किन्तु संन्यासी यदि भोजन की इच्छा का भी अनुयायी बन गया तो अन्ततः वह पराधीन होकर अशान्त ही हो जाएगा। भोजन की इच्छा तो फिर भी एक वैयक्तिक इच्छा है किन्तु समाज–कल्याण करने जैसी परोपकार की इच्छा भी अन्ततोगत्वा संन्यासी के लिए बन्धन ही बन जाती है। ज्ञानदान अथवा साधना जैसे पवित्र कार्यों के लिए भी जो साधक कामना के वशीभूत हो जाते हैं, वे चन्दा इकट्ठा करने की धुन में अशान्त ही पाए जाते हैं। जो आत्यन्तिकी शान्ति चाहे, उसे तो कामना का सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिए। प्रश्न होता है कि सभी कामना छोड़ दी जाएँ तो अकर्मण्यता आ जाएगी। उत्तर यह है कि कर्म द्वारा आत्मा को अपनी अभिव्यक्ति करने का अवसर मिलता है। अतः आत्माभिव्यक्ति के लिए कर्म करते रहना चाहिए, कामना के वशीभूत होकर नहीं। वर्षा में मयूर नृत्य करता है, बसन्त में कोकिल कूजती है – यह सब किसी कामनावश नहीं होता, बल्कि यह आत्माभिव्यक्ति की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। ऐसी ही आत्माभिव्यक्ति ज्ञानी के कर्म में होती है। ऐसे ज्ञानी की समस्त कामनाएँ उसमें उसी प्रकार लीन हो जाती हैं जिस प्रकार समुद्र में सब नदी-नद आकर मिल जाते हैं। वही ज्ञानी शान्ति को प्राप्त होता है, न कि कामना से घिरा हुआ अज्ञानी –

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

कामनाओं को छोड़ना है किन्तु कर्म को नहीं, यह गीता का विशिष्ट उपदेश है। कामना को छोड़ना निःस्पृहता है। जहाँ कामना नहीं वहाँ ममता भी नहीं – यही निर्ममता है तथा जहाँ ममता नहीं वहाँ अहङ्कार भी नहीं – यही निरहङ्कारता है। साधक कर्म करे। किन्तु निःस्पृह होकर, निर्मम होकर तथा निरहङ्कार रह कर –

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृह।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

कुछ लोगों ने कामनाओं को दुःख का कारण समझकर और यह मानकर कि कर्म मात्र कामनाओं से प्रेरित होकर किए जाते हैं, कर्म ही छोड़ने के मार्ग को श्रेयस्कर समझ लिया। यही भूल अर्जुन भी कर रहा था। गीता ने उसे बारम्बार समझाया कि यह समझ गलत है। कर्म के बिना आत्मा अभिव्यक्ति का अवसर न पाकर कुण्ठित हो जाती है। अतः कर्म को छोड़ना अपने को कुण्ठित कर लेना है। परम ज्ञानी आदि शङ्कराचार्य ने अत्यन्त तेजस्विता का जीवन जिया। ३२ वर्ष की अल्पायु में ही इतना विपुल साहित्य सर्जन अकर्मण्य व्यक्ति का कार्य नहीं हो सकता।

देश के चारों कोनों में चार मठों की स्थापना का कार्य भी उनकी सक्रियता का प्रमाण है। फिर भी वे मुक्त ही रहे; क्योंकि इन सारे कार्यों के प्रति स्पृहा, ममता और अहङ्कार का भाव नहीं था।

ब्राह्मी स्थिति – यही ब्राह्मी स्थिति है। यही जीवन्मुक्ति है। और यही शरीर छोड़ने पर आवागमन के चक्र से छुड़ाने का साधन है –

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

गीता का सन्देश स्पष्ट है, इसमें कहीं अस्पष्टतार्थता नहीं है। यह सन्देश अपूर्व है, गीता के अतिरिक्त किसी अन्य शास्त्र ने यह बात इतने स्पष्ट ढंग से प्रतिपादित नहीं की, यद्यपि सार अन्य शास्त्रों का भी यही है। इसीलिए कहा जाता है कि गीता को ठीक से समझ लिया जाए तो फिर किसी अन्य शास्त्र की अपेक्षा नहीं रहती क्योंकि गीता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखकमल से निकली है –

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैःशास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिसृता॥

गीता में वर्णानुसार कर्म का अधिकार-विवेचन

गीता के वर्ण्य विषयों का विभाजन समझने के लिए हमें वैदिक साहित्य-विभाजन को समझना होगा। प्रसिद्ध है कि गीता में कर्म, भक्ति और ज्ञान का विवेचन है। इन तीन योगों का आधार क्रमशः ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों का विषय कर्म है, आरण्यक का उपासना अथवा भक्ति तथा उपनिषद् का ज्ञान। इस विभाग का आधार यह है कि कर्म का सम्बन्ध इस लोक से है और उपासना तथा ज्ञान का सम्बन्ध ईश्वर से है। प्रसिद्ध है कि ईश्वर की दो अवस्थाएँ हैं – सगुण और निर्गुण। इनमें से सगुण भक्ति का विषय है, निर्गुण ज्ञान का विषय है। क्योंकि भक्ति और ज्ञान दोनों का सम्बन्ध ईश्वर से है इसलिए गीता में कभी–कभी भक्ति और ज्ञान दोनों को मिलाकर ज्ञान ही कह दिया है और इस प्रकार गीता में तीन के स्थान पर दो ही योगों की चर्चा की गई है –

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(१) कर्म में साधन भी आधिभौतिक पदार्थ होते हैं और फल भी आधिभौतिक पदार्थ ही होता है। ऐसे कर्मकाण्ड का प्रतिपादन ब्राह्मण ग्रन्थों में है। (२) भक्ति अथवा उपासना सगुण ब्रह्म की ही हो सकती है। उसमें धूप, दीप आदि भौतिक पदार्थ भी साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं किन्तु उसका लक्ष्य भौतिक पदार्थों की प्राप्ति न होकर ईश्वर की प्राप्ति है। (३) उपनिषद् में ज्ञान काण्ड है। ज्ञान में न भौतिक पदार्थ साधन हैं, न साध्य। कर्म, भक्ति और ज्ञान का स्थूल रूप से यही भेद है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि यज्ञ के द्वारा स्वर्ग मिलता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि कर्म का फल लौकिक पदार्थ है। समाधान यह है कि स्वर्ग में मिलने वाले पदार्थ भी लौकिक ही हैं इसलिए कर्म से जो स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है वह भी लौकिक ही है, आत्मसुख नहीं है। स्पष्ट है कि कर्मकाण्ड व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। इसलिए कर्मकाण्ड में अधिकारी का विचार किया जाता है। आत्मा सबकी समान है, किन्तु कर्म करने का सामर्थ्य सबका समान नहीं है – यह बात प्रत्यक्ष है। न सभी शंकराचार्य जैसे ज्ञानी बन सकते हैं और न सभी अर्जुन या राणाप्रताप जैसे वीर योद्धा बन सकते हैं। सभी में बिरला जैसी व्यापारिक कुशलता भी नहीं हो सकती और सभी के पास ऐसा हस्तलाघव भी नहीं होता कि वे ताजमहल बना सकें। इसी स्थिति के कारण यह

माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता। कर्मकाण्ड के क्षेत्र में अधिकारी के विचार करने का यही रहस्य है।

समता का भाव – हमने ऊपर कहा कि सबकी आत्मा समान है इसलिए हमारी दृष्टि में सबके प्रति समता का भाव रहना चाहिए। किसी को छोटा मानना उसकी आत्मा का अपमान करना है और अद्वैत की दृष्टि में किसी की भी आत्मा का अपमान करना अपनी ही आत्मा का अपमान करना है इसलिए हम छोटे से छोटे प्राणी के प्रति भी हीनता की दृष्टि नहीं रख सकते फिर किसी मनुष्य के प्रति तो हीनता का भाव रखने का प्रश्न ही नहीं होता। गीता ने स्पष्ट कहा था कि बुद्धिमान लोग, विद्वान्, ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते अरौर चाण्डाल के प्रति सम दृष्टि रखते हैं –

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

किन्तु हमने गीता के इस आदेश की उपेक्षा करके अपने ही समाज के एक अंग की अवहेलना प्रारम्भ कर दी। परिणाम यह हुआ कि महात्मा बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी तक सभी विचारशील पुरुषों को हमारी इस मनोवृत्ति का विरोध करना पड़ा।

पाठक समझ गए होंगे कि हमारा संकेत समाज के उस वर्ग की ओर है जिसे हमने अस्पृश्य घोषित करके अपमानित किया। यह सब वर्ण-व्यवस्था के नाम पर हुआ। स्वाभाविक था कि इसके विरुद्ध विद्रोह होता। यह सब वस्तुस्थिति हमारे सामने है और इसलिए वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन हो गया है, किन्तु यदि किसी सिद्धान्त का कोई समाज अथवा व्यक्ति गलत अर्थ करके दुरुपयोग करता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह सिद्धान्त ही गलत है। वस्तुतः आज व्यवहार में जो कुछ देखने में आ रहा है उसके आधार पर तो हममें से अधिकतर लोग शास्त्र की बात मानें, तो शूद्र ही कहलाएँगे। मनु की स्पष्ट घोषणा है कि जो वेद न पढ़कर अन्य–अन्य विषयों में श्रम करता है वह इसी जन्म में परिवार–सहित शूद्रता को प्राप्त हो जाता है –

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्
जीवन्नेव स शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

इस व्यवस्था के रहते हममें से आज कितने लोग हैं जो द्विज होने का दावा कर सकेंगे? मनु की इस व्यवस्था के अनुसार लाख या करोड़ में से शायद कोई एक व्यक्ति ही द्विज रह गया है, शेष सभी शूद्र हो गए हैं। ऐसे में किसी व्यक्ति के लिए यह अभिमान करना कि वह उच्च वर्ण का है, कहाँ तक उचित है? उचित तो यह होगा कि हम समकालिक परिस्थिति को एक बार भुला कर वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को ठीक से समझने का प्रयत्न करें और यदि वह सिद्धान्त हमें उचित प्रतीत हो तो उसके अनुसार वर्तमान परिस्थिति में संशोधन कर लें।

वर्ण-व्यवस्था – वर्ण-व्यवस्था एक प्राकृतिक व्यवस्था है। ज्ञान, क्रिया और अर्थ ये तीन तत्त्व हैं। केवल ज्ञान से सृष्टि का संचालन नहीं हो सकता, उसके लिए क्रिया भी चाहिए। किन्तु केवल क्रिया भी अपर्याप्त है, पदार्थ भी चाहिए और उसके साथ शारीरिक क्षमता भी चाहिए। यही वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर चार वर्ण बनते हैं; ज्ञान के आधार पर ब्राह्मण, क्रिया के आधार पर क्षत्रिय, पदार्थ के आधार पर वैश्य और शारीरिक शक्ति के आधार पर श्रमिक वर्ग खड़ा होता है। यह व्यवस्था इतनी व्यापक है कि केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है अपितु देवताओं, पशुओं और वृक्षों तक व्याप्त है। अग्नि ब्राह्मण है, इन्द्र क्षत्रिय है और वसु वैश्य है और पूषा शूद्र है। हमारी अपनी आत्मा में मन ज्ञान है, प्राण क्रिया, वाक् अर्थ है और पुष्टि शूद्र है। उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार द्विजों के देवता हैं उसी प्रकार शूद्रों के देवता भी पूषा हैं। ये पूषा देवता कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। जो

कुछ भी संसार में पुष्ट होता है वह पूषा देवता की ही कृपा से होता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि शूद्र वर्ण का सम्बन्ध पूषा से है और पूषा ही सबको पुष्ट बनाता है –

स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्। इयं वै पूषा इयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र अथवा समाज की समृद्धि श्रमिक वर्ग पर टिकी है। गुप्त काल में यह देश बहुत समृद्ध था क्योंकि यहाँ का श्रमिक वर्ग जो उत्पादन करता था उसके बदले में सारे विश्व का वैभव खिंच कर यहाँ चला आता था। मध्य प्रदेश में मंदसौर नाम के स्थान पर गुप्तकाल के जुलाहों द्वारा बनाए गए एक सूर्य मंदिर का शिलालेख इस बात का प्रमाण है कि उस समय के शिल्पी कितने समृद्ध थे। उस समय के जुलाहों द्वारा बुने गए रेशमी वस्त्र यूनान जैसे देश में सोने के भाव बिकते थे। श्रमिक वर्ग की दुर्दशा इस देश की दुर्दशा बन गई। इससे वेद का यह वचन ही सिद्ध होता है कि श्रमिक ही समाज को पुष्टि प्रदान करता है। वर्ण-व्यवस्था इतनी सहज और प्राकृतिक है कि उसे हमारे शरीर में भी देखा जा सकता है। हममें से प्रत्येक का मस्तक ब्राह्मण है, भुजाएँ क्षत्रिय हैं, उदर वैश्य है तथा पाँव शूद्र हैं। वर्ण व्यवस्था की इस प्राकृतिक स्थिति के कारण ही शास्त्रों में पशुओं पर भी वर्ण-व्यवस्था लागू की गई दिखती है। सफेद गौ को ब्राह्मण, लाल को क्षत्रिय, पीली को वैश्य और काली को शूद्र बताया गया है। इसी प्रकार चाँदी जैसे सर्पों को ब्राह्मण, चिकने सर्पों को क्षत्रिय, कालों को वैश्य और खुरदरे सर्पों को शूद्र बताया गया है।

इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर कर्म के प्रसंग में अधिकारी भेद से वर्ण-व्यवस्था की चर्चा की जाती है। किन्तु भक्ति अथवा ज्ञान में वर्ण व्यवस्था कहीं आड़े नहीं आती। शबरी और निषाद उत्कृष्ट भक्त थे, रैदास और कबीर उत्कृष्ट ज्ञानी थे। किन्तु जहाँ तक कर्म का प्रश्न है वहाँ किस कर्म का कौन अधिकारी है, यह देखना आवश्यक है। भारतीय चिन्तन में जिसको जो अधिकार प्राप्त है, वही उसका कर्त्तव्य भी है। यदि द्विज को वेद पढ़ने का अधिकार है तो वेद पढ़ना द्विज का कर्त्तव्य भी है। यदि क्षत्रिय को शस्त्र धारण करने का अधिकार है, तो शस्त्र धारण करना उसका कर्त्तव्य भी है। इसी आधार पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शस्त्र-त्याग करने से रोका था।

समाज की आवश्यकता – प्राकृतिक वर्ण-व्यवस्था के आधार पर जो सामाजिक वर्ण व्यवस्था बनाई गई उसका विधान समाज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर हुआ। समाज की एक आवश्यकता ज्ञान का प्रसार है। यह काम ब्राह्मण को सौंपा गया। इस देश में ज्ञान का अर्थ केवल साक्षरता कभी नहीं लिया गया। ज्ञान का मूल अर्थ है अपने आप को पहिचानना। जिसका चित्त मलिन और चंचल है वह भले ही सारे संसार को जान ले पर अपने को नहीं जान सकता। ब्राह्मण ने एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का आविष्कार किया जो मनुष्य के शरीर को पुष्ट, मन को तुष्ट, बुद्धि को सन्तुष्ट और आत्मा को शांत बना सके। आज की शिक्षा केवल बुद्धि के विकास पर बल देती है किन्तु शेष तीनों ही पक्षों की उपेक्षा करती है।

चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में शासक के लिए इन्द्रियजयी होने की बात कही है। यह एक कटु सत्य है कि जब इस देश के राजाओं ने विलासिता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया तो इस देश का पतन हुआ। अभिप्राय यह है कि हमारी अवनति का कारण वर्ण-व्यवस्था नहीं, अपितु वर्ण-व्यवस्था की गलत समझ है। वस्तुतः हमारे सम्मुख वर्ण-व्यवस्था का एक स्थूल रूप ही है, जिसमें छुआछूत मुख्य है। इस कारण वर्ण-व्यवस्था का अपयश फैल गया। वर्ण-व्यवस्था का एक वैज्ञानिक रूप भी है। इस विज्ञान को समझने के लिए यह जानना होगा कि सूर्य के तीन रूप हैं। प्रातः उससे निकलने वाला तेज गायत्री कहलाता है उसके मध्याह्न का तेज सावित्री है और सायंकालीन तेज सरस्वती है। रात्रि में जो प्रकाश रहता है वह सूर्य के प्रकाश का चौथा रूप है। इनमें गायत्री का सम्बन्ध ब्राह्मण से है। यद्यपि प्रातःकाल के तेज के समान ब्राह्मण का तेज शांत होता है किन्तु वह निरन्तर

वर्धिष्णु होता है। मध्यकाल के सूर्य के समान क्षत्रिय है, उसका तेज़ प्रचण्ड है। सायंकाल के सूर्य के समान वैश्य है। वह तेज भी शान्त है, किन्तु वह वर्धिष्णु नहीं है। शूद्र का तेज रात्रि के तेज के समान अत्यन्त शीतल है। क्योंकि सूर्य के तेज के ये चार रूप हैं इसलिए सूर्य के द्वारा चार ही प्रकार की प्राण शक्ति हमें प्राप्त होती है जिसके कारण चार वर्ण बनते हैं और ये ही वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक रूप है।

सारांश यह है कि कर्म के क्षेत्र में कर्म करने वाले की सहज क्षमता देख लेना आवश्यक है। ऐसा करने में न तो कहीं पक्षपात का प्रश्न है न ऊँच–नीच का सवाल है। यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य की क्षमता में उसका पुरुषार्थ भी अपना योगदान देता है और साथ ही उसका वंशानुक्रम भी महत्त्वपूर्ण रहता है। इस सीमा के भीतर हमें व्यक्ति के कर्त्तव्य कर्मों का निर्णय लेना है। सत्वगुण-प्रधान के लिए ज्ञान, रजोगुण-प्रधान के लिए क्रिया, रजोगुण तथा तमोगुण मिश्रित के लिए अर्थ और तमोगुण-प्रधान के लिए सेवा सहज कर्म है। इन्हें छोड़ना नहीं चाहिए। यही गीता का मुख्य संदेश है –

सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।

गीता-प्रतिपादित आश्रम-व्यवस्था

गीता में गुण और कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था की बात की है – **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।** वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म का विभाजन है। आज हम अधिकारों की चर्चा अधिक करते हैं, किन्तु वर्ण-व्यवस्था में कर्तव्यों की चर्चा केन्द्र में है।

वर्ण-व्यवस्था के समान महत्त्वपूर्ण आश्रम-व्यवस्था भी है। जहाँ वर्ण-व्यवस्था में समाज के चार वर्गों द्वारा चार प्रकार के कर्मों के पालन की अपेक्षा की जाती है वहाँ आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत एक ही व्यक्ति के द्वारा चार प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा की जाती है। इसके लिए उस व्यक्ति की सौ वर्ष की आयु को चार भागों में बाँट दिया जाता है।

ज्ञान और कर्म – ईश्वर में दो शक्तियां हैं – ज्ञान और कर्म। क्योंकि हम ईश्वर के ही अंश हैं इसलिए हममें भी दो ही शक्तियाँ हैं – कुछ जानने की शक्ति और कुछ करने की शक्ति। हम जो कुछ भी जानते हैं या करते हैं उसके लिए समय की अपेक्षा रहती है। यदि मनुष्य अपने सौ वर्ष की आयु का विभाजन इस प्रकार कर सके कि ज्ञान और कर्म दोनों बलवान हो जाएँ तो जीव ईश्वर के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, अपनी अल्पज्ञता को सर्वज्ञता में बदल सकता है और अल्प–शक्तिमान् से सर्वशक्तिमान् हो सकता है। यह कैसे हो? इसका उपाय करने के लिए आश्रम व्यवस्था बनाई गई।

सौ वर्ष की मनुष्य की आयु मानी जाती है। मनुष्य के दोष के कारण यह आयु कम भी हो सकती है और साधना के बल पर इसे बढ़ाकर चार सौ वर्ष तक भी ले जाया जा सकता है। किन्तु उसकी प्राकृतिक आयु सौ वर्ष है। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत यह माना गया है कि मनुष्य अपनी आयु के पूर्वार्द्ध में मुख्य रूप से कर्मशक्ति को बढ़ाए और उत्तरार्द्ध में ज्ञानशक्ति को बढ़ाए क्योंकि पूर्वार्द्ध में मनुष्य की कर्मशक्ति सुदृढ़ रहती है और उत्तरार्द्ध में कर्मशक्ति तो उतनी बलवती नहीं रहती किन्तु परिपक्वता के कारण ज्ञानशक्ति बलवती हो जाती है।

यदि कर्म और ज्ञान दोनों एक-दूसरे के बिना रह सकते होते तो पचास–पचास वर्ष के दो आश्रम बना देना ही पर्याप्त था। किन्तु ये दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। ज्ञान के बिना कर्म अन्धा है, कर्म के बिना ज्ञान लँगड़ा है। इसलिए जीवन के पूर्वार्द्ध को भी पच्चीस–पच्चीस के दो भागों में बाँट दिया जाता है। इसी प्रकार जीवन के उत्तरार्द्ध को भी दो भागों में बाँट दिया जाता है।

प्रथम आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य आश्रम है। ब्रह्म का अर्थ है – ज्ञान। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह ज्ञान अर्जित किया जाता है जो ज्ञान कर्म में उपयोगी हो। कर्म मुख्यतः गृहस्थाश्रम में किए जाते हैं। वे कर्म पुरुषार्थ कहलाते हैं। उन कर्मों को करने के लिए जिस ज्ञान की अपेक्षा रहती है वह ज्ञान क्रत्वर्थ कहलाता है। उस ज्ञान को प्राप्त करके जो कर्म किया जाता है वह पुरुषार्थ कहलाता है। आज की भाषा में समझें तो क्रत्वर्थ सिद्धान्त पक्ष है, पुरुषार्थ प्रायोगिक पक्ष है।

कर्म करने के लिए ज्ञान भी चाहिए और शरीर की शक्ति भी चाहिए। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम में शरीर को समर्थ बनाने की प्रक्रिया भी अपनाई जाती है और ज्ञान के अर्जन की भी प्रक्रिया अपनाई जाती है। अथर्ववेद कहता है कि ब्रह्मचारी श्रम और तप से समस्त लोकों को तृप्त कर देता है। श्रम से ब्रह्मचारी अपने शरीर को पुष्ट बनाता है और तप से ज्ञान अर्जित करता है। ब्रह्मचारी कठोर जीवन जीता है, भोग विलास में नहीं पड़ता। इससे उसका शरीर सुदृढ़ बनता है। अगले गृहस्थाश्रम में यह सुदृढ़ शरीर उसके कर्म का अनुष्ठान करने में सहायक सिद्ध होगा। वैसे भी जीवन के प्रथम पच्चीस वर्षों में शरीर बढ़ता है, उस अवस्था में भोगों का सेवन शरीर की वृद्धि को रोक देता है। ब्रह्मचारी श्रम के साथ तपस्या भी करता है। उपनिषदों में तप के अनेक प्रकार बताए गए हैं किन्तु स्वाध्याय को मुख्य तप माना है। स्वाध्याय के अन्तर्गत ब्रह्मचारी वेद, वेदाङ्ग और उपवेदों का अध्ययन करता है। वेदाङ्ग सहित वेदों का अध्ययन उसे धर्माचरण के योग्य बनाता है। इस प्रकार जीवन के प्रथम भाग में मनुष्य कर्म सम्पादन के लिए आवश्यक सभी साधन जुटा लेता है।

दूसरा आश्रम गृहस्थ कहलाता है। यह आश्रम पुरुषार्थ प्रधान है। इसी आश्रम में कर्मों को चार भागों में बांट देने के कारण चार वर्णों की व्यवस्था विशेष रूप से लागू होती है। पुरुषार्थ चार हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों में धर्म और अर्थ साधन है, काम और मोक्ष साध्य है। धर्म मोक्ष का तो साधन है ही अर्थ और काम का भी साधन है; सकाम कर्म अर्थ और काम का साधन है, निष्काम कर्म मोक्ष का साधन है। दूसरी ओर अर्थ से काम तो सिद्ध होता ही है, धर्म भी सिद्ध होता है। यज्ञ, दानादि धर्म अर्थ से ही हो सकते हैं। किन्तु अर्थ से मोक्ष नहीं मिल सकता। काम में और मोक्ष में विरोध है, वस्तुतः कामना से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है।

कर्म से अतिशय की उत्पत्ति – कर्म से एक अतिशय उत्पन्न होता है कर्म समाप्त होने पर भी यह बना रहता है। इसलिए इसे अतिशय कहा जाता है। यह अतिशय ही वासना है। कर्म से जो वासना हममें उत्पन्न होती है वही हमारे सुख–दुःख का निर्णय करती है। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य का सुख–दुःख उसके कर्म का ही फल है।

वासना उत्पन्न करने वाले कर्मों को चार भागों में बाँटा गया है –

१. ज्ञान से जुड़े हुए शास्त्र–विहित कर्म।

२. ज्ञान के बिना भी सम्पन्न हो सकने वाले सत्कर्म।

३. अज्ञान से उत्पन्न होने वाले कर्म।

४. अज्ञान को उत्पन्न करने वाले कर्म।

शराब पीना, हिंसा करना आदि ऐसे कर्म हैं जो अज्ञान को बढ़ाते हैं। शास्त्रों में इनका निषेध है। निकम्मे रहना, आवारागर्दी करना, शरीर को सजाने में लगे रहना इत्यादि ऐसे कर्म हैं जो अविद्या से उत्पन्न होते हैं। ये कर्म निरर्थक हैं। यदि निषिद्ध कर्म किए जाएँगे तो अज्ञान उत्पन्न होगा, यदि अज्ञान उत्पन्न होगा तो निरर्थक कर्म करने का मन करेगा। ये दोनों ही कर्म त्याज्य हैं। कुछ कर्म ऐसे हैं जिनके लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता तो नहीं है किन्तु फिर भी जिन्हें करना चाहिए। ये कर्म तीन भागों में बँटे हैं – इष्ट, आपूर्त और दत्त। सत्य बोलना, अतिथि सत्कार करना, जानवरों को चारा देना आदि इष्ट–कर्म हैं। शिक्षा संस्थाएँ खोलना, मन्दिर बनवाना,

औषधालय चलाना आदि आपूर्ति कर्म हैं। गरीबों की सहायता करना दत्त है। ये सब ऐसे कर्म हैं जिनके लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं। वेद इत्यादि का एक अक्षर पढ़े बिना भी संसार में सब लोग ऐसे काम करते रहते हैं। ऐसे कर्मों का फल है – पितृलोक की प्राप्ति।

चौथी कोटि में वे कर्म आते हैं जिनके लिए ज्ञान आवश्यक है। ऐसे कर्म भी तीन हैं – यज्ञ, तप और दान। बिना वेद के ज्ञान के यज्ञ नहीं किया जा सकता। पहिले बता चुके हैं कि स्वाध्याय ही मुख्य तप है। वेद के ज्ञान के बिना तप भी नहीं किया जा सकता। दान वेदज्ञ को ही किया जाता है। दान और दत्त में यह अन्तर है कि दान ज्ञानी को दिया जाता है और दत्त असहाय को, विद्यानिरपेक्ष कर्म का फल पितृलोक है तो विद्यासापेक्ष कर्म का फल देवलोक है।

यज्ञ, तप और दान में भी ब्राह्मणों के लिए यज्ञ प्रधान है, क्षत्रियों के लिए तप प्रधान है और वैश्यों के लिए दान प्रधान है। दान में अर्थ की आवश्यकता अधिक होती है इसलिए वैश्य अधिक दान कर सकता है। तप में प्राण शक्ति की अधिक आवश्यकता है। वह क्षत्रिय में अधिक होता है, इसलिए क्षत्रिय तप विशेष रूप से कर सकता है। यज्ञ में विद्या अधिक चाहिए। इसलिए ब्राह्मण उसे विशेष रूप से कर सकता है। इन तीनों ही कर्मों में ज्ञान अपेक्षित है। जिसमें ज्ञान नहीं है वे ये तीनों कर्म नहीं कर सकते। ज्ञानसम्पन्न इन तीनों ही कर्मों के करने के अधिकारी हैं।

इन चारों प्रकार के कर्मों में से निषिद्ध और निरर्थक कर्म अविद्या को बढ़ाते हैं। यह अविद्या का संस्कार नर्क का कारण है। शेष दोनों कर्म पितृलोक और देवलोक के कारण हैं।

यह सामान्य स्थिति है। गीता ने इसमें एक विशेषता यह बताई है कि यह स्थिति उनकी है जो कर्म से किसी फल की इच्छा करते हैं। यह फल की इच्छा ही वासना उत्पन्न करती है। वासना ही जन्म–जन्मान्तर में भटकने का कारण बनती है। जिसमें वासना नहीं है उसके कर्म उसे स्वर्ग में न ले जाकर मोक्ष की प्राप्ति करा देते हैं –

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः

वस्तुतः कर्म बन्धन का कारण है – आसक्ति। जिसमें आसक्ति नहीं उसे कर्म लिप्त नहीं कर सकते।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

इस प्रकार कर्म ही इहलोक और परलोक में सुख देने वाला है और अनासक्तिपूर्वक किया गया कर्म ही मोक्ष देने वाला बन जाता है। गृहस्थाश्रम में निषिद्ध और निरर्थक कर्मों को छोड़ कर शेष दोनों प्रकार के कर्म करने चाहिए।

ज्ञान के प्रयोजन से कर्म – आयु के तीसरे भाग में जो कर्म किया जाता है उसका प्रयोजन ज्ञान है। ब्रह्मचर्य–आश्रम में जो ज्ञान अर्जित किया था उसका प्रयोजन यह था कि गृहस्थावस्था में जो कर्म किए जाएँ, वे वीर्यवान् हों। वानप्रस्थ में जो कर्म किया जाता है उसका प्रयोजन यह है कि संन्यास का ज्ञान वीर्यवान् बने। वानप्रस्थ के ऐसे कर्म को तपश्चर्या कहते हैं क्योंकि यह कर्म शारीरिक न होकर अन्तर्व्यापार रूप होता है। अन्तर्व्यापार अथवा प्राणव्यापार ही तप है। गृहस्थाश्रम में कर्म का प्रतिपादन करने वाला वह वेद–भाग मुख्य होता है जिसे ब्राह्मण–ग्रन्थ कहा जाता है। वानप्रस्थ में उपासना का प्रतिपादन करने वाला आरण्यक नामक वेदभाग मुख्य होता है।

आयु की अन्तिम चौथी अवस्था में समस्त कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इसलिए समस्त काम्य कर्म भी छूट जाते हैं –

"काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।"

किन्तु काम्य कर्म छूटने पर भी नित्य कर्म नहीं छूटते –

"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्म्मणि।"

गृहस्थ भी यदि फलासक्ति छोड़ दे तो उसके कर्म मोक्ष का साधन बन जाते हैं। संन्यासी भी फलासक्ति छोड़ देता है। अन्तर इतना है कि फलासक्ति न होने पर भी गृहस्थ लोक व्यवहार के लिए काम्य कर्म भी करता रहता है जबकि संन्यासी काम्य कामों को भी छोड़ देता है।

आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों के बीच सन्तुलन बनाया गया है। गृहस्थ के अन्तर्गत मनुष्य अपने सामाजिक दायित्वों को भी निभाता है और संन्यास के अन्तर्गत आत्म-साक्षात्कार करता है। गीता ने इस बात पर बल दिया कि कर्म ज्ञान में बाधक न बने अपितु सहायक सिद्ध हो और इसी प्रकार ज्ञान भी कर्म को पुष्ट बनाए।

संस्कारों की रूपरेखा : गीता के आलोक में

गीता में कर्म की विस्तार से चर्चा है। लोकमान्य तिलक तो गीता को कर्मयोग का ही ग्रन्थ मानते हैं। कर्म का एक अर्थ कर्मकाण्ड भी है। वेद के तीन काण्डों में कर्मकाण्ड प्रथम है। शेष दो काण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड हैं।

कर्मकाण्ड शब्द को सुनकर हमारी आंखों के सामने एक दृश्य आ जाता है: अग्नि जल रही है और कोई पण्डित संस्कृत में जल्दी–जल्दी, किन्तु जोर–जोर से, कुछ मन्त्र बोल रहा है। उन मन्त्रों का अर्थ सुनने वालों की समझ में तो क्या आएगा, स्वयं बोलने वाला भी उनका अर्थ समझ पाता है या नहीं – यह संदिग्ध है। ऐसे अवसर हिन्दू घरों में आते रहते हैं जब विवाह आदि के समय यह दृश्य उपस्थित होता है। इसे संस्कार कहा जाता है। होता यह है कि ऐसे अनुष्ठान अत्यन्त अनमने मन से किए जाते हैं। कुछ श्रद्धालु न समझ पाने पर भी, ऐसे अनुष्ठानों में गम्भीर रहते हैं किन्तु अधिकतर लोग इन अनुष्ठानों को एक मुसीबत समझ कर ही निभाते हैं। धीरे–धीरे इन अनुष्ठानों को बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति पनपती जा रही है। यह स्वाभाविक भी है। जब तक किसी क्रिया का महत्व समझ में न आए तब तक उसमें रुचि कैसे हो सकती है।

वस्तुतः स्थिति यह है कि ये संस्कार वे अनुष्ठान हैं जिन पर हमारी संस्कृति टिकी है। आजकल नाच–गाने आदि के कार्यक्रमों को बहुत आत्मविश्वासपूर्वक सांस्कृतिक कार्यक्रम घोषित कर दिया जाता है। क्या ये कार्यक्रम वस्तुतः सांस्कृतिक हैं? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें संस्कार शब्द का अर्थ जानना होगा। संस्कार शब्द का अर्थ है जो एकीभाव उत्पन्न करे। सम् का अर्थ है – एकीभाव तथा 'कार' का अर्थ है करने वाला। सम्+कार=संस्कार अर्थात् एकीभाव पैदा करने वाला। एकीभाव का अर्थ है अखण्डता। अखण्डता का अर्थ है समग्र। समग्र का विपरीतार्थक शब्द है – व्यग्र। व्यग्र शब्द ही बोल रहा है कि जो समग्र नहीं है, वह व्यग्र अर्थात् दुःखी है। हमारी समग्रता में बाधक तत्वों को हटा कर जो समग्रता के साधक तत्व को उपस्थित कर दे, वही संस्कार है।

समग्रता के बाधक तत्व – समग्रता के बाधक तत्व दोष कहलाते हैं। दोषों के कारण हम अपने में अपूर्णता का अनुभव करने लगते हैं। इसीलिए दोष हमें व्यग्र बना देते हैं – हमें समग्र नहीं बनने देते हैं। बोलचाल की भाषा में हम कहते हैं कि अमुक दुर्घटना ने मुझे तोड़ दिया है। पिता पुत्र की मृत्यु पर कहता है कि पुत्र की मृत्यु के बाद मैं टूट गया हूँ। यह टूट जाना ही खण्डित हो जाना है। जो खण्डित हो गया वह सुखी नहीं रह सकता है।

हम अनेक प्रकार से खण्डित होते हैं। हमारे मन में कुछ है और हम वाणी से बोल कुछ और रहे हैं। यही असत्य भाषण का स्वरूप है। असत्य भाषण करते समय हम अखण्ड नहीं रहते। मन में हम जानते हैं कि हमने चोरी की है; मुँह से हम कह रहे हैं कि हमने चोरी नहीं की । यह स्थिति हमारी अखण्डता की नहीं है,

हमारे यहाँ दो खण्ड हो गए हैं – एक जानता है कि चोरी की है, दूसरा कह रहा है कि चोरी नहीं की। ये दोनों तथ्य विषम हैं, सम नहीं। अतः असत्य हमें विषमता में डाल देता है, समता में नहीं रहने देता। अतः असत्य एक दोष है। किसी भी श्रौतयाग में दीक्षित होते समय यजमान को सर्वप्रथम यह कहना पड़ता है कि वह अनृत को छोड़कर सत्य को धारण कर रहा है – **इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि**। जब तक यजमान सत्य का सङ्कल्प न ले तब तक वह यज्ञ करने का अधिकारी नहीं बनता।

असत्य हमें अपने से काटकर रख देता है तो हिंसा हमें दूसरों से काट देती है। हम सबके हित आपस में जुड़े हैं। हम किसी का अहित करके अपना हित नहीं कर सकते। यदि हम समष्टि को अखण्ड रूप में देखें तो यह बात समझ में आ जाती है किन्तु यदि हम अपने को दूसरों से पृथक् समझ कर खण्डित दृष्टि लेकर चलें तो यह समझना कठिन हो जाता है कि यदि किसी को हानि पहुँचाकर मैं अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकता हूँ तो ऐसा क्यों न करूँ? यह खण्डित दृष्टि ही हिंसा की जड़ है। गीता तो इससे भी आगे जाकर यह कहती है कि जो व्यक्ति केवल अपने ही स्वार्थ की सिद्धि में लगा रहता है वह मानो साक्षात् पापों का ही भोग करता है – **भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**। गीता का कहना यह है कि केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि किसी को बिना नुकसान पहुँचाए, व्यक्ति अपने हित की सिद्धि कर ले बल्कि यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति अपना हित भी इस प्रकार साधे कि उसमें दूसरों का भी हित अनिवार्यतः सिद्ध होता हो। यह अहिंसा का विधायक रूप है। किसी को कष्ट न देना – यह अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष है, सबको सुख देना – यह अहिंसा का विधायक रूप है। दोनों पक्ष साथ-साथ चलने चाहिए – सबको सुख भी मिले और किसी को कष्ट भी न हो। यह अहिंसा की सही और पूरी समझ है। अहिंसा की कसौटी है अपने समान सबको समझना – **आत्मवत् सर्वभूतेषु**। मनुष्य को स्वयं कष्टों से बचने का ही पुरुषार्थ नहीं करना है अपितु सुख–प्राप्ति का भी पुरुषार्थ करना है। अतः उसके लिए दूसरों को भी कष्ट न देना ही पर्याप्त नहीं है, उसे दूसरों की सुख–प्राप्ति में भी सहायक होना चाहिए।

जैसे व्यक्ति जब अपने को समाज से अलग करके सोचता है तो स्वार्थ फलित होता है और हिंसा का जन्म होता है, वैसे ही जब एक राष्ट्र अपने को दूसरे राष्ट्रों से अलग मानकर व्यवहार करता है तो साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का जन्म होता है। पहले राष्ट्र अधिकतर एक-दूसरे पर सशस्त्र आक्रमण करके एक–दूसरे को पराधीन बना लेते थे। आज सशस्त्र आक्रमण न करके भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया द्वारा विकसित राष्ट्र अविकसित/विकासशील राष्ट्रों के बाजारों पर काबू पाकर उन्हें अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। यह सब खण्डित दृष्टि का फल है। भारत का राष्ट्रवाद अन्तःराष्ट्रवाद का परिपूरक है, विरोधी नहीं। वेद का आदेश है कि हम राष्ट्र के अभ्युदय के लिए सदा जागरूक रहें – **वयं राष्ट्रे जागृयाम**, किन्तु साथ ही यह भी न भूले कि यह पूरी भूमि हमारी माँ है और हम पृथिवी के पुत्र हैं – **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**। यह पूरा विश्व एक नीड़ है – **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**। इस नीड़ का एक तिनका भी टूटता है तो पूरा नीड़ उससे प्रभावित होता है। दूसरे राष्ट्र का शोषण करके हम अपने राष्ट्र का पोषण कर लेंगे – यह धारणा खण्डित दृष्टि का परिणाम है। यह संस्कृति नहीं है, विकृति है।

निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति अखण्ड होगा तो भ्रष्टाचार नहीं फैल सकता, समाज अखण्ड होगा तो शोषण नहीं हो सकता तथा विश्व अखण्ड होगा तो साम्राज्यवाद को स्थान नहीं मिल सकता। यह अखण्डता ही वह एकीभाव है जिसकी सूचना संस्कार शब्द में पड़ा 'सम्' उपसर्ग दे रहा है – **सम् इति एकीभावे**। इस एकीभाव की स्थापना जब हम कर्म के माध्यम से करते हैं तो वह कर्मकाण्ड बन जाता है, इसी लक्ष्य से की गई उपासना, उपासनाकाण्ड अथवा भक्ति है तथा इसी ओर ले जाने वाला ज्ञान ज्ञानकाण्ड है। काण्ड तीन हैं किन्तु लक्ष्य एक है – द्वैतभाव को मिटाकर अद्वैत की स्थापना। अधिकारी भेद से कोई कर्म का अधिकारी है तो कोई भक्ति का

और कोई ज्ञान का। इन तीनों में कोई विरोध नहीं है; तीनों का लक्ष्य एक ही है। इसलिए गीता तीनों का प्रतिपादन करके यह भी घोषणा कर देती है कि सांख्य अर्थात् ज्ञान, और योग अर्थात् कर्म, को अज्ञानी पृथक् मानते हैं, ज्ञानी नहीं – **सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः**। इतनी स्पष्ट घोषणा के बाद भी यदि कोई कर्म और ज्ञान का समन्वय न कर पाए और दोनों में विरोध बताए तो यही समझना चाहिए कि कर्म और ज्ञान की पद्धति भिन्न है, किन्तु लक्ष्य भिन्न नहीं है।

कर्मकाण्ड अथवा संस्कार का प्रथम कार्य है – दोष का मार्जन। ऊपर हमने इसी पक्ष का विवरण दिया है। गीता ने स्पष्ट किया है कि व्यक्ति का आचरण ऐसा हो कि वह दूसरों के लिए उद्वेग का कारण न बने और दूसरे भी उसे उद्विग्न न कर सकें – **यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः**। यह तब ही सम्भव है जब हम एक–दूसरे का कल्याण करते हुए अपना परम हित साधें – **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**। यह सामाजिक चिन्तन का मूल सूत्र है। परवर्ती दार्शनिकों ने चिन्तन को ऐसा मोड़ दे दिया कि मोक्ष एक व्यक्तिगत लक्ष्य बन कर रह गया, गीता का समाजमूलक चिन्तन लुप्त हो गया।

गुणों का आधान – दृष्टि की सङ्कीर्णता के कारण हममें गुणों का आधान नहीं हो पाता, भले दोषों का मार्जन हो भी जाए। मैं किसी को कष्ट न पहुँचाऊँ तो मुझे हिंसा का पाप तो नहीं लगेगा, किन्तु जब तक मैं दूसरों के हित की भी चिन्ता न करूँ तब तक मुझमें सर्वभूतहित के गुण का आधान नहीं होगा। हम निर्दोष होने मात्र से महात्मा या महाशय या महाभाग नहीं बनते, उसके लिए उदारता, मुक्तहस्तता, परगुणप्रशंसा आदि विधायक गुण भी चाहिए। यह शर्त अवश्य है कि दोष हटाए बिना गुणों का आधान नहीं हो सकता। एक व्यक्ति स्वार्थी है तो उसकी समाजसेवा भी एक ढोंग ही सिद्ध होगा। वह प्रदर्शन के लिए परोपकार करेगा परन्तु उसके अन्तर् में स्वार्थ सिद्धि ही रहेगी। जो अन्तर् में बाधक बन कर आए, उसे ही अन्तराय=बाधक कहा जाता है। यह अन्तराय एक गहरा अँधेरा है जो सत्य के दर्शन नहीं होने देता, इसीलिए अन्तराय को तिमिर कहा जाता है – **अन्तरायतिमिरोपशान्तये**। काम, क्रोध, मद, लोभ, माया, आदि सब अन्तराय हैं।

दोषों का मार्जन तथा गुणों का आधान संस्कार का प्रयोजन है। एक तीसरा प्रयोजन हीनाङ्ग पूर्ति है। कपड़ा मैला है तो उसे धोकर साफ करना दोषमार्जन है, अभीष्ट रंग से रंगना गुणाधान है। किन्तु इसके अतिरिक्त एक और भी कार्य है, यदि कपड़ा फटा है तो उसे सिलना भी पड़ता है। यही हीनाङ्ग पूर्ति है। हमारे जीवन में अनेक न्यूनताएँ आती रहती हैं। उनकी पूर्ति के लिए शुद्धि–संस्कार करने पड़ते हैं। ये मुख्यतः पाँच हैं – शरीरशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, अघशुद्धि, एनशुद्धि तथा भावशुद्धि। शरीर को दन्तधावन, स्नान आदि से शुद्ध करना शरीरशुद्धि है। घर के अथवा अन्यत्र उपयोग में आने वाले उपकरणों को जल आदि से धोकर अथवा झाडू से झाड़कर साफ करना द्रव्यशुद्धि है। सूतक, पातक, आदि अवसरों पर कुछ समय तक एक आचार–विशेष का पालन करना पड़ता है। यही अघशुद्धि है। सूतक, पातक आदि अवसरों पर अत्यधिक हर्ष अथवा शोक के कारण हमारी मनःस्थिति असाधारण बन जाती है। यह स्थिति कुछ समय बाद स्वयं ही सामान्य हो जाती है। अतः दस दिन तक सूतक, पातक आदि का विचार किया जाता है।

हम जो दैनन्दिन कार्य करते हैं उसमें प्राणियों को कष्ट पहुँचता है। घर में झाडू लगा कर फर्श धोते समय न जाने कितने कीड़े–मकोड़े मरते हैं। ऐसे पाप को एन कहते हैं। इसकी शुद्धि के लिए पञ्च महाभूत यज्ञ करने होते हैं। काक, श्वान आदि आपाततः अनुपयोगी प्राणियों को बलि देना भूतयज्ञ है। वस्तुतः प्रकृति के सन्तुलन बनाए रखने में इन प्राणियों का भी योगदान है। गौ आदि तो साक्षात् ही उपयोगी है। अतिथि को भोजन देना मनुष्य यज्ञ है। पितरों को तर्पण करना पितृयज्ञ है। अग्निहोत्र देवयज्ञ है। वेद का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है।

ऋण से मुक्ति – देवयज्ञ से देवऋण चुकता है। अग्नि, वायु, सूर्य आदि हमारा अनन्त उपकार करते हैं और बदले में कुछ भी नहीं माँगते। यही देवऋण है। देवयज्ञ द्वारा हम इस ऋण से मुक्त होते हैं। सन्तान के यथोचित पालन–पोषण तथा शिक्षा–दीक्षा की व्यवस्था करके हम पितृऋण से मुक्त होते हैं। वेदाध्ययन करके हम ऋषिऋण से मुक्त होते हैं। जैसे देव हम पर उपकार करते हैं, वैसे ही माता–पिता भी हमारा पालन–पोषण करके हमारा उपकार करते हैं। हमारा भी कर्त्तव्य बनता है कि हम भी अपनी सन्तति का पालन–पोषण करके राष्ट्र को अच्छे नागरिक दें। हमारे पूर्वजों ने भोजन पकाने की क्रिया से लेकर विमान बनाने तक के अनेक आविष्कार अपने ज्ञान द्वारा किए जिनका लाभ हम प्रतिदिन उठाते हैं। हम विद्याध्ययन द्वारा उस पुराने ज्ञान को आगे बढ़ाते हैं। ताकि आगे आने वाली पीढ़ियाँ हमारे आविष्कारों का लाभ उसी प्रकार उठा सकें जैसे अपने पूर्वजों के ज्ञान का लाभ हमने उठाया है। ऋषिऋण से मुक्त होने का यही अभिप्राय है। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञ हमें एन तथा ऋण से मुक्त करते हैं।

पाँचवीं अन्तिम शुद्धि भावशुद्धि है। यह आठ गुणों से सम्पन्न होती है – धृति, क्षमा, दया, शौच, आस्तिक्य, अनसूया, अस्पृहत्व तथा अकामत्व। जिसमें ये आठ गुण हैं उसके भाव शुद्ध माने जाते हैं। यह आन्तरिक शुद्धि है।

इस प्रकार संस्कार हमें व्यक्तिगत रूप में बाहर तथा अन्दर से शुद्ध बनाते हैं। वे हमें हमारे पूरे परिवेश से जोड़ते हैं तथा हमें अपने सामाजिक दायित्व का भी बोध कराते हैं।

ये संस्कार हमारी संस्कृति का स्वरूप हैं। कर्मकाण्ड के रूप में आकर ये संस्कार एक अनुष्ठान का रूप ले लेते हैं। अनुष्ठान का प्रयोजन व्यक्ति के मन को एकाग्र करना है। दुर्भाग्य से आज पुरोहित संस्कारों का महत्व नहीं बता पाते तो संस्कारों के प्रति अरुचि पैदा होना स्वाभाविक है। कर्मकाण्ड करवाने वाले व्यक्ति को पौरोहित्य का पूरा ज्ञान होना चाहिए। चिकित्सा, इंजीनियरिंग आदि स्थूल कर्मों को करने के लिए व्यक्ति के पास न्यूनतम योग्यता होना आवश्यक माना गया है किन्तु सूक्ष्म दैवकर्म करने वाले पुरोहित को संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक नहीं समझा जाता। किन्तु शास्त्र इस सम्बन्ध में अत्यन्त कठोर आज्ञा देते हैं। वसिष्ठ स्मृति कहती है कि जो विप्र वेद नहीं पढ़ा वह काठ के हाथी अथवा चमड़े में मढ़े हुए हिरण के समान ही नाममात्र का विप्र है –

यश्च काष्ठमयो हस्ती यश्च चर्ममयो मृगः
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः।

आगे वे कहते हैं कि जो श्रोत्रिय नहीं है, अनुवाक्यों का पाठ नहीं करता, अग्निहोत्र नहीं करता, ऋचाओं को नहीं जानता, वह ब्राह्मण नहीं है, अपितु शूद्रधर्मा ही है –

अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयः शूद्रधर्माणो भवन्ति नानृग्ब्राह्मणो भवति।

इतना ही नहीं, यह भी कहा गया है कि जो नियमों का पालन नहीं करते, वेद नहीं पढ़ते किन्तु दान–दक्षिणा की आशा करते हैं, राजा ऐसे द्विजों वाले ग्राम को दण्डित करे –

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः॥

शब्द कठोर है, किन्तु सत्य है। यदि पुरोहित इन आदेशों की ओर ध्यान न देकर संस्कार आदि अनुष्ठान करवाते हैं, वे संस्कारों के महत्व को कैसे स्थापित कर सकेंगे? प्रत्येक कीमती वस्तु अपना मूल्य माँगती है। यदि संस्कारों को महत्व देना है तो पौरोहित्य करवाने वालों को वेद के सार्थक अध्ययन के लिए बाध्य करना ही होगा। वेदमर्मज्ञ पुरोहित ही संस्कारों का अभीष्ट फल यजमान को दिलवा सकते हैं।

गीता में पाप-पुण्य विवेचन

गीता में जितना अधिक विस्तार कर्म के विवेचन का है उतना अधिक विस्तार किसी अन्य विषय का नहीं है। प्रसिद्ध है कि वेद के एक लाख मंत्रों में अस्सी हजार मंत्र कर्मपरक हैं। चाहे वेद हो, चाहे गीता, सभी शास्त्र जीवन जीने का तरीका सिखाते हैं। हमारा सारा जीवन कर्म में ही बीतता है। इसलिए शास्त्रकार कर्म का ही विवेचन विशेष रूप से करते हैं।

कर्म का परिणाम और फल – कर्म का महत्व इसलिए है कि कर्म ही हमारे जीवन का निर्माण करता है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि कर्म का परिणाम एक बात है और कर्म का फल दूसरी बात है। उदाहरणतः किसी व्यक्ति ने बेईमानी करके पैसा कमा लिया। वह अमीर हो गया। यह तस्कर कर्म का परिणाम है, फल नहीं। तस्कर कर्म का फल तो यह है कि इससे आत्मा मलिन होती है। यह आत्मा की मलिनता ही वासना अथवा संस्कार कहलाती है। एक दूसरा उदाहरण लें, एक व्यक्ति ने तपस्या की। उससे उसका शरीर क्षीण हो गया। यह कर्म का परिणाम है। तप का फल तो यह है कि उसकी आत्मा निर्मल हुई। अभिप्राय यह है कि कर्म का जैसा परिणाम हो वैसा ही फल भी हो – यह आवश्यक नहीं। कर्म का परिणाम प्रायः प्रत्यक्ष होता है इसलिए हम सबको दिखाई दे जाता है। कर्म का फल साधारण मनुष्यों की दृष्टि से ओझल ही रहता है इसलिए हमें दिखाई नहीं देता। जिनकी दृष्टि सूक्ष्म है वे कर्म के फल को देख लेते हैं। ऐसे ही व्यक्ति ऋषि कहलाते हैं, जिनका लक्षण है – धर्म के तत्त्व के साक्षात् कर्त्ता। इन ऋषियों की वाणी ही श्रुति कहलाती है। मनु के अनुसार श्रुति उन विषयों का प्रतिपादन नहीं करती जिन्हें हम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष द्वारा जान सकते हैं –

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।

किसी कर्म से जो वासना हमारी आत्मा पर खचित होती है उसी के अनुसार हमारा भविष्य निर्धारित होता है। किस कर्म का क्या फल होगा और उस फल के अनुसार हमारी क्या गति होगी – शास्त्र हमें यही बताते हैं। जो शास्त्र का अनुकरण करते हैं वे अपने कर्म का अनुकूल फल पाते हैं। किन्तु जो स्थूल बुद्धि से देखते हैं वे कर्म के परिणाम को ही देख पाते हैं – कर्म के फल को नहीं जान पाते। अतः उन्हें कर्म का परिणाम तो भले ही प्राप्त हो जाए किन्तु वे कर्म के अनुकूल फल से वंचित ही रह जाते हैं। इसलिए गीता में भगवान् कृष्ण ने कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का निर्णय करने के लिए शास्त्र को ही प्रमाण ठहराया है –

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

प्रश्न होता है कि क्या शास्त्र पर अन्ध श्रद्धा करनी चाहिए? उत्तर यह है कि शास्त्र की बातों पर युक्तिपूर्वक विचार करना ही मनन कहलाता है। केवल शास्त्र का सुनना ही पर्याप्त नहीं है, उस पर मनन भी होना चाहिए। मननपूर्वक ही शास्त्र का अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, अन्ध श्रद्धापूर्वक नहीं। पूरा भारतीय वाङ्मय वेद पर मनन की प्रक्रिया अपनाने का ही परिणाम है। कहा जाता है कि सारा पश्चिमी चिन्तन प्लेटो के चिन्तन की पाद-टिप्पणी है। हम कह सकते हैं कि सारा भारतीय चिन्तन वैदिक चिन्तन की पाद-टिप्पणी है। वेद साक्षात्-कृतधर्मा ऋषियों की वाणी है। उसी वाणी का मनन करके आचार्यों ने उपवेद, वेदान्त, स्मृतियाँ, पुराण और दर्शनों का निर्माण किया। गीता को भी वेद के उपनिषद् भाग का सार कहा गया है –

सर्वोपनिषदो गावः दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सो सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

वेद को समझे बिना भारतीय वाङ्मय के किसी भी भाग को पढ़ना ऐसा ही है जैसा कि कोई पाठक मूल ग्रन्थ को न पढ़कर केवल उसके फुटनोटों को पढ़ ले।

कर्म फल को बताने वाला गीता का श्लोक कहता है कि संसार में दो ही प्रकार की गतियाँ हमेशा से चली आती हैं – शुक्ल गति और कृष्ण गति –

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।

गीता का यह श्लोक ऋग्वेद के उस मंत्र की ही व्याख्या कर रहा है जहाँ दो गतियों की चर्चा है जो गतियां पितृलोक और देवलोक में ले जाती हैं।

द्वे स्रुती अशृण्वं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च।।

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए कि ये दो गतियाँ कौन-सी हैं हमें वेद की शरण लेनी होगी। गीता में गति को शुक्ल और कृष्ण कहा है। यह स्पष्ट है कि समस्त शुक्लता सूर्य के प्रकाश का प्रभाव है, वेद स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि सभी मनुष्य सूर्य से उत्पन्न हुए हैं, सूर्य ही जगत् की आत्मा है –

नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः, सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

जो पदार्थ जहाँ से उत्पन्न होता है वह वहीं लीन होता है। सूर्य हमारी आत्मा है, अतः हमारी आत्मा शरीर छोड़ने के अनन्तर सूर्य की ओर ही जानी चाहिए। जो कर्म हमें सूर्याभिमुख बनाएं वे अभ्युदय कर्म कहलाते हैं, उसका फल शुक्ल गति है। जो कर्म हमें सूर्य के विरुद्ध अर्थात् अन्धकार में ले जाते हैं, वे प्रत्यवाय कहलाते हैं। अभ्युदय का अर्थ है सम्मुख ऊपर की ओर जाना, यही शुक्ल गति है। प्रत्यवाय का अर्थ है उलटा नीचे की ओर जाना, यही कृष्ण गति है।

संस्कार नष्ट नहीं होता – शुक्ल गति हो या कृष्ण गति, दोनों ही कर्म का फल हैं। हम बता चुके हैं कि कर्म के समाप्त हो जाने पर भी उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार नष्ट नहीं हो जाता। इसीलिए उसे अतिशय कहते हैं। वह संस्कार हममें बस जाता है, इसीलिए उसे वासना भी कहते हैं।

यह संस्कार या वासना दो प्रकार की है – एक शुक्ल गति में ले जाने वाली, एक कृष्ण गति में ले जाने वाली। कृष्ण गति में ले जाने वाली वासना को पाप कहा जाता है। शुक्ल गति में ले जाने वाली वासना को पुण्य कहा जाता है।

संस्कृत भाषा के शब्द अपना अर्थ स्वयं दे देते हैं। यदि हमें व्याकरण का ज्ञान है तो शब्द का अर्थ देखने के लिए शब्दकोष की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह विशेषता जैसी संस्कृत भाषा में है, अन्य किसी भाषा में नहीं। ऊपर हमने अभ्युदय और प्रत्यवाय शब्द दिए हैं ये दोनों शब्द अपना अर्थ स्वयं ही बता देते हैं।

अभि=सम्मुख, उदय=ऊपर की ओर गमन; प्रति=विपरीत, अवाय=नीचे की ओर गमन। इसी प्रकार पाप के पर्यायवाची एनस् शब्द को लें। अ=नहीं, इन्=सूर्य, अस्=सत्ता। अर्थात् जिसकी गति सूर्य की ओर नहीं है वही कर्म एनस् है।

प्रायश्चित्त का विधान – मनुष्य अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान् है। उससे पाप हो ही जाता है। शास्त्रों में उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त शब्द भी अपना अर्थ स्वयं दे रहा है। प्रायः का अर्थ है – निकलने वाला, प्रयाण करने वाला, चित्त का अर्थ है – चयन, चुन लेना। जो निकलती हुई आत्मशक्ति का पुनः संग्रह कर ले वही प्रायश्चित्त है। संस्कृत भाषा का ज्ञान न होने के कारण हम इन शब्दों का प्रयोग तो करते हैं, किन्तु अर्थ नहीं जानते। इसलिए हमारा सारा ज्ञान तोता–रटन्त हो गया है। जैसे तोता शब्द बोल तो लेता है किन्तु

उसका अर्थ नहीं जानता, वैसे ही हम इन शब्दों का प्रयोग तो कर लेते हैं किन्तु इनका अर्थ नहीं जानते। स्वतंत्रता के बाद भी हम अपनी शिक्षा नीति में अंग्रेजी की तो अनिवार्यता बनाए हुए हैं। किन्तु बार–बार यह घोषणा करने पर भी कि संस्कृत सबको पढ़नी चाहिए हम संस्कृत को अनिवार्य बनाने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे। हमारी मानसिक दासता और परतंत्रता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है। हम अभ्युदय का अर्थ भी नहीं जानते, केवल प्रगति की रट लगाए हैं, किन्तु यह पता नहीं है कि गति किस ओर करनी है।

कुल मिलाकर हम कर्मों को छः भागों में बाँट सकते हैं –

१. अभ्युदयजनक कर्म पुण्य हैं।

२. प्रत्यवायजनक कर्म पाप हैं।

३. अभ्युदय को नष्ट करने वाले कर्म पाप हैं।

४. प्रत्यवाय को रोकने वाले कर्म अर्थात् प्रायश्चित्त पुण्य हैं।

५. अभ्युदय के निमित्तों को रोकने वाले कर्म पाप हैं।

६. प्रत्यवाय के निमित्तों को रोकने वाले कर्म पुण्य हैं।

उपर्युक्त छः कर्मों में तीन कर्म पुण्य हैं और तीन पाप हैं। शास्त्र विहित कर्म शुभ हैं इनसे अभ्युदय होता है। प्रायश्चित्त कर्म वे हैं जिनके द्वारा अभ्युदय में बाधक कर्म नष्ट होते हैं, उदाहरणतः चान्द्रायण आदि व्रत। तीसरे पुण्य कर्म वे हैं जो अभ्युदय में बाधक कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देते। इन्हें शान्ति–स्वस्त्ययन कर्म कहते हैं। उदाहरणतः गुरुजनों की सेवा, आहार में विवेक आदि।

जो कर्म अभ्युदय में बाधा डालते हैं वे प्रत्यवाय कहलाते हैं। जो अभ्युदय के निमित्त को नष्ट कर दें वे दुष्कृत कहलाते हैं और साक्षात् अभ्युदय को नष्ट करने वाले कर्म अघ कहलाते हैं।

उपर्युक्त छः कर्मों में पुण्य कर्म कर्म हैं, पाप कर्म विकर्म हैं। गीता में उन्हीं का विवेचन है –

कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्म्मणः।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्म्मणो गतिः॥

गीता में अभ्युदय

अभ्युदय का सम्बन्ध शरीर से है और निःश्रेयस का सम्बन्ध आत्मा से है। यदि शरीर पुष्ट न हो तो आत्मा भी शान्त नहीं रह पाती। अतः अभ्युदय का निःश्रेयस से गहरा सम्बन्ध है। शरीर का निर्माण अन्न से होता है अतः शरीर की स्थिति के लिए अन्न मिलते रहना चाहिए। अन्न की इच्छा ही मनुष्य को विविध कर्मों से प्रेरित करती है। कहावत है कि पापी पेट के लिए सब कुछ करना पड़ता है। यह सामान्य स्थिति है। शास्त्र का कार्य इस स्थिति को मर्यादित करना है।

इस स्थिति को दो ओर से मर्यादित करना होता है। एक ओर तो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। दूसरी ओर मनुष्य को अपनी आकांक्षाओं को इतना विस्तार भी नहीं देना चाहिए कि उन आकांक्षाओं की पूर्ति ही न हो सके। यदि मनुष्य की आवश्यकताओं की भी पूर्ति न होगी तो वह अपने शरीर की स्थिति नहीं बनाए रह सकेगा। शरीर धर्म का प्रथम साधन है। अतः आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य होनी चाहिए।

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर्म करने होते हैं। कर्म की सफलता का प्रथम घटक है – कर्म-कुशलता। गीता में कर्म-कुशलता को योग कहा है। कुशलता के अनेक अर्थ हैं। चञ्चल मन द्वारा कोई भी कर्म कुशलता द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता। कुशलता के लिए चित्त की एकाग्रता होनी चाहिए। इसलिए योग का एक

अर्थ चित्त की एकाग्रता भी है। यदि चित्त अनुकूलता/प्रतिकूलता से विचलित होता रहेगा तो वह एकाग्र नहीं रह पाएगा। अतः योग का एक तीसरा अर्थ समत्व भी है।

स्थितप्रज्ञता – सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास में शरीर का विचलित न होना शारीरिक समता है, मान–अपमान में समान रहना मानसिक समता है। इसी स्थिति को गीता में स्थितप्रज्ञता कहा गया है। जैसे ही किसी भी परिस्थिति के कारण हम विचलित होते हैं, हमारे निर्णय लेने की क्षमता कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में या तो हम निर्णय ले ही नहीं पाते अथवा हम गलत निर्णय ले लेते हैं। यही हमारी विपत्ति का मूल कारण बनता है।

इस बात को एक अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। मन में तीनों गुण रहते हैं। यह सत्वगुण मुख्य हो तो सुख होता है, रजोगुण दुःख का कारण बनता है तथा तमोगुण मूढता उत्पन्न करता है। सार तत्व यह है कि रजोगुण ही दुःख का कारण है। रजोगुण का कार्य है – चञ्चलता उत्पन्न करना। निष्कर्षतः चञ्चलता ही दुःख का कारण है। मन सदा नवीनता चाहता है। फलतः जो पदार्थ अभी सुख दे रहा था दूसरे क्षण में हमारा मन उस पदार्थ से ऊब जाता है और वह कोई दूसरा पदार्थ माँगने लगता है। इस प्रकार मन कभी भी सुखी नहीं हो पाता।

सफलता की कुञ्जी है – मन की एकाग्रता। मन की एकाग्रता के दो साधन हैं – अभ्यास और वैराग्य। अभ्यास से एकाग्रता हमारी आदत बन जाती है। वैराग्य का अर्थ है – पदार्थ के प्रति अनासक्ति का भाव। अनासक्ति का अर्थ है कि आवश्यकता से अधिक पदार्थ की इच्छा न रखना तथा जो पदार्थ आवश्यक है उसे भी साध्य न मानकर साधन ही मानना। स्वयं शरीर भी धर्म का साधन ही है, स्वयं में साध्य नहीं है। फिर शरीर के लिए आवश्यक रोटी, कपड़ा, मकान आदि साध्य कैसे हो सकते हैं। साधन की सिद्धि इसी में है कि वह साध्य का साधक बने, न कि बाधक। धन के प्रति आसक्ति हमें धन को भोगने नहीं देती। कृपण धन को कमाना तो चाहता है किन्तु खर्च नहीं करना चाहता। यह भोग में प्रथम बाधा है। दूसरी बाधा यह है कि भोग्य पदार्थों को भोगते समय भी आसक्त व्यक्ति का मन धन को कमाने के उपाय सोचता रहता है और वह पदार्थों को भोगता हुआ भी उनका रस नहीं ले पाता। इससे उसके जीवन में नीरसता आ जाती है। आसक्ति की अद्भुत रीति है – आसक्ति का अभिप्राय तो यह रहता है कि जीवन में आनन्द आए किन्तु आसक्ति का परिणाम यह होता है कि जीवन नीरस हो जाता है। अनासक्ति के बिना आनन्द सम्भव ही नहीं है। शरीर की प्रथम आवश्यकता अन्न है। अन्न ही रस, रक्त, मांस इत्यादि रूप में परिणत होता हुआ शुक्र बनता है। यही शुक्र अपने पार्थिव बन्धन से मुक्त होकर ओज बनता है तथा ओज ही दिव्य रूप धारण करने पर मन बनता है। अभिप्राय यह है कि अन्न का सूक्ष्मतम रूप मन है। यदि हम चाहते हैं कि मन शुद्ध हो – और मन का शुद्ध होना ही सारे अभ्युदय का मूल है – तो अन्न शुद्ध होना चाहिए। अन्न की शुद्धि भी दो प्रकार की है। एक तो अन्न स्वयं सात्विक, राजसी और तामसी होता है। सात्विक भोजन ही शुद्ध माना गया है। राजसी और तामसी भोजन करने वालों का मन शुद्ध नहीं रह सकता। दूसरे, अन्न किस उपाय से अर्जित किया गया है, वह भी महत्वपूर्ण है।

वर्णधर्म के अन्तर्गत आजीविकोपार्जन के उपाय बताये गए हैं। आज पुरानी वर्ण-व्यवस्था का अक्षरशः पालन न सम्भव है, न अभीष्ट किन्तु आजीविका का उपार्जन मेहनत तथा ईमानदारी से करना चाहिए – यह बात आज भी महत्त्वपूर्ण है। वर्ण-व्यवस्था का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है – अपने व्यवसाय में आनन्द लेना, जिसे अंग्रेजी में 'जॉब सेटिस्फेक्शन' कहा जाता है। वर्ण-व्यवस्था का मूल यह है कि हमें ऐसा व्यवसाय ही अपनाना चाहिए जो हमारी रुचि के अनुकूल हो। यह रुचि कुछ वंशपरम्परा से आती है और कुछ हम अपने वातावरण से अर्जित करते हैं। इसलिए वर्ण-व्यवस्था जन्म को भी महत्त्व देती है। जिस परिवार में हमारा जन्म हुआ और जिस परिवार में हमारा बचपन बीता उस परिवार से सहज में ही हम कुछ गुण, अभिरुचि और कौशल प्राप्त कर लेते हैं। अतः प्रायः अपने वंशपरम्परागत व्यवसाय हमें अनुकूल पड़ते हैं। आज वंशपरम्परागत व्यवसाय न अपनाने की प्रवृत्ति

जोर पकड़ रही है। एक अध्यापक का पुत्र अध्यापक नहीं बनना चाहता भले ही बैंक में चपरासी बनना पड़े। कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है, जैसे डॉक्टरी। हर व्यक्ति डॉक्टर बनना चाहता है किन्तु उसमें एक चिकित्सक के सहज गुण होते नहीं। चिकित्सक का सच्चा आनन्द यह है कि उसके पास आने वाले रोगी की पीड़ा दूर हो जाए। किन्तु अधिकांश चिकित्सक अपने इस वास्तविक स्वरूप को भूलकर गाँव में स्थानान्तरित होने को वनवास का दुःख मानकर अपनी ही पीड़ा दूर करने में लगे रहते हैं। यह एक उदाहरण है। अभिप्राय तो यह है कि यदि देश के नागरिक अपने कर्त्तव्य कर्म में आनन्द न लेकर सदा शिकायत की मुद्रा ही धारण किए रहेंगे तो राष्ट्र का अभ्युदय एक स्वप्न ही बना रहेगा।

इस देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था अद्भुत थी। उस अर्थव्यवस्था में बेरोजगार होने का प्रश्न ही नहीं था। पैतृक व्यवसाय सबको सहज उपलब्ध था। गाँव में उपलब्ध साधनों से ही गाँव की सब आवश्यकता पूरी होती थी। गांधीजी इसी व्यवस्था के पक्षधर थे। नेहरूजी औद्योगीकरण के पक्षधर थे। नेहरूजी के हाथ में सत्ता आई तो उन्हीं का पक्ष विजयी रहा। अब वैश्वीकरण की बाढ़ आई है। स्वदेशी के पाँव उखड़ गए हैं। ऐसे में परम्परागत ग्रामीण अर्थव्यवस्था नहीं टिक सकेगी। फिर भी इतना किया जा सकता है कि हम आजीविकोपार्जन का कार्य आनन्दपूर्वक करें, रोते-रोते भारभूत समझ कर नहीं।

दृष्टि भी जिम्मेवार – आनन्द का भाव बना रहे इसके लिए कुछ तो व्यक्ति की दृष्टि भी जिम्मेवार होती है लेकिन कुछ व्यवस्था भी जिम्मेवार होती है। यदि व्यवस्था अन्यायपूर्ण है तो व्यक्ति आनन्दित नहीं रह सकता। कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत व्यक्ति को यह समझाया जाता रहा है कि उसके सुख–दुःख उसके कर्म का फल हैं। यह आरोप लगाया जाता है कि इस सिद्धान्त से भारतीय अकर्मण्य हो गए। यह आरोप कुछ अंशों में सत्य भी है। इस समस्या का समाधान गीता में अत्यन्त प्रखर तथा मुखर रूप में प्रस्तुत किया गया है।

पाण्डवों को वनवास के तेरह वर्ष पूरे होने पर उनका राज्य उनको वापिस मिलना चाहिए था। दुर्योधन तेरह वर्ष राज्य सुख भोग चुका था। उसकी जड़ें मजबूत हो गई थीं। उसे लगा कि वह पाण्डवों का राज्य मजे में हड़प सकता है। यह सरासर अन्याय था जिसके पाण्डव शिकार हो गए थे। श्रीकृष्ण ने ऐसे में पाण्डवों को यह नहीं समझाया कि उन्हें इस मुसीबत को अपने कर्मों का फल समझ कर सन्तोष कर लेना चाहिए। वे दुर्योधन के पास दूत बन कर गए।

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को हर प्रकार समझाया कि वह अन्याय न करे। दुर्योधन नहीं माना। श्रीकृष्ण ने युद्ध को बचाने के लिए यह प्रस्ताव रखा की दुर्योधन पाण्डवों को केवल पाँच गाँव दे दे। शान्तिवादियों की दृष्टि में श्रीकृष्ण का यह प्रस्ताव युद्ध से बचने के लिए उठाया गया कदम था, यह भी हो सकता है। किन्तु श्रीकृष्ण का यह कदम एक अन्य गम्भीर अर्थ भी अपने में छिपाए है। दुर्योधन का मत था कि पाण्डव तेरहवें अज्ञातवास के वर्ष में पहचान लिए गए हैं, अतः उन्हें पुनः तेरह वर्ष वन में जाना चाहिए। यह मामला पञ्चांग का शास्त्रीय मामला था। आज भी पञ्चांग को लेकर विवाद चलता ही रहता है और दो-दो दीपावलियाँ घोषित कर दी जाती हैं। ऐसे में श्रीकृष्ण पाण्डवों के पक्ष को नैतिक आधार देना चाहते थे। पाण्डव राज्य छोड़ने को तैयार हैं, उन्हें केवल पाँच गाँव दे दिए जाएँ। दुर्योधन की ओर भीष्म, द्रोण तथा कर्ण जैसे महारथी थे। यदि उनका यह मनोबल बना रहता कि वे सत्य की ओर से लड़ रहे हैं, तो वे अपराजेय थे। श्रीकृष्ण तो सत्य की ओर लड़ रहे हैं तो वे अपराजेय थे। श्रीकृष्ण के केवल पाँच गाँव वाले प्रस्ताव से इन महारथियों का मनोबल टूट गया। इन्हें यह पूरी तरह विदित हो गया कि दुर्योधन हठी, सत्तालोलुप और अन्यायी है। लाचारी में वे दुर्योधन का साथ तो दे रहे थे क्योंकि उन्होंने उसका अन्न खाया था किन्तु मन में वे पूरी तरह जान चुके थे कि वे धर्म के विरुद्ध लड़ रहे हैं। भीष्म, द्रोण तथा कर्ण परिस्थितिवश लाचार थे किन्तु इनमें कोई भी इतना दुरात्मा नहीं था कि उसकी अन्तरात्मा मर चुकी हो। श्रीकृष्ण

ने पाँच गाँव का प्रस्ताव रखकर उनकी सोयी अन्तरात्मा को जगा दिया। वे जान गए कि दुर्योधन का पक्ष नितान्त अधर्म का पक्ष है। युद्ध में शस्त्रबल से अधिक महत्त्वपूर्ण मनोबल है। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के पक्ष का मनोबल तोड़ दिया। गीता में उन्होंने अर्जुन को कहा कि दुर्योधन के पक्ष के लोगों को तो उन्होंने पहले ही मार दिया है। यह एक गंभीर संकेत था।

श्रीकृष्ण के प्रयत्न के बावजूद जब युद्ध सिर पर आ ही गया तो दोनों पक्षों की सेना कुरुक्षेत्र में आमने-सामने आ डटी। ऐसे में अर्जुन को मोह हो गया। उसने घोषणा कर दी कि वह युद्ध नहीं करेगा। युद्ध न करने के जो कारण उसने दिए वे निराधार न थे। श्रीकृष्ण को भी यह कहना पड़ा कि हे अर्जुन! तुम बातें तो बुद्धिमानों की सी कर रहे हो। फिर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन के तर्कों को अनार्यों का मार्ग बताया। अर्जुन भीख माँग कर भेट भरने वाली अकर्मण्यता की बातें कर रहा था। इसी अकर्मण्यता को हटाने के लिए श्रीकृष्ण को गीता सुनानी पड़ी। भाग्यवाद कहीं आड़े नहीं आया।

अनेक भाष्य परस्पर मतभेद – गीता के अनेक भाष्य हैं। उनमें परस्पर मतभेद भी हैं। किन्तु इस ऐतिहासिक तथ्य को कोई निवृत्ति मार्गी भी कैसे झुठला सकता है कि अर्जुन युद्ध से बचना चाहता था और श्रीकृष्ण ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। शंकराचार्य जैसे संन्यासी और महात्मा गांधी जैसे अहिंसावादी के सामने युद्ध करने की प्रेरणा को युक्तिसंगत सिद्ध करने की बड़ी भारी समस्या थी।

वेदविज्ञान की दृष्टि में यह समस्या निराधार है। वेदविज्ञान के अनुसार गति में स्थिति और स्थिति में गति अन्तर्निहित रहती है। गति–स्थिति कहें, अमृत–मृत्यु कहें, निवृत्ति–प्रवृत्ति कहें अथवा ज्ञान–कर्म कहें, यह युगल साथ–साथ रहते हैं। केन्द्र में स्थिति है, परिधि पर गति है, कारण अमृत है, कार्य मृत्यु है, अन्तर् में निवृत्ति है तथा बाह्य में प्रवृत्ति है। यह जगत् का शाश्वत नियम है। इस नियम का उल्लंघन करके भी अन्दर–बाहर दोनों ओर से प्रवृत्त होना चाहता है वह कर्मोपासक तो अन्धकार में जाता ही है, उससे भी अधिक अन्धकार में वह जाता है जो बाहर में प्रवृत्ति नहीं करके अपने को विद्योपासक अथवा ज्ञानमार्गी समझ बैठा है। इस तथ्य को श्रुति स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित कर रही है। अर्जुन इसी वेदविज्ञान को भूलकर अकर्मण्य होना चाहता था। श्रीकृष्ण ने उसकी इस चेष्टा को 'अनार्य' विशेषण से विभूषित किया।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आन्तरिक निवृत्ति का तथा बाह्य प्रवृत्ति का रहस्य समझाया। इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। प्रश्न है अन्याय के विरोध का। अन्याय का विरोध अभ्युदय के लिए आवश्यक है। इस देश के अभ्युदय को अन्याय तथा शोषण ने रोका है। हमने ऊपर ग्रामीण अर्थव्यवस्था की बात की है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था भी इसीलिए छिन्न–भिन्न हो गई है कि उसमें जमींदारों और सामन्तों का शोषण चलता था। महाजन अपनी तरह से शोषण कर रहे थे। अतः वह व्यवस्था चरमरा कर टूट गई।

गीता का सन्देश है कि अन्याय का जमकर विरोध करो। किन्तु इस विरोध को प्रतिशोध की प्रतिक्रिया का रूप नहीं ले लेना चाहिए। इसलिए अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वाले को अन्दर से पूरा संन्यासी होना चाहिए। इसलिए गीता में निवृत्ति का पूरा विवरण है। इसीलिए गीता निवृत्ति मार्गी शंकराचार्य को भी भाती है। अहिंसक महात्मा गांधी भी गीता के भक्त हैं। अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वाले को अन्दर से संन्यासी होते हुए आवश्यकता पड़ने पर बाहर से जुझारू योद्धा भी होना चाहिए। इसलिए गीता में क्षात्र–धर्म का भी विवरण है। इसलिए गीता महात्मा गांधी को ही नहीं, शहीद भगतसिंह को भी प्रिय थी।

जिस अन्यायी के विरुद्ध हम संघर्ष करते हैं उस पर दो ओर से प्रहार करना होता है। एक तो उसका हृदयपरिवर्तन करना होता है। यह नैतिक उपाय है। इसमें तपोबल चाहिए, शस्त्र बल नहीं। किन्तु जहाँ तपोबल काम नहीं देता वहाँ शस्त्रबल भी चाहिए। यही ब्रह्मबल और क्षात्रबल के समन्वय की बात है जिसे वेद में

'मित्रावरुणौ' कहा है। मित्र ब्रह्मबल है, वरुण क्षात्रबल है। दोनों में युति चाहिए, इसलिए दोनों में द्वन्द्व समास किया गया है।

शस्त्रबल हृदय नहीं बदलता, परिस्थिति बदल देता है, तपोबल हृदय बदलता है। अभ्युदय के लिए दोनों प्रकार के परिवर्तन चाहिए। ब्रह्मबल हृदय बदलता है, क्षात्रबल व्यवस्था बदलता है। केवल व्यवस्था बदलने से सब कुछ नहीं हो जाता। साम्यवाद यह प्रयोग करके देख चुका है और असफल हो गया है। इस देश के सन्त हृदय परिवर्तन का अथक प्रयास करते रहे पर न शोषण समाप्त हुआ, न अन्याय। अकर्मण्यता और बेईमानी घटने के स्थान पर बढ़ती ही गई। हमारा अभ्युदय बाधित हो गया, भले ही आँकड़ों के बल पर हम प्रगति और विकास के कितने ही दावे क्यों न करते रहें।

हम अन्दर से संन्यासी बनें और बाहर से योद्धा तो अभ्युदय का द्वार अनावृत हो सकता है। योद्धा का अर्थ शस्त्र उठाना ही नहीं है, विपरीत परिस्थितियों से ली गई हर टक्कर एक युद्ध है। सुविधावादी यह युद्ध नहीं लड़ सकता। यह युद्ध जीवन के हर मोड़ पर लड़ना पड़ता है। इसके लिए सुविधाओं को छोड़कर दुविधाओं को अपनाना होता है। यह वह तप है जो जीवन-संघर्ष के बीचों-बीच किया जाता है, हिमालय की गुफाओं में नहीं। आन्तरिक निवृत्तिपूर्वक ब्रह्म में प्रवृत्त होने का सन्देश वेद में था किन्तु लोग उसे भूल चुके थे। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को माध्यम बना कर वही सन्देश फिर सुनाया। यह सन्देश सदा प्रासंगिक रहेगा।



खण्ड पाँच

आत्मयोग

गीता के सार को अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। यह ब्रह्म विद्या भी है और योगशास्त्र भी है। दूसरे शब्दों में इसमें ज्ञान भी है और कर्म भी। गीता के सार को समझने का एक दूसरा उपाय वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और धर्म के माध्यम से क्रमशः राग–द्वेष, अविद्या, अस्मिता और अभिनिवेश नामक क्लेशों को दूर करने की प्रक्रिया को समझना है। इसका विवरण हमने पहले दिया है। गीता को समझने के लिए आत्मयोग को भी समझना चाहिये। आत्मयोग का अर्थ जीवात्मा का ईश्वर से योग स्थापित करना है। जीवात्मा माया से आवृत है। माया के तीन घटक हैं – ज्ञान–प्रधान सत्त्वगुण, क्रिया–प्रधान रजोगुण और अर्थ–प्रधान तमोगुण। जीवात्मा में ये तीनों रहते हैं और ईश्वर में भी ये तीनों हैं। अन्तर यह है कि जीवात्मा का सत्त्वगुण मलिन है और ईश्वर का सत्त्वगुण शुद्ध इसलिए जीवात्मा अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है। यह अल्पज्ञता ही जीवात्मा के दुःखी होने का कारण है जबकि सर्वज्ञता के कारण ईश्वर दुःखी नहीं है।

जीवात्मा और ईश्वर का सम्बन्ध

जीवात्मा और ईश्वर के सम्बन्ध को इस रूप में समझना चाहिए कि जैसे जो पदार्थ व्यष्टि रूप में वृक्ष कहलाता है वही समष्टि रूप में वन कहलाता है उसी प्रकार माया से आवृत जिस आत्मा को व्यष्टि रूप में जीवात्मा कहते हैं, समष्टि रूप में उसे ही ईश्वर कहा जाता है।

जीवात्मा एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेते हुए अनेक शुभ–अशुभ संस्कार अर्जित कर लेता है। माता–पिता से भी वंशानुक्रम से जीवात्मा को अनेक गुण–धर्म प्राप्त होते हैं। देश, काल, आहार–विहार, शिक्षा, संगीत आदि अनेक विषयों में जीवात्मा में अपूर्णता बनी ही रहती है। इस अपूर्णता का मुख्य प्रभाव यह होता है कि जीवात्मा का मन बहिर्मुख होकर तमोगुणात्मक पदार्थ में भटकता रहता है। पदार्थों के प्रति उसकी यह आसक्ति उसे इन्द्रियों का दास बना देती है। यही उसके दुःख का कारण है।

इस दुःख से बचने का उपाय है कि जीवात्मा ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ ले। इसे ही गीता में आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार करना कहा गया है–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

वस्तुतः जीवात्मा का सम्बन्ध ईश्वर के साथ सदा से ही है जैसा कि वृक्ष का वन के साथ सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। परन्तु अज्ञान के कारण जीवात्मा इस सम्बन्ध को जान नहीं पाता। इसी स्थिति को शस्त्र में 'अयुक्त' कहा गया है। ऐसी अयुक्त स्थिति में जीवात्मा थोड़े से ही दुःख से पीड़ित हो जाता है। इसके विपरीत जिस जीवात्मा का सम्बन्ध ईश्वर से जुड़ जाता है वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है –

युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।

गीता में अयुक्त का विश्लेषण बहुत विस्तार से किया गया है। अयुक्त मनुष्य प्राकृत होता है। उसे किसी प्रकार का शास्त्र अथवा गुरु का उपदेश प्राप्त नहीं होता। थोड़ा–सा भी दुःख आने पर वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वह मायावी होता है। सदा दुःख से बचने के उपाय सोचता रहता है किन्तु आलसी होने के कारण कुछ

उपाय कर नहीं पाता। इसलिए दुःख में डूबा रहता है। वह सदा सोचता रहता है किन्तु समय पड़ने पर कर कुछ नहीं पाता –

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते।

यह सब इस बात का फल है कि जीवात्मा ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ पाया। सारे वेदान्त का सार यही है कि जीव ईश्वर से अपने सहज स्वाभाविक सम्बन्ध को जान सके। यही आत्मयोग है। आत्मयोग के लिए जहाँ आत्मा के स्वरूप का जानना आवश्यक है वहाँ कर्मयोग का अनुष्ठान भी आवश्यक है।

प्रजापति के दो रूप

पहले बताया जा चुका है कि प्रजापति के दो रूप हैं – मर्त्य और अमृत – **'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'**। यह एक महत्वपूर्ण सूत्र है। सत् के दो अंश हैं : स्थिर और परिवर्तनशील। स्थिर अंश अमृत है, परिवर्तनशील अंश मृत्यु है। अंग्रेजी भाषा के दो शब्द हैं – बीइंग और बिकमिंग। बीइंग स्थिर है, बिकमिंग परिवर्तनशील है। वैदिक साहित्य में अंग्रेजी के इन दो शब्दों के लिए ठीक ऐसे ही दो शब्द आए हैं – बीइंग के लिए आभु शब्द आता है, बिकमिंग के लिए अभ्व शब्द आता है। ये दोनों शब्द संस्कृत की भू धातु से निकले हैं। भू का अर्थ – सत्ता। अभिप्राय यह हुआ कि सत्ता का एक पक्ष स्थिर है दूसरा अस्थिर है। स्थिर पक्ष आभु है, अस्थिर पक्ष नाम और रूप है। यह नाम और रूप ही अभ्व कहलाता है। यही मृत्यु है क्योंकि ये टिकता नहीं है। स्थिर पक्ष अमृत है क्योंकि वह कभी नष्ट नहीं होता। अमृत और मृत्यु इन दो पक्षों को एक–दूसरे से पृथक् नहीं समझना चाहिए। ये दोनों एक–दूसरे में अनुबिद्ध हैं – अन्तरं मृत्योरमृतमाहितम्।

अमृत कहें, ब्रह्म कहें, रस कहें एक ही बात है। यह पक्ष ज्ञान द्वारा जाना जाता है। दूसरी ओर मृत्यु कहें, कर्म कहें, बल कहें, ये एक ही बात है। इस पक्ष को कर्म द्वारा वश में किया जा सकता है –

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

श्रुति ने विद्या और अविद्या अथवा ज्ञान और कर्म को साथ-साथ जानने की आज्ञा दी थी। काल–क्रम से श्रुति का यह उपदेश लुप्त हो गया। इस देश में आत्म–ज्ञान का ऐसा आकर्षण पैदा हुआ कि कर्म का मार्ग अवरुद्ध ही हो गया। श्रुति का कहना है कि यद्यपि दुर्गति तो उनकी भी होती है जो ज्ञान को छोड़कर केवल कर्म में रत रहते हैं किन्तु उससे भी अधिक दुर्गति उनकी होती है जो कर्म को छोड़कर केवल ज्ञान में रत रहते हैं। जो बल से हीन है वह आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता – **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।**

भारत का और पश्चिम का उदाहरण हमारे सन्मुख है। पश्चिम कर्म की दौड़ में लगा है। उसके फलस्वरूप वहाँ सम्पदा का ढेर लग गया। किन्तु वहाँ आन्तरिक शान्ति का अभाव है; लोगों को नींद की गोलियाँ खाए बिना नींद भी नहीं आ पाती। भारत ज्ञान की खोज में कर्म से विमुख हो गया; फलतः ज्ञान का हाथ लगना तो दूर, लौकिक सम्पदा से भी वंचित होना पड़ा।

एक नारा उठा कि जो अनित्य है, परिवर्तनशील है, वह मिथ्या है; कर्म से जो पदार्थ होते हैं वे सब अनित्य हैं इसलिए कर्म व्यर्थ है। इस दृष्टि का अनुमोदन श्रुति नहीं करती। क्योंकि श्रुति कहती है नाम और रूप सत्य है – **नामरूपे सत्यम्**। अर्जुन इस भ्रम में पड़ गया था कि वह कर्म को छोड़ कर शान्ति प्राप्त कर सकता है; श्रीकृष्ण ने उसका यही भ्रम दूर किया। केवल इतना ही नहीं है कि कर्म छोड़ना हमारे लिए असम्भव है अपितु यह भी है कि कर्म के बिना जीवात्मा ईश्वर से नहीं जुड़ सकता। क्योंकि वे दोनों ही त्रिगुण से युक्त हैं। दूसरी ओर जीवात्मा का शुद्ध रूप आत्मा और ईश्वर का शुद्ध रूप त्रिगुणातीत है। आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य को ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। इसलिए गीता केवल योग शास्त्र ही नहीं है, ब्रह्मविद्या भी है। जब श्रीकृष्ण ने

अर्जुन से विज्ञान सहित ज्ञान का व्याख्यान करने की बात कही थी तो उनका यही अभिप्राय था कि वे ब्रह्म-विद्या और कर्मयोग दोनों की व्याख्या करेंगे।

गीता में कर्म का व्यापक अर्थ

जहाँ एक ओर ज्ञानमार्गी संसार को मिथ्या बता रहे थे, वहाँ दूसरी ओर कर्मकाण्डी कर्म का एक संकुचित अर्थ लिए हुए थे कि अग्नि में घृत आदि की आहुति देना कर्म है। गीता में श्रीकृष्ण ने कर्म का व्यापक अर्थ बता कर शास्त्र का एक व्यापक स्वरूप हमारे सम्मुख रखा। इसलिए गीता जीवन का शास्त्र है जो सबके लिए उपयोगी है। यह केवल ज्ञान-मार्गी तक या मीमांसक कर्मकाण्डियों तक सीमित नहीं है, इसका क्षेत्र पूरा मानव समाज है।

यदि हम वर्ण-व्यवस्था पर विचार करें तो वर्ण-व्यवस्था में कर्म का स्थान मुख्य है। यदि कर्म हेय मान लिया जाए तो वर्ण-व्यवस्था ही त्याज्य हो जाएगी। इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को बारम्बार क्षत्रियों के धर्म का स्मरण दिलाते हैं। अर्जुन ने वर्ण–व्यवस्था को ही लक्ष्य में रखकर युद्ध के परिणामों में से एक परिणाम वर्ण-संकरता को बताया था। श्रीकृष्ण ने उसी वर्ण-व्यवस्था के आधार पर अर्जुन को यह स्मरण दिलाया कि अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठाना क्षत्रिय का धर्म है और अर्जुन को यह धर्म नहीं छोड़ना चाहिए।

कुछ धर्म सामान्य हैं जैसे अहिंसा, करुणा आदि। कुछ धर्म विशेष हैं। जैसे क्षत्रिय का धर्म है अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठाना। आपाततः ऐसा लगता है कि ये दोनों विरोधी बातें हैं। किन्तु वस्तुतः ये एक–दूसरे की पूरक हैं। यदि क्षत्रिय अन्याय के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाएगा तो दुष्ट सर्वत्र हिंसा फैला देंगे। इस प्रकार विशेष धर्म सामान्य धर्म में सहायक है, न कि उसका विरोधी।

दूसरी ओर यदि क्षत्रिय शस्त्र का प्रयोग करते समय आसक्ति का भाव रखेगा तो उसका शस्त्र न्याय की स्थापना का साधन न रहकर स्वयं के स्वार्थ की सिद्धि का साधन बन जाएगा। गीता में इन दोनों बातों को विस्तार से समझा कर श्रीकृष्ण ने पूरी मानव–जाति का परम कल्याण किया है।

भक्ति का स्वरूप

मनुष्य शेष प्राणियों से कुछ विशेष है – यह हम सबके अनुभव में आता है। मनुष्य की इस विशेषता को अनेक प्रकार से समझा जा सकता है। गीता के प्रसङ्ग में इस विशेषता को इस रूप में समझना होगा कि अन्य प्राणी केवल कर्म करते हैं; भक्ति और ज्ञान मनुष्य में ही सम्भव है। भक्ति और ज्ञान के कारण मनुष्य के कर्म में भी अन्य प्राणियों की अपेक्षा कुछ विशेषता आ जाती है – उसका कर्म केवल आहार, निद्रा और मैथुन तक सीमित न रहकर परोपकार और सेवा के रूप में विस्तार पाता है। कर्म का यही स्वरूप कर्मयोग अथवा यज्ञ बन जाता है। यूँ आदान–विसर्गात्मक प्राकृतिक यज्ञ तो पशु–पक्षी अथवा वनस्पति–जगत् में ही नहीं अपितु तथाकथित जड पदार्थों में भी स्वतः चल ही रहा है – सभी कुछ लेकर कुछ दे भी रहे हैं; किन्तु उस प्राकृतिक यज्ञ को मॉडल बना कर शास्त्र विहित वैध यज्ञ पूरी सृष्टि में केवल मनुष्य ही करता है, जिस वैध यज्ञ के अनेक प्रकारों का उल्लेख गीता में विस्तार से हुआ है। इस कर्मयोग अथवा यज्ञ की प्रक्रिया में भक्ति तथा ज्ञान का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। बिना भक्ति तथा ज्ञान के हमारे कर्म पशुओं के प्राकृतिक कर्मों के समान आहार, निद्रा तथा मैथुन तक ही सीमित रह जाते हैं। अतः कर्म के साथ भक्ति और ज्ञान का भी स्वरूप जानना आवश्यक है।

यदि हम अपने आस–पास निगाह दौड़ाएँ तो हमें अधिकतर मनुष्य ऐसे ही मिलेंगे जो रात–दिन रोटी–कपड़े–मकान की चिन्ता में भाग–दौड़ में लगे रहते हैं। इनकी चिन्ता केवल आवश्यक–पूर्ति के लिए अर्थोपार्जन करने तक ही सीमित नहीं है; अपितु अधिक से अधिक धन–संग्रह करना भी इनका उद्देश्य रहता है, भले ही वह

धन उनके कुछ काम न भी आए। इस प्रकार के मनुष्यों में भी ज्ञान है किन्तु इनके ज्ञान का उपयोग केवल उन कर्मों के लिए है, जिन कर्मों से स्वार्थ सिद्ध होती है। अधिकतम मनुष्य तो इसी प्रकार के हैं।

कुछ गिने–चुने लोग इस सांसारिक भाग–दौड़ में आनन्द नहीं ले पाते। वे एकान्तप्रिय होते हैं। भिक्षा–वृत्ति द्वारा येन–केन–प्रकारेण उपलब्ध रूखे–सूखे में गुजारा करके ज्ञान–ध्यान में लीन रहना ऐसे मनुष्यों के जीवन का उद्देश्य होता है। ऐसे ही मनुष्यों को हम ज्ञानी मानते हैं। ये भोजन आदि जो आवश्यक कर्म करते हैं उस कर्म का उद्देश्य भी ज्ञान–ध्यान ही है। पहले प्रकार के मनुष्यों का ज्ञान कर्म के लिए था किन्तु इन ज्ञानियों का कर्म भी ज्ञान के लिए होता है।

तीसरी शैली

गीता में जीवन की एक तीसरी शैली का भी विधान है। हम जो भी कर्म करें उसे ब्रह्मार्पण कर दें। यही भक्ति अथवा उपासना है। मनुष्य कुछ लौकिक कर्म करता है, यथा – भोजन करना। कुछ कर्म वह ऐसे भी करता है जिन्हें हम धार्मिक कृत्य कहते हैं, यथा – हवन करना, दान देना अथवा तपस्या करना। गीता कहती है कि इन दोनों प्रकार के कर्मों को भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना को छोड़कर ब्रह्म में अपने समस्त कर्मों को अर्पित कर देता है, उसे कर्म बाँध नहीं पाते। वह जल में कमल के समान निर्लिप्त रहता है –

ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

भक्ति–मार्ग की विशेषता यह है कि इसमें दुनियादारी निभाते हुए भी मनुष्य मुक्त ही रहता है। जो दुनियादारी में फँसे हैं वे तो स्वयं ही परेशान हैं – इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जो दुनियादारी छोड़ कर शान्ति पाने की आशा में घर–बार छोड़ बैठे हैं, उन्होंने भी प्रायः एक–दूसरी दुनिया बसा ली है। उनके मठ और आश्रम हैं; शिष्य–मण्डली है। उन मठ और आश्रमों के चलाने की चिन्ता गृहस्थी चलाने की चिन्ता से कुछ कम परेशानी वाली नहीं है। वस्तुतः कर्म छोड़ने का आग्रह दुराग्रह–मात्र है। कर्म किसी से छूटते नहीं हैं। कुछ विरले विरक्त पुरुषों को छोड़ दें, तो संसार का त्याग करने वाले भी प्रायः मुक्त जीवन नहीं जी पाते।

कार्य और कामना

ऐसी स्थिति में गीता एक अन्य मार्ग का प्रतिपादन करती है। हमारे प्रत्येक कर्म के पीछे एक कामना रहती है। भूख लगती है तो खाना खाया जाता है, थकावट आती है तो सोया जाता है। सोचना चाहिए कि भूख क्या मैंने अपनी इच्छा से उत्पन्न की; थकावट क्या मैं जानबूझ कर पैदा करता हूँ? यदि मेरा बस चले तो मैं कभी थकावट उत्पन्न होने ही न दूँ। वस्तुतः मेरे काबू में हो तो मैं भूख भी न लगने दूँ। भूख लगती है तो भोजन चाहिए और भोजन जुटाने के लिए इतने प्रपञ्च करने पड़ते हैं। विचारणीय यह है कि ये सब इच्छाएँ मेरे बिना चाहे तथा मेरे बिना कोई पुरुषार्थ किए, कहाँ से पैदा हो जाती हैं? वस्तुस्थिति यह है कि ये सब इच्छाएँ ईश्वर की हैं, मेरी हैं ही नहीं। अज्ञानवश मैं इन इच्छाओं को अपनी मान बैठा हूँ, जिन इच्छाओं पर मेरा कोई अधिकार ही नहीं है। वे इच्छाएँ मेरे चाहे–अनचाहे स्वयं ही उत्पन्न होती रहती हैं। गीता कहती है कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में आसन जमा कर बैठा है और वह अपनी माया से हम सबको इस प्रकार घुमा रहा है जैसे किसी मशीन पर बैठा आदमी मशीन के घूमने के साथ–साथ खुद–ब–खुद घूम जाता है, उसे स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

दूसरा बिन्दु विचारणीय यह है कि जो कार्य मैं ईश्वर की इच्छा से करता हूँ क्या वह कार्य मेरे लिए बन्धन का कारण बन सकता है? देश का एक कानून है जिसके अन्तर्गत हत्या करने वाले अपराधी के लिए फाँसी का विधान है। न्यायाधीश हत्यारे को उस कानून के अन्तर्गत फाँसी की सजा का निर्णय देता है। जेलर उसका कार्यान्वयन करवाता है; जल्लाद हत्यारे को फाँसी देता है। क्या जल्लाद, जेलर अथवा न्यायाधीश को पाप लगेगा? वस्तुस्थिति यह है कि न्यायाधीश, जेलर अथवा जल्लाद ने अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं किया; उन्होंने तो वही किया जो कानून की मंशा थी। अतः वे तीनों ही निष्पाप सिद्ध होते हैं। प्रमाणित यह होता है कि यदि हम यह समझ लें कि जो भी हम कर रहे हैं वह ईश्वरेच्छा से कर रहे हैं, अपनी इच्छा से नहीं तो फिर कर्म हमें नहीं बाँध पाएँगे। यही भक्ति हुई। हम ईश्वर के भक्त अर्थात् भाग हैं, हमारी स्वतंत्र सत्ता नहीं है – यह समझे बिना भक्ति सम्भव नहीं।

अनीश्वरवादियों को इस पर तत्काल यह आपत्ति होती है कि इस प्रकार तो मनुष्य किसी कार्य के लिए उत्तरदायी होगा ही नहीं और वह हत्या, चोरी आदि कर्म करके इसकी जिम्मेदारी ईश्वर पर डाल देगा। यह आपत्ति तभी तक है जब तक हम ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को ठीक से नहीं समझ लेते। इस सम्बन्ध को समझने के लिए हमें अपने शरीर के ऊपर ध्यान देना चाहिए। मेरा शरीर एक इकाई है; हाथ, पैर, आँख, कान आदि उसके अङ्ग हैं। क्या ये अङ्ग अपनी इच्छा से स्वयं ही कोई काम कर सकते हैं? मेरे शरीर में एक जीवात्मा है जिसकी इच्छा से ही ये सब अङ्ग अपना–अपना कार्य करते हैं। ये अङ्ग सदा वे ही कार्य करते हैं जिससे मेरे शरीर को लाभ पहुँचे। मेरा हाथ कभी मेरी आँख फोड़ने का कार्य नहीं करता। अब इसी दृष्टान्त को ईश्वर पर घटाएँ। विश्व एक इकाई है; उसका सञ्चालक उसी प्रकार ईश्वर है जिस प्रकार मेरे शरीर का सञ्चालक जीवात्मा है। हम सब उस विश्व के उसी प्रकार अवयव हैं जिस प्रकार मेरे विभिन्न अङ्ग मेरे शरीर के अवयव हैं। अब जब मेरे शरीर का एक अङ्ग सदा दूसरे अङ्ग का सहयोग ही करता है, अपकार कभी नहीं करता तो ईश्वर के शरीर रूपी विश्व के अङ्गभूत हम सब एक दूसरे का हत्या-चोरी आदि दुष्कर्मों द्वारा अपकार कैसे कर सकते हैं। हमें तो सदा एक–दूसरे का उसी प्रकार उपकार करना है जिस प्रकार हमारे शरीर के अङ्ग एक–दूसरे का उपकार करते हैं। प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो विश्व में हत्या-चोरी की घटनाएँ होती ही क्यों हैं? उत्तर यह है कि अनजान छोटा बालक कभी–कभी अपने हाथ के बढ़े हुए नाखूनों से अपना ही मुँह नोच लेता है, हालाँकि फिर स्वयं ही दुःखी होकर चिल्लाता भी है। यह उस बच्चे का अज्ञान है।

संसार में जो भी पाप–कर्म करते हैं, वे सब इस अज्ञान के कारण करते हैं कि वे नहीं जानते कि हम सबका अधिष्ठाता तो एक ही ईश्वर है और किसी दूसरे को हानि पहुँचाना उतना ही मूर्खता का कार्य है जितना मूर्खता का कार्य अपने ही दाँतों से अपने ही हाथ को काट खाना। कभी–कभी गुस्से में हम अपने ही बाल नोंचने लगते हैं। उस समय ज्ञान होने पर भी क्रोध हमारे ज्ञान को दबा लेता है; उस समय हम अज्ञानी के समान ही व्यवहार करने लगते हैं –

काम, क्रोध, मद, लोभ की जब लग मन में खान।
तब लग पण्डित मूरखा 'तुलसी' एक समान॥

मुक्ति का मार्ग

निष्कर्ष यह है कि भक्त को अज्ञान और वासनाओं से तो बचकर रहना ही चाहिए अन्यथा वह भक्त रहेगा ही नहीं।

एक बात और भी ध्यान देने की है। जैसे हमारी इच्छाओं पर हमारा काबू नहीं है, उसी प्रकार हमारे जीवन के लिए आवश्यक कर्मों पर हमारा नियंत्रण नहीं है। हमारी ७२,००० नाड़ियों में निरन्तर स्पन्दन हो रहा है जो कि हमारे जीवित रहने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। क्या यह स्पन्दन हमारे आधीन है? क्या हमारा श्वास-प्रश्वास हमारे आधीन है? पलकों के झपकने को क्या हम रोक सकते हैं? ये सब क्रियाएँ हमारे आधीन नहीं हैं। फिर अन्य क्रियाओं का कर्त्ता भी हम स्वयं अपने को कैसे मान लेते हैं। गीता में उन क्रियाओं की एक लम्बी सूची दी है जो निरन्तर होती रहती है – देखना, सुनना, छूना, सूँघना, भोजन, गति, निद्रा, श्वास, अन्तर्जल्प, विसर्जन, ग्रहण, पलकों का झपकना आदि। ये सब क्रियाएँ हममें स्वतः होती रहती हैं। क्या उन क्रियाओं को हम करते हैं? यदि हम ऐसा समझते हैं तो यह हमारा अज्ञान है; वस्तुतः ये क्रियाएँ इन्द्रियों की नियत क्रियाएँ हैं और इन्द्रियाँ इन्हें करती रहती हैं। यदि हम इस बात को समझ लें तो इन क्रियाओं का भार हम अपने सिर पर नहीं ढोते रहेंगे और यही मुक्ति का मार्ग है –

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

जैसे कोई यात्री गाड़ी में बैठे और अपना सामान अपने सिर पर रख कर यह समझ ले कि उस सामान को वह ढो रहा है, उसी प्रकार की स्थिति अज्ञानी की है। वस्तुतः सामान का बोझ गाड़ी ढो रही है, यात्री उस सामान को व्यर्थ ही अपने सिर पर रखे हुए बोझे में मर रहा है। यदि वह सामान को अपने सिर पर से उतार कर गाड़ी में रख दे तो भी सामान को गाड़ी लक्ष्य तक पहुँचा ही देगी क्योंकि वह यात्री गाड़ी का भाग बन गया है अर्थात् गाड़ी का भक्त बन चुका है। ईश्वर का भक्त अपने योगक्षेम की चिन्ता का भार अपने सिर पर उठाए नहीं फिरता, उसके योगक्षेम की चिन्ता भगवान् स्वयं करते हैं –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

उपासना का स्वरूप

अपने को ईश्वर का भाग मानना/जानना ही भक्ति है – कठिनाई यह है कि ईश्वर अदृश्य/अमूर्त है, हम दृश्य/मूर्त हैं। ऐसी स्थिति में बारम्बार हमें यह विस्मरण हो जाता है कि हम ईश्वर के भाग हैं। हमें यह नहीं भूलता कि हम अपने माता–पिता की सन्तान हैं क्योंकि हमारे माता–पिता भी हमारे जैसे ही हैं – उनसे अपना सम्बन्ध आसानी से समझ में आ जाता है। किन्तु ईश्वर हमारे जैसा नहीं है। वह निराकार है हम साकार, वह निर्गुण है हम सगुण, वह असीम है हम सीमित। वह सर्वज्ञ है, हम अल्पज्ञ। ऐसी स्थिति में हम अपना ईश्वर के साथ सम्बन्ध कैसे समझें और कैसे उस सम्बन्ध को निरन्तर स्मरण रखें?

सगुण रूप में उपासना

इस समस्या के समाधान के लिए हम जब ईश्वर को भी साकार, सगुण और ससीम बना लेते हैं तो उपासना प्रारम्भ होती है। सगुण रूप में क्योंकि ईश्वर भी हमारे जैसा ही हो जाता है, अतः हम उसकी उपासना कर सकते हैं – उसके उप=समीप, आसन=बैठ सकते हैं। निराकार के समीप बैठने का तो कोई अर्थ ही नहीं है क्योंकि वह तो सर्वव्यापक है, उसके तो सब सदा ही समीप है। जो वस्तुतः सर्वव्यापक है उसे आकार देकर सीमित बना लेना अथवा जो अमूर्त है उसे मूर्त बना लेना अज्ञान है किन्तु उपासना में हम अज्ञान का सहारा नहीं लेते हैं। उपासना

का आधार निदान–विद्या तथा प्रतीक-विद्या है। प्रतीक–विद्या में हम देखते कुछ और हैं, समझते कुछ और हैं। देखते हैं तिरंगा झण्डा, समझते हैं राष्ट्र का सम्मान। यदि कोई तिरंगे झण्डे को जला दे तो दिखता यह है कि कपड़े का एक टुकड़ा जल रहा है किन्तु समझते हम यह हैं कि राष्ट्र का अपमान हो रहा है। यही निदान–विद्या है।

जब उपासना के लिए हम असीम को ससीम, निराकार को साकार अथवा निर्गुण को सगुण बना लेते हैं तो दिखता हमें ससीम, साकार, सगुण ही है किन्तु समझते हम असीम, निराकार और निर्गुण को हैं। अतः उपासक अज्ञानी नहीं होता क्योंकि ज्ञान–अज्ञान का सम्बन्ध समझ से है और जब तक समझ ठीक है तब तक उसे ज्ञान ही कहा जाएगा, अज्ञान नहीं। निदान–विद्या अथवा प्रतीक का सहारा हमें सदा अमूर्त को मूर्त बनाने के लिए लेना पड़ता है। राष्ट्र अमूर्त है – झण्डा राष्ट्र का प्रतीक बन जाता है।

यदि हम उपासना में प्रतीक से उस पदार्थ का बोध न कर पाएँ जिस पदार्थ का वह प्रतीक है तो फिर वह प्रतीक रहता ही नहीं। फिर उपासना भी उपासना नहीं रहतीं। हम तिरंगा झण्डा एक ऐसे विदेशी दर्जी के पास सिलवाने ले जाएँ जिसे यह पता ही न हो कि यह हमारा राष्ट्रध्वज है तो उस दर्जी के लिए वह एक कपड़े का टुकड़ा ही होगा, वह उसके लिए प्रतीक नहीं बन पाएगा।

भारतीय मूर्ति–पूजकों के रूप में विदेशियों द्वारा निन्दित होते रहे हैं। उन्हें बुत–परस्त कहा जाता रहा है। इस आलोचना का आधार तब बनता है जब कोई मूर्ति को पाषाण का खण्ड ही समझ ले। मूर्ति पाषाण का खण्ड है एक सामान्य दर्शक के लिए, किन्तु उपासक के लिए वह पाषाण–खण्ड किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण अमूर्त सत्ता का प्रतीक है। प्रतीक की आवश्यकता इसलिए है कि अमूर्त सूक्ष्म है और सामान्य व्यक्ति का चित्त सूक्ष्म पर टिक नहीं पाता। इसलिए वह स्थूल का अवलम्बन लेता है। यदि कोई स्थूल के अवलम्बन के बिना ही सूक्ष्म पर चित्त को स्थित रख सकने में समर्थ हो तो उसे न मूर्ति की आवश्यकता है न किसी अन्य स्थूल अवलम्बन की। ऐसे व्यक्ति को हम ज्ञानी कहते हैं, उपासक नहीं। इसलिए हमारे देश में जहाँ मूर्तिपूजक रहे, वहाँ निराकार को ही मानने वालों की भी कमी नहीं है।

कहने को तो कोई भी कह सकता है कि उसे स्थूल अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है किन्तु इतिहास पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि सभी परम्पराओं को किसी न किसी रूप में स्थूल का अवलम्बन लेना पड़ा है। प्रायः सभी उपासक हैं, ज्ञानी तो करोड़ में कोई एक ही हो सकता है। ईसाइयों का क्रॉस, मुसलमानों का चाँद–तारा, आर्यसमाजियों की यज्ञ कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि – ये सब मूर्त्त प्रतीक हैं। इनमें कोई भी क्रॉस, चाँद–तारे या अग्नि को उनके भौतिक रूप में उपास्य नहीं मानता है। उपास्य तो कोई सूक्ष्म तत्त्व ही है जिसके प्रतीक ये मूर्त पदार्थ हैं। इन पदार्थों का भौतिक रूप अधिभूत कहलाता है तथा जिस सूक्ष्म तत्त्व के ये प्रतीक हैं वह अधिदैव कहलाता है। अधिभूत साधन है, साध्य अधिदैव है।

जहाँ अधिभूत ही साधन है तथा अधिभूत ही साध्य है, वह कर्म का क्षेत्र है; जहाँ अधिदैव ही साधन है तथा अधिदैव ही साध्य है वह ज्ञान का क्षेत्र है किन्तु उपासना का क्षेत्र वह है जहाँ साधन तो अधिभूत है किन्तु साध्य अधिदैव है। सांसारिक कार्य करते समय हम कर्म क्षेत्र में होते हैं – वहाँ अधिभूत ही साधन और साध्य दोनों बनता है। ज्ञानीजन ध्यान पर बहुत बल देते हैं किन्तु ध्यान की स्थिति जब तक निर्विचारता तथा निर्विकल्पता तक की अन्तिम सीमा तक न पहुँच जाए, तब तक ध्यान में भी कोई न कोई अधिभूत ही साधन रहता है। उपासना में तो अधिभूत साधन है ही। इस प्रकार ज्ञान की चरम कोटि को छोड़कर शेष सभी अवस्थाओं में अधिभूत अथवा मूर्त पदार्थ हमारा पीछा नहीं छोड़ता है। इस प्रश्न को साम्प्रदायिक स्तर पर न लेकर विचार के वैज्ञानिक स्तर पर समझना चाहिए। अधिभूत के द्वारा अधिभूत की ही पूजा वस्तुतः बुतपरस्ती है और वह उपासना नहीं कहलाती,

भले ही वह कर्म–क्षेत्र में उपयोगी होती हो; किन्तु अधिभूत के द्वारा अधिदैव की उपासना बुतपरस्ती अथवा जडपूजा नहीं है।

भावना का नाम श्रद्धा

उपासना का एक आवश्यक घटक श्रद्धा है। श्रद्धा का अर्थ है किसी भी चीज को सत्य मान लेना। मूर्ति को पाषाण खण्ड समझने में श्रद्धा की आवश्यकता नहीं है। मूर्ति को ईश्वर समझने का प्रयत्न करना भी तर्क हो सकता है, श्रद्धा नहीं, क्योंकि समझने के प्रयत्न करने में तर्क–वितर्क चलेगा और जहाँ तर्क–वितर्क है वहाँ श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा नाम भावना का है। यह हृदय की वस्तु है, बुद्धि की नहीं। भावना अन्धविश्वास का नाम नहीं है। अन्धविश्वास तथा भावना दोनों में ही बुद्धि का प्रयोग नहीं होता किन्तु दोनों का फल एक–दूसरे के विपरीत है। एक व्यक्ति का विश्वास है कि १३ का अङ्क अशुभ है। वह रोग की परिचर्या के लिए जिस अस्पताल में आया वहाँ उसे १३ नम्बर कमरे में रखा गया। उस व्यक्ति ने मान लिया कि यह उसके लिए अमङ्गलकारी है। इससे उसका रोग बढ़ गया। यह अन्धविश्वास का फल है। दूसरी ओर उस रोगी ने माना कि भगवन्नाम के जप करने से उसका रोग दूर हो जाएगा। उसने भगवन्नाम का जप किया, रोग दूर हो गया। यह श्रद्धा का फ़ल है। अन्धविश्वास से सदा अनिष्ट ही होता है, श्रद्धा से कभी अनिष्ट नहीं होता। यदि हमारी श्रद्धा शास्त्र विरुद्ध होती है तो अनिष्टकारी होती है। ऐसी श्रद्धा को अन्धविश्वास के ही अन्तर्गत मानना चाहिए। मूल बात यह है कि श्रद्धा शास्त्रानुसार होनी चाहिए। सरिता जैसी कुछ पत्रिकाएँ ऐसी घटनाएँ दिया करती हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि अमुक विश्वास से किसी का अनिष्ट हो गया। ऐसे समस्त विश्वास अन्ततोगत्वा शास्त्रानुमोदित नहीं होते हैं। रहा प्रश्न शास्त्रों की विविधता का, सो गीता इस विषय में अत्यन्त उदार है। गीता कहती है कि कोई किसी में भी श्रद्धा करे, अन्ततः वह उपासना ईश्वर की ही उपासना है –

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।

प्रसिद्ध है कि **'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।'** इसी उदार दृष्टि के कारण वैदिक धर्म ने जैन सम्प्रदाय के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव को तथा बौद्ध सम्प्रदाय के संस्थापक बुद्ध को भी अवतार माना है। दूसरी ओर जैन परम्परा ने जैनेतर सम्प्रदाय में रहकर साधना करने वालों की भी मुक्ति स्वीकार की है – उन्हें अन्यलिङ्गी सिद्ध कहा है। इस देश की परम्परा के प्रभाव में मलिक मोहम्मद जायसी, रहीम, रसखान प्रभृति न जाने कितने मुस्लिम कवियों ने हिन्दू देवी–देवताओं की उपासना में सरस रचनाएँ करके हिन्दी भाषा की श्रीवृद्धि की है। उपासना हमें ईश्वर से जोड़ती है लेकिन एक दूसरे से तोड़ती नहीं है।

उपासना की विविधता का कारण

उपासना की विविधता का कारण मनुष्य–प्रकृति की विविधता है। किसी का चित्त काली में रमता है, किसी का सरस्वती में, किसी का लक्ष्मी में, मनुष्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। पहुँचना तो त्रिगुण से गुणातीत तक है। गुणातीत तक पहुँचने का माध्यम कौन–सा गुण बने – यह व्यक्ति की प्रकृति पर है। सत्त्वप्रधान व्यक्ति सरस्वती को, रजोगुण प्रधान व्यक्ति लक्ष्मी को तथा तमोगुण प्रधान व्यक्ति काली को अपना उपास्य बनाएगा। परन्तु लक्ष्य सबका उस गुणातीत तक पहुँचना है जो तीनों गुणों से परे हैं। सत्त्व से विष्णु, रजोगुण से ब्रह्मा तथा तमोगुण से शिव जुड़े हैं। इनमें कोई भी हमारा उपास्य हो सकता है। विद्वान् नाम–रूप के भेद का विवेचन करते रहते हैं किन्तु तत्त्व मूलतः एक ही है – **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' 'संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः'।**

ईश्वर यथार्थतः ज्ञान–स्वरूप होने के कारण ज्ञान–गम्य ही है किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए उस ज्ञान तक पहुँचने का साधन उपासना है। जैसे वाहन से गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर वाहन भी छूट जाता है उसी प्रकार ज्ञान तक पहुँचने के बाद उपासना गतार्थ हो जाती है।

अमूर्त्त को मूर्त्त रूप में प्रस्तुत करते समय निदान विद्या के जानकारों ने कल्पना–प्रवीणता से काम लिया है। उदाहरणतः रुद्र के हाथ में टङ्क, शूल और वज्र क्रमशः आग्नेय, वायव्य और ऐन्द्र प्राण को बताते हैं। खड्ग चान्द्रप्राण का सूचक है तथा अग्नि प्रकाश की सूचक है। वस्तुतः इस निदान विद्या का बहुत विस्तार है जिसे न समझने के कारण मूर्तियों का स्वरूप एक गोरखधंधा–सा ही लगता है। यहाँ भी रुचि–भेद है। शिव–लिङ्ग पूरी तरह निराकार का ही प्रतीक है। उसके हाथ–पैर, आँख–नाक कुछ भी नहीं होते।

हम प्रतिदिन के प्रयोग में भूगोल पढ़ाते समय सारा ज्ञान ग्लोब तथा मानचित्रों की सहायता से देते हैं – यह निदान विद्या का ही प्रयोग है। इसी प्रकार शालिग्राम को हिरण्यगर्भ का प्रतीक मान लिया जाता है। गङ्गा के एक देश में स्नान करके हम कहते हैं कि हमने गङ्गा स्नान किया। यहाँ वक्ता का अभिप्राय ही समझना पड़ता है।

विविध उपासनाओं का गीतोक्त प्रयोजन

अमूर्त्त को मूर्त्त बनाकर ही उसकी उपासना की जा सकती है। प्रश्न है कि अमूर्त्त को मूर्त्त कैसे बनाया जाए। उत्तर है कि अमूर्त्त को मूर्त्त बनाने के तीन उपाय हैं – १. आहार्य्यारोप २. प्रतिरूप तथा ३. प्रतीक। उपासना में इन तीनों ही उपायों का सहारा लिया जाता है। इसलिए इन तीनों का समझना आवश्यक है।

आहार्य्यारोप

आरोप का अर्थ है – कुछ का कुछ समझ लेना। ये दो प्रकार का है। जब हम रस्सी को साँप समझ लेते हैं तो यह मिथ्या आरोप है। यह त्याज्य है। किन्तु जब हम कहते हैं कि मेरा भाई मेरा दाहिना हाथ है तो यद्यपि हम भाई पर हाथ का आरोप कर रहे हैं – जो वस्तुतः हाथ नहीं है उसे हाथ कह रहे हैं – तथापि यह आरोप मिथ्या नहीं है – किसी भ्रान्ति के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है। यह आहार्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य आरोप है अतः इसे आहार्य्यारोप कहा जाता है। इस आरोप का प्रयोजन यह बताना है कि जिस प्रकार मेरा दाहिना हाथ मेरे सभी कार्य करता है उसी प्रकार मेरा भाई भी मेरे सभी कार्य कर देता है। इस उदाहरण में तो आहार्यारोप हम न भी करें तो काम चल जाएगा – हम कह सकते हैं कि मेरा भाई मेरी बहुत सहायता करता है। किन्तु अनेक स्थानों पर तो आहार्यारोप अनिवार्यतः करना ही पड़ता है।

उदाहरणतः लिपि को लें। लिपि में हम रेखाओं को एक विशेष आकार में खींच देते हैं। ये रेखाएँ वस्तुतः किसी भी ध्वनि को बताती नहीं हैं किन्तु हमने यह आरोप कर लिया है कि ''क'' आकार की रेखाएँ कण्ठ से उच्चारित होने वाली एक ध्वनि विशेष का बोध कराएंगी जो ध्वनि 'काक' 'केका' आदि शब्दों में सुनाई देती है। यह रेखाओं के आकार–विशेष पर ध्वनि–विशेष का आरोप हुआ। यह मिथ्या अथवा भ्रमवश किया गया आरोप नहीं है अपितु मुख से उच्चरित होने वाली ध्वनियों को कागज आदि पर रेखाओं द्वारा अङ्कित करने की एक विधि है। यह आरोप सर्वथा उपादेय है और सर्वसम्मत है। कोई भी यह आपत्ति नहीं करता ''क'' जैसी रेखाओं को आप एक उच्चारण की जाने वाली ध्वनि कैसे बता सकते हैं। इसी आहार्यारोप के आधार पर '卐' ऐसी रेखाओं की आकृति को स्वस्ति अथवा मङ्गल का सूचक मान कर हम शुभ अवसरों पर अङ्कित करते हैं। मङ्गल का भाव अमूर्त्त है उसे स्वस्ति चिह्न द्वारा मूर्त्त रूप दे दिया जाता है।

आहार्यारोप केवल रेखाओं द्वारा ही नहीं किया जाता। पानी से भरे घड़े पर आम्रपत्र और नारियल रख कर भी उसे मङ्गल सूचक मान लिया जाता है। दीपक जलाकर किसी सभा के कार्यक्रम का उद्घाटन किया जाता है। फीता काट कर प्रदर्शनी का उद्घाटन किया जाता है। बहिन भाइयों के हाथ पर राखी बाँधकर उन्हें अपनी रक्षा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध करती है। ये सब अमूर्त्त भावों को मूर्त्त रूप देने के ही प्रयत्न हैं। ऐसे प्रयत्न विश्व भर की परम्पराओं में भिन्न–भिन्न ढंग से होते रहते हैं। यह केवल सनातन धर्म की विशेषता नहीं है। मुसलमान भाई फकीरों

की दरगाहों में चद्दर चढ़ाकर उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं, ईसाई धर्मावलम्बी गिरजाघरों में ईसा मसीह के सामने मोमबत्तियाँ जलाकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त करते हैं। जहाँ भी किसी अमूर्त भाव को बताना होता है वहाँ हम किसी न किसी मूर्त्त पदार्थ का अवलम्बन लेते हैं। यह उपासना की प्रथम विधि हुई।

प्रतिकृति मूलक अवलम्बन

जब किसी अनुपस्थित पदार्थ को बताने के लिए हम उसके समान ही किसी दूसरी चीज का सहारा लेते हैं तो यह प्रतिकृति के माध्यम से उपासना करने की विधि हुई। पृथ्वी नहीं दिखाई जा सकती तो पृथ्वी की नकल ग्लोब में दिखाकर ग्लोब के माध्यम से ही विद्यार्थी को भूगोल पढ़ा दिया जाता है। ग्लोब क्योंकि पृथ्वी के ही आकार की नकल होता है अतः उसे प्रतिकृति कह दिया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में द्यावा पृथ्वी को कूर्म्म अर्थात् कछुआ बताया गया है। खुले मैदान में खड़े हो जाएँ तो आकाश का गोलार्द्ध क्षितिज पर चारों ओर पृथ्वी को छूते समय कछुए की पीठ जैसा लगता है जिस कछुए की पीठ से ढाल बनती है। इस समानता के आधार पर शतपथ ब्राह्मण ने कह दिया कि द्यावा पृथिवी कूर्म्म है – "द्यावापृथिव्योः हि कूर्म्मः।" आज राम और कृष्ण हमारे सामने उपस्थित नहीं हैं; अतः उनके सदृश चित्र अथवा मूर्ति बनाकर हम उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट करते हैं।

मूर्ति पूजा का विरोध भी होता रहा है – भारत में भी तथा भारत के बाहर भी। विरोध का आधार तब बनता है जब हम नकल को असल मान लें। प्रतिकृति प्रतिकृति ही है, कृति नहीं – यदि यह समझ रहे तो प्रतिकृति उपयोगी है, अन्यथा भ्रामक हो सकती है। मान लें कि राम की मूर्ति किसी मन्दिर में है। कोई व्यक्ति उस मूर्ति को नष्ट करना चाहता है। हम यह कहें कि राम तो इतने बलवान् हैं, वे अपनी रक्षा स्वयं कर लेंगे, हमें मूर्ति को बचाने की कोशिश करने की क्या आवश्यकता है? तो यह हमारी भूल है, मन्दिर में राम की प्रतिकृति है, न कि स्वयं राम। उस प्रतिमा की रक्षा तो हमें स्वयं ही करनी होगी, वह प्रतिमा अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती क्योंकि वह राम की प्रतिकृति ही है, स्वयं राम नहीं। कभी–कभी हम प्रतिकृति के साथ कुछ ऐसे तत्त्व भी जोड़ देते हैं जो मूक रहकर भी बहुत कुछ बोल देते हैं। उदाहरणतः सरस्वती को हंसवाहिनी दर्शाया जाता है । हंस दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है – ऐसी कवियों में प्रसिद्धि है। यह कार्य विवेक का है। सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठातृ देवी है। ज्ञान विवेक उत्पन्न करता है – यह बताने के लिए सरस्वती को हंसारूढ़ दिखा दिया जाता है। यह सब निदान विद्या है। इस निदान विद्या को न समझने के कारण हिन्दुओं की अनेक मूर्तियाँ बहुत अटपटी लगती हैं। एक मूर्ति में काली को शिव के शरीर पर चढ़कर नाचते हुए दिखाया जाता है। आपाततः इसमें शिव का अनादर होता हुआ प्रतीत होता है किन्तु काली काल की शक्ति है, वही संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन ला रही है। यह परिवर्तन ही काली का नृत्य है। परिवर्तन के नीचे जो शाश्वत शिव तत्त्व है वह दबा रह जाता है। इसलिए काली को शिव पर चढ़ कर नाचते हुए एक मूर्ति बना दी गई। जो इस तत्त्व को नहीं जानेगा, वह ऐसी मूर्ति की निन्दा करेगा किन्तु तत्त्व को समझने वाला, कलाकार की कल्पना की प्रशंसा ही करेगा कि उसने कितने सूक्ष्म तत्त्व को कितने कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर दिया।

प्रतीकमूलक अवलम्बन

जब हम किसी पदार्थ को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर पाते और उसके एक अंश को ही ग्रहण करके पूर्ण का ग्रहण मान लेते हैं तब वह अंश पूर्ण का प्रतीक कहलाता है। कभी हम अपने ब्रह्मलीन गुरु की पूरी मूर्ति न बनाकर उनके चरण चिह्न बनाकर उनकी पूजा करते हैं। यहाँ चरण चिह्न गुरुजी का एक अंश है किन्तु उन्हें गुरुजी ही मान लिया गया। यहाँ चरण चिह्न गुरुजी के प्रतीक हुए तथा उनकी उपासना प्रतीकोपासना हुई। राजमुकुट राजा का प्रतीक

बन जाता है। भरतजी रामचन्द्रजी की खड़ाऊँ को ही सिंहासन पर रख कर अपने को राम का सेवक तथा राम को अयोध्या का शासक मानकर काल–यापन करते रहे। ये सब प्रतीकोपासना के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार से उपासना का फल एक ही है – चित्त की एकाग्रता। हम जिसको जो मान लेते हैं, वह वही फल दे देता है। किन्तु इसके लिए चित्त की एकाग्रता चाहिए। मूर्त का अवलम्बन चित्त की एकाग्रता में सहायक होता है। चित्त की एकाग्रतापूर्वक की गई श्रद्धा असम्भव को सम्भव बना देती है। हम भौतिक शक्ति से सुपरिचित हैं किन्तु मानसिक शक्ति लौकिक शक्ति से कई गुणा अधिक बलशालिनी है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वही हो जाता है – **यो यच्छ्रद्धः स एव सः**। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जो जिस रूप में उपासना करता है वह वही हो जाता है – **तं यथा यथोपासते स तथैव भवति**। ईसा मसीह ने घोषणा की थी कि श्रद्धा से पर्वत भी चलने लगते हैं। धर्म का इतिहास श्रद्धा से होने वाले चमत्कारों से भरा पड़ा है। प्रश्न है – चित्त की एकाग्रता का तथा श्रद्धा की दृढ़ता का। जिनका चित्त संशय से चञ्चल बना रहता है वे श्रद्धा की शक्ति पर सदा सन्देह ही किया करते हैं। न उन्हें मन्त्र शक्ति फल दे पाती है, न उपासना, न तीर्थयात्रा, न गुरु का आशीर्वाद।

श्रद्धा में शक्ति है किन्तु जब हम श्रद्धा के बदले में भौतिक पदार्थों की कामना करते हैं तो हमारी उपासना उपासना न रहकर व्यापार बन जाती है। उपासना तब ही है जब हम आधिदैविक पदार्थों की ही कामना करें। चित्त की निर्मलता, चरित्र की पवित्रता आदि ही उपासना के वास्तविक फल हैं।

रामानुज भक्ति की बात कर रहे हैं, शङ्कर ज्ञान की। अतः रामानुज जीव और ईश्वर को दो मान रहे हैं। ईश्वर सगुण है। जीव कभी ईश्वर नहीं बन सकता, वह केवल उसकी उपासना कर सकता है। जब उपाधि चली गई तो ब्रह्म भी निर्गुण और जीव भी निर्गुण। अतः दोनों एक ही हो गए। यह अद्वैत ज्ञान का फल है, उपासना में तो द्वैत रहता ही है। उपासना में जीव ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करता है। यह सान्निध्य चार प्रकार का है – १. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य, ४. सायुज्य। सालोक्य का अर्थ है – ब्रह्मलोक की प्राप्ति। सामीप्य का अर्थ है – ब्रह्म का सान्निध्य। सारूप्य का अर्थ है – ब्रह्म के गुणों की प्राप्ति। सायुज्य का अर्थ है – ब्रह्म का भाग बन जाना। इन चारों ही स्थितियों में जीव–ब्रह्म का द्वैत बना रहता है। अतः ये चारों अपरामुक्ति कहलाते हैं। ज्ञान में जीव–ब्रह्म का अद्वैत स्थापित हो जाता है। वह परामुक्ति कहलाती है।

जिस प्रकार उपासना के लिए जो आलम्बन स्वीकार किया जाता है, उस आधार पर उपासना तीन प्रकार की हो जाती है, जिसका विवरण हम ऊपर दे चुके हैं। इसी प्रकार उपासक की दृष्टि के आधार पर भी उपासना तीन प्रकार की हो जाती है – १. सत्यवती, २. अङ्गवती, ३. अन्यवती । किसी भी पदार्थ को जब ब्रह्म जान लिया जाता है तो उस पदार्थ की उपासना सत्यवती कहलाती है। वस्तुस्थिति यह है कि सब कुछ ब्रह्ममय है। यह ज्ञान होने पर किसी भी पदार्थ की उपासना ब्रह्म की ही उपासना बन जाती है। यह उत्तम उपासना का रूप है। इसका फल अद्वैतभाव की सिद्धि है। इसमें ज्ञान की मुख्यता है। इस उपासना में हमें जो कुछ दृष्टिगोचर होता है उसी में ब्रह्म की भावना भी बन जाती है। अङ्गवती उपासना में दृष्टिगोचर अङ्ग होता है किन्तु हमारी बुद्धि अङ्गी पर रहती है। यह मध्यम कोटि की उपासना है। अन्यवती उपासना में दृष्टि का विषय अन्य होता है तथा बुद्धि का विषय अन्य होता है। यह तृतीय कोटि की उपासना है।

सत्यवती उपासना में उपासक ब्रह्म को सर्वव्यापक जानता है। उसे उपासना के लिए किसी माध्यम अर्थात् आधिभौतिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। वह मानसोपचार से ही आराधना कर लेता है। यदि सत्यवती उपासना में आधिभौतिक साधन रहे भी तो उसे ब्रह्म रूप ही समझा जाता है। वस्तुतः यह उपासना ज्ञानयोग के अत्यन्त निकट है किन्तु इसमें मानसिक क्रिया का समावेश रहने के कारण ही उपासना कह दिया जाता है। यह

युञ्जानयोगी की स्थिति है। युक्त होने पर वह मानस क्रिया भी नहीं रहती तो केवल ज्ञानयोग शेष रह जाता है। इस प्रकार सत्यवती उपासना, उपासना और ज्ञान के बीच का सेतु है।

अङ्गवती उपासना में हम एक अंश को देखते हैं किन्तु समझते पूरे अंशी को हैं। अङ्गवती उपासना में हम अंश को ही अंशी मान लेते हैं। प्रतीकोपासना में हम एक अंश के द्वारा पूरे अंश को ध्यान में ले लेते हैं। यह इन दोनों का सूक्ष्म भेद है। प्रतीक में एक अवयव पूरे अवयवी का सूचक मात्र होता है, अङ्गवती में वह अवयव अवयवी का स्थानापन्न ही हो जाता है।

अन्यवती उपासना में हम आदित्य आदि में ब्रह्म का आरोप कर लेते हैं। यदि हम आदित्य को ब्रह्मरूप जान कर उसकी उपासना करते हैं तो वह सत्यवती है, यदि उसी आदित्य को ब्रह्म का अंश जानते हुए भी ब्रह्म मानकर उपासना करें तो अङ्गवती उपासना होगी और आदित्य को ब्रह्म से भिन्न समझकर भी उसे ब्रह्म मान लें तो अन्यवती उपासना होगी। इस प्रकार थोड़े से भेद में उपासना पद्धति का भेद हो जाता है। किन्तु यह भेद होने पर भी सभी उपासनाओं का लक्ष्य एक ही है – ब्रह्माद्वैत का ज्ञान।

गीता में उपासना का स्वरूप बताते हुए श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कर दिया कि जो सर्वभूतों में सर्वत्र परमेश्वर को तथा नश्वरों में अनश्वर तत्त्व को देखता है वही वस्तुतः द्रष्टा है –

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

उपासना का रहस्य

उपासना के अन्तर्गत प्रतीकोपासना का अर्थ बताया जा चुका है। शेष बची तीन उपासनाएँ हैं – प्रतिरूपोपासना, भावोपासना और निदानोपासना। ये सभी उपासनाएँ किसी न किसी माध्यम के द्वारा निराकार-निर्गुण का ध्यान कराने की पद्धतियाँ हैं।

प्रतिरूपोपासना

प्रतीक अवयव के द्वारा अवयवी का बोध कराने की प्रक्रिया है। प्रतिरूप अनुकृति द्वारा उपास्य का बोध कराने की प्रक्रिया है। हम जो कुछ बनाते हैं, वह या तो सर्वथा नवीन होता है या पहले से उपस्थित किसी पदार्थ की नकल होता है। ईश्वर कभी नकल नहीं करता, वह सदा नई चीज ही बनाता है। इसे अपूर्व शिल्प कहते हैं। सूर्य्य, चन्द्र, नदी, पर्वत – ये सब अपूर्व शिल्प हैं; ये पहले नहीं थे, सृष्टि के बनाते समय ईश्वर ने बनाए। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार यह पृथ्वी, द्यौ तथा अनेक रूप वाली वाणी प्रजापति का शिल्प है।

ईश्वर अपूर्व शिल्प बनाता है, जीव भी अपूर्व शिल्प बना सकता है। पहले हवाई जहाज नहीं था, हवाई जहाज का निर्माण मनुष्य का अपूर्व शिल्प है। एक बात अवश्य है मनुष्य के सभी अपूर्व शिल्प ईश्वर के अपूर्व शिल्प से बनते हैं। मनुष्य ने हवाई जहाज बनाया किन्तु हवाई जहाज के निर्माण में जो भी सामग्री – कच्चा माल लगा वह कच्चा माल मनुष्य ने नहीं बनाया; वह ईश्वरकृत है। यह बात समझने की है। पृथ्वी पर कच्चा माल – जल, वायु, भूमि सभी सीमित हैं। हम जो भी निर्माण करते हैं उससे यदि जल, वायु, भूमि को प्रदूषित करते हैं तो वस्तुतः हम आगे के निर्माण का आधार ही नष्ट कर देते हैं। हम जल, वायु, भूमि, धातु, कोयला, पेट्रोल से बहुत कुछ बना लेते हैं लेकिन हम जल, वायु, भूमि, धातु, कोयला और पेट्रोल नहीं बना सकते; इन्हें ईश्वर ही बनाता है। यह अपूर्व शिल्प की चर्चा हुई।

प्रतिरूप शिल्प में हम कुछ भी नवीन नहीं बनाते, केवल अपूर्व शिल्प की नकल करते हैं। हाथी ईश्वर ने बनाया, हम हाथी का चित्र अथवा प्रतिमा बनाते हैं – यह प्रतिरूप शिल्प हुआ। चित्र दो आयाम वाला होता है,

प्रतिमा में तीन आयाम रहते हैं, उसमें हाथी की लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई तीनों आ जाती हैं। प्रतिरूप शिल्प भूगोल के नक्शे की भाँति है। नक्शे में दो आयाम रहते हैं, ग्लोब में तीनों आयाम रहते हैं।

अपूर्व शिल्प की विशेषता इसमें है कि मनुष्य का अपूर्व शिल्प ईश्वर के अपूर्व शिल्प से अधिकाधिक दूर रहे। ईश्वर ने लोहे को ऐसा बनाया कि वह पृथ्वी से सटकर एक ही स्थान पर रहता है। रोलर में लगा लोहा पृथ्वी से सट कर ही रहता है किन्तु वह चलने लगता है – यह विशेषता है। हवाई जहाज का लोहा पृथ्वी से ऊपर उठ कर चलता है – यह और भी अधिक विशेषता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य का अपूर्व शिल्प प्राकृतिक स्थिति से जितना भिन्न होगा उतना उत्कृष्ट माना जाएगा।

प्रतिरूप शिल्प की स्थिति इससे भिन्न है। प्रतिरूप शिल्प ईश्वर के अपूर्व शिल्प के जितना निकट होगा उतना उत्कृष्ट माना जाएगा। चित्र अथवा मूर्ति को, जिसका यह चित्र अथवा मूर्ति है, उसकी हूबहू नकल होनी चाहिए – इसी में मूर्त्तिकार अथवा चित्रकार की सफलता है। इसीलिए चित्र की अपेक्षा मूर्ति उत्कृष्ट है क्योंकि चित्र में दो आयाम हैं जबकि मूर्ति में तीनों आयाम हैं। इसीलिए चित्रपट (सिनेमा) की अपेक्षा नाटक अधिक उत्कृष्ट है क्योंकि सिनेमा में दो ही आयामों की नकल हो पाती है, तीसरे आयाम की हमें कल्पना ही करनी पड़ती है, जबकि नाटक में मञ्च पर तीनों आयामों की नकल हो जाती है।

कठिनाई यह है कि निराकार–निर्गुण की नकल कैसे की जाए? उसका न चित्र बनता है, न मूर्ति। यहाँ प्रतीक हमारी सहायता करता है। समस्त विश्व ईश्वर का ही रूप है, अथवा कहना चाहिए कि ईश्वर की ही अपूर्व कृति है। उसमें जो भी हमें उत्कृष्ट लगे हम उसे चुन लें, राम अथवा कृष्ण, अथवा अन्य कोई भी जहाँ हमारा चित्त स्थिर हो सके। अब राम और कृष्ण साक्षात् तो हमें उपलब्ध हैं नहीं अतः उनकी मूर्ति अथवा प्रतिकृति बनाकर उसके माध्यम से हम ईश्वर की उपासना करते हैं, यही प्रतिरूपोपासना हुई। जब हम बच्चे को नक्शे अथवा ग्लोब के माध्यम से भूगोल पढ़ा रहे होते हैं तो वस्तुतः हम प्रतिरूपोपासना ही कर रहे होते हैं।

कुछ सम्प्रदायों में प्रतिरूप अथवा नकल करने में दोष माना जाता है। हेतु यह दिया जाता है कि मनुष्य ईश्वर की अपूर्व रचना की नकल करके ईश्वर के साथ स्पर्द्धा करे – यह उचित नहीं है। ऐसी मान्यता वाले न मूर्ति बनाने को उचित समझते हैं, न चित्रकारी को। मूर्ति और चित्र बनाने वालों का तर्क यह है कि जीव भी ईश्वर का अंश ही है, अतः उसमें भी अपूर्व रचने तक की सामर्थ्य है फिर अपूर्व की नकल करने में तो दोष ही क्या है; इन दोनों दृष्टियों का भेद इस आधार पर है कि एक जीव को ईश्वर से भिन्न मानता है दूसरा जीव को ईश्वर का ही अंश मानता है।

भावोपासना

ईश्वर निराकार–निर्गुण होने पर भी ज्ञानरूप है। ज्ञान स्वयं ही निराकार है किन्तु हम इसे शब्दों में बाँध कर साकार कर देते हैं। संक्षेप में यही भावोपासना हुई।

पदार्थ तीन प्रकार के हैं – बृहत्तम, लघुतम तथा मध्यम परिमाण वाले। बृहत्तम पदार्थ की कल्पना करें तो हम असीम पर पहुँच जाएँगे, वह महतो महीयान् है, उसकी कोई सीमा नहीं। लघुतम पदार्थ 'अणोरणीयान्' है उसकी कोई लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई नहीं है। उसे ही गणित में हम शून्य कहते हैं। इस शून्य को हम कागज पर बिन्दु द्वारा प्रकट करते हैं।

शून्य की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई कुछ भी नहीं है, अतः कागज पर शून्य बना कर दिखाना असम्भव है किन्तु हम उसे बिन्दु बनाकर दिखा देते हैं। बिन्दु शून्य की प्रतिकृति नहीं है किन्तु हम बिन्दु में शून्य की भावना कर लेते हैं। भावोपासना का एक अन्य उदाहरण लें।

ऐतरेय आरण्यक में बाध्व महर्षि का मत उद्धृत है। उस मत के अनुसार पुरुष चार हैं – शरीरपुरुष, छन्दःपुरुष, वेदपुरुष तथा महापुरुष – **चत्वारः पुरुषा इति बाध्वः। शरीरपुरुषश्छन्दःपुरुषो वेदपुरुषो महापुरुषः।**

इस विषय का गीता के एक श्लोक को समझने के लिए जान लेना आवश्यक है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि सब वेदों के द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ – **''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।''** वेदों में कहीं श्रीकृष्ण का वर्णन तो है नहीं फिर यह वाक्य कैसे सङ्गत होगा? प्रथम तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जहाँ भी श्रीकृष्ण गीता में उत्तम पुरुष का प्रयोग करते हैं – अहं, माम्, मम आदि कहते हैं – वहाँ वे अव्यय पुरुष का वर्णन ही कर रहे हैं। यह बात हम पहले कह चुके हैं किन्तु फिर भी यहाँ उसे दुबारा कहना आवश्यक है। वेदों में अव्यय पुरुष का वर्णन है – इस विषय में सभी सहमत हैं। फिर भी प्रश्न होता है कि वेद अव्यय पुरुष को किस प्रकार बताते हैं? उसकी ही प्रक्रिया बाध्व महर्षि ने ऊपर बताई है, जिसे थोड़ा समझना होगा।

वेद का अर्थ है – ज्ञान। इस ज्ञान का सङ्केत होता है शब्दों द्वारा और शब्दों का संग्रह रहता है पुस्तक में। संस्कृत में पुस्तक और ग्रन्थ दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। पुस्तक नाम कागजों के उस समूह का है जिसमें कुछ शब्द लिखे या छपे रहते हैं और जिन कागजों के समूह को एकत्र कर सीं कर बाँध दिया जाता है। ग्रन्थ नाम उस शब्द समूह का है जो उस पुस्तक में लिखा जाता है। उदाहरणतः ऋग्वेद की कोई पुस्तक लें। इसमें 'अग्निमीले पुरोहितम्' से लेकर 'समानी व आकूतिः' तक के अक्षर छपे हैं। ये अक्षर ग्रन्थ हैं। मान लें ऋग्वेद की दस प्रतियाँ आपके पास हैं। तो हम कहेंगे कि ये दस पुस्तकें हैं, किन्तु फिर भी वह ग्रन्थ एक ही है क्योंकि उन दसों पुस्तकों में एक ही अक्षर लिखे हैं। यहाँ पुस्तक शरीरपुरुष हुआ और ग्रन्थ छन्दःपुरुष हुआ। पुस्तक को हम अंग्रेजी के मुहावरे में 'बॉडी ऑफ दी बुक' कहेंगे। यह शरीरपुरुष का ही अंग्रेजी अनुवाद हुआ। छन्दः का अर्थ है – आच्छादयिता। शब्द ज्ञान को ढकता है अतः शब्दसमूह छन्दः हुआ। यही छन्दःपुरुष है। बिना शब्द के ज्ञान रह नहीं सकता – यह वैयाकरणों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि शब्द तो वस्तुतः मुख से बोला जाता है। उस शब्द को जब हम लिपि में लिख डालते हैं तो वह लिपि शब्द की भावमयी प्रतिमा ही होती है न कि शब्द। हम पहले बता चुके हैं कि 'क' जैसी रेखाकृति 'काक' 'केका' आदि शब्दों में उच्चार्यमाण ध्वनि की सूचक है किन्तु यह रेखाकृति स्वयं कोई ध्वनि नहीं है। अतः ग्रन्थ तो वस्तुतः मुख से उच्चार्यमाण ध्वनि है न कि पुस्तक में अङ्कित लिपि।

मुख से उच्चार्यमाण ग्रन्थ भी ज्ञान नहीं है। 'अग्नि' शब्द की ध्वनि जब हम मुख से बोलते हैं तो वह जाज्वल्यमान अग्नि पदार्थ का ज्ञान नहीं है। यदि शब्द ही ज्ञान होता तो हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी अग्नि शब्द को सुनकर अग्नि पदार्थ का ज्ञान कर पाता। किन्तु ऐसा होता नहीं है। शब्द भी ज्ञान का सङ्केत ही है। जिसे सङ्केत का पता होता है शब्द उसमें ही ज्ञान उत्पन्न कर सकता है, सबमें नहीं। शब्द से उत्पन्न होने वाला यह ज्ञान ही वेद है। इसे ही वेदपुरुष कहा है।

इस प्रकार शरीरपुरुष, छन्दःपुरुष तथा वेदपुरुष को अर्थात् पुस्तक, ग्रन्थ और ज्ञान के सम्बन्ध को हमने समझा। अब रहा महापुरुष अर्थात् ईश्वर अथवा अव्ययपुरुष अथवा गीता का उत्तमपुरुष रूप में वर्णित श्रीकृष्ण। वह ज्ञानरूप है अतः प्रत्येक ज्ञान उस ज्ञानधन अव्ययपुरुष का ही सूचक बन जाता है। यही अभिप्राय गीता के इस कथन का है कि मैं ही सब वेदों द्वारा वेद्य हूँ – **सर्वैश्च वेदैरहमेव वेद्यः।**

यहाँ वेद का अभिप्राय ज्ञान से ही है, न कि केवल चार पुस्तकों में लिखित शब्द समूह से। यदि ऋग्वेदादि चार पुस्तकों में लिखित शब्द–समूह ही वेद होता तो यह कथन कदापि समीचीन न होता कि वेद अनन्त हैं – अनन्ता वै वेदाः। क्योंकि चार पुस्तकों का शब्द समूह तो सान्त ही है, अनन्त नहीं। अनन्त तो ज्ञान ही है।

हमारा ज्ञान सान्त ही होता है तथापि हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रतीकोपासना द्वारा अवयव अवयवी का बोध करा देता है।

अतः सान्त ज्ञान अनन्त ज्ञान का सूचक बन जाता है और अनन्त ज्ञान ईश्वर का बोधक है ही – **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।** इस प्रकार शब्द ईश्वर की भावमयी प्रतिमा है। इसीलिए कहा जाता कि जो शब्द ब्रह्म में निष्णात हो जाता है वह परम ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है – **शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।** महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तो यहाँ तक कह दिया कि एक शब्द भी यदि ठीक से जान लिया जाए तथा ठीक से प्रयुक्त किया जाए तो वह इहलोक और परलोक में सभी कामनाओं की पूर्ति करता है – **एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।**

इसीलिए वेदों को साक्षात् ब्रह्म रूप ही मान लिया जाता है। यह भावमयी उपासना का स्वरूप हुआ। सिख भाई यद्यपि मूर्ति पूजा नहीं करते तथापि गुरु ग्रन्थ साहब को सम्मानपूर्वक सिर पर रख कर उसके ऊपर चँवर से हवा करते हुए चलते हैं। अभिप्राय इतना ही है कि निराकार की उपासना के लिए साकार का अवलम्बन लेना ही पड़ता है।

इस उपासना का चौथा रूप–निदानोपासना और भी व्यापक है। इसे भी देखा जाये।

निदानोपासना

उपासना का वास्तविक लक्ष्य ब्रह्म है। संसार के सभी मतावलम्बी परम तत्त्व को निराकार मानते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि वस्तुतः उपास्य वह परम तत्त्व ही है। उपासना में हमें उपास्य पर अपना चित्त एकाग्र करना होता है। यूँ तो वह परम तत्त्व सर्वव्यापक है अतः हम सदा ही उसके उप=समीप आसीन हैं एवं इस अर्थ में हम उसकी उपासना कर ही रहे हैं, किन्तु उपासना भौतिक अर्थ में समीप आसीन होना नहीं है अपितु मानसिक रूप से समीप होना है। मन निराकार को पकड़ नहीं पाता। अतः निराकार अथवा अतीन्द्रिय की उपासना कैसे की जाए? – यह एक ऐसी समस्या है जिसका सामना सभी को करना पड़ता है, चाहे वह किसी भी मत का मानने वाला क्यों न हो।

निराकार का साकार रूप

इस समस्या के बहुत सारे समाधान हैं; उन्हीं में से एक है निदानोपासना। हम किसी निराकार का एक साकार रूप बना लेते हैं, यही निदान–विद्या है। यह कार्य हम केवल धर्म के क्षेत्र में ही नहीं करते अपितु लौकिक मामलों में भी करते हैं। उदाहरणतः राष्ट्र की अवधारणा एक निराकार वस्तु है। हमने तिरङ्गे झण्डे को उसका निदान बना लिया। हमें जब राष्ट्र के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करनी होती है तो हम १५ अगस्त अथवा २६ जनवरी को तिरङ्गे को प्रणाम करते हैं। तिरङ्गा झण्डा भौतिक दृष्टि से एक कपड़े का टुकड़ा है जिसे एक आकार विशेष में काट कर हमने तीन रङ्गों में रङ्ग लिया है। हमारे संविधान में हमने उसे राष्ट्रध्वज स्वीकार कर लिया है। उसको राष्ट्रध्वज स्वीकार कर लेने पर अब वह कपड़े का टुकड़ा, कपड़े का टुकड़ा न रहकर राष्ट्र का निदान बन गया। हर भारतीय नागरिक का कर्तव्य हो गया कि वह उसका उचित सम्मान करे। यदि कोई ऐसा न करके उसका अपमान करता है वह कानून की दृष्टि से दण्डनीय अपराध करता है। प्रश्न होता है कि कपड़े के टुकड़े का क्या तो अपमान और क्या सम्मान ? यह ठीक है किन्तु उसे राष्ट्रध्वज मान लेने पर उसका अपमान राष्ट्र का अपमान माना जाएगा।

यह निदान विद्या का ही परिणाम है, अन्यथा कपड़े के तिरङ्गे टुकड़े में और भारत राष्ट्र में न कोई आकृति की समानता है, न प्रकृति की। संविधान द्वारा उसे, उस वस्त्र–खण्ड को राष्ट्र–ध्वज घोषित कर देना मानो उस वस्त्र–खण्ड में प्राण–प्रतिष्ठा कर देने जैसा है। यह प्राण–प्रतिष्ठा ही उसे मान्य अथवा उपास्य बना देती है।

काल की अवधारणा और महाकाली

काल एक निराकार अवधारणा है किन्तु उसकी शक्ति बहुत बड़ी है। विश्व के सारे परिवर्तन काल की शक्ति से ही हो रहे हैं। एक व्यक्ति में क्या परिवर्तन होते हैं, इसकी सूचना हमें काल के मान से पता चल जाती है। मान लें एक बालक एक मास का है तो हम तत्काल यह मान और जान लेते हैं कि वह न बोल सकता है, न चल सकता है। अब वह तीन वर्ष का हुआ तो वह बोलने भी लगा और चलने भी लगा। बीस वर्ष का होने पर वह बड़ा बोझा उठाने में समर्थ हो गया। वही ९० वर्ष का हो जाने पर अब उतना बोझा उठाने में समर्थ नहीं रहा। स्पष्ट है कि काल के कारण उसमें ये सब परिवर्तन आए। परिवर्तन ला देने की काल की यह शक्ति ही महाकाली कहलाती है। यह शक्ति अदृश्य है। यदि हम इसे साकार रूप में मानकर इसका ध्यान करना चाहें तो निदान–विद्या ही हमारी सहायता कर सकती है। बिना निदान–विद्या की सहायता के हम महाकाली अर्थात् काल की शक्ति को कदापि साकार रूप नहीं दे सकते और साकार रूप दिए बिना भले ही हम काल की उस शक्ति का कुछ क्षण के लिए कल्पना द्वारा ध्यान कर लें किन्तु लम्बे समय तक तो उसकी उपासना उसे साकार रूप देने पर ही सम्भव है।

हमने उस महाकाली को एक स्त्री मान लिया और उसकी चार भुजाएँ मान लीं। यह बस मानने का ही खेल है; वस्तुतः न काल की शक्ति कोई स्त्री है और न उसकी चार भुजाएँ हैं। हमने निदान–विद्या का सहारा लेकर उस स्त्री की चार भुजाओं में खड्ग, नरमुण्ड, कैंची और सुरा–पात्र पकड़ा दिए। लगता है कि यह अत्यन्त हिंस्र स्वरूप हमने बना लिया है। खड्ग हिंसा का साधन है कोई स्त्री सुरा–पात्र पकड़े हो तो भला वह हमारी उपास्य कैसे हो सकती है? ये सब आपत्तियाँ तब आती हैं जब हम खड्ग, सुरा–पात्र आदि को वास्तविक मान बैठते हैं। यहाँ तो न स्त्री है, न चार–भुजा, न खड्ग आदि। ये तो सब निदान हैं वास्तविक नहीं हैं। जरा इन निदानों को समझें तो सब आपत्तियों का निराकरण ही नहीं हो जाएगा बल्कि इन निदानों की कल्पना करने वालों के प्रति प्रशंसा का भाव भी उत्पन्न होगा।

महाकाली शव पर खड़ी है। शव प्रलयावस्था है जहाँ सब कुछ प्रसुप्त है। मनु के शब्दों में प्रलय की अवस्था तमोभूत्, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य और अविज्ञेय है –

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

ऐसी स्थिति का सर्वोत्तम निदान कलाकार को शव ही प्रतीत हुआ। अतः प्रलयकाल की समाप्ति पर सक्रिय होने वाली महाकाली को उसने शव पर खड़ा हुआ दिखला दिया। शव प्रलयकाल का निदान है तो नरमुण्ड अर्थात् सिर समस्त ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठान होने के नाते चेतना का निदान है, अतः महाकाली के एक हाथ में नरमुण्ड थमा दिया गया। संसार में सब अनित्य है। खड्ग संहार का निदान है। सब प्रत्येक क्षण काल–कवलित हो रहा हो, यह बताने के लिए महाकाली के दूसरे हाथ में खड्ग कर दिया गया। कैंची की दो धार रहती हैं। संसार के सभी पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं – पहला विध्यात्मक जिसे सोम कहा जाता है, दूसरा निषेधात्मक जिसे अग्नि कहा जाता है। विद्युत् में दो ही धाराएँ हैं – नेगेटिव और पॉजिटिव। अग्नि और सोम मानो कैंची की दो धार हैं जो जब मिलती हैं तो जगत् के सभी पदार्थ बनते हैं – अग्नीषोमात्मकं जगत्। इसी प्रक्रिया को कैंची का निदान अभिव्यक्त कर रहा है। वस्तुतः हम ब्रह्मरूप हैं किन्तु महाकाली की माया–शक्तिवश हम नशे में मदमत्त होने के

कारण अपने वास्तविक स्वरूप को जान नहीं पा रहे । इसी बात को बताने के लिए महाकाली के चतुर्थ हाथ में सुरा–पात्र दे दिया गया है। सुरा भी हमें नशे में चूर कर देती है और हम वास्तविकता को नहीं समझ पाते। यह महाकाली का एक रूप है। निदानों के विस्तार द्वारा ऐसे–ऐसे कंकाली, चामुण्डा आदि ८४ रूप बना दिए हैं।

यदि निदान–विद्या का सहारा न लेते तो महाकाली की शक्ति के ये विविध रूप हमारे सामने साकार हो कर कभी न आते। परमशक्ति ब्रह्म, अचिन्त्य, अप्रमेय, निर्गुण तथा सगुण रूप भी हैं। उसका रूप है नहीं फिर भी उपासकों की सहूलियत के लिए हम उसके रूप की कल्पना कर लेते हैं –

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना।।

यह रूप की कल्पना हम केवल ब्रह्म के सम्बन्ध में करते हों, ऐसा नहीं है। सारे संसार में शोक को अभिव्यक्त करने के लिए काले रंग का उपयोग किया जाता है। शोक तो अमूर्त है किन्तु काले रंग द्वारा उसे मूर्त्त बना दिया जाता है। स्वयं वेद में प्रकृति को अजा बताकर उसके सत्व, रजस् और तमस् अंश का क्रमशः शुक्ल, लाल और काला बताया गया है – **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्।**

उपासना में भावना का बहुत महत्व है। यह भावना जितने लम्बे समय निरन्तर तथा श्रद्धापूर्वक की जाएगी, उतनी ही सुदृढ़ होगी – **स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः**। मन की चञ्चलता इस भावना को दृढ़ बनने देने में बाधक है–

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।

पाँच प्रकार के प्रेम

इस चञ्चलता को रोकने का एक साधन है कि जिस निदान का सहारा लिया जाए वह आलम्बन इतना आकर्षक हो कि हमारा चित्त वहाँ टिक सके। चित्त टिकने को ही प्रेम कहा जाता है। यह प्रेम पाँच कारणों से होता है। बड़ों के प्रति छोटों का प्रेम श्रद्धा कहलाता है। छोटों के प्रति बड़ों का प्रेम वात्सल्य कहलाता है। बराबर वालों का पारस्परिक प्रेम स्नेह कहलाता है। इन तीनों प्रकार का आलम्बन चेतन स्त्री–पुरुष होते हैं। जड़ मकान आदि के प्रति प्रेम काम कहलाता है।

जब उपर्युक्त चारों प्रकार के प्रेम एकत्र होते हैं तो उसे रति कहा जाता है। वर्तमान में उस रति का सम्बन्ध सेक्स से जुड़ा हुआ है। स्त्री–पुरुष का पारस्परिक प्रेम रति कहलाता है क्योंकि उस प्रेम में श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह तथा काम चारों एकत्र रहते हैं। रति का सम्बन्ध सेक्स से जोड़ लेना दाम्पत्य–प्रेम की सीमा को सङ्कीर्ण कर लेना है। रति का इतना संकुचित अर्थ कर लेने पर दाम्पत्य–प्रेम की वह गरिमा प्रकट नहीं हो पाती जिसका गुणगान महाकवि कालिदास ने इन शब्दों में किया है कि भार्या पति के लिए स्वामिनी, मन्त्री, मित्र तथा शिष्या सब कुछ एक साथ ही होती है –

गृहिणी सचिवः सखा मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

एक बात समझने की है कि प्रेमोपासना बहुत उत्कृष्ट है किन्तु है वह भी राग–मूलक। राग का मूल रजोगुण है। राग का आधार उपास्य के गुण हैं। गुण जड हैं, वे चेतन आत्मा नहीं हैं। अतः प्रेमोपासना भी अन्ततः अवर कोटि अर्थात् ज्ञानोपासना की अपेक्षा छोटी ही है। इसके कुछ कारण हैं। एक पदार्थ में अनेक गुण रहते हैं। गुणों की इस अनेकता के कारण चित्त कभी किसी गुण पर जाता है, कभी किसी गुण पर। अतः चित्त सर्वथा एक पर स्थिर नहीं हो पाता। वे वस्तुतः उपाधि रूप ही हैं, वे वस्तु का स्वरूप नहीं हैं। अतः गुणोपासना सोपाधिक उपासना

ही है, निरुपाधिक नहीं। सगुणोपासना में अद्वैत भाव भी नहीं रहता अपितु भगवान् तथा भक्त का द्वैत बना रहता है। गुणों के प्रति आसक्ति व्यक्ति को मुक्त नहीं करती अपितु बन्धन में डालती है।

प्रश्न होता है कि जब सगुणोपासना में इतने दोष हैं तो वह क्यों की जाए। उत्तर यह है कि साधक जब तक स्वयं गुणों से ऊपर नहीं उठ जाता तब तक उसे गुणों को ही उपासना का माध्यम बनाना पड़ेगा। किन्तु शनैः–शनैः यह गुणोपासना ही निर्गुण की उपासना बन जाती है। जब प्रेम श्रद्धा में बदल जाता है, तो यह श्रद्धा ही ज्ञान का द्वार बन जाती है – **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**। प्रेम में आसक्ति है, श्रद्धा में तादात्म्य भाव है। प्रेम में साधक आनन्दयुक्त होता है किन्तु श्रद्धा में तो वह स्वयं आनन्द रूप ही बन जाता है – श्रद्धा व्यक्ति को तद्रूप ही बना देती है –

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः

उपासना में एक प्रकार का सम्मोहन – मेस्मेरिज्म – का अंश भी रहता है। प्रसिद्ध है कि भोले लोग जल्दी सम्मोहित होते हैं। मन की शक्ति अचिन्त्य है। प्रह्लाद अत्यन्त सरलमना था। उसकी मन की भावना ने खम्भे में से भी नृसिंह भगवान् को प्रकट कर दिया। मूर्त्ति पूजा के सम्बन्ध में जो अनेक आश्चर्यजनक उदाहरण सुने जाते हैं, वे सब मन की शक्ति के फल हैं। जब कोई व्यक्ति मन की भावना को इतना दृढ़ बना देता है कि अमुक निदान तो अमुक देव ही है तो उसके लिए वह निदान वस्तुतः वही देव बन कर तदनुकूल फल भी प्रदान करने लगता है। किन्तु दूसरा साधक जब संशयालु होकर निदान को निदान ही समझता रहता है तो वह निदान उपासना का माध्यम तो बन सकता है किन्तु साक्षात् देव बन कर फल प्रदान नहीं कर सकता।

यह विषय तर्क–वितर्क का नहीं है। हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में विश्वास का फल प्रत्यक्ष गोचर होता रहता है। कोई यह भरोसा करे कि अमुक व्यक्ति अवश्य उसकी सहायता करेगा तो वह सचमुच भी सहायक बन जाता है। किसी को यह संशय बना रहे कि पता नहीं वह सहायता करेगा या नहीं तो सचमुच ही वह व्यक्ति आनाकानी करने लगता है। श्रद्धा नाम इस विधायक दृष्टिकोण का है कि संसार में सब ओर से सहयोग मिलेगा। यही आस्तिकता है। यह निषेधात्मक दृष्टि है कि हमें सब ओर से विरोध प्राप्त होगा, यह नास्तिकता है। महात्मा ईसा ने ठीक ही कहा था कि श्रद्धा से पर्वत भी चलने लगते हैं।

उपासना की चरम परिणति श्रद्धा में ही है। गीता में श्रद्धा की महिमा पद–पद पर परिलक्षित होती है –

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

गीता में वर्णित उपासना की सम्प्रदाय–निरपेक्षता

गीता में तीन योगों का वर्णन होना प्रसिद्ध है – कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। भक्तियोग कहें या उपासना, एक ही अर्थ है। गीता में भक्ति सम्बन्धी अनेक श्लोक आए हैं जिनका उल्लेख हम क्रमशः करेंगे किन्तु अभी गीता का वह महत्वपूर्ण श्लोक विचारणीय है जो कहता है कि हे अर्जुन ! जो श्रद्धा से युक्त होकर दूसरे–दूसरे देवताओं को मानने वाले भक्त अन्य देवों की उपासना करते हैं वे भी विधि का उल्लंघन करने के बावजूद वस्तुतः मेरी ही (कृष्ण की ही) उपासना करते हैं –

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

यहाँ दो बातें कही गई हैं – एक उपास्यदेव दूसरी उपासना की विधि। कृष्ण उपास्य हैं और वेद–शास्त्रोक्त उनकी उपासना की विधि है। जो कृष्ण की उपासना न करके राम अथवा शिव अथवा विष्णु की उपासना करता है, वह अन्य देवों का उपासक हुआ किन्तु उपासना विधि वैदिक शास्त्रोक्त ही है। किन्तु जो ईसा मसीह अथवा

हजरत मोहम्मद की उपासना करता है वह अन्य देव की तो उपासना करता ही है उसकी उपासना विधि भी वैदिक शास्त्रोक्त नहीं है। गीता का कहना है कि वैदिक शास्त्रोक्त विधि से उपासना करने या किसी अन्य विधि से, विष्णु अथवा शिव की उपासना करे या ईसा मसीह अथवा हजरत मोहम्मद की – सभी स्थितियों में उपासना का लक्ष्य भी एक ही है और फल भी एक ही है।

आज जब धार्मिक कट्टरता फण्डामेण्टलिज्म के नाम पर हिंसक रूप धारण कर चुकी है, तब गीता का यह सन्देश विशेष महत्व रखता है। हम किसी की उपासना करें और किसी भी विधि से उपासना करें – यह मामला हमारी व्यक्तिगत पसन्द का है। यह मानने पर ही सम्प्रदायनिरपेक्षता अथवा सर्वधर्मसमभाव प्रतिष्ठित हो सकता है। यदि हमारी मान्यता यह हो कि हमारे ही उपास्यदेव की हमारी ही विधि से की गई उपासना सार्थक है, अन्य किसी भी देव की अन्य किसी विधि से की गई उपासना न केवल निरर्थक अपितु अनर्थकारी भी है, तो फिर साम्प्रदायिक विद्वेष को खुल कर खेलने का अवसर स्वतः ही मिल जाता है।

बहिष्कार की प्रकृति

जब पोप जॉन पॉल (द्वितीय) भारत पधारे तो कुछ संगठनों ने उनसे यह मांग की कि वे ऐसी घोषणा करने की कृपा करें कि जो ईसाई मतावलम्बी नहीं हैं वे भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। पोप ऐसी घोषणा नहीं कर पाए। इसके विपरीत स्वामी विवेकानन्द ने बारम्बार कहा कि जीवन का चरम लक्ष्य किसी भी सम्प्रदाय का मानने वाला किसी की उपासना पद्धति से प्राप्त कर सकता है। इन दो दृष्टियों में मौलिक भेद है। कुछ मतों की प्रकृति बहिष्कार (एक्सक्लूजन) की है, कुछ मतों की प्रकृति समावेश (इन्क्लूजन) की है। भारतीय उद्गम वाले सभी मत समावेश में विश्वास रखते हैं; वे उपासना पद्धति की विविधता को वेद से लेकर महात्मा गाँधी तक व्यक्तिगत रुचि का विषय मानते रहे हैं – **"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।"** सेमेटिक मत, जिनका उद्गम भारत से बाहर हुआ, प्रायः बहिष्कार की नीति में विश्वास रखते हैं अर्थात् वे अपनी उपासनापद्धति तथा अपने उपास्य देव के अतिरिक्त और किसी उपासनापद्धति तथा उपास्यदेव को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। भारतीय उद्गम वाले ऐसे सभी मत अपने को आर्य कहने में गौरव का अनुभव करते हैं, चाहे वे बौद्ध हों, चाहे जैन और चाहे वैदिक। यह 'आर्य' शब्द एक संस्कृति अथवा विचार–पद्धति का सूचक है, न कि किसी नस्ल का। हिटलर अपने आप को आर्य यह मानकर कहता था कि आर्य कोई नस्ल है। किन्तु भारत में आदिकाल से लेकर आज तक किसी ने आर्य शब्द का प्रयोग नस्ल अथवा जाति के अर्थ में नहीं किया। हाँ, उन भारतीय की बात छोड़ दें जिन्होंने विदेशियों से आर्य शब्द का अर्थ करना सीखा और आर्य – द्रविड़ जैसे कृत्रिम झगड़े खड़े किए हैं। तमिलनाडु का कोई भी वैदिक मतावलम्बी उत्तर भारत के किसी भी वैदिक मतावलम्बी से कम आर्य नहीं है। यह बात दूसरी है कि इतिहास के किसी गुमनाम काल में किसी एक नस्ल के लोग आर्य संस्कृति के रहे हों और तब आर्य शब्द उस संस्कृति तथा उस नस्ल को भी बताता रहा हो, किन्तु बाद में उस नस्ल के लोगों ने आर्य संस्कृति तो छोड़ दी, पर नस्ल बदलना उनके वश में नहीं था, उनके लिए आर्य शब्द केवल नस्ल का वाचक होकर रह गया। हिटलर जिन जर्मनों के आर्य होने की बात कर रहा था, वे नस्ल से आर्य हैं।

चर्चा हमने इसलिए चलाई कि आज केवल साम्प्रदायिक द्वेष ही इस देश में नहीं फैलाया जा रहा, एक नस्लवादी द्वेष भी आर्य–आर्येतर के नाम पर फैलाया जा रहा है। भारतीय संस्कृति की एक मुख्य विशेषता वह है जिसका उल्लेख गीता का उपरिलिखित श्लोक करता है – सर्वधर्मसमभाव। प्रायः सर्वधर्मसमभाव अथवा सम्प्रदाय–निरपेक्षता की बात राजनीतिक स्तर पर होती है किन्तु वस्तुतः सम्प्रदाय–निरपेक्षता का एक गहरा तात्विक आधार है जिसे उपासना का रहस्य समझकर ही समझा जा सकता है। वस्तुतः उपास्य तो एक ही परम तत्त्व है।

सभी इस विषय में एकमत हैं कि वह परम तत्त्व निराकार भी है और निर्गुण भी। कठिनाई यह है कि निराकार–निर्गुण को हमारी बुद्धि पकड़ नहीं पाती। निराकार–निर्गुण का साक्षात्कार तो उस निर्विकल्प समाधि में ही सम्भव है जहाँ चित्तवृत्ति का भी निरोध हो जाता है। वह परम तत्त्व बुद्धि से परे है – **यो बुद्धेः परतस्तु सः**। हमारी बुद्धि जैसे ही उस परम तत्त्व के बारे में सोचना चाहती है, वह परम तत्व कोई न कोई आकार धारण कर लेता है क्योंकि चिन्तन का विषय साकार–सगुण ही हो सकता है। अतः यदि परम तत्त्व की उपासना करनी है तो हम निर्विकल्प समाधि में जाएँ– यह कहना तो सरल है किन्तु करना अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी कोई निर्विकल्पता में जा सके तो वह अभिनन्दनीय ही नहीं, पूज्य भी है।

उपासना उनके लिए है जो निर्विकल्प समाधि में नहीं जा सक रहे हैं किन्तु फिर भी परम तत्त्व की उपासना करना चाहते हैं। वे उस परम तत्त्व का कोई सगुण–साकार माध्यम बना लेते हैं। यह माध्यम कुछ भी हो सकता है क्योंकि माध्यम केवल माध्यम मात्र है, वह वास्तविक उपास्य नहीं है; वास्तविक उपास्य तो निराकार–निर्गुण ही है, जिसे गीता के विचाराधीन श्लोक में 'माम्' शब्द से कह दिया गया है। 'माम्' यहाँ व्यक्तिवाचक न होकर अव्यय–पुरुष का वाचक है। हम कह चुके हैं कि गीता में कृष्ण ने जहाँ भी अपने लिए उत्तम पुरुष – अहम्, माम्, मम – का प्रयोग किया है वहाँ इन शब्दों को अव्यय पुरुष अर्थात् परम तत्त्व का ही सूचक समझना चाहिए। अब प्रश्न रहता है कि उस शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चैतन्य रूप, निराकार, निर्गुण, निर्विकार परम तत्त्व की उपासना का माध्यम किसे बनाया जाए। उत्तर यह है कि माध्यम बनाने के चार उपाय हैं – प्रतीक, प्रतिरूप, भाव और निदान। ये चारों उपाय जानने पर ही उपासना का रहस्य अवगत हो सकता है। इनमें अभी हम केवल प्रतीकोपासना की चर्चा करेंगे।

प्रतीकोपासना

प्रतीक शब्द आम भाषा में भी प्रचलित है किन्तु यहाँ हम इस शब्द का प्रयोग शास्त्रीय अर्थ में कर रहे हैं। संक्षेप में प्रतीक का अर्थ है – एक अवयव। हम अवयव और अवयवी में अभेद कर लेते हैं। मैं गाय के एक भाग – पीठ को छूकर कहता हूँ कि मैं गाय को छू रहा हूँ। गाय तो सींग से लेकर पूँछ पर्यन्त पूरे पिण्ड का नाम है फिर भला पीठ के एक भाग को ही छूकर मैं कैसे कह सकता हूँ कि मैं गाय को छू रहा हूँ। यहाँ हम अवयव को ही अवयवी मान लेते हैं क्योंकि अवयवी सम्पूर्ण अवयवों में रहता है। गोत्व गाय की पीठ में भी है अतः उसकी पीठ को छू कर ही हम मान लेते हैं कि मैंने गाय को छू लिया। यहाँ गाय की पीठ गाय का प्रतीक हो गई।

अब परम तत्त्व की उपासना करने का उपाय सोचें तो पता चलेगा कि परम तत्त्व तो सर्वव्यापक है। जिस प्रकार गोत्व गौ के प्रत्येक अवयव में रहता है उसी प्रकार परम तत्व निखिल चराचरात्मक ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। हम ब्रह्माण्ड के किसी भी पदार्थ की उपासना करें, अवयव द्वारा अवयवी की उपासना के सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हम ब्रह्म की ही उपासना कर रहे हैं – शर्त केवल यह है कि हमारी दृष्टि अवयवी पर होनी चाहिए न कि केवल अवयव पर ।

एक कल्पना करें कि किसी बच्चे ने कंगारू कभी नहीं देखा। हम उसे चिड़ियाघर में कंगारू दिखाने ले गए। कंगारू किसी ऐसे भवन के अन्दर घुसा हुआ खड़ा था कि उसके शरीर का केवल पिछला भाग दिखाई दे रहा था, अगला भाग भवन के अन्दर ही छिपा था। बच्चे ने कंगारू का पिछला भाग देख लिया। अब क्या हम यह कह सकते हैं कि बच्चे ने कंगारू को देख लिया? यहाँ अवयव से अवयवी का ग्रहण नहीं हो पाएगा। क्योंकि दृष्टि अवयवी पर नहीं जा सकी। अवयव से अवयवी का ग्रहण तब ही हो पाएगा जबकि दृष्टि अवयवी पर जा सके। प्रसिद्ध है कि गायत्री मंत्र में सविता की उपासना है, यदि परम तत्त्व सर्वव्यापक है तो सविता में भी वह है

ही। अतः सविता की उपासना द्वारा हम परम तत्त्व की उपासना कर सकते हैं। किन्तु किसी व्यक्ति की दृष्टि में परम तत्त्व अर्थात् अवयवी तो आए नहीं और उसकी दृष्टि केवल सविता पर ही अटकी रह जाए तो वह सविता अर्थात् माध्यम को ही उपास्य मान बैठेगा और जिस परम तत्त्व का वह माध्यम है उस परम तत्त्व की उपासना से वञ्चित रह जाएगा। यह प्रतीकोपासना नहीं होगी। ऋषियों को यह आभास था कि ऐसी दुर्घटना घटित हो सकती है। अतः यद्यपि गायत्री मन्त्र तो 'तत्सवितुर्वरेण्यं' से ही प्रारम्भ होता था किन्तु ऋषियों ने उसके पूर्व 'भूर्भुवः स्वः' की महाव्याहृति जोड़ कर हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट कर दिया कि यहाँ सविता एक अवयव है और हम उसके ध्यान को माध्यम बना कर सम्पूर्ण त्रिलोकी का – अवयवी का – ध्यान कर रहे हैं। सम्पूर्ण त्रिलोकी में जो व्याप्त है, वही तो परम तत्त्व है। अतः परम तत्त्व के वाचक प्रणव–ओंकार–को भी महाव्याहृति से पूर्व रख दिया। इतना ही नहीं मनु ने विधान कर दिया कि वेद के स्वाध्याय के प्रारम्भ में तथा अन्त में प्रणव का उच्चारण अवश्य करना चाहिए अन्यथा स्वाध्याय निष्फल चला जाता है। सोचना चाहिए कि वेद–मंत्रों में इन्द्र, मित्र आदि देवों की स्तुति है फिर उस स्तुति के पहले तथा बाद में यदि प्रणव का उच्चारण न करें तो भला क्या हानि हो सकती है? हानि स्पष्ट है; इन्द्र, मित्र आदि अवंयव हैं, अवयवी तो वही परम तत्त्व है। यदि अवयव अवयवी का स्मरण न करा सके तो फिर यह प्रतीकोपासना न होकर जड की उपासना हो जाएगी। अतः ओंकार का उच्चारण आवश्यक है।

इन्द्र मित्र आदि एक ही परम सत्ता के प्रतीक हैं, यह बात स्वयं वेद भगवान् ने घोषित कर दी है –

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

यहाँ कुछ वैदिक देवताओं को उस 'एक सत्' का प्रतीक बता दिया। यजुर्वेद ने कुछ और भी प्रतीक गिनवा दिए –

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः।।

यह परम्परा निरन्तर चलती रही । बुद्ध और अर्हत् को भी इसी परम्परा ने प्रतीक रूप में स्वीकार किया –

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सो वोऽयं विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

इसी परम्परा में अल्लोपनिषद् भी बन गया। कहा जाता है कि यह उपनिषद् परवर्ती है। निश्चय ही यह उपनिषद् परवर्ती है किन्तु इसका अभिप्राय परवर्ती नहीं है; अभिप्राय यह है कि परम तत्त्व का प्रतीक यदि कुछ भी हो सकता तो अल्ला भी परम तत्त्व का प्रतीक बन ही सकता है। गांधी जी ने स्पष्ट कर ही दिया – ईश्वर अल्ला तेरे नाम। उनसे पहले कबीर जैसे सन्त राम–रहीम की एकार्थता का गान कर चुके थे।

राम की ही पूजा क्यों

कोई कह सकता है कि ऐसी स्थिति में हम राम की ही पूजा क्यों करें, रावण की पूजा क्यों न करें। प्रथम तो यह सूचना देना आवश्यक है कि दशहरे का नियमतः रावण का पुतला जलाने से पहले ब्राह्मण के द्वारा पूजा जाता है। किन्तु फिर भी सामान्यतः तो राम ही पूज्य हैं, रावण नहीं। प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों? उत्तर भगवान् वेद व्यास ने दिया है। उन्होंने कहा कि ब्रह्म का प्रतीक बनाना हो तो उत्कृष्ट पदार्थ को बनाना चाहिए, निकृष्ट पदार्थ को नहीं – ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। अब यदि यह उत्कर्ष किसी को राम में प्रतीत होता है, किसी को कृष्ण में, किसी को ईसा मसीह में और किसी को मोहम्मद साहब में, तो इसमें झगड़ने की कौन सी-बात है? हाँ, दृष्टि

तो ब्रह्म पर रहनी चाहिए, प्रतीक पर ही अटक नहीं जानी चाहिए। ये सब ब्रह्म के प्रतीक हैं – इस बात को कोई अवतार शब्द से कह देता है, कोई ईश्वर–पुत्र शब्द से और कोई पैगम्बर शब्द से। यह शब्दों का विवाद है – **संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः**। इस शाब्दिक विवाद में विद्वान् पड़ें तो पड़ें, उपासक की दृष्टि तो सर्वग्राही ही होनी चाहिए –

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

इतना स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक कट्टरता की समस्या का एक–मात्र समाधान गीता में वर्णित उपर्युक्त दृष्टि में ही निहित है। आशा की जा सकती है कि विज्ञान के विकास के साथ तर्क–बुद्धि का भी विकास होगा और तब यह बात अच्छी तरह समझ में आने लगेगी कि एक ही उपास्य की उपासना के माध्यम अनेक हो सकते हैं और उपासना की इस अनेकता में भी उपास्य की एकता अन्तर्निहित रहती है।



खण्ड छह

गीता के अनुसार सत् का स्वरूप

श्री शङ्कराचार्य का कथन है कि सत् केवल ब्रह्म है क्योंकि वह अपरिवर्तनीय है। जगत् निरन्तर परिवर्तित होता रहता है अतः उसे सत् कैसे कहा जा सकता है? दूसरे शब्दों में, सत्, चित्, आनन्द तो नित्य है अतः सत् है और नाम तथा रूप बदलते रहते हैं अतः वे सत् नहीं हैं, अपितु मिथ्या हैं। यदि हम सत् चित् आनन्द रूप नित्य पक्ष को तथा नाम रूपात्मक अनित्य पक्ष को एक ही पदार्थ में सत्य मानेंगे तो यह मानना पड़ेगा कि नित्यता और अनित्यता एक ही पदार्थ में एक साथ रहती है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरोधी धर्म है, उनका एक साथ एक ही पदार्थ में रहना तर्क–विरुद्ध है। तर्क का तकाजा है कि परस्पर विरोधी धर्मों का सहावस्थान अर्थात् एक साथ रहना स्वीकार न किया जाए। ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि नाम–रूप हमारी दृष्टि का भ्रम है, मिथ्या है, माया है और सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म ही सत्य है। आधुनिक दर्शन की भाषा में नाम रूप को सत्य न मानकर दृष्टि का भ्रम मानना प्रत्ययवाद (आइडिलज्म) कहलाता है। इसके विपरीत नाम रूप को अर्थात् जगत् के पदार्थों को सत्य मानना वस्तुवाद (रिअलिज्म) कहलाता है। प्रत्ययवादियों का मुख्य तर्क यह है कि परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते। अतः यदि हमें कहीं परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ दृष्टिगोचर हों तो उनमें से एक धर्म को अवास्तविक मान कर उसे दृष्टि का भ्रम स्वीकार करना चाहिए ताकि विरोध का परिहार हो सके। पदार्थ में नित्यता और अनित्यता एक साथ दृष्टिगोचर होती है। मैं आज ७२ वर्ष का हूँ। जन्म से लेकर आज तक मुझमें निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। १० वर्ष की अवस्था में मैं बालक कहलाता था, ३० वर्ष की अवस्था में मैं ही युवा कहलाया। आज मैं वृद्ध कहलाता हूँ। यह परिवर्तन का प्रमाण है। किन्तु इन तीनों ही अवस्थाओं में मैं दयानन्द भार्गव ही रहा। यह निरन्तरता अथवा अपरिवर्तनीयता का प्रमाण है। तीनों अवस्थाओं में मैं अपने को अभिन्न मानकर ऐसा प्रयोग करता हूँ कि 'जब मैं बालक था', 'जब मैं युवा था' आदि-आदि। परिवर्तन होते रहने पर भी मेरा 'मैं' पना निरन्तर बना है। स्पष्ट है कि परिवर्तन और निरन्तरता अथवा स्थायित्व दोनों मुझमें दिखाई दे रहे हैं।

परिवर्तन तथा स्थायित्व – ऐसी स्थिति में प्रत्ययवादी कहते हैं कि परिवर्तन तथा स्थायित्व दोनों परस्पर विरोधी हैं अतः इनमें से किसी एक को दृष्टि का भ्रम अथवा मिथ्या होना चाहिए। श्री शङ्कराचार्य कहते हैं कि परिवर्तन भ्रम है, स्थायित्व ही सत्य है। इसके विपरीत बौद्ध कहते हैं कि स्थायित्व काल्पनिक है, केवल परिवर्तन ही सत्य है। इस तरह यद्यपि श्री शङ्कराचार्य तथा बौद्ध परस्पर विरोधी हैं तथापि हैं दोनों प्रत्ययवादी; दोनों ही सत्य को वैसा स्वीकार नहीं करते जैसा कि पदार्थ हमें दिखता है।

वेद की दृष्टि को लें तो पता चलेगा कि श्रुति की स्पष्ट घोषणा है कि मृत्यु के अन्दर अमृत है और अमृत मृत्यु पर रखा हुआ है। दूसरे शब्दों में अमृत और मृत्यु एक दूसरे में ओत–प्रोत हैं। अमृत स्थायित्व का नाम है, मृत्यु परिवर्तनशीलता का नाम है। अमृत और मृत्यु के अर्थ के सम्बन्ध में यद्यपि कोई सन्देह का अवकाश नहीं है तथापि यजुर्वेद और भी स्पष्ट शब्दों में स्थायित्व और परिवर्तन को एक साथ रहने वाला बताता है और कहता है कि वह तत्त्व चलता भी है और नहीं भी चलता है – तदेजति तन्नैजति। यहाँ तत् शब्द ब्रह्म को ही बता रहा है। जब परम सत्य ब्रह्म में चलायमानता और निश्चलता दोनों धर्म हैं, तो ब्रह्म से उद्भूत जगत् में परिवर्तनशीलता तथा स्थायित्व दोनों दृष्टिगोचर हो रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहा जा सकता है कि परिवर्तनशीलता और स्थायित्व दोनों दृष्टिगोचर तो होते हैं, किन्तु दोनों को सत्य मानने का क्या प्रमाण है?

प्रमाण यह है कि श्रुति के अनुसार प्रजापति का आधा भाग मर्त्य है और आधा भाग अमृत – **अर्द्ध वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्।** जब मर्त्य अर्थात् परिवर्तनशीलता और अमृत अर्थात् स्थायित्व दोनों ही प्रजापति के आधे–आधे भाग हैं तो इन दोनों में एक को मिथ्या और एक को सत्य कैसे कहा जा सकता है? मर्त्य भाग मिथ्या है – यह सिद्ध करने के लिए तो श्री शङ्कराचार्य को श्रुति प्रमाण देना चाहिए। जबकि इसके विपरीत वृहदारण्यकोपनिषद् का यह प्रमाण है कि नाम और रूप जो कि बदलते रहते हैं वे भी सत्य हैं – **नामरूपे सत्यम्।**

रहा प्रश्न इस तर्क का कि विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते, इस तर्क को आस्तिक वर्ग ने कभी प्रमाण स्वीकार किया नहीं – **तर्कोऽप्रतिष्ठानात्।** यदि श्रुति 'स्थायित्व और परिवर्तनशीलता का सहावस्थान स्वीकार करती है तो श्रुति के अनुसार तर्क हमें ढूंढना होगा क्योंकि स्वयं श्री शङ्कराचार्यजी का ही आदेश है – **श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।** सबसे बलवान् प्रमाण तो प्रत्यक्ष ही है। घटपटादि पदार्थों की सत्ता आबाल–वृद्ध सबकी प्रतीति में आ रही है, उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है – **प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्।**

एक बार यह मान ही लें कि जगत् स्वप्न है तो अनेकानेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। यह स्वप्न देखने वाला ब्रह्म है कि कोई अन्य। यदि कोई अन्य यह स्वप्न देख रहा है तो ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की भी सत्ता माननी होगी और द्वैतवाद आ जाएगा। यदि ब्रह्म ही यह स्वप्न देख रहा है तो ब्रह्म में भी अज्ञान मानना होगा। रज्जु में सर्प का भ्रम हमें होता है, रज्जु को भी अपने में सर्प का भ्रम कभी नहीं होता। जब ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है तो ब्रह्म में जगत् का भ्रम किसको हो रहा है? ब्रह्म में स्वयं ब्रह्म को ही तो जगत् का भ्रम हो नहीं सकता? इत्यादि अनेक जटिल प्रश्न उपस्थित हो जाएँगे। ये सब प्रश्न वस्तुवादी नैयायिक तथा पूर्व मीमांसक आदि सैकड़ों वर्षों से उठाते रहें हैं।

श्रुति प्रमाण सभी पक्षों को स्वीकार्य – उचिंत यह होगा कि हम तर्कज्ञान में न फँसकर श्रुति प्रमाण से ही चलें क्योंकि श्रुति का प्रमाण सभी पक्षों को स्वीकार्य है। सभी श्रुति प्रमाणों को एक साथ रख कर देखे तो कुछ इस प्रकार का चित्र हमारे सम्मुख आता है –

१. तप से सत्य उत्पन्न हुआ।
२. ब्रह्म रूप तथा नाम बन कर त्रिलोकी में प्रविष्ट हुआ।
३. रूप प्रजापति है तथा नाम भी प्रजापति है।
४. नाम रूप सत्य है।
५. मृत्यु में अमृत है तथा अमृत मृत्यु पर स्थित है।
६. प्रजापति का आधा भाग मर्त्य है, आधा अमृत।
७. वह (परम तत्त्व) स्थिर भी है तथा चलायमान भी।

इतने स्पष्ट श्रुति–प्रमाणों के रहते परिवर्तनशीलता अथवा जगत् को नकारना कैसे सम्भव है – यह सभी आस्तिकों को सोचना होगा। दार्शनिकों में मीमांसक वेदों का परम भक्त है – यह सर्वविदित है। मीमांसक कहते हैं कि यदि कनक को गला कर कुण्डल बना लिया जाए तो कनक कुण्डल में परिवर्तित भी हो जाता है और स्वर्ण स्थाई भी बना रहता है। अतः परिवर्तन और स्थायित्व दोनों साथ–साथ रहते हैं।

जीवन से सम्बन्ध – विषय जटिल है और दार्शनिक महत्त्व का है। प्रश्न होता है कि इस चर्चा का जीवन से क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का उत्तर हमें गीता में प्राप्त होता है। यदि परिवर्तन भ्रम ही है तो सारा कर्म निरर्थक है क्योंकि कर्म अभीष्ट परिवर्तन लाने के लिए ही किया जाता है। यदि स्थायित्व नहीं है तो अमृतत्व की इच्छा करना आकाश-कुसम की इच्छा करने जैसा है क्योंकि अमृतत्व का अस्तित्व ही कहीं नहीं है। जीवन में

अभ्युदय के लिए कर्म भी आवश्यक है तथा निःश्रेयस की प्राप्ति अथवा अमृतत्व की प्राप्ति हेतु मोक्ष–पुरुषार्थ भी अभीष्ट है। अभ्युदय की सम्भावना तब ही है जब परिवर्तन का अस्तित्व स्वीकार किया जाए और अमृतत्व की प्राप्ति तब ही हो सकती है जब स्थायित्व को भी न नकारा जाए। इतिहास से हमारी बात प्रमाणित भी होती है। केवल परिवर्तनवादी कार्ल मार्क्स अमृतत्व अथवा मोक्ष की सत्ता स्वीकार ही नहीं करता और केवल स्थायित्व को सत्य मानकर परिवर्तन को नकारने वाला शाङ्कर मतानुयायी अभ्युदय की चर्चा ही नहीं करता। ये दोनों एकाङ्गी दृष्टिकोण बनकर रह जाते हैं। कार्ल मार्क्स का कहना है कि आत्म परमात्मा की चर्चा में उलझे रहना सांसारिक अभ्युदय में बाधक है; आत्मा–परमात्मा कुछ है ही नहीं। शाङ्करमत का कहना है कि कर्म मात्र बन्धन का कारण है, मोक्ष तो केवल ज्ञान से होता है। दोनों ही मत अपनी–अपनी ज़गह मजबूत हैं लेकिन गीता के सामने ये दोनों ही मत फीके पड़ जाते हैं। गीता कहती है कि जो कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है वही बुद्धिमान् है, वही योगी है, वही जीवन को सम्पूर्णता से जी सकता है क्योंकि वह पूरे कर्म करता है, अधूरे नहीं –

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म यः
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्

कर्म कहें या जगत् या नामरूप या परिवर्तन – एक ही बात है। अकर्म कहें या सच्चिदानन्द या ब्रह्म या कूटस्थ एक ही बात है। ये मृत्यु और अमृत कर्म और ज्ञान एक–दूसरे में ओतप्रोत हैं – यही गीता का अभिप्राय है और यही श्रुतियाँ बारम्बार कह रही हैं।

गीता ने स्पष्ट कह दिया कि जगत् को असत्य मानने वाले असुर न प्रवृत्ति अर्थात् कर्म को समझ पाते हैं और न निवृत्ति अर्थात् ज्ञान का रहस्य जान पाते हैं। गीता की यह उक्ति कहीं जगत् को मिथ्या घोषित करने वाले हम भारतीयों पर ही तो लागू नहीं की गई – यह अपने दिल पर हाथ रखकर गम्भीरता से सोचने की बात है, केवल बहस से कुछ प्राप्त नहीं होगा – **नैषा मतिस्तर्केणापनेया।**

गीता का मर्म यह है कि साधक आत्मनिष्ठ होकर कर्मठता का जीवन जिए। आत्मनिष्ठता ही स्थितप्रज्ञता है और कर्मठता ही कर्मयोग है। दोनों का समन्वय ही बुद्धियोग है। यह बुद्धियोग ही गीता की अपनी विशेषता है।

सृष्टि का मूल ब्रह्म : गीता के आलोक में

वेदों के अनुसार सृष्टि–विद्या पर विचार करते समय एक बात स्पष्टतः सामने आती है कि ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है। आधुनिक विज्ञान भी सृष्टि के उद्भव पर विचार करता है। आईन्स्टीन से पहले वैज्ञानिक परमाणुओं को सृष्टि का घटक अथवा उपादान कारण मान रहे थे। न्यूटन के समय तक वैज्ञानिक परमाणुवाद का समर्थन कर रहे थे। यह परमाणुवाद भारतीय दर्शनों में न्याय–वैशेषिक दर्शन को मान्य है। न्याय–वैशेषिक दर्शन क्षर पुरुष पर विचार करता है। गीता में क्षर पुरुष को भूत अथवा मैटर कहा गया है – **क्षरः सर्वाणि भूतानि।** भूत अथवा मैटर की दृष्टि से विचार करें तो मैटर का अन्तिम घटक परमाणु ही है।

क्षर पुरुष अक्षर पुरुष से उद्भूत – किन्तु स्थूलभूत सृष्टि का मूल कारण नहीं है। यह स्थूलभूत अथवा क्षर पुरुष तो अपरा प्रकृति है। इस स्थूलभूत अथवा क्षर पुरुष अथवा अपरा प्रकृति का कारण अक्षरपुरुष अथवा परा प्रकृति है। गीता में क्षर पुरुष को अक्षर पुरुष से उद्भूत माना गया है– **ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।** यह अक्षर पुरुष ही वर्तमान विज्ञान के क्वाण्टम् के समकक्ष है। क्वाण्टम् का अर्थ है – ऊर्जा समूह। अक्षर पुरुष का अर्थ है – प्राण शक्ति। भूत अथवा वाक् का निर्माण प्राणों से होता है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में मैटर क्वाण्टम् से बना है। क्वाण्टम् मैटर में तथा मैटर क्वाण्टम् में परिवर्तित हो सकता है। इसी का सूत्र ई=एमसी² ($E=MC^2$) है। यह

सूत्र देकर आईन्स्टीन इस बीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े वैज्ञानिक बन गए। यदि क्षरपुरुष का वर्णन वैशेषिक दर्शन करता है तो अक्षर पुरुष का वर्णन सांख्य दर्शन करता है। इसीलिए सांख्य दर्शन में परमाणुवाद को कोई स्थान नहीं है। वहाँ सृष्टि का कारण मूल प्रकृति को माना है जो कि सत्त्व-रजस्–तमस् रूप से त्रिगुणात्मक है। ये त्रिगुण परमाणु रूप नहीं हैं, अपितु सूक्ष्म रूप हैं। प्राणों को वेद में देवता शब्द से कहा गया है। किसी भी स्थूलभूत का एक अधिष्ठाता देवता अवश्य है। वैदिक परम्परा में जब किसी सूर्य, चन्द्र, पीपल, तुलसी अथवा मूर्ति जैसे स्थूल पदार्थ की पूजा–स्तुति की जाती है तो वस्तुतः हम उस पदार्थ के अधिष्ठाता सूक्ष्मप्राण रूप देव की स्तुति करते हैं, स्थूल भौतिक रूप की नहीं। किसी भी मूर्त्ति की पूजा तब ही होती है जब उसमें प्राण–प्रतिष्ठा कर दी जाए; प्राण–प्रतिष्ठा के पूर्व वह मूर्त्ति एक पाषाण का खण्ड ही माना जाता है। इस तत्त्व को न समझकर हिन्दुओं को मूर्त्तिपूजक के रूप में खूब बदनाम किया गया है। प्रत्यक्ष में देखें तो हम किसी शरीर को तब तक ही उपादेय मानते हैं जब तक उसमें प्राण है, निष्प्राण को शव मानकर तत्काल विसर्जित कर देते हैं। यह प्राणतत्व की ही महिमा है। यह प्राण भौतिक पदार्थ नहीं है किन्तु सभी भौतिक पदार्थों में ओतप्रोत है। तब क्या हम यह मान लें कि सृष्टि प्राणों से बनी है? क्वाण्टम् सिद्धान्त अथवा सांख्य दर्शन की मान्यता इससे मिलती-जुलती है।

किन्तु अक्षर पुरुष अथवा प्राण तत्व भी अन्तिम सत्य नहीं है। अक्षर पुरुष से भी सूक्ष्म अव्यय पुरुष है; प्राण से भी सूक्ष्म मन है। सामान्य भाषा में कहें तो भूत से सूक्ष्म शक्ति है और शक्ति से सूक्ष्म चेतना है। वैदिक भाषा में वाक् से सूक्ष्म प्राण है, प्राण से सूक्ष्म मन है। गीता की भाषा में क्षर से परे अक्षर है तथा अक्षर से परे अव्यय है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में मैटर से सूक्ष्म एनर्जी है और एनर्जी से सूक्ष्म कान्शसनैस है। चेतना से परे कुछ नहीं है – **सा काष्ठा सा परा गतिः**। यह अव्यय पुरुष ही वेदान्त दर्शन का विषय है। गीता क्योंकि वेदान्त का ग्रन्थ है, अतः गीता का मुख्य प्रतिपाद्य अव्यय पुरुष ही है। अव्यय पुरुष कहें अथवा ब्रह्म कहें एक ही बात है। इस ब्रह्म से ही सृष्टि का उद्भव होता है। अक्षर पुरुष तथा क्षर पुरुष का भी सृष्टि प्रक्रिया में अपना योगदान है अतः वे दोनों भी ब्रह्म शब्द से ही अभिहित किए जाते हैं। संक्षेप में अव्यय पुरुष आलम्बन है, अक्षर पुरुष निमित्त कारण है और क्षर पुरुष उपादान कारण है। इन तीनों के सहयोग से सृष्टि बनती है। आधुनिक विज्ञान क्षर पुरुष अथवा परमाणुवाद से चल कर अक्षर पुरुष अथवा क्वाण्टम तक पहुँच गया है, किन्तु दोनों के आलम्बनभूत अव्ययपुरुष अथवा चेतना तक विज्ञान अभी नहीं पहुँच पाया है, यद्यपि कुछ वैज्ञानिक अब चेतना की भी चर्चा करने लगे हैं।

शुद्ध चेतना अथवा रस कैसे क्रिया अथवा प्राण में बदलते हुए भूत अथवा मैटर में बदल जाती है – इसकी एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का आधार है – बलों का चयन। जब अव्यय पुरुष की सिसृक्षा रूप कामना बलों को जागृत कर देती है तो बलों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होने लगता है। इसे ही ग्रन्थिबन्धन कहा जाता है। शुद्ध चेतना इन ग्रन्थिबन्धन के कारण प्रथम क्रिया में और तदनन्तर भूत में बदलती है। यदि हम भूतों में सबसे स्थूल पृथ्वी के ग्रन्थिबन्धन को खोल दें तो हमें जल प्राप्त हो जाएगा। जल के ग्रन्थिबन्धन खोलने पर हमें अग्नि प्राप्त होगी। इसी प्रकार अग्नि से वायु प्राप्त होगी और वायु से आकाश प्राप्त होगा। आकाश अभाव रूप नहीं है, अपितु शब्द गुणात्मक एक भूत है। आकाश पर्यन्त भूतसृष्टि है। आकाश के भी ग्रन्थिबन्ध को खोल दें तो हमें चेतना अथवा आत्मा प्राप्त हो जाएगी। तब हम जानेंगे कि चेतना और मैटर दो अलग–अलग चीजें नहीं हैं – चेतना ही मैटर में परिणत हो गयी है। तब डेकार्टे के द्वारा स्थापित शरीर और मन का द्वैत वेदान्त के अद्वैत में बदल जाएगा।

ऊपर हमने प्रतिसञ्चर की प्रक्रिया बताई अर्थात् कार्य से कारण अथवा सृष्टि से प्रलय की अवस्था तक पहुंचने की प्रक्रिया बतायी। श्रुति में सञ्चर अथवा कारण से कार्य तक अथवा प्रलय से सृष्टि तक पहुँचने की प्रक्रिया

भी बताई गई है। स्वाभाविक है कि यह प्रक्रिया उपर्युक्त प्रक्रिया से विपरीत है। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी – **आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथ्वी।** ज्यों–ज्यों सीमा संकुचित होती गई त्यों–त्यों पदार्थ में सघनता आती गई। सीमा बनाने वाली शक्ति तो माया ही है। इस माया से आवृत्त होने के कारण मूल कारण हमें दृष्टिगोचर नहीं होता – **'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायामुपाश्रितः'**।

आत्मा की दो स्थितियाँ – आत्मा से जब सृष्टि होती है तो आत्मा की दो स्थितियाँ रहती हैं। आत्मा पदार्थ का निर्माण भी करती है और स्वयं पदार्थ में प्रविष्ट होकर उसमें बैठ भी जाती है। पदार्थ सृष्टब्रह्म कहलाता है और उसमें प्रविष्ट आत्मा प्रविष्टब्रह्म कहलाती है। सृष्टब्रह्म को हम शरीर तथा प्रविष्टब्रह्म को जीवात्मा कहते हैं। श्रुति प्रमाण है – **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।** इस प्रकार शरीर और जीवात्मा दोनों ब्रह्म के ही रूप हैं। यदि इन दोनों को पृथक् मानेंगे तो द्वैतवाद उपस्थित हो जाएगा। प्रश्न होता है कि क्या सम्पूर्ण आत्मा सृष्टब्रह्म तथा प्रविष्टब्रह्म में बदल गया? उत्तर यह है कि आत्मा तो अनन्त है जबकि पदार्थों का समूहभूत विश्व सान्त है। अतः आत्मा का एक भाग ही विश्व बनता है, अनन्त भाग फिर भी शेष रह जाता है। यह शेष भाग ही प्रविविक्तब्रह्म कहलाता है – **त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।**

जीवात्मा और शरीर का अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवात्मा के बिना शरीर शव है और शरीर के बिना जीवात्मा ब्रह्म है। शरीर त्रिविध है – स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। स्थूल शरीर छूटने पर भी सूक्ष्म तथा कारण शरीर बने रहते हैं। अतः जीवात्मा दूसरा शरीर धारण कर लेता है। जिस समय कारण शरीर भी छूट जाता है, उस समय जीवात्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, वह परब्रह्म में लीन हो जाता है।

यदि शरीर में प्रविष्ट आत्मा जीवात्मा है तो विश्व में प्रविष्ट आत्मा ईश्वर है। विश्व का अर्थ ही है कि जिसमें आत्मा ने प्रवेश किया हुआ है। जैसे हमारा हाथ-पैर युक्त शरीर है वैसे पर्वत, नदी आदि युक्त यह विश्व ईश्वर का शरीर है। जीवात्मा व्यष्टि है, ईश्वर समष्टि है।

प्रसिद्ध है कि ईश्वर सच्चिदानन्द रूप है। सच्चिदानन्द को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में भी कह सकते हैं। ज्ञाता आनन्द रूप है, चित् ज्ञान रूप है तथा ज्ञेय सत् रूप है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और ये तीनों ब्रह्म हैं अतः यह कह दिया जाता है कि यह सब कुछ ब्रह्म है – **ब्रह्मैवेदं सर्वम्।**

विश्व चिद्रूप ब्रह्म का विवर्त – इस सारे विस्तार का अभिप्राय यह है कि यह विश्व न तो दृश्यमान भौतिक पदार्थों से बना है जैसा कि परमाणुवादी मानता है, न सूक्ष्म मूल प्रकृति से ही बना है जैसा कि सांख्य दर्शन मानता है, अपितु चिद्रूप ब्रह्म का विवर्त है। चिद्रूप ब्रह्म ज्ञान का विषय है, प्रकृति कर्म का विषय है। जो केवल प्रकृति में आसक्त रह कर कर्म में रत हैं वे कर्म के आधारभूत ब्रह्म को नहीं जानते। उनके कर्म उन्हें भौतिक सम्पदा प्रदान करके जीवनयापन के साधन तो उपलब्ध करवा देते हैं; किन्तु कर्म तो अस्थायी हैं अतः उनका फल भी अस्थायी ही है। नित्यता अथवा अमृतत्व तो ज्ञान में ही है। इस धारणा से एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि ज्ञान तो उपादेय है, कर्म हेय है।

यह विचार भ्रान्त इसलिए है कि हम कर्म और ज्ञान अथवा मृत्यु और अमृत को यहाँ पृथक् मान बैठे हैं। वस्तुतः ये एक ही पदार्थ के दो पक्ष हैं। जो कर्म और ज्ञान में विरोध मानकर इन्हें परस्पर भिन्न मानते हैं उन्हें कर्म की आधारभूत माया तथा ज्ञान के आधारभूत ब्रह्म को भी भिन्न मानना होगा और इस प्रकार द्वैतवाद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। यह द्वैतवाद शरीर और आत्मा, जड और चेतन आदि आदि अनेक द्वन्द्वों का जनक है।

कर्म और ज्ञान विरोधी हैं – इसका यह अर्थ नहीं है कि ये दोनों साथ–साथ नहीं रह सकते। परस्पर विरोधी धर्म एक दूसरे के पूरक बन कर सहयोगी बनते हैं न कि एक दूसरे के बाधक। परस्पर विरोधी मान कर जहाँ-जहाँ

हमने द्वैत खड़ा किया वहाँ-वहाँ समस्याएँ उत्पन्न हो गईं।

हमने पर्यावरण को जड मान कर चेतन से भिन्न मान लिया। फलतः हमने प्रकृति का अविवेकपूर्वक दोहन चालू किया तो प्रकृति में असंतुलन की समस्या पैदा हो गई। व्यक्ति और समष्टि के बीच द्वैत खड़ा करने से पूंजीवाद और समाजवाद की समस्या पैदा हो गई – पूँजीवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वच्छन्दता तक पहुँच गई और समाजवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता का सर्वथा हनन ही हो गया। शरीर और मन के द्वैत के आधार पर विकसित चिकित्सा प्रणाली चिकित्सक को फिजीशियन अर्थात् शरीर चिकित्सक मानकर चली और रोगी के मन में रहने वाले कारणों की उपेक्षा हो गई। परिवार अर्द्धनारीश्वर के रूप को भूलकर स्त्री–पुरुष के बीच संघर्ष का क्षेत्र बन गया। शास्त्रों की घोषणा है कि जहाँ द्वैत वहाँ भय है – **द्वितीयाद्वै भयं भवति**। संसार में द्वैत है। दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ ही द्विनियति हैं, द्विनियति ही दुनिया है। किन्तु उस द्वैत के पीछे अन्तर्निहित अद्वैत को देखने पर यह पता चलेगा कि विरोधी तत्व एक दूसरे के पूरक बन कर अखण्ड अद्वैत में साधक हैं; बाधक नहीं।

तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में आभु अर्थात् 'बीइंग' और अभ्व अर्थात् 'बिकमिंग' का द्वैत है, ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत है, आचार मीमांसा के क्षेत्र में कर्म और ज्ञान का द्वैत है। इन सब द्वैतों के पीछे छिपे अद्वैत को पहचानने में ही जीवन की सार्थकता है। यही ब्रह्मज्ञान है।

गीता के अनुसार जगत् का स्वरूप

सामान्य लोगों में एक बात प्रसिद्ध है कि यह जगत् मिथ्या है। यद्यपि जगत् प्रत्यक्ष गोचर है तथापि कुछ विचारकों ने यह सिद्धान्त प्रचारित कर दिया कि यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः है ही नहीं। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध वैराग्य से जुड़ गया। जब यह जगत् है ही नहीं तो फिर किसी वस्तु से राग या द्वेष करना निरर्थक है। पिछले कई सौ वर्षों में यह बात इतनी बार दोहराई गई कि आम आदमी इसे सच मानने लगा है। वह यह समझता है कि शास्त्रों में ही जगत् को मिथ्या बता रखा है।

सच बात यह है कि वैदिक परम्परा में प्रमाण माने जाने वाले किसी भी ग्रन्थ में जगत् को मिथ्या नहीं माना गया। वैदिक परम्परा श्रुति को परम प्रमाण मानती है। श्रुति के अन्तर्गत मन्त्र–ब्राह्मण आते हैं। चारों वेदों तथा उनसे जुड़े ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं भी जगत् को मिथ्या नहीं बताया गया। वेदान्त में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता को प्रमाण माना जाता है। ये तीनों प्रस्थान–त्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें भी कहीं जगत् को मिथ्या नहीं बताया गया। वस्तुतः वैराग्य का यह अर्थ कि कर्म छोड़ देना चाहिए, महात्मा बुद्ध ने किया। प्रसिद्ध है कि वे अपना घर छोड़ कर चले गए थे। उनके प्रभाव से इस देश में भिक्षु–भिक्षुणियों की एक बहुत बड़ी संख्या घर-बार छोड़ कर भगवा कपड़ा पहनने लगी। इतिहास साक्षी है कि ये सभी भिक्षु–भिक्षुणियाँ बहुत समय तक अपना आचरण शुद्ध नहीं रख सके। उनमें तरह–तरह का शिथिलाचार पनपने लगा और अन्त में वही शिथिलाचार इस देश में बौद्ध धर्म के पतन का कारण बना।

शङ्कराचार्य की प्रतिभा – वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्य तथा महान् दार्शनिक आद्य शङ्कराचार्य जिस समय इस देश में आए उस समय सर्वत्र बौद्ध धर्म का बोलबाला था। यद्यपि कुमारिल भट्ट जैसे कुछ विद्वान् वैदिक कर्मकाण्ड की ध्वजा को सँभाले थे तथापि वैराग्य की तूती सब ओर बज रही थी। वस्तुस्थिति यह थी कि वैदिक कर्मकाण्ड का मूल रहस्य भी तब तक लुप्त–प्रायः हो चुका था। देश की जनता दिग्भ्रमित थी। ऐसे समय में आदि शङ्कराचार्य ने बौद्धों के विरुद्ध शास्त्रार्थ का बीड़ा उठाया। वे अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। शिथिलाचार ने बौद्ध धर्म की जड़ें तो पहले ही खोखली कर दी थीं, शङ्कराचार्य की प्रतिभा के सामने उनके तर्क भी कुण्ठित हो गए और बौद्ध धर्म इस देश से सदा के लिए विदा हो गया।

बौद्ध धर्म ने विदा तो ले ली किन्तु वह अपना प्रभाव इस देश पर छोड़ गया। महात्मा बुद्ध ने यह घोषणा की थी कि संसार में सब कुछ क्षणभंगुर है, स्थाई कुछ भी नहीं। बौद्ध धर्म की ही एक शाखा शून्यवादियों की थी। उस शाखा ने संसार को शून्य घोषित कर दिया। स्पष्ट है कि यदि संसार शून्य ही है तो फिर हमारे किसी भी पुरुषार्थ का कोई अर्थ ही नहीं निकलता। यद्यपि आदिशङ्कराचार्य बौद्ध धर्म से टक्कर ले रहे थे किन्तु वे शून्यवाद के प्रभाव से अछूते न रह सके और उन्होंने शून्यवाद से मिलता–जुलता मायावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया जिसके अनुसार ब्रह्म तो सत्य है किन्तु जगत् मिथ्या है। शून्यवादी बौद्ध ब्रह्म को भी नहीं मान रहे थे। शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को तो स्वीकार कर लिया किन्तु जगत् को नकार दिया। इसलिए नैयायिकों ने उन्हें अर्धवैनाशिक अर्थात् आधा बौद्ध कहा है अर्थात् वे जगत् के सम्बन्ध में बौद्ध का मत स्वीकार करते हैं किन्तु ब्रह्म के सम्बन्ध में बौद्ध मत को नहीं मानते। इसलिए वे आधे बौद्ध हैं।

हमें यहाँ दो बातों पर विचार करना है कि क्या सचमुच वैदिक शास्त्रों में जगत् को मिथ्या बताया गया है। यदि वैदिक शास्त्र जगत् को मिथ्या नहीं बताते अपितु सत्य घोषित करते हैं तो आदि शङ्कराचार्य की भूल को सुधारने का हमारा अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी। दूसरे जगत् को मिथ्या मानने का हमारे जनजीवन पर क्या प्रभाव होता है – यह भी विचारणीय है क्योंकि किसी भी सिद्धान्त का अन्तिम लक्ष्य तो जीवन का कल्याण करना ही है।

प्रथम वैदिक शास्त्रों को लें। गीता की चर्चा चल रही है। अतः सर्वप्रथम गीता का ही प्रसङ्ग लें। गीता कहती है कि सृष्टि में दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं – दैवी तथा आसुरी। आसुरी दृष्टि वाले लोग न प्रवृत्ति को समझते हैं, न निवृत्ति को। वे न जीवन में शुद्धि को महत्त्व देते हैं, न आचरण को, न सत्य को। वे कहते हैं कि यह जगत् असत्य है, इसकी न कोई प्रतिष्ठा है, न कोई इसका स्वामी है, यह बिना किसी नियम के यादृच्छिक रूप से उत्पन्न हो गया है अर्थात् जगत् की उत्पत्ति एक आकस्मिक घटना है, इसका कोई प्रयोजन नहीं है –

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहेतुकम्॥

विद्वानों की सूक्ष्म व्याख्याओं की बात छोड़ कर हम यह विचार करें कि जब गीता में स्पष्ट रूप से यह कह दिया गया है कि आसुरी प्रवृत्ति के लोग ऐसा कहा करते हैं कि जगत् असत्य है तब आदि शङ्कराचार्य का यह मत कहाँ तक उचित है कि जगत् मिथ्या है? गीता ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जगत् को असत्य बताने वाले लोग वैराग्य का बेसुरा सुर अलापने के कारण प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग का रहस्य भी नहीं समझ पाते। उनका आचरण न शुद्ध होता है, न सत्य से युक्त। जगत् को असत्य बताने का अर्थ पारस्परिक व्यवहार में प्रामाणिकता का लोप कर देना है। यदि संसार एक स्वप्न ही है तो फिर मैं चोरी करूँ या झूँठ बोलूँ या किसी को मार दूँ – इससे क्या फर्क पड़ता है? स्वप्न में मैं यदि किसी की हत्या कर दूँ तो क्या न्यायालय मुझे फाँसी की सजा देगा? यह तो हुआ आचरण पक्ष। अब प्रवृत्ति–निवृत्ति की बात लें। आश्रम–व्यवस्था के अन्तर्गत प्रवृत्ति–निवृत्ति तथा कर्म एवं ज्ञान के बीच सन्तुलन का विधान है। जो किसी भी बात से उद्विग्न होकर वैराग्य का बहाना लेकर संसार के दायित्व से पलायन करने को संन्यास मानता हो, वह निवृत्ति का रहस्य क्या समझेगा? अर्जुन सांसारिक दायित्व से भाग कर भिक्षाचर्य्यापूर्वक जीवन बिताना चाहता था – यही तो श्रीकृष्ण द्वारा गीता के उपदेश देने का निमित्त बना। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण ने जगत् को असत्य मानना आसुरी प्रवृत्ति के अन्तर्गत माना।

शास्त्र ही प्रमाण – यदि गीता का यह वचन श्रुति से अनुमोदित न होता तो हम इसकी उपेक्षा कर सकते थे। किन्तु श्रीकृष्ण शास्त्र विरुद्ध कोई बात कैसे कह सकते थे। उनकी तो प्रतिज्ञा है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय

में शास्त्र ही प्रमाण है – **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।।** प्रथम मन्त्र भाग को लें। ऋग्वेद का प्रसिद्ध अधमर्षण सूक्त सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते समय कहता है कि – उग्र तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुआ – **ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।** यदि तप से सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में सत्य उत्पन्न हुआ तो फिर सृष्टि असत्य कैसे हो गई? मन्त्र भाग में ही यजुर्वेद को लें। यजुर्वेद में कहा गया है कि ब्रह्म त्रिलोकी के परे जाकर सोचने लगा कि इस त्रिलोकी में मैं किस रूप में प्रवेश करूँ। उसने सोचा कि मैं रूप और नाम बनकर त्रिलोकी में प्रविष्ट हो जाता हूँ –

अथ ब्रह्मैव परार्द्धमगच्छत्। तत् परार्द्धं गत्वैक्षत् कथञ्चिदिमान् लोकान् प्रत्यवेयामिति। तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत्–रूपेण चैव नाम्ना च।

यदि ब्रह्म ही रूप और नाम बना है तो रूपनामात्मक जगत् भी सत्य ही है क्योंकि ब्रह्म की सत्यता तो सभी को स्वीकार है।

रूप और नाम प्रजापति – नाम–रूप की चर्चा की पृष्ठभूमि समझ लेनी चाहिए। श्री शङ्कराचार्य का कहना है कि अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप में अस्ति, भाति और प्रिय तो सत्य हैं, नाम–रूप मायिक हैं। अस्ति, भाति, प्रिय का अर्थ है – सत्, चित्, आनन्द। सच्चिदानन्द तो ब्रह्म है और सत्य है तथा नाम रूप जगत् है और मिथ्या है – यह श्री शङ्कराचार्य का मत है। हमारी कठिनाई यह है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में यजुर्वेद की ही उपर्युक्त बात का समर्थन करते हुए रूप और नाम को प्रजापति बताया गया है – **रूपं वै प्रजापतिः नाम वै प्रजापतिः।** अब यदि रूप तथा नाम को मिथ्या मान लें तब तो प्रजापति को भी मिथ्या मानना होगा। यह स्थिति तो पूर्णतः बौद्धमत वाली हो जाएगी। श्री शङ्कराचार्य भी ब्रह्म को तो मिथ्या मानने को तैयार नहीं होंगे।

मन्त्र भाग तथा ब्राह्मण भाग के बाद उपनिषद् आते हैं। उपनिषद् प्रस्थान त्रयी में प्रथम हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में घोषणा की गई है कि नाम तथा रूप सत्य हैं – **नामरूपे सत्यम्।** इस घोषणा के बाद भी यदि कोई नामरूप को मिथ्या बताए तो तटस्थ भाव से सोचना चाहिए कि क्या वह मत वेदानुकूल है?

जगत् को मिथ्या मानने के जो परिणाम हमने गीता के शब्दों में ऊपर दिए हैं वे परिणाम इतिहास से भी प्रमाणित होते हैं। जब से हमने जगत् के मिथ्यात्व की घोषणा की तब से ही इस देश का पतन प्रारम्भ हो गया। राजनीतिक रूप से हम परतन्त्र हो गए, आर्थिक रूप से दरिद्र हो गए और आध्यात्मिकता का ढोल पीटते–पीटते ही भ्रष्टाचार में अग्रणी बन गए। इस स्थिति को देख कर ही इस युग के सभी चिन्तकों ने जगत् के मिथ्यात्व का खण्डन किया – चाहे वे स्वामी दयानन्द हों, चाहे महर्षि अरविन्द, चाहे बाल गङ्गाधर तिलक हों और चाहे पण्डित मधुसूदन ओझा। ये सभी महापुरुष आदि शङ्कराचार्य का नाम बड़े आदर से लेते हैं किन्तु उनके जगन्मिथ्यात्व के प्रति अपनी विनम्र असहमति प्रकट करते हैं। सन्तोष का विषय है कि शाङ्कर मत के वर्तमान अनुयायी भी जगन्मिथ्यात्व की बात प्रायः नहीं करते हैं और न कर्म–मार्ग की निन्दा ही करते हैं अपितु कर्म और ज्ञान के समन्वय की ही बात करते हैं। हमें सत्य का ही आग्रह रखना चाहिए न कि किसी व्यक्ति–विशेष की मान्यता का। मान्यता को ही मुख्यता देनी हो तो श्रुति की मान्यता को प्रमाण मानना चाहिए। यही आस्तिकों का सर्वसम्मत मत है। इसीलिए श्रुति प्रमाण को ही सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

गीता में भगवान् का विराट्-रूप

गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में दो शब्द आते हैं – ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र। साधक को कहा जाता है कि वह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करे ताकि वह मोह को प्राप्त न हो। ब्राह्मी स्थिति का ही दूसरा नाम स्थितप्रज्ञता है। प्रश्न होता है कि ब्रह्म से क्या तात्पर्य है? प्रश्न का उत्तर इतना सरल नहीं है क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप

का वर्णन वेदों से लेकर आज तक हजारों ग्रन्थों में अनेक रूप में हुआ है लेकिन दूसरी अपेक्षा से ब्रह्म का स्वरूप बहुत ही सरल है क्योंकि जो कुछ भी हम देख रहे हैं वह ब्रह्म ही है।

जो कुछ हम देख रहे हैं, वह है। जो नहीं है उसे हम देख भी नहीं रहे। पदार्थ का यह होनापना ही सत् है। ब्रह्म सत् है। हम इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि जो भी सत् है वह ब्रह्म है। जो कुछ भी हमें दिखाई दे रहा है वह सत् होने के कारण ब्रह्म ही है। आपाततः ऐसा लगेगा कि यह तो इतना सरल वक्तव्य है कि इस पर विश्वास करना कठिन है। जो कुछ घट पट आदि हमें दिख रहे हैं – ये सब ब्रह्म हैं। यह बात विश्वास करने लायक नहीं है लेकिन श्रुति तो यही कह रही है कि यह सब कुछ ब्रह्म है – सर्वं खल्विदं ब्रह्म। श्रुति केवल यही नहीं कहती कि यह सब कुछ ब्रह्म है बल्कि बलपूर्वक कहती है कि निश्चय से (खलु) यह सब ब्रह्म है।

सत्ता के तीन रूप – यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि घट ही ब्रह्म है तो घट के नष्ट होने पर यह कहना होगा कि ब्रह्म नष्ट हो गया जबकि हम सब जानते हैं कि ब्रह्म नष्ट नहीं होता। यहाँ यह समझना होगा कि सत्ता के तीन रूप हैं – सत्ता, धृति और विधृति। घट पृथ्वी पर टिका है। घट अन्तरिक्ष में नहीं टिक सकता। पृथ्वी के कारण घट की सत्ता है किन्तु यह पर–प्रतिष्ठित सत्ता है। पृथ्वी से अलग होकर भी घट नष्ट नहीं हो जाता। पृथ्वी के अतिरिक्त भी घट की अपनी सत्ता है। घट की अपनी सत्ता धृति है। वह स्वप्रतिष्ठा है। मान लें घट भी नष्ट हो गया। तब क्या सत्ता भी नष्ट हो गई। जब तक एक आकार अथवा रूप था और उस रूप वाला पदार्थ जलादि लाने का कार्य करता था तब तक उस पदार्थ का घट नाम था। इस नाम–रूप–कर्म की समष्टि को हम घट कह रहे थे। जब नाम–रूप और कर्म नहीं रहा तब घट भी नहीं रहा। इसी को हम कहते हैं कि घट नष्ट हो गया। किन्तु क्या घट के नष्ट होने पर सत्ता भी नष्ट हो गई? गीता का सिद्धान्त है कि सत् का कभी अभाव नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। घट के नष्ट होने पर भी जो शेष रह जाती है वही वास्तविक सत्ता है। वही ब्रह्म है। अतः घट के नष्ट होने पर ब्रह्म नष्ट नहीं होता। दार्शनिक इस सत्ता को पर सामान्य नाम से जानते हैं यह परम सत्ता है। घट की अथवा पट की सत्ता सोपाधिक है, नामरूप से अवच्छिन्न है, किन्तु परम सत्ता नाम रूप से रहित है इसलिए निरुपाधिक है। सोपाधिक सत्ता परिवर्तनशील है, निरुपाधिक सत्ता शाश्वत है। किन्तु हैं दोनों सत्ताएँ ब्रह्म। कुछ लोग शाश्वत सत्ता को ही ब्रह्म मानते हैं और सोपाधिक सत्ता को मिथ्या अथवा माया कहते हैं। सोपाधिक सत्ता परिमित होने के कारण माया तो है, किन्तु है सत्य। प्रमाण स्वयं श्रुति है – नामरूपे सत्यम् अर्थात् नाम और रूप सत्य हैं। हाँ, सोपाधिक सत्ता परप्रतिष्ठ और स्वप्रतिष्ठ है तथा निरुपाधिक सत्ता आत्मप्रतिष्ठ है। परप्रतिष्ठ अथवा स्वप्रतिष्ठ सत्ता का भी मूल आत्मप्रतिष्ठ सत्ता ही है। यदि उपाधि को हटा कर देखें तो निरुपाधिक सत्ता ही मिलेगी। इस दृष्टि के उत्पन्न होने पर प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म का ही अस्तित्व दिखाई देगा। तब ही हम कह सकेंगे कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यही भगवान् का विराट् रूप है।

पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शन के क्षेत्र में दो वाद प्रसिद्ध हैं – वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद। वस्तुवादी का कहना है कि वस्तु का अस्तित्व स्वतंत्र है। वस्तु है इसलिए हमें उसका ज्ञान होता है। प्रत्ययवादी का कहना है कि हमें ज्ञान हो रहा है इसीलिए वस्तु का अस्तित्व है। यदि हमें ज्ञान ही न हो तो वस्तु के होने का प्रमाण ही क्या है? यहाँ समझना चाहिए कि अस्मदादि जीवों के लिए घट ज्ञान हमारा अन्तर्जगत् है और घट हमारा बहिर्जगत है किन्तु जगत् के सभी पदार्थ ईश्वर के ज्ञान का विषय हैं अतः ईश्वरीय ज्ञान की अपेक्षा सारा जगत् अर्थात् अस्तित्व मात्र ईश्वरीय ज्ञान का विषय होने के कारण ईश्वर का अन्तर्जगत् है। वहाँ अस्तित्व और ज्ञान में अभेद है। ज्ञान ही अस्तित्व है और अस्तित्व ही ज्ञान है। जहाँ भी कहा जाता है कि है – अस्ति, वहाँ यह बोध भी रहता है कि मैं जानता हूँ – "जानामि"।

जिस प्रकार सत्ता के तीन प्रकार हैं उसी प्रकार ज्ञान के भी तीन भेद हैं। मैं घट को जानता हूँ – यहाँ दो ज्ञान हैं – घट का ज्ञान और अपना ज्ञान। घट का ज्ञान परज्ञान है अपना ज्ञान स्वज्ञान है। परज्ञान का पदार्थ

से सम्बन्ध है – पदार्थ से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ब्रह्म कहलाता है, स्वज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान वेद कहलाता है तथा इन दोनों प्रकार के ज्ञान का जो संस्कार हमारे मन पर रहता है वह विद्या कहलाता है। ये तीनों परज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकते जब तक हमें अपना ज्ञान भी न हो।

परज्ञान और स्वज्ञान के अतिरिक्त एक तीसरा निरुपाधिक ज्ञान है जिसे आत्मज्ञान कहते हैं। सुषुप्ति में जब हमें स्व–पर का ज्ञान नहीं रहता तब भी महदात्मा का ज्ञान नाड़ी सञ्चार, रक्त प्रवाह आदि कार्य करता रहता है। हमें इस चिद्रूप का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यही ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन है। जैसे हम सत्ता को जानते हैं वैसे ही ज्ञान को भी जानते हैं और सच्चिद् के रूप में वस्तुतः हम ब्रह्म को ही जानते हैं।

किन्तु ब्रह्म केवल सच्चिद् नहीं अपितु सच्चिदानन्द रूप है। आनन्द का अनुभव भी हम सभी करते हैं। आनन्द की यह झलक ब्रह्म की ही झलक है। जो है और जिसे हम जानते हैं उसी में हम आनन्द भी पाते हैं।

आनन्द के अनेक रूप हैं। किसी अभीष्ट विषय के मिल जाने पर हमें सुख का अनुभव होता है। ऐसा इसलिए होता है कि हमारी इन्द्रियों को विषयों की आकांक्षा रहती है। उस आकांक्षा के पूरे होने पर हमें सुख मिलता है। सभी विषय हमारी इन्द्रियों के अनुकूल नहीं होते। अनुकूल विषयों के होने पर सुख होता है तो प्रतिकूल विषयों के मिलने पर दुःख भी होता है। सुख का अर्थ है – सु=शोभन्, खम् – इन्द्रियां तथा दुःख का अर्थ है – दु=दूषित्, खम्=इन्द्रियाँ। ये सुख–दुःख आते जाते रहते हैं। कोई भी सुख सदा नहीं रह सकता। कोई विषय कदाचित् सदा बना भी रहे किन्तु उससे होने वाला सुख सदा नहीं रह सकता। कल्पना करें कि किसी व्यक्ति को पुत्र उत्पन्न हुआ। उस व्यक्ति को पुत्र होने से बहुत हर्ष हुआ। वह पुत्र यावत्जीवन पिता के पास बना भी रहा किन्तु क्या पुत्रोत्पत्ति के समय जो सुख हुआ था, वह सुख सदा बना रह सकता है? और भी कोई उदाहरण ले सकते हैं। किसी के घर में कार खरीदी गई। व्यक्ति को सुख हुआ। कार घर में सदा रहेगी किन्तु कार के आने वाले दिन जो सुख हुआ था, क्या वह सुख सदा बना रहेगा? पुत्र अथवा कार के सदा बने रहने पर भी सुख तो सदा नहीं बना रहेगा किन्तु पुत्र अथवा कार के नष्ट होने पर दुःख अवश्य उत्पन्न हो जाएगा। पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होने वाला सुख क्षणिक है पदार्थ के वियोग से उत्पन्न होने वाला दुःख अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्थायी हैं किन्तु है सुख–दुःख दोनों अस्थायी।

स्थायी सुख की खोज – स्पष्ट है ऐसा सुख जो अस्थायी है, ब्रह्म नहीं हो सकता। सारा दर्शन शास्त्र ऐसे ही सुख की खोज करता है जो सुख स्थायी हो। विषयों से प्राप्त होने वाला सुख अस्थायी है, वह समृद्धानन्द कहलाता है क्योंकि वह किसी न किसी समृद्धि से उत्पन्न होता है। ऐसा सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कर्म करना पड़ता है। कभी उस कर्म में सफलता मिलती भी है कभी नहीं भी मिलती। अर्जुन ने कहा था कि उसे नहीं मालूम कि वह युद्ध में जीतेगा या हारेगा। सभी कर्मों में सफलता–असफलता दोनों ही संभावनाएँ बनी रहती हैं। सफलता मिल भी जाए तो कर्म का फल तो अस्थायी है ही। ऐसे ही तर्क के आधार पर ज्ञानवादी कर्म का निषेध किया करते हैं। गीता में अर्जुन ने ज्ञानवादियों के वे सभी तर्क दिए थे। परन्तु कृष्ण ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। सभी भारतीय दर्शन – अतिरिक्त चार्वाक् और मीमांसा के – अर्जुन के तर्कों के आधार पर अर्जुन को शाबाशी ही देना, चाहेंगे कि उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है और वह राज्य के लोभवश युद्ध के हिंसात्मक पचड़े में न पड़कर भिक्षाचरण द्वारा अपना पेट भर कर जीवन बिताने को तैयार है। किन्तु श्रीकृष्ण ने ऐसा नहीं किया। यही गीता की विशेषता समझनी चाहिए।

प्रथम तो यह बात समझने योग्य है कि विषयानन्द भी उस शाश्वत ब्रह्मानन्द का ही भाग है जो ब्रह्मानन्द शाश्वत है। उपनिषद् ब्रह्मानन्द की उपमा उस स्थिति से देते हैं जो स्थिति पुरुष की उस समय होती है जब वह अपनी प्रिया का आलिङ्गन करता है। प्रिया को आलिङ्गन करते समय द्वैतभाव एक क्षण के लिए विलीन हो जाता

है। उपनिषद् का कहना है कि रति का आनन्द इस द्वैतभाव के विलीन होने से ही उत्पन्न होता है। अतः रत्यानन्द हो या ब्रह्मानन्द दोनों का स्रोत एक ही है – द्वैतभाव का विलय। किन्तु यदि कोई ऐसा मान ले कि रत्यानन्द ही ब्रह्मानन्द है तो वह भारी भूल करता है। उपमा सदा एक देशीय होती है। उपनिषद् ने ब्रह्मानन्द की उपमा रत्यानन्द से अवश्य दी है किन्तु दोनों का तादात्म्य नहीं बताया है। रत्यानन्द पराश्रित है अतः वह विषयानन्द ही है, ब्रह्मानन्द नहीं, क्योंकि ब्रह्मानन्द आत्माश्रित होता है, पराश्रित नहीं। सुषुप्ति में भी द्वैतभाव विलीन हो जाता है अतः ब्रह्मानन्द की तुलना सुषुप्ति से भी की जाती है किन्तु यह तुलना भी एकाङ्गी है। सुषुप्ति में चित् तत्व प्रायः मूर्च्छित सा रहता है किन्तु ब्रह्मानन्द की स्थिति पूर्ण जागरूकता की स्थिति है। अतः सुषुप्ति से ब्रह्मानन्द की तुलना भी एकाङ्गी ही समझनी चाहिए।

आनन्द भी त्रिविध – वस्तुतः आनन्द भी त्रिविध है – परानन्द वह है जो विषयों से प्राप्त होता है तथा स्वानन्द वह है जिसमें पर की अपेक्षा नहीं यथा सुषुप्ति के समय का आनन्द। किन्तु स्पष्ट है कि ये दोनों सीमित हैं, अस्थायी हैं। एक तीसरा आनन्द आत्मानन्द है जो आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है। ये परानन्द और स्वानन्द एक दृष्टि से ब्रह्मानन्द से उसी प्रकार पृथक् है जिस प्रकार समुद्र से उसकी लहरें पृथक् होती हैं किन्तु आनन्दत्वेन ये तीनों उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार जलत्वेन लहर और समुद्र एक ही हैं। जब विषयानन्द और ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द को एक ही बताया जाता है तो एक बहुत बड़ा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इस वक्तव्य से विषयों के प्रति आसक्ति भाव को प्रश्रय मिलता है जबकि गीता में सर्वत्र अनासक्ति भाव की चर्चा है।

इस प्रसंग को थोड़ा विस्तार से समझना चाहिए। जीवन के लिए विषय भी आवश्यक है। क्या कोई व्यक्ति भोजन के बिना जीवित रह सकता है? भोजन करते समय व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि वह भोजन का रसास्वादन करे। यदि व्यक्ति बिना आनन्द लिए भोजन करेगा तो उसका रोगी हो जाना लगभग निश्चित है। आनन्द ही मुख में वह पानी जैसा तरल पदार्थ लाता है जो भोजन को सुपाच्य बनाता है। बिना उस तरल पदार्थ के भोजन पच ही नहीं पाएगा और मनुष्य भोजन करता हुआ भी अस्वस्थ हो जाएगा। भोजन का तो एक उदाहरण है। आवश्यक यह है कि जीवन की प्रत्येक क्रिया में आनन्द लिया जाए। कार्य कितना भी गम्भीर क्यों न हो, जब तक उसमें रस नहीं आएगा, कार्य उत्तम नहीं बन पाएगा। बढ़ई भी यदि कुर्सी बनाते समय आनन्द के भाव से नहीं भर पाएगा तो कुर्सी कलात्मक नहीं बन पाएगी। इसी को हम बोलचाल की भाषा में इस प्रकार कहते हैं कि उसने तो बेगार टाल दी; मन लगाकर काम नहीं किया। मन लगाकर काम करने का अर्थ है – आनन्दपूर्वक काम करना अथवा काम में रस लेना। यह मनोयोग कर्म की सफलता का मूल मंत्र है।

मनोयोगपूर्वक कर्म का अर्थ आसक्तिपूर्वक कर्म करना नहीं है। इसके ठीक विपरीत आसक्ति भाव ही हमें मनोयोगपूर्वक कर्म नहीं करने देता। अनासक्ति का अर्थ है – कर्म में आनन्द लेना। आसक्ति का विषय है – विषयानन्द। विषयानन्द को छोड़कर केवल कर्म में आनन्द की अनुभूति ब्रह्मानन्द है। फल हमारे आधीन नहीं है अतः फलासक्ति हमें पराधीन बनाती है, कर्म हमारे आधीन है अतः यदि हम कर्म में आनन्द ले सकें तो हम स्वाधीन हो जाते हैं। स्वाधीनता ही मुक्ति है, पराधीनता ही बन्धन है।

दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान हमारा स्वभाव है। वेद कहता है कि जिस प्रकार ज्ञान हमारा स्वभाव है, कर्म भी हमारा स्वभाव है। गीता कहती है कि कोई भी प्राणी एक क्षण भी बिना कर्म के नहीं रह सकता। कर्म को बन्धन मानकर कर्म छोड़ने का दुराग्रह करने वाला अपने से ही लड़कर रह जाता है क्योंकि कर्म उसका स्वभाव है और कोई भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता। कर्म से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, फलासक्ति छोड़नी चाहिए जो कि कर्म के आनन्द को हमसे छीन लेती है और आनन्द के अभाव में कर्म हमको भारभूत तथा बन्धन रूप प्रतीत होने लगता है।

कर्म के आनन्द की प्रेरणा सामान्यतः कर्मफल से मिलती है। यही भूल है। कर्म के आनन्द की प्रेरणा का स्रोत होना चाहिए – ब्रह्मानन्द। ब्रह्म के बृंहण से सृष्टि बनी। क्या यह कर्म नहीं है? इसे कर्म न कह कर लीला कहा जाता है क्योंकि इस प्रक्रिया में फलासक्ति का भाव न रहकर आनन्द का भाव रहता है। राम, कृष्ण और सभी अवतार लीला करते हैं कर्म नहीं। हमारे कर्म भी लीला बन सकते हैं यदि उन कर्मों के प्रेरक विषय न बनें, ब्रह्म बने।

वेदान्त का मूल है कि जीव ही ब्रह्म है। जीव आत्माभिव्यक्ति चाहता है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति सृष्टि के रूप में होती है। जीव की अभिव्यक्ति का माध्यम कर्म है। कर्म के माध्यम से हमें जो आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है वही कर्म में आनन्दित होने की प्रेरणा का स्रोत बनना चाहिए, फलासक्ति नहीं। अर्जुन कर्म से डर रहा था क्योंकि उसकी दृष्टि में युद्ध कर्म का प्रेरणा स्रोत था – राज्य प्राप्ति अर्थात् कर्मफल। श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि राज्य प्राप्ति कर्म का प्रेरणा स्रोत नहीं बनना चाहिए अन्यथा सचमुच ही कर्म बन्धन बन जाएगा। अर्जुन जैसे धनुर्धारी क्षत्रिय के लिए युद्ध कर्म की प्रेरणा का स्रोत बनना चाहिये– एक युयुत्सु की आत्माभिव्यक्ति। संघर्ष की कामना का भी सृष्टि में महत्त्व है। उस कामना को अभिव्यक्ति न मिले तो सृष्टि में अन्याय ही अन्याय फैल जाएगा।

वर्ण धर्म का मूल है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुकूल आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिले। दुर्भाग्य से हम वर्ण धर्म को विषमता का पर्यायवाची मान कर जीवन का आनन्द ही समाप्त करने जा रहे हैं। आज पूछा जा रहा है कि वेद पढ़ने का फायदा क्या है। व्यवस्था–मूलक शिक्षा के बारे में साहित्य, कला और दर्शन जैसे विषयों की उपयोगिता पर भी प्रश्नचिह्न लगा दिया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा था कि ब्राह्मण को निष्कारण वेद पढ़ना चाहिए। किन्तु उपयोगितावाद अर्थात् फलासक्ति के इस युग में कोई निष्कारण वेद कैसे पढ़ेगा? फलतः ब्राह्मण धर्म उच्छिन्न हो गया। शान्तिवादियों ने युद्ध मात्र को अधर्म बता दिया। जिनमें सहज ही संघर्षशीलता की प्रवृत्ति थी उनको आत्माभिव्यक्ति का माध्यम नहीं मिला तो वे आतंककारी बन बैठे। वे निरीहों की हत्या में सुख ले रहे हैं। यह क्षात्र धर्म का पतन है। वैश्य अर्थ-वितरण की जगह अर्थ-सञ्चय को अपना धर्म मान बैठे। काला धन और व्यापार पर्यायवाची बन गए। कृषकों को हमने वैश्यों की कोटि से निकाल कर पिछड़ी जातियों की श्रेणी में ला बैठा दिया। महात्मा गांधी ने हमें शारीरिक श्रम की महिमा बताई किन्तु जो जातियां सदियों से शारीरिक श्रम को अपनी आजीविका का साधन बनाए हुए थीं उन्हें हम शारीरिक श्रम को छोड़कर सफेद पोशाक वाले व्यवसाय अपनाने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। संक्षेप में सभी स्वधर्म को छोड़ पर-धर्म अपनाने पर उतारू हैं। हमारे कर्म आत्माभिव्यक्ति के माध्यम न बनकर पद, प्रतिष्ठा और पैसे की प्राप्ति के माध्यम बन गए हैं। ऐसे में जीवन में आनन्द कहाँ से आए? और यदि आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है तो जिसके जीवन में आनन्द नहीं उसे ब्रह्म से बहुत दूर ही मानना चाहिए।

गीता में आनन्द का स्वरूप

हम देख चुके हैं कि ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। जैसे एक ही व्यक्ति पुत्र के लिए पिता, दुकानदार के लिए ग्राहक और विद्यार्थियों के लिए अध्यापक हो सकता है किन्तु वह व्यक्ति एक ही रहता है, इसी प्रकार एक ही तत्त्व अस्तित्व की अपेक्षा सत्, ज्ञान की अपेक्षा चित् तथा अनुभूति की अपेक्षा आनन्द कहलाता है किन्तु तत्व वह एक ही रहता है।

आनन्द की खोज – आनन्द की खोज इतनी व्यापक है कि आत्महत्या करने वाला व्यक्ति भी वस्तुतः किसी आनन्द की खोज में ही आत्महत्या करता है। उसे लगता है कि वर्तमान शरीर में और वर्तमान परिस्थिति

में आनन्द सम्भव नहीं है। आत्महत्या करने पर यह शरीर तो नष्ट हो ही जाता है, वर्तमान परिस्थिति भी समाप्त हो जाती है। इसी आशा में व्यक्ति आत्महत्या करता है। प्रश्न होता है कि क्या आत्महत्या करना उचित है। उत्तर है कि शास्त्र आत्महत्या को घोर पाप बताते हैं। ऐसा इसलिए है कि आत्महत्या का प्रयत्न एक अज्ञान पर टिंका हुआ है। हमने पहले बताया कि आनन्द के तीन रूप हैं, परानन्द, स्वानन्द तथा आत्मानन्द। अनुकूल विषय न मिलें तो परानन्द नहीं मिल सकता। शरीर तथा मन की स्थिति ठीक न होने पर स्वानन्द भी नहीं मिलता। ये दोनों आनन्द सोपाधिक हैं अर्थात् सशर्त हैं। भोजन होगा तो भोजन का आनन्द आएगा, शरीर तथा मन स्वस्थ होंगे तो गहरी नींद आएगी। आत्मानन्द निरुपाधिक है उसके लिए कोई शर्त नहीं है कि अमुक होगा तो आत्मानन्द होगा। आत्मानन्द आकाश के समान सदा सभी जगह रहता ही है। आत्महत्या करने वाला भी परानन्द अथवा स्वानन्द से वञ्चित हो सकता है किन्तु आत्मानन्द से नहीं। यदि उसे आत्मानन्द का परिचय हो तो वह कदापि आत्महत्या न करे। आत्मानन्द से अनभिज्ञ होना ही वास्तविक अज्ञान है।

परानन्द और स्वानन्द का स्रोत भी आत्मानन्द ही है । सोपाधिक का मूलस्रोत निरुपाधिक ही होता है। आकाश का एक छोटा–सा भाग घट की सीमाओं के भीतर है। इसे घटाकाश कहते हैं। घट के बाहर आकाश की कोई सीमा नहीं होती। इसे महाकाश कहते हैं। घटाकाश सोपाधिक है, महाकाश निरुपाधिक है। महाकाश है इसीलिए घटाकाश का भी अस्तित्व है। बिना महाकाश, घटाकाश हो ही नहीं सकता। निष्कर्ष यह निकला कि निरुपाधिक के कारण ही सोपाधिक होता है। आत्मानन्द आकाश के समान निरुपाधिक है वही परानन्द तथा स्वानन्द का मूलस्रोत है।

सोपाधिक सदा सीमित होता है, अल्प होता है। निरुपाधिक असीम होता है। असीम का ही दूसरा नाम भूमा है। उपनिषद् कहते हैं भूमा में आनन्द है, अल्प में आनन्द नहीं है। हम सभी अनुभव करते हैं कि जहाँ कहीं भी सीमा आ जाती वहीं हम दुःखी हो जाते हैं। अतः सुख चाहिए तो असीम से जुड़ें। सीमा का जितना अधिक विस्तार होगा आनन्द उतना ही अधिक होगा। यह हम सभी जानते हैं। तभी तो लखपति करोड़पति और करोड़पति अरबपति बनना चाहता है। किन्तु धन से होने वाला आनन्द क्योंकि सोपाधिक है अतः वह कितना ही अधिक क्यों न हो, होता सीमित ही है। उपनिषद् कहते हैं धन से अमृतत्व की आशा नहीं की जा सकती, मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता।

तो क्या धनोपार्जन नहीं करना चाहिए? ऐसा नहीं है। अर्थ तो चार पुरुषार्थों में से एक है। उसका निषेध कैसे किया जा सकता है। अर्जुन कहता है कि सम्पूर्ण पृथ्वी का एकछत्र साम्राज्य भी उसे दुःख से छुटकारा नहीं दिला सकता। अर्जुन वाली ही बात कहकर संन्यासी प्रायः धनोपार्जन आदि झंझटों से छुटकारा दिलाने का उपदेश देते रहते हैं। गीता ने ऐसा उपदेश नहीं दिया।

गीता में श्रीकृष्ण ने यह बताया कि अर्थ और काम भी पुरुषार्थ हैं अतः उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता किन्तु अर्थ पर काम का, काम पर धर्म का और धर्म पर मोक्ष का नियंत्रण रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में परानन्द पर स्वानन्द का तथा स्वानन्द पर आत्मानन्द का नियंत्रण रहना चाहिए। ऐसा धन किस काम का जो नींद का सुख भी छीन ले और ऐसा कर्त्तव्यपालन भी किस काम का कि मनुष्य अपने स्वरूप – आत्मा – को ही भुला दे। चारों पुरुषार्थों का यही तारतम्य है। अर्थोपार्जन छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु अर्थोपार्जन का लक्ष्य काम -सुखभोग - होना चाहिए, कृपण के समान तिजोरी का मुख भरना नहीं होना चाहिए और सुखभोग का लक्ष्य कर्त्तव्यपालन होना चाहिए। मध्यकालीन राजाओं की भांति सुखभोग को विलासिता में नहीं बदल देना चाहिए कि व्यक्ति अपने कर्त्तव्य से विमुख होकर अन्त में सुखभोग से भी हाथ धो बैठे और कर्त्तव्यपालन के साथ आत्मस्वरूप की सतत स्मृति आवश्यक है अन्यथा कर्त्तव्यपालन एक ऐसी नीरस नैतिकता में बदल जाता है कि व्यक्ति सारे

संसार के अनैतिक होने का रोना रोते-रोते ही मर जाता है और दूसरों का भला करना तो दूर, अपना भी भला नहीं कर पाता।

गीता की विशिष्ट दृष्टि – पश्चिम के विचारकों को भारतीय चिन्तन नितान्त व्यक्तिवादी और स्वार्थपरक प्रतीत होता है। मोक्ष का लक्ष्य व्यक्तिगत है। पश्चिम के लोगों को लगता है कि भारतीय साधक को औरों की चिन्ता है ही नहीं। वह पक्का स्वार्थी है। वे समझते हैं कि समाजसेवा ही सर्वोपरि धर्म है। समाजसेवा का कार्य पश्चिम में अनेक क्लब और मिशनरी कर भी रहे हैं। इस सम्बन्ध में गीता की दृष्टि विशिष्ट है। एकान्तसेवन करने वाले भी कुछ साधक हो सकते हैं किन्तु वे सर्वोत्कृष्ट नहीं हैं। उनकी संज्ञा क्षीणोदर्क है। श्रेष्ठ भूमोदर्क है। क्षीणोदर्क मार्ग पर स्थित साधक अवश्य एकान्त का सेवन करता है किन्तु भूमोदर्क मार्ग में तो साधक की सब ही पदार्थों में आत्मबुद्धि हो जाती है अतः उसे एकान्त सेवन की आवश्यकता नहीं रहती। वह लोकसंग्रह का मार्ग अपनाता है। इन दोनों मार्गों की अपनी सीमा है। एकान्त सेवन करते हुए मन से विषयों का चिन्तन करने वाले को गीता मिथ्याचारी ढोंगी बताती है और विषयों में आसक्ति रखते हुए लोकसंग्रह का ढोंग रचने वाला तो और भी बहुत बड़ा ढोंगी है क्योंकि वह स्वयं को धोखा देता ही है औरों को भी धोखा देता है।

गीता भूमोदर्क मार्ग को ही श्रेष्ठ बताती है। यह मार्ग स्वार्थ का नहीं है। इसमें परमार्थ के साथ–साथ परार्थ भी समाविष्ट है। श्रीकृष्ण इसी मार्ग का सेवन करते थे। अर्जुन मोह में फँसा हुआ था किन्तु वह क्षीणोदर्क मार्ग का सेवन करना चाहता था। श्रीकृष्ण जानते थे कि वह क्षीणोदर्क मार्ग में सफल नहीं हो पाएगा। श्रीकृष्ण ने उसे भूमोदर्क मार्ग का उपदेश दिया।

भूमोदर्क मार्ग का आधार अद्वैत है। विषय और विषयी का भेद द्वैत में है। विषय से विषयानन्द जुड़ा है, विषयी से आत्मानन्द जुड़ा है। जिसकी दृष्टि में विषय विषयी का भेद है, वह आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए विषयानन्द को छोड़ देता है किन्तु जिसकी दृष्टि में यह भेद है ही नहीं, उसे विषयानन्द में भी आत्मानन्द के दर्शन हो सकते हैं। मार्ग टेढ़ा है और इसमें स्खलित होने का पूरा भय है कि कहीं आसक्तिपूर्वक विषयानन्द को भोगते हुए साधक आत्मानन्द में लीन होने का ढोंग न करने लगे। अतः श्रीकृष्ण ने पूरी सावधानी बरतते हुए साधक को कहीं भी विषयानन्द में आसक्त होने की किसी भी प्रकार की छूट नहीं दी है।

हमने परानन्द, स्वानन्द और आत्मानन्द की चर्चा की। इनमें पहले दो सोपाधिक हैं, अन्तिम निरुपाधिक। अन्तिम तो असीम हैं अतः उसमें कोई तारतम्य नहीं है किन्तु सोपाधिक आनन्द की सीमा में तारतम्य रहता है। सभी सोपाधिक आनन्द समान नहीं हैं। सीमा जितनी विस्तृत है आनन्द उतना ही अधिक है। ये सीमाएँ किस प्रकार विस्तृत होती हैं, इसकी चर्चा उपनिषदों में हैं।

विश्व को पञ्चपर्वा कहा गया है। इनमें तीन पर्व – सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी प्रत्यक्ष गोचर हैं। आज का विज्ञान बताता है कि सूर्य भी अपने एक केन्द्र के चारों ओर इसी प्रकार परिक्रमा करता है जिस प्रकार हमारी पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। नवीनतम खोजों के अनुसार सूर्य अपनी कक्षा में १३५ मील प्रति सैकण्ड की गति से अपने केन्द्र की परिक्रमा कर रहा है।

सूर्य के इसी केन्द्र को शास्त्र परमेष्ठी कहते हैं। किन्तु यह परमेष्ठी भी स्थिर नहीं है अपितु एक अन्य केन्द्र के चारों ओर परिक्रमा करता है। इसी केन्द्र को स्वयम्भू कहा जाता है। परमेष्ठी परोक्ष है; आधुनिक विज्ञान इसका अनुमान लगा पाया है किन्तु इसे प्रत्यक्ष नहीं देख पाया। स्वयम्भू तो अतिपरोक्ष है, अतः विज्ञान उसका अनुमान भी नहीं लगा पाया।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की उक्ति प्रसिद्ध है। विश्व के पाँच पर्व हैं तो मनुष्य के अस्तित्व के भी पाँच उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर पाँच ही स्तर हैं। इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत् तथा महत् से अव्यक्त अधिक

सूक्ष्म हैं। इन्हीं के समकक्ष पाँच कोश हैं – अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। इनमें भी उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर हैं। जो जितना सूक्ष्म है वह उतना विस्तृत है और जो जितना विस्तृत है, उससे जुड़ा आनन्द उतना ही उत्कृष्ट है। इन्द्रियों से जुड़ा आनन्द मानुष आनन्द है। किसी एकच्छत्र सम्राट् के आनन्द को हम मानुष अथवा पार्थिव आनन्द मानते हैं। उससे शतगुणा मन का अथवा चान्द्र पितरों का आनन्द है। उससे भी शतगुणा बुद्धि का अथवा सौर देवों का आनन्द है। उससे भी अधिक शतगुणा महद् अथवा परमेष्ठी का आनन्द है तथा उससे भी अधिक शतगुणा अव्यक्त अथवा स्वायम्भुव आनन्द है। ये सब सीमित आनन्द का तारतम्य है। असीम निरुपाधिक आनन्द के सम्मुख तो स्वायम्भुव आनन्द भी नगण्य है। इस सारे विवरण का प्रयोजन आत्मानन्द की सघनता तथा सोपाधिक आनन्द की न्यूनता बताना है।

आत्मानन्द ही मूल आनन्द – उपर्युक्त तारतम्य का एक आधार है। मूल आनन्द तो आत्मानन्द ही है। वेदविज्ञान की भाषा में इसे उक्थ कहा जाता है। इस उक्थ के जो जितना निकट है वहाँ आनन्द उतना ही अधिक है। आत्मा के निकटतम अव्यक्त है तथा दूरतम शरीर। बीच में महद्, बुद्धि और मन हैं। कामना का केन्द्र मन ही है। मन के एक ओर शरीर अथवा इन्द्रियाँ हैं जो सहज ही विषयों की ओर अभिमुख रहने के कारण चञ्चल बनी रहती हैं। यदि मन इन्द्रियों से जुड़ता है तो वह भी चञ्चल बन कर अशान्त ही रहता है। यदि वह बुद्धि से जुड़ता है तो स्थिर होकर आनन्द को प्राप्त होता है। इस प्रकार मन ही मोक्ष की ओर भी ले जा सकता है और बन्धन की ओर भी।

अध्यात्म में जहाँ आत्मा के निकटतम महत् तत्व है वहाँ अधिभूत में आत्मा के निकटतम आकाश तत्व है। अतः भूतों में सर्वाधिक आनन्द आकाश में है। जब किसी को न्यायालय दण्ड देता है तो इसे कारागार में बन्द कर देता है। कारागार में वायु भी है, ताप भी है, पानी भी है और पार्थिव अन्न–भोजन भी है। केवल खुला आकाश नहीं है। यह बड़ा भारी दण्ड है क्योंकि सुख के सबसे बड़े भौतिक स्रोत आकाश से बन्दी को वञ्चित कर दिया जाता है। पुराने भवनों की छतों को देखिए, वो कितनी ऊँची है। उनके ऊँचे रखने का प्रयोजन था आकाश का अधिक भाग घर के रहने वालों को उपलब्ध कराना। उसमें भी बीच का चौक तो असीम आकाश के दर्शन का अवसर देता था। अब चौक नहीं है क्योंकि चौक से वर्षा के जल आने का भय है। छतें इतनी नीची कर दी गईं कि हाथ से छुई जा सकती हैं। यदि कोई ऊँचा हाथ करके वस्त्र पहने तो छत के पंखे से हाथ कटने का डर रहता है। भवन निर्माण की यह नूतन शैली आकाश के महत्व को न समझने का परिणाम है। हमारा मन जब घर में नहीं लगता, तो बाहर खुले में घूमने निकल जाते हैं। खुलापन सुख देता है। अब जब मन न लगे तो हम टी.वी. देखने लगे हैं। यह अपने को और भी संकुचित करने का उपाय है। दिन हो या रात, खुले आकाश को देखने से बढ़िया सुख प्राप्त करने का दूसरा साधन नहीं है।

आनन्द की सीमा बनती है अपने पराये के बीच भेदक रेखा खींचने से। शास्त्र कहते हैं कि हमें भय इसलिए लगता है कि हम वस्तुओं पर अपना स्वत्व जमाने का प्रयत्न करते हैं। जो समस्त पदार्थों को भगवान के मानता है, उसको किसी प्रकार का भय नहीं होता। ऐसी दृष्टि रखने वाला व्यक्ति क्या कभी स्वार्थी हो सकता है। उपसंहार में हम कह सकते हैं कि परसत्ता, परज्ञान और परानन्द यह ब्रह्म का प्रकृति रूप है। स्वसत्ता, स्वज्ञान और स्वानन्द ब्रह्म का जीव रूप है। आत्मसत्ता, आत्मज्ञान और आत्मानन्द ब्रह्म का ईश्वर रूप है। प्रकृति अधिभूत है, जीव अध्यात्म है और ईश्वर अधिदैव है। जो इन तीनों की अद्वैतता को समझते हैं वही ब्रह्मज्ञानी है और वही योगी है।

—•—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

धृतराष्ट्र उवाच –

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा –

हे सञ्जय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए युद्ध के लिये तत्पर मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?॥१॥

सञ्जय उवाच –

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत॥२॥

सञ्जय ने कहा –

उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहबद्ध पाण्डवों की सेना को देखकर आचार्य द्रोण के पास जाकर यह कहा कि –॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥३॥

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूहबद्ध पाण्डुपुत्रों की इस महती सेना को देखिये ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च महारथः॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस सेना में महाधनुर्धारी भीम तथा अर्जुन जैसे युद्ध वीर, सात्यकि, विराट्, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ, शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु तथा द्रौपदी पुत्र – ये सारे ही महारथी हैं॥४,५,६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम्।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! हमारी तरफ जो विशेष हैं उन्हें भी आप जान लें। आपकी जानकारी के लिये मेरी सेना के उन नायकों को मैं बतला रहा हूँ ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वेयुद्धविशारदाः ॥९॥

आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, युद्धजेता कृपाचार्य, उसी प्रकार अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा) तथा अन्य भी मेरे लिये प्राणों की बाजी लगाने वाले बहुत से शूरवीर अनेकानेक शस्त्रों से चोट करने वाले तथा युद्ध में निपुण हैं ॥८, ९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्म द्वारा सुरक्षित हमारी यह सेना तो अजेय है (किन्तु) भीम द्वारा सुरक्षित इन (पाण्डवों) की ये सेना सुगमता से जीती जा सकती है ॥१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

आप सब अपने-अपने यथोचित मोर्चों पर रहकर भीष्म पितामह की ही रक्षा कीजिये ॥११॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

कुरुवृद्ध प्रतापी पितामह (भीष्म) ने उस (दुर्योधन) के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंहनाद करते हुए शङ्ख बजाया ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

इसके अनन्तर शङ्ख, भेरी, मृदङ्ग और गौमुँहे एक साथ ही बजने लगे। वह शब्द बहुत घनघोर था ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यो शङ्खो प्रदध्मतुः ॥१४॥

तदनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त महान् रथ में स्थित श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ने भी अपने-अपने अलौकिक शङ्ख बजाये ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त, भयङ्कर कर्म वाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय तथा नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक शङ्ख बजाया।।१६।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्-पृथक्।।१८।।

हे राजन्! श्रेष्ठ धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र, महाबाहु सुभद्रापुत्र अभिमन्यु; इन सबने अपने-अपने शङ्ख अलग-अलग बजाये ।।१७,१८।।

स घोषो धार्तराष्ट्रानां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

उस घनघोर शब्द ने आकाश तथा पृथ्वी को गुञ्जायमान करते हुए धृतराष्ट्र के पक्षधरों का हृदय विदीर्ण कर दिया ।।१९।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।।२०।।

हे राजन्! तदनन्तर कपिध्वज अर्जुन ने सुव्यवस्थित धृतराष्ट्र के पक्ष वालों को देखकर शस्त्र-प्रहार प्रारम्भ होने के समय धनुष उठाकर श्रीकृष्ण से कहा कि – ।।२०।।

अर्जुन उवाच –

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।२१।।

अर्जुन बोले –

हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कीजिये ।।२१।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

ताकि मैं सामने खड़े युद्धेच्छुक इनको देख सकूँ कि इस युद्ध में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है।।२२।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में हित करने के इच्छुक जो राजा यहाँ आये हैं उन युद्ध करने वाले राजाओं को मैं देखूँ ।।२३।।

सञ्जय उवाच –

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति॥२५॥

सञ्जय बोले –

हे धृतराष्ट्र ! अर्जुन के द्वारा इस प्रकार कहने पर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म द्रोण के सामने तथा सब राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके कहा कि हे पार्थ ! इकट्ठे हुए इन कौरवों को देखो ॥२४,२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥२६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥२७॥

इस पर अर्जुन ने उन दोनों सेनाओं में खड़े पितृव्यों, पितामहों, आचार्यों, मातुलों, भाइयों, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर तथा प्रियजनों को देखा॥२६,२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

उन खड़े हुए समस्त बन्धुओं को देखकर अर्जुन अत्यन्त दीनता से भरकर, दुःखी होकर यह बोले –

अर्जुन उवाच –

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोले –

हे कृष्ण ! अपने ही लोगों को युद्ध की इच्छा से उपस्थित देखकर मेरे अङ्ग दुःखी हो रहे हैं तथा मुख सूख रहा है और शरीर में कँपकँपी हो रही है तथा रोंगटे खड़े हो गये हैं॥२८,२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥३०॥

हाथ से गाण्डीव गिर रहा है और चमड़ी जल रही है। मेरा मन चकरा गया है और इसलिये मैं खड़ा नहीं हो पा रहा हूँ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे कृष्ण ! मैं देख रहा हूँ कि शकुन उल्टे हो रहे हैं। युद्ध में अपने ही लोगों को मारकर मैं अपना कल्याण नहीं समझता॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥३२॥

हे कृष्ण ! मैं जीत नहीं चाहता, न मुझे राज्य चाहिये, न सुख । हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या मिलने वाला है? अथवा भोगों और जीवन से भी कौन सा लाभ होने वाला है ? ॥३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

हम जिनके लिए राज्य और सुख भोग चाहते हैं। वे ही ये सब धन और प्राणों को छोड़ कर युद्ध में खड़े हैं॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥३४॥

आचार्य, पितृजन, पुत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले और सभी रिश्तेदार हैं॥३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं न महीकृते॥३५॥

हे कृष्ण ! मुझे आघात पहुँचाने पर भी पृथ्वी के लिये तो क्या, त्रिलोकी के राज्य के लिए भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता ॥३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे कृष्ण ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर हमें क्या सुख होगा ? अपितु इन अन्यायियों को मार कर तो हमें ही पाप लगेगा ॥३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिए हे कृष्ण ! हमारे लिये यह उचित नहीं कि अपने ही बन्धु, धृतराष्ट्र के पुत्रों, को मारें; क्योंकि स्वजनों को मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रदोहे च पातकम्॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

यद्यपि लोभ से आक्रान्त चित्तवाले ये तो कुल नाश से उत्पन्न दोष को और मित्र द्रोह के पाप को नहीं समझ पा रहे हैं। किन्तु हे कृष्ण ! हम तो कुल नाश से उत्पन्न होने वाले दोषों को जानते हैं, फिर हमें इस पाप से बचने की बात क्यों नहीं सोचनी चाहिये ? ॥३८,३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥

कुल का नाश होने पर कुल के परम्परागत धर्म भी उच्छिन्न हो जाते हैं। और धर्म के उच्छिन्न होने पर पाप पूरे कुल को दबा लेता है॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥४१॥

हे कृष्ण ! पाप के बढ़ने पर कुल स्त्रियाँ मार्गभ्रष्ट हो जाती हैं। हे कृष्ण! स्त्रियों के भ्रष्ट होने पर वर्णसंकर संतान उत्पन्न होती है ॥४१॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४२॥

वर्णसंकर सन्तान कुलघातियों और कुल को नरक में ले जाती है। जिन पितरों के पिण्डदान और जलतर्पण की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है वे अधोगति को प्राप्त होते हैं॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

वर्णसंकर से उत्पन्न इन दोषों के कारण, कुल को नष्ट करने वालों के परम्परागत कुलधर्म और जातिधर्म उच्छिन्न हो जाते हैं ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे कृष्ण ! हम सुनते हैं कि जिनके कुलधर्म उच्छिन्न हो जाते हैं वे अनिश्चित काल तक नरक में रहते हैं॥४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥४५॥

अरे ! हम लोग तो महान् पाप करने के लिये तैयार हो गये हैं; क्योंकि राज्य और सुख के लोभवश स्वजनों को मारने के लिये तैयार हैं ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥४६॥

शस्त्र छोड़कर किसी प्रकार का प्रतिकार न करने वाले मुझको यदि हाथ में शस्त्र लेकर धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार भी डालेंगे तो वह मेरे लिए ज्यादा ठीक होगा॥४६॥

सञ्जय उवाच –

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥४७॥

इस प्रकार कह कर युद्ध में शोक से उद्विग्न मन वाला अर्जुन अपने धनुष-बाण को छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

सञ्जय उवाच –

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

सञ्जय बोले –

इस प्रकार कातरतायुक्त आँसुओं से भरे व्याकुल दृष्टि वाले दुःखी होते हुए उस अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कहा कि ।।१।।

विपुल-भाष्य

गीता में वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा धर्म का वर्णन है – यह भूमिका में कहा जा चुका है। वैराग्य को बताने वाली विद्या राजर्षि विद्या कहलाती है। यही विद्या गीता का मुख्य विषय है। इस विद्या का उपदेश श्रीकृष्ण ने विवस्वान् को अपने पूर्व जन्म में दिया था। विवस्वान् ने यह ज्ञान मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया –

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।

इसी परम्परा के कारण इस विद्या को राजर्षि विद्या कहा जाता है – परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। जनक आदि राजाओं ने इस विद्या को अपनाया और इस कारण वे राजा होते हुए भी ऋषि माने गये। इसलिए उनका नाम राजर्षि हो गया। उन्हीं के कारण इसे राजर्षि विद्या कहा गया।

कर्म–संकुल जीवन और राजर्षि विद्या

राजा का जीवन कर्म–संकुल होता है। सामान्यतः इस प्रकार का जीवन व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। महाकवि कालिदास ने राजा के जीवन की व्याकुलता का वर्णन अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से किया है। अभिज्ञान–शाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त कहता है कि प्रतिष्ठा से केवल यह उत्सुकता ही शांत होती है कि प्रतिष्ठा कैसी होती है। प्रतिष्ठा मिलने पर सुख नहीं मिलता। वस्तुस्थिति यह है कि राजा का जीवन, प्राप्त राज्य की सुरक्षा की चिन्ता में ही बीत जाता है। उसे उतना सुख नहीं मिलता जितना खेद हो जाता है। जैसे छत्र को यदि अपने आप उठाना पड़े तो उसे उठाने का दुःख अधिक हो जाता है और उससे आराम कम मिलता है –

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्

ऐसे कर्म–संकुल जीवन में भी जो राजा वैराग्य के बल पर ऋषितुल्य रह सके उस राजा को ही राज़र्षि विद्या कहा गया है और गीता में उसी का मुख्यतः प्रतिपादन है।

अर्जुन भी राजवंशी है। कुरुक्षेत्र के युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व उसके सम्मुख दो प्रकार के सङ्कट उपस्थित हुए। प्रथम तो उसे अपने ही भाई–बन्धु और गुरुजनों को युद्ध में मारना है, दूसरे युद्ध में की जाने वाली इस हत्या का पाप

भी उसे लगेगा। भाई–बन्धुओं के पालन–पोषण के लिए तो गृहस्थ अनेकविध पाप करते हुए दिखाई देते हैं किन्तु यहाँ स्थिति यह है कि भाई–बन्धुओं के विनाश के लिए हत्या करनी होगी। इसलिए अर्जुन ने इसे महत्पाप कहा है –

अहो यत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता त्रयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।

"जो हम राज्य के सुख के लोभ में अपने ही लोगों को मारने के लिए उद्यत हो गए थे सो हम बहुत बड़ा पाप करने चले थे।" अर्जुन को लगा कि उसे समय रहते ही समझ आ गई है। उसने धनुष-बाण छोड़ दिया तथा वह रथ के पिछले भाग में शोक में डूबा हुआ बैठ गया –

एवमुक्त्वार्जुन संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरश्चापं शोकसंविग्नमानसः।।

अर्जुन की आँखों में आँसू झरने लगे। अर्जुन की यह दशा प्राकृतिक है। यदि ज्ञान न मिले तो संसारी प्राणी इसी प्रकार के शोक में डूबे हुए अपनी इहलीला समाप्त कर लेते हैं। प्रकृति का अर्थ है – सत्त्व, रजस्, तमस्। हमारा शरीर इन्हीं तीन गुणों से बना है। अतः शरीरधारी प्रत्येक प्राणी को इन तीन गुणों के परिणाम भोगने पड़ते हैं। इनमें रजोगुण चञ्चलता लाता है। यही दुःख का मुख्य कारण है। तमोगुण हमारे ज्ञान को ढक लेता है। इस प्रकार या तो हम अज्ञान में रहते हैं या मिथ्या ज्ञान में। तमोगुण हमें कर्म भी नहीं करने देता और हम आलस्य में डूबे रहते हैं अथवा यदि कर्म करते ही हैं तो रजोगुण के वशीभूत होकर विपरीत कर्म करते रहते हैं। अज्ञान हो अथवा मिथ्याज्ञान, आलस्य–प्रमाद हो अथवा विपरीत कर्म – ये सभी दुःख का कारण हैं। सुख तो केवल तब ही सम्भव होता है जब सत्त्वगुण के आधिक्य के कारण हमारा रजोगुण तथा तमोगुण अभिभूत हो जाता है और हम ज्ञानपूर्वक सत्कर्म करते हैं। यह स्थिति विरले ही मनुष्यों को प्राप्त होती है। अधिकतर मनुष्य तो रजोगुण तथा तमोगुण से ही अभिभूत रहते हैं। यही उनके दुःख का कारण है और इसी परिस्थिति का शिकार होकर मोहवश अर्जुन शास्त्रविहित कर्म छोड़ने को तैयार हो गया था। अर्जुन की इस प्रवृत्ति को श्रीकृष्ण ने अनार्यों का मार्ग बताया है। इस मार्ग पर फल स्वर्ग च्युत होकर अपयश का भागी होना है – अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन। अर्जुन की इस स्थिति को भगवान् ने हृदय की क्षुद्र दुर्बलता बताया – क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम्। अर्जुन ने भगवान् के कथन मात्र से युद्ध करना स्वीकार नहीं किया अपितु अपनी शङ्का का विस्तार करते हुए कहा कि गुरुजनों के रक्त से रंजित भोग करने की अपेक्षा भीख माँग कर खाना ठीक है। फिर युद्ध में जय–पराजय का भी ठिकाना नहीं है कि कौन जीते। अन्त में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से समाधान चाहा – शिष्यस्तेऽहं शाधिं मां त्वां प्रपन्नम्। अर्जुन दुःखी है किन्तु श्रीकृष्ण उसके अज्ञान पर मानो मुस्करा रहे हैं –

तमुवाच हर्षकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।

अर्जुन अपने भाई–बन्धु और गुरुजनों की मृत्यु की शङ्का से दुःखी है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि क्या वस्तुतः किसी की मृत्यु का यह अर्थ होता है कि वह समाप्त हो गया। मृत्यु तो एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करने की स्वाभाविक प्रक्रिया है। समाप्त तो आत्मा कभी होती नहीं। मृत्यु को छोड़कर आज जो सामने दीख रहा है – उसे देखें। एक व्यक्ति कुमार है। उसका शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है, वह युवा हो जाता है और फिर बूढ़ा हो जाता है। क्या शरीर की इस परिवर्तनशीलता पर कोई दुःखी होता है? अपितु बच्चे को जवान होता देखकर तो हम प्रसन्न होते हैं। फिर यदि आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण कर ले तो इसमें दुःखी होने की क्या बात है ? –

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्यति।।

दर्पण की निर्मलता

ऐसी स्थिति में अर्जुन को भाई–बन्धु तथा गुरुजनों के मरने का दुःख क्यों हो रहा है? वस्तुतः स्थिति यह है कि जो मरता नहीं वह परम आत्मा है, कर्म्म-आत्मा तो पैदा होता है तथा मरता भी है। अर्जुन की दृष्टि कर्म्म-आत्मा

पर है। कर्म्मात्मा कहें या भोगात्मा – एक बात है। भोग का अर्थ समझना होगा। भोग का अर्थ है, अन्य पदार्थ का अन्य पदार्थ में संक्रमित हो जाना। दर्पण में पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इससे दर्पण में कोई अन्तर नहीं आता। दर्पण में एक पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, फिर दूसरे पदार्थ का, फिर तीसरे पदार्थ का। दर्पण ज्यों का त्यों रहता है। यही दर्पण की निर्लेपम है, निर्विकारता है। आत्मा निर्दोष है। बुद्धि में जो विषय इन्द्रिय तथा मन से होते हुए भी आते हैं वे आत्मा में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, किन्तु इससे आत्मा का कुछ बनता व बिगड़ता नहीं है। आत्मा का यह निर्विकार रूप ही परम आत्मा अथवा परमात्मा कहलाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा के इस स्वरूप का विस्तृत वर्णन है। यह परमात्मा न पुण्य से बढ़ता है न पाप से घटता है –

स न साधुना कर्मणा भूयान्, नैवासौ कनीयान्।

यह परमात्मा तो परम–आनन्द में स्थित है। हम तो उस परम-आनन्द की एक छोटी–सी मात्रा को ही पाते हैं– **एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवानन्दस्य भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।**

यही परमात्मा जब शरीर धारण करता है तो शरीर से परिछिन्न होकर पाप–पुण्य का भागीदार बन जाता है– **साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति।** यह पाप–पुण्य का द्वंद्व ही दुःख–सुख का द्वंद्व उत्पन्न करता है। अर्जुन परमात्म रूप को भूलकर द्वंद्वात्मक भोक्तात्मा के रूप में आसक्त हो गए हैं और फलस्वरूप स्वयं भी द्वंद्व से घिर गया है। द्वंद्व का स्वरूप समझने योग्य है। मूल द्वंद्व सत् तथा असत् का है। आत्मा सत् है शरीर असत्। दोनों के मेल से जीवधारी बना है। प्रश्न है कि आत्मा का शरीर से संयोग ही क्यों हुआ। उत्तर है कि मन ही शरीर और आत्मा के संयोग का कारण है –

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्य कवयो मनीषा॥

शरीर और आत्मा का संयोग संसार है। क्योंकि, यह संयोग कामना से होता है अतः कामना ही संसार का मूल कारण है। सत्-असत् से दूसरा उत्पन्न होता है – ज्ञान तथा कर्म का द्वंद्व। जिस योनि में हम जाते हैं वह योनि पूर्वसञ्चित ज्ञान तथा कर्म के अनुसार होती है –

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

तीसरा द्वंद्व शुक्र एवं शोणित का है। पिता–माता के शुक्र शोणित से ही हमारा स्थूल शरीर बनता है। थोड़ा सूक्ष्म में जाएँ तो पता चलेगा कि कामना से उत्पन्न सत्–असत् के द्वंद्व का सम्बन्ध हमारे कारण शरीर से है, ज्ञान–कर्म के द्वंद्व का सम्बन्ध हमारे सूक्ष्म शरीर से है तथा शुक्र–शोणित के द्वंद्व का सम्बन्ध हमारे स्थूल शरीर से है। इन सबके मूल में कामना है। जो कामना का अतिक्रमण करता है वह सद्–असद्, ज्ञान–कर्म तथा शुक्र–शोणित के द्वंद्वों को पार कर लेता है। **येऽकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः॥** बस यही मोक्ष है। यहाँ सद्–असद् का मूल द्वंद्व नहीं रहता तो सुख–दुःख आदि तूल द्वंद्व भी समाप्त हो जाते हैं। इसके विपरीत जो कामना के वशीभूत है वो नाना सङ्कल्पों से अभिभूत होकर नाना कर्म करते हुए नाना प्रकार के शरीर धारण करते हैं – **काममय एवायं पुरुषः स यथाकामो भवति, तथा क्रतुर्भवतिः। यथाक्रतुर्भवति तत् कर्म्म कुरुते। यत्कर्म्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।** यही संसार है, यही सुख–दुःख, जय–पराजय, लाभ–हानि इत्यादिक समस्त द्वंद्व हैं।

इस विषय में श्रुति के इतने अधिक प्रमाण हैं कि सन्देह का कोई अवकाश ही नहीं है। योऽकामः, न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति। अत्रैव समवलीयन्ते। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। यही वह अमृत्व जिसका गुणगान शास्त्र रात-दिन किया करते हैं।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

यही पाप से ऊपर उठने का उपाय है – सर्व पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति। इस पर कर्मत्याग का पक्षधर यह तर्क देता है कि हम भी यही कहते हैं कि कामना के बिना कर्म होता नहीं है, अतः कामना के छोड़ने का अर्थ है, कर्म का छोड़ना। यहीं गीता की विशेषता समझनी होगी। श्रीकृष्ण कामना छोड़ने को तो कहते हैं, किन्तु कर्म छोड़ने को मना करते हैं। इसका रहस्य भी समझ लें।

आत्मा कहें या पुरुष – एक ही बात है। गीता में ही त्रिविध पुरुष बताए गए हैं – अव्यय, अक्षर और क्षर। अव्यय ज्ञान-प्रधान है, अक्षर क्रिया-प्रधान तथा क्षर अर्थ-प्रधान। अव्यय परमात्मा है, अक्षर जीवात्मा और क्षर प्रकृति। जीवात्मा क्रिया-प्रधान है, अतः कर्म उसे अवश्य करने हैं। यदि उसके ये कर्म परमात्मा की ओर झुके रहते हैं तो ये कर्म दुःख का कारण नहीं बनते हैं किन्तु यदि ये कर्म प्रकृति की ओर झुके रहते हैं तो बन्धन का कारण बन जाते हैं। परमात्मानुरागी बनकर काम करना ही ज्ञानयोग है, यही कर्मयोग है और यही भक्तियोग है। इसलिए इन तीनों योगों में कोई विरोध नहीं है। यह बात समझ लेने पर गीता की विविध प्रकार की व्याख्याओं में समन्वय करना सम्भव है। अन्यथा साधक व्याख्याओं के मतभेदों में उलझ कर गीता का मूल आशय नहीं समझ पाएगा। ईश्वर विश्व का सञ्चालन करता है किन्तु इसमें उसका कोई स्वार्थ नहीं है। ईश्वर का अनुकरण करते हुए जीव भी बिना किसी कामना के स्वधर्म समझ कर कर्म कर सकता है। इस प्रकार वह निर्द्वन्द्व रह सकता है। क्षत्रिय आततायी के दमन के लिए शस्त्र धारण करता है। इसमें उसका कोई स्वार्थ नहीं है। अतः अर्जुन को शास्त्रोक्त धर्म के निबाहने में आशङ्का नहीं करनी चाहिए। अपितु उस धर्म के छोड़ देने पर वह अवश्य पाप का भागी होगा। पूरी गीता में इसी उपदेश का विस्तार किया गया है।

गीता की प्रासङ्गिकता

गीता के इस उपदेश की आज भी उतनी प्रासङ्गिकता है जितनी पहले थी। आज का जीवन संघर्षमय हो गया है। यह संघर्ष तनाव पैदा करता है। हमारे सामने यह तो विकल्प है कि हम तनाव से बचने के लिए संघर्ष से ही पलायन कर जाएँ अथवा उस संघर्ष में रहकर तनाव की पीड़ा को भोगते रहें। श्रीकृष्ण ने एक तीसरा विकल्प सुझाया है। वे कहते हैं कि तनाव कर्म्म से उत्पन्न नहीं होता अपितु राग-द्वेष से अथवा कामना से उत्पन्न होता है। हम कामना को छोड़कर कर्म्म करें। कामना न होगी तो बन्धन नहीं होगा और कर्म्म करेंगे तो हमारी अपनी लोकयात्रा तो सुखपूर्वक होगी ही, लोक-कल्याण भी होगा। इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ दोनों सिद्ध होंगे। कर्म्म छोड़ने पर दोनों की ही हानि होगी। यदि हम राग-द्वेषपूर्वक ही कर्म्म करते रहे तो कर्म्म हमारे लिए पीड़ाकारक बने रहेंगे और साथ ही हम लोकसंग्रह के स्थान पर राग-द्वेषवश अपने शत्रु उत्पन्न कर लेंगे। इस प्रकार गीता ने एक व्यावहारिक समस्या का एक व्यावहारिक समाधान सुझा कर मनुष्य-मात्र के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

मूल तथा अनुवाद

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्री भगवान् बोले –

हे अर्जुन ! तुम्हें इस असमय में यह मोह–पंक जो कि अनार्यों द्वारा सेवित है, स्वर्ग देने योग्य नहीं है और अपयश फैलाने वाला है, कहाँ से प्राप्त हुआ है ?॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥३॥

हे अर्जुन ! नपुंसक मत बनो। तुम्हारे लिये यह उचित नहीं। हे परन्तप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ ॥३॥

अर्जुन उवाच –

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥४॥

अर्जुन बोले –

हे कृष्ण ! मैं भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध रणभूमि में किस प्रकार लड़ूँगा ? हे अरिसूदन! ये दोनों पूजनीय हैं ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥५॥

गुरु महोदयों को न मारकर इस संसार में भिक्षा का अन्न खा लेना भी श्रेयस्कर है। क्योंकि गुरु को मारकर तो संसार में रक्त से सने हुए अर्थ और काम रूपी भोगों को ही मैं भोगूँगा ॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो–
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम–
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६॥

और हमें यह भी नहीं मालूम कि हम दोनों के पक्षों में से किसका पक्ष श्रेष्ठ है तथा उन्हें हम जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे। हम जिन्हें मार कर जीना ही नहीं चाहते, धृतराष्ट्र के ये ही पुत्र हमारे सामने लड़ने के लिये खड़े हैं ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥७॥

मेरा स्वभाव इस समय कायरता के दोष से आक्रान्त है और कर्त्तव्य के विषय में मुझे कुछ सूझ नहीं पा रहा। मुझे बतायें कि मेरे लिये निश्चित रूप से कल्याणकारी क्या है ? मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरण में आये हुए मुझे अनुशासित करें ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं-
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥८॥

चाहे मैं भूमि का समृद्ध निष्कंटक राज्य और देवताओं का आधिपत्य ही क्यों न प्राप्त कर लूँ, किन्तु मैं उस उपाय को नहीं देख पा रहा हूँ, जो मेरी इन्द्रियों के सुखा देने वाले शोक को दूर कर सके ॥८॥

सञ्जय उवाच –

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

सञ्जय बोले – हे राजन्! गुडाकेश (नींद को जीतने वाले) अर्जुन हृषिकेश (अन्तर्यामी) श्रीकृष्ण को ऐसा कह कर तथा "मैं युद्ध नहीं करूँगा" ऐसा कह कर मौन हो गये ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

हे धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के बीच में शोकमग्न उस अर्जुन को श्रीकृष्ण मानो हँसते हुए से यह बोले – ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच –

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

श्रीभगवान् बोले –

हे अर्जुन! तू उनके लिये शोक कर रहा है जो शोक करने योग्य नहीं हैं और पंडितों की सी बात कर रहा है। विद्वान् लोग मृत अथवा जीवित किसी के लिए भी शोक नहीं किया करते ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

न तो ऐसा है कि किसी काल में मैं नहीं था अथवा तू नहीं था अथवा ये राजा नहीं थे और न ऐसा है कि भविष्य में हम नहीं रहेंगे। हम सब इससे परे हैं ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

जैसे शरीरधारी जीवात्मा के लिए इस शरीर में बचपन, जवानी और बुढ़ापा आता है वैसे ही दूसरे शरीर की प्राप्ति हो जाती है अतः इस विषय में समझदार लोग परेशान नहीं होते ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

हे कुन्तीपुत्र। सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख देने वाले विषयों के साथ इन्द्रियों के संयोग आते हैं और जाते हैं और अनित्य हैं। तू उन्हें सहन कर ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥

हे पुरुष श्रेष्ठ! इन्द्रियों के और विषयों के यह संयोग जिस धीर पुरुष को व्याकुल नहीं करते; सुख दुःख को समान समझने वाला वह अमृतत्व को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। ॥१५॥

विपुल-भाष्य

दृष्टि परमात्मा पर, व्यवहार जगत् में

दुःख दूर करने की समस्या भारतीय दर्शन की मुख्य समस्या है। गीता में इस समस्या का अचूक समाधान प्रस्तुत किया गया है । इसीलिए यह भी कह दिया गया है कि गीता को ही ठीक से समझ लेना चाहिए, दूसरे शास्त्रों के विस्तार में जाने का श्रम करना व्यर्थ है – गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। अन्य शास्त्रों के रसिक इस कथन को अर्थवाद मात्र मानेंगे, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि गीता में श्रीकृष्ण ने जितने उत्तम ढंग से तापत्रय की शान्ति का उपाय बताया है वैसा किसी अन्य शास्त्र में नहीं। प्रथम उपदेश तो गीता ने कामना को छोड़ने का दिया था जिसका विवेचन हम कर चुके हैं। किन्तु श्रीकृष्ण जानते हैं कि कह देने मात्र से कामनाएँ नहीं छूट जाया करतीं। अतः वे दुःख से मुक्ति पाने का उपाय प्रकारान्तर से फिर बताते हैं।

पाँच इन्द्रियों के पञ्चभूत

चौदहवें श्लोक का अर्थ स्पष्ट है किन्तु मात्रा का स्पर्श क्या है – यह थोड़ा विस्तार से समझना होगा। माया शब्द से हम परिचित हैं। माया का अभिप्राय है – असीम को सीमित कर देने वाली शक्ति। परमात्मा में यदि यह शक्ति न होती तो असीम ब्रह्म से ससीम संसार बन ही नहीं सकता था। मायाशक्ति से असीम जब ससीम हो जाता है तो उसे ही मात्रा कहा जाता है। मात्रा का अर्थ है – सीमित। मात्रा को हम भूत कहते हैं। शास्त्र जिसे मात्रा कहता है अंग्रेजी भाषा में वही मैटर है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से त् को ट् उच्चारण करने पर मात्रा = मैटर हो जाएगा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पञ्चभूत प्रसिद्ध हैं। वैशेषिक दर्शन इन पञ्चभूतों के स्वरूप को विस्तार से बताता है। पृथ्वी का विशेष गुण गन्ध है और गन्ध का ग्रहण हम घ्राणेन्द्रिय से करते हैं। इसी प्रकार जल के विशेष गुण रस का ग्रहण जिह्वा से, तेज के विशेष गुण रूप का ग्रहण चक्षु से, वायु के विशेष गुण स्पर्श का ग्रहण त्वचा से तथा आकाश के विशेष गुण शब्द का ग्रहण श्रोत्र से होता है। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के विषय पाँचभूतों के पाँच गुण बनते हैं।

इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले इस ज्ञान की त्रिपुटी है – ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता। विषय ज्ञेय है, इन्द्रियाँ ज्ञान कराने वाली हैं तथा आत्मा ज्ञाता है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाला यह ज्ञान यदि हमारे अनुकूल हो तो हम इसे सुख कहते हैं और यदि यह ज्ञान प्रतिकूल हो तो हम इसे दुःख कहते हैं। स्पष्ट है कि यह सुख–दुःख मात्रा के स्पर्श अर्थात् भौतिक विषयों के संयोग से उत्पन्न होता है।

यहाँ समझने योग्य यह है कि भौतिक विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाली यह अनुकूलता–प्रतिकूलता अथवा सुख–दुःख कहाँ रहते हैं? मिठाई खाने का उदाहरण लें। मिठाई की मधुरता कहाँ रहती है? मधुरता न मिठाई में है, न जिह्वा में, न आत्मा में, किन्तु इन तीनों के संयोग से मधुरता उत्पन्न होती है जो हमें अनुकूल लगने के कारण सुख देती है। किन्तु सभी रस सबको अनुकूल लगें, ऐसा नहीं है। जिन्हें मिर्च खाने की आदत है उन्हें मिर्च के बिना दाल–सब्जी बिल्कुल अनुकूल नहीं लगती किन्तु जिन्हें मिर्च खाने की आदत नहीं है उन्हें मिर्च वाली दाल-सब्जी खाते ही आँखों से पानी आने लगता है। एक के लिए मिर्च सुखदायी है दूसरे के लिए दुःखदायी अर्थात् सुख–दुःख साथ हैं, निरपेक्ष नहीं। सापेक्ष को हम भातिसिद्ध कहते हैं निरपेक्ष को सत्तासिद्ध। सापेक्ष पदार्थ भातिसिद्ध इसलिए कहलाते हैं कि वे कभी होते हैं, कभी नहीं किन्तु सत्तासिद्ध पदार्थ सदा रहते हैं। सुख–दुःख भातिसिद्ध होने के कारण अनित्य हैं किन्तु हम अज्ञानवश उन्हें सत्तासिद्ध अर्थात् नित्य मान लेते हैं। कोई दुःख अथवा सुख सदा रह ही नहीं सकता क्योंकि वह भातिसिद्ध होने के कारण अनित्य ही है। ऐसी समझ आ जाए तो व्यक्ति स्वतः ही दुःख में विचलित नहीं होगा; क्योंकि उसे मालूम है कि यह दुःख सदा रहने वाला नहीं है – थोड़े काल के बाद चला जाने वाला है। वह सुख में अहङ्कार से मत्त भी नहीं होगा क्योंकि वह जानता है कि सुख भी क्षणिक है। जो दुःख में विचलित नहीं होता तथा सुख में गर्व से मदमत्त नहीं होता वही अपने कर्त्तव्य का ठीक से पालन कर पाता है। जो दुःख में विचलित हो जाते हैं वे अपना 'गम गलत' करने के लिए नाना प्रकार के मादक द्रव्यों का सेवन करने लगते हैं और अपने धन,

स्वास्थ्य तथा बुद्धि, तीनों का विनाश कर लेते हैं। प्रभुता के मद से मत्त व्यक्तियों के आचरण की असमीचीनता भी हमारे अनुभव में आती ही रहती है। इस प्रकार अज्ञानी को दुःख और सुख दोनों ही अपने कर्त्तव्य से च्युत कर देते हैं।

ज्ञान द्वारा दुःख–सुख में सम रहने की कला सीखे बिना कोई व्यक्ति कभी भी कृत–कृत्य हो ही नहीं सकता। अतः इस विषय पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है। प्रथम एक उदाहरण लें। सूर्य पानी की बाल्टी में प्रतिबिम्बित हो रहा है। पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब इसलिए हिल रहा है कि हवा पानी को हिला रही है। अब यहाँ कुछ बिन्दुओं पर विचार करना है –

(१) क्या पानी और सूर्य के प्रतिबिम्ब का वस्तुतः कोई सम्बन्ध है ?

(२) यदि पानी न हिले तो क्या वायु सूर्य के प्रतिबिम्ब को हिला सकती है?

(३) प्रतिबिम्ब के हिलने से क्या सूर्य भी हिलता है ?

विस्तार में न जाकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि उपर्युक्त तीनों ही प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है। पानी और प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध वास्तविक न होकर केवल प्रातिभासिक है। पानी के हिलने से ही प्रतिबिम्ब हिलता है, अन्यथा नहीं। प्रतिबिम्ब कितना भी हिले, सूर्य में कोई प्रकम्पन नहीं होता। अब इसी उदाहरण को सुख–दुःख की प्रक्रिया पर घटा कर देखें। आत्मा सूर्य है, शरीर बाल्टी है, मन पानी है, विषय वायु है। विषयों की वायु से मन रूपी जल हिलता है। मन का यह प्रकम्पन ही कभी हमें अनुकूल लगता है तो हम मान लेते हैं कि हम सुखी हैं। अब यहाँ भी उपर्युक्त उदाहरण के समान ही कुछ प्रश्नों पर विचार करें –

(१) क्या आत्मा का वस्तुतः मन से कोई सम्बन्ध है ?

(२) यदि मन प्रकम्पित न हो तो क्या विषय सुख-दुःख पैदा कर सकते हैं ?

(३) क्या मन के प्रकम्पित होने से आत्मा भी प्रकम्पित होता है ?

उपर्युक्त उदाहरण के तीनों प्रश्नों के समान इन तीनों प्रश्नों के उत्तर भी नकारात्मक हैं। आत्मा का मन से कोई सम्बन्ध नहीं, वह सम्बन्ध केवल प्रातिभासिक है, वास्तविक नहीं। जिसका मन स्थिर है, विषय उसमें स्थिर है, विषय उसमें सुख–दुःख उत्पन्न नहीं कर सकते। मन यदि प्रकम्पित हो भी तो आत्मा अकम्प, असङ्ग ही रहता है, सूर्यवत्। ऐसे समझ लेने पर तीन फलित होते हैं –

(१) आत्मा अर्थात् मैं प्रत्येक स्थिति में सुख–दुःख से अस्पृष्ट हूँ।

(२) मन को स्थिर रखने पर विषय उसे विचलित नहीं कर सकते।

(३) आत्मा की असङ्गता को समझ कर सुख–दुःख में विचलित होने की आवश्यकता नहीं।

विषय-चिन्तन और आत्म-चिन्तन

प्रश्न होता है कि उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर ये निर्णय कैसे लिए जा सकते हैं ? क्या मन वस्तुतः जल है अथवा आत्मा सूर्य है ? उत्तर यह है कि वस्तुस्थिति ऐसी है कि वह दृष्टान्त दार्ष्टान्त में यथार्थतः घटित होता है। मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है और चन्द्रमा का सोम से तथा सोम का जल से। यह सम्बन्ध वैदिक विज्ञान के अनुसार है। **चन्द्रमा मनसो जातः** इत्यादि श्रुति प्रमाण है। आत्मा ज्ञानरूप होने से सूर्य है । श्रुति प्रमाण भी बिल्कुल स्पष्ट है – **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**। अतः उपर्युक्त उदाहरण मनगढ़न्त नहीं है, प्रत्युत विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर बनता है। चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित है। उसमें स्वयं का प्रकाश नहीं है – यह बात भौतिक विज्ञान से भी सिद्ध है। इसी प्रकार मन आत्मा की चेतना से ही चेतनवत् बना है, उसमें स्वयं ही चेंतना नहीं है । यही आत्मा का मन पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब है।

विषयों के द्वारा ही मन चलायमान होता है यह सर्वानुभूत विषय है। सरल–सा सूत्र यह है कि मन को आत्मा में लगा दें तो सुख–दुःख का अस्तित्व ही नहीं है। सुख–दुःख का अस्तित्व तब ही है जब मन को विषयों में लगाएँ।

विषय–चिन्तन न करें, आत्म–चिन्तन करें। रूपक की भाषा में मन रूपी जल को विषय रूपी वायु से डाँवाडोल न होने देकर आत्म रूपी ज्ञान–सूर्य पर स्थिर कर दें तो पता चलेगा कि ज्ञान तो विषयों को जानता मात्र है, उनसे प्रभावित नहीं होता। इसे ही दार्शनिक ज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी आदि नामों से पुकारते हैं।

यह सारा विषय समझ लेने पर भी मनुष्य शोक से मुक्त नहीं हो पाता। एतदर्थ श्रीकृष्ण ने तीन प्रकार के अधिकारियों के लिए तीन उपांय बताए हैं। उत्तम अधिकारी तो परमात्म-दृष्टि रखते हुए शोक का अनुभव ही नहीं करता। मध्यम अधिकारी को अव्यय आत्मा और मन में विवेक करते हुए स्वयं को दुःख–सुख से ऊपर समझना चाहिए, जो इस प्रकार का विवेक भी न कर सकें उन्हें सुख–दुःख को अनित्य समझ कर धैर्य से काम लेते हुए सहिष्णु बनना चाहिए।

कर्म की आवश्यकता

यहाँ एक प्रश्न महत्वपूर्ण है कि यह सब तो ज्ञान की बात हुई। जब सुख–दुःख होते ही नहीं तो फिर सुख प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ अथवा कर्म की क्या आवश्यकता है? फिर तो निष्काम कर्मयोग फलित न होकर कर्मत्याग रूप संन्यास ही फलित हो गया। फिर अर्जुन को भी युद्ध करने की आवश्यकता नहीं रही। किन्तु गीता का सन्देश तो स्पष्ट है कि युद्ध करो – **युद्धस्व**। समाधान यह है कि अव्यय पुरुष पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए व्यक्ति सुख–दुःख से विचलित न हो, किन्तु अपना कर्त्तव्य कर्म न छोड़े। कर्त्तव्य का पालन करने से दुःखों का प्रतिकार होता है – यह तो स्पष्ट ही है। भूख दुःख है, उसके प्रतिकार के लिए वर्ण व्यवस्थानुसार व्यवसाय करते हुए न्यायतः धनोपार्जन तो करना ही चाहिए। ऐसा दर्शन तो बिल्कुल ही बेकार है जो सबको निठल्ला बैठने का आदेश दे दे। सोचना चाहिए कि यदि किसान खेती करना छोड़ दे और गृहिणी भोजन बनाना छोड़ दे तो संन्यासी को भी भिक्षा कहाँ से मिल पाएगी ? ऐसी स्थिति तो सामूहिक आत्महत्या का स्वरूप ले लेगी। दुःख का प्रतिकार जहाँ तक उपलब्ध हो वहाँ तक करना ही चाहिए – **अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम्**। जहाँ प्रतिकार उपलब्ध न हो, उसकी चिन्ता न करें – **यस्मिन्न शक्यते कर्त्तुम् यत्नस्तं नानुचिन्तयेत्**। हाँ, दुःख से भयभीत न हों और सुख के प्रति आसक्ति न रखें – यह ज्ञान का फल है। यही सुख–दुःख में सम रहने की स्थिति है, किन्तु यह अकर्मण्यता की स्थिति नहीं है। इस स्थिति में कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते अपितु कर्म करते हुए ही साधक अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है –

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

गीता के इस दर्शन की एक विशेषता यह है कि इसमें कोई कर्म छोटा नहीं माना जा रहा। अर्जुन प्रज्ञावादी बनकर – आज की भाषा में कहें तो दार्शनिकाभासी बनकर – भिक्षाचर्य्या से अपना जीवन चलाना चाहता है। किन्तु वह प्रकृति से एक सिपाही है – पुरानी भाषा में क्षत्रिय है। आज एक सिपाही यदि अपने काम को छोटा समझ कर अथवा युद्धकार्य को हिंसापूर्ण पाप मान कर शस्त्र छोड़ दे और भिक्षा के लिए कमण्डलु हाथ में लेकर भिक्षा माँगने निकल पड़े तो सहज ही कल्पना की जा सकती है कि राष्ट्र और समाज की क्या स्थिति बन जाएगी।

गीता का सन्देश यह है कि सिपाही रणभूमि में, किसान खेत में, गृहिणी रसोईघर में, व्यापारी दुकान में, सफाई कर्मचारी सड़क पर – सभी अपना–अपना कार्य तत्परता से करते हुए परमात्म-दृष्टि रखें, विषयभोग की दृष्टि नहीं, तो वे जीवन के परम लक्ष्य को भी प्राप्त हो सकते हैं और सामाजिक अभ्युदय भी हो सकता है। किसी भी कार्य को छोटा समझना अज्ञान है। गीता की स्पष्ट घोषणा है कि स्त्री, शूद्र, वैश्य यहाँ तक कि पाप योनि भी जीवन का उद्देश्य सिद्ध कर सकते हैं। इस विषय में सबका समान अधिकार है। यही वर्ण व्यवस्था की विशेषता है – ब्राह्मण को अपना कर्म करते हुए जो फल प्राप्त होता है वही फल शूद्र को भी अपना कर्म करने से प्राप्त हो जाता है; जो फल संन्यासी को संन्यास धर्म के पालन से मिलता है, गृहस्थ को गृहस्थ धर्म के पालन से वही फल मिलता है। कोई कर्म छोटा या बड़ा नहीं है। यदि कोई छोटा है तो वह अपने अज्ञान के कारण छोटा है और यदि कोई बड़ा है तो वह अपने

ज्ञान के कारण बड़ा है। वर्णव्यवस्था ने जब जातिप्रथा का रूप ले लिया तो ऊँच–नीच की विषमता पैदा हो गई। इस विषमता का विरोध होना चाहिए, न कि वर्णव्यवस्था के अनुसार स्वकर्त्तव्य पालन का। अर्जुन अपना वर्ण धर्म छोड़ना चाहता था, क्योंकि उसे इसमें दोष दिखाई दे रहे थे। श्रीकृष्ण ने उसे ऐसा करने से रोका।

मूल तथा अनुवाद

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो है नहीं उसकी सत्ता नहीं होती और सत्ता का अभाव नहीं होता। तत्त्वदर्शियों ने इन दोनों के ही तत्त्व को इस रूप में जाना है ॥१६॥

विपुल-भाष्य

सत् और असत् में विवेक करें

प्रसङ्ग चल रहा है अर्जुन के शोक का, भगवान् श्रीकृष्ण को उसे शोक मुक्त करना है। हमारा भूतात्मा अथवा शरीर प्रकृति से बना है। प्रकृति में सर्दी–गर्मी आदि का द्वंद्व सदा बना रहने वाला है। उस सर्दी–गर्मी से प्रभावित होकर हमारे शरीर को भी सुख–दुःख से छुटकारा मिलने वाला नहीं। अनेक व्यक्ति "आज तो बहुत सर्दी है", "आज तो बहुत गर्मी है" कहते हुए दुःख का शिकार बने रहते हैं। क्या उनके इस दुःख से कभी सर्दी–गर्मी का होना बन्द हो सकता है? अतः दुःख तो सदा ही बना रहेगा। बात सर्दी–गर्मी तक ही सीमित नहीं है। बुढ़ापा भी आएगा तो उसका रोना चालू हो जाएगा कि "अब तो शरीर काम नहीं करता, भगवान् उठा ले तो अच्छा है।" किन्तु ऐसा कहने पर भी उठाता तो भगवान् तब ही है जब वह चाहता है। अतः बुढ़ापे का दुःख सहन करना ही पड़ता है। जवानी में भी बीमार पड़ जाते हैं तो पीड़ा असह्य हो जाती है। मान लें रोग भी न आने दें, मौत तो आएगी ही। मौत से बचा सके – ऐसी औषधि तो अभी बनी ही नहीं और बन जाए यह अभीष्ट भी नहीं है। मौत को रोक दिया जाए तो जन्म को भी रोकना पड़ेगा। यदि जन्म होता रहे और मौत न हो तो जनसंख्या की वृद्धि से सौ वर्ष में ही संसार नरक बन जाएगा। यदि जन्म और मृत्यु दोनों को रोक दिया जाए तो अनन्त काल तक सड़क पर लाखों साल की उमर वाले एक जैसे ही व्यक्तियों को देख–देख कर आँखें दुखने लगेंगी। अगत्या मृत्यु को स्वीकार करना ही पड़ेगा। मृत्यु न अपनी अच्छी लगती है, न अपनों की। फिर भी, जन्म–मरण का द्वंद्व भी बना ही रहने देगा होगा। निष्कर्ष यह है कि द्वंद्व रहेंगे और उनके कारण दुःख भी बना रहेगा।

तो फिर क्या दुःख को सहन करते रहने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है? आपाततः ऐसा ही प्रतीत होता है। अधिक से अधिक हम करते यह हैं कि द्वंद्व से कम से कम प्रभावित होने के उपाय खोजते हैं। सर्दी–गर्मी से बचने के लिए वातानुकूलन का उपाय है, रोग से बचने के लिए औषधि है – इत्यादि। हाँ, मृत्यु से बचने का उपाय फिर भी नहीं – जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः। सर्दी–गर्मी से अथवा रोगों से बचने के जो उपाय विज्ञान ने हमें दिए हैं वे भी निरापद नहीं हैं। वातानुकूलन से जोड़ों में दर्द होने लगता है, दमा हो जाता है। औषधि तरह–तरह की प्रतिक्रिया कर देती है। औषधि से रोग दूर हो ही जाए – यह भी आवश्यक नहीं। यदि रोग एक बार ठीक हो भी जाए तो दुबारा न हो, इसकी कोई गारंटी नहीं।

अर्जुन का शोक तो अविचिकित्स्य है। उसे युद्ध में अपने ही भाई–बन्धुओं को मारना है – यही उसके शोक का कारण है। जिस पिता का जवान पुत्र अपनी आँखों के सामने मर जाए – उसके दुःख को दूर करने का उपाय विज्ञान के पास नहीं है। वस्तुतः संसार में दुःख इतने विविध प्रकार के हैं कि कोई व्यक्ति ऐसा उपाय नहीं कर सकता कि उसे कभी किसी प्रकार का दुःख हो ही नहीं। जहाँ दुःख है वहाँ सुख भी है। भूख दुःख है तो भोजन की प्राप्ति

सुख भी है। मृत्यु दुःख है तो पुत्र की प्राप्ति सुख भी है। अभिप्राय यह है कि सुख और दुःख का जोड़ा है। यह जोड़ा ही द्वंद्व कहलाता है। जब तक द्वंद्व है तब तक दुःख है। द्वंद्व प्रकृति का स्वभाव है। अतः उसे मिटाया नहीं जा सकता। अतः दुःख भी सदा बना रहेगा।

सत् और असत्

किन्तु सत्य यह है कि दुःख को मिटाया जा सकता है, यदि हम दुःख की प्रकृति को ठीक से समझ लें। दुःख की प्रकृति को ठीक से समझ लेना ही ज्ञान है। ऊपर जिन द्वंद्वों की चर्चा हमने की है वे द्वंद्व तूल हैं, मूल नहीं। अर्थात् जन्म–मरण आदि के द्वंद्व तो कार्य है, कारण कुछ और ही है। कारण है – सत् और असत् का द्वंद्व। सत् कभी असत् नहीं हो सकता और असत् कभी सत् नहीं हो सकता। इस बात को जिसने समझ लिया, वही तत्त्वदर्शी है, वही दुःख के पार जा सकता है –

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

असत् तथा सत् का सरल शब्दों में अर्थ है कि जो परिवर्तनशील है वह असत् है, जो अपरिवर्तनशील है वह सत् है। इस लक्षण में से यह बात निकलती है कि ब्रह्म अथवा आत्मा सत् है क्योंकि वह परिवर्तित नहीं होता तथा जगत् अथवा शरीर असत् है क्योंकि वह बदलता है। यह अर्थ गलत नहीं है किन्तु गलत यह है कि कुछ समय से परम्परा ने असत् का अर्थ मिथ्या मान लिया है। असत् का अर्थ तर्क की दृष्टि से भी और शास्त्र की दृष्टि से भी मिथ्या नहीं है। श्रुति तो असत् का अर्थ ऋषि करती है और ऋषि का अर्थ प्राण करती है – **तदाहुः किं तदसदासीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषयः। प्राणा वा ऋषयः।** यदि असत् का अर्थ मिथ्या मान लें तो ऋषि तथा प्राणों को भी मिथ्या मानना होगा। श्रुति यह भी कहती है कि प्राण देव है – **प्राणा वै देवाः।** यदि प्राण मिथ्या है तो सब देव भी मिथ्या हुए। मिथ्यावादी देवों को भी मिथ्या कह देते हैं। किन्तु जब उनके सम्मुख वह श्रुति उपस्थित की जाती है जो नाम तथा रूप को सत्य बताती है – **नामरूपे सत्यम्** – तो वे वस्तुतः असमञ्जस में पड़ जाते हैं। प्रसिद्ध है कि श्रुति को प्रमाण मान कर षड् दर्शन विकसित हुए। उनमें से एक वेदान्त है। वेदान्त की भी एक शाखा शाङ्कर वेदान्त है। जगत् को मिथ्या केवल शाङ्कर वेदान्त ही मानते हैं; शेष वल्लभ, रामानुज, निम्बार्क आदि वेदान्तियों के अनुसार भी जगत् मिथ्या नहीं है। वेदान्त के अतिरिक्त शेष पाँच – न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा मीमांसा – जगत् को सत्य ही मानते हैं। अतः श्रुति के व्याख्याकारों में ९५% तो जगत् को सत्य ही मानते हैं, किन्तु ५% जगत् को मिथ्या कहते हैं फिर भी किन्हीं कारणों से इन ५% का मत ही सामान्य जनता में प्रसिद्धि पा गया। इस मत का विवरण भी थोड़ा–सा दे देना आवश्यक है ताकि सत् और असत् का स्वरूप स्पष्ट हो सके।

निर्विकार और सविकार

भगवत्पाद शङ्कराचार्य के सम्मुख समस्या यह थी कि आत्मा एक तथा निर्विकार है; जगत् नाना तथा सविकार है। श्रुति की घोषणा है कि आत्मा से ही आकाशादि क्रम से जगत् उत्पन्न हुआ – **आत्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः** इत्यादि। अब यदि निर्विकार आत्मा से जगत् उत्पन्न हुआ है तो उसे भी निर्विकारी ही होना चाहिए था, किन्तु है वह सविकार। अतः तर्क का तकाजा है कि हम जगत् को अनुत्पन्न ही मानें और जो जगत् हमें दिखाई दे रहा है उसे दृष्टि का भ्रम अर्थात् मिथ्या मानें। आत्मा की निर्विकारता तो श्रुति में पद–पद पर प्रतिपादित है – **अज आत्मा महान्ध्रुवः, अनुच्छित्तिधर्म्मा वा अयमात्मा** – इत्यादि।

दूसरी ओर आत्मा ही जगत् रूप में परिणत होता है – यह बात भी श्रुति बारम्बार कहती है – **पुरुष एवेदं सर्वम्, ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः तस्मादन्यन् न परं किञ्चनास्ति** – अब यदि निर्विकार आत्मा ही जगत् बना तो जगत् में विकार कैसे हो गया ? यही वह प्रश्न है जिसके समाधान में भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने जगत् को मिथ्या अथवा दृष्टि का भ्रम घोषित कर दिया।

दृष्टि का भ्रम होने पर हमें मिथ्या पदार्थ भी दिखाई देते हैं, यथा रज्जु में सर्प अथवा शुक्तिका में रजत् अथवा स्वप्न में हाथी। कहा जाता है कि इसी प्रकार दृष्टि भ्रम के कारण हमें ब्रह्म में जगत् दिखाई दे रहा है। इन उदाहरणों में एक अपूर्णता है – सर्प, रजत् अथवा हाथी यद्यपि रज्जु, शुक्तिका अथवा स्वप्न वाले स्थल पर नहीं है तथापि अन्यत्र बाँबी, चाँदी की खान तथा वन में तो है; वहाँ उनका भ्रम नहीं हो रहा, अपितु वे वस्तुतः हैं। अब यदि ब्रह्म में जगत् का भ्रम हो रहा है तो दृष्टान्तानुसार जगत् भले ही ब्रह्म में न हो किन्तु उसे कहीं पर तो वस्तुतः भी होना चाहिए। जो पदार्थ अदृष्टपूर्व तथा अश्रुतपूर्व है उसका भ्रम भी नहीं हुआ करता; ऐसा पदार्थ हमें स्वप्न में भी कभी नहीं दिखता जो है ही नहीं और जिसे न हमने कभी देखा हो न कभी सुना हो। जगत् कहीं भी नहीं है तो हमें ब्रह्म में भी उसका भ्रम कैसे हो सकता है? इसका समाधान शाङ्करवेदान्त में नहीं है। जगत् को मिथ्या न मानने वाले नैयायिक आदि शताब्दियों से यही दुविधा शाङ्कर वेदान्तियों के सम्मुख रखते रहे हैं।

दूसरी ओर शाङ्कर वेदान्ती जगत् को सत्य मानने वालों के सामने यह प्रश्न रखते रहे हैं कि यदि कारण के गुण ही कार्य में आते हैं तो जगत् के कारणभूत आत्मा अथवा ब्रह्म की निर्विकारता जगत् में क्यों नहीं आई ? उसमें विकार कहाँ से आ गया?

प्रश्न का समाधान हमें श्रुति में ही खोजना होगा। श्रुति की स्पष्ट घोषणा है कि मृत्यु में अमृत तथा अमृत में मृत्यु अन्तर्निहित है – **अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।** मृत्यु विकार का उपलक्षण है, अमृत निर्विकारता का। श्रुति का आशय है कि विकार तथा निर्विकारता का सहावस्थान है। गीता इसी का स्पष्टीकरण करती है – ब्रह्म अमृत तथा मृत्यु, सत् तथा असत् दोनों है – **अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदासच्चाहमर्जुन।** श्रुति और गीता एक ही बात कह रही है; दोनों में एकवाक्यता है। ऐसे में इस वक्तव्य को गौण मानकर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आवश्यकता है कि श्रुति के इस वक्तव्य को, जो कि गीता द्वारा समर्थित है, तर्क के स्तर पर समझा जाए – **श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।**

एक निस्तरङ्ग समुद्र की कल्पना करें। उस समुद्र में कहीं अनेकता नहीं है, न कहीं क्षोभ है। अब उसी समुद्र में क्षोभ उत्पन्न हुआ और अनेक तरङ्गें उत्पन्न हो गईं। कोई तरङ्ग छोटी है, कोई बड़ी; कोई वर्तुलाकार है, कोई अर्द्धचन्द्राकार; कोई ऊँची है, कोई नीची। समुद्र एक था, तरङ्ग अनेक हो गई। क्या तरङ्ग समुद्र से इस अर्थ से भिन्न कोई अन्य पदार्थ है जिस अर्थ में घट पट से भिन्न होता है? वस्तुतः समुद्र तरङ्गों से अभिन्न है तथापि निस्तरङ्ग समुद्र एक था, तरङ्गें अनेक हैं। यही एक के अनेक होने की अथवा ब्रह्म उत्पन्न होने की प्रक्रिया है – **एक वा इदं विबभूव सर्वम्।** यही दार्शनिक जगत् का प्रसिद्ध विवर्तवाद है। अब यह प्रश्न है कि समुद्र एक तथा एकरस था तो उससे उत्पन्न तरङ्गें अनेक तथा विविध रूप किस प्रकार हो गईं – सहज ही समाधेय बन जाता है। जब अपरिमित परिमित हो जाता है तो एक अनेक बन जाता है। अपरिमित एक नामरूप रहित होता है, परिमित अनेक तथा नामरूप युक्त हो जाता है। इसलिए अपरिमित अनिरुक्त भी है; परिमित निरुक्त है। श्रुति कहती है – कि प्रजापति निरुक्त भी है, अनिरुक्त भी, परिमित भी है, अपरिमित भी – **उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च।** प्रश्न होता है कि अपरिमित को परिमित कौन बनाता है। उत्तर है कि माया अपरिमित को परिमित बनाने वाली शक्ति का ही नाम है। यह माया ब्रह्म से उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार दाहकता की शक्ति अग्नि से अभिन्न है। यही शक्ति और शिव का युगल है जिसे कलाकार अर्द्धनारीश्वर के रूप में अङ्कित करते हैं।

ब्रह्म सत् माया असत्

ब्रह्म आभु है, सत् है; माया अभ्व है, असत् है। सत् का कभी अभाव नहीं होता, असत् कभी भाव रूप में स्थिर नहीं रह सकता। प्रस्तुत प्रसङ्ग में शरीर असत् है, आत्मा सत् है। यह आशा करना कि शरीर हमेशा बना रहेगा, दुःख का कारण बनने वाला है क्योंकि शरीर का स्वभाव ही नाशवान् है। यह आशङ्का करना भी अज्ञान ही है कि आत्मा नष्ट हो जाएगी क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही अनश्वर है। शरीर को नाशवान् तथा आत्मा को अनश्वर जान

लेने पर दुःख का कारण ही समाप्त हो जाता है। शरीर नाशवान् है, अतः उसमें रोग, जरा और मृत्यु को आने से कोई नहीं रोक सकता । आत्मा निर्विकार है; वह रोग, जरा और मृत्यु में कभी भी आक्रान्त नहीं हो सकती। जिसकी दृष्टि शरीर से हटकर आत्मा पर चली गई, वही शोक से मुक्त हो सकता है। शरीर पर दृष्टि रहते तो पद–पद पर दुःख ही दुःख है। श्रुति कहती है कि यदि कोई आत्मा को जाने बिना दुःख से छुटकारा पाना चाहता है तो वह आकाश को चमड़े की भाँति लपेटने का प्रयत्न करता है –

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

अर्जुन इस आत्म तत्त्व को विस्तृत करके शरीर की दृष्टि से अपने भाई–बन्धुओं की मृत्यु से भयभीत होकर अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो रहा था। संसार कुरुक्षेत्र है। कर्म के बिना कोई संसार में एक क्षण भी नहीं रह सकता – **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।** कर्म मात्र में कहीं न कहीं किसी न किसी का नाश अन्तर्निहित रहता है। हमारे श्वास लेने मात्र से कितने ही सूक्ष्म प्राणियों का हनन होता है। शरीर धारण करने के लिए जो भोजन हम बनाते हैं उसमें भी प्राण हनन होता ही है। कहा गया है कि कर्म के बिना तो शरीर यात्रा भी चले नहीं – **शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।** एक व्याप्ति बनाई गई कि जहाँ–जहाँ प्राणों का हनन है वहाँ–वहाँ पाप है। यदि इस व्याप्ति को मान लें तो जीवन असम्भव हो जाएगा; क्योंकि पाप मानकर आहार–विहार आदि सभी क्रियाओं को छोड़ना पड़ेगा। शुद्ध व्याप्ति यह है कि जहाँ–जहाँ शास्त्र के आदेश का उल्लंघन है, वहाँ–वहाँ पाप है। सारांश यह है कि शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिए और शास्त्र निषिद्ध कर्म नहीं करने चाहिए – **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।** शास्त्रोक्त कर्म करते समय "अमुक का नाश हो जाएगा" यह आशङ्का करना अज्ञान है। नाश शरीर का होगा जो नश्वर है और आत्मा का नाश करने की तो सामर्थ्य किसी में है नहीं – **नायं हन्ति न हन्यते।**

कुछ लोगों के मन में यह बात आ सकती है कि ऐसा मानने पर तो किसी की भी हत्या में दोष होगा ही नहीं। यह दृष्टि भ्रमज़नित है। किसे मारना और किसे नहीं मारना – यह विधि–निषेध शास्त्र में है। शास्त्र का कथन है कि किसी की हिंसा न करें – **मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।** यह नियम है किन्तु प्रत्येक नियम का अपवाद भी रहता है। आततायी को दण्डित करना ही धर्म है। दण्डित होने पर आततायी दुःखी होता है और उसे दुःखी बनाने में हिंसा है – ऐसा मानकर आततायी को दण्डित करने के कर्त्तव्य से दण्डाधिकारी विमुख हो जाए तो सहज में कहीं भी व्यवस्था ही स्थापित नहीं हो सकेगी। आततायी को दण्डित करने पर यदि पाप होता हो तो सभी न्यायाधीश पापी हो जायें। इसी प्रकार वे सैनिक भी पाप के भागी हो जायेंगे जो देश की रक्षा के लिये आक्रान्ता का हनन करते हैं। वस्तुतः शास्त्र ही पाप–पुण्य का निर्णायक है, किसी का मारना या नहीं मारना नहीं। एक हत्यारा भी मारता है और एक सैनिक भी आतङ्कवादी को मारता है। मारने की क्रिया दोनों स्थितियों में समान है किन्तु हत्यारा दण्डित होता है और सैनिक पुरस्कृत। यहाँ उचित–अनुचित का निर्णय शास्त्र के आधार पर होता है, मारने की क्रिया के आधार पर नहीं।

अहिंसा-हिंसा का विवेक

गीता में श्रीकृष्ण का प्रथम कार्य तो अर्जुन के उस शोक को दूर करना है जिस शोक से संतप्त होकर अर्जुन की आँखें आँसुओं से भर आई थीं। वेद का सिद्धान्त है कि अग्नि से जल बनता है – **अग्नेरापः।** शोक का तीव्र वेग होने पर सन्ताप होता है तो वही ताप अश्रु बन जाता है।

अर्जुन के शोक का कारण यह है कि उसे युद्ध में भाई-बन्धुओं को मारना होगा। इतना तो वह भी समझता है कि आत्मा नहीं मरती। भारत का सामान्य व्यक्ति भी यह बात जानता है फिर अर्जुन यह न समझता हो ऐसा मानना तो कठिन है। शरीर परिवर्तनशील है – यह भी प्रत्यक्ष गोचर ही है। फिर भी अर्जुन को जो शोक हो रहा है उसका हेतु यह है कि भीष्म, द्रोण आदि न केवल आत्मा हैं, न केवल शरीर, बल्कि वे आत्मा तथा शरीर का संयोग हैं। अर्जुन के शस्त्र प्रहार से वह आत्मा तथा शरीर का संयोग समाप्त हो जाएगा – इसे ही व्यक्ति का मरना कहा जाता

है। अर्जुन को इसी बात का दुःख है कि वह गुरुजनों को मारने के लिए तैयार हो गया था। वस्तुतः सामान्य व्यक्ति भी अर्जुन की भाँति ही श्रीकृष्ण के उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होता है। अतः श्रीकृष्ण को इस विषय का विस्तार करना पड़ रहा है।

तरङ्ग और समुद्र

आत्मा शरीर से जुड़कर भूतात्मा कहलाती है। परमात्मा का शरीर से सम्बन्ध नहीं है। अर्जुन की दृष्टि भूतात्मा पर है, श्रीकृष्ण की दृष्टि परमात्मा पर है। अद्वैत की स्थिति यह है कि सत् और असत् दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। सत् तो एक ही है किन्तु अनेक प्रकार का प्रतीत हो रहा है। उसकी यह अनेक प्रकार की प्रतीति ही असत् कहलाती है। प्रतीति की दृष्टि से देखें तो अनेकता है, अस्तित्व की दृष्टि से देखें तो एकता है। किन्तु यदि कोई अनेकता से रहित एकता को देखना चाहे तो यह उतना ही असम्भव कार्य है जितना तरङ्गों से रहित समुद्र को देख पाना। लहरों के बिना समुद्र और समुद्र के बिना लहर न किसी ने देखी है, न कोई देख पाएगा। समुद्र को यहाँ जल का उपलक्षण समझना चाहिए। वेद की भाषा में कहें तो मृत्यु के बिना अमृत नहीं है और अमृत के बिना मृत्यु नहीं है – **अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्**। गीता में यह बात और भी स्पष्ट शब्दों में कह दी। श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत् भी हूँ और असत् भी – **सदसच्चाहमर्जुन**। आज की भाषा में कहें तो कहेंगे कि बीईंग के बिना बिकमिंग नहीं है और बिकमिंग के बिना बीईंग नहीं है। जैन शब्दावली में द्रव्य के बिना पर्याय नहीं है और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं है।

अब समझना वैदिक सिद्धान्त के अनुसार यह है कि आत्मा और शरीर का क्या संबंध है। श्रुति कहती है कि आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। आकाशादि पाँच तत्त्वों से ही यह शरीर बना और ये पाँच तत्त्व क्रमशः आत्मा से उत्पन्न हुए। सहज परिणाम यह निकला कि आत्मा और शरीर में कारण–कार्य रूप से वैसे ही अभेद हुआ जैसा अभेद मिट्टी और घड़े में होता है। संयोग सदा ही भिन्न पदार्थों का होता है। जब शरीर और आत्मा दो भिन्न पदार्थ हैं ही नहीं तो उनका संयोग कैसा और जब उनका संयोग ही नहीं है तो उनके वियोग का क्या अर्थ रह जाता है – जिसे लेकर अर्जुन इतना संतप्त हो गया कि रोने ही लग गया। अभिप्राय यह है कि आत्मा और शरीर के वियोग का प्रश्न वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ इन्हें दो माना जाए, किन्तु अद्वैत में दो को अवसर ही नहीं है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस अव्यय से यह समस्त विश्व व्याप्त है वह अविनाशी है, उसका कोई नाश नहीं कर सकता –

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥

जिस अव्यय की यहाँ चर्चा कर रहे हैं उस अव्यय के सम्बन्ध में श्रुति कहती है कि उस अव्यय में सब एक हो जाते हैं – **परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति**। यूँ समझ लें कि समुद्र की दृष्टि से एकता है, तरङ्ग की दृष्टि से अनेकता है। समग्र दृष्टि से एकता–अनेकता दोनों सत्य हैं। जैसे समुद्र की एकता नहीं समाप्त हो सकती वैसे तरङ्गों की अनेकता भी समाप्त नहीं हो सकती। अन्तर इतना है कि तरङ्गों की सत्ता समुद्र पर अवलम्बित है तथापि विनाश दोनों का ही नहीं हो सकता।

सहचर भाव

असत् का अस्तित्व सत् पर टिका है किन्तु असत् भी अभाव रूप नहीं है। आत्मा का ही वितान विश्व है। आत्मा अविनाशी है तो विश्व भी अविनाशी है। आत्मा सत् है शरीर असत् है। इनके ग्रन्थिबन्धन का नाश भले ही हो जाए किन्तु सहचर भाव तो बना ही रहता है। वेद-विज्ञान की दृष्टि से देखें तो घड़ा टूट कर मिट्टी बन सकता है। मिट्टी पानी में, पानी अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में और आकाश आत्मा में परिवर्तित हो सकता है किन्तु नष्ट कुछ भी नहीं होता। यह जानकर ही अर्जुन को शोकरहित होने को कहा जा रहा है।

विवेक इस प्रकार करना होगा कि आत्मा कभी परिवर्तित नहीं होता और शरीर कभी अपरिवर्तित नहीं रहता, किन्तु नष्ट न आत्मा होता है न शरीर। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि शरीर में असद् तत्त्व की मुख्यता है किन्तु गौण रूप में उसमें भी सत्–तत्त्व है तथा आत्मा में सत्–तत्त्व की मुख्यता है किन्तु गौण रूप में उसमें भी असत्–तत्त्व है। इसी प्रकार तो मृत्यु तथा अमृत का अन्योन्यान्तरीकरण होगा। फिर परिवर्तनशील शरीर के परिवर्तन पर शोक करना व्यर्थ है। गीता की प्रसिद्ध घोषणा है कि **नायं हन्ति न हन्यते** अर्थात् न कोई मारता है न कोई मारा जाता है। यहाँ दो तत्त्व हैं – मारने वाला और मरने वाला। मारने वाला अपने को अर्थात् आत्मा को मारने वाला समझता है। मरने वाला अपने को अर्थात् शरीर को मरने वाला समझता है। यह दोनों ही दृष्टियाँ भ्रान्ता हैं। आत्मा निर्विकार है वह किसी को कैसे मारेगा? शरीर परिवर्तनशील है, वह तो बदलेगा ही। उसका मरना कैसा? वस्तुस्थिति यह है कि मारने और मरने वाले दोनों के ही सत् भाग तो अविकारी रहते हैं। असत् भाग, असत् भाग से संघर्ष करता है जिसका असत् भाग बलवान् होता है वह निर्बल असत् भाग वाले के असत् भाग को बदल डालता है। इसे ही हम मारना और मरना मान लेते हैं। यह बुद्धियोग हुआ। यदि हमारी समझ में यह नहीं आ रहा है तो यह समझना चाहिए हम बुद्धि की अपेक्षा मन से प्रेरित हो रहे हैं। मन तो सदा द्वन्द्व में ही जीता है अतः उसे मारना और मरना ही सत्य लगते हैं। बुद्धियोग से हम जानते हैं कि मारना ही क्या हम तो वस्तुतः किसी भी क्रिया के कर्त्ता नहीं हैं – **अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।** जहाँ तक कर्त्तव्य-भाव है, वहाँ तक बन्धन बना ही रहेगा। अव्यय में सत्-असत् दोनों सदा बने रहते हैं। यदि अव्यय में केवल सत् रह जाए तो संसार ही लुप्त हो जाएगा। यदि अव्यय में से सत् भाग लुप्त हो जाए तो संसार निराधार हो जाएगा। जब सत्-असत् दोनों सदा बने रहने वाले हैं और दोनों का सम्बन्ध भी सदा बना रहने वाला है तो फिर सहज कर्म से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं।

सहज कर्म कौन-सा है – इसकी व्याख्या में ही वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन हुआ है। कर्म प्रकृति का कार्य है। प्रकृतिं त्रिगुणात्मक है। अतः कर्म भी त्रिगुणात्मक है। सत्त्व प्रधान कर्म ब्राह्मण के धर्म हैं। रजः प्रधान कर्म क्षत्रिय के धर्म हैं। रजस् और तमस् के मिश्रण से वैश्य धर्म तथा शूद्र धर्म बनता है जिनमें से वैश्य में रजोगुण प्रधान हो जाता है और शूद्र में तमोगुण। इस वर्ण व्यवस्था के दो फल हैं। प्रथम तो अपने गुणानुसार कर्म करने से व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलता है, दूसरे समाज के लिए आवश्यक सभी प्रकार के कर्मों का विभाजन हो जाता है।

अर्जुन का प्रश्न युद्ध से जुड़ा है क्योंकि वह क्षत्रिय है किन्तु वस्तुतः यह प्रश्न सभी कर्मों के बारे में उठता है कि क्या कोई भी कर्म ऐसा है जिसमें हिंसा का भय न हो ? किसान हल जोतता है और खेत सींचता है तो न जाने कितने कीड़े–मकोड़े मर जाते हैं। फिर क्या किसान इस भय से खेती करना छोड़ दे? मान लें कि किसान खेती का कर्म छोड़ भी दे तो क्या संसार में कोई जीवित रह सकेगा। अपने घर में भी हम भोजन बनाने अथवा सफाई करने जैसे कार्य करते हैं । तो भी क्या हिंसा से बच पाते हैं? पद–पद पर जीवन है और यदि हम हिंसा से बचना चाहें तो फिर जीवन को ही समाप्त कर देना होगा क्योंकि कर्म के बिना जीवन–यात्रा चल ही नहीं सकती। हिंसा का प्रश्न व्यापक है। भारतीय परम्परा में इस पर बहुत विचार हुआ। विचारकों में परस्पर मतैक्य भी नहीं है। जैन परम्परा में अहिंसा पर शायद सबसे अधिक विचार हुआ किन्तु उस परम्परा के भी विभिन्न उप-सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं हो पाया। ऐसी स्थिति में भी कुछ विचारों पर शायद सहमति हो सकती है। पहली बात तो यह सर्वसम्मत है कि धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए अंतिम प्रमाण शास्त्र है। गीता ने स्पष्ट किया – **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।** कोई भी शास्त्र एक उद्देश्य लेकर चलता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ साधन बताता है। उन साधनों को अपनाए बिना उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। अब यदि हम उन साधनों को सदोष मानते हैं तो फिर वह शास्त्र और उस शास्त्र में बताए गए उपाय हमारे लिए व्यर्थ हो जाते हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि कर्त्ता अपने स्वरूप को तथा विश्व के स्वरूप को ठीक से समझ कर कर्म करता है अर्थात् ज्ञानी है तो उसे कर्म नहीं बाँधते। प्रस्तुत प्रसङ्ग में

दो बात विचारणीय हैं। प्रथम तो अर्जुन जिस शास्त्र की दुहाई देकर वर्णसङ्कर आदि का प्रश्न उठा रहा है उसी शास्त्र में वर्णित क्षात्रधर्म के उल्लंघन का उसे अधिकार नहीं है । दूसरे अर्जुन शरीर तथा आत्मा के स्वरूप को समझे बिना हिंसा-अहिंसा की विवेचन कर रहा था। अतः श्रीकृष्ण ने उसे स्वधर्म का – क्षात्रधर्म का – बोध कराया और उसे अपने तथा विश्व के स्वरूप का बोध भी कराया।

शास्त्रीय मर्यादा

निष्कर्षतः हममें से प्रत्येक को प्रथम तो अपनी शास्त्रीय मर्यादा समझनी चाहिए। वर्णाश्रम धर्म तो उपलक्षण मात्र है। चिकित्सक की अपनी आचार संहिता है । व्यापारी की अपनी आचार संहिता है। कोई व्यवसाय ऐसा नहीं, जिसकी एक आचार संहिता न हो। उस आचार संहिता का पालन करते हुए हम जो भी कर्म करेंगे, उसे सदोष नहीं माना जा सकता।

दूसरी, हमें अपने स्वरूप का तथा विश्व के स्वरूप का सम्यग् ज्ञान होना चाहिए। जिसे यह ज्ञान है उसे कर्म नहीं बाँध सकते।

इन दो मर्यादाओं के भीतर रहते हुए हमें इस बात से भयभीत नहीं होना चाहिए कि अमुक कर्म में अमुक हिंसा अथवा अमुक पाप है। गीता के कर्मयोग का यही सार है।

मूल तथा अनुवाद

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

जिस अविनाशी से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस अव्यय का कोई भी नाश नहीं कर सकता ।।१७।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

नाश रहित प्रमाणातीत नित्य जीवात्मा के ये शरीर नाशवान् बतलाये गये हैं। इसलिये हे अर्जुन ! तू युद्ध कर।।१८।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

जो यह समझता है कि आत्मा मरता है तथा जो यह मानता है कि यह आत्मा मारता है, वे दोनों ही नहीं जानते। यह आत्मा न मारता है न मारा जाता है ।।१९।।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

यह आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है न कभी मरता है, अथवा न उत्पन्न होकर फिर दुबारा होता है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और चिरंतन है। शरीर के मरने पर यह मरता नहीं ।।२०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

जो व्यक्ति यह जानता है कि यह आत्मा नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय है। वह कैसे किसी को मरवा सकता है और कैसे किसी को मार सकता है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण कर लेता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण कर लेता है॥२२॥

विपुल-भाष्य

आत्मा की अजरता-अमरता

हमारे समस्त शोक का मूल द्वंद्व है। इस द्वंद्व का मूल भी सदसद् का द्वंद्व है। सत् की न कभी मृत्यु होती है न कभी जन्म। असत् तो नित्य ही पैदा होता है और नित्य ही मरता है। जो जन्म मरणशील असत् पर दृष्टि रखता है वह सदा ही भयभीत रहता है। उसके भय को दूर करने का उपाय भी नहीं है; जिसका स्वभाव ही मरणशीलता है उसे मरने से कैसे रोका जा सकता है? शरीर असद् है; मरणशील है। यदि हमारी दृष्टि शरीर पर है तो हम सदा अपने को मृत्यु की छाया में ही बैठा पाएँगे। शरीर की मृत्यु न हो – यह सम्भव ही नहीं है।

पूरे भारतीय चिन्तन की धुरी जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना है। इसे ही मोक्ष कहा जाता है। मोक्ष पाने का एक उपाय यह है कि मनुष्य संसार को छोड़कर जंगल में चला जाए। अर्जुन इसी उपाय को बरतना चाहता था। प्रसिद्ध है कि महात्मा बुद्ध रोग, बुढ़ापे और मौत के भय से अमृतत्व की खोज में घर-बार छोड़ कर रात के अँधेरे में चुपचाप जंगल में चले गए थे। वहाँ उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार किया कि संसार में प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है। व्यक्ति स्वयं भी क्षणभंगुर है। इसे दर्शन-जगत् में क्षणिकवाद् कहा जाता है। महात्मा बुद्ध ने इस आधार पर अनात्मवाद का प्रतिपादन किया अर्थात् ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो अजर-अमर हो।

महात्मा बुद्ध की यह दृष्टि प्रत्यक्ष पर टिकी है। प्रत्यक्षतः संसार में प्रत्येक पदार्थ बदलता हुआ ही दिखाई देता है। फिर आत्मा को ही अजर-अमर कैसे माना जा सकता है ?

आकाश का आधार

गीता का तर्क है कि जहाँ-जहाँ भी परिवर्तन होता है, वहाँ उसका कोई न कोई स्थिर आधार भी होता है। यदि सभी ग्रह घूम रहे हैं तो उनका आधार आकाश तो स्थिर है ? विज्ञान कहता है कि आकाश भी निरन्तर फैल रहा है – एक्सपैन्डिंग यूनिवर्स । तो फिर आकाश भी परिवर्तनशील हुआ, तो उस आकाश का भी आधार होना चाहिए। आकाश का यह स्थिर आधार ही आत्मा है। इसीलिए श्रुति की घोषणा है कि आकाश आत्मा से उत्पन्न हुआ – **आत्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः।**

वस्तुतः समस्त जगत् आत्मा से उद्भूत हुआ है। यही अद्वैतवाद का आधार है। सभी कुछ परिवर्तनशील है – यह मानने वाला बौद्ध दर्शन परमाणु को भी स्थिर मानने को तैयार नहीं है । स्थिर तत्त्व के अभाव में बौद्ध दर्शन को संसार में कहीं कुछ भी अस्तित्व जैसा नहीं मिला और वह शून्यवादी हो गया।

अद्वैतवाद शून्यवादी नहीं है, अपितु आत्मवादी है। सब परिवर्तनशील है किन्तु आत्मा तत्त्व नित्य है। गीता की घोषणा है –

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थ स्पष्ट है – यह (आत्मा) न उत्पन्न होता है, न कभी मरता है। न ऐसा है कि यह अभी है और फिर कभी नहीं रहेगा। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुराण है। यह शरीर के मरने पर भी मरता नहीं।

श्लोक के इस अर्थ को समझने के लिए हमें परिवर्तन का अर्थ समझना होगा। परिवर्तन का पुराना नाम है – भाव-विकार। वेद का सबसे पुराना कोष है – निघण्टु। निघण्टु पर यास्काचार्य ने एक टीका लिखी, जिसे निरुक्त कहा जाता है। यह निरुक्त षड् वेदाङ्गों में से एक है। इस निरुक्त में भावविकार की व्याख्या की गई है। यास्क कहते हैं कि भाव–विकार छः हैं। अर्थात् जिसे हम परिवर्तन कहते हैं उसके छः अङ्ग हैं – (१) उत्पन्न होना (२) अस्तित्व में आना (३) बदलना (४) बढ़ना (५) घटना (६) नष्ट होना। जो भी पदार्थ उत्पन्न होगा उसमें यह छह स्थितियाँ अवश्य आयेंगी। इन छः स्थितियों में से गुजरता हुआ वह अन्त में नष्ट भी अवश्य होगा। शरीर क्योंकि उत्पन्न होता है, अतः वह नष्ट भी अवश्य होगा ही। किन्तु आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता तो फिर उसके नष्ट होने का भी प्रश्न नहीं है। गीता के उपर्युक्त श्लोक में आत्मा के षड् भावविकारों का ही निषेध है। निम्न तालिका को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है –

	भाव-विकार	भाव-विकार का निषेध
(१)	उत्पन्न होना	न जायते
(२)	अस्तित्व में आना	भविता वा न भूयः।
(३)	बदलना	नित्यः
(४)	बढ़ना	शाश्वतः
(५)	घटना	पुराणः
(६)	मरना	न म्रियते

अव्यय, अक्षर और क्षर

प्रश्न होता है कि यदि आत्मा मरती नहीं और पैदा भी नहीं होती तो फिर यह जन्म–मरण किसका होता है? अद्वैतवाद एक से अनेक होने का कारण उपाधि को मानता है। चैतन्य एक है किन्तु उपाधिभेद से वही तीन रूप धारण कर लेता है – अव्यय, अक्षर और क्षर। ये तीनों ही प्रसिद्ध परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति हैं। जैसे मनुष्य के शरीर में जीवात्मा है उसी प्रकार परमात्मा का शरीर यह विश्व है। अस्मदादि का जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है किन्तु परमात्मा का न जन्म होता है न मृत्यु। यह परमात्मा सर्वव्यापक है अतः उसके लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना सम्भव ही नहीं है। गीता में इस परमात्मा की ही अपरिच्छिन्नता, द्वन्द्वातीतता, कूटस्थता तथा अजरता–अमरता बताई गई है।

प्रश्न होता है कि परमात्मा भले ही अजर–अमर हो किन्तु हम तो मरणधर्मा हैं। अद्वैतवाद के अनुसार यह भेद-बुद्धि ही दुःख का मूल कारण है। हमने ऊपर उपाधि की चर्चा की है। घट के अन्दर भी आकाश है तथा मठ के अन्दर भी आकाश है। इन्हें घटाकाश तथा मठाकाश कहते हैं। घट–पट आदि के बाहर सारे में भी आकाश फैला है। इसे महाकाश कहते हैं। विचार करना चाहिए कि क्या घटाकाश अथवा मठाकाश महाकाश से भिन्न है? घट अथवा मठ को तोड़ दें तो उनका आकाश भी महाकाश में ही मिल जाएगा। वस्तुतः वह आकाश सदा से ही महाकाश का भाग है, घट अथवा मठ की उपाधि के कारण वह पृथक् दृष्टिगोचर होता है किन्तु वह पृथक् है नहीं। यही प्रक्रिया जीवात्मा तथा परमात्मा के अभेद में समझनी चाहिए। समस्त शास्त्रों का प्रयोजन इस अभेद तत्त्व को समझाना है।

जब तक उपाधि के कारण रहने वाले भेद को वास्तविक माना जाता रहेगा, तब तक मैं और तू का भेद रहेगा। तब तक यह भाव भी बने रहेंगे कि मैंने अमुक का उपकार अथवा अपकार कर दिया। जब एकत्व का बोध हो जाएगा तो स्व–पर का भेद ही विगलित हो जाएगा। फिर कौन किसका उपकार अथवा अपकार कर सकेगा? यही स्थिति तो वह पाप–पुण्यातीत स्थिति है जिसका वर्णन सभी भारतीय दर्शन एक स्वर में कर रहे हैं।

भेद–बुद्धि का नष्ट होना सरल नहीं है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारवश हमारी भेद–बुद्धि इतनी दृढ़ है कि बार–बार समझाने पर भी वह दूर नहीं होती। करुणावरुणालय भगवान् को उस बुद्धि को दूर करने के लिए बारम्बार एक ही बात कहनी पड़ती है। शास्त्र में पुनरुक्ति को दोष माना गया है किन्तु गीता की स्थिति पाणिनी की अष्टाध्यायी से भिन्न है। पाणिनी की अष्टाध्यायी में अर्धमात्रा का भी विस्तार नहीं है। गीता में आत्मा की निर्विकारता को सविस्तार समझाया गया है क्योंकि यह विषय एक बार में समझ में नहीं आता। परम्परा कहती है कि शिष्य पर अनुग्रह करने के कारण शास्त्र एक ही बात की पुनरावृत्ति करने में आलस्य नहीं किया करते हैं – मन्त्राणां जामिता नास्ति।

प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि परमात्मा का जन्म नहीं तो फिर जीवात्मा का जन्म ही क्यों और कैसे, जबकि परमात्मा और जीवात्मा एक ही हैं। उत्तर यह है कि जीवात्मा और परमात्मा निरुपाधिक रूप में एक हैं किन्तु सोपाधिक रूप से तो उनमें भेद है ही। परमात्मा अव्यय है, जीवात्मा अक्षर–क्षर का समुच्चय है। हमारा उपादान कारण क्षर है तथा निमित्त कारण अक्षर है। क्षर तो जड होने के कारण मिट्टी की भाँति है। मिट्टी से घड़ा बनता है, किन्तु मिट्टी स्वयं घड़ा नहीं बना सकती। घड़ा बनाने वाला कुम्हार है। इसी प्रकार क्षर से हम बने किन्तु बनाने वाला अक्षर है। यह अक्षर ही अन्तर्यामी कहलाता है।

क्षर की प्रतिष्ठा वीर्य है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि केवल क्षर पर है। उसकी दृष्टि से हमारा निर्माण माता–पिता के रज–वीर्य से होता है। किन्तु रज–वीर्य तो जड हैं, उनमें गति देने वाला अक्षर तत्त्व है जो प्राण रूप है। किन्तु अक्षर भी क्रिया रूप तो है, किन्तु ज्ञान रूप नहीं। ज्ञान केवल अव्यय में है। अतः अव्यय के ज्ञान से अनुगृहीत अक्षर–तत्त्व अपनी क्रियाशील से क्षर द्वारा हमारा निर्माण करता है। अव्यय केवल ज्ञान रूप है उसमें क्रिया नहीं है। अतः वह निर्विकार ही रहता है। अब शेष रहे अक्षर और क्षर। क्षर तो स्वयं देह–रूप ही है, अतः वह कभी मरना नहीं चाहता किन्तु देह के रोगादि के कारण जीण–शीर्ण होने पर अक्षर–तत्त्व देह को छोड़कर अन्यत्र वीर्य में प्रतिष्ठित होकर दूसरी देह का निर्माण कर देता है। इसे ही आवागमन कहते हैं। इसमें अव्यय तो सर्वव्यापक रहकर केवल साक्षिभाव रखता है। वह कहीं आता–जाता नहीं। क्षर–अक्षर पर दृष्टि डालें तो आवागमन है, अव्यय तो नित्य ही शुद्ध–बुद्ध मुक्त–स्वरूप है।

गीता का प्रसिद्ध श्लोक आवागमन का वर्णन इन शब्दों में करता है –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् जिस प्रकार जीर्ण वस्त्रों को छोड़ कर मनुष्य नए वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार देही जीर्ण शरीरों को छोड़कर नवीन शरीर में चला जाता है।

यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं। मनुष्य पुराने वस्त्र स्वेच्छा से छोड़ता है किन्तु देह स्वेच्छा से नहीं छोड़ता, वह नए शरीर में अनिच्छापूर्वक ही जाता है। इसलिए श्लोक में वस्त्रों को 'ग्रहण करना' कहा है किन्तु शरीर को 'धारण करना' नहीं कहा, अपितु 'शरीर में चला जाना' कहा। दूसरी बात यह है कि एक शरीर छोड़ कर मनुष्य दूसरा कौन–सा शरीर धारण करे – यह उसके आधीन नहीं है। उसके संस्कार जहाँ उसे ले जाएँगे, उसे वहाँ बरबस जाना पड़ेगा। इस प्रकार क्षर के न चाहने पर भी अक्षर शरीर को जीर्ण होने पर छुड़वा ही देता है और अक्षर के न चाहने पर भी संस्कार मनुष्य को दूसरा ऐसा शरीर भी दिलवा देते हैं जिसे न क्षर चाहता है न अक्षर। अतः आवागमन मुख्यतः संस्कार के अधीन है। ये संस्कार केवल कर्मरूप न होकर कर्म तथा ज्ञान रूप हैं। कठश्रुति कहती है–

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

अर्थात् अन्य योनि में ले जाने वाले दो तत्त्व हैं – कर्म और ज्ञान । महत्त्वपूर्ण केवल यही नहीं है कि हमने क्या किया, महत्त्वपूर्ण यह भी है कि कर्म करते समय हमारी समझ क्या थी। यदि हमारी दृष्टि परमात्मा पर है तो हम

कर्म करते हुए भी निर्लिप्त ही रहेंगे। यही 'कर्म में अकर्म' की कला है। यदि हमारी दृष्टि अक्षर-क्षर पर है तो कर्म निश्चय ही बन्धन का कारण बन जाएगा। श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञान देकर 'कर्म में अकर्म' की साधना का रहस्य बता रहे हैं। जबकि अर्जुन कर्म से भयभीत होकर युद्ध से पराङ्मुख होना चाह रहा है। श्रीकृष्ण का मन्तव्य है किं कर्म छूट तो सकते नहीं फिर भी जो कर्म छोड़ने का दुराग्रह कर लेता है वह एक प्रकार से मिथ्याचारी ही है – **मिथ्याचारः स उच्यते।** उपाय केवल यही है कि कर्म ज्ञानपूर्वक किए जाएँ – **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**

मूल तथा अनुवाद

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न इसको जल गला सकता है और न इसको वायु सुखा सकती है ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

इस आत्मा को न छेदा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गलाया जा सकता है और न सुखाया जा सकता है। यह आत्मा नित्य सर्वव्यापी, अचल, सुस्थिर और सनातन है॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥२५॥

यह आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है और इसे विकार रहित बताया गया है। इसलिये इसे ऐसा समझ कर हे अर्जुन! तुम्हारे लिये शोक करना उचित नहीं है॥२५॥

विपुल-भाष्य

दण्डविधान की आवश्यकता

उपनिषद् का वचन है कि भय दूसरे से होता है – **द्वितीयाद् वै भयं भवति।** कोई व्यक्ति अपने से नहीं डरता है। इसका कारण यह है कि दूसरा ही दूसरे पर आघात कर सकता है। दूसरा तब बनता है जब विजातीय अथवा सजातीय भेद हो। पानी और अग्नि विजातीय हैं अतः वे दोनों भिन्न हैं। अग्नि पर पानी आघात करता है तो अग्नि बुझ जाती है अतः अग्नि को पानी से भय है। हीरे का एक टुकड़ा हीरे के दूसरे टुकड़े से भिन्न होता है यद्यपि वे दोनों सजातीय हैं। यह सजातीय भेद का उदाहरण है। हीरा भी हीरे को काट देता है। अतः हीरे को हीरे से भय है। हीरा कठोरतम पदार्थ है अतः लोहा तो उसे काट नहीं सकता। अतः हीरे को काटने के लिए भी हीरे का ही उपकरण बनाना पड़ता है।

आत्मा सजातीय अथवा विजातीय भेद से शून्य है। आत्मा जैसी कोई अन्य वस्तु नहीं, अतः वह सजातीय भेद से शून्य है। आत्मा से विरुद्ध स्वरूप वाला भी अन्य कोई नहीं, अतः वह विजातीय भेद से भी शून्य है। वह आकाश के समान निरवयव है अतः उसमें वैसा स्वगत भेद भी नहीं है जिस प्रकार एक ही वृक्ष की एक शाखा उसी वृक्ष की दूसरी शाखा से भिन्न होती है। इस प्रकार तीनों प्रकार के भेदों से शून्य होने के कारण आत्मा में द्वैत सम्भव ही नहीं है फिर उसे भय कैसे हो सकता है। क्या अग्नि को अग्नि से यह भय हो सकता है कि यह अग्नि मुझे जला देगी अथवा पानी को पानी से यह भय हो सकता है कि यह मुझे गला देगा? फिर भी पानी से पानी अथवा अग्नि से अग्नि भिन्न हो सकती है क्योंकि निरवयव नहीं है। आत्मा तो निरवयव है अतः वहाँ तो भेद है ही नहीं, फिर भय कैसा ?

भूतात्मा और परमात्मा

प्रश्न हो सकता है कि अग्नि, वायु, पानी से हमारा क्रमशः जल जाना, सूख जाना अथवा गल जाना प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। इसीलिए हम भयभीत होते हैं। उत्तर यह है कि हमारा यह भय अज्ञान पर टिका है। अग्नि, वायु और पानी स्वयं ही आत्मा हैं। श्रुति स्पष्ट कहती है – तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। ता आपः। हम अज्ञानवश अग्नि आदि को अपने से भिन्न मान बैठे हैं। हम भी आत्मरूप हैं, अग्नि भी आत्मरूप है, फिर भय कैसा? हाँ, अग्नि से हमारा भूतात्मा अवश्य जल जाता है, किन्तु हम भूतात्मा नहीं हैं, परमात्मा हैं। भूतात्मा तो परमात्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं।

प्रतिबिम्ब पर दृष्टि दें। सूर्य एक है उसके प्रतिबिम्ब अनेक हो सकते हैं। हम जितने पात्रों में जल भर कर रख देंगे, सूर्य के उतने ही प्रतिबिम्ब बन जाएँगे। पात्रों की संख्या घटने पर प्रतिबिम्ब कम हो जाते हैं, पात्रों की संख्या बढ़ने पर प्रतिबिम्ब बढ़ जाते हैं। किन्तु प्रतिबिम्बों के घटने–बढ़ने से सूर्य नहीं घटता–बढ़ता, वह तो एक ही रहता है। किसी प्रतिबिम्ब के नष्ट हो जाने से सूर्य नष्ट नहीं हो जाता। यह शरीर जल–पात्र के समान है, परमात्मा सूर्य के समान है। उस परमात्मा रूपी सूर्य का प्रतिबिम्ब शरीर रूपी जल–पात्र में पड़ता है। इस प्रतिबिम्ब को भूत के संयोग के कारण भूतात्मा कहा जाता है। शरीर नष्ट होने पर परमात्मा नष्ट नहीं होता। फिर भय कैसा ? यही अभय का स्वरूप है जिसके जान लेने पर यह भय भी समाप्त हो जाता है कि मैं मर जाऊँगा और यह आशङ्का भी समाप्त हो जाती है कि मैं किसी को मार दूँगा तो मुझे पाप लगेगा। अर्जुन को यही आशङ्का थी।

इस तर्क पर प्रतितर्क उपस्थित होता है कि फिर तो कोई भी किसी को भी मारता रहे – इसमें कोई पाप नहीं है। किन्तु निरपराध को मारना शास्त्र विरुद्ध है और पाप का कारण है। यह सत्य है कि परमात्मा अविनश्वर है किन्तु भूतात्मा का हनन करता है तो वह पाप का भागी बनता है। यदि ऐसा न मानें तो पाप–पुण्य का भेद ही नहीं बन पाएगा और धर्म–शास्त्र के सारे विधान व्यर्थ हो जाएँगे। किन्तु साथ ही यह भी जानना चाहिए कि यदि अपराधी को दण्ड देने से दण्ड देने वाला हिंसा का भागी बन जाए तो फिर दण्ड–विधान ही निरर्थक हो जाएगा और कोई व्यवस्था ही नहीं बन पाएगी। दण्ड द्वारा आततायी की शुद्धि होती है, न कि अपकार। दण्ड तो कोई दूसरा देता है किन्तु प्रायश्चित्त स्वयं किया जाता है। प्रयोजन दोनों दशाओं में एक ही है – स्वयं की शुद्धि। कुमारिल भट्ट ने अपने गुरु को धोखा दिया था, यह पाप था। उन्होंने इस पाप के प्रायश्चित्त में अपने को कण्डों की धीमी आँच में जला दिया। यह शुद्धि की प्रक्रिया थी, न कि आत्महत्या की। अग्नि को पावक अर्थात् पवित्र करने वाला माना जाता है। यदि स्वर्ण का मूल्यवान् आभूषण मल में लिप्त हो जाए तो उसे अग्नि में डालकर शुद्ध कर लिया जाता है।

यदि शरीर मल–मूत्र से लिप्त हो जाए तो पानी द्वारा उसे शुद्ध कर लिया जाता है। अग्नि भी पावक है और जल भी पवित्र है – अग्निः पावकः पवित्रं वा आपः। वायु भी पवित्र करता है। योगी प्राणायाम द्वारा अन्तःशुद्धि कर लिया करते हैं। प्राणायाम में आपाततः कष्ट होता है किन्तु प्राणायाम का प्रयोजन अपने को कष्ट देना नहीं अपितु अन्तःकरण की शुद्धि करना है। वस्तुतः शुद्धि की सभी प्रक्रियाएँ प्रायः आपाततः दुःख–रूप प्रतीत होती हैं। किन्तु वस्तुतः वे तप-रूप हैं, न कि दुःख–रूप।

प्रायश्चित्त स्वेच्छा से किया जाता है। तप भी स्वेच्छा से किया जाता है किन्तु दण्डित बलपूर्वक किया जाता है। उद्दण्ड व्यक्ति कभी अपना अपराध स्वीकार नहीं करता और न अपराधी मनोवृत्ति को छोड़ने को तैयार होता है। दुर्योधन ऐसा ही उद्दण्ड व्यक्ति है। उसने श्रीकृष्ण के समझाने पर यह उत्तर दिया था कि वह बिना युद्ध के सुई की नोंक के वराबर भी भूमि नहीं देगा – सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव। अब ऐसा व्यक्ति न तो पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त करने वाला है, न भविष्य में अपराधी मनोवृत्ति को छोड़ने वाला है। इसे शस्त्र द्वारा दण्डित करना ही एक मात्र विकल्प शेष रह गया है। शस्त्र से दण्डित किए जाने पर ही इष्ट फल होंगे। स्वयं दुर्योधन तो दण्डित होकर पवित्र हो जाएगा तथा समाज उसके द्वारा भविष्य में किए जाने वाले अपराधों से मुक्त हो जाएगा। इसलिए शास्त्र

ने आज्ञा दी कि यदि आततायी सामने हो तो उसे बिना चिन्ता किए मार ही देना चाहिए – आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।

दण्डविधान आवश्यक

गीता का सन्देश स्पष्ट है कि समाज की व्यवस्था के लिए दण्ड विधान आवश्यक है। आज तक ऐसे समाज का निर्माण नहीं हो पाया जिसमें दण्ड की आवश्यकता न हो। यदि सभी स्वेच्छा से मर्यादा का पालन करें तो दण्ड की आवश्यकता ही नहीं रहे। यदि सभी पाप-भीरू हों तो स्वयं ही अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लेंगे। किन्तु ऐसा नहीं होता है अतः दण्डविधान करना ही पड़ता है। दण्ड-व्यवस्था से समाज ही सुरक्षित नहीं होता अपितु स्वयं दण्डित व्यक्ति भी शुद्ध हो जाता है। हाँ, जो दण्ड्य नहीं है उसे दण्डित करना पाप है। दुर्योधन दण्ड्य है, यह निर्णय श्रीकृष्ण भली–भाँति कर चुके हैं। अब दुर्योधन को दण्डित करने में पाप की आशङ्का करना सर्वथा अनुचित है। बड़े से बड़े अहिंसक भी समाज–कण्टक अथवा समाज के नियमों को भङ्ग करने वालों को दण्डित करते ही हैं।

हाँ, दण्डित होने पर अपराधी का नाश नहीं प्रत्युत उपकार होता है – यह समझना आवश्यक है। अपराधी का नाश नहीं होता – इसी बात को समझाते हुए गीता कहती है कि आत्मा को न शस्त्र छेद सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न पानी गला सकता है, न हवा सुखा सकती है। यह तो अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, स्थिर, अचल तथा सनातन है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी है। फिर इसके लिए शोक करना उचित नहीं है।

जिसके अवयव हैं ही नहीं उसे छेदा कैसे जा सकता है। जो असङ्ग है उसे जलाया नहीं जा सकता है, जो सर्वबलयुक्त है उसे गलाया नहीं जा सकता, जो रसयुक्त है उसे सुखाया नहीं जा सकता। वह द्वन्द्व-भाव-रहित है अतः नित्य है। उसमें दैशिकता नहीं है अतः वह स्थाणु है और उसमें कालिकता नहीं है अतः वह अचल है। मूल प्रकृति अव्यक्त है। यह आत्मा का क्षर रूप है। प्राण-तत्त्व अचिन्त्य है। यह आत्मा का अक्षर रूप है। अव्यय अविकार्य है। यह आत्मा का अव्यय रूप है।

आत्म-तत्त्व का निरूपण

यह गीता की विशेषता है कि उपनिषद् में वर्णित आत्म-तत्त्व का निरूपण करते हुए व्यवहार में उसका विनियोग भी कर दिया है। उपनिषद् में सिद्धान्त पक्ष है, गीता में प्रयोग पक्ष है। यह प्रयोग पक्ष भी सिद्धान्त पक्ष की भाँति ही सर्वकालोपयोगी है। आज निश्शस्त्रीकरण का आन्दोलन चल रहा है। अमरीका जैसे देश हमें निश्शस्त्रीकरण का उपदेश दे रहे हैं। गीता का कहना है कि शस्त्र के प्रयोग में विवेक करना होगा किन्तु शस्त्र का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता। शस्त्र-रहित होने पर तो दूसरे राष्ट्र हमारा अस्तित्व ही मिटा देंगे। आत्मरक्षा के लिए शस्त्र का प्रयोग करना ही होगा। इसी प्रकार की दूसरी समस्या आतङ्ककारियों की है। मानवाधिकार के नाम पर आतङ्ककारियों को सुरक्षा नहीं दी जा सकती। उनका तो उन्मूलन करना ही होगा। आतङ्ककारी किसी प्रकार का तर्क सुनने को तैयार नहीं है। वे निरपराधियों की निर्मम हत्या करने पर तुले हैं। इन्हें शास्त्र की भाषा में आततायी कहा गया है। यदि इनके प्रति किसी प्रकार की रियायत की जाती है तो समाज की व्यवस्था ही नष्ट हो जाएगी। विशेषकर, व्यवस्था बनाए रखने के लिए उत्तरदायी प्रशासन को ऐसे आततायियों को नष्ट करना ही होगा। गीता का दर्शन विश्व-शान्ति के सन्दर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक है। साम-नीति का प्रथम स्थान है। बातचीत द्वारा समझौता करके युद्ध को टालना चाहिए, किन्तु यदि कोई हठपूर्वक हम पर युद्ध को थोप ही दे तो फिर युद्ध से पराङ्मुख होना शान्ति की स्थापना का साधन नहीं है, अपितु अशान्ति को निमन्त्रित करना है, क्योंकि निरंकुश आततायी हमारी सहृदयता का अनुचित लाभ उठाकर अपने अत्याचार का और भी विस्तार कर देगा। इस प्रकार निःशस्त्रीकरण, आतङ्कवाद, विश्व-शान्ति जैसी वर्तमान समस्याओं पर गीता का विचार आज ५००० वर्ष बाद भी प्रासङ्गिक बना हुआ है।

मूल तथा अनुवाद

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

और यदि इस आत्मा को सदा जन्मने वाला और सदा मरने वाला मानते हो तो भी हे महाबाहो ! इस प्रकार शोक करना उचित नहीं ।।२६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है उनका मरना निश्चित है और जो मरता है उसका उत्पन्न होना निश्चित है। इसलिए जिस चीज को टाला नहीं जा सकता, उसके विषय में शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है ।।२७।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

प्राणी प्रारम्भ में जन्म से पहले भी अव्यक्त है और अन्त में मरने पर भी अव्यक्त है। वे केवल बीच में ही व्यक्त है। ऐसी स्थिति में शोक क्या करना ? ।।२८।।

विपुल-भाष्य

देह अनित्य और आत्मा नित्य

आत्मा की नित्यता बताकर श्रीकृष्ण अर्जुन का शोक दूर करना चाह रहे हैं, किन्तु, कठिनाई यह है कि अर्जुन जैसा पात्र तो आत्मा की नित्यता को समझता है परन्तु हम जैसे साधारण मनुष्य तो इसी बात को प्रत्यक्ष देखते हैं कि मनुष्य मरता है। गीता रूपी दुग्ध का पान कराने के लिए स्वयं गोपालनन्दन दोग्धा बने, उपनिषदों को गायें बनाया, पार्थ को वत्स बनाया किन्तु भोक्ता तो हम-आप पाठक ही हैं –

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

ऐसी स्थिति में केवल अर्जुन का ही प्रश्न नहीं है, प्रश्न सर्वसाधारण का भी है कि वे प्रियजनों की मृत्यु का सामना कैसे करें? जिनके साथ इतने लम्बे समय तक हम रहते हैं, वे अकस्मात् एक दिन काल-कवलित होकर इस प्रकार अदृश्य हो जाते हैं; मानो वे कभी थे ही नहीं। ऐसे में धैर्य का बाँध टूट जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह ठीक है, किन्तु क्या कभी ऐसा हुआ है कि कोई उत्पन्न तो हो किन्तु मरे नहीं? जो अटल नियम है उस विषय में शोक करना बुद्धिमता नहीं कही जा सकती। इस प्रकार यदि हम आत्मा की अजरता-अमरता को न मान कर मनुष्य को सदा उत्पन्न होने वाला और सदा मरने वाला भी मान कर चलें तो मृत्यु पर शोक करना उचित नहीं है। सभी प्राणी उत्पन्न होने से पहले अव्यक्त होते हैं और मरने के बाद भी अव्यक्त ही हो जाते हैं। केवल जन्म और मृत्यु की अवधि के बीच में ही व्यक्त रहते हैं।

माया का चमत्कार

आश्चर्य की बात यह है कि हम सब जानते हैं कि जो जन्मा है उसे मरना है और हम यह भी जानते हैं कि हमें भी अवश्य ही मरना है। किन्तु हम यह जानकर भी मानते यही हैं कि हम कभी नहीं मरेंगे। हमारे सारे व्यवहार यही मान कर चलते हैं कि हम कभी नहीं मरेंगे। हम जानते कुछ और हैं और मानते कुछ और, यह माया का चमत्कार

है। राजा युधिष्ठिर से एक बार एक यक्ष ने प्रश्न किया था कि संसार में आश्चर्य क्या है ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि प्रतिदिन हम देखते हैं कि सभी लोग काल–कवलित हो रहे हैं किन्तु जो काल–कवलित होने से बचे हुए लोग हैं, वे समझते हैं कि हम कभी नहीं मरेंगे – यही संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य है।

नीतिकारों ने यह प्रश्न भी उठाया कि यदि हम यह स्मरण रखें हम मरने वाले हैं तो फिर संसार में कुछ भी करने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। समाधान यह दिया गया कि धर्म का आचरण करते समय तो यही ध्यान रखना चाहिए कि मृत्यु हमारे केश पकड़े है, न जाने कब खींचकर अपने पास बुला ले, किन्तु विद्या का अर्जन करना हो तो अपने आपको अजर–अमर समझकर ही विद्या पढ़नी चाहिए। अपने जीवन के अन्तिम समय में भारत की स्वतन्त्रता के बाद महात्मा गांधी साम्प्रदायिक उन्माद शान्त करने बंगाल में नोआखली गए तो अपने व्यस्त समय में से समय निकालकर एक बंगाली अध्यापक से बंगला अक्षर लिखने–पढ़ने का अभ्यास उस वृद्धावस्था में भी कर रहे थे। यह है विद्यानुराग का उदाहरण। वेद के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित दामोदर सातवलेकर अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में संस्कृत का एक अक्षर भी नहीं पढ़े थे। जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्हें वेद पढ़ने के लिए संस्कृत सीखने की धुन लगी तो उन्होंने न केवल संस्कृत सीखी अपितु संस्कृत सीखकर वेद पढ़े और वेदों पर इतना अधिक कार्य किया कि बचपन से संस्कृत और वेद पढ़ने वाले भी उनके सामने फीके पड़ गए। यह विद्या-व्यसन का उदाहरण है। यह सब इसलिए कहा जा रहा है कि अवश्यम्भावी मृत्यु का अर्थ यह न मान लिया जाए कि मनुष्य को अकर्मण्य बन जाना चाहिए। तथापि यदि कभी लोभवश अथवा भयवश अनुचित उपाय द्वारा अपने को बचाने के लिए असत्य अथवा असदाचरण का सहारा लेने का विकल्प सामने आए तो मृत्यु को अवश्यम्भावी मानकर असत्य को अपनाने की अपेक्षा मृत्यु का ही वरण करना चाहिए। मृत्यु की अवश्यंम्भाविता को समझकर ही वीर हकीकत राय ने एवम् गुरु गोविन्द सिंह के दोनों पुत्रों ने मृत्यु का हँसते–हँसते वरण कर लिया था, किन्तु अपना धर्म छोड़कर इस्लाम कबूल नहीं किया था। जो मृत्यु से डरते हैं वे सदा ही भयभीत रहते हैं और कभी कोई वीरतापूर्ण कार्य कर ही नहीं पाते हैं। महात्मा गांधी के अहिंसक आन्दोलन के पीछे अभय का भाव था कि अंग्रेजों की दमन नीति से सत्याग्रही डरते नहीं थे। कायर मनुष्य कभी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। यह तो हुआ इस पक्ष का विवेचन कि मनुष्य नित्य उत्पन्न होता है तथा नित्य मरता है, तो फिर मौत से डरने की अथवा किसी की मौत पर शोक करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह सिद्धान्त पक्ष नहीं है। सिद्धान्त तो यही है कि देह मरती है, देही आत्मा कभी नहीं मरता। तब प्रश्न होता है कि यदि शरीर मरणधर्मा है और आत्मा अमर्त्य है फिर इन दोनों का सम्बन्ध कैसे हो जाता है? वस्तुतः शरीर और आत्मा के परस्पर सम्बन्ध का यह प्रश्न सदा से पहेली ही बना रहा है। जिन्होंने इस सम्बन्ध पर विचार किया उन्हें कोई युक्तियुक्त समाधान नहीं मिला अपितु उन्होंने इसे एक आश्चर्य ही माना। जिन्होंने इस तत्त्व का उपदेश दिया उन्होंने भी इसे एक आश्चर्य के रूप में ही व्याख्यायित किया। सुनने वालों ने भी इसे एक आश्चर्य ही माना। कोई इसे जान नहीं पाया –

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्।
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः॥
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति।
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

वस्तुस्थिति यह है असङ्ग ईश्वर का ससङ्ग संसार को बनाना, अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर के साथ सम्बन्ध व्यापक ब्रह्म का परिच्छिन्न जगत् रूप में व्यक्त होना आदि कुछ विषय ऐसे हैं जिनको आश्चर्यों की कोटि में डालने के अतिरिक्त हमारे पास कोई और विकल्प नहीं है। अनेक दार्शनिकों ने इन प्रश्नों के अनेक उत्तर देने का प्रयत्न किया है किन्तु सभी उत्तर कहीं न कहीं अटक जाते हैं। ज्ञान जोकि स्थिर है, क्रियामय कर्म से किस प्रकार जुड़ा है – यह कहना कठिन है। निर्गुण सगुण कैसे बन जाता है – यह सब माया ही है। माया का एक लक्षण यह है कि तर्कगम्य नहीं होती। जब श्रुति ही यह कह देती है कि उसे न वेद जान पाए, न विष्णु, न ब्रह्मा, तो फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है? वहाँ न मन की गति है, न वाणी की –

संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥

उस स्थिति को योगी ही जान सकता है। योगी वह है जिसने चित्त वृत्ति का निरोध कर लिया – **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।** उस अ-मन की स्थिति में ही यह तत्त्व गम्य है, तर्कगम्य नहीं। उपनिषद् में प्रश्न उठा था कि आत्मा तो सबको जानता है किन्तु आत्मा को किसके द्वारा जाना जाए – **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।** आत्मा को तर्कातीत बताना संशयवाद नहीं है; जो तर्कातीत है उसे तर्कातीत रूप में कहना–समझना यथार्थवाद है, संशयवाद नहीं। तर्क की गति प्रकृति तक ही है, प्रकृति से परे तर्क नहीं जा पाता –

अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

मूल तथा अनुवाद

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२६॥

कोई इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है तो कोई दूसरा इस आत्मा का आश्चर्य की तरह वर्णन करता है। कोई इसे आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई सुनकर भी इसे नहीं जान पाती ॥२६॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

हे अर्जुन ! किसी के भी शरीर में रहने वाली इस आत्मा को मारा नहीं जा सकता। इसलिए तुम्हारे लिए यह उचित नहीं कि किसी भी प्राणी के लिए शोक करो॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥

अपने धर्म को भी देखकर तुम्हें भय नहीं करना चाहिये। क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्म-युद्ध से बढ़ कर कोई दूसरा हितकारी काम नहीं है ॥३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥३२॥

हे पार्थ ! भाग्यवान् क्षत्रिय ही स्वर्ग के खुले हुए द्वार–रूप अपने आप प्राप्त होने वाले इस प्रकार के युद्ध का अवसर पाते हैं ॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥

और यदि तुम इस धर्म-युद्ध को नहीं करोगे तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप के भागी बनोगे ॥३३॥

अकीर्त्तिश्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥३४॥

और सब लोग तुम्हारे बहुत काल तक रहने वाले अपयश की चर्चा करेंगे तथा सम्मानित व्यक्ति के लिये अपयश मृत्यु से भी अधिक (दुःखदायी) है॥३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

महारथी तुम्हें भयवश युद्ध से उपरत मानेंगे और उनकी दृष्टि में तुम बहुत सम्मानित हो, उनके सामने तुम छोटे हो जाओगे ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥३६॥

तुम्हारा अहित चाहने वाले तुम्हारी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत सी ऐसी बातें कहेंगे जो नहीं कही जानी चाहिये। भला इससे बढ़कर दुःख की और क्या बात होगी ?॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥३७॥

यदि तुम मारे गये तो स्वर्ग मिलेगा अथवा जीत कर तुम पृथ्वी का राज्य भोगोगे। इसलिए हे कुन्तीपुत्र! युद्ध का निश्चय करके खड़े हो जाओ ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

जय–पराजय, लाभ–हानि तथा सुख-दुःख को समान समझ कर युद्ध के लिए तत्पर हो जाओ। इस प्रकार (युद्ध करने से) तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ! यह मैंने तुम्हें सांख्य (ज्ञान योग) के बारे में बताया, अब तुम कर्म योग के बारे में सुनो। जिसको समझने से तुम कर्म के बन्धन को काट डालोगे॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥३९॥

इस कर्मयोग में किये गये उपक्रम का नाश नहीं होता और न कोई बाधा आती है इस कर्म-योग का थोड़ा सा भी सम्पादन करने पर बहुत बड़े भय से रक्षा हो जाती है॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

हे अर्जुन ! इस कर्मयोग में एक ही निर्णयात्मक बुद्धि होती है। किन्तु अस्थिर विचार वाले (सकाम मनुष्यों की) बुद्धियाँ अनन्त और अनेक प्रकार की रहती हैं॥४१॥

विपुल-भाष्य

आसक्ति छोड़ें, कर्म नहीं

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह समझा दिया कि युद्ध में उसे प्रत्येक स्थिति में लाभ है – यदि वह मारा गया तो उसे स्वर्ग मिलेगा और यदि विजयी हो गया तो उसे राज्य मिलेगा। किन्तु यह बात अर्जुन जैसे समझदार व्यक्ति को आकृष्ट करने वाली नहीं। स्वर्ग का सुख भी अन्ततोगत्वा नाशवान् है - **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति**। ऐसे स्वर्ग से क्या लाभ जहाँ से पुनः लौटना पड़े? राज्य के सम्बन्ध में अर्जुन पहले ही कह चुका है कि भाई-बन्धुओं को मार कर उसे त्रिलोकी का भी राज्य नहीं चाहिए, पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या? अतः कर्त्तव्य कर्म में सुख-दुःख को समान मान कर प्रवृत्त होना चाहिए – यह उपदेश श्रीकृष्ण देते हैं –

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

यहाँ श्रीकृष्ण का स्तर बदल गया है – पहले वे स्वर्ग और राज्य की बात कर रहे थे, अब वे लाभ-अलाभ में समान बुद्धि रखने की बात कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि वे अब तक सांख्य की बात कर रहे थे जबकि अब वे योग की बात करना चाहते हैं –

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि॥

अर्जुन भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करने की बात कर रहा था। भिक्षाचर्या से संन्यास संकेतित होता है। संन्यास का स्वर निवृत्ति-प्रधान है, इसे ही ज्ञान योग भी कहा जाता है। इसी ज्ञानयोग को आधार बनाकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह समझाया कि आत्मा नित्य है अतः वह मरती नहीं और आत्मा निर्विकार है उसमें कर्तृत्व नहीं है, अतः वह किसी को मारती भी नहीं है। अतः अर्जुन यदि ज्ञानयोग में भी विश्वास करता हो तो युद्ध-कर्म से विरत नहीं होना चाहिए। इसी ज्ञान को यहाँ सांख्य कहा गया है।

फल एक, प्रक्रिया भिन्न

श्रीकृष्ण कहते हैं कि सांख्य की चर्चा तो उन्होंने कर दी, अब वे योग की चर्चा करेंगे। यद्यपि आगे चलकर श्रीकृष्ण कहने वाले हैं कि सांख्य और योग दोनों एक ही हैं – **एकं सांख्य च योगं च यः पश्यति स पश्यति**, तथापि सांख्य ज्ञानयोग है और योग कर्म योग है, जैसा कि कहा गया है – **ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्**। निष्कर्ष यह है कि सांख्य और योग दोनों का फल एक है, तथापि दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। श्रीकृष्ण ने सांख्य के माध्यम से जिस बात को अब तक समझाया है, उसी को अब वे कर्म योग के माध्यम से समझाना चाह रहे हैं।

श्रीकृष्ण का कहना है कि योग की समझ यदि आ जाए तो कर्म का बन्धन नहीं रहता। ज्ञानयोग की गलत समझ वाले लोगों का कहना है कि कर्म करेंगे तो बन्धन होगा ही। अर्जुन ज्ञानयोग की ऐसी ही गलत समझ का शिकार हो गया था और बन्धन के भय से कर्म को छोड़ना चाहता था। प्रश्न होता है कर्म किया जाए और बन्धन न हो ऐसा कौन-सा तरीका है? उत्तर यह है कि बन्धन का कारण आसक्ति है, कर्म नहीं। इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। शुद्ध दर्पण के सम्मुख कोई भी पदार्थ लाइए, वह पदार्थ उस दर्पण में प्रतिबिम्बित होगा किन्तु दर्पण में चिपक नहीं जाएगा, दर्पण वैसा का वैसा निर्मल बना रहेगा। किन्तु यदि उसी दर्पण पर वह मसाला लगा दिया जाए जो कैमरे की प्लेट में होता है तो वह दर्पण कैमरे की प्लेट बन जाएगा और जो पदार्थ भी उस प्लेट के सामने रखा जाएगा उसी पदार्थ से वह प्लेट रंजित हो जाएगा। आत्मा शुद्ध दर्पण है। कर्म उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु इतने मात्र से आत्मा मलिन नहीं होती। किन्तु आत्मा पर जब राग-द्वेष का आसक्ति भाव आरूढ हो जाता है तो उस आसक्ति भाव से कर्म चिपट जाता है, इसे ही कर्म-बन्धन कहा जाता है।

आत्मा की नित्यता

जब यह कहा जाता है कि त्याग से ही मोक्ष हो सकता है – त्यागेनेकेनामृतत्वमानसुः – तो त्याग का अर्थ आसक्ति का त्याग है। यदि यहाँ त्याग का अर्थ कर्म का त्याग लें तो स्पष्ट ही श्रुति की इस आज्ञा का उल्लंघन करना पड़ेगा कि कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। – **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।** ऐसी स्थिति में आसक्ति त्याग की ही बात की जा सकती है, कर्म त्याग की नहीं। अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ सांख्य के अनुसार आत्मा की नित्यता और निर्विकारता को ध्यान में रखते हुए कर्म करते रहने चाहिए वहाँ योग के अनुसार आसक्ति छोड़कर कर्म करते रहने चाहिए। यदि ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि आत्मा की नित्यता और निर्विकारता समझ लेने पर आसक्ति भाव स्वयं ही दूर हो जाता है। अतः सांख्य और योग दोनों एक-दूसरे के समर्थक हैं, न कि एक-दूसरे के विरोधी। **सांख्ययोगो पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।**

योग-मार्ग की सांख्य से एक विशेषता है और वह यह कि योग मार्ग में अभ्युदय तो है, किन्तु प्रत्यवाय अर्थात् विघ्न अथवा बाधा नहीं है। यदि कोई योग-मार्ग का थोड़ा भी अनुकरण करे तो वह बहुत बड़े भय से बच जाता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।

अभ्युदय का अर्थ है – ऊपर की ओर जाना और प्रत्यवाय का अर्थ है – पीछे की ओर जाना। हम दो प्रकार के आकर्षणों के बीच में रह रहे हैं। पृथ्वी का भौतिक आकर्षण है, यही नरक में ले जाता है। सूर्य का दिव्य आकर्षण है, वही स्वर्ग में ले जाता है। हममें इन दोनों में से कोई एक आकर्षण अधिक बलवान् हो सकता है किन्तु दूसरे आकर्षण का भी सर्वथा अभाव नहीं हो सकता इसलिए हमारे हर पुण्य कर्म में भी अशुभ का समावेश रहता ही है। इसी आधार पर सांख्य दर्शन में वैदिक कर्मकाण्ड को सर्वथा निर्दोष नहीं माना गया है। सांख्य दर्शन में ही नहीं उपनिषदों में भी यज्ञों को कमजोर नौका बताया गया है। **प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः।**

श्रीकृष्ण गीता में एक अद्भुत उपाय सुझा रहे हैं जिसके द्वारा अभ्युदय भी बना रहे और प्रत्यवाय भी न हो। कर्म करें तो अभ्युदय बना रहेगा। कामना छोड़ दें तो प्रत्यवाय नहीं होगा। जैसे ही कामना छूटती है वैसे ही शान्ति प्राप्त होती है।

यहाँ गीता में "अभिक्रम" शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि हम किसी कर्म पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि कर्म कोई एक क्रिया नहीं है। जैसे हम भोजन बनाने की क्रिया को लें तो उसमें आटा गूँथना, सब्जी छीलना, रोटी बेलना आदि अनेक क्रियाएँ शामिल हैं। इन क्रियाओं की राशि को ही यहाँ अभिक्रम कहा गया है। क्रम का अर्थ है चलना, विक्रम का अर्थ है जिसमें आगे की ओर न जाकर पीछे की ओर जाया जाए। सभी क्रियाएँ गति-आगति से अथवा क्रम-विक्रम से बनती हैं। जब हम एक कदम आगे रखते हैं तो दूसरे पाँव को पीछे हटना पड़ता है। इसे ही क्रम-विक्रम अथवा प्राण-अपान कहा जाता है। विष्णु ने तीन विक्रम में तीनों लोगों को नाप लिया था। भर्तृहरि ने कहा कि अनेक क्रमों के मिलने से क्रिया बनती है।

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।

जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, कर्म भी आत्मा का स्वभाव है। इसीलिए श्रुति यह कहती है कि अमृत में मृत्यु है और मृत्यु में अमृत है। यह भी स्पष्ट है कि सामान्यतः कर्म से वासना उत्पन्न होती है। इस वासना को निष्क्रिय ज्ञान द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। इस वासना को निष्काम कर्म द्वारा ही दूर किया जा सकता है। प्रारब्ध कर्म तो भोगने पड़ते हैं किन्तु संचित और क्रियमाण कर्म अनासक्ति की स्थिति में बन्धन नहीं कर पाते।

शास्त्रसिद्ध और अनुभवसिद्ध

कर्म बन्धन का कारण है – यह मानकर कर्म को छोड़ने की बात सोची जा सकती है, किन्तु कर्म छूट नहीं सकता। यह न केवल शास्त्रसिद्ध है, अपितु अनुभवसिद्ध भी है। अतः एकमात्र उपाय यही है कि कर्म किए जाएँ किन्तु

फल के प्रति आसक्ति न रखी जाए। इसके विपरीत जो ज्ञान योग के नाम पर कर्म छोड़ देते हैं उनका अभ्युदय भी बाधित हो जाता है, निःश्रेयस् की प्राप्ति की तो बात ही नहीं है। दूसरी ओर जो ज्ञान के बिना कर्म में लगे रहते हैं वे भले ही क्षणिक अभ्युदय को प्राप्त कर लें किन्तु मानसिक शान्तिरूप निःश्रेयस को तो वे भी नहीं प्राप्त कर सकते। फिर भी इतना तो कहना होगा कि कर्म छोड़ देने वाले उस व्यक्ति की अपेक्षा तो वे अच्छे हैं जिन्हें न अभ्युदय मिल पाता है, न निःश्रेयस्। इसीलिए श्रुति कहती है कि जो कर्म में रत हैं वे तो अन्धकार में जाते ही हैं किन्तु ज्ञान में फँसे हुए लोग और भी अन्धकार में जाते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

श्रीकृष्ण ने अनासक्त भाव से कर्म करने की बात कहकर अर्जुन को दोनों प्रकार के अनिष्टों से बचने का उपाय सुझाया है। गीता का यही वैशिष्ट्य है। कर्म का उपदेश देने वाले शास्त्र भी बहुत हैं और ज्ञान-वैराग्य की चर्चा भी अनेक ग्रन्थों में है, किन्तु अनासक्त भाव से कर्म सम्पादित करने का जो मार्ग गीता में दिखाया, वह वस्तुतः मनुष्य के लिए भगवान् का सर्वोत्तम प्रसाद है।

बुद्धियोग का महत्त्व

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आसक्ति छोड़ने के लिए कहा। प्रश्न होता है कि आसक्ति कहाँ से उत्पन्न होती है ? उत्तर है कि आसक्ति त्रिगुणात्मकता से उत्पन्न होती है। जहाँ-जहाँ त्रिगुणात्मक का प्रभाव है वहाँ-वहाँ आसक्ति है। हमारे अर्थात् अध्यात्म के पाँच स्तर कठोपनिषद् में बताए गए हैं – (१) इन्द्रिय, (२) मन, (३) बुद्धि (४) महान् तथा (५) अव्यक्त। कठोपनिषद् के मूल मन्त्र इस प्रकार है –

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः

हमें अध्यात्म के उपर्युक्त पाँच स्तरों को थोड़ा विस्तार से समझना होगा। कठोपनिषद् ने अध्यात्म के पाँच स्तर बताते समय यह भी कहा है कि अव्यक्त से परे पुरुष है। स्पष्ट है कि अध्यात्म के उपर्युक्त पाँच स्तर प्रकृति से जुड़े हैं। यूँ तो प्रकृति के सभी रूप त्रिगुणात्मक हैं किन्तु त्रिगुणात्मकता का प्रभाव अव्यक्त स्तर पर प्रतीति में नहीं आ सकता। इसीलिए उसका नाम अव्यक्त है।

त्रिगुण का आविर्भाव

त्रिगुण का आविर्भाव सर्वप्रथम महान् के स्तर पर होता है। महान् तत्त्व क्या है – यह स्पष्ट होना चाहिए। हममें रक्त-सञ्चार, नाड़ी-स्पन्दन, हृदय की धड़कन, श्वास-प्रश्वास आदि कुछ क्रियाएँ स्वतः होती रहती हैं जिन्हें अस्वैच्छिक (इन्वॉलेन्टरी) क्रिया कहा जाता है। प्रश्न होता है कि इन क्रियाओं को कौन करता है? हम बुद्धिपूर्वक तो इन क्रियाओं को करते नहीं हैं। जो इन क्रियाओं को करता है वही महान् तत्त्व है। इस महान् तत्त्व में सत्त्वगुण प्रधान रहता है। इसीलिए इसके कार्यों में प्रायः नियमितता रहती है। रक्त-सञ्चारादि क्रियाएँ हमारे बौद्धिक नियंत्रण के बिना ही प्रायः विधिपूर्वक कार्य करती हैं। यदि इन क्रियाओं में भी विकार आ जाए तो समझना चाहिए कि हमारे मन ने महत् पर आक्रमण कर दिया है। आयुर्वेद में इसे ही प्रज्ञापराध कहा जाता है। आज की भाषा में यही मनः-कायिक (साइकोमैटिक) रोगों का कारण है। यदि महत् तत्त्व पर मन का विकार छा जाए तो महत् द्वारा सञ्चालित क्रियाएँ गड़बड़ा कर ऐसे रोग उत्पन्न कर देती हैं जो असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य होते हैं। उदाहरणतः रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) का कम या ज्यादा होना अथवा अस्थमा आदि। किन्तु सामान्यतः महत् तत्त्व-सत्त्व प्रधान होने के कारण अपने कार्य यथाविधि नियमानुसार ही करता है। महत् तत्त्व के बाद क्रमशः बुद्धि और मन आते हैं। बुद्धि में भी सत्त्वगुण ही नैसर्गिक रूप

से मुख्य रहता है, किन्तु बुद्धि पर मन का प्रभाव अधिक रहता है और मन में तीनों गुण रहते हैं। जिसके मन में रजोगुण अधिक है वह चञ्चल होता है। यदि हमारा मन आलस्य में पड़ा रहे तो समझना चाहिए तमोगुण प्रधान है। मन की एकाग्रता सत्त्व गुण की प्रधानता की सूचक है। मन के ये तीनों गुण बुद्धि पर भी आरोपित हो जाते हैं क्योंकि बुद्धि मन में प्रतिबिम्बित होती है। मन इन्द्रियों के माध्यम से उनके नाना विषयों की ओर दौड़ता है, यथा चक्षुः का विषय रूप, कर्ण का विषय शब्द, नासिका का गन्ध, जिह्वा का रस, स्पर्श का विषय शीतोष्णादि। मन इन्द्रियों के माध्यम से इन विषयों की ओर दौड़ता है। यही मन की चञ्चलता है। जैसे पात्र में भरा जल यदि हिल रहा हो तो उसमें प्रतिबिम्बित सूर्य भी हिलता हुआ दिखाई देता है। यद्यपि वह वस्तुतः हिलता नहीं; यही चञ्चल मन के साथ जुड़ी बुद्धि की स्थिति है। हमने कहा कि महत् तत्त्व में त्रिगुणात्मकता है; यद्यपि स्वभावतः उसमें सत्त्वगुण प्रधान है। यदि मनोविकारों के कारण महत् में सत्त्वगुण अभिभूत हो जाए तो शरीर की श्वास–प्रश्वास आदि क्रियाओं में भी विकार आकर अस्थमा जैसा रोग पैदा कर देता है। मन में क्रोध आदि का आवेश होने पर साँस स्वतः तेज चलने लगती है। यह इस बात का प्रमाण है कि मनोभाव किस प्रकार हमारी अस्वैच्छिक अथवा अर्द्धस्वैच्छिक क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। इसी की विपरीत स्थिति यह भी है कि यदि श्वास–प्रश्वास को शान्त कर लें तो मन भी शनैः–शनैः स्वतः ही शान्त हो जाएगा। इसीलिए प्राणायाम का महत्त्व है। प्राणायाम केवल शारीरिक व्यायाम नहीं है, वह मन को निर्मल बनाने का अचूक उपाय है। अनेक रोग जो औषधियों से ठीक नहीं हो सकते, विधिपूर्वक प्राणायाम करने से ठीक हो सकते हैं। यदि प्रारम्भ से ही नियमित प्राणायाम किया जाए तो अनेक रोगों के होने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। जैसे महत् तत्त्व में नैसर्गिक रूप से सत्त्व प्रधान है, उसी प्रकार बुद्धि में भी स्वभावतः सत्त्व गुण ही मुख्य है। यह बुद्धि की सत्त्व गुण प्रधानता ही है कि बुद्धि सांसारिक विषयों में स्थिर हो जाती है। सांसारिक विषयों में हमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वह विषयों का आनन्द नहीं है अपितु मन की स्थिरता का आनन्द है। जब हम दुःखी होते हैं तो कहते हैं आज तो मेरा मन उचाट हो गया है, किसी भी काम में नहीं लग रहा, कारण यह है कि मन की स्थिरता सुख का कारण है और मन की अस्थिरता दुःख का कारण है।

भोक्ता और साक्षी

मन की स्थिरता कैसे बने? इसे जानने के लिए हम यह समझें कि अध्यात्म में दो अंश हैं – भोक्ता और साक्षी। अव्यक्त और महान् साक्षी हैं, मन और इन्द्रियाँ भोक्ता हैं। साक्षिभाव ईश्वर है, भोक्तृभाव जीव है। बुद्धि इन दोनों के बीच में है। यदि बुद्धि भोक्तृभाव से जुड़ जाए तो आसक्ति होगी और यदि बुद्धि साक्षिभाव से जुड़ जाए तो अनासक्ति रहेगी। **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः** – यह भोक्ता है। **साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** – यह साक्षी है। एक ही शरीर रूपी वृक्ष में दोनों पक्षी के समान बैठे हैं – एक कर्मफल खाता है; दूसरा खाता नहीं केवल देखता है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति॥

पहला वर्णन उपनिषद् का है तथा दूसरा वर्णन वेद का है। गीता के वर्णन का प्रकार तीसरा है। व्यवसायात्मिका बुद्धि एक है किन्तु अव्यवसायी की बुद्धियाँ अनन्त और अनेक शाखाओं वाली हैं–

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

सत्य एक है, विषय अनन्त हैं। जब बुद्धि सत्य में स्थित होती है तो वह एक को देखती है, जब वह विषयों में फँस जाती है तो वह कभी धन की ओर दौड़ती है कभी प्रतिष्ठा की ओर, कभी पुत्रादि के अभ्युदय की ओर; इस प्रकार उसकी अनेक शाखाएँ हो जाती हैं। फल यह होता है कि बुद्धि एक पर केन्द्रित नहीं हो पाती, इसलिए उसे सफलता नहीं मिल पाती। यदि एक विषय में सफलता मिल भी जाए तो दूसरे विषय उसे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और इस प्रकार कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती – **शान्तिमाप्नोति न कामकामी।**

प्रश्न होता है कि बुद्धि को स्थिर कैसे किया जाए? उत्तर है कि बुद्धि को आत्मा में लगाने से बुद्धि स्थिर हो सकती है। आत्मा का स्वरूप शान्त है। हमारी बुद्धि आत्मस्थ है या नहीं, इसकी पहचान यह है कि यदि हम शान्त हैं तो समझना चाहिए कि हमारी बुद्धि आत्मस्थ है, अन्यथा नहीं। जो शान्त नहीं है संसार का सारा वैभव भी उसे सुख नहीं दे सकता। मूल श्लोक में अव्यवसायी लोगों के लिए बुद्धि शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया है। जब तक दर्पण एक है तब तक सूर्य का प्रतिबिम्ब एक ही होगा। दर्पण के टुकड़े हो जाएँ तो सूर्य के प्रतिबिम्ब भी अनेक हो जाएँगे। यदि हमारा मन स्थिर है तो उस पर बुद्धि का पड़ने वाला प्रतिबिम्ब एक होगा। मन अस्थिर हो जाए तो मन पर बुद्धि के पड़ने वाले प्रतिबिम्ब भी अनेक हो जाएँगे। इतना ही नहीं है कि यदि एक के बाद दूसरे, तीसरे काँच लगा दिए जाए तो पहले काँच में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब दूसरे में और दूसरे काँच में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब तीसरे काँच में पड़ता जाएगा। बहुशाखा का यही अभिप्राय है।

मन और बुद्धि का सम्बन्ध

मन और बुद्धि का परस्पर सम्बन्ध सदा बना रहने वाला है। विचारणीय बात केवल इतनी है कि बुद्धि मन से संचालित होती है या मन बुद्धि से संचालित होता है। मन और बुद्धि के इस सम्बन्ध को कठोपनिषद् ने एक सुन्दर रूपक द्वारा समझाया है – इन्द्रियाँ अश्व हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथि है, आत्मा रथी है और विषय वे मार्ग हैं जिन पर इन्द्रियों के घोड़े दौड़ रहे हैं। इस शरीर रूपी रथ को जब बुद्धि रूपी सारथि, मन लगाम द्वारा, इन्द्रिय रूपी घोड़ों को नियन्त्रण में रखते हुए चलाता है तो आत्मा रूपी रथी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अन्यथा वह मार्ग भ्रष्ट हो जाता है। स्पष्ट है कि इस सारे रूपक में बुद्धि का स्थान ही मुख्य है। प्रसिद्ध है – **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।** जैसे अध्यात्म में बुद्धि का स्थान मुख्य है वैसे ब्रह्माण्ड में सूर्य का स्थान केन्द्र में है। सूर्य के ऊपर भी दो पिण्ड हैं – परमेष्ठी और स्वयम्भू तथा सूर्य के नीचे भी दो पिण्ड हैं – चन्द्रमा और पृथ्वी। सूर्य से ऊपर अमृतत्त्व है। सूर्य से नीचे मृत्यु तत्त्व है। सूर्य दोनों के मध्य में है। इधर अध्यात्म में महान् और अव्यक्त का सम्बन्ध विद्या से है, मन और शरीर का सम्बन्ध अविद्या से है। बुद्धि इन दोनों के बीच में समभाव में स्थित है। किन्तु जब वह अविद्या से अभिभूत हो जाती है तो अस्थिर हो जाती है। यही उसकी अव्यवसायात्मकता है।

जो बुद्धि व्यवसायात्मक है अर्थात् केन्द्र अथवा आत्मा में स्थित है उसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य नामक चार भग प्राप्त होते हैं। जो भग से युक्त है, वही भगवान् है। अव्यवसायात्मक बुद्धि के फल पाँच क्लेश हैं – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। भग बुद्धि शान्ति देती है, क्लेश बुद्धि दुःख की जननी है। हमारे प्रत्येक कर्म में बुद्धि का योग है। यदि हमारी बुद्धि धर्म्मादि भगों से प्रेरित है तो वह बुद्धि का योग, बुद्धियोग बन जाता है। अविद्यादि से प्रेरित बुद्धि का योग वस्तुतः बुद्धि का योग नहीं है। बुद्धियोग से युक्त कर्म ही कर्मयोग है तथा बुद्धियोग से युक्त ज्ञान ही ज्ञानयोग है। बुद्धियोग के बिना कर्म बन्धन है तथा ज्ञान ज्ञानाभास है। ये दोनों ही मुक्ति का मार्ग नहीं हैं।

फलासक्ति कर्मकुशलता में बाधक

गीता के सन्देश को समझने के लिए सर्वप्रथम यह समझना होगा कि जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का सहज धर्म है, कर्म भी उसी प्रकार आत्मा का धर्म है। जब हम ज्ञान को तो आत्मा का धर्म मानते हैं किन्तु कर्म को आत्मा का धर्म नहीं मानते तो हमारा यह आग्रह रहता है कि हमें कर्म का त्याग करके ज्ञाननिष्ठ बनना चाहिए। गीता तथा वेदान्त के अन्य ग्रन्थों का व्याख्यान इस प्रकार से हुआ भी है कि इन शास्त्रों का अभिप्राय कर्म को छोड़ कर ज्ञाननिष्ठ बन जाने में है।

इस प्रकार की व्याख्या वेद–विरुद्ध तो है ही, वेदान्त की प्रस्थान–त्रयी के विरुद्ध भी है। यजुर्वेद ने विद्या (ज्ञान) तथा अविद्या (कर्म) दोनों की साथ–साथ उपासना करने का स्पष्ट आदेश दिया है। अविद्या से मृत्यु को पार किया जाता है तथा विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति की जाती है। यजुर्वेद के ही प्रथम प्रामाणिक भाष्य शतपथ ब्राह्मण ने मानो इसी भाव की व्याख्या करते हुए कह दिया है कि मृत्यु में अर्थात् कर्म में अमृत अर्थात् ज्ञान तथा अमृत अर्थात् ज्ञान

में मृत्यु अर्थात् कर्म ओत-प्रोत है। मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद के इन वक्तव्यों के आलोक में ही तो हमें गीता की व्याख्या करनी होगी, अन्यथा वेद तथा गीता में विरोध मानना होगा। गीता को तो परम्परा उपनिषद् रूपी धेनुओं का अमृत दुग्ध मानती है अतः गीता और श्रुति में विरोध मानना तो किसी को भी स्वीकार्य नहीं है।

ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के कर्म त्यागने के प्रस्ताव को स्पष्टतः अस्वीकार कर दिया है। कर्म को छोड़ा जा भी नहीं सकता और छोड़ा जाना चाहिए भी नहीं।

वेदोक्त कर्म का विकल्प

अब वर्तमान प्रसङ्ग में कर्मवादियों का यह विकल्प सामने आता है कि वेदोक्त कर्म करने चाहिए। यह विकल्प गीताकार को मान्य है किन्तु इस विकल्प में भी वे परिष्कार की आवश्यकता मानते हैं। समस्त संसार कर्म में रत है ही। अतः कर्म करना चाहिए – यह आदेश पिष्ट-पेषण ही होगा, इसमें कोई अपूर्वार्थता नहीं है। वेदोक्त कर्मकाण्ड भी करने वाले कम नहीं है। प्रश्न होता है कि क्या वेदोक्त कर्म करने वाले भी सुखी दिखाई देते हैं। अपने आस-पास निगाह दौड़ा कर देखें तो पता चलता है कि हर समय वेदोक्त जप-तप-यज्ञ करते रहने वाले भी सुखी तो दिखाई नहीं देते। वे भी आकुल-व्याकुल ही दिखाई देते हैं। यह स्थिति आज की नहीं है अपितु शतपथ ब्राह्मण में भी इसी प्रकार की स्थिति का वर्णन है। वहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि यज्ञ करने वाले तो दीन-दुःखी दिखाई देते हैं और यज्ञ न करने वाले सुखी दिखाई देते हैं, फिर यज्ञ क्यों किया जाए? आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भी मानो कर्मकाण्डियों की यही स्थिति थी जो आज है। तो क्या कर्मकाण्ड त्याज्य है ? गीता ऐसा नहीं मानती है। गीता कहती है कि यज्ञ-दान-तप छोड़ने नहीं चाहिए अपितु करने ही चाहिए। जो यज्ञ-शेष का भोग करते हैं वे गीता के अनुसार सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। इस विरोधाभास का परिहार केवल एक ही वाक्य में हो जाता है यदि हम यह मान लें कि गीता कर्म का तो प्रतिपादन करती है किन्तु फलासक्ति का निषेध करती है।

फलासक्ति रखने वाले व्यक्तियों को गीता वेदवादरत कहती है। उनकी वाणी में फूल तो आते हैं, फल कभी नहीं आते। उर्दू के कवि ने इसी भाव को इन शब्दों में कहा है –

काट के जड़ फेंक दे नखले तमन्ना की अमीर।
फूल कम्बख्त में आया, न कभी फल आया।।

वनस्पति में प्रथम फूल आता है फिर फल। खाया फल जाता है, फूल नहीं। जो कामनाओं से घिरे हैं वे किसी एक कामना की पूर्ति पर समझते हैं कि हमें सुख मिल जाएगा किन्तु जैसे ही वह कामना पूरी होती है कि उन्हें दूसरी कामना घेर लेती है और वे कभी भी सुखी हो ही नहीं पाते। यही पुष्पित वाक् का अभिप्राय है। फूल आ जाएगा, फल नहीं। किन्तु वेदवादरत फूल को ही सब कुछ समझ लेते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः।।

वेद में अनेक क्रियाओं के फल दिए हैं। सन्ध्या से दीर्घायु प्राप्त होती है। इसी प्रकार ज्योतिष्ठोम यज्ञ से स्वर्ग, राजसूय से वैभव, अश्वमेध से चक्रवर्ती पद, वाजपेय से सम्राट् पदवी, पुत्रेष्टि से पुत्र प्राप्ति आदि-आदि फलों का वर्णन शास्त्रों में है। यह वर्णन असत्य नहीं है किन्तु प्रश्न यह है – क्या इन सब फलों को प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य सन्तुष्ट हो जाता है? भोग ऐश्वर्य अवश्य प्राप्त होता है, स्वर्ग भी मिल सकता है, किन्तु कर्मकाण्ड का जटिल जाल तो छूटता नहीं और न ही जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिलता है।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।

कर्मकाण्ड की जटिलता बुद्धि को चञ्चल बनाए रखती है और जन्म-मरण का चक्र जीव को संसार में घुमाता रहता है। तृप्ति कभी मिलती नहीं। इस कारण व्यक्ति का चित्त एकाग्र होकर समाधि को प्राप्त नहीं हो पाता।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

ऐसी चञ्चल बुद्धि राग-द्वेष में फँस कर अपने विरोधियों के नाश की ही कामना किया करती है –

ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु।
इन्द्राग्निभ्यामवबाधामहे तान्॥

इस प्रकार की कामनाओं से घिरा मन कभी भी शान्त नहीं हो सकता, फिर सुख की तो चर्चा ही व्यर्थ है – अशान्तस्य कुतः सुखम् ?

कृत्रिम एवं स्वाभाविक कामनाएँ

प्रश्न होता है कि क्या कामना छोड़ दी जाए? बिना कामना के तो कर्म सम्भव ही नहीं है। उत्तर यह है कि कृत्रिम कामनाएँ छोड़ देनी चाहिए, स्वाभाविक कामनाएँ छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। कृत्रिम कामनाएँ जीव की हैं, स्वाभाविक कामनाएँ ईश्वर की हैं। शराब पीने की कामना किसी प्राणी में स्वभाव से सहज रूप में नहीं होती। बारम्बार के अभ्यास से यह कामना उत्थाप्य है, उत्थित नहीं; इसे प्रयत्नपूर्वक पैदा किया जाता है, यह स्वयं उत्पन्न नहीं होती। किन्तु सद्यःजात शिशु की माँ का स्तनपान करने की इच्छा उत्थित है, उत्थाप्य नहीं। वह इच्छा ईश्वर की इच्छा है। यदि शिशु में माँ के स्तनपान की इच्छा न हो तो वह जीवित ही नहीं रह सकता। हम सब में आहार-निद्रा आदि की इच्छा इसी कोटि की है। यदि वह इच्छा हम में न हो तो हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

अतः पहली बात तो यह हुई कि हम उत्थित इच्छाओं की पूर्ति करें, उत्थाप्य इच्छाओं की नहीं। उत्थित इच्छाओं की एक सीमा है। भूख लगी तो हम सीमित भोजन ही करते हैं, असीम भोजन नहीं। किन्तु हममें यदि धनवान् बनने की इच्छा पैदा हो जाए तो फिर सीमित धन से वह इच्छा समाप्त नहीं होती। ऐसी इच्छा का कोई अन्त नहीं। भोजन की इच्छा समाप्त हो जाए तो अजीर्ण रोग मानकर उसका इलाज किया जाता है और उस इच्छा को उत्पन्न करना पड़ता है किन्तु धनार्जन की इच्छा जाग जाए तो उसे लोभ नाम का रोग मानकर उसका इलाज सन्तोष रूपी औषधि से करना चाहिए। अजीर्ण का इलाज न हो तो भी व्यक्ति दुःखी हो जाता है। फलितार्थ यह हुआ कि स्वाभाविक इच्छा का न होना दुःख है और कृत्रिम इच्छा का होना दुःख है। अजीर्ण का इलाज आयुर्वेद करता है, लोभ का इलाज अध्यात्म शास्त्र करता है। भागवतकार कहते हैं कि व्यक्ति का स्वत्व उतने पर ही है जितने से उसका पेट भर जाए, जो इससे अधिक को अपना मानता है, वह चोर है और दण्डनीय है –

यावत्भ्रियते जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनः।
अधिकं योऽभिमन्येत सः स्तेनः दण्डमर्हति॥

कर्त्तव्य कर्म पर दृष्टि

स्वाभाविक और कृत्रिम कामना के बीच विवेक करने के अनन्तर दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति फल पर दृष्टि न लगा कर कर्त्तव्य कर्म पर दृष्टि रखे। फल पर दृष्टि रखने से कर्म की उपेक्षा हो जाएगी और करणीय न हो पाएगा तथा अकरणीय हो जाएगा। परिणामस्वरूप कर्म का स्वरूप अस्त-व्यस्त हो जाएगा और फल भी नहीं मिलेगा। फलासक्ति वाला व्यक्ति फल न मिलने पर और भी अधिक व्याकुल होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाएगा। इसके विपरीत केवल कर्म पर दृष्टि रखने वाला कर्म को सुचारु रूप से करेगा तो फल तो स्वतः ही निष्पन्न हो जाएगा। मान लें कि किसी पूर्व कर्म की बाधा आ जाने से कर्म से इष्ट फल न भी मिला तो ऐसा व्यक्ति अस्थिर न होगा क्योंकि फल पर तो उसकी दृष्टि थी नहीं। कर्म करने में जो आनन्द उसे मिलना था, वह तो कर्म के सम्पादन काल में उसे मिल ही गया। पण्डितराज जगन्नाथ ने एक श्लोक में कहा है कि विधाता यदि रुष्ट हो जाए तो हंस का कमलवन में विहार करना रोक सकता है लेकिन हंस में जो दूध का दूध और पानी का पानी करने की शक्ति है, उसे विधाता भी नहीं छीन सकता –

अम्भोजिनीवनविलासनिवासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्धकीर्त्तिमपहर्त्तुमसौ समर्थः।।

अतः कर्म-कुशलता ही वास्तविक योग है – योगः कर्मसु कौशलम्। और कर्म-कुशलता की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति फल के प्रति आसक्ति न रखे। निष्कर्ष यह हुआ कि कर्म न छोड़े जाएँ अपितु फल के प्रति आसक्ति का त्याग किया जाए।

मूल तथा अनुवाद

यामिमां पुष्पितां वाच प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

हे अर्जुन! कामनाओं में डूबे हुए वेद के गुणगान में लगे हुए, स्वर्ग के इच्छुक जो कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है, वे अविवेकी मनुष्य इस प्रकार की आवागमन रूप कर्म का फल देने वाली भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये जटिल क्रियाओं वाली फूली–फूली वाणी कहा करते हैं कि जिस वाणी से आकृष्ट मन वाले, भोग और ऐश्वर्य में आसक्त पुरुषों की एकाग्र बुद्धि समाधि में नहीं लगती ।।४२-४३-४४।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

हे अर्जुन ! वेदों का विषय त्रिगुणात्मक है, तू त्रिगुणों से अतीत निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्व में स्थित तथा योग–क्षेम की इच्छा से रहित आत्मवान् (स्वाधीन) बन ।।४५।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

सब ओर से जल–प्रवाह होने पर कूप के प्रति जितना प्रयोजन रहता है, तत्त्वज्ञ ब्रह्मवेत्ता का उतना ही प्रयोजन वेद से होता है।।४६।।

विपुल-भाष्य

कर्म आनन्दप्रद बन सकता है

गीता के कुछ श्लोक ऐसे हैं जिनके आधार पर यह शङ्का होती है कि गीताकार वेदों को तथा वेदोक्त कर्मकाण्ड को तुच्छ समझते हैं। उदाहरण के लिए यह वचन लीजिए – हे अर्जुन! वेद त्रैगुण्य-भावमय है, तू त्रैगुण्य से परे चला जा – त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन अथवा गीता का यह वक्तव्य लें – सारे में जल ही जल हो जाने

पर एक उदपान (खेली) का जितना प्रयोजन रह जाता है, उतना ही प्रयोजन ज्ञानी व्यक्ति के लिए सब वेदों का रह जाता है –

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

ऐसे वक्तव्यों के आधार पर गीता को वेद-विरोधी तथा वैदिक कर्मकाण्ड विरोधी बतलाने से पहले हमें यह ध्यान रखना होगा कि श्रीकृष्ण ने यह घोषणा की है कि मैं ही सब वेदों द्वारा वेद्य हूँ – **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।** वैदिक कर्मकाण्ड के लिए उनका कहना है कि यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त सभी कर्म बन्धन का कारण हैं – **यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।** वेद और यज्ञ की ऐसी प्रशंसा करने वाली गीता वेद की निन्दक तो नहीं हो सकती। न ही गीता को कर्मकाण्ड विरोधी बताया जा सकता है। वस्तुतः पराविद्या एवं अपराविद्या अथवा वेदान्त तथा वेद के बीच विरोध बताने का कार्य अज्ञानजनित है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है और उसी ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् पराविद्या अथवा वेदान्त का शिरोमणि ग्रन्थ है; शतपथ ब्राह्मण कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है, उसी ग्रन्थ का अन्तिम काण्ड बृहदारण्यकोपनिषद् वेदान्त का प्रामाणिक ग्रन्थ है। ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में पुरुष सूक्त तथा नासदीय सूक्त जैसे दार्शनिक सूक्त आते हैं। इन सभी ग्रन्थों में प्रारम्भ में कर्म तथा अन्त में ज्ञान की चर्चा का अर्थ इतना ही है कि सभी कर्म की समाप्ति अकर्म अथवा ज्ञान में होती है। ज्ञानकाण्ड को कर्मकाण्ड के विरोध में खड़ा करना एक ऐसा अज्ञान है कि उस अज्ञान के कारण हम भारतीय शास्त्रों के मर्म से ही अपरिचित रह जाते हैं।

फलासक्ति का विरोध

ज्ञानकाण्ड का पूरा विरोध फलासक्ति से है, कर्म से नहीं। फलासक्ति का एक परिणाम है – चित्त की चञ्चलता। चित्त की चञ्चलता का अर्थ है – बुद्धि की अस्थिरता और अस्थिर बुद्धि का अर्थ है – समाधि का अभाव। समाधि के बिना तत्त्वज्ञान होता नहीं और बिना तत्त्वज्ञान के मुक्ति नहीं। इस प्रकार फलासक्ति ज्ञान में बाधक बन कर मुक्ति में भी बाधक बनती है। इसी दृष्टि से कर्म का ज्ञान से विरोध भी माना जा सकता है, किन्तु, वस्तुतः यह विरोध कर्म और ज्ञान में न होकर फलासक्ति और ज्ञान में है।

फलासक्ति का मूल है – राग-द्वेष। द्वन्द्व से ही राग-द्वेष उत्पन्न होता है। सुख के प्रति राग तथा दुःख के प्रति द्वेष मनुष्य में बिना शास्त्र पढ़े ही उत्पन्न होता रहता है – **सीख बिना नर सीखत हैं विषयादिक सेवन की चतुराई।** शास्त्र का कार्य है कि मनुष्य को राग-द्वेष से ऊपर उठने की प्रेरणा दे। यही निर्द्वन्द्व होने का उपदेश है। यह निर्द्वन्द्वता वैराग्य से तथा वैराग्य तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है। इसीलिए शास्त्र तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। जैसे ही व्यक्ति निर्द्वन्द्व हो जाता है वैसे ही वह नित्य सत्त्व में स्थित हो जाता है – त्रिगुणात्मकता से ऊपर उठ जाता है। गीता की पंक्ति महत्त्वपूर्ण है – **निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।**

द्वन्द्व से ऊपर उठ कर साधक नित्य सत्त्व में स्थित होता है और नित्य सत्त्वस्थ होने पर योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त हो जाता है। योग का अर्थ है जो नहीं मिला उसकी प्राप्ति; क्षेम का अर्थ है जो मिल गया उसकी रक्षा। हमारा समस्त क्रियाकलाप इन दो बिन्दुओं के बीच ही घूमता रहता है। जब से हम होश सँभालते हैं तब से मरणपर्यन्त ये दो चिन्ताएँ हमें सदा सताया करती हैं – जो नहीं मिल रहा वह कैसे मिले; जो मिल गया वह कैसे सुरक्षित रह जाए। यही चिन्ता हमारे चित्त को क्षुब्ध रखती है।

गीता कहती है योगक्षेम की चिन्ता करना व्यर्थ है। पुरुषार्थ करना चाहिए उस कर्म के अनुष्ठान का, जिस कर्म से योंगक्षेम प्राप्त होता है। जिस कार्य से योगक्षेम प्राप्त होता है – यह ज्ञान शास्त्र से प्राप्त होता है – **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।** शास्त्रानुकूल कर्म करने वाले को योगक्षेम की चिन्ता नहीं करनी है, क्योंकि योगक्षेम तो इसे स्वयं ही प्राप्त होगा।

यह समझ लेने पर भी मन बारम्बार योगक्षेम की ओर ही दौड़ता है। यह स्वाभाविक स्थिति है। इसका उपाय

गीता बताती है कि व्यक्ति आत्मवान् बने। सबसे बड़ा सत्य यह है कि त्रिलोक की विभूति हमारी आत्मा में विद्यमान् है। यदि हम उस विभूति से परिचय प्राप्त कर लें तो सांसारिक योगक्षेम अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होने लगेंगे। वस्तुतः समस्त आनन्द आत्मा में ही है। जड पदार्थों में आनन्द नहीं है किन्तु जड पदार्थ कदाचित् आनन्द के आविर्भाव में निमित्त बन जाते हैं तो हमें यह भ्रम हो जाता है कि आनन्द उस पदार्थ में है। यदि पदार्थ के निमित्त के बिना ही हम आत्मानन्द की अनुभूति कर सकें तो फिर सारे पदार्थ निरर्थक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति उसी की बनती है जो आत्मवान् है। इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् ने एक मार्मिक बात कही है। हमारी इन्द्रियों की रचना ऐसी है कि वे सदा बाहर की ओर ही देख पाती हैं। अतः इन्द्रियों से कभी अन्तरात्मा का दर्शन हो नहीं सकता। इन्द्रियों का एक स्वभाव यह भी है कि वे सदा सीमित पदार्थ को ही देख पाती हैं। अतः इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सुख सदा सीमित ही होता है, असीम नहीं। इसीलिए इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुख में हमारा सदा यह भाव बना रहता है कि अभी और मिले। यही अतृप्ति है। जहाँ तृप्ति नहीं वहाँ क्षोभ है – शान्ति नहीं। मनुष्य का स्वभाव है कि वह कभी सीमित से सन्तुष्ट नहीं होता – नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्। इन्द्रियाँ सदा सीमित ही दे पाती हैं, अतः मनुष्य सदा असन्तुष्ट रहता है। सुख का उपाय यह है कि हम इन्द्रियों के आकर्षण से हट कर अन्तरात्मा को देखें, जहाँ समस्त वैभव अपने अनन्त विस्तार सहित विद्यमान है। यह आन्तरिक वैभव योग का विषय नहीं है, यह तो पहले से उपलब्ध है। न यह आन्तरिक वैभव क्षेम का विषय है क्योंकि इसे कोई हमसे छीन ही नहीं सकता। अतः जो आत्मवान् है वह सहज ही निर्योगक्षेम भी होगा ही। किन्तु आत्मोन्मुख होना और इन्द्रियों के सुख से विमुख होना कोई सरल कार्य नहीं है। इन्द्रियाँ बड़े–बड़े विद्वानों को भी आकृष्ट कर ही लेती हैं। अतः जो इन्द्रियों को जीत कर अन्तर्मुख बन पाए ऐसा धीर पुरुष कोई बिरला ही होता है –

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमेक्षत
आवृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।

सुख के प्रकार

सुख दो प्रकार के हैं – अनित्य और नित्य। नित्य सुख को ही अमृत कहा जाता है। इन्द्रियों के विषयों में सुख नहीं है – ऐसा कहना तो प्रत्यक्ष का अपलाप करना है। किन्तु इन्द्रियों का सुख नित्य है – ऐसा कहना भी प्रत्यक्ष का अपलाप करना ही है। जो आज है कल नहीं – उसके पीछे दौड़ना कोई बड़ी बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती है। विषयानन्द ऐसे ही हैं – "श्वोभाव" वाले हैं। उन्हें छोड़कर नित्य सुख की कामना करने वाला धीर ही आत्मवान् बन सकता है। अनित्य सुखों की यह स्थिति है कि भोगों में रोग का, परिवार में नाश का, धन में राज्य का, मौन में दीनता का, बल में शत्रु का, सौन्दर्य में जरा का, शास्त्र में प्रतिवादी का, गुण में दुर्जन का, शरीर में मृत्यु का – सर्वत्र भय ही भय है – केवल वैराग्य में ही अभय का भाव है –

भोगे रोगभयं, कुले च्युतिभयं, वित्ते नृपालाद्भयम्।
मौने दैन्यभयं, बले रिपुभयं, रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं, गुणे खलभयं, काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां, वैराग्यमेवाभयम्॥

इन्द्रियों के विषयों के प्रति वितृष्णा का भाव वैराग्य है

वैराग्य से आत्मवत्ता और आत्मवत्ता से वैराग्य पुष्ट होता है। प्रकाश की वृद्धि और अन्धकार की निवृत्ति अन्योन्याश्रित है। अन्धकार जाए तो प्रकाश आए, प्रकाश आए तो अन्धकार जाए। इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त हो तो आत्मस्थिति बने और आत्मस्थिति बने तो विषयों से निवृत्ति हो।

सर्वत्र जल ही जल होने पर जिस प्रकार पानी की छोटी–सी खोली में कोई आसक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाने पर कर्म के फल के प्रति – योगक्षेम के प्रति – कोई अभिलाषा शेष नहीं रह जाती है। खोली में भी जो जल आता है वह समुद्र का ही जल है जो मेघ द्वारा आकाश से बरसाया जाता है। विषयों का भी आनन्द ब्रह्मानन्द का ही अंश है जो पदार्थ के माध्यम से हम तक आता है – **एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।**

हम में विषयानन्द के प्रति आसक्ति इसलिए है कि हम आत्मानन्द से अपरिचित हैं। जब हमारे पास कोई वस्तु नहीं होती तो हम उसके लिए लालायित हो जाते हैं। किन्तु जब कोई वस्तु हमें इतनी बहुलता से प्राप्त हो कि हम जब जितनी मात्रा में चाहें वह हमें सहज ही उपलब्ध हो जाए, तो फिर हमें उस वस्तु की लालसा नहीं रहती। राजस्थान के मरु प्रदेश में, विशेषकर ग्रीष्म ऋतु में, पानी की लालसा अत्यन्त उत्कट होती है किन्तु असम के जिस प्रदेश में दिन में तीन बार वर्षा होती हो वहाँ पानी इकट्ठा करने की इच्छा करना तो दूर, घर में से उलीच-उलीच कर पानी बाहर फेंकना भी पड़ता है। यदि ब्रह्मानन्द में आकण्ठ मग्न साधक विषयानन्द से दूर भागते रहते हों, तो आश्चर्य की बात नहीं है।

विवेक की जरूरत

बात चल रही है वैदिक कर्मकाण्ड से विषय-भोगों की प्राप्ति की इच्छा की। वैदिक कर्मकाण्ड से भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है सही, किन्तु क्या ब्रह्मज्ञानी आत्मानन्द के सम्मुख उस भोग ऐश्वर्य की लालसा से लिप्त होगा? फिर क्या ब्रह्मज्ञानी कर्म ही छोड़ देगा ? यहाँ थोड़ा विवेक करना होगा। हमने ऊपर वर्षा–बहुल असम प्रदेश की चर्चा की। असम प्रदेश का निवासी पानी की लालसा नहीं रखेगा क्योंकि उसे पानी सहज ही बहुलतया प्राप्त है, किन्तु क्या वह पानी पीएगा भी नहीं अथवा स्नान भी नहीं करेगा? पानी की लालसा रखना एक बात है और पानी का उपयोग करना दूसरी बात है। पानी का उपयोग है तो हाथ-पैर भी हिलाने होंगे किन्तु यह हाथ–पैर का हिलाना बन्धन का कारण नहीं बनता, प्रत्युत आनन्द का कारण बनता है। दूसरी ओर राजस्थान के अकालग्रस्त व्यक्ति पानी का उपयोग ही नहीं करते अपितु जलाभाव के कारण पानी के प्रति लालायित रहते हैं। उनके लिए जलप्राप्ति करना एक सङ्कट है, आनन्द कार्य नहीं। आत्मानन्द में लीन व्यक्ति के लिए कर्म आनन्दप्रद है, विषयानन्द में लिप्त व्यक्ति के लिए कर्म कष्टप्रद है।

मूल तथा अनुवाद

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥

तुम्हारा कर्म करने का ही अधिकार है, फल पाने का नहीं। तुम कर्म के फल का कारण मत बनो तथा साथ ही कर्म न करने में भी आसक्ति मत रखो ॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनञ्जय ! योग में स्थित रहकर सफलता–असफलता में समान बुद्धि रखकर तथा आसक्ति को छोड़कर कर्म करो। समत्व ही योग कहलाता है॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥४९॥

बुद्धियोग की अपेक्षा (सकाम) कर्म बहुत छोटा है। हे अर्जुन ! तुम (सम) बुद्धि में शरण खोजो। क्योंकि फल को लक्ष्य बनाकर चलने वाले बहुत दयनीय होते हैं ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

(सम) बुद्धियुक्त व्यक्ति पुण्य और पाप दोनों से संसार में ऊपर उठ जाता है। इसलिये तुम (समत्व रूप) योग में लगो। यह (समत्व) योग ही (वास्तविक) कर्म कुशलता है॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

निश्चय ही (समत्व) बुद्धि से युक्त मनीषी कर्म के फल को छोड़कर जन्म के बन्धन से मुक्त होकर निर्विकार परम पद को प्राप्त कर लेते हैं ॥५१॥

विपुल-भाष्य

गीता का गायत्री मन्त्र

जिस प्रकार हिन्दू मात्र को वेद का कोई और मन्त्र याद हो या न हो किन्तु गायत्री मन्त्र अवश्य याद होता है उसी प्रकार उसे गीता का कोई और श्लोक याद हो या न हो किन्तु निम्न श्लोक अवश्य याद होता है –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

इसीलिए हम इस श्लोक को गीता की गायत्री कहते हैं। गायत्री मन्त्र की भाँति गीता का यह श्लोक भी आबालवृद्ध सबकी जबान पर चढ़ा हुआ है। सच में यह श्लोक है भी गीता-विज्ञान की कुञ्जी। 'विज्ञान' शब्द का अर्थ हम पहले दे चुके हैं। किन्तु यह शब्द 'साइन्स' के अर्थ में अत्यधिक प्रचलित हो गया है अतः ऐतरेय आरण्य के आधार पर हम इस शब्द के शास्त्रीय अर्थ को फिर दुहरा देना आवश्यक समझते हैं – विज्ञान कर्म का रहस्य खोलने वाली विद्या है – विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्मापि च । महात्मा बुद्ध से भी पहले विज्ञान शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हो रहा था।

विज्ञान शब्द का 'साइन्स' अर्थ में प्रयोग मुश्किल से पिछले दो सौ वर्षों से होने लगा है। इससे पूर्व विज्ञान शब्द का अर्थ वह था जिसे हम आजकल कर्मयोग शब्द द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। प्रस्तुत श्लोक कर्मयोग अथवा विज्ञान का मूल मन्त्र है। श्लोक का सरल अर्थ इस प्रकार है – "हे अर्जुन! तेरा अधिकार केवल कर्म में है, कर्म के फलों में नहीं। तू कर्मफल का हेतु मत बन किन्तु अकर्म में भी मत फँस।" कर्मयोग का लक्ष्य यह है कि व्यक्ति कर्म करे किन्तु बन्धन में न पड़े। यह कैसे सम्भव हो – इसी का उपाय प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है।

गुण-मात्र बन्धन का कारण

गुण–मात्र अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस् बन्धन का कारण है। अतः श्रीकृष्ण ने पहले अर्जुन को नैस्त्रैगुण्य अर्थात् गुणातीत होने का उपदेश दिया और अब इस श्लोक में उसे कह रहे हैं कि वह अकर्म में न फँस जाए। जब गुण ही नहीं रहेंगे तो कर्म कैसे होगा ? इस दुविधा में अनेक प्राचीन भाष्यकारों ने इस श्लोक की यह सङ्गति लगाई है कि वैसे तो उत्तम मार्ग यह है कि मनुष्य को त्रिगुणातीत रहते हुए कर्म छोड़ देने चाहिए। किन्तु अर्जुन अभी उस उत्तम मार्ग का अधिकारी नहीं है अतः उसका अधिकार तो कर्म करते हुए फल के प्रति अनासक्त रहने में ही है। इस अर्थ में से ही गीता की वे निवृत्तिपरक व्याख्याएँ निकल आई हैं जो गीता का चरम लक्ष्य यह मानती हैं कि मनुष्य को संन्यास ले लेना चाहिए। किन्तु हम तो गीता को विज्ञानपरक अर्थात् कर्मयोगपरक मानकर चल रहे हैं; अतः यह अर्थ

हमें स्वीकार्य नहीं है। हमारी इस दृष्टि का आधार यह है कि गीता जब यह घोषणा कर देती है कि यज्ञ के लिए किए जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त शेष सभी कर्म बन्धन का कारण हैं – **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः** – तो गीता यथार्थ में कर्मों का विधान कर रही है, न कि निषेध, और साथ ही यह भी कह रही है कि यज्ञार्थ किए गए कर्म बन्धन का कारण नहीं हैं। ऐसी स्थिति में गीता का यह तात्पर्य कैसे निकाला जा सकता है कि कर्म का विधान तो अर्जुन जैसे मध्यम अधिकारी के लिए ही है; उत्तम अधिकारी को तो कर्म-मात्र को बन्धन का कारण समझकर छोड़ ही देने चाहिए। ऐसा अर्थ करना तो गीता में वदतो व्याघात दोष देखना हो जाएगा। अतः गीता के प्रस्तुत श्लोक का सही भाव समझना आवश्यक है। इस श्लोक पर यह आपत्ति आती है कि बिना कामना के तो कोई कर्म हो ही नहीं सकता और जब तक कामना है तब तक बन्धन भी अवश्य होगा। गीता कहती है कि प्रथम तो यह समझना आवश्यक है कि फल हमारे अधिकार में नहीं है। हम चाहते हैं कि हम करोड़पति बन जाएँ किन्तु ऐसा नहीं होता, हम चाहते हैं कि हम रोगी न हों किन्तु हम बीमार हो जाते हैं। यदि फल हमारे हाथ में होता तो हममें कोई भी गरीब या रोगी न होता। जो चीज हमारे हाथ में नहीं है उसकी कामना में अपनी शक्ति का अपव्यय करना मूर्खता ही है। हाँ, अर्थ पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए परिश्रम करना हमारे हाथ में है तथा स्वस्थ रहने के लिए व्यायाम करना हमारे हाथ में है। अर्थात् कर्म करने का अधिकार हमें है। मन की पूरी शक्ति हम उस कर्म में लगाएँ जिस कर्म के करने का अधिकार हमें है। जिस फल पर हमारा अधिकार ही नहीं है उसकी कामना करना, मन की शक्ति का अपव्यय करना है। मन जब फलेच्छा में भटक जाता है तो इष्ट कर्म भी विधिवत् सम्पादित नहीं हो पाता और फल की इच्छा करना ही विफलता का हेतु बन जाता है। सफलता का रहस्य यह है कि हम पूरा मनोबल कर्म के अनुष्ठान में इस प्रकार लगाएँ कि कर्म में किसी प्रकार की न्यूनता न रहे। कर्म सर्वाङ्ग पूर्ण होगा तो इष्ट फल अवश्य ही प्राप्त होगा – यह वैदिक सिद्धान्त है।

आत्मतृप्ति के लिए कर्म में प्रवृत्ति

फल की कामना के बिना कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती – यह सच है। प्रश्न होता है कि कर्म में किस फल की कामना से प्रवृत्त होना चाहिए। शास्त्रविरुद्ध मद्यपान आदि फलों की तो कामना करनी ही नहीं चाहिए। शेष रहे स्वाध्याय आदि शास्त्रोक्त कर्म। इन कर्मों का जो लौकिक अभ्युदय रूप फल है, वह तो अत्यन्त तुच्छ है। किन्तु जब हम अमृत रूप ज्ञान और मृत्यु रूप कर्म में अविनाभाव मान कर ज्ञान और कर्म दोनों को ही श्रुति के आधार पर आत्मा का धर्म मान रहे हैं तो स्वाध्याय आदि कर्म आत्मधर्म हुए। इन कर्मों का मुख्य फल आत्मतृप्ति है, न कि लौकिक अभ्युदय। लौकिक अभ्युदय आनुषङ्गिक फल है। खेती अनाज के लिए की जाती है, भूसे के लिए नहीं। भूसा सहज ही प्राप्त हो जाता है, उसकी इच्छा करना बिल्कुल आवश्यक नहीं है। हमारे समस्त कर्म आत्मतृप्ति के मुख्य उद्देश्य को सामने रखकर हों, उनसे लौकिक अभ्युदय रूप भूसा स्वयं ही सिद्ध हो जाएगा, उसकी इच्छा करना आवश्यक नहीं है। आत्मतृप्ति की इच्छा से कर्म करना कभी बन्धन का कारण नहीं बनता क्योंकि उस स्थिति में आत्मा के स्वभाव रूप ही कर्म होते हैं, विभाव रूप नहीं। स्वभाव बन्धन का कारण नहीं हो सकता। वस्तुस्थिति यह है कि लौकिक फल कर्म के अनन्तर प्राप्त होते हैं किन्तु आत्मतृप्ति रूप फल तो कर्म के समकाल ही उपलब्ध हो जाता है। यह आत्मतृप्ति रूप पराशान्ति लक्षण फल ही कर्म की प्रेरणा बने न कि राग-द्वेषजन्य आत्मा को क्षुब्ध करने वाले लौकिक फल। राग-द्वेष ही द्वन्द्व का जनक है और द्वन्द्व ही त्रिगुण भाव का प्रवर्तक है। जो द्वन्द्वातीत है वह त्रिगुणातीत भी है। गीता में त्रिगुणातीत को ही निर्द्वन्द्व तथा नित्यसत्त्वस्थ भी कहा है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जो त्रिगुणातीत है वह नित्यसत्त्वस्थ कैसे होगा? शङ्का का समाधान निर्द्वन्द्वता में है। जहाँ द्वन्द्व है वहाँ त्रिगुण रहेंगे। उस स्थिति का सत्त्व नित्य नहीं रह सकता। जहाँ द्वन्द्व नहीं वहाँ सत्त्व नित्य है – यह बात समझने की है। तुच्छ फल की इच्छा छूट जाए तो आत्मनिष्ठता प्राप्त होगी, योगक्षेम की चिन्ता निवृत्त होगी; चिन्तामुक्ति से क्षोभ नहीं रहेगा, क्षोभ न रहेगा तो नित्य सत्त्व में स्थिति हो जाएगी और निर्द्वन्द्वता आ जाएगी। निर्द्वन्द्वता में त्रिगुण की स्थिति भले ही बनी रहे किन्तु त्रिगुण का आत्मा से सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा।

इसी स्थिति को श्रुति ने इस रूप में कहा कि कर्म मनुष्य को लिप्त नहीं करते – **न कर्म लिप्यते नरे।** शास्त्रविहित कर्म हमारी इच्छा के सूचक नहीं हैं, वे ईश्वरेच्छा के सूचक हैं। उनका सम्पादन करना हमारा कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का पालन कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। न्यायाधीश का कर्त्तव्य है कि अपराधी को दण्डित करे। दण्डित होने पर अपराधी और उसके सम्बन्धी दुःखी होते हैं। किन्तु न्यायाधीश को उन्हें दुःख देने का पाप नहीं लगता क्योंकि वह अपनी स्वयं की इच्छा से अपराधी को दुःख नहीं दे रहा अपितु कानून द्वारा जो कर्त्तव्य उसके लिए निर्धारित है, केवल उसका पालन कर रहा है। हमें भूख लगती है। यह बुभुक्षा हमारी इच्छा से उत्पन्न नहीं होती है। हम इच्छा करें या न करें – भूख लगती है, प्यास भी लगती है। यह इच्छा ईश्वरेच्छा है, जीवेच्छा नहीं। हमें भूख बिल्कुल नहीं है किन्तु सामने एक चटपटी चाट का पात्र रखा है। हमें चाट खाने की इच्छा हो गई। यह इच्छा ईश्वरेच्छा नहीं है, जीवेच्छा है। ईश्वरेच्छा बन्धन का कारण नहीं है, जीवेच्छा दुःख का कारण है। यदि ईश्वरेच्छा पूरी न की जाए तो हमारा अस्तित्व ही न रहे। दूसरी ओर जीवेच्छा पूरी करते–करते सारी आयु बीत जाती है किन्तु तृप्ति नहीं होती। महात्मा गांधी ने कहा था कि पृथ्वी सब मनुष्यों की जरूरतें तो पूरी कर सकती है किन्तु इच्छा एक मनुष्य की भी पूरी नहीं कर सकती। ईश्वरेच्छा से जो कर्म होते हैं गीता ने उन्हें सहज कर्म कहा है। वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार ये सहज कर्म ही हैं। किस प्रकृति का मनुष्य अपनी आयु के किस भाग में कौन–सा कर्म करे – इसका निश्चय हम अपनी इच्छा से न करके ईश्वरेच्छा से करें तो सहज ही वर्णाश्रम व्यवस्था फलित हो जाएगी। जब हम ईश्वरेच्छा में अपनी जीवेच्छा का समावेश करना चाहते हैं तो वर्णाश्रम व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। अर्जुन एक गृहस्थ क्षत्रिय है किन्तु वह अपनी सहज वृत्ति को छोड़कर एक संन्यासी का व्यवहार करना चाहता है। इससे उसे मोक्ष नहीं मिलेगा अपितु उसका बन्धन और भी सुदृढ़ हो जाएगा – यही श्रीकृष्ण उसे समझाना चाहते हैं।

अकर्मों के प्रति आसक्ति

गृहस्थ की तो बात ही क्या, अकर्म तो संन्यासी के लिए भी इष्ट नहीं है। अकर्म के छः प्रकार हैं। आलस्य अकर्म का प्रथम रूप है। निरर्थक कर्म करना अकर्म का दूसरा रूप है। आसक्तिपूर्वक स्वार्थ–वश कर्म करना अकर्म का तीसरा रूप है। शास्त्र विरुद्ध कर्म करना चौथा अकर्म है। शास्त्रोक्त कर्मों को छोड़ बैठना पाँचवाँ अकर्म है तथा सबसे सम्पर्क काट कर अपनी ही दुनिया में विचरण करते रहना छठा अकर्म है। भगवत्पाद शङ्कराचार्य जैसे निवृत्तिमार्गी संन्यासी भी इन छहों प्रकार के अकर्मों से सदा बचते रहे। उन्होंने लोक संग्रह के लिए शास्त्र प्रणयन तथा प्रवचन तो किया ही संन्यासी होकर भी माता की अन्त्येष्टि में शास्त्रोक्त पुत्र-धर्म निभा कर अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया कि संन्यासी भले ही कितनी ही ऊँची भूमिका को प्राप्त हो जाए किन्तु शास्त्रोक्त कर्मों की उपेक्षा नहीं करे। गीता जैसे उत्कृष्ट शास्त्र के होते हुए भी हमारे देश की जो दुर्दशा हुई उसका एक मुख्य कारण उपर्युक्त छः प्रकार के अकर्मों के प्रति हमारी आसक्ति है। आलस्य, शास्त्रविरुद्ध कर्मों का आचरण तथा शास्त्रविहित कर्मों का त्याग – यही हमारी आपत्ति का कारण है। ऐसे में यदि कोई कर्मों को बन्धन का कारण बता कर अकर्म का प्रतिपादन करता है तो वह हमारे सङ्कट को बढ़ाता ही है। आज की भाषा में प्रस्तुत श्लोक का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि हम अपने कर्त्तव्य का पालन करें, अधिकारों का शोर न मचाएँ। कर्त्तव्य–पालन से अधिकार तो स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। जब से हमने अधिकारों को केन्द्र में रखना प्रारम्भ किया, तब से हड़ताल, तालाबन्दी, घिराव और नारेबाजी का आलम हर ओर छा रहा है। शिक्षा की संस्थाओं से लेकर औद्योगिक संस्थानों तक यही दृष्टिकोण दिखाई दे रहा है कि कर्त्तव्य का पालन गौण है और अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है। जब तक यह स्थिति नहीं बदलेगी, राष्ट्र का स्वरूप सुधर सकेगा – इसमें सन्देह है।

गीता में योग का अर्थ

गीता का केन्द्रीय बिन्दु इतना स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं है। कर्म करना है या नहीं – इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है – **कुरु कर्माणि** – कर्म कर। पर इतने मात्र से कोई विशेषता नहीं

बनती। कर्म तो सब कर ही रहे हैं – इसमें शास्त्राज्ञा की क्या आवश्यकता है? सभी कर्म कर रहे हैं, किन्तु सभी योगस्थ होकर कर्म नहीं कर रहे हैं। गीता कहती है कि **योगस्थः कुरु कर्माणि**। योगस्थ होकर कर्म करो – यह कह देने पर ही यह स्पष्ट नहीं होता कि "योगस्थ" का क्या अर्थ है। गीता स्वयं ही स्पष्ट करती है कि आसक्ति छोड़कर – **सङ्गं त्यक्त्वा** – कर्म करना योगस्थ होकर कर्म करना है। आसक्ति करना मन का धर्म है। जैसे ही हम आसक्ति करते हैं हम मन से जुड़ जाते हैं, जैसे ही हम आसक्ति छोड़ते हैं वैसे ही हम बुद्धियुक्त हो जाते हैं। बुद्धियुक्त होकर कर्म करने का फल केवल इतना ही नहीं है कि बन्धन नहीं होता बल्कि यह भी है कि व्यक्ति जन्म–मरण के चक्र से मुक्त होकर शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है– **जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।**

योगस्थ होकर कर्म करने का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति पर आपत्ति नहीं आएगी। अनागत कर्मों का लेप योगस्थ साधक पर नहीं होगा और सञ्चित कर्म का लेप भी उस पर से हट जाएगा किन्तु प्रारब्ध कर्म अपना फल अवश्य देगा ही। जैसे तीर एक बार धनुष से निकलने पर वापिस तरकस में नहीं आ सकता, उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म अपना फल देना प्रारम्भ कर देता है तो फिर वह पूरा फल देकर ही समाप्त होता है। इसलिए रामकृष्ण परमहंस जैसे योगी भी कैन्सर जैसे पीड़ादायक रोग से ग्रस्त होते देखे जाते हैं। यद्यपि वे इतने समर्थ हैं कि ऐसी पीड़ा को रोक भी सकते हैं किन्तु वे ऐसा इसलिए नहीं करते कि प्रारब्ध कर्म भोगना तो पड़ेगा ही; यदि उसे इसी जन्म में भोग लिया जाए तो अगला जन्म नहीं लेना पड़ेगा अन्यथा उस कर्म का फल भोगने के लिए अगला जन्म लेना होगा। प्रश्न होता है कि यदि सभी को प्रारब्ध कर्म भोगना ही पड़ता है तो फिर योगी और सामान्य व्यक्ति में अन्तर ही क्या हुआ? गीता कहती है कि अन्तर यह है कि योगी सफलता और असफलता में समान रहता है जबकि शेष व्यक्ति सफलता में हर्षित और असफलता में दुःखी रहता है – योग का अर्थ है समत्व – **सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते**। अतः योगस्थ होकर कर्म करने वाला नए बन्धन तो बाँधता नहीं है और अतीत में बाँधे गए कर्मों का फल समभाव रखकर भोगता है।

बुद्धियोग और समता

बुद्धियोग कहें या समता – एक ही बात है। बुद्धि के केन्द्र – सत्य, एकत्व अथवा आत्मभाव – में स्थिर रहना ही समता है जो शान्ति की जननी है। बुद्धि की परिधि – ऋत, अनेकत्व अथवा मन – में विचलित बने रहना ही विषमता है, जो अशान्ति की जननी है। यह विषमता ही भय उत्पन्न करती है। अनुकूल के छिनने की तथा प्रतिकूल के मिल जाने की आशङ्का ही भय का कारण है। विचार करें तो हम पाएँगे कि जिसे हम मन की चञ्चलता कहते हैं, वह चञ्चलता अनुकूल के प्रति राग तथा प्रतिकूल के प्रति द्वेष से उत्पन्न होती है। साधक राग-द्वेष से ग्रस्त रहे और उसका मन चञ्चल न हो – यह सम्भव नहीं है। प्रकृति में समता का फल देखने को मिलता है। सूर्य फूल पर अपनी किरणें उसी प्रकार फेंकता है जिस प्रकार विष्ठा पर। यह उसका समत्व है। फल यह होता है कि सूर्य पर विष्ठा का दोष नहीं आता अपितु सूर्य के द्वारा विष्ठा का ही दोष दूर हो जाता है। समतापूर्वक हम भी कुछ कर्म करते हैं। जब हम गहरी निद्रा में होते हैं तब भी हमारा श्वास–प्रश्वास चलता है। इस श्वास–प्रश्वास की क्रिया में हमारा कोई राग-द्वेष नहीं होता। इसलिए यह क्रिया हमारे लिए बन्धन का कारण नहीं बनती अपितु शान्ति का कारण बनती है। वस्तुतः हमारे सभी कर्मों में समता का दर्शन होना चाहिए। इसलिए गीता कहती है कि न अधिक खाएँ न कम, न अधिक सोएँ न कम। यही भगवान् बुद्ध का मध्यम मार्ग भी है । इस मध्यम मार्ग का तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन में समता रहे। प्रकृति में ऋतुचक्र समता बनाए रखने का प्रयत्न करता है। जब शीत की अति होती है तो धीरे–धीरे प्रकृति उष्णता की ओर चलती है और जब उष्णता की अति होती है तो प्रकृति शैत्य की ओर चलने लगती है। इस प्रकार प्रकृति का सन्तुलन बना रहता है। प्रकृति क्रियाविधान में जब भी मनुष्य हस्तक्षेप करके इस सन्तुलन को बिगाड़ना चाहता है, तब ही पर्यावरण सम्बन्धी समस्या उत्पन्न होती है। यदि मनुष्य हस्तक्षेप न करे तो प्रकृति अपना सन्तुलन स्वयं बनाए रखती है। मनुष्य को भी प्रकृति और निवृत्ति के बीच सन्तुलन बना कर अपने जीवन की चर्या निर्धारित करनी

चाहिए। जो फल की इच्छा करता है – वह समता में स्थिर नहीं रह सकता। प्रश्न होता है कि फ़ल के लिए ही तो सब कर्म किए जाते हैं – फिर फल की इच्छा कैसे छूटे। गीता ने कहा कि जो फल की इच्छा करता है वह कृपण है – **कृपणाः फलहेतवः**। कृपण का अर्थ है कञ्जूस । कृपण वह होता है जिसके पास धन हो तो प्रभूत मात्रा में किन्तु वह उसे भोगे नहीं। हमारे पास आत्मानन्द का प्रभूत धन है किन्तु हम उसे नहीं भोग कर लौकिक सम्पत्ति की इच्छा करें – यही हमारी कृपणता हुई। लौकिक सम्पत्ति नाशवान् है। अतः उसे क्षर अथवा अवर कहा गया है। अव्यय पुरुष अव्यक्त होने के कारण पर है। इन दोनों के बीच में अक्षर पुरुष परावर है। यह जो मध्यस्थ अक्षर है यही बुद्धि है। विश्व में मध्यस्थ सूर्य है। अधिदैव का सूर्य अध्यात्म में बुद्धि है। उधर अधिदैव का चन्द्र अध्यात्म का मन है। यह मन ही कामनाओं का स्रोत है। मन की कामनाएँ बुद्धि को भी अपने अधीन कर लेती हैं। यही बुद्धि के नाश का कारण है। इसके विपरीत जो परावर रूप बुद्धि का स्वरूप समझ लेता है उसे मन की आधीनता की आवश्यकता नहीं रहती। सूर्य स्वयं प्रकाश है, वह चन्द्रमा के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता। बुद्धि स्वयं ही विवेकपूर्ण कर्म की प्रेरणा दे सकती है, उसे मन की कामनाओं से प्रेरणा लेने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार मन की इच्छाओं पर बुद्धि के विवेक के नियंत्रण की आवश्यकता है।

कर्म विवेकपूर्ण करें

विवेक से हमारी इच्छाएँ नियंत्रित हों यह स्वाभाविक स्थिति है। इच्छाएँ विवेक को दूषित कर दें – यह स्थिति ऐसी है जैसे मानो सूर्य को चन्द्रमा का प्रकाश प्रकाशित करे। हम स्वाभाविक स्थिति में आ जाएँ। कर्म का उत्प्रेरक विवेक बने, न कि फल की वासना। विवेकपूर्वक कर्म किया जाए और फल न मिले – यह सम्भव ही नहीं। कारण होने पर कार्य होगा ही । यदि ऐसा नहीं होता तो कहीं कारण में विकलता है। कर्म को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण बनाने की चिन्ता करनी चाहिए फिर समस्त सम्पत्ति स्वयं ही हमारे अधीन हो जाएगी। हम आध्यात्मिक ही नहीं, आधिभौतिक दृष्टि से भी निर्धन नहीं रहेंगे। गीता में शरणागति की बात प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपनी शरण में आने के लिए कहा था – यह बात तो बहुत प्रसिद्ध हो गई किन्तु यह बात उतनी प्रसिद्ध नहीं हो पाई कि गीता हमें बुद्धि की शरण में जाने का आदेश देती है – **बुद्धौ शरणमन्विच्छ**। भगवान् बुद्ध ने कहा था कि तुम अपना दीपक स्वयं बनो। भगवान् महावीर ने कहा था कि हे पुरुष ! तुम स्वयं अपने मित्र हो, अन्य मित्र की खोज क्यों करते हो। भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि अपनी बुद्धि की शरण में जाओ। यही भारतीय संस्कृति की अनेकता में एकता है। यूँ फल की कामना से किए गए कर्म भी अपना फल देते हैं किन्तु उन कर्मों में अनेक दोष हैं। प्रथम तो वे कर्म सदा मन में क्षोभ उत्पन्न करते रहते हैं। दूसरे, उन कर्मों में आसक्ति भाव बना रहने के कारण वे जन्म–मरण के बन्धन के कारण बनते हैं। तीसरे उन कर्मों में दृष्टि फल पर रहती है, अतः कर्म में प्रायः अपूर्णता ही रह जाती है। चौथे स्वार्थवश किए गए कर्म प्रायः समाज विरोधी हो जाते हैं। पाँचवें यदि कर्म में सफलता न मिले तो दुःख होता है। बुद्धियुक्त कर्मों में उपुर्यक्त दोष नहीं है क्योंकि वहाँ फलासक्ति का अभाव है। अभी हमने योग की एक परिभाषा दी है – समत्व। अब योग की दूसरी परिभाषा दी जाती है – **योगः कर्मसु कौशलम्**। कर्म कुशलता ही योग है। कुशल का एक अर्थ है – कुत्सित वृत्ति से बचना। कु अल्पता को भी बताता है। जो अल्पता से बचाए वह कुशल है। कुशल के अन्य अर्थ हैं – क्षेम, पर्याप्ति, सुकृत । जिस कर्म में अपना हित निहित हो, वह कुशल कर्म है। विवेपूर्वक किए गए कर्म से कभी अहित हो ही नहीं सकता । यहाँ कुशल कर्म की एक और भी व्याख्या है – वह कर्म पापपुण्यातीत होता है – **जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते**। जहाँ फल की इच्छा है वहाँ पाप–पुण्य का भेद है। जहाँ स्वधर्म समझ कर कार्य में प्रवृति की जाती है, वहाँ पाप–पुण्य कुछ भी नहीं है। पुण्य इस अहङ्कार का जनक है कि मैंने कोई उत्तम कार्य किया; पाप से इस हीनता का भाव पैदा होता है कि मैंने कोई अकरणीय कार्य किया। श्रेष्ठता अथवा हीनता–दोनों की ही भावना ग्रन्थि रूप है। किन्तु जब अक्षर – तत्त्व अथवा बुद्धि-तत्त्व का दर्शन होता है तो सभी ग्रन्थियाँ छिन्न–भिन्न हो जाती हैं –

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

त्रैगुण्य से ऊपर उठने के लिए कर्म छोड़ना आवश्यक नहीं है। आवश्यक है कर्म के प्रति कर्तृत्व के अहङ्कार को छोड़ना – अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।

अब प्रश्न रहता है कि कर्म का फल होगा तो मन उस कर्मफल में आसक्त भी होगा। चाहे हमने कर्मफल की इच्छा न की हो, किन्तु उसे भोगते समय तो उसमें आसक्ति होगी ही। उत्तर यह है कि इच्छा के बिना आसक्ति नहीं होती। बुद्धियोग आत्मविभूति के अनन्तानन्त आनन्द के द्वार खोल देता है। उस आनन्द के रहते जो सामान्य लौकिक फल बुद्धियोगी को प्राप्त होते हैं, उनके ऊपर उसकी दृष्टि ही नहीं होती। मन लौकिक सुखों को ही जानता है। अतः मन का उन सुखों के प्रति आसक्त होना स्वाभाविक है। किन्तु बुद्धियोग में साधक मन से न जुड़कर आत्मा से जुड़ जाता है। तब मन के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। ये संस्कार ही आवागमन के कारण हैं। इस प्रकार यदि कर्म हों किन्तु उन कर्मों के द्वारा मन पर संस्कार न जम पाएँ तो वे कर्म बन्धन का कारण नहीं बन पाते, और मनुष्य मुक्त हो जाता है।

कर्म छोड़ना असम्भव

यदि कोई यह कहे कि यह तो कठिन मार्ग है, अतः हम तो कर्म मात्र ही छोड़ देंगे। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। कर्म ही न होगा तो संस्कार कहाँ से बनेगा। यह युक्ति ठीक होती, यदि हम वस्तुतः कर्म छोड़ सकते। कर्म केवल शारीरिक ही नहीं, वाचिक और मानसिक भी होते हैं। यूँ तो हम शारीरिक कर्म भी नहीं छोड़ सकते किन्तु शारीरिक कर्म कोई हठपूर्वक कुछ समय के लिए छोड़ भी दे तो क्या मानसिक कर्म छोड़ सकता है? फिर अशक्य के अनुष्ठान की बात सोचने से क्या लाभ? अतः निष्काम कर्म योग ही एकमात्र विकल्प है; कोई दूसरा विकल्प सम्भव नहीं है – नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

मूल तथा अनुवाद

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

हे अर्जुन ! जब तुम्हारी बुद्धि मोह की दलदल को पार कर जायेगी, उस समय तुम सुने हुए और सुनने योग्य सभी भोगों के प्रति विरक्त हो जाओगे ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

अनेक बातों के सुनने से अस्थिर तुम्हारी बुद्धि जब समाधि में अचल और स्थिर हो जाएगी तब तुम योग को पा सकोगे ॥५३॥

विपुल-भाष्य

मोह समस्त अनर्थ का मूल है

स्थिर बुद्धि से फल के प्रति अनासक्त रहते हुए तथा सफलता अथवा विफलता में समान बुद्धि रखते हुए कर्म करना चाहिए – यह बात समझ में आ जाने पर भी न तो बुद्धि स्थिर रहती है, न फल की आसक्ति छूट पाती है और न मन की समता ही बनी रहती है। इसका कारण है – मोह । जब तक मोह है तब तक राग-द्वेष है, जब तक राग-द्वेष है तब तक फलासक्ति है और जब तक फलासक्ति है तब तक न समता बनी रह सकती है न बुद्धि स्थिर रह सकती है। इस सारे अनर्थ की जड़ मोह है। इसी बात को लक्ष्य करके श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोह के दलदल को पार लेगी तब ही तू इस लोक और परलोक के भोगों के प्रति अनासक्त हो पाएगा –

यदा ते मोहकलिलं, बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्ताऽसि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

मोह अज्ञान से उत्पन्न होता है और अज्ञान तमोगुण से उद्भूत होता है। अज्ञान अभावात्मक पदार्थ नहीं है अर्थात् अज्ञान का अर्थ यह नहीं है कि न जानना, अपितु अज्ञान का अर्थ है – जो जैसा है उसे वैसा न जानकर विपरीत रूप में जानना। मैं शरीर नहीं हूँ किन्तु अपने को शरीर मानता हूँ – यह अज्ञान हुआ । स्त्री, पुत्र आदि सम्बन्धियों से तथा धन से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु इससे अपने नित्य सम्बन्ध मान लेना अज्ञान है। यह अज्ञान ही मोह का जनक है। इस मोह से बुद्धि चंचल हो जाती है। इस मोह को गीता में दलदल कहा है। दलदल की यह विशेषता है कि मनुष्य उससे जितना ही निकलने का प्रयत्न करता है उतना ही उसमें फँसता जाता है। इस स्थिति से उबरने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। हम जो भी कर्म करें उसमें फलासक्ति के कारण अपने मन को चंचल न होने दें। मन जैसे–जैसे चंचलता की ओर अग्रसर हो उसे पुनः स्थिर करें –

यतो यतो निश्चलति मनश्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर रखने का एक अचूक उपाय है – लोक-संग्रह की भावना। यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर का शरीर है, जिसके हम एक अंग हैं। शरीर का कोई भी अंग अपने लिए कुछ नहीं करता; वह जो कुछ भी करता है, सम्पूर्ण शरीर के लिए करता है। हम जो कुछ भी करें प्राणिमात्र के कल्याण के लिए करें। ऐसी भावना रखने पर कर्म से स्वार्थ सिद्धि की भावना स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। यही निर्वेद अथवा वैराग्य है। ज्ञान से भी वैराग्य होता है किन्तु वह मार्ग दुष्कर है। मनुष्य रजोगुण प्रधान है अतः वह कर्म के बिना नहीं रह सकता। उसे साधना का भी ऐसा ही मार्ग ढूँढ़ना होगा कि वह कर्म करते हुए ही सिद्धि को प्राप्त कर ले।

सजातीय के प्रति आकर्षण

एक बात ध्यान देने की यह है कि जिन पदार्थों को हम जड कहते हैं वे तमोगुण प्रधान हैं। मोह भी तमोगुण से उत्पन्न होता है। सजातीय का सजातीय के प्रति आकर्षण होता है; अतः मोह हमें जड पदार्थों के प्रति आकृष्ट कर देता है। वह आसक्ति हम में निर्वेद अथवा वैराग्य उत्पन्न नहीं होने देती। वैराग्य के अभाव में राग-द्वेष हमारे चित्त को चंचल बनाए रखते हैं। वैसी स्थिति में न हम किसी चीज का निश्चय कर पाते हैं और न अपने लक्ष्य की ओर एकाग्रता से अग्रसर ही हो पाते हैं। एकाग्रता के बिना लक्ष्य की प्राप्ति भी नहीं हो पाती। इस प्रकार स्थिरता के अभाव में प्रथम तो हम अपने लक्ष्य का ही ठीक से निर्धारण नहीं कर पाते और यदि लक्ष्य निर्धारित कर भी लें तो एकाग्रता से उसकी ओर बढ़ नहीं पाते। फलतः कुण्ठा और विफलता ही हमारे हाथ लगती है। इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से तो उन्नति करना दूर रहा, हम भौतिक दृष्टि से भी सफल नहीं हो पाते।

चंचल चित्त वाले व्यक्ति का मन वर्तमान में न टिककर भूत और भविष्य में ही भटका करता है। इसीलिए यहाँ "श्रुत" और "श्रोतव्य" शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्रुत अतीत को बताता है, श्रोतव्य भविष्य को । उपेक्षा करनी चाहिए भूत और भविष्य की किन्तु उपेक्षित हो जाता है वर्तमान, वर्तमान की उपेक्षा का अर्थ है कर्म की अकुशलता। जो अतीत है वह भी वर्तमान में होकर गुजरा है और भविष्य भी वर्तमान में होकर गुजरेगा। जिसने वर्तमान को सँभाल लिया उसके भूत और भविष्य स्वयं ही सम्भल गए। जो वर्तमान में चूक गया उसका अतीत और भविष्य भी अन्धकार में है –

शानदार था भूत भविष्यत् भी महान् है।
अगर संभालें आप उसे जो वर्तमान है॥

हम अतीत के गुणगान करते रहें कि सतयुग ऐसा सुन्दर था तो उससे कोई कार्यसिद्धि होने वाली नहीं। न इस भीरुता से ही कोई फल मिलने वाला है कि भविष्य में कलियुग का भयंकर रूप प्रकट होने वाला है। हम वर्तमान को सँभालें तो शेष अपने आप सँभल जाएगा।

यहाँ श्रुत और श्रोतव्य का अर्थ इहलौकिक और पारलौकिक भोग भी है। हमारी इच्छाएँ दो भागों में बँटी हैं; या तो हम स्त्री–पुत्र, धनादि ज्ञात विषयों की इच्छा करते हैं – या ऐसे विषयों की इच्छा करते हैं जिनके सम्बन्ध में हमने शास्त्रों से जाना है, जैसे स्वर्ग। इन दोनों प्रकार के भोगों की इच्छा अनिष्ट का मूल है।

श्रुति विप्रतिपन्न

जब हम सांसारिक मोहों को छोड़कर इहलोक और परलोक के भोगों के प्रति विरक्त होने का प्रयत्न करते हैं तो अनेक बार राग-द्वेष एक नया ही रूप धारण कर देता है, दर्शन और सम्प्रदाय के क्षेत्र में अनेकानेक मत–मतान्तर प्रचलित हैं, उन मतों के बीच बुद्धि निश्चल नहीं होती। फलस्वरूप ऐसी बुद्धि भी समाधि को प्राप्त नहीं हो पाती। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जब तेरी शास्त्र से उलझी हुई बुद्धि निश्चल हो जाएगी और समाधि में टिक जाएगी तब तू योग को प्राप्त होगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

शास्त्रों में अनेक मत हैं। एक ही शास्त्र में भी परस्पर ऐसे मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं कि व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर पाता। गीता के प्रसङ्ग में ही देखें तो एक ओर शास्त्र का यह ज्ञान है कि किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और दूसरी ओर शास्त्र का यह ज्ञान है कि क्षत्रिय को धर्मयुद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए। अर्जुन परस्पर इन दो विरोधी आदेशों के बीच किंकर्त्तव्यविमूढ़ अथवा श्रुतिविप्रतिपन्न हो गया है।

हम में से अनेक लोगों की स्थिति ऐसी ही श्रुतिविप्रतिपन्न है। कहीं श्रुति द्वैत का प्रतिपादन करती है, कहीं अद्वैत का प्रतिपादन करती है। ऐसी स्थिति में अनेक दर्शनों का आविर्भाव हुआ। सांख्य ने द्वैत का प्रतिपादन किया, वेदान्त ने अद्वैत का प्रतिपादन किया। कुछ द्वैत का आग्रह कर बैठे, कुछ अद्वैत का। इस आग्रह ने एक मोह का रूप ले लिया। संसार का मोह तो छूट गया पर शास्त्र के मोह ने पकड़ लिया। शास्त्र के मोह का परिणाम यह हुआ कि राग-द्वेष ने एक दूसरा रूप ले लिया। हमें अपने मत के दोष भी गुण नजर आने लगे और दूसरे के मत के गुण भी दोष नजर आने लगे। बुद्धि को समता में स्थिर रखने का मुख्य लक्ष्य तो पीछे छूट गया और दूसरे के मत का दोष दिखाने का उद्देश्य मुख्य हो गया। तर्क की अपनी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। एक तार्किक तर्क की जिस बात को सिद्ध करता है, दूसरा प्रखरतर तार्किक तर्क से उसी बात को काट सकता है। यदि तर्क का उद्देश्य परमत खण्डन ही रह जाए तो तर्क वितण्डा में बदल जाता है। ऐसी वितण्डा के हाथ कभी सत्य नहीं लगता।

श्रुति में वितण्डा नहीं है किन्तु श्रुति की व्याख्या करने का दावा करने वाले तार्किकों ने श्रुति के परस्पर विरुद्ध इतने अर्थ कर दिए कि साधक के लिए यह निर्णय करना ही कठिन हो गया कि श्रुति का वास्तविक तात्पर्य क्या है जब श्रुति का वास्तविक तात्पर्य ही अनिश्चित हो गया तो श्रुति के आदेश के पालन का तो प्रश्न ही कहाँ था? इस प्रकार दार्शनिक वाद–विवाद के झंझावात में श्रुतिसम्मत आदेश का पालन करते हुए परम कल्याण को प्राप्त करने का लक्ष्य उड़कर कहीं दूर चला गया और शेष रह गया साम्प्रदायिक दुराग्रह। यह साम्प्रदायिक दुराग्रह ही उस सम्प्रदायवाद का जन्मदाता बना जो सम्प्रदायवाद धर्मान्धता के रूप में आतंकवाद का भी जनक बन गया।

यह स्थिति इसलिए बनी कि हमने श्रुति के इस आदेश को शिरोधार्य नहीं किया कि हमें मोह को छोड़कर समता को धारण करना है, अपितु हमने शास्त्र के वास्तविक अर्थ के प्रति मध्ययुग में जो वितण्डावाद खड़ा हुआ, उसे ही सही वैदुष्य की पराकोटि मान लिया। वाद–विवाद केवल मुख्य दर्शनों के बीच तक सीमित नहीं रहा अपितु एक ही दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच भी प्रचण्ड रूप में चला। इस शास्त्रार्थ में तर्क वैदुष्य तो भले ही प्रतिफलित हुआ हो किन्तु जीवन का कल्याण तो छिप ही गया। शुष्क तर्कवाद से घबराकर लोग शास्त्र से विमुख भी हो गए।

श्रीकृष्ण ने गीता में सभी दार्शनिक मतों का सुन्दर ढंग से सामञ्जस्य बिठाया। गीता के अनुसार यदि हम अव्यय पुरुष को केन्द्र में रखें तो वेदान्त दर्शन प्रतिफलित होगा। अक्षर पुरुष को केन्द्र में रखने पर सांख्य दर्शन और क्षरपुरुष

को केन्द्र में रखने पर वैशेषिक दर्शन निष्पन्न होंगे। इस प्रकार अपेक्षा भेद से तीनों दर्शन भिन्न होने पर भी परस्पर विरोधी सिद्ध नहीं होंगे, अपितु एक–दूसरे के पूरक ही होंगे। यह बात समझ में आ जाए तो श्रुति–विप्रतिपन्नताजनित शास्त्रीय मोह भी दूर हो सकता है और तब बुद्धि समता में स्थित होकर कर्मयोग का अनुष्ठान कर सकती है।

जहाँ मध्ययुग में विद्वानों ने अपनी समस्त शक्ति एक–दूसरे के मत का खण्डन करने में लगा दी वहाँ आज आवश्यकता इस बात की है कि गीता द्वारा प्रदर्शित अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष की अवधारणा को समझकर श्रुति तथा प्रस्थानत्रयी के आलोक में दर्शनों के विरोध का परिहार करने में अपनी शक्ति और बुद्धि लगाएँ। संसार के मोह को तो छोड़ें ही, सम्प्रदाय के मोह को भी छोड़ें।

दार्शनिक मतभेदों के बावजूद न केवल वैदिक अपितु बौद्ध तथा जैन जैसे श्रमण परम्परा के दर्शन भी इस विषय में एकमत हैं कि मोह ही समस्त अनर्थ का मूल है। मोह से राग-द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष से आसक्ति उत्पन्न होती है। यह आसक्ति ही बन्धन का मूल है। अनासक्त भाव से किए गए कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते हैं; इसीलिए जीवन्मुक्त, बोधिसत्व अथवा केवली के कर्म उसे बाँधते नहीं हैं। कर्म छोड़ने का आग्रह प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। अतः मोक्ष का मार्ग कर्म करते हुए भी कर्म से निर्लिप्त रहने का मार्ग होना चाहिए और गीता ने यही मार्ग प्रदर्शित किया है। इसीलिए गीता सभी सम्प्रदायों के कंठ का हार बन सकी है।

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

अर्जुन बोले –

हे केशव ! समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है? स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ।।५४।।

श्री भगवानुवाच –

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

श्री भगवान् बोले –

हे अर्जुन ! जब मनुष्य अपनी समस्त मनोकामनाओं को छोड़कर आत्मा में आत्मा से ही तुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।।५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

वह मननशील व्यक्ति स्थिर बुद्धि होता है जिसका मन दुःखों में उद्विग्न नहीं होता और जो राग, भय और क्रोध को छोड़कर सुखों की स्पृहा नहीं करता ।।५६।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

उस मनुष्य की बुद्धि स्थिर होती है जो आसक्ति को छोड़कर शुभ अथवा अशुभ को प्राप्त करके न प्रसन्न होता है न द्वेष करता है ।।५७।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

और उसकी बुद्धि स्थिर होती है जो इन्द्रियों के विषयों से अपनी इन्द्रियों को इस प्रकार समेट लेता है जिस प्रकार कछुआ अपने सब अंगों को सब ओर से समेट लेता है ।।५८।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते।।५९।।

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले व्यक्ति के विषय छूट जाते हैं (तथापि केवल) आसक्ति बनी रहती है। उसकी यह आसक्ति भी परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर छूट जाती है ।।५९।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

हे अर्जुन! क्योंकि प्रमत्त बनाने वाली इन्द्रियाँ प्रयत्नशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी जबरदस्ती खींच लेती हैं। इसलिये मुझ (भगवान्) में मन लगा कर उन सारी इन्द्रियों को वश में करके समाहित होकर व्यक्ति को रहना चाहिये क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसी की बुद्धि स्थिर होती है।।६०-६१।।

विपुल-भाष्य

कृष्ण को जगद्गुरु कहा जाता है – कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्। प्रश्न होता है कि क्या यह अतिशयोक्ति है अथवा वस्तुस्थिति है कि श्रीकृष्ण जगद्गुरु हैं? क्या भक्ति के आवेश में तो श्रीकृष्ण को जगद्गुरु नहीं कह दिया गया ? सारा संसार तो श्रीकृष्ण को अपना गुरु मानता नहीं है। समाधान यह है कि श्रीकृष्ण ने जो उपदेश गीता में दिया वह मनुष्य-मात्र के लिए हितकारी है। कोई किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी क्यों न हो, किसी भी देश में क्यों न रहता हो तथा उसका कोई भी व्यवसाय क्यों न हो, श्रीकृष्ण का उपदेश सबके लिए उपयोगी है। इसलिए वे वस्तुतः जगद्गुरु हैं। गीता के निम्नांकित वचनों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि श्रीकृष्ण के आदेश सार्वभौम और सार्वकालिक हैं। यदि कोई ईसाई अथवा इस्लाम धर्म का अनुयायी भी है तो गीता के आदेशों को मानने में उसे कहीं कठिनाई नहीं होगी।

स्थितप्रज्ञ का लक्षण

प्रसङ्ग है स्थितप्रज्ञ का। अर्जुन ने पूछा कि समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण है? उसका आचार-व्यवहार कैसा होता है? श्रीकृष्ण ने सात श्लोकों की १४ पंक्तियों में इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया –

"जो व्यक्ति मनोगत समस्त कामनाओं को छोड़कर आत्मा में आत्मा से ही सन्तुष्ट है, वह स्थितप्रज्ञ है। जो दुःख में अनुद्विग्न बना रहता है तथा सुखों में जिसकी स्पृहा नहीं है; जिसमें राग, भय तथा क्रोध नहीं रह गया, ऐसा स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति मुनि कहलाता है। जो सर्वत्र आसक्ति को छोड़कर न शुभ को प्राप्त करके प्रसन्न होता है, न अशुभ को प्राप्त करके द्वेष करता है, उसकी ही प्रज्ञा स्थिर माननी चाहिए। जो विषयों से अपनी इन्द्रियों को इसी प्रकार निवृत्त कर लेता है जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को सिकोड़ लेता है उसकी प्रज्ञा स्थिर कही जाती है। भोग्य पदार्थों को छोड़ देने पर विषय छूट जाते हैं तथा परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर विषयों की आसक्ति भी छूट जाती है। हे अर्जुन ! पुरुषार्थ में लगे विद्वान् के मन को भी बलवान् इन्द्रियाँ खींच ले जाती हैं। उन इन्द्रियों को परम पुरुष में लगा कर जो वश में कर लेता है, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित माननी चाहिए।"

अर्जुन के सामने दो मार्ग थे – ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग। ज्ञानमार्ग का अर्थ था – कर्मों का परित्याग। कर्ममार्ग का अर्थ था – फल को लक्ष्य बनाकर शास्त्रोक्त कर्म का अनुष्ठान। राज्य की आशा से युद्ध किया जाए – अर्जुन के लिए क्षत्रिय होने के नाते यह शास्त्रोक्त कर्म था, किन्तु अर्जुन ने इस मार्ग को नकार दिया और उसने ज्ञानमार्ग को उत्तम समझा। श्रीकृष्ण ने उसे इन दोनों मार्गों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग बताया। यह मार्ग बुद्धियोग का मार्ग है। बुद्धियोग के अनुसार कर्म संस्कार का बन्धन तभी बनते हैं जबकि उनके पीछे कोई फल की इच्छा हो। फल की इच्छा मन को चंचल बनाती है और अशांति का कारण बनती है। इस अशांति से बचने के लिए कर्म का त्याग कर देना उचित नहीं है। उचित है फल की इच्छा का त्याग। यह बात अर्जुन के लिए नयी थी। इसलिए उसने कर्मयोगी अथवा स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहा।

श्रीकृष्ण ने बताया कि फल की इच्छा आसक्ति का मूल है और आसक्ति ही बन्धन का कारण है। आसक्ति के कारण अज्ञान मन को अभिभूत कर लेता है। यदि फल की इच्छा न हो तो मन स्थिर होकर बुद्धि से जुड़ जाता है मन का बुद्धि से जुड़ जाना ही बुद्धियोग है। यही बुद्धि का सम हो जाना है। ऐसी स्थिति में मान–अपमान का ज्ञान तो होता है किन्तु उसके कारण हर्ष या विषाद नहीं होता। संस्कृत भाषा के दो शब्द हैं – अवनति और उन्नति। दोनों में ही ''नति'' अर्थात् पतन है; अवनति में नीचे की ओर पतन है उन्नति में ऊपर की ओर पतन है। सामान्यतः हम अवनति में तो पतन मानते हैं किन्तु उन्नति में पतन नहीं मानते। वस्तुस्थिति यह है कि यदि हानि में हमें विषाद होता है और लाभ में प्रसन्नता होती है तो दोनों ही स्थितियों में हम समता की स्थिति से विचलित होते हैं और इस दृष्टि से दोनों ही स्थितियाँ पतन की हैं। जहाँ भी इच्छा में बाधा आने के कारण अथवा इच्छा की पूर्ति हो जाने के कारण मन में क्षोभ होता है वहीं समता की स्थिति समाप्त हो जाती है और साधक पदार्थ के आधीन हो जाता है। किन्तु यदि इच्छा छूट जाए तो पदार्थों की आधीनता छूट जाती है । व्यक्ति स्वयं में ही स्वयं से सन्तुष्ट रहता है। यह स्थिति युक्तयोगी की है। युञ्जान योगी भी यद्यपि पूर्णतः इस स्थिति को प्राप्त नहीं होता तथापि जैसे–जैसे उसकी इच्छाएँ कम होती हैं वैसे–वैसे उसकी आत्मस्थिति बढ़ती जाती है। जिसका मन भोग इच्छा में लिप्त है वह कोई भी कार्य बिना स्वार्थ के नहीं करता, किन्तु जिसने इच्छाओं को छोड़ दिया उसके सभी कर्म लोक-संग्रह की भावना से होते हैं। प्रथम प्रकार का व्यक्ति कभी भी शांत नहीं रह सकता, दूसरा व्यक्ति कभी अशांत नहीं होता।

तीन प्रकार के कर्म

इच्छाओं का सम्बन्ध तीन प्रकार के कर्मों से है। कर्म तीन प्रकार के हैं – संचित, प्रारब्ध और संचीयमान। इन तीनों ही प्रकार के कर्मों से इच्छा जुड़ी होने के कारण इच्छा भी तीन प्रकार की हो जाती है। इसलिए भगवान् ने कहा कि सभी प्रकार की कामनाओं को छोड़ देना चाहिए। ये तीनों प्रकार की कामनाएँ मन में रहती हैं। कामना न रहने पर संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं और संचीयमान कर्म भी अपना फल नहीं देते। किन्तु प्रारब्ध कर्म फिर भी अपना फल देते ही हैं। ऐसे फल अनुकूल भी होते हैं और प्रतिकूल भी। ऐसे फलों के प्रति साधक को अनुकूलता और प्रतिकूलता में समभाव रखना चाहिए।

इच्छा का सम्बन्ध इट् से है। इट् अन्न है। यह अन्न सात प्रकार का है – (१) ज्ञान, (२) क्रिया, (३) आकाश, (४) वायु, (५) तेज, (६) जल, (७) मिट्टी। ये सातों अन्न हमारे जीवन के लिए आवश्यक हैं। इसलिए हमारा मन इनकी इच्छा किया करता है। इन सातों प्रकार के अन्नों में अन्तिम दो अन्नों के लिए मनुष्य को प्रयत्न करना पड़ता है। शेष पाँचों अन्न मनुष्य को स्वतः ही प्रकृति देती है। यहाँ मिट्टी से अभिप्राय गेहूँ आदि अनाज से है। जीवन के लिए हमें जल भी चाहिए और अनाज भी। पार्थिव अन्न अर्थात् गेहूँ आदि अनाज आत्मा, देव और पशु – तीनों को चाहिए। इस अन्न में तीन भाग रहते हैं ठोस भाग दधि कहलाता है। यह भूत-प्रधान है। स्निग्ध भाग, जिसके कारण आटे में लोच आता है, घृत कहलाता है। यह देव-प्रधान है। तीसरा भाग मधु है जिससे अन्न में मिठास आता है। यह आत्म-प्रधान है। दधि भाग से शरीर के मांस–मज्जादि बनते हैं। घृत भाग से ओज बनता है और मधु भाग से

मन बनता है। मांस-मज्जादि स्थूल शरीर है। ओज सूक्ष्म शरीर है और मन कारण शरीर है। इस प्रकार यह पार्थिव अन्न सबके लिए उपयोगी है।

वायु और तेज देवताओं के लिए उपयोगी है। वायु जो कि प्राकृतिक यज्ञ का अध्वर्यु है तेज में सोम की आहूति डालता है। इसी से ज्योतिर्मय देव अपना अन्न गहण करते हैं।

शेष रहे तीन अन्न – आकाश, कर्म और ज्ञान। ये तीनों आत्मा के अन्न हैं। आत्मा के तीन घटक हैं – वाक्, प्राण और ज्ञान । वाक् की प्रतिष्ठा आकाश है, प्राण की प्रतिष्ठा कर्म है और मन की प्रतिष्ठा ज्ञान है। इस प्रकार ये तीनों आत्मा का अन्न बनते हैं। पृथ्वी से आकाशपर्यन्त पाँच अन्न अर्थ रूप हैं। यह अर्थ कर्म पर प्रतिष्ठित है और कर्म ज्ञान पर प्रतिष्ठित है। ज्ञानपूर्वक कर्म पाँचों अन्नों को उत्पन्न करता हुआ हमारे अस्तित्व को बनाए रखे – यह बुद्धियोग का फल है। जब इस बुद्धि के साथ मन अपनी कामना जोड़ देता है तो हमारे कर्म बन्धन का कारण बन जाते हैं। ज्ञान हमारा स्वभाव है उससे संचालित होने वाले कर्म भी सहज हैं। उस कर्म से पार्थिव अन्न उत्पन्न होता रहे, यह प्रकृति की व्यवस्था है, किन्तु कामना के कारण हम पार्थिव अन्न के दास बन गए इससे हमारी प्रज्ञा चंचल हो गई। प्रज्ञा चंचल हुई तो मन सत्य मार्ग से हटकर वक्र मार्ग पर चलने लगा। चंचल मन छिद्र युक्त पात्र की भाँति है उसमें कितने भी भोग डाले जाएँ वह कभी तृप्त नहीं होता। इसके विपरीत जो आत्मानन्द में लीन है उसे बाह्य भोग कम भी प्राप्त हो तो वह असन्तुष्ट नहीं होता, तुष्ट ही रहता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि स्वाभाविक ज्ञान द्वारा स्वाभाविक कर्म करते हुए हम जीवनोपयोगी सामग्री तय करें। फिर भी हमें वह सामग्री यदि अपनी आवश्यकता से कम मिले तो हम उस कम सामग्री में भी सन्तुष्ट रहें, क्योंकि आत्मानन्द तो हमें सदा ही उपलब्ध है। इस सन्तोष का यह अर्थ नहीं है कि हम पुरुषार्थ न करें। पुरुषार्थ करना तो हमारा स्वभाव है। उसे नहीं छोड़ना चाहिए। किन्तु पुरुषार्थ के नाम पर टेढ़े-मेढ़े अनैतिक मार्ग अपनाना हमारा स्वभाव नहीं है। जब हम पार्थिव अन्न की लालसा से अपने सत्य स्वभाव से विचलित हो जाते हैं तो हमारे लिए जलवायु और प्रकाश जैसे स्वाभाविक अन्न भी दुर्लभ हो जाते हैं; आज की भाषा में कहें तो पर्यावरण दूषित हो जाता है। अदूरदर्शिता के कारण हमने जो उद्योग-धन्धे लगाए उनका प्रयोजन तो भौतिक उन्नति था किन्तु फलित यह हुआ कि हम जलवायु जैसे प्राकृतिक सम्पदा से भी वंचित हो गए। आज निर्मल जल इतना दुर्लभ हो गया कि हमें पीने के लिए बोतल में बंद पानी महंगे दामों में खरीदना पड़ता है। प्रदूषित वायु के कारण अस्थमा जैसी बीमारियाँ निरन्तर बढ़ोतरी पर हैं। खुले आकाश का दर्शन भी दुर्लभ है। आवश्यक है कि हम भौतिक इच्छाओं पर नियंत्रण करते हुए थोड़े में सन्तुष्ट होने की कला सीखें। यह विवेक का मार्ग है, पुरुषार्थहीनता का मार्ग नहीं है।

अनुकूलता–प्रतिकूलता में विवेक करना

यह सब होते हुए भी प्रारब्ध कर्म के कारण अनुकूलता-प्रतिकूलता बनी रहती है। इस अनुकूलता-प्रतिकूलता में भी विवेक करना होता है। कर्त्तव्यपालन प्रतिकूल प्रतीत होता है किन्तु उसका परिणाम अनुकूल है। यह श्रेय का मार्ग है। आलस्य में पड़े रहना अनुकूल प्रतीत हो सकता है किन्तु उसका परिणाम प्रतिकूल है यह प्रेय मार्ग है। निष्काम कर्म में प्रेय और श्रेय दोनों की सिद्धि होती है किन्तु आसक्ति दोनों के प्रति नहीं होनी चाहिए। सुख के प्रति राग, भय और क्रोध को जन्म देता है। जिसमें राग नहीं है वही भय से मुक्ति पा सकता है। द्वेष भी राग का ही एक रूप है। प्रतिकूल राग का नाम द्वेष है। राग में सुख होता है, द्वेष में दुःख। दोनों ही स्थितियों में मन आसक्ति से युक्त हो जाता है । सुख में सुख के छिनने का भय है, दुःख में दुःख के न जाने का भय है। राग के उच्छिन्न हो जाने पर ये दोनों ही भय नहीं रहते। जहाँ लोभ और भय नहीं है, वहाँ अनैतिकता नहीं आ सकती।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने जहाँ एक ओर अल्प परिग्रह में सन्तुष्ट रहने की बात कही वहीं दूसरी ओर इस अल्प परिग्रह के प्रति भी अनासक्त रहने की बात कही, जैसा प्रारम्भ में कहा गया है, इस सारे आदेश का सम्बन्ध किसी देश–विशेष, काल–विशेष या सम्प्रदाय-विशेष से नहीं है और गीता का यह उपदेश सर्वत्र सर्वदा सबके लिए समान रूप से हितकर है।

जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञता का आदर्श मनुष्य–मात्र के सम्मुख रखा। स्थितप्रज्ञता का अर्थ है सुख–दुःख में समानता का भाव बनाए रखना तथा समस्त कामनाओं को छोड़कर अपने में ही सन्तुष्ट रहना। मनुष्य सुख–दुःख में विचलित न हो – यह सभी के लिए अभिप्रेत है, भले ही वह किसी भी जाति–सम्प्रदाय का क्यों न हो।

अब प्रश्न होता है कि हम इस स्थितप्रज्ञता की स्थिति को कैसे प्राप्त करें। गीता ने इस प्रश्न का विस्तार से उत्तर दिया, क्योंकि यह प्रश्न सर्वाधिक महत्त्व का है। गीता ने इस सम्बन्ध में अनेक उपाय बताए।

सुखों के प्रति विरक्ति का भाव

पहला उपाय तो यह बताया गया कि संसार के सुख–भोगों में तो अनासक्ति रखने की बात सब कहते ही हैं किन्तु स्थितप्रज्ञता के लिए परलोक के सुखों के प्रति भी विरक्ति का भाव रखना आवश्यक है। शास्त्रों में कामनाओं की पूर्ति के लिए अनेक कर्मों का विधान है। हम समझते हैं कि इन कर्मों का अनुष्ठान तो शास्त्रानुमोदित है। फिर हम यह भी समझते हैं कि भले ही लौकिक कामनाओं को तो छोड़ देना चाहिए किन्तु स्वर्गादि की कामना तो उत्तम है क्योंकि स्वर्ग का सुख सांसारिक सुख के समान क्षणिक तो है नहीं। शास्त्रों ने कहा है कि ब्राह्मण का शरीर क्षुद्र कामनाओं के लिए नहीं है; उसे तो कष्टपूर्ण तप करना चाहिए ताकि इहलोक के साथ-साथ परलोक में भी यह अनन्त सुख प्राप्त कर सके –

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च।

गीता का लक्ष्य इससे भी आगे का है, वहाँ त्रिगुणातीत होने की बात कही गई है। त्रिगुणातीत स्थिति में स्वर्ग का भी कोई मूल्य नहीं रहता । जब तक स्वर्ग की भी आसक्ति है, तब तक पाप–पुण्य का द्वन्द्व बना रहता है। इस प्रसंग में गीता ने स्नेह शब्द का प्रयोग किया है। स्नेह मन का स्वभाव है। बुद्धि का स्वभाव तेज है। स्नेह सङ्ग उत्पन्न करता है। तेज असङ्ग है। जो स्थितप्रज्ञ है उसको भी पाप–पुण्य के फल तो मिलते हैं किन्तु वह उन फलों का न अभिनन्दन करता है और न उनसे उद्विग्न होता है –

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने का दूसरा उपाय है – इन्द्रियों को विषयों से हटा लेना। इसे योग की परिभाषा में प्रत्याहार कहते हैं। गीता ने उपमा दी कि कछुआ जिस प्रकार अंगों को अपने में समेट लेता है उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है। यह कछुए की उपमा महत्त्वपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण में कछुए को कश्यप कहा है – कश्यपो वै कूर्मः। निरुक्त के अनुसार पश्यक ही कश्यप है। पश्यक का अर्थ है – देखने वाला । परमात्मा द्रष्टा है, जीव भोक्ता है। भोक्ता सदा असन्तुष्ट रहता है। द्रष्टा सदा सन्तुष्ट रहता है। जो असन्तुष्ट है उसकी ही इंन्द्रियाँ विषयों की ओर भागती हैं।

शतपथ ब्राह्मण में परमात्मा को कूर्म क्यों कहा गया इसकी व्याख्या की गई है। यदि हम किसी खुले स्थान पर जाकर चारों क्षितिज को देखें तो यह लोक कछुए के ही आकार का है । ऊपर अर्द्धगोलाकार आकाश है, नीचे समतल पृथ्वी। कछुए का यही आकार है। क्योंकि लोक प्रजापति की प्रतिकृति है इसलिए प्रजापति को भी कूर्म कह दिया गया है। कूर्म का ऐसा स्वभाव है कि जब वर्षा नहीं होती है तो लम्बे समय तक अपने अंगों को समेट कर पृथ्वी के अन्दर बैठा रहता है और इसमें उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। जो साधक आत्मा में लीन है वह इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है किन्तु इसमें उसे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है।

यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

रस को जीतने के लिए उपवास

युक्तयोगी के लिए तो इन्द्रियों के विषयों से अपने आपको हटा लेना आसान है किन्तु जो युञ्जानयोगी है, अर्थात् जिसका योग अभी परिपूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है, उसके लिए एक उपाय उपवास है। जीवन निर्वाह के लिए भोजन करना आवश्यक है किन्तु भोजन का सम्बन्ध रसनेन्द्रिय से है। जब हम भोजन करते हैं तो सहज ही इसमें रस आता है। यह रस ही इन्द्रियों के शेष विषयों का भी कारण बन जाता है। प्रसिद्ध है जिसने रस को जीत लिया उसने सब कुछ जीत लिया – **जिते रसे जितं सर्वम्।** रस को जीतने का सबसे अच्छा उपाय है – उपवास। किन्तु यदि उपवास में हम बिल्कुल ही कुछ न लेंगे तो शरीर निर्बल हो जाएगा और यदि लम्बे समय तक ऐसा किया जाए तो शरीर छूट ही जाएगा। शतपथ ब्राह्मण कहता है यदि कुछ न खाया जाए तो मनुष्य पितरों में शामिल हो जाता है अर्थात् मर जाता है – **यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति।** इसके विपरीत यदि मनुष्य भरपेट अन्न का भोजन करता है तो उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है। इस बात को इस तरह समझना चाहिए कि अन्न में चन्द्रमा की प्रधानता है और फलों में सौर अग्नि की प्रधानता है। इधर शरीर में दो तत्त्व हैं – भूत और प्राण । अन्न से भूत में वृद्धि होती है किन्तु प्राण मलिन होता है। फल से प्राण बलवान् बनता है, किन्तु भूत निर्बल होता है। इसलिए उपवास का अर्थ है – अन्न न खाकर फल खाना। फल खाने से शरीर नष्ट होने से बचा रहेगा और बुद्धि में मलिनता भी नहीं आएगी। शतपथं ब्राह्मण में दो मत दिए गए हैं। सावयस ऋषि का मत है कि व्रत में कुछ नहीं खाना चाहिए। किन्तु याज्ञवल्क्य का मत है कि उपवास में फलाहार अथवा गोदुग्ध जैसे पदार्थ ले लेने चाहिए ताकि शरीर की शक्ति भी बनी रहे और बुद्धि भी मलिन न हो। गीता याज्ञवल्क्य के मत से सहमत है कि न तो बहुत अधिक खाना चाहिए और न खाना बिल्कुल ही छोड़ देना चाहिए –

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।।

इस प्रकार उपवास द्वारा जब व्यक्ति के संस्कार नियन्त्रित हो जाते हैं तो इन्द्रियसंयम सरल हो जाता है फिर भी विषयों के प्रति मन में रस बना रहता है। यह रस भी बन्धन का कारण है। इसके लिये आत्मरमण करना होगा। उपवास का शब्दार्थ है – निकट रहना। जो आत्मा के निकट रहता है वास्तविक उपवास वही करता है। भोजन छोड़ देने मात्र से उपवास सिद्ध नहीं होता। आत्मानन्द की अनुभूति के बिना उपवास द्वारा भले ही हम विषयों को छोड़ दें पर विषयों की आसक्ति बनी रहती है। यह आसक्ति तो आत्मानुभूति से ही जाती है –

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

अन्त में गीता में एक अत्यन्त व्यावहारिक बात कही गई है। मनुष्य कितना भी विद्वान् हो, कभी न कभी ऐसा अवसर आ ही जाता है कि इन्द्रियाँ बलपूर्वक उसके मन को आकृष्ट कर लेती हैं। विश्वामित्र जैसे ऋषियों का उदाहरण हमारे सामने है। वे ज्ञानी भी थे और तपस्वी भी, किन्तु मेनका को देखकर उनका तप भी भंग हो गया। इसका कारण यह है कि इन्द्रियाँ बहुर्मुख हैं। उनका स्वभाव ही यह है कि वे विषयों की ओर भागती हैं और उस समय मनुष्य को मानो मथ डालती हैं। ऐसे में उसकी शान्ति भंग हो जाती है। मनुष्य कितना भी प्रयत्न करे किन्तु ऐसा अवसर तो कभी न कभी आ ही जाता है –

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।

विलासिता का त्याग

ऐसी स्थिति में पहला उपाय तो यह है कि मनुष्य ऐसे अवसरों से बचे जहाँ उसके मार्ग भ्रष्ट होने की सम्भावना हो। इसी दृष्टि से शास्त्रों ने विलासिता का त्याग करने की बात कही। मनुष्य सादा भोजन करे, सादा वस्त्र पहने, आकर्षक विषयों से बचे। प्रश्न यह होता है कि ऐसा करने पर जीवन में नीरसता आ जाएगी। उत्तर यह है कि मनुष्य

को अपना मन भगवान् में लगाना चाहिए। भगवच्चिन्तन से नीरसता दूर होती है। साथ ही मनुष्य को शास्त्रोक्त कर्मों में अपने आपको इतना व्यस्त कर देना चाहिए कि उसे व्यर्थ के कामों के लिए समय ही न मिले। ऐसा करने पर थोड़े दिनों में संयम व्यक्ति का स्वभाव हो जाता है। फिर उसे स्खलित होने का भय नहीं रहता –

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने गीता में प्रज्ञा को स्थित रखने के अनेकानेक उपाय विस्तार से बता दिए हैं। अनेक उपाय बताने का प्रयोजन यह है कि भिन्न-भिन्न साधकों की भिन्न-भिन्न स्थिति रहती है। सबकी रुचि भी एक जैसी नहीं है। जो उत्तम साधक हैं उनके लिए तो अन्तर्मुख रहना ही उत्तम साधन है। मध्यम कोटि का साधक सांसारिक विषयों को तो छोड़ देता है किन्तु पारलौकिक विषयों को नहीं छोड़ पाता। इसके लिए उसे कहा गया कि उसे स्वर्गादि की कामना भी नहीं करनी चाहिए। किन्तु इतना जान लेने पर भी निम्न श्रेणी का साधक इन्द्रियों को वश में नहीं रख पाता है। उनके लिए उपवास का विधान किया गया और साथ ही विलासिता के प्रसंगों का भी निषेध किया गया। मूल बात यह है कि जब तक व्यक्ति विषयों से आकृष्ट होगा उसका मन चंचल रहेगा और जब तक उसका मन चंचल है, तब न वह सत्यमार्ग का अनुसरण कर पाएगा और न वह शान्ति प्राप्त कर पाएगा।

मूल तथा अनुवाद

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

विषयों का ध्यान करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामनाओं से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति गड़बड़ा जाती है। स्मृति में न्यूनता आ जाने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट हो जाने पर व्यक्ति का नाश हो जाता है ॥६२-६३॥

विपुल-भाष्य

प्रज्ञा की स्थिरता कहें अथवा समाधि कहें – एक ही बात है। आत्मा सङ्गरहित, निर्विकार शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप है। अतः वह तो सदा ही स्थिर है। बुद्धि भी सूर्य से सम्बद्ध है। सूर्य भी निर्लेप है। श्रुति कहती है कि सूर्य समस्त संसार का चक्षु है किन्तु वह चक्षु के दोषों से लिप्त नहीं होता –**सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः**। जो समष्टि में सूर्य है, व्यष्टि में वही बुद्धि है। अतः आत्मवत् बुद्धि भी स्वरूप से निर्लेप ही है। स्वाभाविक रूप में प्रज्ञा को भी स्थिर ही रहना चाहिए फिर भी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। गीता में इसका कारण विषयों का चिन्तन बताया गया है। विषयों के चिन्तन से उनके प्रति सङ्ग उत्पन्न होता है, सङ्ग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति-विभ्रम और स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश होता है। यही बुद्धि का नाश सर्वनाश का कारण है।

यद्यपि बुद्धि निर्लेप है तथापि उसमें विद्या तथा अविद्या दोनों ही रहती हैं। प्रारम्भ में यह समझ लेना चाहिए कि मन यदि बहिर्मुख हो जाता है तो बुद्धि का अविद्या भाग प्रबल हो जाता है और मन यदि अन्तर्मुख रहता है तो बुद्धि का विद्या भाग प्रबल बन जाता है। मन बहिर्मुख क्यों होता है – यह जानना आवश्यक है।

आनन्द की खोज

मन सदा आनन्द चाहता है । यदि वह उस आनन्द की खोज में इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर दौड़ता है तो वह बहिर्मुख हो जाता है। आनन्द की कामना अनुचित नहीं है किन्तु जानना यह चाहिए कि आनन्द का मूल आत्मा है जबकि हम आनन्द का मूल स्रोत विषयों को मान बैठे हैं। इस भूल पर विचार करना चाहिए। हमारे सामने एक स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ है। हमें उसे खाने में आनन्द आता है। कल्पना करें कि हम ज्वर से आक्रान्ता हो गए – मुँह का स्वाद बिगड़ गया। अब यही स्वादिष्ट पदार्थ हमें आनन्द नहीं देता। यदि पदार्थ में आनन्द होता है तो ज्वर की स्थिति में भी हमें स्वादिष्ट पदार्थ आनन्द देता। पदार्थ के आनन्द देने की स्थिति तब ही बनती है जब इन्द्रियाँ स्वस्थ हों। निष्कर्ष यह निकला कि सुख का पदार्थ निमित्त है, उपादान कारण तो इन्द्रियों का स्वास्थ्य है।

मान लें कि हमारी इन्द्रियाँ तो स्वस्थ हैं किन्तु पुत्र की मृत्यु से मन खिन्न है। ऐसी स्थिति में तो वह स्वादिष्ट पदार्थ और भी व्यर्थ हो जाता है। जिसके युवा पुत्र की मृत्यु हो गई हो उसके सामने तो कोई मूर्ख ही मिठाई खाने की बात चलाएगा। यदि पदार्थ में आनन्द होता तो मन के खिन्न होने पर भी वह आनन्द लेता। अतः हम अब इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आनन्द का वास्तविक स्रोत तो मन की निराकुलता है न कि पदार्थ।

एक कदम और आगे चलें । मन भी परेशान नहीं है किन्तु बुद्धि किसी समस्या में उलझी है। सामने भोज्य पदार्थ आ गया किन्तु हमारा ध्यान ही उस ओर नहीं जाता। हम समस्या में ही उलझे रहते हैं। जब समस्या सुलझ जाती है तो भोज्य पदार्थ के बिना भी परम शान्ति का अनुभव होता है। परिणाम यह निकला कि आनन्द का वास्तविक स्रोत बुद्धि का समाहित होना है। जिसकी बुद्धि समाहित है, उसे विषयों की इच्छा ही नहीं होती। उसे बुद्धि से ही तृप्ति मिल जाती है। बड़े–बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक, साहित्यकार अपनी ही दुनिया में मस्त रहते हैं, उन्हें विषयों की चिन्ता ही नहीं होती। शास्त्र के अनुशीलन के आनन्द के सम्मुख विषयों के सुख कितने फीके हैं, इसे वही जान सकता है जिसे शास्त्र का व्यसन लग गया हो किन्तु शास्त्र का व्यसन भी है व्यसन ही। व्यसन तो सब ही परेशानी में डालते हैं। यह ठीक है कि शास्त्र का व्यसन अन्य व्यसनों से श्रेष्ठ है। शराब का व्यसन इन्द्रियों का व्यसन है, सङ्गीतादि कला का व्यसन मन का व्यसन है, शास्त्र का व्यसन बुद्धि का व्यसन है। इनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष हैं। शास्त्र ने यही क्रम बताया है –

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः पर मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

इस क्रम में इन्द्रियों से मन तथा मन से बुद्धि को उत्कृष्ट बताया है साथ ही आत्मा को बुद्धि से भी उत्कृष्ट बताया है। आत्मा नाम अहं प्रत्यय का है। समस्त आनन्द का मूल यह अहं प्रत्यय ही है। यदि अहं प्रत्यय ही नहीं तो आनन्द का प्रश्न ही नहीं होता। मूर्च्छित व्यक्ति का अहं प्रत्यय अस्थायी रूप से समाप्त हो जाता है और मृत व्यक्ति का तो वह प्रत्यय स्थायी रूप से ही चला जाता है। न मूर्च्छित व्यक्ति को कोई आनन्द आता है, न मृत व्यक्ति को। सिद्ध यह होता है कि आनन्द का मूल स्रोत तो आत्मा ही है। आत्मा के जो जितना निकट है, उसमें आनन्द की मात्रा उतनी अधिक है। फलस्वरूप बुद्धि की अपेक्षा मन का तथा मन की अपेक्षा विषयों का आनन्द अल्पतर है।

मन इच्छा करता है सुख की, और सुख ढूँढ़ता है विषयों में, विषयों की अपेक्षा तो अधिक सुख स्वयं मन में ही है। यह स्थिति ऐसी ही है मानो कोई लखपति उसके सामने हाथ पसारे जिसके पास हजार ही रुपए हों। मन को विषयों में सुख नहीं मिल पाता। तब यह एक विषय से दूसरे विषय पर भागता है। यही मन का विषयों के प्रति अनुधावन है, यही मन की चञ्चलता है जिसका वर्णन शास्त्र किया करते हैं। अज्ञानवश हम समझते हैं कि मन इस विषय पर तो टिक नहीं पा रहा, सम्भव है कि अमुक विषय पर इसे विश्रान्ति मिल जाए। किन्तु यह हमारी भ्रान्ति ही सिद्ध होती है। जब विषयों में वह आनन्द है ही नहीं जिसे मन ढूँढ़ रहा है, तो वह किसी भी विषय पर कैसे टिक सकता है? यह बहिर्मुख अर्थात् विषयोन्मुख मन की कहानी है।

बहिर्मुखता की ओर से अंतर्मुखता

वही मन यदि विषयों से विमुख होकर बुद्धि की ओर अपना मुख कर ले तो उसके आनन्द की आशा पूरी हो सकती है क्योंकि अब वह स्वयं लखपति होकर हजार के स्वामी विषयों से याचना नहीं कर रहा, अपितु करोड़पति बुद्धि से याचना कर रहा है। यही मन का बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर आना है। लखपति को करोड़पति तो कुछ दे सकता है, हजारपति क्या देगा? बहिर्मुखता को वेद की भाषा में बहिश्चिति और अन्तर्मुखता को अन्तश्चिति कहा जाता है।

चिति का अर्थ है एक पर दूसरे का तथा दूसरे पर तीसरे का रखते जाना अर्थात् ईंट पर ईंट रखकर चिनने के समान किया जाने वाला कार्य चिति कहलाता है। मन संस्कारों को ग्रहण करता है। एक संस्कार पर दूसरा संस्कार बनता चला जाता है, यह चिति है। मन विषयों के संस्कारों की चिति करे यह बहिश्चिति है। यह बुद्धि के अर्थात् शास्त्र के संस्कारों की चिति करे यह अन्तश्चिति है। बहिश्चिति बन्धन है, अन्तश्चिति मुक्ति है – **मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**

हमारी बुद्धि की दो प्रक्रियाएँ हैं – अपेक्षा-बुद्धि और उपेक्षा-बुद्धि। जब मन बहिर्मुख होता है तो हमारी अपेक्षा-बुद्धि प्रबल हो जाती है। सरल भाषा में कहें तो कहना चाहिए कि रागात्मक वृत्ति प्रबल हो जाती है। जब मन अन्तर्मुख होता है तो उपेक्षा-बुद्धि अर्थात् वीतरागता प्रबल हो जाती है।

प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि वेद पढ़ने का क्या फायदा है। वेद ही नहीं, दर्शन, तर्कशास्त्र, आदि सभी शास्त्रों के बारे में भी पूछा जाता है कि इनका लाभ क्या है ? शास्त्रकारों का उत्तर है कि षडङ्ग सहित वेदों का अध्ययन निष्कारण ही करना चाहिए – निष्कारणेन ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यः। निष्कारण ही षडङ्ग वेद पढ़ना चाहिए। प्रश्न होता है कि बिना प्रयोजन के तो कोई भी कार्य नहीं होता फिर वेदाध्ययन अथवा शास्त्राध्ययन जैसा दुष्कर कार्य बिना प्रयोजन के कैसे किया जा सकता है – **प्रयोजनमनुद्दिश्य मूर्खोऽपि न प्रवर्तते ?** उत्तर यह है कि वेद अथवा शास्त्र का अध्ययन उपेक्षा-बुद्धि अर्थात् वीतरागतापूर्वक करना चाहिए न कि अपेक्षा-बुद्धि अर्थात् लौकिक स्वार्थसिद्धि के लिए। शास्त्र से लौकिक स्वार्थ की सिद्धि की इच्छा करना मुक्ति के साधन को भुक्ति का साधन बना देने जैसा है।

विषयों से विमुखता

सीधे और स्पष्ट शब्दों में कहें तो वेद अथवा शास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन यह है कि मन विषयों से विमुख होकर बुद्धि की ओर उन्मुख हो ताकि यह आनन्द के वास्तविक स्रोत की ओर मुड़ सके। मन जैसे ही बुद्धि की ओर उन्मुख होगा वैसे ही वह विषयों के प्रति दौड़ना बन्द कर देगा। जब वह विषयों का अनुधावन नहीं करेगा – विषयों का चिन्तन नहीं करेगा तो उसकी विषयों में आसक्ति भी नहीं होगी। जब विषयों में आसक्ति नहीं होगी तब इच्छा न रहेगी। इच्छा के बिना क्रोध न होगा, क्रोध के बिना मोह न होगा तथा मोह के बिना स्मृति बनी रहेगी और स्मृति के बने रहने पर बुद्धि भी स्थिर रहेगी। यही स्थितप्रज्ञता है। इस स्थिति में बुद्धि का विद्याभाग प्रबल रहता है तथा अविद्याभाग अभिभूत हो जाता है। मन क्षणिक है। क्षणिक पदार्थ में संस्कार टिक नहीं सकते। किन्तु मन में संस्कार इस कारण टिक पाते हैं कि मन को बुद्धि स्थिरता का गुण प्रदान कर देती है। यह स्थिति उस बुद्धि की है जिस पर मन हावी हो जाता है। यदि मन पर बुद्धि हावी हो जाए तो मन में बुद्धि की असङ्गता का धर्म संक्रमित हो जाता है और मन संस्कारों को ग्रहण नहीं कर पाता। शास्त्रकार इसे उन्मनी अवस्था कहते हैं । यदि मन उन्मनी अवस्था में आ जाए तो फिर न पाप का संस्कार बन पाता है न गुण का । यही मोक्ष है –

मनश्चेदुन्मनीभूयात्र पुण्यं न च पातकम्।।

मन यदि बहिर्मुख रहता है तो बुद्धि भी उसी का अनुसरण करने लगती है। मन चन्द्रमा से सम्बद्ध होने के कारण स्निग्धधर्मा है। स्नेह संस्कारों से लिप्त करा देता है। बुद्धि सूर्य से जुड़ी होने के कारण तेजोधर्मा है। तेज में लेप नहीं होता है। अतः सारी स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि स्नेहधर्मा मन बुद्धि पर हावी है या तेजोधर्मा बुद्धि मन पर। यदि बुद्धि प्रबल है तो कर्म होंगे किन्तु संस्कार नहीं बनेंगे। यही जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्त कर्म करता है किन्तु विषयों के प्रति आसक्त नहीं होता। यह अवस्था जीवन का चरम लक्ष्य है न कि कर्मों को छोड़ बैठना।

मूल तथा अनुवाद

राग-द्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

परन्तु जिसने अपने अन्तःकरण को साध लिया है ऐसा व्यक्ति राग–द्वेष रहित स्वाधीन इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ (भी) प्रसन्न तथा निर्मल रहता है। निर्मलता और प्रसन्नता के मिलने पर उसके समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं। निर्मल प्रसन्नचित्त वाले व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।।६४,६५।।

विपुल-भाष्य

गीता के अनुसार प्रसाद का अर्थ

लोक में एक पदावली प्रसिद्ध है – भगवान् का प्रसाद । किसी इष्ट देवता के चरणों में अर्पित करने के अनन्तर मिष्ठान्न आदि कुछ पदार्थ ग्रहण करते समय हम कहते हैं कि यह भगवान् का प्रसाद है। प्रसाद प्राप्त करना अत्यन्त सौभाग्य का विषय समझा जाता है। गीता में प्रसाद का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ दिया गया है। श्लोक इस प्रकार है –

राग-द्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।

अर्थ यह है – राग-द्वेष से रहित तथा आत्मा की वशवर्ती इन्द्रियों से विषयों का सेवन करने वाला (होने पर भी) विधेयात्मा अर्थात् साधक प्रसाद को प्राप्त हो जाता है। श्लोक में तीन बातों पर बल है – (१) वीतरागता, (२) इन्द्रियों की सक्रियता (३) प्रसाद की प्राप्ति। श्लोक में एक अन्य शब्द भी आया है – विधेयात्मा । यह शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शास्त्र के सभी आदेश विधेयात्मा के लिए ही होते हैं। विधेयात्मा का अर्थ समझने के लिए दो शब्द और समझने होंगे :

(१) अकृतात्मा तथा (२) कृतात्मा।

प्रथम अकृतात्मा को लें। अकृतात्मा वे व्यक्ति हैं जो जीवन में भटक रहे हैं। प्रथम अकृतात्मा तो वे हैं जिन्हें जीवन में आलस्य ही सर्वोत्तम प्रतीत होता है। आलस्य तम का प्रभाव है। तमोगुण आलसी लोगों को अभिभूत कर लेता है। उनकी जड़ता इतनी चरम कोटि की होती है कि उन्हें तो राग-द्वेष की उपस्थिति का भान तक भी नहीं होता। उनके सम्मुख राग-द्वेष की चर्चा करना ही व्यर्थ है।

अकृतात्माओं में दूसरी कोटि के व्यक्ति वे हैं जो निरन्तर कर्म में तो लगे हैं; किन्तु उनके चोरी आदि कर्म शास्त्रविरुद्ध हैं। उन्हें शास्त्र की चर्चा से चिढ़ होती है। तीसरी कोटि उनकी है जो अपनी बुद्धि पर ही विश्वास करते हैं, शास्त्रों पर नहीं। वे शास्त्रों का भी अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ तोड़ते–मरोड़ते रहते हैं। वे तर्क के आधार पर ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं जो देखने में बहुत लुभावने होते हैं किन्तु होते हैं सर्वथा शास्त्रविरुद्ध। चौथी कोटि में वे मनुष्य हैं जो शास्त्रों पर श्रद्धा रखकर शास्त्रानुसार कार्य तो करते हैं किन्तु जिनका लक्ष्य यह होता है कि शास्त्रानुकूल कर्म करने से उन्हें स्वर्गादि में सुख मिलेगा। पाँचवीं कोटि उन मनुष्यों की है जो कर्म-मात्र को बन्धन का कारण मान कर संन्यास के नाम पर अकर्मण्यता का जीवन जी रहे हैं।

ये पाँचों प्रकार के व्यक्ति आत्मा को प्राप्त नहीं कर पाते। न आलसी, न अपराधी मनोवृत्तिवाला, न स्वेच्छाचारी, न फल का लोलुप और न शास्त्रोक्त कर्मों को छोड़ने वाला ही आत्मा को प्राप्त होता है।

विधेयात्मा

विधेयात्मा इन पाँचों प्रकार के मनुष्यों से भिन्न वह व्यक्ति है जो शास्त्रोक्त कर्म तो करता है किन्तु उन कर्मों से किसी फल की प्राप्ति की आशा नहीं करता। यही विधेयात्मा दृढ़ अभ्यास द्वारा एक दिन कृतात्मा बन जाता है। कृतात्मा का अर्थ है कृतकृत्य अर्थात् जिसे अब कुछ भी करना शेष नहीं रहा। अकृतात्मा के लिए तो शास्त्र के सब उपदेश व्यर्थ हैं और कृतात्मा को शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही नहीं है। अकृतात्मा भोगी है, कृतात्मा मुक्त है, विधेयात्मा ही साधक है। शास्त्र के उपदेश उसके ही सन्दर्भ में सार्थक हैं। भोगी के लिए शास्त्र व्यर्थ है और मुक्त के लिए अनावश्यक।

इस प्रसङ्ग को एक अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। आत्मा, जिसे प्रत्यग् ब्रह्म कहा जाता है, क्योंकि वह अन्तर्जगत् का अधिष्ठाता है, सर्वदा ही मुक्त है। उसके लिए उपदेश की अपेक्षा नहीं है। वह तो कृतकृत्य है। वह ज्ञान का विषय है। दूसरी ओर पराग् ब्रह्म अर्थात् बहिर्जगत् विज्ञान का विषय है। ज्ञान का विषय आत्मा एक है अतः ज्ञान एकत्वानुगामी है। विज्ञान का विषय बहिर्जगत् विविध है अतः विज्ञान अनेकतानुगामी है। इसीलिए इसे विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान कहते हैं। ज्ञान शान्तानन्द का कारण है, विज्ञान समृद्धानन्द का कारण है। गीता के बुद्धियोग में दोनों का समन्वय है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने ज्ञान तथा विज्ञान दोनों के उपदेश देने की बात कही है – **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।** विचाराधीन श्लोक में राग-द्वेष से रहित होने की बात कहकर शान्तानन्द की प्राप्ति का उपाय बताया गया है और इन्द्रियों से विषयों के सेवन की बात कहकर समृद्धानन्द का प्रतिपादन किया गया है। शान्तानन्द और समृद्धानन्द दोनों की प्राप्ति ही प्रसाद है।

उपदेश का अधिकारी

ज्ञान का विषय – प्रत्यगात्मा – उपदेश का अधिकारी नहीं है, न पराग् ब्रह्म–विश्व ही उपदेश का अधिकारी है। उपदेश का अधिकारी कर्म्मात्मा है। स्थूल रूप में बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ तथा शरीर की समष्टि कर्म्मात्मा है। यह कर्म्मात्मा ही विधेयात्मा है। यह कर्मात्मा त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस्, तमस् क्रमशः प्राज्ञ, तैजस तथा वैश्वानर से जुड़े हैं। प्राज्ञ से ज्ञान, तैजस से कर्म तथा वैश्वानर से अर्थ जुड़ा है। ज्ञान, कर्म और अर्थ क्रमशः मन, प्राण तथा वाक् से जुड़े हैं। तालिका के रूप में इस त्रिपुटी का विस्तार इस प्रकार होगा :

सत्त्व	मन	अव्यय	ज्ञान	ईश	कारण शरीर	नियति	आयु	आनन्द
रजस्	प्राण	अक्षर	क्रिया	जीव	सूक्ष्म शरीर	सूत्र	ज्योति	चित्
तमस्	वाक्	क्षर	अर्थ	जगत्	स्थूल शरीर	वेद	गौः	सत्

एक अन्य प्रकार से यह त्रिपुटी बीजचिति, देवचिति तथा भूतचिति है। बीज चिति के तीन अंश हैं – विद्या, काम तथा कार्य। देवचिति के भी तीन अंश हैं – अग्नि, वायु तथा सोम। भूत संस्था के भी तीन अंश हैं – पित्त, वात एवं कफ। राग-द्वेष ही इन तीनों में विषमता उत्पन्न करते हैं। बीजचिति में विषमता उत्पन्न होने से पाप, देवचिति में विषमता से अघ तथा भूत संस्था में विषमता से रोग उत्पन्न होते हैं। अध्यात्म शास्त्र से बीजचिति के दोष दूर होते हैं, धर्मशास्त्र से देवचिति के दोष दूर होते हैं तथा आयुर्वेद भूत संस्था के रोग दूर करता है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि इन तीनों में विकृति का कारण राग-द्वेष ही है। आज विज्ञान अधिकांश शारीरिक रोगों की जड़ भी मन में मानता है। आयुर्वेद शास्त्र में तो उस वैद्य को ही नमस्कार किया गया है जो रागादि रोगों को नष्ट कर दे।

रागादि पित, वात तथा कफ में विषमता उत्पन्न कर देते हैं और यह विषमता ही रोग का कारण है। इसी प्रकार बीजचिति के तीन घटक – विद्या, काम तथा कर्म – में असन्तुलन उत्पन्न हो जाए तो कारण शरीर रुग्ण हो जाता है। कारण शरीर की रुग्णता को ही हम पाप कहते हैं। यदि हमें यह ज्ञान हो कि इच्छा की पूर्ति का साधन क्या है तथा

इच्छा पूर्ति के लिए क्या कर्म करना चाहिए तो पाप की आवश्यकता ही नहीं होगी। जहाँ हमें ज्ञान होगा कि अमुक इच्छा की पूर्ति के साधनों का हमें ज्ञान नहीं है अथवा/तथा हम ऐसे कर्म नहीं कर सकते जो अमुक इच्छा की पूर्ति करवा सकें, तो हम ऐसी इच्छा ही नहीं करेंगे। यही विद्या, काम तथा कर्म का सन्तुलन है, जो हमें पाप से बचाता है। दर्शन शास्त्र का उद्देश्य है कि वह हमें विद्या, काम तथा कर्म के बीच सन्तुलन स्थापित करना सिखा कर पाप से बचाए।

पाप और अघ

सामान्यतः हम पाप और अघ को पयार्यवाची मान लेते हैं किन्तु इन दोनों में अन्तर है। पाप का सम्बन्ध कारण शरीर से है, अघ का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है। सूक्ष्म शरीर के तीन घटक – अग्नि, वायु तथा सोम – में असन्तुलन हो तो सूक्ष्म शरीर में विकृति आ जाती है। इसे ही अघ कहा जाता है। अग्नि मनोमय है, वायु प्राणमय तथा सोम वाङ्मय। मन का कार्य चिन्तन है, प्राण का कार्य व्यापार है तथा वाक् भोग्य है। इन तीनों में सन्तुलन बना रहे तो सूक्ष्म शरीर स्वस्थ रहता है अन्यथा अस्वस्थ हो जाता है। कोई व्यक्ति केवल चिन्तन ही करता रहे, सक्रिय न हो तो भी ठीक नहीं। ऐसा व्यक्ति भी ठीक नहीं जो केवल भागदौड़ ही में लगा रहे और कभी निश्चल होकर चिन्तन करे ही नहीं। इसी प्रकार भोग्य पदार्थों के भोग के साथ चिन्तन एवं क्रियाशीलता का सन्तुलन होना चाहिए। यह सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ रखने का सूत्र है।

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण – ये तीनों शरीर स्वस्थ हों तो व्यक्ति प्रसन्न रहता है। यह प्रसन्नता ही प्रसाद है। प्रसाद के दो अर्थ हैं – निर्मलता तथा प्रसन्नता। जो निर्मल है वही वस्तुतः प्रसन्न है। अतः संस्कृत भाषा में प्रसन्नता तथा निर्मलता के लिए एक ही शब्द है – प्रसाद । यदि किसी की भाषा निर्दोष होती है तो हम उसकी भाषा को प्रसन्न भाषा कहते हैं। आचार्य शङ्कर की भाषा प्रसन्न-गम्भीर कही गई है। शास्त्रों ने स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों के तीनों स्तरों पर सन्तुलन बनाने की विधि बताकर पूरे जीवन में ही सन्तुलन बनाए रखने की विधि बता दी। इन्द्रियों से भोगों को भोगना स्थूल शरीर की सत्ता बनाए रखने के लिए आवश्यक है और राग-द्वेष से रहित रहना सूक्ष्म तथा कारण शरीर के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। राग-द्वेष से रहित रहकर इन्द्रियों के भोगों को भोगते रहना ही सर्वाङ्गीण जीवन जीना है। हममें से अधिकांश भोग तो भोगते हैं किन्तु राग-द्वेष से रहित नहीं हैं। यही पाप और अघ का हेतु है। जो पाप और अघ के डर से भोग ही छोड़ देते हैं उनका स्थूल शरीर कष्टग्रस्त हो जाता है। सन्तुलित मात्रा में इन्द्रियों का भोग भी आवश्यक है। इस वीतरागता और भोग के बीच सन्तुलन की दृष्टि से ही आश्रम व्यवस्था का निर्माण हुआ। जीवन के प्रारम्भ में योग्यता का अर्जन करना आवश्यक माना गया। बिना योग्यता के भोग की इच्छा तो अनुचित मार्ग पर ले जाएगी। जीवन के दूसरे भाग में भोग की अनुमति मिली किन्तु रागादि से रहित रह कर। तीसरे भाग में वैराग्य की पुष्टि करते हुए चौथे संन्यास आश्रम में वैराग्य की ऐसी सिद्धि प्राप्त करने का विधान किया गया कि रागादि जन्म–जन्मान्तरों में जीव को भटका न सकें। अभिप्राय यह है कि वेद की प्रत्येक योजना में सन्तुलन की दृष्टि रहती है। गीता ने उसी दृष्टि का पल्लवन किया और व्यवहार में उस दृष्टि को अपनाने पर बल दिया।

अर्जुन एकान्ततः त्याग की बात करके भटक रहा था। श्रीकृष्ण ने उसे ऐसा उपाय बताया कि अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो जाए। पहले हमने जिस अकृतात्माओं का उल्लेख किया है उनमें आलसी और कर्मत्यागी तो अभ्युदय से वञ्चित रह जाते हैं तथा शेष दुराचरण में रत, मनमाना कर्म करने वाले तथा फलासक्तिपूर्वक शास्त्रीयानुष्ठान करने वाले भी निःश्रेयस को प्राप्त नहीं कर पाते। फलतः वे सभी एक न एक प्रकार से जीवन का पूरा आनन्द नहीं भोग पाते । विधेयात्मा गीतोक्त प्रकार से आचरण करते हुए जीवन का पूर्ण आनन्द – शान्तानन्द तथा समृद्धानन्द – प्राप्त करते हैं। यह ही वास्तविक प्रसाद है।

मूल तथा अनुवाद

अब द्वितीय अध्याय का उपसंहार करते हुए भगवान् सारांश रूप में ७ श्लोक कहते हैं।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

असमीचीन व्यक्ति की बुद्धि (स्थिर) नहीं होती और असमीचीन व्यक्ति में भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और अशान्त को सुख कहाँ ? ।।६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों के पीछे जो मन चलता है वह मन उसकी बुद्धि को उसी प्रकार खींच लेता है जिस प्रकार जल में नाव को वायु खींच लेती है ।।६७।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

इसलिए महाबाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से पूर्णतः हटा ली गई हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है।।६८।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

जो सब प्राणियों के लिए रात्रि के समान है उस (ब्रह्मानन्द) में संयमी जागरूक रहता है और जिस (विषयसुख) में सब तत्पर रहते हैं दृष्टा मुनि के लिये वह रात्रि (उदासीनता का विषय) है।।६९।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

जैसे जल सब ओर से अविचल रूप से स्थित समुद्र में समा जाता है वैसे ही सब सुख-भोग जिस व्यक्ति में लीन हो जाते हैं, वही शान्ति को पाता है, भोगों की इच्छा करने वाला नहीं ।।७०।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़कर ममता और अहंकार से रहित होकर निस्पृह भाव से जीवन-यापन करता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है।।७१।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

हे अर्जुन! यह ब्राह्मी स्थिति है जिसको प्राप्त करके व्यक्ति मोह में नहीं पड़ता और अन्तिम समय में भी इसी स्थिति में रहकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हो जाता है ।।७२।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोले –

हे कृष्ण ! यदि आप कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर हे केशव ! मुझे घोर कर्म में क्यों लगा रहे हो ? ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥२॥

आप मानो मेरी बुद्धि को दो-तरफा बात कह कर दुविधा में डाल रहे हो। अतः निर्णय होकर एक बात कहें जिसमें मेरा कल्याण हो ॥२॥

श्रीभगवानुवाच –

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥३॥

श्रीभगवान् बोले –

हे निष्पाप अर्जुन! मैंने इस संसार में पहले दो प्रकार की निष्ठायें बतायी हैं – ज्ञानयोग से सांख्य योगियों की निष्ठा तथा कर्मयोग से योगियों की निष्ठा ॥३॥

विपुल-भाष्य

गीता में संन्यास का स्थान

गीता के अभिप्राय सम्बन्धी दुविधा

इस तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से एक जिज्ञासा की है कि हे केशव ! यदि आप कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर मुझे युद्ध जैसे भयङ्कर कर्म में लगने को क्यों कहते हैं और साथ ही सन्देह में डालने वाले वाक्यों से मेरी बुद्धि को मोह में क्यों डाल रहे हैं ? आप ज्ञान तथा कर्म में से किसी एक को निश्चित करके कहिए ताकि मैं अपना कल्याण कर सकूँ –

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव !
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

वस्तुतः अर्जुन ने यह प्रश्न करके श्रीकृष्ण से गीता के अभिप्राय सम्बन्धी सारी दुविधा का स्पष्टीकरण माँग लिया है। गीता के प्राचीन तथा आधुनिक भाष्यकारों में एक गहरा मतभेद है। गीता के प्राचीन भाष्यकार गीता की संन्यासपरक

व्याख्या करते हैं; केवल कश्मीर के अभिनव गुप्त इसके एकमात्र अपवाद हैं। दूसरी ओर गीता के आधुनिक भाष्यकार प्रायः गीता की कर्मयोगपरक व्याख्या करते रहे हैं। बोलचाल की भाषा में कहें तो श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति भाष्यकार यह मानते रहे हैं कि गीता का सन्देश यह है कि व्यक्ति कर्म छोड़कर ज्ञान की आराधना करे जबकि लोकमान्य तिलक प्रभृति आधुनिक भाष्यकार यह मानते रहे हैं कि गीता ज्ञानपूर्वक कर्म करने का सन्देश देती है। अर्जुन ने यहाँ यही प्रश्न कर लिया है कि इन दोनों मतों में से कौन–सा मत श्रेष्ठ है।

श्रीशङ्कराचार्य के सामने यह प्रश्न था कि यदि गीता में श्रीकृष्ण संन्यास का ही सन्देश देना चाहते हैं तो उन्होंने अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा क्यों दी; वे उसे संन्यास ही लेने की प्रेरणा देते? श्रीशङ्कराचार्य ने इसका समाधान यह कह कर दिया कि श्रीकृष्ण अर्जुन को संन्यास का अधिकारी न मानकर कर्म का ही अधिकारी मानते थे। इसीलिए उन्होंने कहा कि तेरा कर्म में ही अधिकार है – **कर्मण्येवाधिकारस्ते**। अतः उन्होंने अर्जुन को संन्यास लेने के लिए नहीं कहा। किन्तु जो अधिकारी है, उसके लिए तो संन्यास लेना ही श्रेयस्कर है। गीता की यह ज्ञानमार्गी, निवृत्तिपरक अथवा संन्यासपरक व्याख्या है।

दूसरी ओर कर्मवादी मानते हैं कि गीता का मुख्य उपदेश हो कर्मपरक ही है। अर्जुन तो भिक्षाचर्य्या के लिए तैयार था ही। यदि श्रीकृष्ण संन्यास के समर्थक होते तो गीता सुनाने की आवश्यकता ही नहीं थी। अर्जुन का प्रस्ताव था कि वह भिक्षाचर्य्या करना चाहता है। श्रीकृष्ण उसके इस प्रस्ताव का समर्थन कर देते। वह युद्ध से विरत हो जाता। उसे कुछ समझाने की आवश्यकता न थी। फिर भी श्रीकृष्ण ने उसे भिक्षाचर्य्या के लिए प्रेरित न करके युद्ध के लिए प्रेरित किया। इसीलिए उन्होंने गीता भी सुनाई। अतः गीता का सन्देश संन्यास का नहीं है, अपितु कर्मप्रवृत्ति का है।

वस्तुतः निवृत्ति अथवा प्रवृत्ति गीता का मर्म नहीं है। गीता का मर्म है – प्रवृत्ति में निवृत्ति। इसे वे बुद्धियोग कहते हैं। थोड़ा स्पष्टीकरण आवश्यक है। निवृत्ति का अर्थ है – कर्म छोड़ देना। प्रवृत्ति का अर्थ है – कामनापूर्वक कर्म करना। श्रीकृष्ण न तो कर्म छोड़ने को कह रहे हैं न कामनापूर्वक कर्म करने को कह रहे हैं। वे तो कामना छोड़कर कर्म करने को कह रहे हैं क्योंकि बन्धन का कारण कामना है, न कि कर्म । यही दृष्टि बुद्धियोग है।

यह सच है कि भारतीय चिन्तन में निवृत्ति और प्रवृत्ति की चर्चा है। निवृत्ति के समर्थकों में सांख्य अग्रणी है और प्रवृत्ति मार्ग का समर्थन पूर्वमीमांसक करते हैं। श्रीकृष्ण इन दोनों की चर्चा करते हैं किन्तु वे इन दोनों से ही सहमत न होकर एक तीसरा ही मार्ग सुझाते हैं, जो न सांख्य की भाँति कर्म-त्याग का मार्ग है और न पूर्वमीमांसा की भाँति सकाम कर्म का मार्ग है।

श्रीकृष्ण सांख्य तथा पूर्वमीमांसकों के मतों को आदर देते हुए उसमें थोड़ा संशोधन कर देते हैं। यही गीता की अपूर्वता है। गीता न सांख्य दर्शन का ग्रन्थ है न कर्ममीमांसा का। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह वेदान्त की प्रस्थानत्रयी में अवश्य आती है किन्तु शाङ्करवेदान्त तो सांख्य के समान ही कर्मत्याग का समर्थक है। अतः गीता का वेदान्त शाङ्करवेदान्त से भी भिन्न है। श्रीशङ्कराचार्य भारतीय चिन्तन के शिरोमणि आचार्य हुए अतः उनके मत का गीता के भाष्यकारों पर बहुत प्रभाव पड़ा किन्तु गीता के मूल की सङ्गति शङ्कराचार्य के भाष्यानुसार नहीं लग रही है। लोकमान्य तिलक ने शङ्करमत की अनुपयुक्तता दिखाई है। किन्तु हम उस विस्तार में न जाकर गीता के मूल की व्याख्या तक ही अपने को सीमित रखना चाहते हैं।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा कि उन्होंने दो मार्गों का वर्णन किया है – सांख्य का ज्ञानयोग तथा योगियों का कर्मयोग –

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।

इनमें प्रथम सांख्य के ज्ञानयोग को समझना चाहिए। सांख्य के अनुसार दो तत्त्व मूल हैं – प्रकृति और पुरुष। समस्त कर्म त्रिगुणात्मक प्रकृति के रजोगुण से उद्भूत होते हैं।

पुरुष में कर्म का लेश-मात्र भी नहीं है। अज्ञानवश जीव अपने को प्रकृति समझकर कर्म में आसक्त रहता है। जैसे ही उसे यह ज्ञान होता है कि वह प्रकृति नहीं है, पुरुष है, वैसे ही उसकी कर्म में कोई रुचि नहीं रहती। अतः ज्ञान का फल कर्म का त्याग है। यही मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग का प्रतिपादन सर्वप्रथम कपिल ने किया।

सांख्य दर्शन

सांख्य ने कर्म-मात्र को अज्ञान का फल माना। विवेक-ख्याति का फल तो यही है कि व्यक्ति अपने त्रिगुणातीत रूप को जानकर कर्म को छोड़ दे। सांख्य दर्शन ने कर्म को हिंसादि पापों से युक्त मान कर अशुद्ध कहा है। अर्जुन इसी दृष्टि से प्रभावित है और इसी कारण युद्ध से विरत भी होना चाहता है। अतः सांख्य दर्शन को थोड़ा विस्तार से समझना चाहिए।

सांख्य का शब्दार्थ है – परिगणन । श्रुति का ब्रह्म को समझाने का एक मार्ग है – नेति नेति। यह भी ब्रह्म नहीं है, यह भी ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म निर्गुण है, वाङ्मनसागोचर है – अतः उसका विधिमुख वर्णन नहीं हो सकता, उसे तो निषेध की भाषा में ही समझाया जा सकता है। सांख्य ने परिगणन किया कि क्या-क्या पुरुष नहीं है। मोटे रूप में तो प्रकृति पुरुष नहीं है। किन्तु प्रकृति के २४ रूप हैं। इन २४ रूपों का उपचय ही देह है। यह देह पुरुष नहीं है यद्यपि पुरुष देही अवश्य है। पुरुष को तो निषेध की भाषा में ही समझाया जा सकता है किन्तु प्रकृति को अवश्य समझा जा सकता है।

देह का अर्थ है – राशि। राशि कहो, स्तोम कहो, कूट कहो – एक ही अर्थ है। यह देह धर्मों का ढेर है। यह प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है। अतः इसे ही शरीर भी कहा जाता है।

शरीर २४ धर्मों की चिति से बना है जिन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है। शरीर का मूल कामना, अज्ञान और कर्म है। इन तीनों की समष्टि ही कारण शरीर कहलाती है। विस्तार में जाएँ तो इसके ८ घटक हैं – अव्यक्त, महान्, अहङ्कार तथा ५ तन्मात्राएँ । ये ही देह का मूल कारण है अतः इन्हें बीजचिति कहा जाता है। वे मन के विवर्त्त हैं।

दूसरी चिति देवचिति है। यह सूक्ष्म शरीर भी कहलाती है। इसके ११ घटक हैं – ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ तथा १ मन । यह सब प्राण के विवर्त हैं।

तीसरी चिति यह पञ्चभौतिक स्थूल शरीर है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना है। यह वाक् का विवर्त है जिसके ५ घटक हैं।

इस प्रकार जिसे हम शरीर मानते हैं वह तो वस्तुतः अत्यन्त स्थूल है। उसके पीछे सूक्ष्म तथा कारण शरीर हैं। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर यहीं रह जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर देहान्तर में चले जाते हैं। यही पुनर्जन्म है। आत्मा तो सर्वव्यापक है, वह कहीं आता-जाता नहीं है।

सांख्य का ज्ञानयोग

आत्मा सर्वव्यापक ही नहीं है, वह निर्विकार भी है। वह न बँधता है, न मुक्त होता है। वह न किसी का कारण है, न कार्य – **न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः**। जब पुरुष में विकार होता ही नहीं, तो वह बन्धन में कैसे आएगा ? जो बन्धन में है ही नहीं उसकी मुक्ति के लिए उपाय करना अज्ञान नहीं तो और क्या है ? अतः कर्म-मात्र मुक्ति के लिए निरर्थक है। जब कर्म से मुक्ति होती ही नहीं तो फिर कर्म क्यों किया जाए ? अतः कर्म-त्याग ही श्रेयस्कर है। केवल अज्ञानी ही कर्म किया करता है, ज्ञानी नहीं। यही सांख्य का ज्ञानयोग है। इस ज्ञानयोग का आधार है – पुरुष तथा प्रकृति में विवेक। जब जान लिया कि समस्त विकार प्रकृति में हैं, मुझ पुरुष में नहीं, तो फिर मुक्ति में विलम्ब नहीं है। वस्तुतः तो पुरुष सदा मुक्त ही था, अज्ञानवश ही हमने उसे बद्ध मान लिया है। यही सांख्य का सार है।

सांख्य का मत वेद बाह्य नहीं है। अतः सांख्य को वैदिक दर्शन ही माना जाता है। श्रीकृष्ण वेद-सम्मत मत का खण्डन नहीं कर सकते। तथापि वे सांख्य के कर्मत्याग के उपदेश को अत्यन्त उपादेय नहीं मानते हैं। जहाँ तक

सांख्य के मत के श्रुति सम्मत होने का प्रश्न है, 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' आदि श्रुति स्पष्टतः त्रिगुणात्मक प्रकृति का तथा 'अनश्नन्योअभिचाकशीति' आदि श्रुति पुरुष के पुष्करपलाशवन्निर्लेप होने का समर्थन करती है। ज्ञान की मुक्ति का साधन होने में तो कोई सन्देह है ही नहीं – **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, ज्ञानादेव तु कैवल्यम्।** कर्म से मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है – यह भी स्पष्ट ही कहा गया है – **न कर्म्मणा, न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।** अभिप्राय यह है कि सांख्य की सभी मान्यताएँ श्रुति द्वारा अनुमोदित हैं। अतः श्रीकृष्ण स्पष्ट घोषणा करते हैं कि संन्यास भी कर्मयोग के समान ही कल्याण करने वाला है – **संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।** जब संन्यास भी निश्रेयस को देने वाला है तो अर्जुन को श्रीकृष्ण ने संन्यास की ही दीक्षा क्यों नहीं दी? उत्तर स्वयं श्रीकृष्ण ने ही दे दिया – **तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।** अर्थात् संन्यास से भी कल्याण होता है फिर भी संन्यास से कर्मयोग अधिक उत्तम है। इतनी स्पष्ट घोषणा हो जाने पर भी शङ्कराचार्य आदि का यह कहना कि अर्जुन को श्रीकृष्ण ने इसलिए संन्यास का आदेश नहीं दिया कि वह संन्यास का अधिकारी नहीं था, कहाँ तक उचित है – यह सुधी पाठक स्वयं ही विचार करें। हमारा निष्कर्ष तो यही है कि श्रीकृष्ण संन्यास विरोधी नहीं हैं फिर भी उनके मत में सर्वोत्तम मार्ग संन्यास नहीं, अपितु निष्काम कर्मयोग ही है। इसी निष्कर्ष को केन्द्र में रखकर पूरी गीता की व्याख्या होनी चाहिए।

मूल तथा अनुवाद

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

मनुष्य कर्मों को छोड़ने से निष्कर्मता को प्राप्त नहीं हो जाता और न केवल संन्यास से सिद्धि को प्राप्त होता है ।।४।।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

कोई भी एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये हुए नहीं रह सकता, क्योंकि सभी प्रकृति के गुणों से वशीभूत होकर कर्म करते ही हैं ।।५।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

जो मन्द बुद्धि कर्मेन्द्रियों को (हठपूर्वक) रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करते रहते हैं उन्हें ढोंगी कहा जाता है।।६।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

किन्तु हे अर्जुन ! मन से इन्द्रियों को वश में करके जो अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है वह विशिष्ट है ।।७।।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

तुम शास्त्र विहित कर्म करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है एवम् कर्म न करने पर तुम्हारी जीवन-यात्रा भी नहीं सध पायेगी।।८।।

विपुल-भाष्य
निष्काम कर्म क्यों ?

यह प्रश्न केवल शैक्षणिक अथवा शास्त्रीय न होकर व्यावहारिक है कि मनुष्य अपने जीवन में कर्म तथा ज्ञान को क्या स्थान दे। इस प्रश्न के दो उत्तर गीताकार को उपलब्ध थे : (१) मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कर्म करे, (२) क्योंकि कर्म बन्धन का कारण है; अतः मनुष्य कर्म को छोड़कर ज्ञान की ही उपासना करे। इनमें से प्रथम उत्तर पूर्व मीमांसा का है, दूसरा उत्तर शाङ्कर वेदान्त का है। गीता इन दोनों उत्तरों से सन्तुष्ट नहीं है। गीता का उत्तर है कि मनुष्य कर्म तो करे किन्तु कामना न करे। यही निष्काम कर्म है।

कर्म करने के सात कारण

शङ्का होती है कि कर्म छोड़कर ज्ञान की ही उपासना क्यों न की जाए? गीता में भी तो कहा गया है कि ज्ञान के समान पवित्र और कुछ भी नहीं है – **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** ? उत्तर में गीता ७ कारण गिनवाती है कि कर्म करना अनिवार्य क्यों है –

१. कर्म ही नैष्कर्म्य की प्राप्ति का उपाय है।
२. कर्म को त्यागना व्यर्थ है।
३. कर्म को त्यागना सम्भव नहीं ।
४. कर्म प्रकृति सिद्ध है।
५. अनासक्तिपूर्वक कर्म करने का अपना वैशिष्ट्य है।
६. कर्म छोड़ने से कर्म करना अधिक श्रेयस्कर है।
७. कर्म के बिना जीवन–यात्रा सम्भव नहीं है।

जहाँ तक बन्धन का प्रश्न है, निम्न ४ प्रकार के कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते –

१. यज्ञ के लिए किए गए कर्म।
२. लोकस्थिति बनाए रखने के लिए किए गए कर्म।
३. माध्यस्थ भाव से किए गए कर्म।
४. स्वतःसिद्ध सहज कर्म।

सारे प्रश्न पर विचार करें तो निष्कर्ष यह निकलता है कि यद्यपि कर्म से प्राप्त होने वाले वैभव–रूप बहिरङ्ग वित्त, पुत्र–स्त्री आदि अन्तरङ्ग वित्त तथा मन–इन्द्रिय–कर्म संस्कार–शरीर आदि अन्तर्वित्त मोक्ष का कारण नहीं हैं और आत्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है, तथापि कर्म छोड़ने नहीं चाहिए।

आत्म-ज्ञान मोक्ष का साधन है किन्तु आत्मा का क्या स्वरूप है – यह जानने के लिए हमें भगवती श्रुति की ही तो शरण में जाना होगा। श्रुति कहती है कि प्रजापति की आत्मा का आधा भाग मर्त्य है और आधा भाग अमृत है – **अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**। गीता श्रुति के इसी कथन का अनुमोदन करती हुई कहती है – **अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**। यहाँ गीता ने और भी स्पष्ट कर दिया कि अमृत सत् है तथा मृत्यु असत् और ये दोनों ही भगवान् अथवा आत्मा के घटक हैं। अवश्य ही कर्म से अमृत की प्राप्ति नहीं होती – **अमृतत्वस्य त्वाशा नास्ति**; तथापि आत्मा का एक घटक मृत्यु भी तो है। इसे दूसरी प्रकार से समझें। यह समस्त संसार ब्रह्म है – **ब्रह्मैवेदं सर्वम्**। अब क्या समस्त संसार अमृत रूप दिखाई दे रहा है? फिर ब्रह्म की एकान्तिक नित्यता कैसे सिद्ध होगी ? उत्तर यह है कि प्रत्यग् ब्रह्म नित्य है किन्तु पराक् ब्रह्म परिवर्तनशील है। इन दोनों प्रकार के ब्रह्म में औपाधिक भेद है, वास्तविक नहीं। अतः ब्रह्म को तो रस–बलात्मक उभयरूप ही मानना होगा। रसभाग अमृत है जो ज्ञान से साध्य है तथा बलभाग मृत्यु है जो कर्म से साध्य है। अतः कर्म आत्मा के स्वरूप से बहिर्भूत नहीं है। जैसा

कि पहले भी हमने कहा है कि गीता में केवल ज्ञान की ही नहीं, कर्म के अपरपर्याय विज्ञान की भी चर्चा है – **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।** ज्ञान एकत्व को बताता है, विज्ञान अनेकत्व को। दोनों मिलकर आत्मज्ञान बनते हैं। अतः आत्मज्ञान से मुक्ति मिलती है – यह कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान एवं कर्म दोनों के समुच्चय से मोक्ष मिलना है न कि कर्म त्यागपूर्वक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह बात कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है तथापि शास्त्र के प्रमाण इसी आशय की पुष्टि बारम्बार कर रहे हैं –

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

शङ्कराचार्य का प्रभाव

इन सब प्रमाणों के बावजूद श्रीशङ्कराचार्य का भारतीय जनमानस पर इतना गहरा प्रभाव है कि मोक्ष के लिए कर्म की उपयोगिता स्वीकार करना कठिन हो जाता है। श्री शङ्कराचार्य ने कर्म को अज्ञों के लिए बताया है। विचार करना चाहिए कि श्रीकृष्ण ने क्या अपने जीवन में कभी कर्म का त्याग किया? यदि नहीं तो क्या वे स्वयं अज्ञ थे? ऐसी कल्पना तो कोई आस्तिक करेगा नहीं। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। शङ्कराचार्य जीवन में निरन्तर कर्म में आरूढ़ रहे। फिर उन्होंने कर्म त्याग का आदेश क्यों दिया? इस विषय में पण्डित मोतीलालजी शास्त्री का मत अवश्य ही विचारणीय है; ''हमें तो ऐसा मालूम होता है कि तत्कालीन भारत कर्मवाद में उसी प्रकार रत हो गया था, जैसा कि आज का भारत। कर्म करो, कर्म करो, यही गीता का उपदेश है, इस प्रकार कर्म–चीत्कार करता हुआ अकर्मात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में भगवान् शङ्कर ने यह आवश्यक समझा कि एक बार उनकी कर्म में अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। इसी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंने ज्ञानास्त्र का प्रयोग किया। आचार्य छोटी अवस्था में ही लीला संवरण कर गए। थोड़े दिन उनकी सत्ता और रहती तो सम्भव था वे अपने उस उप–लालनरूप असत्य मार्ग का संशोधन कर डालते?''

अभी हम गीता के मूल सन्देश को तर्क की कसौटी पर कसें। अभ्युपगमवाद (अर्थात् तर्क करने के लिए) से यदि हम यह मान लें कि मोक्ष के लिए कर्म त्याग करना आवश्यक है तो होगा यह कि हम कर्म छोड़ देंगे। इससे नए कर्मों के संस्कार का आना बन्द हो जाएगा जिसे जैन दर्शन में संवर कहा गया है। किन्तु जो पूर्व सञ्चित कर्मों का संस्कार बैठा है, वह कर्म छोड़ने मात्र से कैसे क्षीण होगा उन पूर्व सञ्चित संस्कारों के क्षय के लिए तो हमें ऐसे कर्म ही करने होंगे जो स्वयं बन्धन का कारण न बनकर पुराने बन्धनों को भी तोड़ दें। ऐसे कर्मों को ही निष्काम कर्म कहा गया है। स्वयं श्रीकृष्ण जीवन भर निष्काम कर्म की ही साधना करते रहे। उन्होंने धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान देख कर साधुजनों का परित्राण करने तथा दुर्जनों का नाश करने के लिए मनुष्य शरीर धारण किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे जीवन भर दुष्टों से लोहा लेते रहे। युद्ध में अर्जुन के सारथि बने। अन्त तक भी उन्होंने कर्म न छोड़कर इस श्रौती आज्ञा का ही पालन किया कि मनुष्य सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करे – **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।** क्या ऐसे श्रीकृष्ण गीता में कर्मत्याग करने की बात कह सकते थे? प्रश्न शेष रह गया कर्म से होने वाले बन्धन का। यह प्रश्न साधारण नहीं है। कर्म हो और बन्धन न हो – यही समझाने में सारी गीता सम्पन्न हो जाती है। यही यज्ञ का भी रहस्य है। इसे ही 'विज्ञान' शब्द द्वारा कहा गया है। यह मार्ग ज्ञान और कर्म का अद्भुत समन्वय है जिसे बुद्धियोग कहा गया है। इस बुद्धियोग के प्रतिपादन में ही गीता की अपूर्वता है। भारतीय चिन्तन इसी निष्कर्ष पर पहुँचकर अपनी चरम स्थिति को प्राप्त करता है। इसीलिए कह दिया गया – **गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।**

पहली बात – कर्मों का विवेक करना चाहिए। सुरा पान, भ्रूण हत्या आदि निषिद्ध कर्म करना कर्मठता नहीं है, अपितु शठता है। जलताड़नादि निरर्थक कर्म भी त्याज्य है। ग्राह्य है केवल शास्त्रोक्त कर्म।

कर्म का वास्तविक फल

दूसरी बात – शास्त्रोक्त कर्मों का फल अवश्यम्भावी है, किन्तु हमें उस फल पर दृष्टि नहीं रखनी है। कर्म का वास्तविक फल चित्तशुद्धि है। लौकिक फल तो आनुषङ्गिक है।

तीसरी बात – कर्म करते समय दृष्टि नानात्व पर नहीं अपितु एकत्व पर रहनी चाहिए। ज्ञानपूर्वक कर्म का यही अर्थ है। एकत्व ज्ञान का विषय है। अनेकत्व कर्म का। अन्तर् में दृष्टि एकत्व पर रखते हुए बाहर में वर्णाश्रमानुसार कर्म करने चाहिए। जिसकी एकत्व-दृष्टि नहीं है, कर्म उसके लिए अवश्य बन्धन का कारण बनता है। श्रीशङ्कराचार्य अद्वैतनिष्ठ थे अतः उनका कर्ममय जीवन बन्धन का कारण नहीं बना। उन्होंने संन्यासी होने पर भी अपनी माता की अन्त्येष्टि क्रिया में उपस्थित रह कर लोकसंग्रह का जो आदर्श प्रस्तुत किया वह बोधिसत्त्व की उस कामना का ही स्मरण कराता है जिसमें वे राज्य और स्वर्ग की तो बात ही क्या, मोक्ष को भी छोड़कर प्राणिमात्र का दुःख दूर करने की बात करते हैं –

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम् ॥

ऐसा उदात्त आदर्श हमारे सम्मुख था फिर भी हम मोक्ष के लोभ में लोकसंग्रह तथा कर्म से विमुख होकर ऐसी स्थिति में आ गए कि गीता जैसे ज्ञान से वञ्चित पश्चिमी देशों को हमें स्वयं भी अपनी अपेक्षा अधिक विकसित मानना पड़ रहा है। यह कर्म की उपेक्षा का ही फल है –

चौथी बात – हमारे कर्म में मुख्यता तप की हो, श्रम की नहीं। तप आन्तरिक कर्म है जिसका सम्बन्ध प्राण से है, श्रम बाह्य कर्म है जिसका सम्बन्ध वाक् से है। (वाक् का अर्थ यहाँ वाणी नहीं अपितु भौतिक पदार्थ है।) प्राण असङ्ग है, वाक् ससंग है। हम कर्म से होने वाली आत्माभिव्यक्तिजनित प्रसन्नता में अपने को केन्द्रित करें, कर्मजन्य भौतिक पदार्थों की उपलब्धि में मन को न रमाएँ। इस प्रकार हम कर्म करते हुए भी असङ्ग रह सकते हैं।

पाँचवीं बात – निष्काम कर्म पूर्वसञ्चित कर्मों के आवरण की निवृत्ति के कारण मोक्ष में सहायक है इसे ही चित्तशुद्धि भी कहा जाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि निष्काम कर्म में आम के आम और गुठली के दाम वाली कहावत चरितार्थ होती है। निष्काम कर्म से चित्तशुद्धि होकर आत्मबल तो बढ़ता ही है, लोक कल्याण द्वारा सहज ही परोपकार भी सिद्ध हो जाता है।

कर्म का त्याग सम्भव नहीं

अर्जुन ने गीता के प्रारम्भ में यह प्रस्ताव रखा था कि वह युद्ध में विरत हो जाए। युद्ध से विरत होना तो उपलक्षण है, वस्तुतः वह कर्म मात्र के त्याग का पक्ष ले रहा था। कर्म के त्याग के पक्ष में अनेक युक्तियाँ दर्शन के क्षेत्र में प्रचलित हैं। सामान्यतः कर्म त्याग और संन्यास को एकार्थक माना जाता है। अतः संन्यास की परम्परा कर्म त्याग के पक्ष में विस्तार से युक्तियाँ प्रस्तुत करती रही है। अर्जुन उन सब युक्तियों से प्रभावित था। कर्म बन्धन का कारण है – यह बात सर्वजन प्रसिद्ध है तथा जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है – यह भी आबालवृद्ध भारतीय जानते, मानते हैं। इसमें से यह निष्कर्ष निकल आता है कि कर्म को छोड़ देना चाहिए।

भगवद्गीता का मत इससे भिन्न है। गीता का मानना है कि कर्म छूट ही नहीं सकता। अतः उपाय ऐसा सोचना चाहिए कि कर्म हो तो भी बन्धन न हो। ऐसा उपाय यह है कि कामना छोड़ कर कर्म किया जाए। गीता का यही सार है। इसे निष्काम कर्म कहा जाता है।

कर्म त्याग के दो पक्ष

कर्म त्याग के दो पक्ष हैं – जो कर्म अभी किए नहीं उनका त्याग अनारम्भ कहलाता है तथा जो कर्म कर लिया उनका त्याग संन्यास कहलाता है। श्रीकृष्ण का कहना है कि ये दोनों – अर्थात् कर्म का अनारम्भ और कर्म का

संन्यास – कर लेने पर भी सिद्धि नहीं मिल सकती। प्रश्न है कि व्यक्ति कर्मों को छोड़कर क्या करेगा? उत्तर है कि ज्ञान में लीन रहेगा। प्रश्न होता है कि क्या कर्म छोड़कर ज्ञान में लीन रहना सम्भव है ? उत्तर है कि ज्ञान कर्म के बिना और कर्म ज्ञान के बिना रह ही नहीं सकता।

मान लें कि कोई साधक उपर्युक्त स्थिति को स्वीकार न करके हठपूर्वक कर्म छोड़ना चाहे भी तो श्रीकृष्ण का कहना है कि कोई व्यक्ति बिना कर्म के एक क्षण भी नहीं रह सकता – '**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्**।' हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही है। यह नियम जड–चेतन सब पर लागू होता है। यदि कोई पदार्थ बिना कर्म के रहेगा तो उसमें परिवर्तन होना ही बन्द हो जाएगा। किन्तु कोई पदार्थ ऐसा दिखाई देता नहीं। निष्कर्ष स्पष्ट है कि प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण कर्म चल रहा है। फिर हठपूर्वक कोई कर्म को सहसा कैसे छोड़ सकता है ? वस्तुस्थिति यह है कि स्थिरता के समान परिवर्तन भी पदार्थ का स्वभाव है। स्थिरता को अमृत, रस आदि नामों से तथा परिवर्तन को मृत्यु, बल आदि नामों से जाना जाता है। इनमें परिवर्तन का हेतु ही कर्म है। सांख्य पुरुष को कूटस्थ मानता है किन्तु प्रकृति को वह भी परिणामी मानता है। प्रकृति के संयोग से ही पुरुष जीवभाव को प्राप्त होता है। प्रश्न होता है कि जीवन में अनादि काल से प्रकृति है तथा प्रकृति परिणामी है तो फिर जीव कर्म को कैसे छोड़ सकता है। प्रकृति के गुण मनुष्य से बरबस कर्म करवा ही डालेंगे – **कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः**। प्रकृति की इसी महिमा के कारण तो विश्व में सूर्य्यचन्द्र प्रभृति सब कर्म में रत हैं। फिर भी कोई कर्म त्याग की जिद कर ले तो वह तमोगुण के ही वशीभूत हो जाएगा –

नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥

मल–मूत्र विसर्जन, आहार, गमनागमन आदि क्रिया नियत है। इनका त्याग करना अपना विकास अवरुद्ध कर लेना है। फिर श्वास–प्रश्वास, पलकों का निमेषोन्मेष आदि क्रियाओं पर तो किसी का वश है ही नहीं। कण–कण में क्षण–क्षण होने वाला परिस्पन्दन रोकना किसी के वश की बात नहीं है।

कोई कह सकता है कि इन्द्रियों के कुछ कर्म छोड़ना तो हमारे वश में है ही। हम वाणी से मौन रह सकते हैं। हाथ–पाँव को निश्चल कर सकते हैं । आँख मूँद सकते हैं। यह ठीक है। किन्तु क्या इन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन भी हमसे छूट सकता है? यदि मन से विषयों का स्मरण है और बाहर से इन्द्रियों का व्यापार निरुद्ध कर भी दिया गया है तो साधक का ऐसा आचरण मिथ्याचार ही कहलाएगा –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

त्याग में यह भावना रहती है कि प्रिय वस्तु को छोड़ दिया जाए। इसका यह भाव हुआ कि त्याग के पीछे तो राग ही छिपा रहता है। यदि कोई कहे हमने तो भोगों को बुरा समझ कर छोड़ा है तो यह मानना होगा कि वह भोगों के प्रति राग तो नहीं रखता किन्तु द्वेष अवश्य रखता है। भोगों के प्रति अनासक्ति का अर्थ है भोगों के प्रति न राग, न द्वेष। यही अनासक्ति है। जहाँ अनासक्ति है वहाँ सच्चा वैराग्य है, शेष सब वैराग्य का ढोंग हैं।

दृष्टि आत्मा पर रहे तथा बाहर में कर्म होते रहें। कर्म का क्षेत्र प्रकृति ही है। गुण ही गुणों में प्रवृत्त होते हैं – ऐसा मान कर पुरुष तो निर्लिप्त भाव से दृष्टा–ज्ञाता बना रहता है; कर्त्ता–भोक्ता होने का अहङ्कार उसमें आता ही नहीं। यही स्थितप्रज्ञता है। ऐसी स्थिति में रस तथा बल में सन्तुलन बना रहता है। यह सन्तुलन ही समता का मूल है। यदि सन्तुलन बिगड़ जाए तो समता भी छूट जाती है।

शास्त्र के अनुसार कर्म करें

कर्म की ऐसी महिमा सुनकर कोई कर्म–मात्र को अपने जीवन का लक्ष्य न बना ले, इसलिए गीता कर्म के पहले एक विशेषण लगाती है – **नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्मणः**। नियत का अर्थ है शास्त्र द्वारा निर्धारित।

प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिए शास्त्रों ने पृथक्–पृथक् कर्म निर्धारित किए हैं। उन्हीं कर्मों को करना चाहिए, स्वेच्छाचारिता वर्जित है। शास्त्रों द्वारा कर्म का निर्धारण दो दृष्टियों से हुआ है। प्रथम तो सभी की प्रकृति एक जैसी नहीं है। यदि कर्म अपनी प्रकृति के अनुकूल होगा तो साधक को अपने व्यक्तित्व के विकास का सन्तोष मिलेगा अन्यथा उसका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाएगा। यदि कलाकार को रणभूमि में और योद्धा को रङ्गभूमि में लाकर खड़ा कर दिया जाए तो जो परिणाम होगा, वह स्पष्ट है। प्रत्येक साधक को अपना स्वधर्म खोजकर तदनुसार ही कर्म करना चाहिए। यह प्रथम दृष्टि हुई।

दूसरी दृष्टि सामाजिक है। समाज में भिन्न–भिन्न अपेक्षाएँ रहती हैं। सभी नागरिक एक जैसे ही कर्म नहीं कर सकते। न सभी व्यापारी हो सकते हैं, न सभी योद्धा। न सभी शास्त्रज्ञ हो सकते हैं, न सभी राजनीतिज्ञ। ऐसी स्थिति में कार्य विभाजन आवश्यक है। यही वर्ण व्यवस्था का मूल है।

आयु के अनुसार भी हमें अपने कर्म निर्धारित करने चाहिए। यदि कोई वृद्ध युवा के समान चञ्चलता प्रदर्शित करेगा, तो वह निन्दा का ही भाजन होगा। अतः शास्त्रों द्वारा वर्णाश्रमानुसार कर्म नियत किए गए हैं, उन्हीं कर्मों को करना चाहिए, स्वेच्छाचारिता श्रेष्ठ नहीं है। अन्य युक्तियों को छोड़कर केवल व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें। क्या किसी व्यक्ति का जीवन निर्वाह कर्म के बिना सम्भव है? अर्जुन भी इतना जानता है। इसीलिए तो भिक्षा माँग कर पेट भरने की बात कहता है। क्या भिक्षा माँगना कर्म नहीं है? युद्ध से पूर्व भी अर्जुन सहित सभी पाण्डव वेश बदलकर विराट् राजा के यहाँ सेवा करते रहे हैं। यह भी इसीलिए किया कि कर्म के बिना शरीर यात्रा नहीं चलती।

इस देश में यह भ्रान्ति फैल गई है कि भिक्षा माँगना कर्म नहीं है। इसलिए संन्यासी कर्म छोड़ने का दावा करके भिक्षाचर्य्या करते हैं। भिक्षाचर्य्या कर्म नहीं है – ऐसा किसी भी युक्ति से सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः कर्म बिना शरीर यात्रा सम्भव ही नहीं है– **शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।**

फिर यदि कर्म करने ही हैं तो शास्त्रोक्त कर्म ही क्यों न किए जाएँ ? अर्जुन जैसा वीर व्यक्तित्व भिक्षाचर्य्या का कर्म करके कुण्ठित ही होगा। उसको तो रणभूमि में ही अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का अवसर मिलेगा। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उसके लिए युद्ध को स्वर्ग का द्वार बतलाया।

उपर्युक्त सारे विवेचन से गीता की अपूर्वता स्पष्ट है। गीता व्यक्ति को अध्यात्म तथा समाज दोनों की साधना का मार्ग दिखाती है । निष्काम भाव अध्यात्म का साधक है तथा शास्त्रोक्त कर्म समाज–कल्याण का मार्ग है। यही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में भी समन्वय स्थापित करने का मार्ग है।

गुत्थियाँ सुलझीं

उपर्युक्त विवेचन द्वारा गीता ने भारतीय चिन्तन की अनेक गुत्थियाँ सुलझा दीं। भारतीय चिन्तन में मोक्ष की अवधारणा स्वार्थपरक है, उसमें समाजहित का कोई स्थान नहीं – इस आरोप का उत्तर उपर्युक्त विश्लेषण में है। भारतीय चिन्तन पर पलायनवादिता का भी आरोप उपर्युक्त विश्लेषण से निरस्त हो जाता है। अकर्मण्यता पर तो गीता ने सीधा प्रहार किया ही है।

इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि गीता का कर्मयोग सुप्रसिद्ध कर्मकाण्ड से भिन्न है। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने युद्ध के लिए प्रेरित किया। युद्ध कोई कर्मकाण्ड नहीं था अपितु विशुद्ध सामाजिक दायित्व था। इस दृष्टि से यदि ज्ञानकाण्डी गीता को कर्मपरक न मानते रहे हैं तो यह दृष्टि गलत नहीं है किन्तु सकाम कर्मकाण्ड और निष्काम कर्म योग को एक मानकर गीता को निष्काम कर्म योग का भी विरोधी मान लेना एक ऐसी भूल है जिसका समर्थन मूल गीता कभी नहीं कर सकती।

उदाहरणतः गीता ने कहा कि कोई प्राणी कभी भी क्षण मात्र के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। ज्ञानवादी व्याख्याताओं ने इस मूल अर्थ में व्याख्या करते समय यह बात अपनी ओर से जोड़ दी कि यह सिद्धान्त मूर्ख लोगों के लिए है अर्थात् मूर्ख बिना कर्म के नहीं रह सकते। गीता के मूल पाठ पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी व्याख्या मूल आशय को तोड़ने-मरोड़ने का निष्फल प्रयास ही है।

मूल तथा अनुवाद

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञ के लिए कर्मों के अतिरिक्त कर्मों में लगा हुआ मनुष्य कर्म बन्धन में पड़ जाता है इसलिए हे अर्जुन ! आसक्ति को छोड़कर तुम यज्ञ के लिए ही कर्म करो ॥९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥१०॥

प्रजापति ने सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञ सहित प्रजाओं को उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम सर्जन करो। यह यज्ञ तुम्हारी इष्ट कामनाओं को प्रदान करने वाला बने ॥१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥

इस यज्ञ के द्वारा तुम देवों को भावित करो और वे तुम्हें भावित करें। इस प्रकार एक दूसरे को भावित करके तुम परम कल्याण को प्राप्त होओ॥११॥

विपुल-भाष्य

गीता में यज्ञ का महत्त्व

यज्ञ के प्रति भारतीय जनता के मन में गहरी श्रद्धा है। वस्तुतः हमारे देश का नाम भारत भी यज्ञ से ही जुड़ा है। जो अग्नि देवों की आहुति को ले जाती है, अर्थात् हरण करती है, वह अग्नि 'हरत्' कहलाती है। वैदिक भाषा में 'ह' का 'भ' हो जाता है अतः 'हरत्' को 'भरत्' कहा जाता है। जिस देश में 'भरत' अग्नि अर्थात् यज्ञाग्नि की उपासना होती है, वही देश 'भारत' कहलाता है। एक समय, जब ईरान में पारसी धर्म प्रचलित था, तो वहाँ पारसियों के धर्मग्रन्थ जेन्दावस्ता (छन्दोऽभ्यस्ता) के अनुसार जीवन चलता था, और अग्नि की उपासना होती थी। उस समय ईरान भी आर्यायण, आर्यों का निवास स्थान, कहलाता था और आर्यावर्त के समान आर्यायण भी भारत का ही भाग था। भारत एक भौगोलिक अथवा राजनीतिक इकाई न होकर सांस्कृतिक इकाई है। जहाँ–जहाँ यज्ञ की संस्कृति है, जहाँ–जहाँ यज्ञाग्नि 'भरत्' की उपासना होती है, वह–वह प्रदेश भारत है। जो पारसी धर्म के अनुयायी भारत में अभी बच रहे हैं वे अपने पूजागृह में चौबीस घंटे अग्नि उसी प्रकार प्रज्वलित रखते हैं जिस प्रकार एक वैदिक अग्निहोत्री को अग्नि चौबीस घंटे यावज्जीवन प्रज्वलित रखनी होती है।

कर्मभूमि व भोगभूमि

इस यज्ञीय संस्कृति के कारण ही भारत कर्मभूमि कहलाता है तथा जहाँ यज्ञीय संस्कृति नहीं है, वे प्रदेश भोगभूमि कहलाते हैं। यज्ञीय संस्कृति वाले प्रदेश को कर्मभूमि कहने का प्रयोजन यह है कि हमारे समस्त कर्म यज्ञमय होने चाहिए क्योंकि यज्ञमय कर्म ही बन्धन–मुक्त होते हैं, शेष सभी कर्म बन्धन का कारण हैं। यह रहस्य इस भारतभूमि पर ही प्रकट हुआ और हमने अपने प्रत्येक कर्म को यज्ञ कहना पसन्द किया। यज्ञ हमारे जीवन में इस प्रकार ओत–प्रोत हो गया कि भले ही हम यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को भूल गए हों तथापि आज भी जन्म से मरणपर्यन्त हमारी कोई भी क्रिया बिना यज्ञ के सम्पन्न नहीं होती। बच्चा उत्पन्न होता है तो यज्ञ, उसका विवाह है तो यज्ञ और वह शरीर छोड़ता है तो भी उसके शरीर की आहुति अग्नि में मन्त्रपूर्वक देकर हम यज्ञ ही करते हैं। नया घर बनाकर उसमें प्रवेश करना हो तो यज्ञ के बिना नहीं होता। सोलह संस्कारों में से एक भी संस्कार ऐसा नहीं है जो यज्ञ के बिना होता हो। चाहते हम यह हैं कि हमारे सभी कर्म यज्ञमय हों।

गीता कहती है कि यज्ञ के लिए किए जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त सभी कर्म बन्धन का कारण हैं। अतः मनुष्य आसक्ति को छोड़ कर यज्ञ के लिए ही कर्म करे –

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥

इतने स्पष्ट शब्दों में कर्म के विज्ञान को गीता ने कह दिया कि फिर भी ज्ञानवादी कर्म का निषेध करते हैं। ज्ञानवादियों की भी अपनी समस्या है। गीता में ही श्रीकृष्ण ने वेद को त्रिगुणात्मक विषयों वाला बता कर अर्जुन को त्रिगुणातीत होने के लिए कहा था। कोई यज्ञ बिना वेद का अवलम्बन लिए तो होता नहीं है। जब वेद को त्रिगुणात्मक बताकर वेद से परे जाने की बात कही जा रही है तो फिर वेद पर अवलम्बित यज्ञ अथवा कर्म की बात कैसे कही जा सकती है? – यही समस्या ज्ञानवादियों के सामने थी। उन्होंने समाधान यह दिया कि कर्म का उपदेश अज्ञानियों के लिए है, ज्ञानी को तो त्रिगुणातीत होना है। यही समाधान भारतीय जन–मानस में बद्धमूल हो गया। इस समाधान के समर्थन में अनेक युक्तियाँ भी भारतीयों को मिल गईं। वेद तो अपरा विद्या है, पराविद्या तो उपनिषद् है – आदि आदि। वेद ब्राह्मणों की विद्या है, ज्ञान–काण्ड उपनिषद् क्षत्रियों की देन है; उपनिषद् वेदों के विरुद्ध क्रांति बन कर आए – ऐसी-ऐसी अनेक भ्रान्त धारणाएँ भारतीयों के मन में जम कर बैठ गईं। हम इस बात को भुला ही बैठे कि ईशोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् जैसी उपनिषद्, जो सर्वसम्मति से प्राचीनतम उपनिषद् हैं, वेद के मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग का ही हिस्सा हैं। फिर उपनिषदों को वेद के विरुद्ध विद्रोह बताना कहाँ तक उचित है? वैदिक परम्परा में सर्वत्र ब्रह्म तथा क्षत्र शक्ति के बीच समन्वय की बात कही गई है, फिर क्षत्रियों के ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोह की कल्पना करना कहाँ तक उचित है? एक समय इस देश में स्थान–स्थान पर ज्ञान की चर्चा होती थी। ये चर्चाएँ इतने मुक्त भाव से होती थीं कि उनमें बिना किसी भेदभाव के ब्राह्मण और क्षत्रिय ही नहीं अपितु स्त्रियाँ और शूद्र भी खुले मन से भाग लेते थे। मैत्रेयी और मदालसा तथा ऐतरेय ऋषि के नाम हमारे सामने हैं। ऐसी उन्मुक्त चर्चा में जनक जैसे राजर्षि भी अपना योगदान देते थे तो याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मर्षि भी पीछे नहीं रहते थे। वस्तुतः ब्रह्मविद्या को जातीय घेरे में बन्द करने का प्रयास कोई तुच्छ बुद्धिवाला व्यक्ति ही कर सकता है । ऐसा प्रयत्न विशेषकर विदेशी विद्वानों ने किया जो इस देश को यथासम्भव हर प्रकार से विभक्त करके रखना चाहते थे।

यह सब कह देने पर भी हमें यह मानना होगा कि एक समय यज्ञीय कर्मकाण्ड एक ऐसा रूप ले चुका था जिसमें सुधार लाना आवश्यक हो गया था और यही सुधार श्रीकृष्ण ने गीता में प्रस्तुत किया । इसमें कोई सन्देह नहीं कि यज्ञ से सभी कामनाएँ पूरी होती हैं। कम से कम शास्त्र का यही कथन था कि यज्ञ से कोई भी कामना पूरी हो सकती है। इस कथन के आधार पर यज्ञ सकाम कर्म का पर्यायवाची बन गया। कामना बन्धन का कारण है – यह मत भी सर्वसम्मत है। यदि कामना बन्धन का कारण है और यज्ञ सकाम कर्म है तो फिर यज्ञ बन्धन का कारण बनेगा – यह स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

वेदबाह्य मत

ऐसी स्थिति में हमारे सामने दो विकल्प थे – या तो हम यज्ञ का ही अपलाप कर दें या फिर यज्ञ में से कामना का अंश निकाल दें। यज्ञ का अपलाप करने वाले भी दो भागों मे बँट गए – एक ओर तो भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध थे जिन्होंने यज्ञ के द्वारा कामनाओं की प्राप्ति की सम्भावना को ही नकार दिया तथा दूसरी ओर भगवत्पाद शङ्कराचार्य अथवा महर्षि कपिल सदृश सांख्य के प्रवक्ता थे जिन्होंने यज्ञ द्वारा स्वर्ग प्राप्ति जैसे फल को तो स्वीकारा किन्तु इसे बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया। उनकी दृष्टि में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और वह यज्ञ द्वारा प्राप्य नहीं है। इस दृष्टिभेद के कारण जैन अथवा बौद्ध तो वेदबाह्य मत बन गए और शाङ्कर–वेदान्त तथा सांख्य वैदिक मत तो बने रहे किन्तु कर्म के प्रति उनका भी दृष्टिकोण वही बना रहा जो जैन तथा बौद्धों का था कि कर्म बन्धन का कारण है।

शङ्कराचार्य जैसे आचार्य गीता का अर्थ ज्ञानपरक करते समय कर्म–प्रतिपादक सभी वचनों की व्याख्या यह कह कर करते रहे कि कर्म का विधान मध्यम कोटि के साधारण मनुष्यों के लिए है, उत्तम कोटि के पात्रों को तो कर्म का

त्याग ही कर देना चाहिए। ऐसा कहते समय वे ये नहीं बतला पाए कि श्रीकृष्ण अथवा श्रीराम पूरे जीवन कर्म ही करते रहे तो क्या वे भी उत्तम कोटि के पात्र न होकर साधारण मध्यम कोटि के व्यक्ति थे?

वस्तुतः स्थिति कुछ और ही है। यज्ञ भी बन्धन का कारण बन सकता है – यदि वह सकाम हो। किन्तु श्रीकृष्ण ने एक शर्त लगा दी – मुक्तसङ्ग होकर कर्म करना है। यह दृष्टि जैन, बौद्ध, शाङ्करवेदान्त तथा सांख्य से भिन्न है और यही गीता की विशेषता है। प्रश्न है कि क्या मनुष्य कर्म के बिना अपनी जीवन–यात्रा चला सकता है? दार्शनिक चर्चा को छोड़कर व्यावहारिक प्रश्न करें कि क्या मनुष्य बिना भोजन किए जीवित रह सकता है? यदि भोजन पकाना आवश्यक है तो भोजन बनाने में होने वाली हिंसा से कैसे बचा जा सकता है? गीता ने उत्तर दिया कि वस्तुतः जो अपने लिए भोजन पकाते हैं वे पाप के भागी हैं। किन्तु जो यज्ञ में आहुति देने के बाद यज्ञ–शेष को ग्रहण करते हैं वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। –

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्वषैः।
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

वस्तुतः स्थितिं यह है कि एक व्यक्ति का जीवन ही कर्म पर नहीं टिका है प्रत्युत समस्त सृष्टि कर्म व्यापार पर टिकी है। एक प्राकृतिक यज्ञ है जो प्रकृति में स्वयं चल रहा है। यदि यह यज्ञ एक क्षण के लिए भी उच्छिन्न हो जाए तो सृष्टि ही समाप्त हो जाए। इसी प्राकृत यज्ञ का अनुकरण करते हुए अपनी तथा समाज की स्थिति बनाए रखने के लिए वैध यज्ञ करना होता है। यज्ञ का फल वह सब कुछ है जिसकी अपेक्षा एक समाज तथा राष्ट्र रखता हो। ब्रह्मतेज युक्त ज्ञानी, शास्त्रनिपुण वीर सैनिक, पशुधन, सुशिक्षित महिला–समाज, सभ्य युवा वर्ग, शस्यश्यामला भूमि – सभी यज्ञ का फल है। प्रसिद्ध मन्त्र है – **आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः। सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न औषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।**

प्रकृति में समस्त सम्पदा

जिज्ञासा होती है कि यज्ञ से यह सब फल कैसे प्राप्त होता होगा? उत्तर यह है कि प्रकृति में समस्त सम्पदा है। जिस प्रक्रिया से प्रकृति का अटूट कोष उत्पन्न होता है, वही प्रक्रिया यज्ञ है। यदि हम उस प्रक्रिया को जान कर अपना सकें तो हमें भी प्रकृति की सभी सम्पदा प्राप्त हो सकती है। इस देश में जब तक यज्ञ विद्या रही तब तक यह देश सम्पन्न रहा। यज्ञ विद्या के उच्छिन्न होने पर यह देश विपन्न हो गया। परम्परा यह है कि जनमेजय तक भारत में यज्ञ की प्रक्रिया चली। तब तक इस देश में चक्रवर्ती सम्राट् होते रहे। इतिहास की साक्षी को मानें तो समुद्रगुप्त के समय भारत की सीमाओं का जो विस्तार था, वह विस्तार इस देश को पुनः कभी प्राप्त नहीं हुआ।

किन्तु यज्ञ का हमने कुछ और ही अर्थ आज समझ लिया है। अग्नि में घृत सहित कुछ सामग्री डालना तथा साथ ही कुछ मन्त्रों का उच्चारण करना ही आज यज्ञ समझा जा रहा है। यह प्रक्रिया तो वह नहीं है जिससे समस्त कामनाएँ पूरी हो सकें जबकि गीता यज्ञ को इष्ट कामनाओं की पूर्ति का साधन मानती है –

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।

वैदिक यज्ञों का रहस्य

श्रौत यज्ञों की जितनी महिमा है उतने ही वे जटिल भी हैं। अभी जो यज्ञ हमें होते हुए दिखाई देते हैं वे प्रायः स्मार्त हैं। श्रौत यज्ञ तो कभी ही कहीं हो पाते हैं। स्मार्त यज्ञ भक्ति–प्रधान है; श्रौत यज्ञ विज्ञान–प्रधान है। दोनों का अपना–अपना फल है। गीता में दोनों प्रकार के यज्ञों का विधान है।

श्रौत यज्ञ के दो रूप हैं – वैध यज्ञ तथा प्राकृतिक यज्ञ । वैध यज्ञ वे हैं जिनका अनुष्ठान यजमान पुरोहितों की सहायता से शास्त्रोक्त विधि से करता है। प्राकृतिक यज्ञ वे हैं जिनका अनुष्ठान प्रकृति में स्वयं ही होता रहता है।

ऋषियों ने सूक्ष्म दृष्टि द्वारा यह देखा कि किस प्रक्रिया से प्रकृति क्या कार्य सम्पादित करती है। प्रकृति की उसी प्रक्रिया के अनुकरण पर उन्होंने मनुष्यों के लिए भी यज्ञ का विधान कर दिया। यदि मनुष्य उस प्रक्रिया का अनुसरण करे तो उसका कार्य अवश्य सम्पन्न हो जाएगा। इसी बात को **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'** वाक्य द्वारा कहा गया है।

एक और बात भी ज्ञातव्य है । वैध यज्ञ का अनुष्ठान अत्यन्त दुष्कर है। अग्निहोत्री ही श्रौत यज्ञ कर सकता है। फिर १६ यज्ञविधि के जानकार चतुर्वेद के ज्ञाता पुरोहित चाहिए। सोमलता आदि दुर्लभ पदार्थ मिलने कठिन हैं। उसके अभाव में पूतिका ढूँढ़नी होती है और भी अनेकानेक उपकरण तथा सामग्री चाहिए जो दुर्लभ भी है तथा महँगी भी। तो क्या हम श्रौत यज्ञ के फल से वञ्चित रह जाएँगे ? शास्त्रकारों ने यहाँ एक करुणापूर्ण मार्ग प्रतिपादित किया है। जो यज्ञ के रहस्य को जानता है, वह भी यज्ञ के फल का भागीदार बन जाता है – य एवं वेद। यह वेद–विज्ञान के जानने का बहुत बड़ा फल है। प्रायः पूछा जाता है कि वेद पढ़ने का फायदा क्या है? उत्तर है कि यदि वेद विद्या को ठीक ढंग से समझ कर पढ़ा जाए तो उस ज्ञान का भी यही फल है जो वैदिक कर्मानुष्ठान का। यह कर्म और ज्ञान के समन्वय का एक नया ही आयाम है – दोनों का फल समान है।

यज्ञानुष्ठान का फल

प्रश्न हो सकता है कि यज्ञानुष्ठान का फल यज्ञ के रहस्य को जानने मात्र से कैसे प्राप्त हो सकता है? उत्तर यह है कि यज्ञ के रहस्य को जानने वाले की प्रत्येक क्रिया ही यज्ञ बन जाती है। यह कैसे होता है – इसे थोड़ा समझना होगा।

सर्वमेध यज्ञ एक श्रौत यज्ञ है। इसकी विधि बाजार में मिलने वाली यज्ञ–पद्धतियों में नहीं मिलेगी। इसका प्रतिपादन तो स्वयं वेद के ब्राह्मण भाग में है। विधि के लिए श्रौत सूत्र देखने होंगे। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि ''सर्वप्रथम सर्वमेध यज्ञ स्वयं स्वयम्भू ब्रह्मा ने किया। प्रथम ब्रह्मा ने तप किया और देखा कि तप से अनन्तता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तब उन्होंने सोचा कि मैं अपने आपको सब भूतों में आहुत कर दूँ – **अहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि।** उन्होंने वैसा ही किया और इस प्रकार श्रेष्ठता, स्वराज्य तथा आधिपत्य को प्राप्त कर लिया। वे सर्वोपरि हो गए। जो ऐसा जानकर सर्वमेध यज्ञ करता है अथवा जो ऐसा जानता है, उसे भी वही फल प्राप्त होता है जो स्वयम्भू ब्रह्मा को प्राप्त हुआ था।

ऊपर हमने शतपथ ब्राह्मण का शब्दानुवाद मात्र प्रस्तुत किया है। संस्कृत भाग का कुछ अंश महत्त्वपूर्ण होने के कारण ज्यों का त्यों भी दे दिया है। अपने को सबमें और सबको अपने में आहुत करना क्या है? यह कर्मकाण्ड है और ज्ञानकाण्ड कहता है अपने में सबको तथा सबमें अपने को देखो – **यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मनं ततो न जुगुप्सते॥** अब विचार करना चाहिए कि कर्म और ज्ञान का वह विरोध कहाँ है जिसका कोलाहल विद्वान् लोग निरन्तर किया करते हैं? और फिर कर्मकाण्ड की वह जटिलता भी कहाँ रही जिसकी निन्दा की जाती है, जबकि यह कह दिया गया कि जो इस रहस्य को जानता है वह भी वही फल प्राप्त कर लेता है जो वस्तुतः यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला।

प्रकृति का अनुकरण

हाँ, जो वस्तुतः यज्ञ का अनुष्ठान करना ही चाहे, उसे तो विधिपूर्वक ही करना होगा। यह विधि जटिल है – यह पहले ही कहा जा चुका है किन्तु इस जटिलता का भी रहस्य यही है कि क्योंकि यज्ञ में प्रकृति का अनुकरण करना है। अतः यदि प्रकृति की ही विधि जटिल है तो यज्ञ की विधि भी जटिल ही होगी। यह जटिलता जानबूझकर पैदा नहीं की गई है। आरोप लगाया जाता है कि ब्राह्मणों ने कर्मकाण्ड को जानबूझकर जटिल बना दिया ताकि वे मोटी–मोटी दक्षिणाएँ प्राप्त कर सकें। आज इस आरोप का उत्तर देना इसलिए कठिन हो गया है क्योंकि यह यज्ञ विद्या प्रायः लुप्त हो चुकी है। वस्तुस्थिति यह है कि यज्ञ एक विज्ञान है और यज्ञशाला की तुलना आज के विज्ञान की प्रयोगशाला से करनी चाहिए।

यज्ञशाला के उपकरण और प्रक्रियाएँ आधुनिक विज्ञान की प्रक्रिया से तो कम ही जटिल हैं किन्तु आधुनिक विज्ञान एक जीवित शास्त्र है अतः उस पर कोई जटिलता का आरोप नहीं लगाता किन्तु यज्ञविद्या इतिहास की चीज होकर रह गई है अतः उसके बारे में भी जिसके मन में जो आता है, वही भला–बुरा कहता रहता है। थोड़ा सर्वमेध यज्ञ के ही कुछ उपकरणों की चर्चा करें और देखें कि क्या वे उपकरण जानबूझकर जटिलता पैदा करने के साधन हैं या कि प्रकृति के रहस्य का अनुकरण करने के लिए बनाए गए हैं।

१. वेदि – यज्ञ के साथ वेदि शब्द जुड़ा है। वेदि बनाने की एक विधि है। वेदि पर ही यज्ञ किया जाता है। वेदि स्त्री के आकार की होती है – उसका श्रोणि भाग विपुल होता है, स्कन्ध भाग छोटा तथा मध्य भाग कृश। यज्ञ का फल अपूर्व की उत्पत्ति है। उत्पत्ति की सामर्थ्य स्त्री में ही है। अतः वेदि स्त्री के आकार की होती है। यह तो वैध यज्ञ की वेदि की बात हुई। प्राकृतिक यज्ञ की वेदि तो समस्त पृथिवी ही है – इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः। जो कुछ उत्पन्न होता है माँ पृथ्वी से ही उत्पन्न होता है। पृथ्वी ही वसुन्धरा और शस्यश्यामलां है। अतः पूरी पृथ्वी ही वेदि है। वेदि योषा (स्त्री) है तो वेद वृषा (पुरुष) है। वेदि पर वेदमूलक यज्ञ ही अपूर्व की उत्पत्ति करता है, दूसरी ओर पृथ्वी की अग्नि में सोम की आहुति से सम्पद्यमान यज्ञ ही तो सब कुछ उत्पन्न कर रहा है। अतिशय रासायनिक खाद और प्लास्टिक के कूड़े से जो पृथ्वी को प्रदूषित कर रहे हैं वे प्राकृतिक यज्ञ की वेदि को ही प्रदूषित कर रहे हैं। प्राचीन कथाओं में यज्ञों में विघ्न डालने वाले राक्षसों का वर्णन है। पर्यावरण को प्रदूषित करके हम प्राकृतिक यज्ञ में विघ्न डालकर राक्षस कर्म ही कर रहे हैं। इस कर्म को हम जितना शीघ्र छोड़ें उतना उत्तम है।

२. आह्वनीय अग्नि का कुण्ड सूर्यलोक का, दक्षिणाग्नि के लिए बना कुण्ड चन्द्रलोक का तथा गार्हपत्य अग्नि के लिए बना कुण्ड पृथ्वी लोक का प्रतीक है।

ध्यान रहे वेदि तथा अग्नि के निर्माण के लिए शूल्व सूत्रों में जो नियम बनाए गए उनसे ही विश्व में सर्वप्रथम ज्यामिति शास्त्र का विकास हुआ। पीथागोरस की थ्योरम यूनान से पहले भारत के यज्ञविद्याविदों ने खोज ली थी किन्तु हम अपनी विद्या से परिचित न होने के कारण उसे अब भी यूनान की ही खोज मान कर पढ़ाये जा रहे हैं।

३. आहुति द्रव्य – हमने ऊपर पढ़ा कि ब्रह्म ने सब भूतों में अपनी ही आहुति दी थी। अर्थात् सर्वोच्च आहुति द्रव्य तो अपना अहङ्कार ही है। वेद के पुरुष सूक्त में परम तत्त्व के प्रतीक पुरुष ने ही अपनी आहुति देकर सृष्टि की उत्पत्ति की थी। अग्नि सोम के बल पर ही प्रज्वलित रहती है। अतः समस्त आहुति द्रव्य सोम कहलाते हैं। अग्नि ऊर्जा है तो सोम उसका ईंधन है। ईंधन के बिना ऊर्जा नहीं हो सकती – इसी सिद्धान्त पर यज्ञ प्रतिष्ठित है।

४. अग्नि – यह यज्ञ का प्रमुख देवता है। सभी देवता इसी के द्वारा अपना भोजन ग्रहण करते हैं। वस्तुतः एक ही प्राणशक्ति दो – भोक्ता और भोग्य – भागों में बँट जाती है। अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य, यही सृष्टि का क्रम है – अग्निषोमात्मकं जगत्।

५. ऋत्विक – वैध यज्ञ के पुरोहित तो वेदवित् पुरुष होते हैं किन्तु वे प्राकृतिक यज्ञ की अनुकृति पर ही बने हैं। प्राकृतिक यज्ञ में अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उद्गाता है तथा बृहस्पति ब्रह्मा है। (सर्वमेध के अतिरिक्त यज्ञों में ब्रह्मा चन्द्रमा होता है।) जहाँ अग्नि, वायु, आदित्य तथा बृहस्पति ऋत्विक् हों उस सृष्टि यज्ञ की विराट्ता का अनुमान करने मात्र से यज्ञ की अवधारणा की उदात्तता सामने आ जाती है। जो इस शास्त्रीय पक्ष की अनदेखी कर यज्ञ को ब्राह्मणों द्वारा स्वार्थ पूर्ति के लिए किया गया आविष्कार मानते हैं, वे या तो शास्त्र से परिचित ही नहीं है अथवा जानबूझकर तथ्यों को तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत करने के दोषी हैं।

६. यजमान – प्रकृति-विशिष्ट पुरुष यजमान है। निर्गुण ब्रह्म से सृष्टि नहीं बन सकती । उसे सगुण बनना होता है। इसीलिए यजमान पत्नी के बिना यज्ञ नहीं कर सकता। शायद ही संसार के अन्य किसी धर्म में स्त्री को इतना ऊँचा स्थान दिया गया हो कि पति को पत्नी के बिना धर्म कार्य का अनुष्ठान करने के अयोग्य ही घोषित कर दिया गया हो।

७. यजमान पत्नी –यजमान की पत्नी का अपना ही अर्द्धाङ्ग है–

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः।

इसी धारणा के आधार पर अर्द्धनारीश्वर की कलात्मक कल्पना की गई।

८. ध्रुवा, ९. स्रुव, १०. स्रुक् – ये तीनों क्रमशः विकङ्कत, खदिर तथा पलाश की लकड़ी से बनते हैं। इनमें ध्रुवा को प्रत्यगात्मा अथवा मन, स्रुव को शारीरकात्मा अथवा प्राण तथा स्रुक् को इन्द्रिय अथवा वाक् समझना चाहिए। यह अध्यात्मक की व्याख्या है। अधिदेव में ध्रुवा पृथ्वी, स्रुव अन्तरिक्ष तथा स्रुक द्यौ है।

जिसके मन, प्राण और वाक् सर्वमेध यज्ञ के ध्रुवा, स्रुव और स्रुक् बन जाएँ उसके समस्त कर्म यज्ञ रूप बन जाएँ तो आश्चर्य की बात नहीं है।

सर्वमेध यज्ञ की शास्त्रीय व्याख्या की एक झलक मात्र यहाँ दी गई है। यज्ञ-विद्या का पूरा रहस्य बिना गुरुमुख से विधिवत् शास्त्र पढ़े समझना सम्भव नहीं है तथापि यदि हमारे इस टूटे–फूटे प्रयत्न से पाठकों को यह आभास हो सका कि यज्ञ कर्म कितना गम्भीर है तो यज्ञ के प्रति एक गहरी श्रद्धा स्वतः उत्पन्न हो जाएगी।

मूल तथा अनुवाद

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ से भावित होकर देवता तुम्हें इच्छित भोग देते रहेंगे। उन देवताओं के द्वारा दिये गये भोगों को जो उनको दिये बिना भोगता है वह चोर ही है॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥१३॥

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले सब पापों से छूट जाते हैं किन्तु जो पापी अपने लिये ही भोजन बनाते हैं वे तो मानो पाप का ही भोग करते हैं॥१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥१५॥

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से उत्पन्न होता है, वृष्टि यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से होता है, कर्म वेद से होता है और वेद को परमात्मा से उत्पन्न होने वाला जानो। इसलिए सर्वव्यापी परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥१४–१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति इस प्रकार प्रवर्तमान सृष्टि चक्र का अनुसरण नहीं करता वह इन्द्रियों के विषयों में लिप्त रहने वाला पापपूर्ण आयु वाला व्यक्ति व्यर्थ ही जीवित रहता है॥१६॥

विपुल-भाष्य
यज्ञीय कर्म बन्धन नहीं बनते

यज्ञ का रहस्य यह है कि प्रकृति में सर्वत्र यज्ञ चल रहा है किन्तु उस यज्ञ में भाग लेने वाली प्रकृति बन्धन में नहीं पड़ती। प्राकृतिक यज्ञ के केन्द्रभूत सूर्य को ही दृग्गोचर करें। सूर्य का महत्त्व तो वेद तथा विज्ञान दोनों की दृष्टि में सर्वोपरि है। हम जिस विश्व से परिचित हैं, विज्ञान उसे सौरमण्डल नाम से जानता है। वेद तो सूर्य को चराचर की आत्मा ही मानता है – **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।** यह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है कि समस्त ऊर्जा का मूल सूर्य है। श्रुति कहती है कि सूर्य समस्त विश्व का चक्षु है – **सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः।** तथापि विशेषता यह है कि वह चाक्षु दोष – पीलिया, मोतियाबिन्द, दृष्टि की क्षीणता आदि से लिप्त नहीं होता – **न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।** यह एक उदाहरण है कि प्रकृति के तत्त्व किस प्रकार यज्ञीय कर्म करते हुए भी दोषों से लिप्त नहीं होते। सूर्य की कर्मठता तो अनुपम है; वह रात–दिन तपता है किन्तु क्षण भर के लिए भी सोना तो दूर, पलक भी नहीं झपकाता – **पश्य सूर्यस्य महिमानं यो न तन्द्रयते चरन्।** ऐसी कर्मठता अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलती। किन्तु कर्म को बन्धन मानने वालों को विचार करना चाहिए कि सूर्य अपनी कर्मपरायणता के कारण बन्धन में क्यों नहीं आता। गीता का उत्तर है कि कर्म बन्धन का कारण है किन्तु यदि वे यज्ञार्थ किए जाएँ तो वे बन्धन का कारण नहीं बनते – **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।** इसीलिए वैदिक ऋषि ने कामना की थी कि हम सूर्य तथा चन्द्र की भाँति स्वस्ति-मार्ग का अनुसरण करें – **स्वस्तिपन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।**

तनिक सूर्य की कर्मठता में यज्ञीयता का दर्शन करें। प्रथम तो सूर्य की नियमितता देखें। जिस दिन जिस दशा में सूर्य को जिस समय उदित अथवा अस्त होना होता है उसमें बाल भर भी अन्तर नहीं आता। वैज्ञानिक चन्द्र, मङ्गल आदि पर राकेट भेजते रहते हैं। यदि उसमें देश–काल की तनिक भी ऊक–चूक हो जाए तो उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाए। यज्ञ की प्रथम शर्त है कि जिस देश में जिस काल में जो कर्म जिस प्रकार करना है उसमें थोड़ी–सी भी भूल अनिष्टकर हो सकती है। यही कर्मकौशल है, यही योग है – **योगः कर्मसु कौशलम्।** जिस कर्म में यह कुशलता है वह यज्ञ की प्रथम शर्त पूरी करता है – यह मान लेना चाहिए।

दूसरी बात सूर्य का भूमाभाव है। सूर्य की ऊर्जा में भूमा है, अल्पता नहीं। वह न कभी थकता है, न उसकी ऊर्जा में कभी कोई न्यूनता आती है। जिस कर्म को करते समय कर्त्ता में विश्रान्ति का भाव आ जाए अथवा विपन्नता का भाव आ जाए वह कर्म यज्ञ की कोटि से च्युत हो जाता है। निरन्तर उत्साह तथा आनन्द का भाव यज्ञ–कर्म की दूसरी शर्त है।

तीसरी बात सूर्य का त्यागभाव है। सूर्य इतनी ऊर्जा बिखेरता है, किन्तु उसमें अहङ्कार का भाव लेश–मात्र भी नहीं। वह अपने गौरव के कारण सर्वोपरि स्थित है किन्तु उसमें कर्तृत्व का अहङ्कार नहीं है। जहाँ कर्तृत्व का अहङ्कार है वहीं बन्धन है। जहाँ साक्षीभाव है, वहाँ बन्धन नहीं है। सूर्य सब कुछ करता है, किन्तु रहता साक्षीभाव में है। इसी कारण सूर्य साक्षित्व का प्रतीक बन गया है। सभी देवकर्म सूर्य की साक्षी में किए जाते हैं। दूसरी ओर मूढ लोग अपने को कर्त्ता मानकर बन्धन में बँध जाते हैं – **अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।**

चौथी विशेषता है – समता का भाव। सूर्य ताम्रवर्ण ही उदित होता है और ताम्रवर्ण ही अस्त होता है। यह जय–पराजय, लाभ–हानि, सुख–दुःख में समानता का भाव रखने का उदाहरण है। सूर्य में यह समता का भाव कहाँ से आता है? सूर्य को यह ज्ञान है कि वह न उदित होता है, न अस्त होता है – **नोदेति नास्तमेति।** पृथ्वी के भ्रमण से उसमें उदित अथवा अस्त होने का हमें भ्रम होता है, वस्तुतः सूर्य न उदित होता है न अस्त। श्रुति कहती है कि यजमान को यह समझना चाहिये कि उसकी आत्मा सूर्यवत् एक ही रूप में रहती है। वस्तुतः आत्मा तो निर्विकार भाव से कूटस्थ रहता है, सूर्यवत्। प्रकृति चलती रहती है, पृथ्वीवत्। किन्तु हमें पृथ्वी के चलने से सूर्य में गति की भ्रान्ति

होने के समान ही यह भ्रान्ति होती है कि हमारा उत्थान–पतन होता है। यदि यह भ्रान्ति दूर हो जाए तो हम स्थितप्रज्ञ हो जाएँगे, सूर्यवत्।

मात्र सूर्य के दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो रहा है कि किस प्रकार यज्ञीय कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते। जो स्थिति सूर्य की है, वही स्थिति अग्नि, वायु, पृथ्वी, चन्द्र सबकी है। ये सब प्राकृतिक यज्ञ में भागीदार है किन्तु कोई भी भूमाभाव से हटकर अल्पभाव में नहीं आता। वैध यज्ञ द्वारा यजमान को यही भूमाभाव प्राप्त करना है। उसके लिए श्रुति का आदेश है – जो देवगण कर रहे हैं, वही मैं भी करूँ।

ईश्वर शब्द सुपरिचित है। इसी शब्द से बनने वाला ऐश्वर्य्य शब्द भी अपरिचित नहीं है। ईश्वर का ऐश्वर्य यही है कि उसमें क्लेश, कर्म, विपाक और आशय नहीं है – **क्लेशकर्मविपाशयैररपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।** ऐश्वर्य कहें या भूमाभाव – एक ही बात है। ईश्वर के ऐश्वर्य का कारण यह है कि उसमें क्लेश, कर्म, विपाक और आशय नहीं है। उधर जीव में ये सब हैं। जीव में से ये हट जाएँ तो वह भी ईश्वर बन जाए। वस्तुतः तो वह ब्रह्म ही है – **जीवो ब्रह्मैव नापरः।**

क्लेशादि को पाप्मा कहा गया है। ये सात हैं – पर्याय, ऊर्मि, आशय, अवस्था, क्लेश, कर्म तथा विपाक । ये सात भी उपभेदों के कारण तीस बन जाते हैं। यथा

२ पर्याय – बन्ध तथा मुक्त।

६ ऊर्मि – क्षुत्, पिपासा, शोक, मोह, जरा, व्याधि।

२ आशय – शुभ तथा अशुभ।

६ अवस्था – जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, मूर्च्छा, मृत्यु।

५ क्लेश –अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।

६ कर्म – क्रतु, चेष्टा, भाव, संस्कार, विकार, सत्त्व।

३ विपाक – जाति, आयु, भोग।

ये तीस पाप्मा मिलकर ही कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर को बनाते हैं। ये तीन शरीर ही ब्रह्म को जीवभाव में ले आते हैं। ये तीन शरीर ही चेतना को पूर्णता में भी अपूर्णता का भाव कराते रहते हैं। यह अपूर्णता का भाव जीव को कभी चैन नहीं लेने देता। पारिभाषिक शब्दावलि में अपूर्णता के भान को ही अर्धेन्दु-भाव कहा जाता है और पूर्णता को पूर्णेन्दु–भाव कहा जाता है।

जीव इस अर्धेन्दु–भाव से कैसे मुक्त हो – यही मुख्य और एक मात्र ऐसा प्रश्न है कि जिसका यदि उत्तर मिल जाए तो शेष सभी प्रश्न स्वयं ही हल हो जाएँगे। प्रश्न का उत्तर है – पञ्च महायज्ञ। पञ्च महायज्ञों में प्रथम है – ब्रह्म यज्ञ। ब्रह्म यज्ञ है स्वाध्याय। ज्ञान का आदान–प्रदान ही ब्रह्मयज्ञ है। शास्त्र कहते हैं जो ब्रह्म–यज्ञ करता है वह ऋषि–ऋण से मुक्त हो जाता है। वेद–वेदाङ्ग का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही ब्रह्मयज्ञ है। ऋषियों ने जो ज्ञान हमें दिया उसे हम स्वाध्याय द्वारा आत्मसात् करें और प्रवचन द्वारा दूसरों तक सम्प्रेषित करें। यही ब्रह्मयज्ञ है। जो यह यज्ञ नहीं करता वह ऋषि–ऋण से बद्ध होकर संसार में भ्रमण करता रहता है।

दूसरा महायज्ञ है – पितृयज्ञ। माता–पिता का ऋण किसे ज्ञात नहीं है? उनकी सेवा इस ऋण को उतारने का एक उपाय है। अपने ही समान सन्तति को पाल–पोस कर बड़ा करना तथा उसे शिक्षित करके एक सम्भ्रान्त नागरिक समाज को देना पितृ–ऋण से मुक्ति का उपाय है। आर्य केवल अपने पिता को ही नहीं अपितु अपनी सात पीढ़ियों तक को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं; उनके निमित्त दान–पुण्यादि शुभ कर्म करते हैं। यही पितृयज्ञ है।

तृतीय यज्ञ देवयज्ञ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से तो हमारा शरीर बना ही है। इनके बिना हम क्षण–मात्र भी जीवित नहीं रह सकते। हमारे उपयोग में प्रकृति के तत्त्व निरन्तर आते हैं। यह हम पर देव–ऋण है। इसी का प्रतिकार देवयज्ञ है। साधारणतः हम जिसे यज्ञ कहते हैं, वह वस्तुतः देवयज्ञ ही है।

चतुर्थ अतिथियज्ञ द्वारा हम मनुष्य जाति के ऋण से मुक्त होते हैं। अतिथि वह है जिसकी कोई तिथि नहीं। कोई भी अपरिचित व्यक्ति हमारे घर आए उसे सम्मानपूर्वक आसन दें, जल-पान कराएँ तथा उसके साथ मृदु व्यवहार करें। यथासम्भव उसकी सहायता करें। यही मानवता है।

आज पर्यावरण के प्रति हम विशेष सजग हैं। पशु–पक्षी, पेड़े–पौधे – ये सब हमारे उपयोग में प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः आ रहे हैं। हम इनके भी ऋणी हैं। इस ऋण से हम भूतयज्ञ द्वारा उऋण होते हैं। जहाँ देवों के लिए स्वाहा और पितरों के लिए स्वधा है वहाँ भूतों के लिए वषट् भी है। गौ ग्रास से लेकर काक–बलि तक सभी कर्म भूत–यज्ञ हैं।

इन पञ्च महायज्ञों में पूरी भारतीय संस्कृति समाहित हो गई। विशेष बात यह है कि जो व्यक्ति इन यज्ञों को नहीं करता, वह ऋण से ही मुक्त नहीं हो पाता, फिर जन्म–मरण के चक्र से कैसे मुक्त होगा?

हमने ऊपर ६ कर्मों को भी पाप्मा में गिनाया है। अतः अर्जुन का प्रश्न उचित है कि श्रीकृष्ण उसे युद्ध के घोर कर्म में क्यों लगा रहे हैं – **तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव?** श्रीकृष्ण का उत्तर है कि कर्म घोर है किन्तु यज्ञ–कर्म बन्धन मुक्त है। प्रश्न होता है कि युद्ध कौन–सा यज्ञ है कि अर्जुन उसे करे? स्व–स्ववर्णानुसार अपने–अपने कर्म में आरूढ़ रहते हुए सबके कर्मों में यथाशक्ति सहयोग देते रहना ही सर्वमेध यज्ञ है। सर्वमेध यज्ञ का स्वरूप हम पहले भी यत्किञ्चित् बता ही चुके हैं तथा ऊपर भी यज्ञ करने के लिए कुछ शर्तों का उल्लेख कर चुके हैं।

यज्ञ के इस व्यापक रूप को लेकर गीता अनेक यज्ञों का उल्लेख करती है – ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, संयमयज्ञ, इन्द्रिययज्ञ, योगाग्नियज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणायामयज्ञ, प्राणयज्ञ। अभिप्राय यह है कि जीवन की कोई भी क्रिया यज्ञ से बहिर्भूत नहीं है।

इस सारे विवेचन का गीता के प्रसङ्ग से क्या सम्बन्ध है – यह प्रश्न उठना तो नहीं चाहिए, फिर भी किन्हीं के मन में उठ सकता है। समाधान यह है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह बताया है कि यज्ञ–कर्म न करना अपने कर्त्तव्य से च्युत होना है। कोई कर्म वैयक्तिक कामना की पूर्त्ति के लिए किए जाने पर अवश्य बन्धनकारक है किन्तु कर्त्तव्य–पालन के लिए यज्ञ–कर्म तो यज्ञीय भावना से अवश्य करने ही चाहिए।

गीता का यह सन्देश श्रुति के उस आदेश का ही विस्तार है जो कहती है कि सौ वर्ष तक कार्य करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। मनुष्य के लिए यही एक–मात्र मार्ग है जिससे कर्म मनुष्य को लिप्त न कर सके –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजिविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

इस मार्ग को छोड़कर कहीं हिमालय की किसी गुफा में कोई अलौकिक विधि से कर्मों का निग्रह करके मुक्ति पाई जा सकती है – यह केवल एक कपोल कल्पना है। कर्म नहीं छूट सकता, छूट केवल आसक्ति सकती है। उसे ही छोड़ें। यही वैदिक मार्ग है। यही गीता का भी दर्शन है।

संवत्सर–यज्ञ से वर्षा

यज्ञ के सन्दर्भ में सूर्य का दृष्टान्त हम दे चुके हैं कि किस प्रकार सूर्य निरहङ्कार भाव के कारण यज्ञरूप कर्म करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ता। वस्तुतः प्रजापति ने पहले सूर्य को ही यज्ञ करने का आदेश दिया था – **पुरुषं ह नारायणं प्रजापतिः उवाच – यजस्व यजस्व, यजस्वेति।** प्रजापति ने सूर्य को यज्ञ करने के लिए तीन बार कहा तो सूर्य ने तीन ही यज्ञ किए – **वसवः प्रातः सवनेन रुद्रा माध्यन्दिनेन सवनेन, आदित्यास्तृतीयसवनेन।** प्रजापति ने सूर्य को यज्ञ करने के लिए तीन बार आदेश दिया तो भला अपनी प्रजा को यज्ञ करने के लिए कैसे न कहते? प्रजापति ने यज्ञ सहित प्रजा उत्पन्न की और प्रजा को यज्ञ करने का आदेश देते हुए कहा कि प्रजा यज्ञ के द्वारा सम्पन्न बने और यज्ञ प्रजा की सब इच्छाएँ पूरा करे –

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

गीता के प्रस्तुत प्रसङ्ग में सूर्य का यज्ञ से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। श्रुति तो सूर्य को ही अग्निहोत्र बताती है – सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्। सूर्य उत्पन्न होता है तो सृष्टि रूप दिन बन जाता है और सूर्य के लीन होने पर प्रलय रूप रात्रि आ जाती है –

अव्यक्ताद व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

ऊपर सूर्य के जिन तीन यज्ञों का नाम हमने लिया है, उनमें से प्रातः सवन से पार्थिव सृष्टि बनती है, माध्यान्दिन सवन से आन्तरिक्ष्य सृष्टि बनती है तथा सायं सवन से दिव्य सृष्टि का निर्माण होता है। सूर्यनारायण द्वारा किए गए यज्ञ का यह फल है। इस प्रकार सूर्य अपने द्वारा सम्पादित यज्ञ के प्रभाव से सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त हो गया और हम उस सूर्य प्रजापति से ही अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करते हैं –

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणामा॥

सूर्य के द्वादश रूप

ये सूर्य–प्रजापति अपने द्वादश रूपों में प्रजा की समस्त कामनाएँ किस प्रकार पूरी करते हैं उसका विवरण पुराणों में उपलब्ध है।

	मूर्ति	सम्बद्ध मास	कार्य
१.	इन्द्र	आश्विन	देवप्रजा का संचालन
२.	धाता	कार्तिक	विविध प्रजा की उत्पत्ति
३.	पर्जन्य	श्रावण	वृष्टि
४.	त्वष्टा	फाल्गुन	औषधि–वनस्पति का निर्माण
५.	पूषा	पौष	प्रजा की पुष्टि
६.	अर्यमा	वैसाख	वायु पर प्रभुत्व
७.	भग	माघ	सम्पत्ति का नियंत्रण
८.	विवस्वान्	ज्येष्ठ	अग्नि का सञ्चालन
९.	विष्णु	चैत्र	पालन
१०.	अंशुमान्	आषाढ़	आह्लाद
११.	वरुण	भाद्रपद	जल की स्वरूपनिष्पत्ति
१२.	मित्र	मार्गशीर्ष	सौहार्दभाव

१२ मासों में अपने किन १२ रूपों से किन कामनाओं की पूर्ति सूर्य-प्रजापति करते हैं; यह उक्त तालिका से स्पष्ट होगा। इन सब कार्यों द्वारा सूर्य प्रजा की समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाले प्रजापति बने हुए हैं। यह यज्ञ की ही महिमा है।

सूर्य द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला यज्ञ संवत्सर कहलाता है। संवत्सर की प्रक्रिया सूर्य और चन्द्र से सम्पन्न होती है।

सूर्य और चन्द्र का ब्रह्मौदन

सूर्य अग्नि रूप है, चन्द्र सोमरूप है। जितनी अग्नि से सूर्य का निर्माण होता है वह सूर्य का ब्रह्मौदन है और जितने सोम से चन्द्र का निर्माण होता है वह चन्द्र का ब्रह्मौदन है। किन्तु जो अग्नि सूर्य से विस्रस्त हो जाती है तथा जो सोम चन्द्र से विस्रस्त हो जाता है वही अग्नि और सोम उच्छिष्ट है। यज्ञ का उच्छिष्ट ही प्रजा का भोग्य बनता

है। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः आदि श्रुति का तथा यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः इत्यादि गीता के वाक्यों का यही अर्थ है। सूर्य की उच्छिष्ट अग्नि तथा चन्द्र का उच्छिष्ट सोम ऋताग्नि तथा ऋतसोम कहलाते हैं। वातावरण में ऊष्मा ऋताग्नि का फल है तथा वायु की शीतलता ऋतसोम के कारण होती है।

दक्षिण दिशा से ऋताग्नि आती है और उत्तर दिशा से ऋतसोम। जब इन दोनों का समन्वय होता है तो एक यज्ञ सम्पन्न होता है क्योंकि अग्नि में सोम की आहुति ही तो यज्ञ है। इस यज्ञ से ऋतुओं का स्वरूप बनता है। ये ऋतुएँ दो भागों में विभक्त हैं। वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा अग्नि–प्रधान हैं जो देवता कहलाती हैं तथा शरत्, हेमन्त और शिशिर सोम–प्रधान हैं जो पितर कहलाती हैं। इन षड् ऋतुओं की समष्टि संवत्सर कहलाती है। इसी संवत्सर यज्ञ से पर्जन्य वृष्टि करते हैं। वृष्टि से औषधि–वनस्पति बनती है तथा औषधि–वनस्पति से शरीर में शुक्र बनता है जो योषिदग्नि में आहुत होकर प्रजा बन जाता है। इस प्रकार यज्ञ से ही प्रजोत्पत्ति होती है।

इस यज्ञ के आधार पर ही प्रजा के भी भेद हो जाते हैं। हमने ऊपर प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन का उल्लेख किया है। इन तीनों का क्रमशः अग्नि, वायु तथा आदित्य से सम्बन्ध है। ये ही तीन देव वेदान्त के सुप्रसिद्ध वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ हैं। जहाँ वैश्वानर ही प्रधान है वह प्रजा असंज्ञ है यथा पाषाण धातु आदि। जहाँ तैजसात्मा का भी विकास हो गया, वह अन्तःसंज्ञ है यथा वृक्षादि। यहाँ तक की प्रजा तमोगुण–प्रधान है। प्राज्ञ का विकास होने पर पशु–पक्षी–मनुष्यादि ससंज्ञ प्रजा बनती है जिसे रजोगुण प्रधान माना जाता है। यहाँ तक की सृष्टि हम सबको ज्ञात है। किन्तु एक अन्य सृष्टि भी है जो सत्व–प्रधान है और अष्टविध है – यज्ञ, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, ऐन्द्र, पैत्र्य, प्राजापत्य, ब्राह्म। यह सब उस प्रजा का विवरण है जो यज्ञ के साथ–साथ प्रजापति ने उत्पन्न की।

इस प्रजा की समस्त कामनाएँ यज्ञ से ही पूर्ण होती हैं। शेष सभी प्रजा प्रजापति द्वारा निर्दिष्ट यज्ञ के नियमों का पालन करती है। केवल मनुष्य ही यज्ञीय नियमों का उल्लंघन करता है। परिणाम हमारे सम्मुख है। ८४ लाख योनियों में से किसी भी योनि के प्राणी पर्यावरण को दूषित नहीं करते, केवल मनुष्य के ही कार्यों से पर्यावरण दूषित होता है। सृष्टि में वनस्पति से लेकर पशु–पक्षी तक शेष सभी प्राणी प्रकृति का संतुलन स्वयं ही बनाए रखते हैं, केवल मनुष्य ने अपने चारों ओर प्रदूषण एकत्र कर लिया है। यह अयज्ञीय जीवन–शैली का परिणाम है। गङ्गा–यमुना में कितने जीव–जन्तु हैं किन्तु उनमें कोई इन नदियों को मैला नहीं करता किन्तु ज्यों ही ये नदियाँ मनुष्यों की बस्तियों के पास आती हैं त्यों ही मैली हो जाती हैं।

सह नौ भुनक्तु

इस स्थिति को देखकर शास्त्रों ने मनुष्यों के लिए यज्ञ का विशेष विधान किया है। शेष प्राणी बिना सिखाए ही यज्ञीय जीवन जीते हैं। चींटियों को देखें कि किस प्रकार मिलकर अन्न का एक–एक दाना इकट्ठा करती हैं किन्तु कोई चींटी किसी दाने पर अपना स्वत्व नहीं जमाती। सब मिलकर अन्न जुटाती हैं और मिल कर खाती हैं। उनके बीच कभी अपने-पराए का भाव लेकर अन्न के लिए सङ्ग्राम नहीं होता।

यही स्थिति मधुमक्खियों की है। छत्ते में सभी मिलकर शहद इकट्ठा करती हैं और मिलकर उसे भोगती हैं। यह सह नौ भुनक्तु के श्रुति के आदेश के पालन का जीता-जागता निदर्शन है। किन्तु मनुष्य की स्थिति दूसरी है।

मनुष्य आवश्यकता से अधिक जुटाता है और दूसरे मनुष्यों के पास भोजन न होने पर भी अपने अतिरिक्त परिग्रह में से उन्हें देने को तैयार नहीं होता तो उसके लिए अतिथि यज्ञ का विधान करना पड़ता है; उसे यह सिखाना पड़ता है कि जो अकेले खाता है, वह मानो शुद्ध पाप ही खाता है – केवलाघो भवति केवलादी। उसे यह भी बताना पड़ता है कि मनुष्य का अधिकार उतने पर ही है जितने से उसका पेट भरता है, जो इसके अतिरिक्त अपना स्वत्व मानता है वह चोर है और दण्ड का अधिकारी है –

यावद् भ्रियते जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनः।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति॥

मनुष्य की सङ्ग्रहवृत्ति पर नियंत्रण रखने के लिए ऐसे यज्ञों का विधान किया गया कि वह केवल मनुष्यों को अथवा देवों को ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों तक को बाँट कर खाए, गो-ग्रास निकाले, कौओं तक के लिए बलि दे।

संक्षेप में यज्ञ प्रकृति का अनुसरण है। प्रकृति के नियमों की पालना ही हमारी कामनाओं की पूर्ति का साधन है। हम प्रकृति के साथ अनाचार करके भी अपनी कामनाओं की पूर्ति नहीं कर सकते। इसके विपरीत यदि हम प्रकृति का अनुसरण करते हैं तो हमारी समस्त कामनाएँ स्वतः पूर्ण हो जाएँगी। इसीलिए श्रुति कहती है, अपने कर्म प्रकृति के अनुकरण पर करो – **प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या।**

गीता के अनुसार यज्ञ का रहस्य

यज्ञ के अनेक रूप हैं। यज्ञ शब्द यज् धातु से बना है। यज् धातु के तीन अर्थ किए जाते हैं – देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान। पूजा का सम्बन्ध मनोमय कारण शरीर से है, सङ्गतिकरण का सम्बन्ध प्राणमय सूक्ष्म शरीर से है तथा दान का सम्बन्ध वाङ्मय स्थूल शरीर से है। कारण शरीर से की जाने वाली पूजा ज्ञान से जुड़ी है, सूक्ष्म शरीर से किए जाने वाला सङ्गतिकरण उपासना से जुड़ा है। स्थूल शरीर से किया जाने वाला दान कर्म है। ज्ञान अमृतयज्ञ है, उपासना देवयज्ञ है तथा कर्म शुक्रयज्ञ है। मनुष्य कर्म रूप शुक्रयज्ञ को तो मुख्य बना लेता है और ज्ञानरूप अमृतयज्ञ तथा उपासना रूप देवयज्ञ को गौण कर देता है। यही प्रज्ञापराध है। इसी प्रज्ञापराध को हम बोलचाल की भाषा में **भौतिकवाद अथवा मैटिरियलिज्म** कहते हैं।

देवों को अर्पण

देवयज्ञ इस भौतिकवाद से बचने का उपाय है। देवयज्ञ में हम किसी द्रव्य की आहुति देते हैं। इस द्रव्य के दो भाग होते हैं – भूत एवं प्राण। उस आहुति द्रव्य का प्राण भाग यजमान के प्राणों को देवों के प्राणों से जोड़ देता है। यही मानुषात्मा का दैवात्मा बन जाना है। यही अमृतत्व है, यही ज्योति है, यही देवत्व है – **अपाम सोमममृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।** आहुतिद्रव्य यजमान का वित्त है और वित्त भी उसकी आत्मा ही है – **यावद्वित्तं तावदात्मा।** यजमान आहुतिद्रव्य के माध्यम से अपनी आत्मा ही देवों को अर्पित करता है। यही देवों को यज्ञ द्वारा भावित करना है जिसके बदले में देव हमें भावित करते हैं जो कि हमारे परम कल्याण का साधन बनता है –

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

देवताओं को आत्मार्पण किए बिना भावित नहीं किया जा सकता। जो पुरोडाशादि पदार्थ हम देवों को देते हैं, देवगण उन पदार्थों को खाते नहीं हैं। देव न खाते हैं, न पीते हैं; वे तो केवल हमारे अमृत भाव को देख कर ही तृप्त हो जाते हैं –

न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।

यह अमृत भाव क्या है ? अमृत का अर्थ है कि हमारी समस्त सम्पदा और हमारे सारे कर्म सर्वजनसुखाय सर्वजनहिताय हों, व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं। सभी सम्पदा नश्वर है और सभी कर्म सान्त फल देने वाले हैं, किन्तु जब हमारे अर्थ, क्रिया और ज्ञान लोक-कल्याण के लिए समर्पित हो जाते हैं तो वे अपने सान्तभाव को छोड़कर अनन्त भाव को धारण कर लेते हैं। यही भूमा भाव है। जहाँ परमार्थ है, वहाँ न त्रैगुण्य है, न बन्धन।

परस्पर भावित करने का अर्थ है – सहयोग। एक दृष्टि प्रतिस्पर्द्धा की है, दूसरी सहयोग की। प्रतिस्पर्द्धा का अर्थ है कि हम दूसरे की उन्नति में बाधा डालें। सहयोग का अर्थ है कि हम सबकी उन्नति में साधक बनें। जब सब सबकी उन्नति में साधक बनते हैं तो परम श्रेय की प्राप्ति होती है। व्यक्ति जहाँ भी जाता है, उसे सहयोग मिलता है। इसके विपरीत जहाँ बाधक बनने का भाव है; वहाँ संघर्ष ही संघर्ष है, फल शून्य है। यदि हम विचार करें तो मनुष्य को प्रकृति ने इतना दिया है कि अभाव का नाम ही नहीं है किन्तु हमने अपनी मूर्खता से प्रकृति के उस वैभव का आनन्द लेने के स्थान पर आपस में ही नहीं, प्रकृति से भी संघर्ष करने में अपनी शक्ति का अपव्यय करना चालू किया हुआ है।

आज विभिन्न राष्ट्रों का कितना अधिक धन संहारक शस्त्रों के निर्माण में लग रहा है क्योंकि हममें परस्पर भावित करने की दृष्टि न होकर एक–दूसरे को नीचा दिखाने का भाव है। यदि इन संहारक शस्त्रों के निर्माण में खर्च होने वाली धन–राशि का दशमांश भी शिक्षा, चिकित्सा तथा पोषण पर खर्च किया जाए तो संसार का नक्शा ही बदल जाए, किन्तु यह तो तब ही होगा जब राष्ट्र परस्पर सहयोग की भावना रखें।

राष्ट्रों में सहयोग की भावना नहीं है अपितु दूसरे राष्ट्रों के प्रति वैमनस्य का भाव रखना देशभक्ति का पर्यायवाची माना जा रहा है। समाज में भी असहयोग का भाव है। बुद्धिजीवी समाज के शेष वर्गों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। व्यापारी अपना घर भरने में ही सारा पुरुषार्थ लगा रहे हैं। यहाँ तक कि लोक–कल्याण का लक्ष्य लेकर चलने वाले धर्म–सम्प्रदाय भी परस्पर एक–दूसरे का सहयोग करने के स्थान पर एक–दूसरे के प्रति ईर्ष्या भाव रखकर अन्दर–ही–अन्दर एक–दूसरे की काट करने में लगे हैं। फलस्वरूप धर्मस्थान भी राजनीति के अखाड़े बन गए हैं। कहीं भी वह यज्ञीय भावना नहीं है कि यह मेरा नहीं है, प्राकृतिक शक्तियों का है – देवों का है – **इदं अमुकदेवाय इदन्न मम।** जरा विचार करें कि क्या इस सृष्टि में एक परमाणु भी हम उत्पन्न कर सकते हैं? समस्त सम्पदा हमें प्रकृति से ही तो प्राप्त हो रही है। जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य – इस सबमें से हमने किसे पैदा किया है कि हम उसे अपना कह सकें? सारा कच्चा माल हमें प्रकृति से मिलता है, फिर उसे हम अपना कहने का दावा कैसे कर सकते हैं? हम तो केवल कच्चे माल को एक रूप देने मात्र का काम करते हैं। कच्चा माल तो सब देवों का ही है, हम उसे निर्मित उत्पाद का रूप मात्र दे देते हैं। इस बात को समझ कर यदि हम प्रकृति की शक्तियों के प्रति कृतज्ञता का भाव रख सकें तो वे शक्तियाँ भी अवश्य ही हमें इष्ट भोग देंगी। किन्तु क्या प्रकृति का देव–ऋण चुकाए बिना हम प्रकृति की सम्पदा का भोग करेंगे तो यह चोरी न होगी ?

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यः यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

प्रकृति की व्यवस्था है कि हमारी आवश्यकता की पूर्ति के लिये यज्ञ–शेष हमें प्राप्त होता रहता है। सूर्य कितनी ऊर्जा निरन्तर हमें दे रहा है? वृक्ष कितनी ऑक्सीजन फेंक रहे हैं? पृथ्वी कितनी शस्यश्यामला है? नदियाँ कितना अमृत–जल प्रवाहित कर रही हैं? यह सब यज्ञशिष्ट है, जो इसे भोगता है वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। किसी नदी के किनारे आप प्रातःकाल घूमने चले जाएँ। शीतल मन्द समीर आपका स्वागत करेगी। वृक्षों पर बैठे पक्षी सङ्गीत से आपका मन तृप्त कर देंगे। यह सब प्रकृति का निःशुल्क बँटने वाला अवदान है। किन्तु हम किसी को क्या दे रहे हैं? केवल अपने लिए कमाते हैं, अपने लिए पकाते हैं और स्वयं ही अपना पेट भर लेने में अपनी कृतकृत्यता मान लेते हैं। गीता कहती है कि यह तो साक्षात् पाप का खाना ही हुआ –

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

वेद तो इससे भी अधिक कठोर शब्दों में कहता है कि ऐसा नासमझ जो अन्न को न देवों को देता है, न मित्रों को और अकेला समस्त सम्पदा को भोगता है वह पाप को तो खाता ही है, साथ ही ऐसी सम्पदा उस व्यक्ति का वध भी कर डालती है –

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

सात स्तरीय यज्ञ-चक्र

अर्जुन युद्ध करे, समाज को दुर्योधन के अन्यायपूर्ण राज्य से मुक्ति दिलाने के लिए। यह यज्ञ हुआ। इस यज्ञ का उच्छिष्ट राज्य उसे प्राप्त होगा। उस यज्ञ–शेष को भोगने में उसे कोई पाप लगने वाला नहीं है, किन्तु यदि वह राज्य के लोभ से युद्ध करता है तो वस्तुतः वह पाप का भागी होगा। साथ ही वह यह राज्य अकेला भोगने वाला नहीं है अपितु अपने पाँचों भाइयों के साथ मिलकर ही भोगेगा।

संसार में यज्ञ का एक चक्र है। इस चक्र के सात स्तर हैं – १. अक्षर से ब्रह्म उत्पन्न होता है। २. ब्रह्म से कर्म उत्पन्न होता है। ३. कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है। ४. यज्ञ से पर्जन्य (बादल) उत्पन्न होता है। ५. पर्जन्य से अन्न उत्पन्न होता है। ६. अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं। अतः ७. ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं।

इन यज्ञ–चक्रों पर थोड़ा विस्तार से विचार करना आवश्यक है। यूं तो अन्न सात हैं – ज्ञान, कर्म, आकाश, जल, तेज, वायु और औषधि-वनस्पति, किन्तु इनमें औषधि–वनस्पति ही मुख्य अन्न है – यह बात प्रसिद्ध है। इसी अन्न से शरीर में शुक्र बनता है और वह शुक्र ही प्रजोत्पत्ति का हेतु है। यह एक यज्ञ–चक्र है।

पर्जन्य से औषधि–वनस्पति रूप अन्न की उत्पत्ति तो प्रत्यक्ष गोचर ही है। ऋतु रूप संवत्सर यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति भी प्रसिद्ध ही है। ऋताग्नि में ऋत सोम की आहुति से जो ऋतयज्ञ होता है वही पर्जन्य को बनाता है।

इसी संवत्सर यज्ञ के अनुकरण पर श्रौत यज्ञ होते हैं। इन श्रौत यज्ञों में चार कर्म होते हैं जिनसे यज्ञ सम्पन्न होता है। वे चार कर्म होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न होते हैं। हम कोई भी काम करें उसमें ये चार कर्म करने ही पड़ते हैं। उदाहरणतः मकान बनाने की क्रिया को लें। पत्थर आदि सामग्री को मकान निर्माण के अनुरूप काटना–छाँटना होता का कर्म है। इसे ही शस्त्र कर्म कहते हैं। फिर चिनाई की जाती है। यह अध्वर्यु का ग्रह कर्म है। चिनते समय सीमेन्ट अथवा गारे का ईंट अथवा पत्थरों पर फैलाना ही स्तोत्र कर्म है जिसे उद्गाता करता है। यदि इन कर्मों में शिल्पी कहीं गलती करे तो इन्जीनियर उसे निरीक्षण करके ठीक करवाता है। यही ब्रह्मा का कर्म है।

संवत्सर से पर्जन्य उत्पत्ति

पर्जन्य को उत्पन्न करने वाला जो संवत्सर यज्ञ है; उसमें अग्नि होता बनता है, वायु अध्वर्यु, आदित्य उद्गाता और बृहस्पति ब्रह्मा। तब जाकर वह ऋतु–यज्ञ सम्पन्न होता है जिससे पर्जन्य बनता है और वृष्टि करता है।

यह यज्ञ कर्म ब्रह्म अर्थात् वेद से उत्पन्न होते हैं। होता अपना कर्म ऋग्वेद से, अध्वर्यु यजुर्वेद से, उद्गाता सामवेद से तथा ब्रह्मा अथर्ववेद से सम्पन्न करता है। यहाँ वेद वे तत्त्व हैं, जो पदार्थ का निर्माण करते हैं। ऋक् से पदार्थ का मूर्त अंश बनता है, यजु से गति आती है, साम से उसका तेजोमण्डल बनता है, तथा अथर्व उस पदार्थ को सर्वाङ्गीण बनाता है –

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥

जिन वेदों से हम परिचित हैं, वे वेद ग्रन्थ हैं। उन ग्रन्थों में ऋक् आदि तत्त्वों का निरूपण है। अतः उन्हें भी ऋग्वेद आदि नामों से कह दिया जाता है जिस प्रकार वनस्पति का वर्णन करने वाले ग्रन्थ का नाम 'वनस्पति विज्ञान' रख दिया जाता है।

एक यज्ञ चक्र वह है जिससे अक्षर तत्त्व से ये क्षर वेद तत्त्व उत्पन्न होता है। ऋक् आदि तत्त्व क्षर हैं। वे अक्षर से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए ऋक् आदि को अपरा विद्या और अक्षर विद्या को पराविद्या कहा जाता है – **अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।** अक्षर की पाँच कला है – ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। इनमें से अग्नि में सोम की आहुति पड़ने से जो यज्ञ होता है उसी से ऋगादि उत्पन्न होते हैं –

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

ये वेद ही कर्म का मूल हैं। कर्म से ही क्रमशः यज्ञ, पर्जन्य, वृष्टि, अन्न तथा भूतों की उत्पत्ति होती है। यही सृष्टि का क्रम है। इस यज्ञ कर्म के बिना ब्रह्म–प्राप्ति सम्भव नहीं क्योंकि ब्रह्म यज्ञ द्वारा ही संसार में ओतप्रोत हुआ है।

जो इस यज्ञ–चक्र की अवहेलना करता है वह ब्रह्म की प्राप्ति तो क्या कर पाएगा, वह तो वस्तुतः सांसारिक वैभव से भी वञ्चित हो जाता है। उसका पापपूर्ण जीवन व्यर्थ ही है। गीता के मूल श्लोकों की भाषा पठनीय है –

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।
एवं प्रवर्तितं चक्र नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।

मूल तथा अनुवाद

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

जो मनुष्य आत्मरत है और आत्मतृप्त है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसके लिए कोई कर्त्तव्य करने योग्य नहीं है।।१७।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

उसके लिए न तो कोई कर्म करने का अर्थ है, न कर्म न करने का अर्थ है। उसे किसी भी प्राणी से कोई स्वार्थ नहीं साधना ।।१८।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

इसलिये निरन्तर अनासक्त भाव से तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करो। निश्चय ही अनासक्त रह कर कर्म करने वाला व्यक्ति परम तत्व को प्राप्त कर लेता है ।।१९।।

विपुल-भाष्य

सभी निष्काम कर्म यज्ञ हैं

गीता में स्थान-स्थान पर यह चर्चा है कि श्रीकृष्ण ने दो मार्गों का प्रतिपादन किया है – सांख्य और योग । साथ ही यह भी कहा गया है, ये दोनों मार्ग वस्तुतः एक ही हैं, अलग-अलग नहीं। सांख्य को ज्ञानमार्ग तथा योग को कर्मयोग कहा जाता है। यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ने यह कह दिया है कि कर्म संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है तथापि श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति ने गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञानमार्ग को ही माना है, जबकि लोकमान्य तिलक कर्मयोग को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मानते हैं।

इस मतभेद का कारण यह है कि गीता में जब सांख्य अथवा ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन किया जाता है तब ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण ज्ञान को ही मुख्य मान रहे हैं जबकि कर्म का प्रतिपादन पढ़ते समय कर्म मुख्य प्रतीत होने लगता है। फिर भी गीता में अनेक ऐसे सूक्ष्म सङ्केत मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग ही है। उदाहरणतः हम गीता के प्रस्तुत अध्याय के १७ से २० तक के चार श्लोकों को देखें। इनमें से प्रथम दो श्लोकों में कहा गया है कि जो व्यक्ति आत्मा में रत है, आत्मतृप्त है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसे कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। उसे न कुछ करने से प्रयोजन है और न कुछ न करने से प्रयोजन है। उसे प्राणियों से अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि भी नहीं करनी –

यस्मात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्याश्रयः।।

इन दो श्लोकों को देखने से ऐसा लगता है कि गीता ने ज्ञानी के लिए कर्म को अनावश्यक घोषित कर दिया है किन्तु इन दो श्लोकों के तत्काल बाद गीता कहती है कि इसलिए तुम निरन्तर करणीय कर्म करो – **तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर** । यहाँ 'तस्मात्' शब्द पर ध्यान देना होगा। पहले के उपर्युक्त दो श्लोकों में ज्ञानी के लिए कर्म को अनावश्यक बतलाने के तत्काल बाद में यह कहना कि इसलिए निरन्तर कर्म करना चाहिए – एक प्रश्न उपस्थित कर देता है कि ज्ञानी के लिए यदि कर्म अनावश्यक ही हो गया, तो फिर वह कर्म क्यों करे। बल्कि यह जानने पर भी कि कर्म बन्धन का कारण है, कर्म को छोड़ देना ही उचित प्रतीत होता है। किन्तु गीता कहती है कि यद्यपि ज्ञानी के लिए करना न करना बराबर है तथापि उसे अनासक्त भाव से कर्म करने ही चाहिए। यज्ञ कर्म बन्धन का कारण नहीं है – यह पहले बताया जा चुका है। अब यहाँ यह बताया जा रहा है कि यज्ञ के अतिरिक्त भी जो कर्म अनासक्त भाव से किए जाएँ वे बन्धन का कारण नहीं हैं।

श्रुति कहती है कि विज्ञान वह है जो यज्ञ का तथा कर्मों का रहस्य उद्घाटित करे – **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि च**। इसी श्रुति का अनुकरण करते हुए गीता यज्ञ का रहस्य उद्घाटित करने के अनन्तर अब यज्ञ के अतिरिक्त कर्मों का भी रहस्य बतलाते हुए कहती है कि यज्ञातिरिक्त कर्म भी अनासक्त भाव से किए जाएँ तो बन्धन का कारण नहीं बनते।

यज्ञ कर्म सर्वहुत है। उसमें व्यक्ति विश्व-कल्याण का ही लक्ष्य रखता है। यह मार्ग भूमोदर्क कहलाता है। इसमें समष्टि के सम्मुख व्यष्टि अपने को मिटा देता है। यही सर्वहुत यज्ञ है। किन्तु इतना सामर्थ्य सबमें नहीं है। अनेक साधक ऐसे हैं जो आत्म-कल्याण की ही साधना चाहते हैं। विश्व-कल्याण की चिन्ता ईश्वर करेगा, हम तो अपना कल्याण कर लें – ऐसा सोचने वाला भूमोदर्क मार्ग का अनुसरण न करके क्षीणोदर्क मार्ग का अनुसरण करता है, यद्यपि क्षीणोदर्क मार्ग भूमोदर्क मार्ग जैसा उत्तम नहीं है तथापि आत्मा में ही लीन व्यक्ति विश्व की चिन्ता न करके अपनी ही चिन्ता किया करते हैं। प्रश्न होता है कि ऐसे साधकों का भविष्य क्या है? उत्तर यह है कि यदि ऐसी आत्मकेन्द्रित दृष्टि वाले साधक भी अनासक्त रह कर कर्म करें तो उनके कर्म भी यज्ञ की कोटि में ही आ जाते हैं, यद्यपि उनके ये कर्म सर्वहुत यज्ञ न बनकर विश्वदानि यज्ञ ही बन पाते हैं।

कहा जा सकता है कि आत्मकेन्द्रित व्यक्ति यदि सर्वहुत यज्ञ वाला भूमोदर्क मार्ग न अपना कर विश्वदानि यज्ञ वाला क्षीणोदर्क मार्ग ही अपनाता है तो वह विश्व-कल्याण के उदात्त लक्ष्य से तो वञ्चित ही रह जाएगा ? उत्तर यह है कि ऐसा नहीं है। आत्म-कल्याण द्वारा भी विश्व-कल्याण होता है। यदि सब अपना–अपना कर्त्तव्य कर्म पूर्ण निष्ठापूर्वक अनासक्ति भाव से करें तो समाज, राष्ट्र तथा विश्व का कल्याण तो स्वतः ही हो जाएगा। व्यक्ति–व्यक्ति मिलकर ही समाज अथवा राष्ट्र बनता है, अणु–अणु मिलकर ही विश्व बना है। इस प्रकार अणिमा और भूमा वस्तुतः उसी प्रकार एक है जिस प्रकार वृक्ष और वन एक ही हैं। यदि एक–एक वृक्ष हरा है तो वन भी हरा ही होगा। यदि एक–एक साधक अपना–अपना कल्याण कर लें तो विश्व का कल्याण तो हो ही जाएगा। अतः समाजवाद के समान व्यक्तिवाद का मार्ग भी श्रेयस्कर बन सकता है, शर्त केवल इतनी है कि व्यक्ति जो भी कर्म करे उसके प्रति आसक्ति न रखे। दूसरी ओर समाजवाद भी विफल हो जाएगा यदि उसमें स्वार्थ सिद्धि का अंश आ जाए। अतः मुख्य स्वार्थत्याग, अनासक्ति तथा निर्विषयता है; फिर चाहे हम विश्व-कल्याण का समाजवादी मार्ग लें चाहे आत्मकल्याण का व्यक्तिवादी मार्ग लें। आज यह विवाद मुख्य बना है कि समाजवाद अच्छा है या व्यक्तिवाद? गीता के अनुसार आसक्ति भाव है

तो दोनों खराब, आसक्ति नहीं है तो दोनों अच्छे। समाजवादी भी जब स्वार्थ के भाव से प्रेरित रहते हैं तो समाज सेवा के नाम पर अपना घर भरने में ही तत्पर दिखाई देते हैं।

हमारे सम्मुख सन्त तुलसीदास का उदाहरण है। वे कहते हैं कि मैं तो रघुनाथ की गाथा अपने सुख के लिए लिख रहा हूँ – **स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथां भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।** किन्तु हम देखते हैं कि स्वान्तःसुखाय लिखा गया रामचरितमानस जन-कल्याण का साधन बन गया। दूसरे शब्दों में विश्वदानि यज्ञ सर्वहुत यज्ञ में बदल गया, क्षीणोदर्क भी भूमोदर्क बन गया।

गीता के उपर्युक्त श्लोकों में कुछ ऐसे शब्द आए हैं जो भ्रामक हो सकते हैं। एक शब्द है – आत्मरति। आधुनिक मनोविज्ञान के अध्येता इस शब्द को हेय अर्थ का सूचक मान सकते हैं। अतः रति शब्द का अर्थ जानना चाहिये। हमारा भाव चार दिशाओं में प्रवाहित होता है। बड़ों के प्रति हम श्रद्धा करते हैं, छोटों के प्रति वात्सल्य, बराबर वालों के प्रति स्नेह तथा जड पदार्थों के प्रति कामना। ये चारों भाव जब एक पर केन्द्रित हो जाएँ तो उसे रति कहते हैं। यह रति भी दो प्रकार की है – स्त्री–पुरुष की एक–दूसरे के प्रति रति अनुरक्ति कहलाती है तथा आत्मा के प्रति रति आत्मरति कहलाती है। अनुरक्ति बन्धन है, आत्मरति मुक्ति है। आत्मरति वस्तुतः अरति है क्योंकि आत्म में रत व्यक्ति निष्काम हो जाता है। वह तृप्त है। तुष्ट का अर्थ अपूर्ण रति है तथा तृप्ति का अर्थ पूर्ण रति है। आत्मरति में प्रवृत्ति का अभाव है।

आत्मरति में प्रवृत्ति का अभाव है, इसीलिए वहाँ किसी फल की इच्छा से कर्म नहीं होता। यह कर्म करे या न करे, उसके सुख में कोई अन्तर नहीं आता। यहाँ यह जटिल प्रश्न आता है कि ऐसी स्थिति में ज्ञानी कर्म क्यों करेगा? उत्तर यह है कि कर्म के दो स्रोत हैं – उत्थाप्याकाङ्क्षा और उत्थिकाङ्क्षा। उत्थाप्याकाङ्क्षा से किए जाने वाले कर्म ज्ञानी नहीं करता क्योंकि उसमें उत्थाप्याकाङ्क्षा होती ही नहीं तथापि उत्थिताकाङ्क्षा से होने वाले कर्म वह करता ही है क्योंकि उत्थिताकाङ्क्षा के कर्त्ता हम नहीं हैं, अपितु परमात्मा है। एक निश्चित कालावधि के बाद हमें भूख लगती है अथवा नींद आती है। यह स्वाभाविक इच्छा है; हम इस इच्छा को उत्पन्न नहीं करते। यदि हम ही भोजन की इच्छा करने वाले हों तो जब हम चाहे तब भूख लगनी चाहिए। किन्तु मन्दाग्नि होने पर देखने में आता है कि हमें चाहने पर भी भूख नहीं लगती। भोजन की इच्छा होना न होना हमारे अधीन नहीं है। इसी प्रकार सोने की इच्छा भी हमारे अधीन नहीं है। यदि सोने की इच्छा भी हमारे अधीन होती तो किसी को अनिद्रा नाम का रोग होता ही नहीं। निष्कर्ष यह है कि भोजन की इच्छा अथवा सोने की इच्छा हम में परमात्मा अथवा प्रत्यगात्मा की इच्छा से उत्पन्न होंती है। इन इच्छाओं से प्रेरित होकर जो कर्म किए जाते हैं – उन कर्मों को ज्ञानी भी छोड़ता नहीं है अपितु अनासक्त भाव से उन्हें करता है। अज्ञानी इन कर्मों में भी आसक्ति रखता है, अतः ये कर्म उसके लिए बन्धन का कारण बन जाते हैं। ज्ञानी इन कर्मों का अपने को केवल निमित्त मानता है, कर्त्ता नहीं। अतः उसके लिए ये कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते।

प्रश्न होता है कि उत्थिताकाङ्क्षा की पहचान क्या है? कोई भी व्यक्ति शराब पीने की इच्छा को उत्थिताकाङ्क्षा बतला कर सुरापान में प्रवृत्त हो सकता है। उत्तर यह है कि शास्त्रविहित कर्मों का ही सम्बन्ध उत्थिताकाङ्क्षा से है, समस्त शास्त्रनिषिद्ध कर्म उत्थाप्याकाङ्क्षा का परिणाम हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण ने शास्त्र को ही कार्याकार्य में प्रमाण माना है – **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।** अर्जुन क्षत्रिय है। धर्म युद्ध करना उसके लिए शास्त्रविहित कर्त्तव्य है। वह इस कर्त्तव्य का पालन अनासक्त भाव से करे। इसमें उसे अपना स्वार्थ जोड़ने की आवश्यकता नहीं, यद्यपि इस कर्म से दो फल स्वतः निष्पन्न होंगे। प्रथम तो व्यक्तिगत रूप में अर्जुन को राज्य की प्राप्ति होगी, दूसरे समाज की दृष्टि में अधर्म का नाश होगा। अर्जुन के लिए यह कर्म बन्धन का कारण तब ही बनेगा, यदि वह इसमें फलासक्ति का भाव रखे। निष्काम भाव से किया गया यह शास्त्रोक्त कर्म करना परमात्म प्राप्ति का ही साधन बनेगा – **असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।**

क्या इस प्रकार कर्म करके किसी ने सिद्धि प्राप्त की है? उत्तर है कि राजा जनक आदि अनेक राजर्षियों ने इसी प्रकार सिद्धि प्राप्त की है – कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

इस प्रकार इस उपदेश का सार यह है कि केवल यज्ञ कर्म ही नहीं अपितु अन्य कर्म भी अनासक्ति भाव से किए जाने पर बन्धन का कारण नहीं बनते। वस्तुतः यह बताना आवश्यक भी था क्योंकि श्रीकृष्ण का अर्जुन को यज्ञ में नहीं अपितु युद्ध कर्म में प्रवृत्त करना अभीष्ट था।

मूल तथा अनुवाद

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥२०॥

जनकादि कर्म के द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त हुए। लोक संग्रह की दृष्टि से भी तुम्हें कर्म करना ही चाहिये ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥२१॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा जैसा आचरण करता है वैसा–वैसा ही आचरण दूसरे लोग भी करते हैं। वह जिसे उचित मानता है सब उसी का पालन करते हैं ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥२२॥

हे अर्जुन ! मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी करने योग्य नहीं है न मुझे कुछ प्राप्त करना है न मुझे अप्राप्त है तथापि मैं कर्म करता ही हूँ॥२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥२३॥

हे पार्थ ! यदि मैं सचेत होकर कदाचित् कर्म न करूँ तो सब मनुष्य हर तरह मेरा ही अनुकरण करने लगें॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो सब मनुष्य उन्मार्ग–गामी हो जायें और मैं व्यामोह पैदा करने वाला तथा समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बन जाऊँ ॥२४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे अर्जुन ! अज्ञानी लोग आसक्ति भाव से जिस प्रकार कर्म करते हैं विद्वान् अनासक्ति भाव से लोक संग्रह करने की इच्छा से उसी प्रकार कर्म करें ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

योगी, विद्वान् (शास्त्रोक्त) कर्म करने वाले (आसक्त) अज्ञानियों को भ्रम में न डालें। अपितु (स्वयं) सब कर्म करते हुए उनसे भी करवायें॥२६॥

विपुल-भाष्य

गीता में लोकसंग्रह का स्वरूप

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध कर्म से विमुख होने से रोकना चाहते हैं। अर्जुन पाप के बन्धन के भय से युद्ध नहीं करना चाहता। श्रीकृष्ण उसे अनेक युक्तियों से कर्म–विज्ञान समझाते हैं। यज्ञ के लिए कर्म किया जाए तो बन्धन का कारण नहीं बनता। आत्मतोष के लिए अनासक्त भाव से किया गया कर्म भी बन्धन का कारण नहीं बनता। अब श्रीकृष्ण अर्जुन के सम्मुख एक तीसरा विकल्प रखते हैं कि लोकसंग्रह के भाव से किया गया कर्म भी बन्धन का कारण नहीं बनता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपने अस्तित्व के लिए दूसरों पर निर्भर रहना होता है। पैदा होते ही यदि माता बच्चे को न सँभाले तो बच्चा जीवित ही नहीं रह सकता। बड़ा हो जाने पर भी मनुष्य दूसरों पर बहुत बड़ी मात्रा में निर्भर है। गेहूँ पैदा किसान करता है, बेचता व्यापारी है, आटा पीस कर एक तीसरा व्यक्ति देता है और रोटी बना कर घर की महिला देती है, तब जाकर मैं भोजन कर पाता हूँ। यदि इनका सहयोग मुझे प्राप्त न हो तो क्या मुझे भोजन मिल सकता है? इसके अतिरिक्त अर्थोपार्जन करे बिना भी मुझे भोजन नहीं मिल सकता। पास में पैसा नहीं है तो बाजार में उपलब्ध होने पर भी मैं अनाज खरीदूँगा कैसे ? अर्थोपार्जन की प्रक्रिया में उस व्यक्ति का मुझ पर उपकार है जिसने मुझे नौकरी दे रखी है। व्यापार करता हूँ तो ग्राहक के उपकार से ही तो मेरा व्यापार चलता है। अभिप्राय यह है कि बिना दूसरों के सहयोग के मेरा अस्तित्व ही सम्भव नहीं है ऐसी स्थिति में क्या यह उचित होगा कि मैं दूसरों का सहयोग ले तो लूँ किन्तु उन्हें सहयोग दूँ नहीं ? बिना कर्म किए दूसरों का सहयोग करना कैसे सम्भव है? दूसरों का सहयोग करना ही लोकसंग्रह का उपाय है, जिसके लिए कर्म करना आवश्यक है। अतः गीता ने कहा है कि लोकसंग्रह की दृष्टि से भी कर्म करना ही चाहिये – **लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि।**

श्रेष्ठ पुरुष के दायित्व

मान लें कि अर्जुन सोचता हो कि साधारण मनुष्य कर्म कर ही रहे हैं और उनके कर्म से समाज चल रहा है फिर वह तो असाधारण व्यक्ति है और यदि एक वह कर्म छोड़ भी देगा तो समाज को क्या अन्तर पड़ जाएगा? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि वह अपने को श्रेष्ठ मानता है तब तो उसका दायित्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि जो श्रेष्ठ पुरुष करते हैं सामान्य मनुष्य उसी का अनुकरण किया करते हैं। अर्जुन जैसा विशिष्ट व्यक्ति कर्म छोड़ देगा तो सभी कहेंगे कि हमें कर्म करने की क्या आवश्यकता है? श्रीकृष्ण स्वयं अपना उदाहरण देकर कहते हैं कि उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं करना है, वे कृतकृत्य हो चुके हैं, फिर भी वे कर्म कर रहे हैं क्योंकि यदि वे कर्म छोड़ देंगे तो सभी मनुष्य उनका अनुकरण करते हुए वैसा ही करेंगे । परिणाम यह होगा कि समाज छिन्न–भिन्न हो जाएगा। इसका दायित्व श्रीकृष्ण पर ही आ जाएगा।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्म्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

श्रीकृष्ण तो परमात्मा का ही अवतार हैं। उपर्युक्त श्लोकों का यह अर्थ भी समझना चाहिए कि ईश्वर निरन्तर जगत् के सञ्चालन का कार्य कर रहा है। उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। मुझे क्या लेना–देना है – ऐसा सोच कर

यदि ईश्वर जगत् का नियमन करना छोड़ दे तो संसार की क्या दुर्दशा होगी? फलितार्थ यह है कि कर्म स्वार्थ के लिए नहीं प्रत्युत परोपकार के लिए करने चाहिए। इस प्रकार कर्म बन्धनकारी नहीं होते।

एक ज्ञानी व्यक्ति की स्थिति पर विचार करें। उसे किसी कर्म से कोई प्रयोजन नहीं। उसके पूर्वकृत कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिन्होंने अपना फल देना प्रारम्भ नहीं किया है – ऐसे कर्म सञ्चित कर्म कहलाते हैं। किन्तु उसके कुछ कर्मों ने अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है – ऐसे कर्म प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। ज्ञान से सञ्चित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं होते, वे तो अपना फल देते ही हैं। अतः ज्ञानी को भी प्रारब्ध कर्म में तो प्रवृत्त होना ही पड़ता है – ऐसा शङ्कराचार्य भी मानते हैं। फिर यदि वह ज्ञानी कर्मों को छोड़ना चाहे तो वह उसका केवल दुराग्रह ही होगा। ज्ञानी ऐसा दुराग्रह नहीं करता । इसीलिए तो स्वयं शङ्कराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा, बौद्धों से शास्त्रार्थ किया और देश के चारों कोनों में मठों की स्थापना की। ३२ वर्ष की अल्पायु में इतना कार्य कर देना कर्मठ व्यक्ति के लिए ही सम्भव है।

हमने ऊपर कहा है कि ईश्वर ही संसार का सञ्चालन करता है। प्रश्न होता है कि फिर ईश्वर संसार में सबको सुखी क्यों नहीं बना देता। उत्तर यह है कि हम जीव जो अपराध करते हैं उससे प्रकृति कुपित हो जाती है और प्रकृति के कुपित होने पर प्रकृति का अधिष्ठाता ईश्वर हमें दण्डित करता है। आज मनुष्य के अपराध के कारण ओजोन की परत में छिद्र हो रहा है। उससे हमारे वातावरण में विष फैलेगा। फलस्वरूप रोग बढ़ेंगे। यही ईश्वर का प्रकोप है। इसका दायित्व ईश्वर पर नहीं प्रत्युत हमारे स्वयं के पापों पर है। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि ईश्वर की बड़ी कृपा है कि वह पापियों को दण्डित करता है, अन्यथा अनाचार और भी अधिक बढ़ जाएँ। कल्पना करें कि न्यायाधीश चोरों को दण्ड न दे तो क्या समाज में अनाचार और भी अधिक न बढ़ जाएगा ?

अन्यायी को दण्ड

अर्जुन शासक वर्ग का क्षत्रिय है। यह युद्ध करके अन्यायी कौरव वर्ग को दण्डित नहीं करना चाहता। क्या उसके ऐसा करने से अन्यायी वर्ग का हौसला और अधिक नहीं बढ़ जाएगा? यही समाज के अस्त–व्यस्त होने का कारण बन जाएगा। यह लोकसंग्रह का भाव न हुआ। लोकसंग्रह के भाव में क्योंकि स्वार्थ नहीं रहता, अतः लोकसंग्रह के भाव से किया गया कर्म तनाव पैदा नहीं करता। जो स्वार्थ भाव से कर्म करते हैं वे तो सदा तनाव में रहते ही हैं, जो परमार्थ भाव में भी यशोलिप्सा का भाव रखते हैं वे भी तनाव में ही रहते हैं। यह तनाव ही कर्मों को बन्धन युक्त कर देता है। जहाँ न स्वार्थ है, न यशोलिप्सा; केवल शुद्धलोकसंग्रह का भाव है, वहाँ न तनाव है, न बन्धन।

लोकसंग्रह के लिए एक आवश्यक शर्त और है। ज्ञानी की स्थिति ऊँची है। उसके कर्म में कुशलता रहती है। सभी उतने कर्मकुशल नहीं हो सकते। तब क्या ज्ञानी उन अज्ञानियों को हेय बुद्धि से देखते हुए यह कहे कि तुम्हें कुछ नहीं आता, तुम तो कुछ न करो तो ही ठीक है क्योंकि तुम ठीक से तो कुछ कर नहीं सकते हो। ऐसा कहने पर अज्ञानी कर्म से विरत हो जाएँगे। कुछ न करने से कुछ करना ठीक है – **अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः**। अतः जैसे छोटे बालक को टेढ़े–मेढ़े अक्षर लिखने पर भी अध्यापक शाबाशी देकर प्रोत्साहित ही करता है और धीरे–धीरे उसके अक्षरों को सुधार भी देता है, वैसे ही ज्ञानी को चाहिये कि प्रोत्साहित करते हुए शनैः–शनैः अज्ञानी को सुधार दे, न कि उसे हतोत्साहित करे।

सभी सम्प्रदाय आदरणीय

सम्प्रदाय के क्षेत्र में एक और समस्या है। सभी को अपना सम्प्रदाय अच्छा और दूसरे का सम्प्रदाय अज्ञानपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। यह साम्प्रदायिक कलह का कारण बनता है। अपने सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा रखना तो ठीक है किन्तु दूसरे के सम्प्रदाय की निन्दा करना भी लोक–संग्रह में बाधक है। भगवान् शङ्कराभिमत अद्वैतवाद, भगवान् रामानुजाभिमत विशिष्टाद्वैतवाद, भगवान् वल्लभाचार्याभिमत शुद्धाद्वैतवाद, भगवान् निम्बार्काचार्यभिमत द्वैताद्वैतवाद, भगवान् माध्वाचार्याभिमत द्वैतवाद सभी अपने–अपने स्थान में प्रतिष्ठित रहते हुए सर्वथा शास्त्रसिद्ध एवं आदरणीय हैं। अतः एक–दूसरे की निन्दा करना ठीक नहीं।

इसी प्रकार वर्णधर्म के आधार पर सबका कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न है। ब्राह्मण वेद-पाठ करता है तो क्या इस आधार पर उसे सफाई करने वाले मजदूर को हेय दृष्टि से देखना चाहिए ? ऐसा करने पर लोकसंग्रह का विधाता ही होगा। इसी प्रकार संन्यासी को भी गृहस्थ को हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। सभी अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार अनासक्त भाव से अपना-अपना कर्म करते हुए आदरणीय हैं। यही समानता का अर्थ है।

ऊँच-नीच का भाव पैदा करना लोकसंग्रह की भावना के विरुद्ध है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अविद्वान् जिस प्रकार कर्म आसक्त भाव से करते हैं, विद्वान् भी उसी प्रकार कर्म अनासक्त भाव से करें और कर्म में लगे हुए अज्ञानियों को अपने मार्ग से विचलित न करें, प्रत्युत उनकी निन्दा किए बिना ही उनके दोषों को प्रेमपूर्वक दूर करें –

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।।

प्रायः यह कहा जाता है कि भारतीय चिन्तन में सामाजिक दृष्टि का अभाव है और यह दृष्टि हमने पश्चिम से सीखी है अथवा सीखनी है। वस्तुस्थिति यह है कि हमारी सामाजिक दृष्टि पश्चिम की दृष्टि से विशिष्ट है। लोकसंग्रह विशुद्ध सामाजिक दृष्टि है किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इस सामाजिक दृष्टि में स्वार्थ अथवा यशोलिप्सा का सर्वथा अभाव है। पश्चिम के अनुकरण पर जो समाजसेवी संस्थाएँ बनी हैं उनमें पदलिप्सा, यशोलिप्सा तथा आत्मविज्ञापन की भावना पदे-पदे नजर आती है। परिणामस्वरूप उन संस्थाओं के द्वारा समाजसेवा कम होती है और पारस्परिक कलह अधिक पनपता है। गीता के लोकसंग्रह की भावना इन दोषों से मुक्त है। यहाँ तो लोकसंग्रह को क्रमशः स्वार्थ तथा परार्थ दोनों से ऊपर उठकर परमार्थ तक पहुँचने की सीढ़ी बतलाया जा रहा है। समाज सेवा के क्षेत्र में यह गीता का विशिष्ट योगदान है।

मूल तथा अनुवाद

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

(वस्तुतः) सम्पूर्ण कर्म सभी प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पन्न होते हैं। (किन्तु) अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति मानता है कि कर्त्ता मैं हूँ ।।२७।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।२८।।

हे महाबाहो ! गुण और कर्म के विभागों के तत्त्व को जानने वाला यह समझ कर आसक्त नहीं होता कि (प्रकृति के) गुण गुणों में ही क्रिया करते हैं ।।२८।।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृतस्नविदो मन्दान्कृतस्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

प्रकृति के गुणों से सम्मोहित व्यक्ति गुणों की क्रियाओं में लिप्त रहते हैं। ऐसे अल्पज्ञ मन्द व्यक्तियों को पूर्णज्ञानी विचलित न करें।।२९।।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥३०॥

अध्यात्म में चित्त को लगा कर सम्पूर्ण कर्मों को मुझ परमात्मा में अर्पित करके सब आशाओं और ममत्व को छोड़ कर बिना किसी परेशानी के तुम युद्ध करो ॥३०॥

विपुल-भाष्य

कर्म का स्वरूप

प्रसङ्ग चल रहा है कि कर्म बन्धन का कारण कैसे न बनें ? सर्वहुत यज्ञ अर्थात् परमात्मा के प्रति अर्पित किए गए कर्म अथवा आत्मदानि यज्ञ अर्थात् आत्मा के प्रति अर्पित किए गए कर्म अथवा लोकसंग्रह के लिए किए गए कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते – यह प्रतिपादित किया जा चुका है। अब यह प्रतिपादित किया जाना है कि आखिर कर्म बन्धन का कारण बनते क्यों हैं ? यदि यह जान लिया जाए तो कर्मों के बन्धन से बचा जा सकता है।

संक्षेप में उत्तर यह है कि अज्ञान के कारण कर्म बन्धन का कारण बनते हैं। यह कौन–सा अज्ञान है कि जिसके कारण कर्म बन्धन का कारण बनते हैं – इसका उत्तर गीता इस प्रकार देती है –

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञानी गुण और कर्म के विभाग को जानता है और यह मानता है कि गुण ही गुणों में प्रवृत्त हो रहे हैं। अतः वह कर्म में आसक्त नहीं होता –

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

तीन प्रकार के वीर्य

यह बात सर्वसम्मत है कि कोई भी कर्म करने के लिए ऊर्जा चाहिए। ऊर्जा का शास्त्रीय नाम वीर्य है। यह वीर्य तीन प्रकार का है – ब्रह्मवीर्य अर्थात् मन की ज्ञानशक्ति, क्षत्रवीर्य अर्थात् प्राण की क्रियाशक्ति और विट्वीर्य अर्थात् वाक् की अर्थशक्ति। इन तीन शक्तियों से होने वाला कर्म वीर्यकर्म कहलाता है। यही शक्तियाँ जब वाणी, बुद्धि और शरीर का सहारा लेती हैं तो आरम्भकर्म बनता है। इस आरम्भकर्म द्वारा वीर्यकर्म सक्रिय बनता है, वही विसर्ग कर्म है, इसी विसर्ग कर्म से पदार्थों का आदान–प्रदान होता है जिसे यज्ञकर्म कहा जाता है। इसी आदान–प्रदानात्मक कर्म पर समाज की स्थिति टिकी है। इसीलिए यज्ञ को प्रथम धर्म कहा जाता है – **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।**

इन सभी कर्मों का मूल आत्मकर्म है। आत्मा के तीन घटक हैं – मन, प्राण और वाक्। मन की कामना, प्राण का तप तथा वाक् का श्रम मिल कर आत्मकर्म बनता है। इन तीन के बिना कोई कर्म बन ही नहीं सकता। कर्म से जो संस्कार मन पर बनते हैं उन्हें संस्कार कर्म कहा जाता है।

सभी कर्म प्रकृति पर टिके हैं। पुरुष इन कर्मों को नहीं करता, वह तो केवल इनका दृष्टा है। वह केवल जानता है किन्तु जीवात्मा अज्ञानवश इन कर्मों का अपने को कर्त्ता मान लेते हैं। यही अहङ्कार है, यही अज्ञान है। यही आसक्ति का कारण बनता है। यही आसक्ति बन्धन का कारण है। यदि हमें यह ज्ञान हो जाए कि हम इन कर्मों के कर्त्ता नहीं हैं, तो आसक्ति नहीं होगी और बन्धन भी नहीं होगा।

वस्तुस्थिति यह है कि पुरुष और प्रकृति का अनादि सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण पुरुष के भी प्रकृति के तीन गुणों के कारण तीन विवर्त्त बन जाते हैं – सत्त्व प्रधान ईश्वर है, रजोगुण प्रधान जीव है तथा तमोगुण प्रधान जगत् है। जीव के एक ओर ईश्वर है, दूसरी ओर जगत् तथा मध्य में स्वयं जीव है। ईश्वर में सिसृक्षा भी है और मुमुक्षा

भी किन्तु बुभुक्षा नहीं है। यदि जीव ईश्वर की ओर झुका रहे तो उसमें कर्मों द्वारा सिसृक्षा और मुमुक्षा तो होगी किन्तु बुभुक्षा नहीं; किन्तु यदि वह जगत् की ओर झुक जाए तो उसमें बुभुक्षा उत्पन्न हो जाएगी। यह बुभुक्षा ही आसक्ति है, यही बन्धन है।

काम (इच्छा) द्वारा नवीन पदार्थ उत्पन्न करने की इच्छा सिसृक्षा है और उत्पन्न पदार्थ को छोड़ने की इच्छा मुमुक्षा है किन्तु उस पदार्थ को भोगने की इच्छा करना बुभुक्षा है। ईश्वर में काम (इच्छा) है; उसी से प्रेरित होकर वह प्रकृति द्वारा कर्म कराता है और उन कर्मों द्वारा सृष्टि तथा प्रलय होती रहती है किन्तु ईश्वर उस सृष्टि का भोग नहीं करता, अतः वे कर्म उसे बाँधते नहीं हैं।

स्व–स्वरूप निर्गुण ईश्वर

प्रकृति कर्म करती है किन्तु ईश्वर की इच्छा से। ईश्वर स्व–स्वरूप से निर्गुण है किन्तु प्रकृति के साहचर्य से वही सगुण भी है। एक उदाहरण लें। न्यायाधीश ने हत्यारे को प्राणदण्ड दिया। वधिक ने न्यायाधीश की आज्ञानुसार उस हत्यारे को फाँसी पर चढ़ा दिया। इच्छा न्यायाधीश ने की, फाँसी पर चढ़ाने का कार्य वधिक (जल्लाद) ने किया। इस कर्म का दोष किसे लगेगा? किसी को भी नहीं, न न्यायाधीश को, न बधिक को। एक की इच्छा है तभी तो वह आदेश देता है, दूसरा उस आदेश का पालन करते हुए कर्म करता है। न्यायाधीश की इच्छा है किन्तु उस इच्छा में बुभुक्षा भाव नहीं है, वधिक कर्म करता है किन्तु उस वधिक में भी बुभुक्षा नहीं है। दोनों ही समाज–व्यवस्था के लिए न्याय की स्थापना में निमित्त मात्र बनते हैं। अतः हत्यारे को फाँसी देने के कर्म का बन्धन उन दोनों को ही नहीं होता। दूसरी ओर हम एक अज्ञानी की स्थिति लें। वह स्वयं ही इच्छा करता है और स्वयं ही कर्म भी। इतना ही हो तो भी कोई हानि नहीं। हानि इसमें है कि उसकी इच्छा और कर्म केवल सिसृक्षा अथवा मुमुक्षा से प्रेरित नहीं होते अपितु उसमें बुभुक्षा भी रहती है। यही बन्धन का कारण बनता है।

हमने ऊपर कहा कि जीव ईश्वर तथा जगत् के मध्यवर्ती है। जीव का ईश्वरोन्मुख अंश प्रत्यगात्मा है तथा जगदुन्मुख अंश शारीरक आत्मा। इन दोनों के बीच बुद्धि है। यही प्रकृति है। दूसरी ओर शारीरक आत्मा तथा इन्द्रियों के बीच मन है। यही विकृति है। प्रकृति प्राणप्रधान तथा आत्मानुगत है। विकृति अर्थप्रधान तथा विषयानुगत है। आत्मा त्रिगुणात्मक प्रकृति से भी परे है – **यो बुद्धेः परतस्तु सः**। जब तक कर्मों को प्राकृतिक बुद्धि सञ्चालित करती है हमारे कर्म लिप्त नहीं करते किन्तु जब हम बुद्धि का उल्लंघन करके वैकृतिक मन के वश में आकर इन्द्रियों द्वारा विषयों में आसक्त हो जाते हैं तो हम बन्धन में आ जाते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि हमारे कर्मों में हमारी इच्छा नहीं चलती है। हम सोना चाहते हैं किन्तु नींद नहीं आती; हम सोना नहीं चाहते किन्तु नींद बलात् आ जाती है। फिर हम कैसे कह सकते हैं कि हमारे कर्म हमारी इच्छा से हो रहे हैं? यह इच्छा प्रत्यगात्मा की है और उस प्रत्यगात्मा की इच्छा से कर्म प्रकृति में हो रहा है। जब इच्छा भी हमारी नहीं और कर्म भी हमारा नहीं फिर उस कर्म को अपना मान लेने का ही यह फल है कि हमारी कर्म के प्रति आसक्ति हो जाती है। हम प्रत्यगात्मा की इच्छा प्रकृति से चलने वाले कर्मों में अपने मन का समावेश कर देते हैं। यह मन की इच्छा ही राग-द्वेष है।

राग-द्वेष के वशीभूत होकर जीव यह मानने लगता है कि मैंने इच्छा की और मेरे कर्म द्वारा वह इच्छा पूरी हो गई और अथवा पूरी नहीं हुई। इच्छा पूरी हो गई तो अहङ्कार, इच्छा पूरी नहीं हुई तो दैन्य भाव। इन दो भावों के मध्य जीव सुख–दुःख के द्वंद्व में फँसा रहता है।

प्रकृति में कारण-कार्य भाव है । प्रकृति कारण है, विकृति कार्य है। पुरुष न प्रकृति है, न विकृति; न कारण है न कार्य। ऐसे भी अपने को कर्मों का कर्त्ता मान लेना ही अज्ञान का मूल है। जैसे ही यह ज्ञान होता है कि कर्त्ता मैं नहीं, वैसे ही आत्मा प्रकृतिस्थ होता हुआ, विकृति रूप मन से मुक्त हो जाता है; मन की इच्छा हटी तो ईश्वरेच्छा प्रवृत्त होने लगती है और ईश्वरेच्छा से कभी असत्प्रवृत्ति होती ही नहीं।

गीता के शब्दों को भी समझना आवश्यक है। ''गुण गुणों में प्रतिष्ठित है''– इसका यह अर्थ है कि विकार रूप गुण, अपने प्रकृति रूप गुण अर्थात् अक्षर में प्रतिष्ठित है। अक्षर कारण है, क्षर कार्य है। पुरुष न कारण है, न कार्य। यही पुरुष की निर्लिप्तता है।

पुरुष की निर्लिप्तता ही उसे कृत्स्न अर्थात् परिपूर्ण बनाती है; प्रकृति की लिपायमानता ही प्रकृति को अकृत्स्न अर्थात् अपूर्ण बनाती है। प्रकृति की अपूर्णता को अपनी अपूर्णता समझना आसान है और हममें से अधिकतर तो इसी अज्ञान में फँसते हैं। हममें कितने ऐसे हैं जो अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थिति में पुरुष की पूर्णता को ध्यान में रखकर अविचलित रह सकें ?

अनन्य निष्ठा से शरणगति

प्रश्न होता है कि यदि अधिकांश लोग अज्ञानी हैं और अज्ञान बन्धन का कारण है तो फिर अधिकांश लोग तो बन्धन में ही रहेंगे या उनके लिए भी कोई उपाय है? गीता कहती है कि ज्ञानी अज्ञानियों को विचलित न करें। प्रकृति के गुणों को न समझने से अज्ञानी कर्मों में लिप्त हो जाते हैं –

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

वस्तुस्थिति यह है कि गीता के प्रारम्भ में तो स्वयं अर्जुन अज्ञान की ही स्थिति में है। यदि अर्जुन को उपर्युक्त ज्ञान होता, वह भ्रम में पड़ता ही नहीं और उसे सम्बोधित करने की श्रीकृष्ण को आवश्यकता ही न होती। अर्जुन ने यह सब तत्त्व ज्ञान सुन लिया। हमने भी इसे सुना ही है। किन्तु अज्ञान बहुत बलवान् है। अवसर आने पर सुना हुआ ज्ञान काम नहीं आता। यह हम सबका अनुभव है। ज्ञान यथार्थ है किन्तु यदि वह अवसर पर काम न आए तो फिर वह निरर्थक सिद्ध हुआ। ऐसी स्थिति में ईश्वर–प्रपत्ति ही शरण बनती है। अर्जुन अज्ञान में फँसा है किन्तु एक आशा की किरण है कि श्रीकृष्ण में उसकी अनन्य निष्ठा है। तब ही तो वह श्रीकृष्ण का शिष्यत्व स्वीकार कर रहा है – **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** शरणागति का भाव ही उसका उद्धार कर देगा। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं –

पूरे मन से अपने सारे कर्म मुझ पर छोड़कर बिना किसी आसक्ति के ममत्व को छोड़कर चिन्तारहित भाव से युद्ध कर –

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

यह शरणागति का भाव है। जो हमारा उपास्य है उस पर समस्त कर्म का भार सौंप दें। किसी फल की आशा न रखें, ममता भी न रखें। यदि उपास्य को माना और अपना अहंभाव रखा तो फिर उपासना पूरी न हुई, खण्डित हुई। अखण्ड उपासना में अहं नहीं रहता। यह उद्धार का मार्ग है।

गीता में जहाँ श्रीकृष्ण ने उत्तम पुरुष का प्रयोग किया है वहाँ ''मैं'' का अर्थ श्रीकृष्ण तो है किन्तु साथ ही ''मैं'' का अर्थ प्रत्यागात्मा अथवा अव्यय पुरुष भी है। कोई उपास्य के प्रति समर्पण न कर सके तो आत्मा के प्रति ही समर्पण कर दे। प्रत्यगात्मा न कर्त्ता है, न भोक्ता। मनुष्य स्वाभाविक कर्म करे, अपने मन की इच्छा को उसमें न मिलाए। यही आत्मा के प्रति समर्पण का अर्थ है।

अर्जुन क्षत्रिय है। धर्मयुद्ध उसका स्वाभाविक कर्म है। स्वाभाविक कर्म के करने में समाज का भी भला है, अपना भी भला है। रहा प्रश्न बन्धन का, सो ''मैं करूँगा'' यह अहङ्कार छोड़ दिया जाए और ''मुझे फल मिलेगा'' यह ममता छोड़ दी जाए तो फिर बन्धन नहीं होता। यही एकमात्र विकल्प है; कर्म छोड़ देना कोई उपाय नहीं है। अतः अर्जुन को युद्ध करना चाहिए । यही इस उपदेश का निष्कर्ष है।

मूल तथा अनुवाद

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो श्रद्धावान् ईर्ष्या रहित व्यक्ति मेरे इस मार्ग का सदा अनुसरण करते हैं वे भी सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त हो जाते हैं ॥३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परन्तु जो मनुष्य ईर्ष्यापूर्वक मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते उन मूर्खों को जिनका सारा ज्ञान भ्रमित हो गया है, नष्ट हुआ समझो ॥३२॥

विपुल-भाष्य

श्रद्धा का महत्त्व

गीता में श्रीकृष्ण ने अनेकानेक वक्तव्य दिए। पुनर्जन्म की चर्चा की, कर्मफल की बात कही, कर्म करने पर भी कर्म से बद्ध न होने का उपाय बताया। संक्षेप में ज्ञान, कर्म तथा बुद्धियोग की व्याख्या की। प्रश्न होता है कि इन सब वक्तव्यों की सत्यता का प्रमाण क्या है? क्या पुनर्जन्म प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है? यदि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा पुनर्जन्म सिद्ध हो सकता होता तो कोई नास्तिक होता ही नहीं। पाणिनी ने नास्तिक की यही परिभाषा की है कि जो पुनर्जन्म को न माने वह नास्तिक, जो माने कि इस जन्म के कर्म जन्मान्तर में भी फल देते हैं वह आस्तिक – अस्ति नास्ति दिष्टं मतिर्यस्य। तो पुनर्जन्म को कैसे सिद्ध किया जाए? पुनर्जन्म के पक्ष में हम जो भी युक्ति देंगे, नास्तिक उसके प्रतिपक्ष में अवश्य युक्ति प्रस्तुत कर देगा क्योंकि प्रत्येक तर्क का प्रति–तर्क अवश्य होता है। अतः आस्तिक भाव के लिए श्रद्धा ही एकमात्र साधन बच जाता है।

मनु ने कहा कि वेद से वे सत्य जाने जाते हैं जिन सत्यों को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा नहीं माना जा सकता –

प्रत्यक्षेणामित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

इसलिए सभी आस्तिकों को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के अतिरिक्त आगम–प्रमाण भी मानना पड़ता है। साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि आगम–प्रमाण में अनुमान की तो बात ही क्या, प्रत्यक्ष–प्रमाण का भी दखल नहीं है। प्रश्न होता है कि ऐसे में अनुमान प्रमाण अर्थात् तर्क का क्या महत्व है। उत्तर यह है कि तर्क का उपयोग वेद की रक्षा करने के लिए है, न कि वेद का खण्डन करने के लिए – श्रुतिमतस्कर्तोऽनुसन्धीयताम्। वेद का मण्डन करे तो वह तर्क तो स्तुत्य है किन्तु वेद का खण्डन करे सो तर्क निन्दनीय है क्योंकि वह हमारी श्रद्धा को ही काट देता है –

योऽवमन्येत तौ मूलौ हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

ऐसे वक्तव्यों से यह लग सकता है कि वैदिक धर्म बुद्धि–विरुद्ध है, वह हमें अन्धविश्वास की ओर धकेलता है। किन्तु अन्धविश्वास तथा श्रद्धा में अन्तर है।

यह अन्धविश्वास नहीं है कि अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है तथा बुरे कर्म का बुरा फल होता है। यदि हमारा यह विश्वास ही डिग जाए तो हमारा जीवन बिना पतवार की नौका के समान संसार–सागर में भटक जाएगा। इस विश्वास के बिना तो समाज भी विशृङ्खलित हो जाएगा। आज यही हो रहा है। हम देखते हैं कि भ्रष्ट उपायों से

धनोपार्जन करने वाले फल–फूल रहे हैं और ईमानदारों के लिए दाल–रोटी का गुजारा करना भी दुष्वार हो चला है। ऐसे में सहज हीं ईमानदार व्यक्ति का विश्वास डोल जाता है। लगता है कि धर्मशास्त्र ढकोसला है। अधर्माचरण से अनिष्ट होना तो दूर, प्रत्युत अधर्मी पुरस्कृत हो रहे हैं। उन्हें पैसा ही नहीं, पद और प्रतिष्ठा भी मिल रही है। फिर धर्माचरण क्यों किया जाए? यह स्थिति कोई नई नहीं है। मनु ने इस स्थिति को देख लिया था और यह घोषणा की थी कि ठीक है कि अधर्म से मनुष्य उन्नति करता है, सारे सुख–वैभव भोगता है और अपने प्रतिस्पर्द्धियों से आगे भी निकल जाता है किन्तु वह समूल–जड़ से नष्ट हो जाता है—

अधर्मणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
सपत्नाञ्जयते सर्वान् समूलस्तु विश्यति।।

बहुत कठिन है, उस मूल को देख पाना जो अधर्माचरण से नष्ट हो जाता है। अर्थ से शरीर और काम से मन पुष्ट और तुष्ट हो जाते हैं किन्तु अधर्मपूर्वक अर्जित अर्थ–काम अन्तरात्मा की शान्ति भङ्ग कर देते हैं। जहाँ शान्ति नहीं है वहाँ संसार का समस्त वैभव भी सुख नहीं दे सकता – अशान्तस्य कुतः सुखम् ? इसलिए व्यास ने तो धर्म के बिना अर्थ और काम की सिद्धि मानी ही नहीं। उनका कहना है कि मैं दोनों भुजाएँ उठा कर कह रहा हूँ किन्तु मेरी बात कोई सुनता ही नहीं है; धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है, फिर धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता?–

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते।।

दो मनीषियों के दो विरोधाभासी स्वर हैं; मनु कह रहे हैं अधर्म से सब सुख वैभव मिलता है, व्यास कह रहे हैं अर्थ–काम की सिद्धि धर्म से ही होती है।

समझना होगा कि श्री और लक्ष्मी में अन्तर है। श्री व्यक्ति के व्यक्तित्व में निखार लाती है, जबकि लक्ष्मी के लक्ष्म (चिह्न) हैं जमीन–जायदाद, धन–दौलत और आभूषण। यह हो सकता है कि ये सब हों किन्तु व्यक्तित्व दीन–हीन हो। करोड़ों का बैंक बैलेंस है, किन्तु शरीर व्याधियों का मन्दिर बना है और मुख मलिन है। यह लक्ष्मीपति का रूप है। श्रीमान् के पास सम्पत्ति उतनी ही है जितने से उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ किन्तु शरीर कान्ति से देदीप्यमान है। अधर्म से व्यक्ति लक्ष्मीपति बन सकता है, किन्तु श्रीमान् धर्माचरण से ही बन पाता है। जब किसी करोड़पति के अधर्माचरण का भण्डा फूटता है तो न्यायालय में जाते समय अपना मुख भी वह कपड़े से ढक लेता है। श्रीहीन मुख दिखाने में भी उसे लज्जा आती है। यह अधर्माचरण से प्राप्त सुख का स्वरूप है। इसे ही मनु ने जड़ का सूख जाना कहा है। हम यह सब देख रहे हैं किन्तु फिर भी यदि अधर्माचरण से लाभ होता दिखाई दे तो मन फिसल ही जाता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि हम में श्रद्धा का अभाव है।

श्रीकृष्ण कहते हैं जो मनुष्य मेरे मत का नित्य श्रद्धायुक्त तथा अनसूयापूर्वक पालन करते हैं वे भी कर्म बन्धन से छूट जाते हैं और जो अनसूयापूर्वक मेरे मत का पालन नहीं करते वे ज्ञान से विमूढ़ होकर मूर्च्छा में रहते हुए नष्ट ही हो जाते हैं –

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः।।

ज्ञानियों का मत है कि कर्म छोड़ देना चाहिए। गीता में इसे सांख्य मत कहा गया है। कर्मवादियों का कहना है कि जब तक जीवन है, कर्म करते ही रहना चाहिए। यह पूर्व मीमांसकों का मत है। इन दोनों ही मतों के समर्थन में श्रुति प्राप्त हो जाती है। श्रीकृष्ण का मत है कि कर्म तो करने चाहिए, किन्तु फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए,

यही बुद्धियोग है। सांख्यमत कपिल का है, कर्म-मार्ग हिरण्यगर्भ का है, बुद्धियोग गीता का। इस बुद्धियोग में कर्म और ज्ञान दोनों का समन्वय हो जाता है। इसी बात को गीता ने इस रूप में कहा है कि अल्पज्ञानी सांख्य और (कर्म) योग को अलग-अलग बताते हैं – बुद्धिमान् लोग नहीं – सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। यही भगवान् के मत का वैशिष्ट्य है, जिसके सम्बन्ध में वे कह रहे हैं कि साधक को उस मत में श्रद्धा रखनी चाहिए। यद्यपि इस मत का प्रतिपादन श्रीकृष्ण ने पहले युक्ति-पूर्वक कर दिया है तथापि कोई भी प्रखर तार्किक उनके मत के विरुद्ध तर्क दे सकता है। गीता की निवृति-परक व्याख्या करने वाले संन्यासी भाष्यकार कर्म को बन्धन का मार्ग बतलाकर कर्म त्याग का प्रतिपादन करते ही रहे हैं। उनकी अपनी युक्तियाँ हैं। वस्तुतःतर्क से कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता। इसीलिए व्यास ने ब्रह्मसूत्र में कहा है – तर्कोऽप्रतिष्ठानात्।

श्रद्धा अपने से बड़े के प्रति होती है। गुरु और शास्त्र हमसे ऊपर हैं उनके प्रति श्रद्धा का अर्थ है कि वहाँ तर्क का उपयोग उनके समर्थन में ही किया जाए। किन्तु बार-बार हमारा मन कुतर्क करता है और हम श्रद्धा से विचलित हो जाते हैं। इसीलिए तो हमारी यह स्थिति बनती है कि हम धर्म का स्वरूप जानते हुए भी धर्म का आचरण नहीं कर पाते और अधर्म को हेय समझने पर भी अधर्म से हट नहीं पाते।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृतिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।।

ऐसे में मन की श्रद्धा को स्थिर बनाने के लिए बुद्धि का सहयोग आवश्यक है। तभी धर्म का अनुष्ठान नित्य हो सकता है। एक तीसरी आवश्यकता अनसूया की है। अनसूया का अर्थ है गुणी के गुणों को छिपाना नहीं प्रत्युत उसके थोड़े गुणों को भी बहुत मानना और उसके दोषों का मजाक न उड़ाना –

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
न हसेच्चान्यदोषांश्च सानसूया प्रकीर्त्तिता।।

शास्त्रों में दोष देखना चाहें तो दोष ही दोष दिखलाई देंगे। कुछ व्यक्तियों ने यही दृष्टि अपनाई है। उन्होंने शास्त्रों के प्रति श्रद्धा का उन्मूलन कर दिया, किन्तु जिस बुद्धिवाद को प्रतिष्ठित करना चाहा वह बुद्धिवाद प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। आज का तर्कवाद मनुष्य को ऐसे ही व्यामोह की ओर धकेल रहा है। मनुष्य का कर्म-बन्धन सचमुच दृढ़तर होता जा रहा है। निष्काम कर्मयोग के समर्थन में तर्क नहीं है ऐसा नहीं है। वह अन्धविश्वास का विषय नहीं है। किन्तु उसके समर्थन में शुष्क तर्क समर्थ नहीं है। उसके समर्थन का अकाट्य प्रमाण तो श्रद्धापूर्वक उसका अनुष्ठान ही है। जो ईर्ष्यावश शास्त्र में दोष निकालते हैं और शास्त्रानुकूल व्यवहार नहीं करते वे समझते हैं कि वे सर्वज्ञान-सम्पन्न हैं। कोई भौतिकी का विद्वान् है, कोई वाणिज्य में निपुण है, कोई विश्वविश्रुत राजनेता है। उनके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। उन्होंने अपने ज्ञान के बल पर पद प्रतिष्ठा भी पाई है और सुख ऐश्वर्य भी। किन्तु उनकी चेतना समाप्त हो गई है। ऐसे व्यक्तियों को नष्ट ही समझना चाहिए। गीता के इस वक्तव्य को हम ऐसे व्यक्तियों के जीवन में साक्षात् देख सकते हैं जो प्रसिद्धि पाने पर शास्त्र विमुख हैं। उनमें से किसी पर भ्रष्टाचार का अभियोग लगा है, कोई चिन्तातुर होकर अनिद्रा जैसे रोग से ग्रस्त है और किसी की हीन भावना इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह या तो आत्महत्या कर लेता है अथवा आतंककारी बनकर निरपराधों की हत्या में ही रस लेने लगता है। यही उनके नाश का स्वरूप है।

मूल तथा अनुवाद

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः. किं करिष्यति।।३३।।

सभी प्राणि प्रकृति का अनुसरण करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है। (ऐसे में) बलपूर्वक रोकने से क्या होगा ? ।।३३।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

प्रत्येक इन्द्रिय के विषय के पीछे राग-द्वेष रहते हैं, इन दोनों के वश में नहीं आना चाहिये। क्योंकि वे ही मनुष्य के शत्रु हैं ॥३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

स्वधर्म गुणहीन भी हो तो भी अच्छी प्रकार अनुष्ठित होने पर भी परधर्म से अच्छा है। स्वधर्म में मृत्यु भी अच्छी है, परधर्म भयावह है ॥३५॥

विपुल-भाष्य
धर्म-पुरुषार्थ

प्रश्न होता है कि शास्त्रों का उपदेश हमारे सम्मुख है और अन्तरात्मा की आवाज भी हमें बुरा काम करने से रोकती है, फिर भी हम बुरा कार्य क्यों करते हैं? उत्तर यह है कि मनुष्य कितना भी ज्ञानवान् क्यों न हो वह अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है। सभी प्राणी प्रकृति के वश में हैं वे हठपूर्वक अपने को संयमित करना चाहें तो कर नहीं पाएँगे –

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।

यहाँ भाग्य और पुरुषार्थ के बीच द्वन्द्व उपस्थित होता है। मनुष्य अपनी प्रकृति के अधीन है। प्रकृति उसे जिधर ले जाएगी उधर ही वह जाएगा – यह एक स्थिति है। इस पर तो ऐसा लगता है कि शास्त्र का उपदेश व्यर्थ है किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। पुरुषार्थ का भी अपना स्थान है। विद्वान् व्यक्ति पौरुष के द्वारा भाग्य को जीत लेता है।

प्रकृति और पुरुषार्थ में द्वन्द्व

हन्यते दुर्बलं् दैवं पौरुषेण विपश्चिता – अभिप्राय यह है कि प्रकृति और पुरुषार्थ में द्वन्द्व चलता है। हमें प्रकृति को अपने ऊपर हावी नहीं होने देना है और शास्त्र के उपदेशानुसार चलने का पुरुषार्थ करना है। मूल बात यह है कि मनुष्य अपने को बदल सकता है – यही उसकी स्वतंत्रता है। शास्त्र का उपदेश उसे उसकी स्वतंत्रता का स्मरण कराता है। यह सत्य है कि सामान्यतः प्रकृति को एकदम नहीं जीता जा सकता किन्तु अभ्यास से शनैः-शनैः प्रकृति को भी बदला जा सकता है। जो यह मानकर चलते हैं कि वे प्रकृति को तत्काल जीत लेंगे, उन्हें विफलता का सामना करना पड़ता है और वे निराश हो जाते हैं। इसके विपरीत जो यह मानते हैं कि प्रकृति को जीता ही नहीं जा सकता, वे राग-द्वेष के बंधन से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। अतः दीर्घकाल तक निरन्तर पुरुषार्थ करना चाहिए।

मूल प्रकृति का प्रथम परिणाम महत् है। इसके तीन कार्य हैं – आकृति बनाना, प्रकृति बनाना और अहंकृति बनाना। हम पुरुषार्थ के द्वारा महत् के इन तीनों ही कार्यों में परिवर्तन ला सकते हैं। व्यायाम जैसे पुरुषार्थ से निर्बल व्यक्ति बलवान् हो सकता है। यह आकृति का परिवर्तन है। योगाभ्यास द्वारा प्रकृति को भी बदला जा सकता है और ज्ञान द्वारा अहंकार को भी छोड़ा जा सकता है। यह पुरुषार्थ की महिमा है, किन्तु पुरुषार्थ की सीमा भी है। जो व्यक्ति जन्म से अत्यन्त निर्बल है वह कितना भी पुरुषार्थ करे गामा पहलवान नहीं बन सकता। ज्ञानी पुरुष पुरुषार्थ करता है किन्तु उस पुरुषार्थ की सफलता या विफलता से विचलित नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि प्रकृति के सामने किसी का हठ नहीं चलता। ज्ञानी में राग-द्वेष नहीं होता किन्तु चलता वह भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही है, अन्यथा सभी ज्ञानियों का व्यवहार एक जैसा ही दिखाई देता। शङ्कराचार्य ज्ञान का आश्रय लेते हैं, मीरा भक्ति का आश्रय लेती हैं।

ये दोनों ही ज्ञानी हैं तथापि उनके व्यवहार में भेद उनकी प्रकृति के कारण ही आता है। प्रकृति के कारण होने वाले इस भेद को ज्ञानी भी नहीं बदल सकता। अज्ञानी में तो प्रकृति के कारण प्रवृत्ति होती ही है, किन्तु ज्ञानी और अज्ञानी की प्रवृत्ति में यह बहुत बड़ा भेद है कि ज्ञानी की प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष नहीं होते और अज्ञानी की प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष रहते हैं। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपनी प्रकृति के साथ हठ न करे, किन्तु राग-द्वेष को छोड़ने का प्रयत्न अवश्य करे।

इन्द्रियों का अपने–अपने विषय में स्वभावतः ही राग-द्वेष रहता है किन्तु साधक को उनके वश में नहीं आना चाहिए क्योंकि वे उसके मार्ग में बाधक ही हैं –

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।

इस श्लोक से यह स्पष्ट हो गया है कि जब पहले श्लोक में यह कहा गया था कि निग्रह का कोई लाभ नहीं है तो उसका यह अर्थ नहीं था कि मनुष्य को पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए, तात्पर्य केवल इतना था कि मनुष्य को अपना स्वभाव समझना चाहिए और इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने का हठ नहीं करना चाहिए। आँख का काम देखना है, यदि हम यह चाहें कि आँख मूँद लें अथवा आँख पर पट्टी बाँध लें ताकि हमें सुन्दर रूप दिखाई न दे तो यह दुराग्रह होगा। मूल बात तो राग को हटाने की है। यदि हम सुन्दर रूप को न देखने का हठ कर भी लें किन्तु हमारे मन में रागभाव रहे तो एकान्त में भी मनोविकार उत्पन्न होंगे। अतः हमारा प्रयत्न निष्फल जाएगा। इसीलिए पहले श्लोक में कहा था कि निग्रह कुछ नहीं कर पाएगा। अब दूसरे श्लोक में यह कहा जा रहा है कि व्यक्ति राग-द्वेष के वश में न आए। राग-द्वेष का उद्भव वहाँ होता है जहाँ इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करती हैं और उस विषय में अनुकूलता या प्रतिकूलता का अनुभव करती हैं। हम किसी कर्म में इसलिए प्रवृत्त न हों कि वह कर्म हमारी इन्द्रियों को अनुकूल प्रतीत होता है और न किसी कर्म को इसलिए छोड़ें कि वह हमें प्रतिकूल प्रतीत होता है। क्या करना, क्या नहीं करना – इसका निर्णय हमें राग-द्वेष से मुक्त होकर करना होगा, तभी हम स्वतंत्र हो पाएँगे, अन्यथा हम राग-द्वेष के अधीन ही बने रहेंगे।

पश्चिम में स्वतंत्रता के सम्बन्ध में यह विचार किया गया है कि क्या मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वयं कर सकता है अथवा उसका भाग्य पूर्व नियत है? गीता के वर्तमान श्लोक में हमें बताया जा रहा है कि स्वतंत्रता का मुख्य अर्थ यह नहीं है कि हम अपना भाग्य बदल सकते हैं या नहीं ? अपितु स्वतंत्रता का मुख्य अर्थ तो यह है कि हम प्रवृत्ति करते समय राग-द्वेष से मुक्त रह सकते हैं कि नहीं? यह दूसरी बात है कि जब हम राग-द्वेष से मुक्त होकर कर्म करते हैं तो बहुत अंशों में हमारी परिस्थिति भी हमारे अनुकूल हो जाती है क्योंकि हमारी परिस्थिति भी बहुत अंशों में हमारे मनोभावों से ही निर्मित होती है। किन्तु मूलतः परिस्थिति को बदलने की इच्छा करना, राग-द्वेष का परिणाम है। हाँ, परिस्थिति को बदलने का प्रयत्न करना पुरुषार्थ है। कहा जा सकता है कि बिना इच्छा किए तो पुरुषार्थ होगा ही नहीं। समाधान यह है कि इच्छा भी दो प्रकार की है। राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाली इच्छा और कर्त्तव्य का पालन करने की इच्छा। पहली इच्छा विकार–जनित है और शास्त्र–विरुद्ध है, दूसरी इच्छा शास्त्र-सम्मत है।

परधर्म और स्वधर्म

राग-द्वेष से मुक्त रहने के अनेक उपाय हैं। पहली बात तो यह है कि राग-द्वेष से प्रेरित होकर कर्म करने से राग-द्वेष पुष्ट होते हैं किन्तु यदि हम राग-द्वेष से प्रेरित कर्म न करें तो शनैः–शनैः राग-द्वेष स्वयं क्षीण हो जाते हैं। दूसरे हमें यह समझना चाहिए कि हम राग-द्वेष को अपने जीवन में स्थान देते तो इसलिए हैं कि हम यह मान लेते हैं कि राग-द्वेष हमें दुःख से बचाएँगे और सुख दिलाएँगे किन्तु वस्तुतः होता इसका उल्टा है। इसीलिए राग-द्वेष को श्लोक में 'परिपन्थी' अर्थात् शत्रु बताया है। यह बात बुद्धि के स्तर पर तो समझी जा सकती है किन्तु मन इच्छाओं का आगार है इसलिए वह नित्य नई इच्छाएँ उत्पन्न करता रहता है। ऐसे में मन पर बुद्धि का नियंत्रण आवश्यक है। इसीलिए शास्त्र

में इन्द्रियों को घोड़े, मन को लगाम और बुद्धि को सारथि कहा गया है। यदि घोड़े और लगाम सारथि के नियंत्रण से बाहर हो जाएँ तो रथ अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना आवश्यक है कि तटस्थ भाव से देखने पर मनुष्य का कर्त्तव्य क्या बनता है? इसके उत्तर में गीता कहती है कि परधर्म का पालन भले ही कितनी ही अच्छी प्रकार से किया जाए और स्वधर्म भले ही कम गुणों वाला क्यों न हो किन्तु स्वधर्म में मृत्यु भी भली है और परधर्म सदा भयावह है –

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

पहली बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि यहाँ धर्म का अर्थ 'रिलीजन' अथवा 'सम्प्रदाय' नहीं है अपितु कर्त्तव्य है। यहाँ स्व और पर को भी दो अर्थों में समझना चाहिए – सामाजिक स्तर और आध्यात्मिक स्तर। प्रथम सामाजिक स्तर को लें।

व्यवसायानुसार आचार–संहिता

हम वर्णाश्रम व्यवस्था को मानें या न मानें, इतनी बात स्पष्ट है कि समाज में सभी लोग एक ही व्यवसाय नहीं कर सकते। कोई सैनिक होगा, कोई अध्यापक, कोई व्यापारी, कोई डाक्टर, कोई इन्जीनियर। इन सबकी अपने–अपने व्यवसायानुसार अलग–अलग आचार-संहिता होगी जिसे हम व्यावसायिक आचार-संहिता कह सकते हैं। इस आचार-संहिता के नियम व्यवसायानुसार कभी विरोधी भी हो सकते हैं। एक सैनिक के लिए अपने शत्रु को शस्त्र द्वारा मारना उचित हो सकता है किन्तु एक व्यापारी के लिए किसी को थप्पड़ मारना भी न केवल नैतिक दृष्टि से गलत है, अपितु कानून की दृष्टि से भी अपराध है। यदि ये सैनिक और व्यापारी अपनी आचार–संहिता को छोड़कर दूसरे की आचार संहिता को अपनाना चाहें तो कैसी भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाएगी – यह आसानी से समझा जा सकता है। सैनिक अहिंसा व्रत लेकर बैठ जाएगा और देश में शत्रु घुसता चला जाएगा तथा व्यापारी आपस में लड़ मरेंगे, अतः दोनों को अपने–अपने धर्म का ही पालन करना चाहिए – परधर्म का नहीं। अर्जुन क्षत्रिय गृहस्थ होते हुए शस्त्र छोड़कर भिक्षु बनना चाहता था अर्थात् अपना धर्म छोड़कर परधर्म का पालन करना चाहता था। सामाजिक दृष्टि से यह नितान्त अनुचित था। अर्जुन का सोचना था कि सैनिक के नाते उसका धर्म हिंसापूर्ण था अर्थात् विगुण था, अतः अहिंसापूर्ण भिक्षु धर्म का पालन करना उसके लिए उचित था। किन्तु सामाजिक दृष्टि से अर्जुन का यह विचार गलत आदर्श प्रस्तुत कर रहा था।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो स्व का अर्थ है – आत्मा । आत्मा का धर्म है – अनासक्ति। पर का अर्थ है – अनात्म। अनात्म का धर्म है – आसक्ति। आसक्ति भयावह है, अनासक्ति कल्याणकर है। आध्यात्मिक स्तर पर इस श्लोक का यह अर्थ होगा कि व्यक्ति अनासक्त रहे। आध्यात्मिक और सामाजिक अर्थों के समन्वय करने पर निष्कर्ष यह निकलेगा कि मनुष्य को अनासक्त भाव से अपने–अपने सामाजिक दायित्व को निभाना चाहिए। अनासक्ति के कारण साधक बन्धन में नहीं पड़ेगा और सामाजिक दायित्व के प्रति वह सजग रहेगा, तो समाज भी विशृंखलित नहीं होगा। इस प्रकार गीता के इस श्लोक में व्यक्ति के निःश्रेयस और समष्टि के अभ्युदय – दोनों का मार्ग सुझा दिया गया है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि इस श्लोक के अनुसार जो व्यक्ति अपने सामाजिक दायित्व को निभाता है वह स्वधर्म का पालन करने के नाते बड़ा ही है। कोई कर्म छोटा नहीं है। यदि किसी का कर्त्तव्य शास्त्र के द्वारा सेवा करना निर्धारित कर दिया गया है तो वह सेवा करते हुए उतना ही बड़ा है जितना बड़ा वह व्यक्ति है जो शास्त्र द्वारा उसके लिए निर्धारित वेद के अध्ययन–अध्यापन का कार्य करता है, क्योंकि वे दोनों ही शास्त्रोक्त कर्म करने के कारण, अपने कर्त्तव्य में लगे हैं। राग-द्वेष को छोड़ना सामान्य धर्म है, इसका पालन सबको करना ही चाहिए। भिन्न–भिन्न व्यवसाय के लोगों के लिए भिन्न–भिन्न सामाजिक धर्म हैं जिसका पालन सामाजिक व्यवस्था के अनुसार सबको करना चाहिए और वह धर्म हर वर्ग का अलग–अलग होने के कारण विशेष धर्म कहलाता है। उसे आज की भाषा में व्यावसायिक आचार–संहिता कह सकते हैं।

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले –

हे कृष्ण ! यह मनुष्य न चाहता हुआ भी किसके द्वारा बलपूर्वक लगाया हुआ सा किससे प्रेरित होकर पाप करता है॥३६॥

श्रीभगवानुवाच –

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् ने कहा –

रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही यह है (जो मनुष्य को पाप में लगाते हैं) इस काम और क्रोध को, जो कभी तृप्त नहीं होते और महापापी हैं, इस विषय में शत्रु जानो ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जिस प्रकार धुएँ से अग्नि ढकी रहती है और मैल से दर्पण ढका रहता है तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है वैसे ही काम और क्रोध से ज्ञान ढका रहता है ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे अर्जुन ! कभी तृप्त न होने वाले अग्नि के समान ज्ञानियों के नित्य वैरी काम से ही ज्ञान ढका है ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इस काम के इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आधार हैं। इनके द्वारा यह काम ज्ञान को आवृत्त करके जीवों को भ्रमित करता है॥४०॥

विपुल-भाष्य

धर्म परम कल्याण का कारण है और पाप दुःख का कारण है। यह भी देखने में आता है कि मन से कोई व्यक्ति पाप नहीं करना चाहता। शास्त्र तो पाप का निषेध करते ही हैं मनुष्य की अन्तरात्मा भी उसे पाप से रोकती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य पाप क्यों करता है ? कौन उसे बलपूर्वक पाप की ओर ढकेल देता है? यह प्रश्न श्रीकृष्ण के सम्मुख अर्जुन ने रखा –

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

श्रीकृष्ण अर्जुन को पहले बता चुके हैं कि व्यक्ति प्रकृति के आधीन है। प्रश्न होता है कि क्या इस कारण मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है ? अथवा क्या मनुष्य इसलिए पाप में प्रवृत्त होता है कि उसे पाप से लाभ होता हुआ दिखाई

देता है, इत्यादि–इत्यादि अनेक विकल्प हमारे सम्मुख हैं। दुर्योधन की प्रसिद्ध उक्ति है कि "मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और मैं अधर्म को भी जानता हूँ किन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं होती। मेरे हृदय में स्थित कोई देव जैसा मुझसे करवाता है वैसा ही मैं करता हूँ"।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।।

यहाँ दुर्योधन ने बुराई में प्रवृत्त होने का दायित्व देव पर डाल दिया है। यह एक प्रकार की भाग्यवादी प्रवृत्ति है। यदि ईश्वर ही हमें बुराई में प्रवृत्त करता है तो फिर हम बुराई से छूटने का कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकते। किन्तु यह उत्तर दुर्योधन का है जो महाभारत का खलनायक है। श्रीकृष्ण का उत्तर दूसरा है। उनका कहना है कि रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम और क्रोध कभी शान्त न होने वाले महापाप हैं। इन्हें ही अपना बैरी समझना चाहिए–

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।

यहाँ यह समझना चाहिए कि पाप का मूल कारण काम है क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि क्रोध भी काम से ही उत्पन्न होता है – **कामात् क्रोधोऽभिजायते**। जब किसी विषय की कामना होती है और वह कामना पूरी नहीं होती तो विघ्न डालने वाले व्यक्ति पर हमें क्रोध आता है। यदि वही व्यक्ति बारम्बार विघ्न डाले तो उस व्यक्ति के प्रति हमारा क्रोध द्वेष में बदल जाता है। यहाँ काम और क्रोध को रजोगुण से उत्पन्न होने वाला बताया है। रजोगुण का काम है – प्रवृत्ति। इसका ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि काम और क्रोध से ही हमारी प्रवृत्तियाँ संचालित होती हैं।

साम, दाम, दण्ड और भेद

आगे चलकर श्रीकृष्ण अर्जुन को कहेंगे कि वह काम का हनन कर दे क्योंकि काम वैरी है। वैरी को मारने के चार उपाय हैं – साम, दाम, दण्ड और भेद। श्लोक में कहा गया है कि काम महापापी है इसलिए साम नीति से उसे नहीं सँभाला जा सकता। वह महाशन है अर्थात् उसे जितना भी खिलाओ वह सन्तुष्ट नहीं होता अपितु बढ़ता ही है, अतः दाम नीति भी उसके लिए निरर्थक है। वह प्रकृति के रजोगुण से उत्पन्न हुआ है और नित्य है इसीलिए वहाँ भेद नीति भी नहीं चल सकती। अतः उसके लिए दण्ड नीति ही उपयोगी है।

प्रश्न यह होता है कि क्या काम परमात्मा से भी अधिक शक्तिशाली है कि अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध भी व्यक्ति को पाप में ढकेल देता है। श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि जिस प्रकार धुएँ से अग्नि ढक लिया जाता है, मैल से दर्पण ढक लिया जाता है और जरायु से गर्भ में स्थित बालक ढक लिया जाता है उसी प्रकार काम और क्रोध भी अन्तरात्मा के प्रकाश को ढक लेता है –

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।

सूक्ष्म काम, स्थूल काम और तृष्णा

यहाँ तीन उपमाएँ दी गई हैं। प्रथम उपमा में यह बात विशेष है कि धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है और अग्नि को ही ढक लेता है। काम, क्रोध हमारे अन्तःकरण से ही उत्पन्न होते हैं और अन्तःकरण के ही प्रकाश को ढक लेते हैं। काम की तीन अवस्थाएँ हैं – किसी अप्राप्त वस्तु को देख-सुनकर उत्पन्न होने वाली इच्छा सूक्ष्म काम है। वस्तु का एक बार उपभोग कर लेने पर जो इच्छा होती है वह स्थूल काम है और वस्तु का बार–बार उपभोग करने पर जो इच्छा निरन्तर बनी रहती है वह तृष्णा बन जाती है। वह काम की अति स्थूल अवस्था है। इनमें से काम की सूक्ष्म अवस्था उसी प्रकार है जिस प्रकार धूम से अग्नि का ढक जाना। धुआँ अग्नि के प्रकाश को ढकता है किन्तु उसकी दाहक शक्ति को नहीं छिपा सकता। इसी प्रकार सूक्ष्म अवस्था वाला काम विवेक को नष्ट कर सकता है किन्तु फिर

भी विषय का प्रकाश अन्तःकरण में होता रहता है। स्थूल काम अन्तःकरण में वस्तु का प्रकाश उसी प्रकार नहीं होने देता जैसे मैल काँच की प्रतिबिम्ब दिखाने वाली शक्ति को छिपा देता है किन्तु अति स्थूल काम तो अन्तःकरण को उसी प्रकार सर्वथा ढक लेता है जिस प्रकार जरायु गर्भस्थ बालक को पूरी तरह ढक लेता है।

इस प्रकार काम रूपी शत्रु के द्वारा ज्ञानी का ज्ञान भी ढक लिया जाता है। यह काम ऐसी अग्नि है जो कभी शान्त नहीं होती –

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलने च॥

भोगों द्वारा इच्छाओं को पूर्ण करने की जितनी ही कोशिश की जाती है कामनाएँ उतनी ही भड़कती हैं। जिस प्रकार अग्नि में जितना ईंधन डालो वह बढ़ता है, शान्त नहीं होता।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

मनुष्य के छः शत्रु बताए गए हैं – काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। इन सबमें काम ही प्रधान है क्योंकि काम के ही प्रतिहत होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। काम की निरन्तरता ही लोभ कही जाती है। काम का ज्ञान को ढक लेना ही मोह हैं। काम की पूर्ति से मद उत्पन्न होता है और काम से उत्पन्न क्रोध के कारण ही हम मात्सर्य अर्थात् ईर्ष्या करते हैं। इस प्रकार काम ही मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कराता है।

प्रश्न होता है कि काम का स्थान कौन-सा है? उत्तर यह है कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि ही काम के अधिष्ठान अर्थात् निवास-स्थान हैं। इनमें बैठकर ही यह काम मनुष्य के ज्ञान को ढक कर उसे मोह में डाल देता है –

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

इस श्लोक में इन्द्रियों को काम का प्रथम स्थान माना है क्योंकि वे ही मनुष्य को प्रथमतः विषय में प्रवृत्त कराती है। उन विषयों का स्मरण करके मन अनुकूल विषयों के प्रति कामना के संस्कार को दृढ़ बनाता है और तब बुद्धि भी उन्हीं विषयों को चाहने लगती है।

काम ही मनुष्य को कर्त्तव्य से च्युत करता है। श्लोक में एक शब्द 'देही' दिया गया है जिसका अर्थ है अपने आपको देह समझने वाला। अभिप्राय यह है कि जो अपने आपको शरीर समझता है वो ही कामना से बँधता है। दुःख का कारण यह है कि हम जो चाहते हैं वह नहीं होता और हम जो नहीं चाहते वह हो जाता है। हम समझते हैं कि कामना के बिना कर्म नहीं हो सकता – यह सच भी है। किन्तु कामना अनेक प्रकार की है। पदार्थ की कामना से कर्म किया जाए तो बंधन का कारण बन जाता है किन्तु कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से कर्म किया जाए तो बन्धन का कारण नहीं बनता। मनु ने कहा है कि दो चीजों की कामना की जा सकती है – शास्त्र के अध्ययन की कामना और शास्त्रोक्त कर्म करने की कामना –

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।

पदार्थ की कामना किए बिना भी शास्त्रोक्त कर्म कर्त्तव्य है ऐसा मानकर कर्म करने पर सभी प्रकार का अभ्युदय हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि हमारी दृष्टि पदार्थ पर न होकर कर्त्तव्यपालन पर रहती है।

अनुभव में यह आता है कि एक पदार्थ की कामना पूरी होने पर दूसरे पदार्थ की कामना उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार कामना का कभी अन्त नहीं होता किन्तु जो व्यक्ति कर्त्तव्यपालन की कामना करता है वह कर्त्तव्यपालन मात्र से सदा ही सन्तुष्ट रहता है।

थोड़ा-सा विचार करें तो पता चलेगा कि कामनाओं की पूर्ति के लिए ही हम इतने अधिक परेशान और चिन्तित हो जाते हैं कि हमारी जो कामनाएँ पूरी हो जाती हैं उनका सुख भी हम बहुत अल्प समय के लिए ही भोग पाते हैं और इसी बीच में हमें दूसरी कामनाएँ आ धर दबाती हैं। अतः सुख का एक मात्र उपाय कामनाओं पर नियंत्रण रखना है।

दूसरी बात यह है कि कामना की पूर्ति करने के लिए हमें अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर जो करना चाहिए वह नहीं करते और जो नहीं करना चाहिए वह कर डालते हैं। इससे कामनाओं की पूर्ति होना तो दूर, अनेक प्रकार के अनिष्ट और आ खड़े होते हैं।

बहिर्मुखता और पदार्थोन्मुखता

कामना का अर्थ है – बहिर्मुखता, पदार्थोन्मुखता। जब हम पदार्थ की ओर उन्मुख हो जाते हैं तो अपने से विमुख हो जाते हैं। इससे अन्दर से सुख का स्रोत सूख जाता है और फिर बाहर के पदार्थ भी सुख नहीं दे पाते।

कामना के अनेक स्वरूप हैं। शास्त्रकारों ने कामनाओं को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा है – पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। इन तीनों के कारण ही मनुष्य दीनता को प्राप्त हो जाता है। पुत्रैषणा के अन्तर्गत परिजनों से सुख प्राप्त करने की कामना आती है। इसके लिए मनुष्य परिजनों का मुखापेक्षी हो जाता है। वित्तैषणा के पीछे मनुष्य धनिकों का दास बन जाता है और लोकैषणा अर्थात् यश की इच्छा की पूर्ति के लिए नाना प्रकार की मायाचारिता करता है। इस प्रकार सभी इच्छाएँ मनुष्य को दीन–हीन बना देती हैं। अतः कामना का त्याग ही श्रेयस्कर है।

मूल तथा अनुवाद

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥४१॥

इसलिए हे अर्जुन ! तुम पहले तो इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी (काम) को नष्ट करो ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥४२॥

(स्थूल शरीर से) इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से भी सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से भी सूक्ष्म वह (आत्मा) है।॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥४३॥

इस प्रकार बुद्धि से भी परे जान कर अपने को आत्मा में स्थित करके तुम काम रूपी दुर्जय शत्रु को नष्ट कर दो ॥४३॥

विपुल-भाष्य

इन्द्रिय-निग्रह का महत्त्व

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य को पाप में काम और क्रोध ढकेलता है तथा इनमें से क्रोध काम से ही उत्पन्न होता है। काम का उत्पत्ति स्थान इन्द्रिय, मन और बुद्धि है। यह काम प्रथम इन्द्रियों में, तदनन्तर मन में, फिर बुद्धि में मलिनता उत्पन्न करता है। इस प्रकार काम का प्रथम उत्पत्ति स्थान इन्द्रिय है। यदि मनुष्य इन्द्रियों पर संयम कर लें तो काम को वश में किया जा सकता है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि "हे अर्जुन ! सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाले इस काम रूपी पाप को मारना चाहिए।"

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

आगे चलकर श्रीकृष्ण यह बताने वाले हैं कि गीता का ज्ञान राजर्षियों को परम्परा से प्राप्त होता रहा है। यहाँ पर अर्जुन को 'भरतर्षभ' सम्बोधन से कहने का यह अभिप्राय है कि अर्जुन भी राजकुल में है अतः उसे इस विद्या

का अनुकरण करना चाहिए। यद्यपि कामना मन में उत्पन्न होती है तथापि भोगों में प्रवृत्ति पहले इन्द्रियों की ही होती है। यदि इन्द्रियों को ही भोगों से रोक लिया जाए तो फिर मन और बुद्धि भी उधर नहीं जा पाते।

'ज्ञान' और 'विज्ञान'

यहाँ काम को ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाला बताया है। पहले कहा जा चुका है कि अनेक पदार्थों में अनुस्यूत एकत्व के जानने को 'ज्ञान' कहते हैं और एक तत्त्व के ही अनेक रूपों में विकसित होने को 'विज्ञान' कहते हैं। ज्ञान ब्रह्म-विद्या है विज्ञान सृष्टि-विद्या है। वेद में दोनों का ही वर्णन है और गीता में भी आगे सातवें अध्याय में ज्ञान और विज्ञान दोनों की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की गई है। गीता के दूसरे टीकाकारों ने श्रवण से होने वाले परोक्ष ज्ञान को 'ज्ञान' तथा मनन और निदिध्यासन के अनन्तर होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को 'विज्ञान' कहा है। ज्ञान–विज्ञान का हम कोई भी अर्थ लें, यहाँ तो अभिप्राय यह है कि कामना मनुष्य के सभी प्रकार के विवेक को हर लेती है और इसीलिए मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। वस्तुस्थिति यह है कि किसी भी कर्म के दो प्रकार के परिणाम होते हैं – एक प्रत्यक्ष दिखने वाला परिणाम और एक शास्त्रोक्त परिणाम। गीता में तो कर्म के शास्त्रोक्त फल की इच्छा करने का भी निषेध है फिर लौकिक परिणाम की इच्छा करने की तो बात ही कहाँ उठती है? फिर भी सामान्यतः मनुष्य की दृष्टि लौकिक परिणाम पर ही रहती है। इसी का नाम कामना है। चोरी आदि करते समय धन की कामना ही प्रेरणा देती है। उस कामना के कारण चोर का यह ज्ञान भी लुप्त हो जाता है कि पकड़े जाने पर न्यायालय उसे दण्डित करेगा जबकि प्रत्यक्ष में भी यह देखने में आ रहा है कि पकड़े जाने पर चोर सजा पाते हैं। जब कामना के कारण इतना स्थूल ज्ञान भी ढक जाता है तो उस सूक्ष्म ज्ञान की तो बात ही क्या है जिसके होने पर मनुष्य अपने कर्म का शास्त्रोक्त परिणाम जान सकता है। शास्त्रोक्त परिणाम स्वर्ग, नरक आदि प्रत्यक्ष नहीं हैं, अपितु परोक्ष हैं, जिन्हें केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है। कामना से अभिभूत होने पर जब न्यायालय द्वारा दिए जाने वाले प्रत्यक्ष दण्ड का भी भय चोरी आदि कर्मों से नहीं रोक पाता तो फिर परोक्ष नरकादि का भय तो उसे क्या रोकेगा? इसलिए प्रमाणित होता है कि कामना ज्ञान–विज्ञान को नष्ट कर देती है।

व्यक्ति को कामना छोड़नी चाहिए न कि कर्म। जो पाप के भय से कर्म छोड़ना चाहते हैं वे भी कर्म नहीं छोड़ पाते। गृहस्थ अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी और प्रकार के कर्म करता है, संन्यासी भिक्षाचर्या के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है; किन्तु इतने मात्र से संन्यासी तब तक बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता जब तक वह कामना को न छोड़े। यदि संन्यासी में कामना है तो वह भी उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करते समय विवेक नहीं बरत पाता, भले ही उसकी कामना की पूर्ति के माध्यम दूसरे हो जाएँ। किन्तु कामना रहे और ज्ञान न ढका जाए – ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि कामना का स्वभाव ही है कि वह ज्ञान को नष्ट कर देती है।

इच्छा सदा उसकी होती है जो हमारे पास वर्तमान में नहीं है । जिसमें इच्छा हुई, उसने यह स्वीकार कर लिया कि वर्तमान में उसे सुख उपलब्ध नहीं है, प्रथम तो यही अज्ञान का लक्षण है। दूसरे इच्छा सदा हमें वर्तमान से हटाकर भविष्य में ढकेल देती है जबकि कोई भी सुख केवल वर्तमान में ही हो सकता है। तीसरे क्योंकि इच्छा भविष्य की होती है और भविष्य अनन्त है इसलिए इच्छाओं का कोई अन्त नहीं होता। कल की व्यवस्था हो गई तो परसों की चिन्ता हो जाती है, परसों की इच्छा पूरी हो जाए तो उससे अगले दिन की इच्छा सताने लगती है। इच्छाएँ असीम हैं और कर्म का फल ससीम है इसलिए हमारा कोई भी कर्म हमारी सभी इच्छाओं को कभी भी पूरा नहीं कर सकता।

ऊपर इन्द्रियों को वश में करने की बात कही गई क्योंकि इन्द्रियाँ स्थूल हैं। स्थूल को सूक्ष्म से वश में कर लिया जाता है। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि ''स्थूल शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ अवश्य सूक्ष्म हैं किन्तु मन इन्द्रियों से भी सूक्ष्म है और बुद्धि मन से भी सूक्ष्म है और आत्मा बुद्धि से भी परे है।''

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

चक्षु का रूप ग्रहण करने में तथा श्रोत्रेन्द्रिय की शब्द ग्रहण करने में पटुता प्रत्यक्ष है। इससे इन्द्रियों की सूक्ष्मता स्पष्ट है। मन की सूक्ष्मता तो इन्द्रियों से भी अधिक है। एक–एक इन्द्रिय अपने–अपने विषय को जानती है किन्तु मन सभी विषयों को जान लेता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ तो एक सीमा तक की दूरी के पदार्थों को ही जानती हैं, किन्तु मन कितनी भी दूरी पर स्थित पदार्थ को जान लेता है। बुद्धि मन से भी अधिक सूक्ष्म है। यह बुद्धि ही बताती है कि हमारा मन सुखी है या दुःखी। और बुद्धि से भी परे आत्मा है, जो यह जानती है कि यह मेरी बुद्धि है।

अन्तःकरण

इन्द्रियाँ करण कहलाती हैं और मन, बुद्धि अन्तःकरण कहलाते हैं। अन्तःकरण से भी परे आत्म तत्त्व है, जो न करण है, न अन्तःकरण, अपितु कर्त्ता है। जिस साधन को इन्द्रियों से प्रारम्भ किया जाता है उसका क्रम यह है कि स्थूल को सूक्ष्म में लीन किया जाए अर्थात् स्थूल शरीर को इन्द्रियों में, इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में और बुद्धि को आत्मा में लीन करें, यही बात कठोपनिषद् में कही है –

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि तत्त्व काम का प्रभाव है किन्तु आत्मा जो बुद्धि से भी परे है काम के प्रभाव से मुक्त है इसलिए अगले श्लोक में कहा गया कि "आत्मा को आत्मा के द्वारा वश में करके कामरूपी दुर्जन शत्रु को नष्ट कर देना चाहिए।"

एवं बुद्धे परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो काम रूपं दुरासदम्।।

यहाँ अपने से अपने को वश में करने का अर्थ यह लेना चाहिए कि इन्द्रियों को मन से, मन को बुद्धि से और बुद्धि को आत्मा से वश में करें। उपनिषद् में पञ्चकोश की व्याख्या करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मनुष्य कभी अपने को अन्नमय कोष समझता है, कभी प्राणमय कोष, कभी मनोमय कोष, कभी विज्ञानमय कोष और कभी आनन्दमय कोष। इस अपेक्षा से अपने को अपने से वश में करने के भिन्न–भिन्न अर्थ होंगे अर्थात् अपने ही भिन्न–भिन्न स्थूल रूप को भिन्न–भिन्न सूक्ष्म रूप से वश में करना चाहिए। प्रकाश का मूल रूप आत्मा में है जो क्रमशः बुद्धि, मन और इन्द्रियों को भी प्रकाशित करता है। यह प्रकाश बुद्धि में सबसे अधिक है। उससे कम मन में है और इन्द्रियों में उससे भी कम है। इसलिए इन्द्रियों को मलिन करना सबसे सरल है अतः काम का प्रथम आक्रमण इन्द्रियों पर ही होता है। इन्द्रियों का प्रकाश मलिन हो जाता है तो मन और बुद्धि भी मलिन हो जाते हैं किन्तु फिर भी आत्मा तो निर्मल ही बना रहता है चाहे बुद्धि की मलिनता के कारण भले ही वह भी मलिन प्रतीत होने लगे। यदि हम आत्मा की इस निर्मलता को पहचान लें तो फिर काम का जीतना सरल हो जाएगा। अन्यथा इन्द्रिय, मन और बुद्धि को तो काम मलिन कर ही देता है इसीलिए उसे दुर्जय शत्रु बताया गया है। आत्मा की निर्मलता की शरण लेने पर ही उस शत्रु को जीता जा सकता है।

काम इतना बलवान है कि हमें अपना पूरा व्यक्तित्व ही काम से अभिभूत प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि सब कुछ काममय है। किन्तु हमारा आत्म तत्त्व सदा शुद्ध, बुद्ध और निर्मल है। मलिन द्वारा मलिन को निर्मल नहीं बनाया जा सकता। यदि हमारे सभी घटक मलिन हैं तो कौन किसे निर्मल बनाएगा? ऐसी स्थिति में आत्मा की निर्मलता ही आशा की एक मात्र किरण है। आत्मा हमारे व्यक्तित्व का अन्तिम घटक है। बुद्धि तक प्रकृति तत्त्व है, त्रिगुणात्मकता है। आत्म तत्त्व त्रिगुणातीत है, वहीं परम शान्ति है। गीता में जो क्रम दिया गया है वह क्रम कठोपनिषद् में भी इस रूप में दिया है कि इन्द्रियों से श्रेष्ठ उनके विषय हैं, विषयों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धि से परे महत् तत्त्व है, महत् तत्त्व से परे अव्यक्त है, और अव्यक्त से भी परे पुरुष अर्थात् आत्मा है। पुरुष से और अधिक सूक्ष्म कुछ भी नहीं है, वह पराकाष्ठा है, वह परा गति है –

इन्द्रियेभ्यः पर ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष परः।
पुरुषान्न परं किञ्चद् सा काष्ठा सा परागतिः।।

स्पष्ट है कि गीता यहाँ श्रुति का अनुकरण कर रही है। वस्तुस्थिति यह है कि इन्द्रियाँ सदा बाहर का ही जगत् ग्रहण करती हैं – पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। इन्द्रियों की गति बाहर की ओर है इसलिए वे बाहर के जगत् को ही ग्रहण करती हैं। बाहर का जगत् स्थूल है। यह स्थूल जगत् हमें आकृष्ट कर लेता है और हम यह नहीं जान पाते कि हमारे अन्दर भी एक जगत् है जो बाहर के जगत् की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म, शक्तिशाली तथा सुन्दर है। हमें व्यवहार तो बाह्य जगत् में ही करना है किन्तु दृष्टि यदि अन्तर्जगत् पर रहे तो बाह्य जगत् हमें बाँध नहीं पाएगा।

बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् भिन्न नहीं

वेद-विज्ञान के अनुसार बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् मूलतः भिन्न नहीं है। अन्तर्जगत् का सूक्ष्म तत्त्व ही स्थूल बनकर बाह्यजगत् का रूप ले लेता है।

गीता में अन्तर्जगत् को अव्यय पुरुष कहा गया है और बाह्यजगत् को क्षरपुरुष। अक्षरपुरुष इन दोनों के बीच का सेतु है। जिसकी दृष्टि अव्यय पुरुष पर है, वह क्षर पुरुष में व्यवहार करने पर भी बन्धन में नहीं पड़ता। जो द्वैतवाद के पक्षधर अव्यय तथा क्षर में सर्वथा भेद मानते हैं, वे जड–चेतन के द्वन्द्व से परे नहीं जा पाते। वे या तो जड की सर्वथा उपेक्षा कर व्यवहार–शून्य होने का प्रयत्न करते हुए अभ्युदय से वञ्चित रह जाते हैं अथवा जड के ही उपासक बनकर निःश्रेयस से हाथ धो बैठते हैं।

अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् के बीच सन्तुलन स्थापित करके चलने वाला ही वास्तविक इन्द्रिय–निग्रह कर पाता है। वह प्रवृत्ति द्वारा अपनी भौतिक–शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ भी निवृत्त ही रहता है। इसी मार्ग का प्रतिपादन करना गीता का अपना वैशिष्ट्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥१॥

श्रीभगवान् बोले –

इस अविनाशी योग को मैंने सूर्य को बताया। सूर्य ने (अपने पुत्र) मनु को बताया तथा मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बताया ॥१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥२॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार परम्परा से इस योग को राजर्षियों ने जाना (किन्तु) बहुत समय बीत जाने पर वह योग संसार से लुप्त हो गया ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥३॥

तुम मेरे भक्त और सखा हो इसलिये वही यह पुराना योग आज मैंने तुम्हें बताया। यह बहुत उत्तम तथा रहस्यमय है ॥३॥

विपुल-भाष्य

ज्ञान की पारम्परिकता

भारतीय परम्परा में एक शब्द प्रचलित है – सनातन धर्म अर्थात् ऐसा धर्म जिसका कोई प्रारम्भ नहीं है। ऐसे धर्म का आधार यह है कि वह धर्म प्रकृति के नियमों पर आधृत है। यह बात दूसरी है कि कभी वह धर्म विस्मृत हो जाए, किन्तु वस्तुतः उस धर्म का प्रारम्भ उतना ही पुराना है जितनी पुरानी सृष्टि है।

प्रश्न उठता है कि गीता में जिस ज्ञान का वर्णन है वह तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया; ऐसी स्थिति में क्या इस ज्ञान को अनादि अथवा सनातन कहा जा सकता है? दूसरी ओर यदि इस धर्म का प्रतिपादन श्रीकृष्ण से पहले भी हुआ तो उसकी सूचना दी जानी चाहिए। श्रीकृष्ण का कहना है कि उन्होंने इस ज्ञान का उपदेश सृष्टि के प्रारम्भ में ही सूर्य को दिया था। सूर्य के बिना हम अपनी सृष्टि की कल्पना नहीं कर सकते। हम अपनी सृष्टि को सौरमण्डल कहते हैं। इसलिए भगवान् ने यह उपदेश सृष्टि के आरम्भ में सूर्य को दिया। सूर्य ने वही उपदेश मनु को दिया और मनु ने राजा इक्ष्वाकु को दिया –

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

वेद में सूर्य को यज्ञ रूप भी माना और त्रयी रूप भी। बुद्धि का अधिष्ठाता भी सूर्य है। इस नाते वह ज्ञान का स्रोत है। इसीलिए श्रीकृष्ण सूर्य को ही ज्ञान का प्रथम ग्रहण करने वाला बताते हैं। जहाँ श्रुति का प्रतीक सूर्य है वहाँ

स्मृति का प्रतीक मनु है, जैसे स्मृति श्रुति पर आधारित है उसी प्रकार मनु का ज्ञान सूर्य के ज्ञान पर टिका है अतः यह कहा गया है कि सूर्य ने अपना ज्ञान मनु को दिया। मनु से यह ज्ञान इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के पास आया।

यज्ञ का उत्तम उदाहरण सूर्य

हम पहले बता चुके हैं कि सूर्य यज्ञ का उत्तम उदाहरण है। वह निरन्तर प्रकाश और शक्ति देता है किन्तु उसमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं है। वह अपने कर्म से इसीलिए लिप्त भी नहीं होता। अहंकार-रहित होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना और किसी फल की इच्छा नहीं करना – यही गीता का उपदेश है और हम देखते हैं कि सूर्य में यह सभी शर्तें पूरी हो रही हैं। मानो वह साक्षात् गीता के सन्देश का ही रूप है। दूसरी ओर मनु ने इसी गीता के सन्देश को केन्द्र में रखकर मनुस्मृति में अपने–अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा दी। इक्ष्वाकुवंशी राजाओं में राम जैसे अवतारी पुरुष ने पुनः गीता के ही उपदेश को अपने जीवन में उतारा। इसका यह अर्थ होता है कि गीता के सन्देश को हम सूर्य की चर्या में, मनु के विधान में और इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के जीवन में साक्षात् देख सकते हैं। अतः गीता का ज्ञान कोई नई घटना नहीं है। भारतीय परम्परा किसी भी ज्ञान को सादि नहीं मानती। इसी अर्थ में वेद का ज्ञान अनादि है। जैन भी अपने सिद्धान्त को अनादि कहते हैं और बुद्ध भी अपने धर्म को सनातन कहते हैं।

ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि एक अर्थ में भारत में कुछ भी मौलिक नहीं होता किन्तु गम्भीरता से विचार करें तो मौलिक शब्द का वह अर्थ नहीं है जो हम सामान्यतः समझते हैं कि मौलिक वह है जो पहली बार कहा गया हो। मौलिक का शब्दार्थ है – जो मूल से आया हो। वैदिक धर्म का मूल है – देवों का आचरण। यजमान यह कामना करता है कि वह अपने आचरण में देवों का अनुकरण करें – **यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि**। अतः हमारे धर्म का मूल स्रोत देवगण है। सूर्य देव है – यहाँ गीता के ज्ञान का मूल स्रोत सूर्य को बताया है। सूर्य को यह उपदेश श्रीकृष्ण ने दिया, यह कैसे सम्भव है इसकी चर्चा गीता में श्रीकृष्ण स्वयं ही आगे करेंगे। यहाँ यह भी कहा गया कि यह योग अव्यय है अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता। यह स्वाभाविक धर्म है अतः इसके नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता, हम इस धर्म का उल्लंघन करके दुःख पैदा कर लेते हैं किन्तु देवों को तो इस धर्म का पालन करना ही पड़ता है। यदि वे कर्म करना छोड़ दें अथवा कर्म को नियमानुसार न करें अथवा कर्म करते समय अहंकार या फल की कामना से भर जाएँ तो सृष्टि का स्वरूप ही नहीं टिक पाएगा। मनुष्य धर्म का अतिक्रमण करता है किन्तु देव नहीं? इसीलिए श्रुति में मनुष्य को अनृत से युक्त कहा है और देवों को सत्य से युक्त – **अनृतसंहिता वै मनुष्याः, सत्यसंहिता वै देवाः।** अतः मौलिकता का अर्थ है वे धर्म या नियम मौलिक हैं जो हमें देवों के आचरण से प्राप्त होते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह योग राजर्षियों को परम्परा से प्राप्त हुआ और बहुत समय बीत जाने पर लुप्त हो गया –

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

यहाँ एक शब्द परम्परा आया है। इसका अर्थ है – एक से दूसरे तक। भारतीय चिन्तन में ज्ञान को सदा पारम्परिक माना गया है। किन्तु जैसे मौलिक का अर्थ नवीन नहीं है इसी प्रकार परम्परा का अर्थ भी रूढ़ि नहीं है। देश और काल का विचार किए बिना पुरानी बात को ज्यों का त्यों दुहराते रहना रूढ़ि है। एक व्यक्ति से जो ज्ञान दूसरे व्यक्ति को प्राप्त हुआ उसने उसे देश काल के अनुसार ढाल कर ग्रहण किया, यह परम्परा है। पश्चिम में जो-जो भी दर्शन उद्भूत हुए वे व्यक्तिगत हैं। भारत में सभी दर्शन परम्परागत हैं। पश्चिम के दार्शनिक के सम्बन्ध में यह कहना उचित है कि अमुक दर्शन काण्ट का है किन्तु भारत के सन्दर्भ में यह कहना उचित नहीं है कि अमुक दर्शन शंकराचार्य का है। शंकराचार्य किसी दर्शन के देने का दावा भी नहीं करते। वे तो केवल श्रुति की व्याख्या कर रहे हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शंकराचार्य का अपना कोई योगदान नहीं है। वे अपने देश काल के अनुसार वैदिक परम्परा की

एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। इस प्रकार परम्परा में ज्ञान का मूल तत्त्व वही रहता है किन्तु उसका नवीनीकरण भी होता रहता है। यह निरन्तरता में परिवर्तन का रूप है। पश्चिम में ज्ञान का स्वरूप नवीनता पर बहुत बल देता है और इसलिए वहाँ का हर दार्शनिक एक नया ही दर्शन दे देता है।

दार्शनिक शासक

इस श्लोक में एक और महत्वपूर्ण बात कही गई है कि गीता के दर्शन को राजर्षियों ने जाना। इस ज्ञान के विशेषज्ञ राजर्षि थे, संन्यासी नहीं। राजर्षि संसार में रहता है किन्तु निर्लिप्त भाव से। वह कर्म में रत रहता है क्योंकि राजा है, और वह निर्लिप्त रहता है इसीलिए ऋषि भी है। ऐसे राजर्षि जब इस देश पर शासन करते थे तो वह इस देश का स्वर्ण युग था। प्लेटो ने दार्शनिक शासक की कल्पना की है। राजर्षि दार्शनिक शासक का ही रूप है। अर्जुन भी राजा है, क्षत्रिय है अतः राजर्षि विद्या उसके लिए सबसे अधिक अनुकूल है। यहाँ यह भी कहा गया है कि वह प्राचीन ज्ञान कालक्रम से लुप्त हो गया। पहले श्लोक में उस ज्ञान को अव्यय कहा गया था। अतः यह समझना चाहिए कि समय बीतने के साथ वह ज्ञान मन्द पड़ता चला गया, सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। ऐसा देखने में आता है कि कोई भी ज्ञान शनैः-शनैः मन्द होता जाता है। जिस ज्ञान का उपदेश गीता में दिया गया उसका आचरण तो सूर्य देव कर ही रहे थे इसलिए उसके लुप्त होने का प्रश्न नहीं है किन्तु मनुष्यों ने वह ज्ञान विस्मृत कर दिया। अवसर आने पर श्रीकृष्ण उसी ज्ञान कों पुनः प्रकट कर रहे हैं क्योंकि अर्जुन उनका भक्त भी है और सखा भी है –

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

महाभारत के युद्ध में एक ऐसा अवसर अर्जुन ने उपस्थित कर दिया कि श्रीकृष्ण को वह ज्ञान फिर से बताना पड़ा। पुरानी वैदिक परम्परा कर्म की थी। एक नई परम्परा संन्यास के रूप में कर्म-त्याग की आई। अर्जुन कर्म-त्याग की परम्परा से प्रभावित होकर युद्ध छोड़कर भिक्षाचार्य के लिए तैयार हो गया। संन्यास की परम्परा ने यह बात बहुत बलपूर्वक कही थी कि कर्म बन्धन का कारण है। यदि कर्म बन्धन का कारण है तो वैदिक कर्म भी स्वतः ही हेय सिद्ध हो जाता है और स्मृति में प्रतिपादित वर्ण-आश्रम-धर्म का भी कोई महत्व नहीं रहता। ऐसे में यदि कोई कर्मयोगी संन्यासी से शास्त्रार्थ करना चाहे तो शायद संन्यासी के तर्क ज्यादा भारी पड़ेंगे। अर्जुन कर्म-त्याग की परम्परा से प्रभावित तो है किन्तु वह श्रीकृष्ण से शास्त्रार्थ नहीं कर रहा है अपितु जिज्ञासा भाव से उनसे मार्ग-दर्शन चाह रहा है – **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** इसलिए श्रीकृष्ण को उसके सम्मुख बुद्धियोग का रहस्य खोलने का अवसर मिल गया। जो शास्त्रार्थ के अभिप्राय से आया हो उसे ज्ञान नहीं दिया जा सकता; ज्ञान उसे ही दिया जा सकता है जो जिज्ञासु भाव से आए। जिज्ञासु भाव से आने वाले का कर्त्तव्य है कि वह शिष्य भाव भी रखे। जिसमें अहंकार है वह गुरु से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अर्जुन में शिष्य-भाव है किन्तु श्रीकृष्ण अपने आपको उसका सखा ही बता रहे हैं, गुरु नहीं। गुरु के वाक्यों में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। इसलिए शिष्य की शंकाएँ मन में ही दबी रह जाती हैं। गुरु का कर्त्तव्य है कि वे शिष्य के प्रति मैत्री का भाव रखे ताकि वह निःसंकोच भाव से अपनी सब शंकाएँ गुरु के सामने रख सके। गीता में यही हुआ, श्रीकृष्ण कुछ भी कहते हैं तो अर्जुन उसे चुपचाप स्वीकार नहीं कर लेता अपितु कोई नया प्रश्न खड़ा कर देता है जिसका उत्तर देने के लिए श्रीकृष्ण को ज्ञान का और विस्तार करना पड़ता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच एक उन्मुक्त संवाद स्थापित हो जाता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रश्न करने से रोकते नहीं अपितु उसे प्रश्न करने के लिए प्रेरित करते हैं – **तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**

शिष्य को गुरु के सम्मुख प्रश्न प्रति-प्रश्न करने चाहिए किन्तु उद्दण्डतापूर्वक नहीं, विनम्रतापूर्वक; तभी ज्ञान का रहस्य उद्घाटित हो पाता है। श्रीकृष्ण ने गीता के ज्ञान को रहस्य बताया है। प्रश्न होता है कि इस ज्ञान में रहस्यमय क्या है? विचार करने पर पता चलेगा कि अधिकांश मनुष्य कर्म द्वारा बँधते हैं। गीता में वह रहस्य खोला गया है कि मनुष्य कर्म करते हुए भी बन्धन में कैसे न बँधे ? यह एक तीसरा विकल्प है। दो विकल्प तो हमारे सामने पहले से

ही थे कि मनुष्य कर्म करे और बन्धन में बँधा रहे अथवा कर्म छोड़ दे और मुक्त हो जाए। श्रीकृष्ण को यह तीसरा मार्ग इसलिए बताना पड़ा कि पहले दोनों विकल्प अनिष्टकारी हैं। कर्म करते रहने से बन्धन में बँधे रहना तो दुःख का कारण है और कर्म छोड़ना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में मोक्ष सम्भव ही नहीं होगा। इसलिए श्रीकृष्ण ने वह विकल्प बताया कि मनुष्य कर्म करते हुए भी किस प्रकार बन्धन से मुक्त हो सके। यह एक प्रकार का रहस्य ही है कि जिसको ठीक न समझने से कोई भी मनुष्य साधारण व्यक्ति की तरह कर्म करते हुए यह ढोंग कर सकता है कि वह कर्म करते हुए भी निर्लिप्त है। कर्म करते हुए निर्लिप्त रह पाना, एक सूक्ष्म आन्तरिक भाव है जो बाहर दिखाई नहीं देता, जिसे स्वयं कर्म करने वाला ही पकड़ सकता है इसलिए उसे रहस्य कहना उचित ही है क्योंकि वह सबकी प्रतीति में नहीं आता।

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥४॥

अर्जुन बोले –

आपका जन्म अब बाद में हुआ है, सूर्य का जन्म बहुत पहले हुआ इसलिए मैं ये कैसे मानूँ कि प्रारम्भ में आप ही ने यह योग (सूर्य को) बताया था ॥४॥

श्रीभगवानुवाच –

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥५॥

श्री भगवान् बोले –

हे परंतप अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म बीत चुके हैं उन सबको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते ॥५॥

विपुल-भाष्य

पुनर्जन्म की स्वीकृति

जैसा हम पहले बता चुके हैं श्रीकृष्ण अर्जुन को बारम्बार अपना सखा कहते हैं। इसलिए अर्जुन श्रीकृष्ण के सामने निःसंकोच भाव से अपनी शंकाएँ रखता रहता है। श्रीकृष्ण ने कहा था कि गीता का ज्ञान उन्होंने सर्वप्रथम सूर्य को दिया, श्रीकृष्ण अर्जुन के सम्मुख सदेह खड़े हैं और इसलिए अर्जुन यह पूछता है कि आपका जन्म बाद में हुआ जबकि सूर्य का जन्म पहले हो चुका है। तब आपने यह ज्ञान सूर्य को दिया हो, यह कैसे माना जा सकता है? –

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥

अर्जुन का यह प्रश्न बहुत युक्तिसंगत है। श्रीकृष्ण ने केवल यही नहीं कहा कि उन्होंने सूर्य को उपदेश दिया बल्कि यह भी कहा कि सूर्य ने यह उपदेश मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया। यदि यह मान लें कि सूर्य तो श्रीकृष्ण के जन्म के बाद भी था तो भी मनु और इक्ष्वाकु तो श्रीकृष्ण से पहले ही हो चुके थे। अतः इस जन्म में तो श्रीकृष्ण का वक्तव्य युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यद्यपि श्रीकृष्ण अर्जुन को यह दूसरे अध्याय में बता चुके हैं कि आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण कर लेती है तथापि इतने मात्र से अर्जुन की समस्या का समाधान नहीं होता। भारतीय दर्शन का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि जन्म-जन्मान्तर में अज्ञानी ही भटकते हैं ज्ञानी नहीं।

तो क्या श्रीकृष्ण भी अज्ञानी थे कि उन्होंने अनेक जन्म लिए? आगे जाकर श्रीकृष्ण उत्तर देंगे कि उनका जन्म लेना अज्ञान के कारण नहीं अपितु लोक-कल्याण की कामना से है। यहाँ वे केवल इतना ही कहते हैं कि – हे अर्जुन! मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं और तुम्हारे भी अनेक जन्म हो चुके हैं। अन्तर केवल इतना है कि मैं उन सब जन्मों को जानता हूँ और तुम नहीं जानते –

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

इससे पहले कृष्ण ने कहा था कि अर्जुन उनका सखा ही नहीं भक्त भी था। जो बात यहाँ कृष्ण ने कही है वह बात यदि किसी ऐसे व्यक्ति के सामने कही जाए जो श्रीकृष्ण पर श्रद्धा न रखता हो तो वह इस बात पर विश्वास ही नहीं करेगा। आज भी विश्व में बहुसंख्यक मनुष्य पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। जब-तब ऐसी घटनाएँ भी प्रकाश में आती रहती हैं कि कोई व्यक्ति अपने पूर्व-जन्म के वृत्तान्त को सुना देता है, किन्तु जिनकी पूर्व-जन्म पर श्रद्धा नहीं है वे उन घटनाओं को कपोल–कल्पित ही मानते हैं। अर्जुन उन पर श्रद्धा करता है इसीलिए श्रीकृष्ण ने उनके सामने यह रहस्य खोला है।

पूर्व-जन्म का स्मरण क्यों होता है? इसका उपाय पतञ्जलि ने बताया है। उनका कहना है कि जिसका अपरिग्रह का भाव सुदृढ़ होता है उसे पूर्व-जन्म का ज्ञान हो जाता है –

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासम्बोधः।

जैन दर्शन में परिग्रह को मूर्च्छा कहा है। मूर्च्छा में हमें ज्ञान नहीं होता। अपरिग्रह मूर्च्छा का अभाव है अतः अपरिग्रह को पतञ्जलि ने पूर्व-जन्म की स्मृति का कारण बताया है। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण में मूर्च्छा का भाव न होने से ही वे अपने पूर्वजन्मों को स्मरण कर पाए।

आत्मा में अनन्त ज्ञान की शक्ति

वस्तुतः आत्मा में अनन्त ज्ञान की शक्ति है। राग और द्वेष उस शक्ति को सीमित कर देते हैं। हमारी सारी ज्ञान की शक्ति वहीं केन्द्रित हो जाती है जहाँ हमारा राग अथवा द्वेष है। यदि हम अपने किसी परिचित को न पहचान पाएँ तो उसे बुरा लगता है क्योंकि यह माना जाता है कि जिसे हम प्रेम करेंगे उसे सदा स्मरण रखेंगे। इसका उल्टा भी सत्य है जिसके प्रति हमारा उपेक्षा भाव होता है वह हमें याद नहीं रहता। क्योंकि संसार के अधिकतर पदार्थों के प्रति न हमारा राग है, न द्वेष, इसलिए हमारा ज्ञान केवल उन थोड़े से पदार्थों तक सीमित रह जाता है जिन पदार्थों से हमारा राग या द्वेष है। इसके विपरीत जिसका न कहीं राग है, न द्वेष, उसका ज्ञान व्यापक रहता है। इसलिए जैन परम्परा में वीतरागता और सर्वज्ञता का अविनाभाव सम्बन्ध बताया गया है। अर्जुन को अपने पूर्व-जन्म याद नहीं हैं किन्तु हमें जो ज्ञात नहीं है वह नहीं है, ऐसा नहीं है। हमें यह ज्ञात नहीं है कि हम माता के गर्भ में थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम माता के गर्भ में नहीं थे। हम माता के गर्भ में थे इतना ही नहीं अपितु हमने वहाँ बहुत कुछ सीखा भी है। अभिमन्यु द्वारा माता के गर्भ में चक्रव्यूह भेदन करने की पद्धति सीख लेने की कथा प्रसिद्ध है।

इस कथा को अतिरंजित भी मान लें तो भी यह तथ्य तो प्रमाणित है कि माता के गर्भ में ही बच्चा अनेक संस्कार ग्रहण कर लेता है जो जन्म के बाद भी उसके साथ जीवन भर लगे रहते हैं। यहाँ गीता माता के गर्भ में आने से भी पहले की बात कर रही है। श्रीकृष्ण का कहना है कि वे अपने पहले जन्म को जानते हैं। पूर्व-जन्म को मानने और जानने में अन्तर है। जब हम किसी बात को मानते हैं तो उसके लिए तर्क देने होते हैं। श्रीकृष्ण पूर्व-जन्म को जानते थे। जब हम किसी चीज के लिए तर्क देते हैं तो हम अनुमान कर रहे होते हैं। यदि हम प्रत्यक्ष जान रहे हों तो तर्क की आवश्यकता ही नहीं है। स्वतः-प्रमाण शास्त्र और परतः-प्रमाण शास्त्र में यही भेद है। श्रीकृष्ण के वचन स्वतः-प्रमाण हैं, परतः-प्रमाण नहीं। वस्तुतः जब हम तर्क देते हैं तो कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता क्योंकि एक तर्क का प्रतितर्क सदा उपस्थित रहता है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों में पुनर्जन्म मान्य है किन्तु पुनर्जन्म

की सिद्धि के लिए बहुत कम प्रमाण दिए गए क्योंकि पुनर्जन्म साक्षात्कार का विषय रहा। कर्म सिद्धान्त के लिए भी शायद ही कोई ऐसे तर्क दिए गए हों जिनसे ये सिद्ध होता हो कि इस जन्म के कर्म अगले जन्म में फल देते हैं। फिर भी सभी भारतीय दर्शन इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। यही स्थिति आत्मा की है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए तर्क देना बहुत कठिन है।

आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, फल ये कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं, जिन्हें चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों ने एक मत से स्वीकार कर लिया। पश्चिम दर्शन की दृष्टि से यह भारतीय दर्शन की कमजोरी हो सकती है। लेकिन भारतीय दर्शन श्रुति अथवा आगम-प्रमाण पर टिका है और श्रुति या आगम तर्क का विषय नहीं है। इसलिए भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य किसी बात को तर्क से सिद्ध करना नहीं है बल्कि सत्य का साक्षात्कार करना है।

गीता का सारा आधार यह है कि मनुष्य शरीर नहीं है। मनुष्य को शरीर मानें तो अपने को जानने का सबसे अच्छा उपाय शरीर-विज्ञान है क्योंकि उसके द्वारा शरीर को जाना जा सकता है। लेकिन गीता शरीर के अन्दर छिपे हुए उस तत्व को जानना चाहती है जो न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। वह आत्म-तत्व न इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सकता है न मन अथवा बुद्धि के द्वारा। अतः वह आत्म-तत्व तब प्रकट होता है जब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपनी चञ्चलता छोड़कर स्थिर हो जाते हैं। इसे ही योग सूत्र में चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है – **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**

आस्तिक और नास्तिक

भारतीय चिन्तन में आस्तिक–नास्तिक की चर्चा भी है। महर्षि पाणिनी ने अष्टाध्यायी में कर्मफल (दिष्ट) को मानने वाले को आस्तिक तथा कर्मफल न मानने वाले को नास्तिक कहा है – **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिर्यस्य।** इस परिभाषा के अनुसार केवल चार्वाक ही नास्तिक ठहरता है; जैन तथा बौद्ध वेद को प्रमाण न मानने पर भी, कर्मफल को प्रमाण मानने की दृष्टि से आस्तिक ही हैं। आस्तिक का सम्बन्ध ईश्वर के अस्तित्व को मानने से भी जुड़ा है किन्तु सांख्य तथा मीमांसक भी ईश्वर को नहीं मानते तथापि वे कर्मफल को मानने के कारण आस्तिक हैं।

मूल तथा अनुवाद

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।६।।

मैं अजन्मा और अविनाशी होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का स्वामी होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी माया से उत्पन्न हो जाता हूँ ।।६।।

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे अर्जुन ! जब–जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म बढ़ता है तब–तब मैं अपने को अभिव्यक्त कर देता हूँ ।।७।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।८।।

साधु पुरुषों की रक्षा के लिए, पापियों के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिये समय–समय पर प्रकट होता रहता हूँ ।।८।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

हे अर्जुन ! जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म के इस रहस्य को तत्त्वतः जानता है वह शरीर को छोड़ने के बाद जन्म को प्राप्त नहीं होता (अपितु) मुझे ही प्राप्त हो जाता है।।९।।

विपुल-भाष्य

गीता का अवतारवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहा कि उनके और अर्जुन के भी अनेक जन्म हो चुके हैं। यह बात दूसरे अध्याय में भी कही जा चुकी है कि जीव एक शरीर को छोड़कर बारम्बार दूसरा शरीर धारण करता है। किन्तु यहाँ एक विशेष शंका उत्पन्न होती है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, जीव नहीं। तो क्या वे भी जन्म लेते हैं? उसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं –

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।

इस श्लोक में पहली पंक्ति में श्रीकृष्ण ने तीन बातें कहीं; वे अज हैं, अव्यय हैं और ईश्वर हैं। दूसरी पंक्ति में भी उन्होंने तीन ही बातें कहीं; वे प्रकृति का सहारा लेते हैं, माया का सहारा लेते हैं और अपने आपको प्रकट करते हैं। ये बातें परस्पर विरोधी हैं जो अज है वह जन्म कैसे ले सकता है? इसका उत्तर माया शब्द में छिपा हुआ है। माया का अर्थ है जैसा वस्तुतः है वैसा दिखाई न दे, और जैसा नहीं है वैसा प्रतीति में आए। भगवान अजन्मा है, यह दिखाई नहीं देता, और दिखाई यह देता है कि वे जन्म लेते हैं। यही माया है। माया की दो शक्तियाँ हैं – आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति। आवरण-शक्ति का काम है, सत्य को छिपा लेना और विक्षेप-शक्ति का कार्य है जो नहीं है उसे प्रकट कर देना। भगवान् गुणों से रहित है और उनका कोई रूप भी नहीं है, किन्तु फिर भी वे साकार रूप में अवतार लेते हैं। यह उनकी माया के कारण होता है। हम सभी माया के वशीभूत होकर ही जन्म लेते हैं, किन्तु भगवान् के अवतार लेने में यह अन्तर है कि वे माया के वशीभूत नहीं होते, अपितु माया ही उनके वश में रहती है। इसलिए उनका जन्म लेना बन्धन रूप नहीं है, अपितु लीलारूप है। जब हमें कोई कार्य विवश होकर करना पड़ता है, तो वह बन्धन होता है। जब हम उसी कार्य को स्वेच्छा से करते हैं तो वह लीला बन जाता है। बन्धन दुःख का कारण है, लीला नहीं। श्रीकृष्ण ने कहा कि वे प्रकृति को अपने आधीन करके जन्म लेते हैं, प्रकृति के आधीन होकर जन्म नहीं लेते। इसका कारण यह है कि उनमें कामना नहीं है। इच्छा साधारण मनुष्य को खींचकर संसार में ले आती है; किन्तु भगवान् इच्छा के वशीभूत होकर संसार में नहीं आते।

भगवान जन्म क्यों लेते हैं?

प्रश्न यह है कि यदि भगवान् में इच्छा नहीं है तो वे जन्म ही क्यों लेते हैं? अगले दो श्लोकों में बताया गया कि वे साधुजनों की रक्षा करने के लिए जन्म लेते हैं। एक शब्द में कहें तो उनके जन्म लेने का कारण करुणा है। करुणा राग से भिन्न है। जहाँ हमारा स्वार्थ निहित रहता है वहाँ हम किसी पर राग के कारण उपकार करते हैं, जब हमारा स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं होता तब जो उपकार हम करते हैं, वह करुणा है।

श्रीकृष्ण ने कोई इच्छा नहीं की। इसी कारण उन्हें अपना पहला जन्म याद था। हम बता चुके हैं महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि जिसमें अपरिग्रह की भावना दृढ़ होती है उसे अपने पहले जन्म की स्मृति हो जाती है। परिग्रह कहें या इच्छा कहें, एक ही बात है। जैन परम्परा में परिग्रह का लक्षण "मूर्च्छा" किया गया है। इच्छा हमें मूर्च्छित कर देती है। मूर्च्छित व्यक्ति तो वर्तमान को भी नहीं जान पाता, पूर्वजन्म को जानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अवतारवाद पर सदा प्रश्न उठते रहे हैं। मूल प्रश्न यह है कि ईश्वर ने यह सृष्टि बनाई ही क्यों? शास्त्रकार कहते हैं कि ब्रह्म एक था उसमें अनेक होने की कामना हो गई – **एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायै**। यह कामना ही संसार का मूल है – **कामस्तदग्रे समवर्तताधि**। प्रश्न उठा कि ईश्वर में यह कामना उत्पन्न क्यों हुई? उत्तर दिया गया कि

जब जीवों के कर्म परिपक्व होकर फलोन्मुख होते हैं, तो जीव अपने कर्मों का फल भोग सकें, इसलिए कर्माध्यक्ष ईश्वर में सिसृक्षा अर्थात् संसार को उत्पन्न करने की इच्छा होती है। वस्तुस्थिति यह है कि संसार का आविर्भाव तिरोभाव होता है, उत्पत्ति–विनाश नहीं। संसार के आविर्भाव तिरोभाव को ही सृष्टि–प्रलय कहा जाता है, जिसे सर्ग–प्रतिसर्ग भी कहते हैं। जैसे जीवों के कर्मों का परिपाक सिसृक्षा का कारण है, वैसे ही जब जीवों के कोई कर्म विपाक के योग्य नहीं रहते तब ईश्वर में संजिहीर्षा अर्थात् प्रलय की इच्छा हो जाती है। जीवों के कर्म क्यों परिपक्व होकर फल देते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्मों का ऐसा स्वभाव है। स्वभाव क्यों है – यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता क्योंकि स्वभाव में तर्क नहीं दिया जाता – **स्वभावोऽतर्कगोचरः**। जिस प्रकार जीव कर्म करते हैं तथा उसका फल भोगते हैं उसी प्रकार ईश्वर जीवों के कर्म–फल भोगने का अवसर प्रदान करने के लिए सृष्टि को उत्पन्न कर देता है। यह उसका स्वभाव है। जो यह प्रश्न उठाया जाता है कि सर्वशक्तिमान् करुणालु ईश्वर ने दुःखमयी सृष्टि क्यों बनाई, यह प्रश्न इसलिए निराधार है कि दुःख जीव अपने कर्मों के कारण पैदा कर लेता है; ईश्वर ने सृष्टि दुःखमयी नहीं बनाई। यदि सृष्टि ही दुःखमयी होती तो कभी कोई दुःखमुक्त हो ही नहीं सकता था।

ईश्वर का दायित्व

ईश्वर ने सृष्टि बनाई तो उसका यह दायित्व भी है कि सृष्टि का पालन करे। सृष्टि धर्म पर टिकी है – **धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः**। यदि धर्म की ग्लानि होगी तो संसार ही समाप्त हो जाएगा। अतः ईश्वर को धर्म की ग्लानि होती दिखती है तो उसे स्वयं धर्म की रक्षा के लिए अवतीर्ण होना पड़ता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वह शरीर धारण किए बिना ही सब कार्य कर सकता है, फिर उसे शरीर धारण करने की क्या आवश्यकता है? इसे यूँ समझना चाहिए कि कोई राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री अथवा मन्त्री अपने स्थान से ही केवल अपने आदेश द्वारा किसी भी उपक्रम को प्रारम्भ कर सकते हैं कि आज से अमुक अस्पताल अपना कार्य प्रारम्भ कर दें अथवा अमुक बाँध से बिजली बनाना चालू कर दिया जाए, फिर भी वे स्वयं आकर उस उपक्रम का उद्घाटन क्यों करते हैं? ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वह बिना जन्म लिए भी यथोचित कार्य कर सकता है और करता भी रहता है, फिर भी वह कभी–कभी शरीरधारी बनकर भी उस कार्य को करता है। जो सर्वशक्तिमान् है, वह शरीर धारण क्यों नहीं कर सकता? ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, किन्तु महर्षि पतञ्जलि के अनुसार तो एक योगी भी स्वेच्छानुसार शरीर बना सकता है।

राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री अथवा मन्त्री अपने आदेश द्वारा ही किसी उपक्रम का प्रारम्भ कर सकते हैं फिर भी यदि वे स्वयं आकर उस उपक्रम का उद्घाटन करते हैं, तो उस उपक्रम से जुड़े लोगों को विशेष आनन्द मिलता है। आनन्द ही नहीं,विशिष्ट व्यक्ति के स्वयं आने पर लोगों को प्रेरणा भी मिलती है। यही प्रयोजन ईश्वर के शरीर धारण करने का है कि भक्तों को उसका साकार दर्शन करने पर आनन्द भी मिले और प्रेरणा भी मिले। मान लें कि ईश्वर श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित न होते तो भी वे कौरवों के अधर्म पक्ष का नाश कर ही सकते थे, तथापि उनके साक्षात् रूप में प्रकट होने से जो आनन्द गोप–गोपियों को मिला, वह आनन्द क्या मिल सकता था? अथवा अर्जुन के सारथि बनकर जो गीतामृत उन्होंने पिलाया क्या वह हमें सुलभ होता। श्रीकृष्ण न होते तो सूरदास किसकी बाल-लीला का वर्णन करते अथवा मीरा किसके प्रेम में पागल होकर झूमती ?

इस प्रकार ईश्वर के अवतीर्ण होने की सार्थकता होने पर भी यह प्रश्न आता है कि क्या ईश्वर शरीर धारण करने पर निष्कलङ्क रह पाएगा? इस प्रश्न के पीछे यह तर्क है कि शरीर बन्धन का कारण है। किन्तु यदि शरीर ही बन्धन का कारण है तब तो कोई व्यक्ति भी जीवन्मुक्त नहीं हो पाए। जीवन्मुक्त का अर्थ है कि शरीर रहने पर भी मुक्त होना। भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, आचार्य शङ्कर आदि महापुरुष इसी प्रकार के जीवन्मुक्त व्यक्ति थे। बन्धन का कारण शरीर नहीं है अपितु आसक्ति है। जब जीव भी शरीर रहते हुए अनासक्त रह सकता है तो ईश्वर शरीर को धारण करने पर कलङ्क क्यों स्पर्श करेगा, वह तो नित्य ही अज्ञान तथा राग-द्वेष से रहित है?

प्रश्न है कि राग-द्वेष से रहित ईश्वर को साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों के विनाश के पचड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? जो अवतारवाद को नहीं मानते वे भी यह मानते हैं कि उनके मान्य पुरुषों ने साधु पुरुषों को प्रोत्साहित किया तथा दुष्टों को उपदेश द्वारा सुधारना चाहा। क्या ऐसा करने से वे वीतराग नहीं रहे। वीतराग पुरुषों में सत्पुरुषों के प्रति पक्षपात देखा ही जाता है तथा असत्पुरुषों को वे भी हेय समझते ही हैं। अच्छे को अच्छा तथा बुरे को बुरा समझ कर व्यवहार करना राग-द्वेष नहीं है अपितु यथोचित व्यवहार है जो सभी महापुरुषों में देखने को मिलता है। ईश्वर भी इसी प्रकार का व्यवहार करता है।

अवतार का एक प्रयोजन हमारे सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करना भी है। अनासक्ति भाव से कार्य किया जा सकता है – यह अवतारी पुरुषों के जीवन में देखा जा सकता है। कहा जा सकता है कि यह आदर्श तो कोई महापुरुष भी प्रदर्शित कर सकता है, इसके लिए ईश्वर को अवतार लेने की क्या आवश्यकता है? भगवान् ऋषभदेव अथवा भगवान् बुद्ध ऐसे ही महापुरुष थे। उत्तर यह है कि इन महापुरुषों को भी भागवत में विष्णु का अवतार ही माना गया है। फिर अवतारवाद की दृष्टि में अनासक्ति भाव से युक्त आचरण करने वाला ही अवतार हुआ। कोई उसे ईश्वर का अवतार कह देता है और कोई उसे जीव का निर्मल स्वरूप कह देता है। वेदान्त की दृष्टि में जीव और ईश्वर एक ही है तो फिर अवतारवादी और 'जीव ही पुरुषार्थ से परमात्मपद प्राप्त करता है' ऐसा मानने वालों के बीच का अन्तर बहुत थोड़ा रह जाता है। मूल बात तो अनासक्ति अथवा वीतरागता की है।

ऐसी वीतराग आत्मा परम करुणालु होती है। वे जब-जब धर्म में विकार आते हुए तथा अधर्म में वृद्धि होते हुए देखती है तब-तब प्रकट हो जाती है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अवतीर्ण होकर वे क्या करती है? उत्तर है कि वे साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करके धर्म की स्थापना करती है ताकि संसार की स्थिति बनी रहे –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

बहुत से लोग यह पूछते हैं कि अभी अधर्म की वृद्धि हो रही है तो ईश्वर अवतीर्ण क्यों नहीं होते। हम ऊपर कह चुके हैं कि अधर्म का नाश तथा धर्म की स्थापना करने हेतु ईश्वर का अवतीर्ण होना आवश्यक नहीं है। वह अपने निराकार रूप में भी यह कार्य कर सकता है और अभी भी निरन्तर कर ही रहा है। कर्माध्यक्ष के रूप में दुष्टों को दण्डित करने का तथा साधुओं को पुरस्कृत करने का कार्य तो वह सदा कर ही रहा है। अवतार लेने का तो एक विशिष्ट प्रयोजन है कि भक्तों को आनन्द तथा प्रेरणा दी जाए। इसका अनुकूल अवसर जब आएगा तब वह अवतीर्ण होगा। वह अवसर कब आएगा – यह आप एवं हम निर्णय नहीं ले सकते। यह निर्णय सर्वज्ञ ईश्वर ही लेता है।

न्याय का प्रश्न

जहाँ तक न्याय करने का प्रश्न है – वह कार्य ईश्वर सदा करता है। दुष्ट दण्डित होते हैं तथा साधुजन पुरस्कृत – यह विश्वास उन सबका है जो कर्म सिद्धान्त को मानते हैं, भले ही वे ईश्वर को न भी मानें। कर्मफल सिद्धान्त का विश्वास ही जीवन में मनुष्य को कठिन से कठिन परिस्थिति में भी विचलित नहीं होने देता। इसीलिए कर्मफल सिद्धान्त में आस्था रखनां ही आस्तिकता है – यह हम पहले बता चुके हैं। इसीलिए भारत में उत्पन्न होने वाले अनेकानेक सम्प्रदाय, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, ईश्वरवाद, कर्मकाण्ड, उपासना पद्धति आदि आदि सभी विषयों पर मतभेद रखने के बावजूद एक बात को एक मत से स्वीकार करते हैं कि शुभ कर्म का फल अच्छा और अशुभ का फल बुरा होता है। यदि वह फल इस जन्म में नहीं मिलता है तो अगले जन्मों में मिलेगा। यदि आस्था न हो तो जीवन बिना पतवार की नौका के समान हो जाता है।

मूल तथा अनुवाद

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥१०॥

(पहले भी) राग, भय और क्रोध को छोड़कर जो मुझमें तन्मय होकर मेरी शरण में आये ऐसे बहुत से ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर मेरे को प्राप्त कर चुके हैं ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥११॥

हे अर्जुन ! जो मेरी उपासना जिस रूप में करते हैं मैं उन्हें उसी रूप में मिल जाता हूँ। (वस्तुतः) सब मनुष्य सभी तरह से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥१२॥

क्योंकि कर्म से सफलता शीघ्र मिल जाती है (इसलिए) कर्म फल की इच्छा रखने वाले मनुष्य संसार में देवताओं की पूजा किया करते हैं ॥१२॥

विपुल-भाष्य

गीता की उदार दृष्टि

भगवान् यह बता चुके हैं कि किस प्रकार वे अजन्मा होने पर भी करुणावश भक्तों पर कृपा करने के लिए जन्म लेते हैं। उनका यह जन्म लेना प्रकृति के वशीभूत होकर जन्म लेना नहीं है। वे तो प्रकृति के अधिष्ठाता हैं फिर भी अपनी माया से शरीर धारण करते हैं अर्थात् उनका शरीर धारण करना उस प्रकार नहीं है जिस प्रकार अस्मदादि जीवों का कर्म के वशीभूत होकर जन्म लेना है इसलिए इसे जन्म न लेना न कहकर प्रादुर्भूत होना अथवा प्रगट होना समझना चाहिए। इसे ही दिव्य जन्म कहा गया है। भगवान् कर्म के वशीभूत होकर जन्म नहीं लेते हैं इतना ही नहीं है अपितु प्रकट होने के बाद वे जो कर्म करते हैं वे कर्म भी उनके बन्धन का कारण नहीं बनते हैं। अतः उन कर्मों को भी दिव्य ही समझना चाहिए। जो भगवान् के दिव्य ज़न्म और कर्म को जानता है, शरीर छोड़ने पर उसे पुनः जन्म नहीं लेना होता –

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

इस श्लोक में यह भी कहा गया है कि जो भगवान् के दिव्य जन्म और कर्मों को जानता है वह "मुझे प्राप्त होता है", यहाँ "माम्" शब्द का अर्थ अव्यय पुरुष लेना चाहिए। वस्तुतः अव्यय पुरुष कुछ भी नहीं करता किन्तु अक्षर पुरुष के कर्मों का उस पर आरोप हो जाता है। इस प्रकार कर्ता न होने पर भी उस पर कर्तृत्व का आरोप हो जाता है। यही उसके कर्मों की दिव्यता है। अभिप्राय यह है कि जैसे भगवान् अजन्मा होते हुए जन्म लेते हैं वैसे ही वस्तुतः हम भी अजन्मा हैं तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि हम जन्म लेते हैं। यदि हमें अपने अजन्मा स्वरूप का बोध हो जाए तो फिर जन्म नहीं होगा। इसी प्रकार जिस तरह भगवान् के कर्म उन्हें नहीं बाँधते, उसी प्रकार यदि हम भी कामना छोड़कर काम करें तो हमें कर्म नहीं बाँधेंगे । यही कर्मयोग है, यही मोक्षमार्ग है।

कर्म नाशवान् और जीव नित्य

ध्यान में लाने की बात यह है कि कर्म नाशवान् है और जीव नित्य है इसलिए जीव का कर्म से कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जान लेने पर कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते। ऐसे व्यक्ति के कर्म भगवान् के कर्मों के समान दिव्य हो जाते हैं।

प्रत्येक जीव में दिव्यता है। जो श्रीकृष्ण की दिव्यता को जान लेगा वह अपनी भी दिव्यता को जान लेगा क्योंकि ब्रह्म और जीव तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं। जब हम उसे जानते हैं, जो अजन्मा है तो हम श्रीकृष्ण को भी जान लेते हैं और अपने को भी जान लेते हैं। इसी प्रकार जब हम उसे जान लेते हैं जिसमें कर्तृत्व नहीं है तो हम अपने को भी जान लेते हैं और श्रीकृष्ण को भी जान लेते हैं। इस बात को श्रीकृष्ण ने अगले श्लोक में और भी स्पष्ट किया है। यहाँ उन्होंने कहा कि पहले अपने राग, भय और क्रोध को जीत लेने वाले, मेरे में स्थित, मेरी शरण में आए हुए तथा ज्ञान और तप से पवित्र अनेक पुरुष मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं –

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

यहाँ 'मद्भावमागताः' पद की ओर ध्यान देना चाहिए । इस पद का अर्थ है कि वे वैसे ही बन जाते हैं जैसे श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण बनने के तीन उपाय बतलाए गए हैं। पहला उपाय है – राग, भय और क्रोध को छोड़ देना चाहिए। श्रीकृष्ण में ये तीनों नहीं थे। जिस जीव में ये तीन नहीं उसके कर्म स्वभावतः ही दिव्य हो जाएँगे क्योंकि जो कर्म राग, भय और क्रोध के बिना किया जाएगा वह निष्कलंक ही होगा। यह कर्म-मार्ग हुआ। दूसरा मार्ग भक्ति-मार्ग है अर्थात् अपने आप को अव्यय पुरुष के साथ एकाकार कर देना। राग–द्वेष मन की स्थितियाँ हैं।

मन परिवर्तनशील

मन परिवर्तनशील है। आज हमारा मन पवित्र हो सकता है किन्तु कल वह बदल जाएगा। अतः मन से परे अव्यय पुरुष की शरण लेना आवश्यक है क्योंकि अव्यय पुरुष ही नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त है। तीसरा मार्ग ज्ञान-मार्ग है। वस्तुतः भक्ति और ज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जब तक हम भगवान् को जानेंगे ही नहीं, तब तक उसकी भक्ति कैसे करेंगे? और जब हम भगवान् के विराट् स्वरूप को जान लेंगे तो यह कैसे सम्भव है कि हम उसके भक्त न बनें। इस प्रकार कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग तीनों ही मुक्ति के मार्ग हैं।

वीतरागता का अर्थ भी ध्यान में आना चाहिए। वीतरागता मध्यस्थ-भाव है, द्वेष-भाव नहीं। संसार के दुःखों से तंग आ जाना वीतरागता नहीं है, राग–द्वेष के द्वन्द्व से परे चले जाना वीतरागता है। जब 'अस्मद्' शब्द श्रीकृष्ण का वाचक नहीं, अव्यय पुरुष का वाचक है तो फिर कृष्ण की ही उपासना क्यों की जाए? अव्यय पुरुष तो सर्वव्यापक है। इस शंका के उत्तर में श्रीकृष्ण ने जो कहा वह सम्भवतः संसार के किसी अन्य धर्म में नहीं मिलेगा। श्रीकृष्ण ने कहा कि जो मुझे जिस रूप में सेवन करते हैं, मैं उन्हें उसी रूप में प्राप्त हो जाता हूँ और इसीलिए हे अर्जुन! सब मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं –

ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः॥

इस वक्तव्य से यह स्पष्ट हो गया कि श्रीकृष्ण 'अस्मद्' शब्द का प्रयोग अव्यय पुरुष के लिए कर रहे हैं। वह अव्यय पुरुष सर्वव्यापक है। अतः उसे किसी भी रूप में भजा जा सकता है। यह एक ऐसी मान्यता है कि जो आर्य दृष्टि को सेमेटिक धर्मों से पृथक् करती है। भारतीय धर्म ऐसा मानते हैं कि कोई एक व्यक्ति ही पूजनीय नहीं है। हम राम की पूजा करें या कृष्ण की, महावीर की करें या बुद्ध की। वह सब शुद्ध चेतना की ही उपासना है, भले ही उस उपासना के माध्यम भिन्न हों। इसके विपरीत सेमेटिक धर्म एक व्यक्ति विशेष की उपासना के अतिरिक्त दूसरे की उपासना को मान्यता प्रदान नहीं करते इसीलिए वे सब सम्प्रदायों को समान न मानकर अपने ही सम्प्रदाय को सर्वोच्च मानते

हैं, इसलिए भारतीय परम्परा के व्यक्ति की समझ में सर्व-सम्प्रदाय-समभाव सहज ही आ जाता है किन्तु सेमेटिक धर्म के मानने वाले सम्प्रदायों को समान महत्व देने के लिए तैयार नहीं हो पाते और अपने सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरे सम्प्रदायों को उचित सम्मान नहीं दे पाते।

प्रश्न होता है कि अज्ञानी मनुष्य निष्काम तो रह नहीं पाते और भिन्न–भिन्न कामनाओं से प्रेरित होकर देवताओं की पूजा किया करते हैं। क्या ऐसे मनुष्य को देवों की पूजा से सिद्धि प्राप्त हो जाएगी? उत्तर यह है कि मनुष्य–लोक कर्म–लोक है अतः मनुष्य सहज ही कर्म के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहता है। उसके मन में यह बात बद्धमूल है कि कर्म से इष्टफल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की भावना से प्रेरित होकर जो कर्म करते हैं, उन्हें भी सफलता मिलती है –

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

वस्तुस्थिति यह है कि परमशक्ति तो परमात्मा की ही है किन्तु अपने अहंकार को समाप्त किए बिना परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इधर अहंकार को छोड़ना सरल नहीं है। इसलिए लोग देवी–देवताओं की उपासना किया करते हैं। ये देवी–देवता हमारी किसी न किसी कामना से जुड़े हैं। सरस्वती ज्ञान से जुड़ी हैं, लक्ष्मी सम्पत्ति देती हैं, गणेश विघ्नों का नाश करते हैं इत्यादि। देवी–देवता इच्छाओं से जुड़े हैं, परमात्मा इच्छा से नहीं जुड़ा है। जिसमें इच्छाएँ नहीं रहीं वह परमात्मा की उपासना करेगा, जिसमें इच्छाएँ हैं वह तो देवी–देवताओं की उपासना ही करेगा। मनुष्य की इच्छा की बहुत बड़ी शक्ति है। जब हम किसी देवी–देवता से अपनी इच्छा की पूर्ति करना चाहते हैं तो हमारी इच्छा जितनी बलवती होती है देवी–देवता उतनी ही शीघ्रता से फल देते हैं।

मुक्ति का साधन

निष्कर्ष यह है कि निष्काम कर्म योग तो मुक्ति का साधन है किन्तु सकाम कर्म से भी अभ्युदय प्राप्त होता है। अधिकांश मनुष्य कामनापूर्वक ही कर्म करते हैं। श्रीकृष्ण का मानना है कि ऐसे मनुष्यों को भी अपने मार्ग से विचलित नहीं करना चाहिए। प्रत्युत ज्ञानी को चाहिए कि उन्हें कामना का दोष दिखाकर निष्कामता की ओर शनैः-शनैः ले जाए किन्तु जब तक उनका अहंकार न टूटे तब तक उन्हें देवी–देवताओं की उपासना के द्वारा अपने कर्म में सफलता प्राप्त करने दें।

इस आदेश से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि श्रीकृष्ण का न तो यह आग्रह है कि सब उनकी ही उपासना करें और न यह आग्रह है कि सब निष्काम उपासना ही करें। अभिप्राय यह है कि मनुष्य की रुचि और पृष्ठभूमि भिन्न है। सबकी एक जैसी रुचि नहीं हो सकती। किन्तु रुचिभेद से उपासना पद्धति में भेद होने के बावजूद सभी उपासनाओं का फल समान है।

जहाँ तक सकाम भाव से देवी–देवताओं की उपासना का प्रश्न है, कोई मनुष्य सहसा निष्काम नहीं हो सकता। अतः सकाम उपासना का भी एकदम निषेध नहीं किया जा सकता। साधक शनैः-शनैः ही निष्कामता की ओर अग्रसर होता है। ऐसी स्थिति से हमें परेशान नहीं होना चाहिए।

मूल तथा अनुवाद

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥१३॥

गुणों और कर्मों का विभाजन करके मैंने चार वर्णों की व्यवस्था बनाई। मैं उसका बनाने वाला होने पर भी अविनाशी, अकर्त्ता ही हूँ, ऐसा समझो ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

मुझे कर्मफल की लालसा नहीं है मुझे कर्म बाँधते नहीं, जो यह जानता है वह कर्मों से नहीं बँधता है ।।१४।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

पहले भी मोक्ष चाहने वालों ने ऐसा जानकर कर्म किये इसलिए तुम भी पूर्वजों के द्वारा पहले किये गये कर्मों को करो ही ।।१५।।

विपुल-भाष्य

कर्म करने की कला

किस प्रकार स्वयं श्रीकृष्ण कर्म करते हुए भी कर्म से लिप्त नहीं होते और किस प्रकार हम भी कर्म करते हुए किस प्रकार कर्म से लिप्त न हों यह बात पहले कही जा चुकी है। अब प्रश्न आता है कि मनुष्य कौन से कर्म करे। इसके उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उन्होंने गुण कर्म के अनुसार चार वर्ण बनाए हैं तथापि वे अव्यय स्वरूप हैं। इसलिए वे इन चार वर्णों के कर्ता होने पर भी वस्तुतः इनके कर्ता नहीं हैं। मनुष्य को वर्णधर्मानुसार कर्म करने चाहिए –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।

यहाँ दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं – गुण और कर्म। सांख्य में तीन गुण बताए हैं। उनमें सत्त्व गुण की प्रधानता से ब्राह्मण, रजोगुण की प्रधानता से क्षत्रिय और रजोगुण में अल्पतमोगुण के संयोग से वैश्य और तमोगुण की प्रधानता से शूद्र वर्ण बनता है। आज सामान्यतः हम मनुष्यों में ही वर्ण व्यवस्था मानते हैं, किन्तु वस्तुतः वर्ण व्यवस्था व्यापक है। उदाहरणतः पक्षियों में कबूतर आदि ब्राह्मण हैं, बाज आदि क्षत्रिय हैं, चील आदि वैश्य और कौए आदि शूद्र हैं। इसी प्रकार वृक्षों में पीपल आदि ब्राह्मण, नीम आदि क्षत्रिय, इमली आदि वैश्य और बबूल आदि शूद्र हैं। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था बहुत व्यापक है तथापि अन्य योनियाँ भोग योनियाँ हैं; कर्म-योनि केवल मनुष्य-योनि है, इसलिए शास्त्रों में जिस वर्ण–धर्म का प्रतिपादन है वह मुख्यतः मनुष्य के लिए किया गया है। वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण होने के कारण यह वर्ण-व्यवस्था पूरी त्रिगुणात्मक प्रकृति में व्याप्त है। क्योंकि वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म पर आधारित है इसलिए यह मनुष्यकृत नहीं है।

मनुष्य के कर्तव्य

ऋषियों ने तो उन गुणों को पहचान कर तदनुसार वर्ण धर्म का प्रतिपादन कर दिया, वर्ण-व्यवस्था उन्होंने बनाई नहीं। सत्त्व, रजस् और तमस् के तारतम्य के कारण मनुष्य मुख्यतः चार प्रकार के हैं। व्यक्ति के और समाज के लाभ की दृष्टि में रखते हुए इन चार प्रकार के मनुष्यों के क्या कर्तव्य निर्धारित किए जाएँ, यह विचार ऋषियों ने किया। सत्त्व गुण जिनमें प्रधान है, उनके लिए ऐसे कर्तव्य निर्धारित किए गए जिनमें ज्ञान विशेष उपयोगी है। प्राचीन काल में ज्ञान का केन्द्र वेद था और वेद के साथ ही आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि उपवेद भी थे। आज विज्ञान की जो नई–नई शाखाएँ निकल रही हैं उनमें लगना भी ब्राह्मण वर्ण का अर्थात् उन लोगों का काम समझना चाहिए जो ज्ञान की खोज के लिए उत्सुक रहते हैं। जिनमें रजोगुण प्रधान है वे कर्मठता का जीवन जीना चाहते हैं, प्रशासन उनका स्वाभाविक धर्म है। यह क्षत्रिय वर्ण का स्वरूप है। अर्जुन इसी प्रकार का व्यक्ति है। शक्ति क्षत्रिय के पास रहती है।

यह समझना भूल होगी कि वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण ने अपने लिए कोई विशेष सुविधाएँ जुटा लीं। ज्ञानी होने के कारण उसे समाज का सम्मान प्राप्त होता है किन्तु उसके पास न प्रशासक की शक्ति होती है, न वैश्य का धन।

वस्तुतः ज्ञान की खोज में उसे इतना आनन्द आता है कि प्रशासनिक शक्ति जुटाने का अथवा धनोपार्जन करने का उसके पास समय ही नहीं होता।

एक तीसरी कोटि के वे मनुष्य हैं जो मानते हैं कि धन से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है इसलिए वे अर्थ पुरुषार्थ में लगे रहते हैं। चौथी प्रकार के लोग श्रम करने में बहुत आनन्द लेते हैं। वे खाली नहीं बैठ सकते।

ये चारों प्रकार के मनुष्य एक–दूसरे के परिपूरक हैं। न सब ज्ञानी बन सकते हैं, न सब योद्धा, न सब व्यापारी और न सब श्रमिक। यदि सब मनुष्य एक ही प्रकार के हो जाएँ तो समाज का धर्म चलना कठिन हो जाए। समझा जाता है कि ब्राह्मण का स्थान बहुत ऊँचा है। किन्तु कल्पना करें कि एक समाज में सब ब्राह्मण ही हैं तो देश की रक्षा के लिए कोई शस्त्रधारी नहीं होगा, किसान और व्यापारी नहीं होगा और श्रम के अभाव में कोई शिल्प भी नहीं पनप पाएगा। इस प्रकार चार प्रकार के वर्णों की सृष्टि करके भगवान् ने हमारा बहुत उपकार किया है कि सभी प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य बनाए। इन चार प्रकार के मनुष्यों को वेद और गीता में एक ही शरीर के भिन्न–भिन्न अंग बतलाने का अभिप्राय यही था कि सबकी समाज में उसी प्रकार आवश्यकता है जिस प्रकार शरीर में सब अंगों की । इनमें छोटे–बड़े का सवाल नहीं है।

स्वभाव मनुष्य के कर्म में

गुण स्वभाव का निर्णय करता है। यह स्वभाव मनुष्य के कर्म में प्रकट होता है। जब तक हम अपने गुण या स्वभाव के अनुसार कर्म करते हैं तब तक हमारा कर्म सहज होता है। सहज कर्म में यह भाव उत्पन्न नहीं होता कि हमने कोई बड़ा काम किया। इससे अहंकार उत्पन्न नहीं होता, अहंकार ही कर्तृत्व है – **अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।** किन्तु जब कोई कर्म हमारे लिए स्वाभाविक नहीं होता है, तो हमें उस कर्म के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है और तब ऐसा लगता है कि हमने कोई बड़ा काम किया। यही अहंकार है। इसे ही कर्तृत्वाभिमान कहते हैं। मनुष्य यदि अहंकार से बचना चाहे तो अपने स्वभावानुसार सहज कर्म करे, ऐसा कर्म करे जिसे वह अनायास कर सके। अनायास कर्म में जब मनुष्य का कुछ भी आयास नहीं लगता तो उसे लगता है कि उस कर्म के करने में उसका कुछ भी व्यय नहीं हुआ। तब वह आसानी से अपने अव्यय स्वरूप को समझ लेता है। तब वह कर्म का कर्त्ता नहीं रहता केवल दृष्टा रहता है।

हमसे अनेक कर्म सहज भाव में हो रहे हैं। नाड़ियों में स्पन्दन है। श्वास आ–जा रहा है, जठराग्नि भोजन पचा रही है। ये सब कार्य हमारे जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं किन्तु ये कार्य इतने अनायास रूप में होते हैं कि हमें कभी भी लगता ही नहीं कि इन कार्यों को हम कर रहे हैं। हम कभी नहीं सोचते कि हम भोजन पचा रहे हैं अथवा साँस ले रहे हैं। जब हम किसी कार्य को जो हमारे स्वभाव के अनुकूल होता हो, सहज भाव से करते हैं तो यह भाव पैदा नहीं होता कि हम उस कार्य को कर रहे हैं।

स्वाभाविक कार्य के लिए यह प्रश्न नहीं उठता कि वह कार्य क्यों होता है या क्यों किया जाता है। इसी प्रकार परमात्मा के लिए यह प्रश्न नहीं होता कि परमात्मा सृष्टि क्यों बनाता है। सृष्टि को बनाना उसका स्वभाव है। यह उसकी लीला है। उसमें कर्तृत्व का प्रश्न नहीं है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा कि मैंने चार वर्ण बनाए फिर भी मैं उनका कर्ता नहीं हूँ। प्रश्न होता है कि यदि श्रीकृष्ण कर्म के कर्ता नहीं हैं तो क्या कर्म उन्हें बाँधेंगे। उत्तर यह है कि केवल श्रीकृष्ण ही नहीं अन्य भी कोई व्यक्ति यदि यह जान ले कि आत्मा कर्म से लिप्यामान नहीं होती और न आत्मा में कर्मफल की इच्छा ही है तो फिर वह व्यक्ति कर्म से बँधता नहीं है –

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।

हम जानते हैं कि लीला में हम जो कुछ करते हैं उसका कोई प्रभाव हम पर नहीं पड़ने वाला और न उसका कोई प्रयोजन है। जब सारा जीवन लीला बन जाता है तो फिर कर्म बाँधता नहीं है। शास्त्रों में कभी संसार को स्वप्न बताया जाता है, कभी भगवान् की लीला और कभी माया। जैसे हम नाटक में कोई भी अभिनय करें तो हम उस

पात्र के कर्म करते हैं जिस पात्र का हम अभिनय कर रहे हैं। वे कर्म हम अवश्य करते हैं किन्तु हम यह कभी नहीं चाहते कि उन कर्मों का फल हमें मिले। इसी प्रकार जब हम जीवन को नाटक समझते हैं तो हमारे कर्म हमें बाँधते नहीं।

कर्मयोग मोक्ष का मार्ग

फल सदा भविष्य में रहता है। कर्म सदा वर्तमान में रहता है। फल से जुड़ जाने का अर्थ है कि भविष्य की किसी आशा से जुड़ जाना। यह तनाव का कारण है। जब हम फल की इच्छा नहीं करते तो वर्तमान में सिमट कर रह जाते हैं और कल की आशंका का भय नहीं रहता।

वर्तमान का जीवन वास्तविक है, इसीलिए सुखद है। भविष्य का जीवन काल्पनिक है, इसीलिए दुःखद है। यह कार्य कुशलता है कि हम भविष्य की चिन्ता किए बिना वर्तमान में ही कर्म को पूरे मनोयोग से करें। जिसने कर्म को पूरी लगन से किया उसका कर्म स्वतः ही परिपूर्ण होगा और कर्म में त्रुटि न रहे तो फल भी स्वतः ही अनुकूल होगा। इस प्रकार अनेक मुमुक्षुओं ने पहले कर्म किया है। श्रीकृष्ण का कहना है कि अर्जुन को भी उन्हीं मुमुक्षुओं का अनुकरण करते हुए कर्म करना चाहिए –

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

अभिप्राय यह है कि कर्मयोग केवल एक सिद्धान्त नहीं है अपितु व्यवहार की कसौटी पर भी खरा उतरता है। इसे उन लोगों ने व्यवहार में उतारा जो मुक्त होने की इच्छा रखते थे। कर्मयोग संसार का मार्ग नहीं है, मोक्ष का मार्ग है। कोई कर्म से विरत भी होना चाहेगा तो यह कर्म से विरत होना भी एक कर्म ही बन जाएगा और बन्धन का कारण होगा। अतः हमारे पास एक ही विकल्प है कि हम कर्म तो करें किन्तु फल की इच्छा नहीं करें।

मूल तथा अनुवाद

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥

इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष भी दिग्भ्रमित हो जाते हैं कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इसलिए मैं तुम्हें कर्म तत्त्व समझाऊँगा जिसे समझ कर तुम अशुभ से छूट जाओगे॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥१७॥

कर्म का तत्त्व बहुत गहन है इसलिए कर्म को भी समझना चाहिये और विकर्म को भी समझना चाहिये तथा अकर्म को भी समझना चाहिये॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

जो अकर्म में कर्म को देखता और कर्म में अकर्म को देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, योगी है और समस्त कर्मों को सम्पन्न करने वाला है॥१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥

जिसके सारे कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं ऐसे ज्ञान की अग्नि से कर्मों को दग्ध कर देने वाले व्यक्ति को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥२०॥

कर्म के फल की आसक्ति को छोड़ कर किसी के सहारे के बिना जो नित्य तृप्त है वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥२१॥

जिसने अन्तःकरण को वश में कर लिया सब परिग्रहों को छोड़ दिया और जो कोई आशा नहीं रखता वह केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करते हुए भी पाप को प्राप्त नहीं होता ॥२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥२२॥

कर्म करने पर भी वह व्यक्ति बन्धन में नहीं पड़ता। जो कुछ स्वयं मिल जाये उसी में सन्तुष्ट रहता है। किसी से ईर्ष्या नहीं करता और जो द्वन्द्वातीत होकर सफलता तथा असफलता में समभाव रखता है॥२२॥

विपुल-भाष्य

कर्म में अकर्म

कर्म के बिना जीवन यात्रा सम्भव नहीं है। जीवन यात्रा की चिन्ता छोड़ भी दें तो भी यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्म के बिना चाहे भी तो मनुष्य रह ही नहीं सकता। प्रस्तुत उपदेश में गीता के छः श्लोकों में यह बात स्पष्ट की गई है कि किस प्रकार यह सम्भव है कि मनुष्य कर्म तो करे किन्तु उसे कर्म का बन्धन न हो। संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि तत्त्व को जानकर कर्म किया जाए तो कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता। तत्त्वज्ञान का फल यह होता है कि प्रथम तो मनुष्य विकर्म अर्थात् त्याज्य कर्म को छोड़ देता है और जो कर्म उपादेय हैं उन्हें भी इस प्रकार करता है कि वे बन्धन के कारण न बनें।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि कुछ करने का नाम कर्म है और कुछ न करने का नाम अकर्म। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि कुछ न करना भी एक कर्म है। ''मैं यह काम नहीं करूँगा' यह अध्यवसाय एक मनोव्यापार है और मनोव्यापार भी एक कर्म ही होता है। यह प्रथम प्रकार का कर्म है जिसे क्रतु अथवा अध्यवसाय कहा जाता है। 'मैं कर्म कर रहा हूँ' अथवा 'मैं कर्म नहीं कर रहा हूँ', ये दोनों ही अध्यवसाय हैं, इसलिए ये दोनों ही कर्म हैं। हम इस बात को नहीं समझते और कुछ न करने को अकर्म मान बैठते हैं। अर्जुन ने कहा था, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'- न योत्स्ये। उसने समझा कि ऐसा करने से कर्म का अभाव हो जाएगा। किन्तु, वस्तुतः यह उसका एक अध्यवसाय था, एक कर्म ही था, अकर्म नहीं। इसलिए श्रीकृष्ण को कहना पड़ा कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है - इस विषय में विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या? अतः अब श्रीकृष्ण उसे उस कर्मतत्त्व का उपदेश देते हैं जिसे जानकर वह पाप से मुक्त हो जाएगा –

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

पाँच प्रकार के कर्म

अध्यवसाय के अतिरिक्त अन्य भी पाँच प्रकार के कर्म हैं। अध्यवसाय के अतिरिक्त दूसरा कर्म क्षण-कर्म है जो प्रत्येक क्षण शरीर में स्पन्दन के रूप में होने वाली क्रिया का नाम है। तीसरा कर्म भावकर्म है, जैसे इन्द्रियों के

द्वारा बोलना, देखना आदि क्रियाएँ। चौथा संस्कार कर्म है जिसका उद्देश्य है दोष का मार्जन करना, अतिशय का आधान करना और हीन अंग की पूर्ति करना। पाँचवाँ कर्म विकार कर्म है अर्थात् शास्त्र विरुद्ध कर्म, जिसे सामान्यतः पाप कहा जाता है । छठा कर्म वह है जिसके द्वारा वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिन्हें उत्पादक कर्म भी कह सकते हैं। इनमें विकार कर्म तो सर्वथा त्याज्य है और शेष कर्मों को भी इस प्रकार करना चाहिए कि वे बन्धन का कारण न बन पाएँ। यही उपाय गीता में बताया गया है। सामान्यतः मनुष्य कर्म न करने को अकर्म मान लेते हैं, जबकि कर्म न करने का संकल्प एक मानसिक कर्म है। इसके विपरीत सामान्य मनुष्य यह समझता है कि कर्म करना कर्म है जबकि ज्ञानी का कर्म भी अकर्म ही होता है क्योंकि उसमें न तो कोई ऐसा संकल्प होता है कि मैं अमुक कार्य करूँगा और न कोई ऐसी कामना होती है कि मैं अमुक कर्म द्वारा अमुक फल को प्राप्त कर लूँ।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म को जानना चाहिए। विकर्म को जानना चाहिए और अकर्म को भी जानना चाहिए। क्योंकि कर्म का स्वरूप बहुत गम्भीर है। वस्तुस्थिति यह है कि बुद्धिमान् वह है और योगी भी वह है जो समस्त योग करते हुए भी कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है –

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येद् कर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता और समझ रहा है कि इससे वह कर्म का त्याग कर देगा, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि त्याग तीन प्रकार का है। मोह के कारण किया गया त्याग तामस त्याग है। अर्जुन अपने भाई-बन्धुओं के प्रति मोह के कारण ही युद्ध का त्याग करना चाहता है अतः उसका यह त्याग तामस त्याग कहलायेगा। अपने को कष्ट से बचाने के लिए किया गया त्याग राजस त्याग कहलाता है। तामस और राजस त्याग में कर्म छूटते हुए भी वस्तुतः छूटते नहीं हैं। इसलिए ऐसी स्थिति को अकर्म में कर्म कहा जाएगा। कर्म के फल की इच्छा छोड़ देना सात्विक त्याग है। यही त्याग वास्तविक त्याग है। ऐसी स्थिति में कर्म होते रहते हैं, किन्तु न कोई कामना होती है और न किसी प्रकार का संकल्प ही। कर्म होते हैं – इससे लोकयात्रा भी चलती है, और लोकसंग्रह भी होता है अर्थात् स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती है और संसार का उपकार भी, किन्तु बन्धन नहीं होता।

कर्म अनित्य है उनका फल भी अनित्य है। जो कर्म के फल में सुख मानता है उसे मिलने वाला सुख भी अनित्य ही होता है। किन्तु आत्मा नित्य है इसलिए जो अपने स्वरूप में आनन्दित है उसका आनन्द भी नित्य है। आत्मतृप्त ही नित्य तृप्त रहता है। ऐसा व्यक्ति भले ही कर्म करे किन्तु वह उस कर्म-फल में आसक्त नहीं होता जिस कर्म-फल में सामान्य मनुष्य सुख माना करते हैं उसके सुख का स्रोत आत्म-स्वरूप है, न कि कर्म का फल। इसलिए वह किसी के आश्रित नहीं होता कि अमुक व्यक्ति अथवा पदार्थ से उसे सुख मिल जाएगा। ऐसा व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होने पर भी मानो कुछ नहीं करता –

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥

निर्लिप्तता के उपाय

कर्म करते हुए किस प्रकार मनुष्य पाप से लिप्त न हो उसके लिए गीता में सात उपाय बताए गए हैं। पहला उपाय है – इच्छा न रखना, किसी प्रकार की आशा न करना, जब इच्छा नहीं रहती तो अन्तःकरण अर्थात् चित्त आदि वश में रहते हैं। हम जानते हैं कि गलत काम नहीं करने चाहिए फिर भी हम गलत काम की ओर कामना के कारण

ही तो प्रवृत्त होते हैं। यदि व्यक्ति अपनी प्रकृति को समझकर तदनुसार कर्म करे तो कर्म स्वयं में ही आनन्दप्रद होता है। आनन्द प्राप्त करने के लिए यह अपेक्षा नहीं रहती कि कर्म का कोई फल हमें प्राप्त हो। वस्तुतः कर्म का फल तो भोग-सामग्री का संग्रह है। भोग-सामग्री का संग्रह ही परिग्रह कहलाता है, जबकि परिग्रह का त्याग आवश्यक है। इस प्रकार कर्म बन्धन का कारण न बने इसके लिए प्रथम तीन शर्तें ये हैं कि व्यक्ति कामना न करे, चित्त को वश में रखे और परिग्रह को छोड़ दे। तो वह अपने शरीर से कर्म करते हुए भी पाप को प्राप्त नहीं होगा –

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।

यहाँ शारीरिक कर्म के दो अर्थ हैं – शरीर से होने वाला कर्म और शरीर निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। दोनों ही अर्थ उचित प्रतीत होते हैं। खाना–पीना इत्यादि कर्म शरीर की स्थिति के लिए आवश्यक हैं और ये प्रवृत्तियाँ शरीर से होती हैं। कर्म में विकार आलस्य अथवा प्रमाद के कारण होता है। आलस्य का अर्थ है कि व्यक्ति कष्ट से बचने के लिए कर्म न करे और प्रमाद का अर्थ है कि कामना के वशीभूत होकर मनुष्य अकरणीय कर्म भी कर दे।

प्रश्न होता है कि यदि व्यक्ति परिग्रह छोड़ ही देगा तो उसका शरीर निर्वाह कैसे होगा? श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगी परिग्रह छोड़ देता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे कुछ मिलता न हो। जो कर्म वह करता है उसके बदले में उसे लाभ तो होता ही है। वह उसी लाभ में सन्तुष्ट रहता है। इस कारण वह अनुकूलता-प्रतिकूलता के द्वन्द्व में नहीं पड़ता। उसे ऐसी ईर्ष्या भी नहीं होती कि दूसरे को अधिक प्राप्त हो गया और उसे कम प्राप्त हुआ। संक्षेप में वह सफलता और विफलता में समान रहता है। पहले श्लोक में तीन बातें कही गईं और चार बातें इस श्लोक में कही गईं – जो मिल जाए उससे सन्तुष्ट रहे, द्वन्द्व में न फँसे, ईर्ष्या न करे और समता का भाव रखे तो मनुष्य कर्म करने पर भी बन्धन में नहीं फँसता –

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते।।

वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा तो सदा ही अकर्त्ता है। कर्त्ता केवल प्रकृति है यह ज्ञान हो जाने पर शरीर से कुछ भी कर्म क्यों न हुआ करे, व्यक्ति अकर्म में ही रहता है किन्तु हमारे इस ज्ञान को हमारी इच्छा धूमिल बना देती है। हम सामान्यतः समझते हैं कि इच्छा के बिना कर्म में उत्साह नहीं होगा। पर सच बात यह है कि इच्छा हमें भविष्य में भटकाती है जबकि कर्म वर्तमान में करना होता है। परिणाम यह होता है कि इच्छा के कारण हमारा मन भविष्य में रहता है और इसलिए वर्तमान में हम कुशलतापूर्वक कर्म नहीं कर सकते। अकुशल कर्म का परिणाम होता है विफलता। इस प्रकार इच्छा कर्म के माध्यम से कर्म को सघन बनाकर सफलता नहीं देती, प्रत्युत कर्म में अधूरापन लाकर विफलता देती है।

संकल्प राग का सूचक

गीता में संकल्प को छोड़ने की बात कही है। सूक्ष्म रूप में संकल्प इच्छा से ही होता है। संकल्प राग का सूचक है। राग हमारे कर्म को मलिन करता है। जहाँ संकल्प नहीं है वहाँ राग नहीं है। वहाँ केवल ध्यान है। ध्यान की स्थिति समता की स्थिति है। संकल्प की स्थिति प्रतिबद्धता की स्थिति है।

जो मुक्त पुरुष हैं वे संसार के सब कार्य करते हुए भी मुक्त रह सकते हैं क्योंकि वे समता में रहते हैं। गीता कहती है कि जितना मिले उसी में सन्तोष कर लिया जाए। सामान्य व्यक्ति की स्थिति इसके विपरीत है। वह जो मिला है उसकी तरफ ध्यान ही नहीं देता। उसका ध्यान उस तरफ जाता है जो उसे नहीं मिला। इस कारण वह सदा असन्तुष्ट रहता है। जब हमें अप्राप्त प्राप्त हो जाता है तब वह हमारे लिए नगण्य हो जाता है। हमारे लिए महत्वपूर्ण वह होता है जो हमें नहीं मिला। जो नहीं मिला है उसकी चिन्ता करना, दुःख का मार्ग है। सुख का मार्ग है कि जो मिला हुआ

है उसका आनन्द लें। अगर हम उस तरफ ध्यान दें जो हमें मिला है तो हम आनन्द से भर जाएँगे और ऐसे में हमारा कर्म शक्तिशाली हो जाएगा। हम ऐसा न समझें कि असन्तोष से कर्म में शक्ति आती है। कर्म में शक्ति आनन्द से आती है और आनन्दित वही हो सकता है जो प्राप्त वस्तु से सन्तुष्ट रहे।

वस्तुतः गीता जो सिखाती है वह उसका उल्टा है जो सामान्य व्यक्ति के साथ घटित होता है। सामान्य व्यक्ति द्वन्द्व में जीता है। वह चीजों को दो भागों में बाँटता है, कुछ चीजों को वह अपने अनुकूल समझता है कुछ को प्रतिकूल। जब हम अनुकूलता खोजते हैं तो हम यह भी समझते हैं कि अनुकूलता के साथ प्रतिकूलता जुड़ी है। हम जितनी अनुकूलता खोजेंगे उतनी प्रतिकूलता हमें स्वतः मिल जाएगी। प्रतिकूलता से बचने का उपाय यही है कि हम अनुकूलता को खोजना बन्द कर दें।

मन सदा द्वन्द्व में जीता है। द्वन्द्व से परे जाने का अर्थ है मन से परे जाना। मन संकल्प विकल्प करता है किन्तु आत्मा जो मन से परे है वह केवल जानती है। यह ज्ञान ही द्वन्द्वातीत है। सुख और दुःख आते और जाते हैं किन्तु मैं उनके आने और जाने को देखता हूँ। मैं सुख और दुःख से परे हूँ।

सुख और दुःख दोनों बाँधते हैं। जब हमें सुख मिलता है तो हम इस चिन्ता में पड़ जाते हैं कि कहीं सुख हमसे छिन न जाए और जब हमें दुःख नहीं मिल रहा होता है तब भी हम इस चिन्ता में रहते हैं कि कहीं दुःख न आ जाए। सुखी से सुखी व्यक्ति भी इन दो प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त नहीं रह पाता। इसलिए वह बन्धन में ही है। मुक्त तो वही है जिसे न सुख के छिनने की चिन्ता है न दुःख के आने की। यही वीतरागता है, यही मुक्ति है।

उपर्युक्त वर्णन से ऐसा लगता है कि गीता बहुत नीरस विरक्ति के जीवन जीने की बात कह रही है। पर वस्तुतः गीता परम आनन्द का द्वार खोल रही है। इच्छा रहित व्यक्ति वर्तमान में जीता है अतः उसका हर कर्म कुशलतापूर्वक ही सम्पन्न होता है और यदि कर्म कुशलता से किया जाए तो विफलता का प्रश्न ही नहीं होता। संक्षेप में यह एक विरोधाभास सा ही दिखाई देता है कि जब हम सफलता की चिन्ता छोड़ देते हैं तो हम सफल हो जाते हैं। जब हम सुख की लालसा छोड़ देते हैं तो सुखी हो जाते हैं। इस प्रकार वैराग्य नीरसता का मार्ग नहीं है, वास्तविक सरसता का मार्ग है। जिस भोगेच्छा को हम सरसता का साधन समझे बैठे हैं वही हमारे जीवन को क्लेशमय बना देती है।

मूल तथा अनुवाद

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥२३॥

जिसमें आसक्ति नहीं रही, जो मुक्त है तथा जिसका चित्त ज्ञान में स्थित है, ऐसे यज्ञ के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥२४॥

ब्रह्म कर्म में स्थित समाधि द्वारा उसके लिए ब्रह्म ही गन्तव्य हो जाता है जिसका साधन भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, और ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म रूपी अग्नि में दी जाने वाली आहुति भी ब्रह्म है॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥२५॥

अन्य योगी देव पूजन रूप यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं तो कुछ दूसरे योगी ब्रह्म रूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का ही हवन करते हैं॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥

दूसरे योगी श्रोत्रादि इन्द्रियों का संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं तो कुछ योगी शब्दादि विषयों का इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन करते हैं॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥२७॥

अन्य योगी सारी इन्द्रियों के कर्मों को और प्राण के कर्मों को ज्ञान से आलोकित आत्म-संयम रूपी योगाग्नि में आहुत करते हैं॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥२८॥

कुछ द्रव्ययज्ञ करते हैं, तपोयज्ञ करते हैं तथा योगयज्ञ करते हैं और कुछ यति कठोर व्रतों का पालन करते हुए स्वाध्याय रूप ज्ञान यज्ञ करते हैं॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणपानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥३०॥

कुछ योगी अपान वायु में प्राण का तथा कुछ प्राण वायु में अपान वायु का हवन करते हैं। कुछ आहार संयम करते हुए प्राणायाम में लग कर प्राण तथा अपान की गति को रोककर प्राणों का प्राणों में ही हवन करते हैं। ये सभी यज्ञ के द्वारा पापों को नष्ट कर देने वाले यज्ञवेत्ता हैं॥२९-३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञ से बचे हुए अमृत का भोग करने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करने वाले व्यक्ति के लिए यह लोक भी नहीं है फिर परलोक की तो बात ही क्या॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥३२॥

इस प्रकार वेद के द्वारा अनेक प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं वे सब कर्म से सम्पन्न होते हैं, ऐसा जानकर तुम मुक्त हो जाओगे॥३२॥

विपुल-भाष्य

यज्ञ के विविध रूप

गीता का आधार वैदिक जीवनदृष्टि है और वैदिक जीवनदृष्टि का आधार यज्ञ है। यज्ञ का मूल सिद्धान्त है कि प्रकृति में जिस प्रक्रिया से कार्य हो रहा है मनुष्य को भी अपने क्रियाकलापों में उसी प्रक्रिया का अनुकरण करना चाहिए। गीता ने यज्ञ की इस अवधारणा को इतना व्यापक रूप दिया है कि मनुष्य का प्रत्येक कर्म यज्ञ बन गया। अग्नि में सामग्री की आहुति देना यज्ञ का एक रूप था किन्तु गीता ने यज्ञ का इतना व्यापक रूप हमारे सामने रखा कि हमारा

प्रत्येक कर्म ही यज्ञ बन सके। यज्ञ में विसर्जन करना पड़ता है, त्याग करना पड़ता है। आसक्ति अथवा संग्रह की इच्छा ही हमें बाँधती है जिसमें आसक्ति नहीं रही, वही मुक्त है। पदार्थ के प्रति आसक्ति छूटे तो मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है और मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो जाए तो उसकी पदार्थ के प्रति आसक्ति छूट सकती है। प्रश्न है कि जिसकी आसक्ति छूट गई क्या वह कर्म करेगा? उत्तर है कि वह भी यज्ञ के लिए कर्म करेगा किन्तु उसका वह कर्म बंधन का हेतु न बनने के कारण अकर्म ही कहलाएगा। इसी दृष्टि से कहा गया है –

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते॥

जहाँ इच्छा है वहाँ कर्तृत्व है, जहाँ कर्तृत्व है वहाँ अहंकार है और जहाँ अहंकार है, वहीं आसक्ति अथवा ममता है। इच्छा चली जाए तो अहंकार भी नहीं रहता और जहाँ अहंकार नहीं है, वहाँ कर्तृत्व नहीं है। जब कर्तृत्व ही नहीं तो कर्म कहाँ से होगा? ऐसे अहंकार रहित मनुष्य का कर्म बंधन रहित होने के कारण अकर्म ही है। यह बात गीता के चतुर्थ अध्याय में बार-बार दुहराई गई है। जिसमें अहंकार नहीं रहा उसका जीवभाव ब्रह्मभाव में बदल जाता है। जब तक जीवभाव है तब तक ही द्वैत है। ब्रह्मभाव के जागृत होने पर अद्वैत भाव आ जाता है। उस भाव में सब कुछ ही ब्रह्म रूप हो जाता है। इसलिए जिसमें अहंकार नहीं रहा और जिसका जीवभाव नष्ट हो गया उसके लिए सब कुछ ब्रह्मरूप हो जाता है। अग्नि में आहुति देने की जो प्रक्रिया यज्ञ नाम से प्रसिद्ध है उस प्रक्रिया के समस्त अंग भी ज्ञानी के लिए ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। जिस पात्र से यज्ञ किया जाए वह पात्र भी ब्रह्म है। जिस पदार्थ की आहुति दी जाए वह पदार्थ भी ब्रह्म है। अग्नि भी ब्रह्म है। ऐसा ज्ञान होने पर समस्त कर्म ब्रह्मरूप हो जाते हैं अर्थात् उसके लिए ब्रह्म के अतिरिक्त कर्म का और कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्मसमाधिना॥

यह ज्ञान के द्वारा किए गए कर्म का स्वरूप है। परम्परा में उपर्युक्त श्लोक का पाठ भोजन करते समय किया जाता है। भोजन जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक है किन्तु जिसका सम्पूर्ण जीवन ही यज्ञ बन गया हो उसके लिए भोजन करने की प्रक्रिया भी यज्ञ बन जाती है।

भोजन स्वाद के लिए नहीं

अभिप्राय यह है कि वह भोजन स्वाद के लिए नहीं करता और न शरीर के प्रति आसक्ति के कारण करता है अपितु इसलिए करता है कि भोजन के द्वारा शरीर का अस्तित्व बना रहता है और उस शरीर के द्वारा किए जाने वाले कर्म संसार के संचालन में सहायक बनते हैं। वह हाथ जिससे भोजन किया जाता है वह अन्न जो खाया जाता है, जठराग्नि जो भोजन को पचाती है और भोजन करने की क्रिया – ये सब ही ब्रह्म हैं। ऐसा जानने पर भोजन करने की प्रक्रिया ब्रह्मयज्ञ बन जाती है। यह यज्ञ का प्रथम रूप हुआ। यज्ञ का दूसरा रूप है अपनी सब क्रियाओं के फल को भगवदर्पण कर देना - यह देवयज्ञ है। अपने अस्तित्व को परमात्मा के अस्तित्व में लीन कर देना यह यज्ञ का तीसरा रूप है। कर्म के फल को भगवदर्पण कर देने से ममता समाप्त हो जाती है और अपने को परमात्मा का अंश मानने पर अहंकार समाप्त हो जाता है। ममता और अहंकार के न रहने पर बंधन नहीं होता अतः इसे भी यज्ञ रूप ही कहा जाता है –

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥

यज्ञ में अग्नि की आहुति दी जाती है। इस प्रक्रिया को गीता में एक व्यापक रूप देते हुए कहा गया कि ज्ञानेन्द्रियों का संयम की अग्नि में आहुति दे देना एक यज्ञ है। श्रोत्रेन्द्रिय शब्द के प्रति, त्वचा स्पर्श के प्रति, चक्षु रूप के प्रति, जिह्वा रस के प्रति और घ्राणेन्द्रिय गंध के प्रति राग रहित हो जाएँ – यही इन्द्रियों का संयम की अग्नि में आहुति दे

देना है। संयम का अर्थ है इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में राग-द्वेष न रखना। यह भी एक यज्ञ है। इसी यज्ञ की एक दूसरी प्रक्रिया यह है कि शब्दादि विषयों को इन्द्रियों की अग्नि में आहुत कर दिया जाए अर्थात् विषय इन्द्रियों में विकार उत्पन्न न कर सके। अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय-संयम भी एक यज्ञ ही है –

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

आसक्ति इन्द्रियों के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है। इन्द्रियाँ विषयों में राग न रखें तो साधक विचलित नहीं होगा।

समाधि भी एक यज्ञ

गीता समाधि को भी एक यज्ञ ही मानती है। समाधि में इन्द्रियों की और प्राणों की क्रियाएँ निरुद्ध हो जाती हैं तथा ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त हो जाता है। इन्द्रियों की क्रिया सुषुप्ति में भी रुक जाती है किन्तु वहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। इसलिए समाधि की अवस्था निद्रा की अवस्था से भिन्न है। जब समस्त चेष्टा समाधि में रुक जाती है तो मानो समाधि की अग्नि में क्रियाओं की आहुति दे दी जाती है। यह भी यज्ञ का ही एक रूप है।

सर्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

सांसारिक पदार्थों को लोकोपयोगी कार्यों में लगा देना भी यज्ञ का एक रूप है जिसे द्रव्ययज्ञ कहा जाता है। किन्तु उस यज्ञ की यह शर्त है कि इस यज्ञ करने वाले को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक व्रतों का पालन करने वाला होना चाहिए। एक ओर शोषण द्वारा अप्रामाणिक साधनों से धन इकट्ठा किया जाए और दूसरी ओर यश की अथवा पुण्य की इच्छा से उसी धन द्वारा लोकोपकारी कार्य किए जाएँ तो यह द्रव्ययज्ञ नहीं कहलाएगा। ईमानदारी से कमाए गए पैसे के द्वारा ही लोकोपकारी कार्य करना द्रव्ययज्ञ है। फिर भी द्रव्ययज्ञ के लिए द्रव्य होना आवश्यक है। किन्तु तपोयज्ञ नाम का एक ऐसा यज्ञ है जिसमें धन की आवश्यकता नहीं होती। तप का अर्थ है संकल्प शक्ति की दृढ़ता, जिसके द्वारा मनुष्य प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपनी समता नहीं खोता और अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहता है। यह तप भी एक यज्ञ है। चित्त की चंचलता को रोके रखना योग-यज्ञ है और स्वाध्याय द्वारा ज्ञान का अर्जन ज्ञान-यज्ञ है –

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

भारतीय परम्परा में प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। कहा जाता है – यत्र यत्र पवनः तत्र तत्र मनः। यदि श्वास की चंचलता रोक ली जाए तो चित्त की चंचलता भी नष्ट हो जाती है। इसलिए प्राणायाम चित्त को एकाग्र करने का साधन है। जब प्राण वायु को अंदर लिया जाता है तो वह अपान में लीन हो जाती है, यह पूरक प्राणायाम है। जब प्राण और अपान दोनों को रोक लिया जाता है अर्थात् न श्वास बाहर जाता है न भीतर आता है तो यह कुंभक प्राणायाम कहलाता है। जब श्वास अंदर से बाहर जाता है तो प्राण में अपान की आहुति पड़ती है, तो यह रेचक प्राणायाम कहलाता है। ये तीनों ही प्रकार के प्राणायाम यज्ञ हैं। जो संतुलित आहार करते हैं वे ही यह यज्ञ कर सकते हैं। प्राणायाम के ये सभी प्रकार पापों का नाश करने वाले यज्ञ हैं –

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

इस प्रकार यज्ञ के अनेक रूप हैं किन्तु सबका प्रयोजन एक ही है – अनासक्ति भाव से कर्म करना। आसक्ति भाव से कर्म करने वाला भी कदाचित् अपनी आजीविका तो चलाता है किन्तु उसका भोग सदा दुःख से दूषित रहता

है, क्योंकि वह दुःख के आने तथा सुख के छिन जाने की आशंका से भयभीत रहता है। निष्काम भाव से कर्म करने वाला व्यक्ति भी भाग्यानुसार भोगों को प्राप्त करता है किन्तु उसके भोग भोगने में दुःख का मिश्रण नहीं रहता इसलिए यज्ञ के द्वारा प्राप्त भोगों को भोगने वाला मानो अमृत को ही भोगता है। उसे सर्वत्र ब्रह्म का ही अनुभव होता है अतः अमरता का अधिकारी हो जाता है।

कर्म में और कर्त्तव्य में भेद है। जो स्वार्थ सिद्धि के लिए किया जाए वह कर्म है। ऐसा कर्म तो पशु भी करते हैं। उसके लिए किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। राग-द्वेष अज्ञानी को भी कर्म में प्रेरित करते हैं किन्तु जो स्वार्थ से प्रेरित होकर कर्म करते हैं उन्हें इस संसार में भी सम्मान नहीं मिलता, अपितु अपमान ही मिलता है। जब ऐसे लोगों का यह लोक भी नहीं सध पाता तो परलोक सधने की तो बात ही क्या है? इसके विपरीत जो शास्त्र की आज्ञानुसार अपने स्वार्थ का विचार किए बिना कर्म करते हैं वे कर्म कर्म न रह कर कर्त्तव्य बन जाते हैं। उनका पालन करने में स्वार्थ का त्याग करना पड़ता है। पशु में और मनुष्य में यही अन्तर है कि मनुष्य का आचरण कर्त्तव्य बुद्धि से प्रेरित होना चाहिए न कि स्वार्थ बुद्धि से। जहाँ स्वार्थ बुद्धि मुख्य रहती है वहाँ संघर्ष और अशांति हो जाती है और जहाँ कर्तव्य बुद्धि मुख्य होती है वहाँ सुख का विस्तार होता है। यही अमृततत्त्व है। कर्त्तव्यपालन में जो आनन्द है वह आनन्द विषय से प्राप्त होने वाले आनन्द की अपेक्षा बहुत उत्कृष्ट है। वही ब्रह्मानन्द है। वस्तुतः तृप्ति तो ब्रह्मानन्द से ही होती है किन्तु हम विषयों के आनन्द से तृप्ति प्राप्त करना चाहते हैं और इसलिए सदा अतृप्त ही रह जाते हैं –

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।

सभी श्रेष्ठ कर्म यज्ञ

गीता ने यज्ञ की इतनी विस्तृत व्याख्या कर दी कि सभी श्रेष्ठ कर्म यज्ञ में समाविष्ट हो गए। साथ ही गीता में बताया गया यज्ञ स्वर्ग का नहीं प्रत्युत मोक्ष का साधन है क्योंकि वह सकाम कर्म नहीं है। फिर भी यज्ञ कर्म से ही उत्पन्न होता है। इसलिए यज्ञ के लिए कर्म आवश्यक है। यही तथ्य इस बात का प्रतिपादक है कि अनासक्ति भाव से कर्म करते हुए मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों को प्राप्त कर सकता है और धर्म का यही स्वरूप है कि उससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हों –

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।

मूल तथा अनुवाद

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

हे परंतप अर्जुन ! द्रव्य द्वारा किये जाने वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। सारे कर्म पूर्ण रूप से ज्ञान में (ही) समाहित हो जाते हैं।। ३३ ।।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

उस ज्ञान को विनम्रतापूर्वक सेवा करके पूछ-पूछ कर (ज्ञानियों से) समझो। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें ज्ञान का उपदेश देंगे।।३४।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

उस ज्ञान को प्राप्त करके तुम फिर इस प्रकार मोह में नहीं फँसोगे। हे अर्जुन ! उस ज्ञान के द्वारा तुम पूर्ण रूप से सभी प्राणियों को अपने में और मुझमें देख सकोगे॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥३६॥

यदि तुम सभी पापियों से भी अधिक पापी हो (तो भी) ज्ञान रूपी नौका से ही तुम सारे पाप समूह को पार कर जाओगे ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि सारे कर्मों को भस्मसात् कर देती है॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥३८॥

इस संसार में ज्ञान के समान और कुछ भी पवित्र नहीं है। उस ज्ञान को समय पाकर योगसिद्ध व्यक्ति स्वयं ही अपने में प्राप्त कर लेता है॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९॥

तत्परतापूर्वक इन्द्रियों को वश में रखने वाला श्रद्धावान् व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करता है (और) ज्ञान को प्राप्त करके तत्काल ही परम शान्ति को पा लेता है॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४०॥

(इसके विपरीत) अज्ञानी, श्रद्धारहित और संशययुक्त व्यक्ति नष्ट हो जाता है। संशययुक्त व्यक्ति के लिये न यह लोक है न परलोक और न सुख॥४०॥

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबन्धन्ति धनञ्जय॥४१॥

हे अर्जुन् ! जिसनें योग के द्वारा स्वयं को कर्मों से निर्लिप्त कर लिया और ज्ञान के द्वारा संशयों को उच्छिन्न कर दिया ऐसे आत्मवान् पुरुष को कर्म नहीं बाँधते॥४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४२॥

इसलिए हे अर्जुन! हृदय में स्थित अज्ञानजनित अपने इस संशय को ज्ञान की तलवार से काट कर योग में स्थित हो जाओ और (युद्ध के लिए) सन्नद्ध हो जाओ॥४२॥

विपुल-भाष्य

ज्ञान का महत्त्व

गीता में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है किन्तु गीता का यह निर्णय है कि सब यज्ञों में ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। अन्य यज्ञों में द्रव्य की अपेक्षा रहती है इसलिए उन यज्ञों को द्रव्यमय यज्ञ कहा है। उदाहरणतः यदि हम किसी निर्धन की सहायता करना चाहें तो उसके लिए धन की अपेक्षा रहती है किन्तु ज्ञानयज्ञ के लिए किसी द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान के लिए केवल विवेक आवश्यक है। गीता कहती है कि ज्ञान के होने पर समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं। कर्म को छोड़ना श्रीकृष्ण को अभीष्ट नहीं है – यह बात गीता के अनेक श्लोकों में कही गई है। अतः यहाँ कर्म के समाप्त होने का अर्थ होगा कि ज्ञानी का लक्ष्य कर्म नहीं होता अपितु अन्तःकरण की शुद्धि होता है। सत्य की प्राप्ति में तीन बाधक तत्त्व हैं – मल, विक्षेप और आवरण। कर्म से मल, उपासना से विक्षेप और ज्ञान से आवरण दूर होता है। अतः कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों का अपना महत्त्व है। ज्ञानी के लिए कर्म का महत्त्व इसलिए नहीं है कि कर्म द्वारा अभीष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं अपितु कर्म का महत्त्व इसलिए है कि उससे अन्तःकरण का मल नष्ट हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी कर्म दोनों ही करते हैं, किन्तु अज्ञानी की दृष्टि पदार्थ पर रहती है ज्ञानी की दृष्टि चित्त शुद्धि पर रहती है। पदार्थ पर से दृष्टि हट जाना ही कर्म का समाप्त हो जाना है; यह तभी होता है जब ज्ञान हो जाए –

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व साधक में कुछ गुण होने चाहिए। प्रथम तो उसमें नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक होना आवश्यक है। यदि वह अनित्य पदार्थों को नित्य मानकर चलेगा तो पदार्थ तो अनित्य होने के कारण अवश्य छूटेगा ही और साधक दुःख में डूब जाएगा। इस विवेक से साधक में वैराग्य उत्पन्न होता है। जब तक वैराग्य न हो तब तक व्यक्ति पदार्थ के पीछे दौड़ता है और पदार्थ के पीछे दौड़ने वाले को ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। विवेक से वैराग्य प्राप्त होता है तो वैराग्य से शम, दम, श्रद्धा, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान नामक छः गुण मिलते हैं जो साधक की सम्पत्ति है। मन को विषयों से हटाना शम है, इन्द्रियों को विषयों से हटाना दम है, शास्त्र पर विश्वास श्रद्धा है, चित्तवृत्तियों का संसार में आसक्त न होना उपरति है, सर्दी–गर्मी, भूख-प्यास सहना करना तितिक्षा है और अन्तःकरण में शंकाएँ न रहना समाधान है। ज्ञानी मुमुक्षु होता है, बुभुक्षु नहीं।

गुरु के बिना ज्ञान नहीं

भारतीय परम्परा में यह माना जाता है कि ज्ञान गुरु के बिना प्राप्त नहीं होता। ज्ञान एक चेतन प्रक्रिया है। इसलिए वह गुरु से ही शिष्य में आ सकता है, क्योंकि गुरु भी चेतन है। जिस प्रकार पानी ऊपर से ही नीचे आता है, उसी प्रकार शिष्य गुरु से ज्ञान तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह विनयशील हो। इसलिए भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरु अर्जुन को ज्ञान का उपदेश देंगे किन्तु इसके लिए अर्जुन को विनयपूर्वक और सेवाभाव से गुरु से जिज्ञासा करनी होगी। गुरु की सेवा करने का अर्थ है उसकी इच्छा के अनुसार जीवन बिताना। यहाँ गुरु की दो विशेषताएँ बताई हैं – वह ज्ञानी भी होता है और तत्त्वदर्शी भी। तत्त्वदर्शी का अर्थ है कि वह सत्य का साक्षात्कार कर चुका होता है। ज्ञानी का अर्थ है कि गुरु तर्क-वितर्क की शास्त्रीय परम्परा से परिचित होता है। केवल अनुभव ही पर्याप्त नहीं है। अनुभव से व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है, किन्तु दूसरों का कल्याण करने के लिए अनुभव को अभिव्यक्त करने की कला भी आनी चाहिए। अतः गुरु तत्त्वदर्शी भी होना चाहिए और ज्ञानी भी। ऐसे गुरु की आज्ञा में रहते हुए जिज्ञासा भाव से पूछने से ज्ञान प्राप्त हो सकता है –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

प्रश्न होता है कि ज्ञान होने पर क्या घटित होता है? उत्तर यह है कि ज्ञान का फल है – समस्त प्राणियों को अपने में अथवा परमात्मा में देख पाना। यह दृष्टि होने पर मोह नष्ट हो जाता है। ईशोपनिषद् में स्पष्ट किया गया है कि जिस साधक के लिए समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही बन गया, उसके लिए मोह का कारण शेष नहीं रह जाता –

यस्य सर्वाणि भूतान्यात्मेवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

मोह का कारण भेद-दृष्टि है। अभेद में मोह नहीं टिक सकता। मोह ही शोक का कारण है; अतः श्रुति कहती है कि अद्वैत का बोध होने पर मोह नहीं रहता तो फिर शोक कैसे रहेगा? गीता भी इसी बात को दोहराती है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

मन पर अतीत का बोझ

हम सबके मन पर अतीत का बोझ रहता है। ज्ञान की बात तो वर्तमान में की जा रही है। किन्तु अतीत में तो हम अज्ञानी रहे हैं। उस अज्ञान का फल तो हमें भोगना पड़ेगा। आज ज्ञान होने पर भले ही हम पाप छोड़ दें किन्तु अतीत में तो हम अज्ञान के कारण पाप करते रहे हैं। यह अपराधबोध साधक को हतोत्साह कर देता है। श्रीकृष्ण का कहना है कि हम अतीत के बोझ को न ढोएँ। मान लें कि किसी कमरे में बहुत लम्बे समय से अँधेरा है किन्तु उसमें जैसे ही प्रकाश किया जाता है, अँधेरा कितने ही लम्बे समय से और कितना भी घना क्यों न हो, प्रकाश से तत्काल दूर हो जाता है। पाप अँधेरा है, ज्ञान प्रकाश है। पाप कितना भी अधिक हो, ज्ञान के सामने नहीं टिक पाता। इसलिए अतीत में किए गए पापों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान की नौका पाप के समुद्र से पार ले जाने वाली है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

ज्ञान की महिमा अपरम्पार है। पाप के समुद्र को ज्ञानरूपी नौका से पार किया जा सकता है किन्तु यह रूपक भी पाप समुद्र के पार करने की बात तो कहता है किन्तु पाप के नष्ट होने की बात नहीं बताता। इसलिए अगले श्लोक में गीता कहती है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि सब कर्मों को भस्मसात् कर देती है। कर्म तीन प्रकार के हैं – संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। इन तीनों ही प्रकार के कर्मों का आधार अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ है – कर्तृत्व का अभिमान। मैं कर्म करता हूँ – यह अज्ञान है, क्योंकि कर्म वस्तुतः प्रकृति में हो रहे हैं। व्यक्ति बालक से युवा और वृद्ध होता है, जो खाना वह खाता है वह पच कर रक्त, मांस और मज्जा बनता है, तो क्या इन कर्मों को व्यक्ति कर रहा है? यह सब कर्म प्रकृति में घटित हो रहे हैं। व्यक्ति तो इनका केवल दृष्टा ज्ञाता है। ऐसा ज्ञान हो जाने पर कर्म से हमारा सम्बन्ध नहीं रहता है। यही कर्म का भस्मसात् हो जाना है। जिसमें कर्तृत्व का भाव है, वह कुछ न करते हुए भी कर्म से बँधता है और जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं, वह सब कुछ करते हुए भी कर्म से नहीं बँधता –

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

पवित्रता के अनेक साधन हैं – यज्ञ, दान, तप, जप, ध्यान, तीर्थ; किन्तु इन सब साधनों में ज्ञान सर्वोपरि है, क्योंकि ये सब साधन मिलकर भी यदि ज्ञान उत्पन्न नहीं कर पाते तो वे साधक को पवित्र नहीं कर पाते। ये सब साधन साधन ही हैं, साध्य तो तत्त्वज्ञान ही है। व्यक्ति को अपवित्र वासना बनाती है। वासना मनुष्य को दुःख में तो उद्विग्न रखती ही है सुख में भी उद्विग्न बना देती है। केवल ज्ञानी ही अनुकूलता-प्रतिकूलता में समान रह सकता है। कर्म अनित्य है और कर्म का फल पदार्थ भी अनित्य है। किन्तु जो कर्म और पदार्थ को जान रहा है वह नित्य है। यह भेद-ज्ञान होने पर साधक यह जान जाता है कि वह ज्ञाता है। कर्म से उसका इतना ही सम्बन्ध है कि वह कर्मों को

जान रहा है। कर्म का सम्बन्ध प्रकृति से है, ज्ञाता से नहीं – यह ज्ञान ही मनुष्य को कर्म से मुक्त कर देता है। इस ज्ञान के प्राप्त होते ही कर्म के कारण होने वाली अशान्ति तत्काल विदा हो जाती है और एक ऐसी परम शान्ति अवतरित होती है जो सांसारिक भोगों से प्राप्त होने वाले सुख से सर्वथा भिन्न है। अतः साधक का समस्त पुरुषार्थ ज्ञान प्राप्ति के लिए होना चाहिए । श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के दो साधन हैं – श्रद्धा और इन्द्रिय-संयम –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

श्रद्धा का अर्थ है – सहज विश्वास। श्रद्धा की नहीं जाती, वह स्वतः होती है। उसमें संशय के लिए स्थान नहीं है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रद्धा में जिज्ञासा नहीं होती। जिज्ञासा का अन्त ज्ञान में होता है। आज नहीं तो कल जिज्ञासु को अपनी जिज्ञासा का उत्तर मिल जाता है। किन्तु संशयालु कभी भी उत्तर तक नहीं पहुँचता। इसलिए उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। श्रद्धा का अर्थ है – संशय का अभाव और सत्य की जिज्ञासा। जहाँ श्रद्धा के स्थान पर संशय है, वहाँ न ज्ञान है न शान्ति। वहाँ केवल लक्ष्य-हीन दौड़ है। ज्ञान में दूसरी बाधा इन्द्रियों का असंयम है। जब इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं यह जानना संभव नहीं होता कि मैं कर्म से भिन्न हूँ। तब तो व्यक्ति स्वयं का कर्म से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। जिसने कर्म से अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया वह कर्म के साथ विषमता का जीवन जीता है। सुख भी उद्विग्नता है, दुःख तो उद्विग्नता है ही। कर्म से सुख-दुःख मिल सकते हैं पर दोनों स्थितियों में उद्विग्नता ही हाथ लगती है, शान्ति नहीं। जिसका मन शान्त नहीं है वह कोई निर्णय ठीक ले नहीं पाता। वह केवल संशय के झूले में झूलता रहता है उसे इस लोक में भी सफलता नहीं मिलती, परलोक में सफलता मिलने का तो प्रश्न ही नहीं है। उसमें जिज्ञासा नहीं रहती, तो ज्ञान कहाँ से होगा। श्रद्धा के अभाव में उसके पाँव हर समय लड़खड़ाते रहते हैं –

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।

संशय मन में रहता है। श्रद्धा आत्मा का धर्म है। इसीलिए संशय मन की तरह डाँवाडोल है श्रद्धा आत्मा की तरह स्थिर है। श्रद्धा कहीं भी टिक जाए, जीवन को लक्ष्य मिल जाता है। संशय कहीं भी हो, जीवन लक्ष्यहीन हो जाता है। संशय का प्रतिपक्षी है – ज्ञान और कर्मबन्धन का प्रतिकार होता है योग से अर्थात् समत्व बुद्धि से। जो समता में स्थित है और ज्ञान से युक्त है वही आत्मवान् है। उसे ही कर्म नहीं बाँध पाते –

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबन्धन्ति धनंजय।।

सब आत्मवान्

यूँ तो आत्मवान् सब हैं क्योंकि सबके आत्मा है। किन्तु वस्तुतः आत्मवान् वह है जो आत्मा को जानता है। यदि हमारे घर में स्वर्णमुद्राएँ गड़ी हुई हैं किन्तु हमें मालूम नहीं है, तो हम धनवान् होते हुए भी निर्धन हैं। हमारे पास आत्मा है तो सही किन्तु यदि हमें उसका ज्ञान नहीं है, तो हम आत्मयुक्त होने पर भी आत्मवान् नहीं हैं। शास्त्रकार ऐसे व्यक्ति को आत्महन्ता ही मानते हैं। आत्मवान् ही कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है। कर्म छोड़ने से कोई मुक्त नहीं हो जाता। इसलिए चौथे अध्याय का उपसंहार करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अपने मन के संशय को ज्ञान की तलवार से काटकर समभाव से रहते हुए कर्म के लिए तत्पर हो जाओ –

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

अर्जुन बोले –

हे कृष्ण! आप कर्मों के छोड़ देने की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं, मेरे लिये इन दोनों में कौन श्रेयस्कर है यह निश्चयपूर्वक बताइये।। १।।

श्रीभगवानुवाच –

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।२।।

श्रीभगवान् बोले –

संन्यास और कर्मयोग दोनों ही श्रेयस्कर हैं किन्तु उन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।।२।।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

हे महाबाहो ! जो न किसी से द्वेष करता है न इच्छा करता है वह सदा संन्यासी है। वह द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर सरलता से बन्धनों से छूट जाता है ।।३।।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

अज्ञानी लोग ज्ञान और कर्मयोग को पृथक् बताया करते हैं पंडितजन नहीं। वस्तुतः (इन दोनों में से किसी) एक का भी सम्यक् अनुष्ठान करने वाला दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।।४।।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

जिस स्थिति को ज्ञानी प्राप्त करता है कर्मयोगी भी उसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है (इसलिये) जो ज्ञान और कर्मयोग को एक समझता है वही (वस्तुतः) समझदार है।।५।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

हे अर्जुन! बिना कर्म योग के संन्यास साधना कठिन है किन्तु मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।।६।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥७॥

जिसने अपने को जीत लिया, जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है और जो सब प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा बना चुका है ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता॥७॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥९॥

तत्त्व को जानने वाला योगी देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, भोजन करते, चलते हुए, सोते, श्वास लेते, बोलते, विसर्जन करते, ग्रहण करते और आँखों को खोलते तथा बन्द करते समय भी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा, (बल्कि) यह समझे कि इन्द्रियाँ ही अपने विषयों में प्रवर्त हो रही हैं॥८-९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

जो व्यक्ति कर्मों को ब्रह्म में स्थापित करके आसक्ति को छोड़कर व्यवहार करता है वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता॥१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

कर्मयोगी केवल आत्मशुद्धि के लिये इन्द्रिय मन, बुद्धि और शरीर से आसक्ति को छोड़ कर कर्म करते हैं॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥
सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

कर्मयोगी कर्मफल को छोड़कर नैष्ठिक शान्ति प्राप्त करते हैं। अयोग्य व्यक्ति कामनाओं से फल में आसक्त होकर बँध जाते हैं। संयमी पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नौ द्वारवाले शरीर रूपी नगर में मन से सब कर्मों को छोड़ कर सुखपूर्वक रहता है॥१२-१३॥

विपुल-भाष्य

बुद्धियोग : कर्म और ज्ञान का समन्वित रूप

आचार्य शंकर ने कहा है कि श्रुति को आलस्य नहीं होता – मन्त्राणाम् जामिता नास्ति। अभिप्राय यह है कि साधक की कल्याण कामना से शास्त्र एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न प्रकार से बारम्बार दोहराया करते हैं। गीता पर भी यही नियम लागू होता है। साधक यदि गीता में कहीं पुनरावृत्ति पाए तो उसे यह समझना चाहिए कि साधक की हित-कामना से गीता माता ऐसा कर रही है। यद्यपि अब तक के चार अध्यायों में यह रहस्य उद्घाटित किया जा चुका

है कि मनुष्य किस प्रकार कर्म करते हुए भी कर्म से अस्पृष्ट रह सकता है तथापि यह विषय इतना सूक्ष्म है कि अर्जुन के सम्मुख वही प्रश्न फिर आ खड़ा हुआ कि यदि कर्म करते हुए बन्धन का कारण नहीं बनते तो फिर उस संन्यास की परम्परा का क्या औचित्य है जो कर्म छोड़कर भिक्षाचार्य में आस्था रखती है।

गीता का आग्रह यह नहीं है कि साधक ज्ञानयोगी बने अथवा कर्मयोगी क्योंकि इन दोनों का फल एक ही है। दोनों ही कल्याण करने में समर्थ हैं – **निःश्रेयसकरावुभौ।** इसीलिए श्रीकृष्ण ने अब तक के चार अध्यायों में दोनों ही मार्गों की संस्तुति की थी। इसी कारण अर्जुन को यह सन्देह हो गया था कि इन दोनों में श्रेयस्कर कौन है। इसलिए उसने पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ में सीधा और स्पष्ट प्रश्न कर दिया कि इन दोनों मार्गों में जो श्रेयस्कर हो उसे निश्चयपूर्वक बताने की कृपा की जाए – **एच्छ्रेयः एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।**

इस प्रश्न का यह लाभ हुआ कि श्रीकृष्ण ने एक निश्चित मत दे दिया कि यद्यपि श्रेयस्कर तो ये दोनों ही मार्ग हैं तथापि कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है – **तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।** यह समझना चाहिए कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इस कारण सभी मनुष्यों का स्वभाव भी एक जैसा नहीं है। कुछ सत्त्वगुण प्रधान हैं, कुछ रजोगुण प्रधान हैं और कुछ तमोगुण प्रधान। इस कारण कुछ मनुष्यों को चिन्तन प्रधान अन्तर्मुखी वृत्ति अनुकूल पड़ती है तो कुछ को बहिर्मुखी सक्रिय जीवन शैली रुचिकर लगती है। श्रीकृष्ण ने दोनों ही प्रकार के मनुष्यों के कल्याण का पथ प्रशस्त किया है। अन्तर्मुखी वृत्ति वाले साधक के लिए संन्यास का मार्ग प्रशस्त है तथा बहिर्मुखी वृत्ति वाले मनुष्य के लिए कर्मयोग प्रशस्त है।

कर्मयोग श्रेष्ठ क्यों

प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ क्यों बताया गया? इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि गीता का साक्षात् श्रोता अर्जुन, क्षत्रिय है, रजोगुण प्रधान प्रकृति का है, योद्धा है। वह जिस संन्यास की बात कर रहा है, संन्यास की वह इच्छा वैराग्य से नहीं, अपितु भाई-बन्धुओं के मोह से उत्पन्न हुई है। वस्तुतः तो संन्यास उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है, उसके लिए तो कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि गीता पाँच हजार वर्ष पूर्व कलियुग के प्रारम्भ में सुनाई जा रही है। कलियुग में अधिकतर मनुष्य रजोगुण प्रवृत्ति प्रधान तथा बहिर्मुख होते हैं। उनके लिए भी कर्मयोग ही अनुकूल है। इसीलिए स्मृति ग्रन्थों में संन्यास को कलिवर्ज्य अर्थात् कलियुग में निषिद्ध बताया गया है। इसीलिए बहुजनहिताय दृष्टि से भी श्रीकृष्ण का यह कहना कि कर्मयोग श्रेष्ठ है, उचित ही है। इन परिस्थितियों को छोड़ दें तो भी सिद्धान्त की दृष्टि से कर्मयोगी अपने साथ दूसरों का भी कल्याण करता है। इसी दृष्टि से किए गए कर्मों को यज्ञार्थ कर्म कहा जाता है। इसीलिए यज्ञ को 'श्रेष्ठतम कर्म' कहा है, संन्यासी मुख्यतः अपने ही मोक्ष की चिन्ता करता है। वह वर्णधर्म से परे है, इसलिए समाज को उसका योगदान सीमित ही है। कर्मयोगी वर्णधर्म का पालन करता है। इसीलिए वह समाज धर्म का पूरा निर्वाह करता है। श्रुति को देखें तो इसमें कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड का वर्णन दस प्रतिशत ही है। अतः वैदिक धर्म मुख्यतः कर्मयोग को ही महत्त्व देता है, यद्यपि ज्ञानयोग का भी निषेध नहीं करता।

एक अन्य प्रश्न होता है कि यदि ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों परस्पर भिन्न हैं तो दोनों कल्याणकारी कैसे हो सकते हैं। वस्तुतः बुद्धियोग को इन दोनों योगों का मिलन बिन्दु माना गया है। कर्मरहित विशुद्ध ज्ञान सांख्य है, कर्मसहित ज्ञान योग है। गीता में सांख्य का प्रतिपादन तो है किन्तु गीता का मुख्य विषय योग अथवा बुद्धियोग है। ज्ञान कर्म-सहित हो या कर्म-रहित, है दोनों अवस्थाओं में ज्ञान। जब गीता सांख्य और योग को एक ही बतला रही है तो उसका यह अर्थ है कि दोनों ही मार्गों में उपासना तो ज्ञान की ही होती है अतः तत्त्वतः दोनों मार्ग एक हैं। गीता तो इस सबका स्पष्ट प्रतिपादन कर ही रही है –

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एक सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

संन्यासी कर्तृत्व का त्याग करता है क्योंकि वह जानता है कि वह प्रकृति नहीं है और कर्तृत्व प्रकृति में है। कर्मयोगी भोक्तृत्व का त्याग करता है क्योंकि वह जानता है कि कर्मफल पर उसका अधिकार नहीं है, दूसरे, कर्म से मिलने वाले फल अनित्य हैं, नित्य नहीं। वे यदि मिल भी जाएँ तो उनसे तृप्ति नहीं मिल सकती। इस प्रकार संन्यास और कर्म-योगी दोनों ही मार्गों में फलितार्थ एक ही है – आसक्ति का त्याग। जिसने आसक्ति छोड़ दी वह नित्य संन्यासी है। वह किसी चीज की आकांक्षा नहीं करता। इसलिए किसी से द्वेष करने का प्रश्न ही नहीं है। जो राग-द्वेष से रहित हो गया वही निर्द्वन्द्व है, और वही बन्धन से मुक्त हो सकता है, क्योंकि राग-द्वेष ही बन्धन का कारण है, कर्म अथवा कर्म से मिलने वाले पदार्थ नहीं –

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

राग-द्वेष से रहित ही संन्यासी

जिस प्रकार गीता में यज्ञ की अवधारणा को एक व्यापक रूप दिया गया, ताकि सारा जीवन ही यज्ञ बन सके, उसी प्रकार गीता में संन्यास को भी एक नया रूप दिया गया कि किसी भी अवस्था में रहते हुए मनुष्य यदि राग-द्वेष से रहित है तो संन्यासी ही है। इसे गीता ने नित्य संन्यास कहा। राग-द्वेष का कारण अनुकूलता, प्रतिकूलता है। कोई गृहस्थाश्रम में हो अथवा संन्यास आश्रम में, वह अनुकूलता, प्रतिकूलता से नहीं बच सकता। फिर मुख्य बात यह रहती है कि मनुष्य अनुकूलता में राग का भाव और प्रतिकूलता में द्वेष का भाव रखता है या नहीं। यदि राग-द्वेष का भाव नहीं है तो गृहस्थ भी मुक्त ही है और यदि राग-द्वेष का भाव है तो संन्यासी भी बन्धन में ही है। अतः संन्यास का व्यावर्त्तक धर्म वीतरागता है, न कि कोई आश्रम-विशेष। यह संन्यास की एक नवीन व्याख्या है, जो गीता ने हमें दी। फिर भी अन्तर्मुखी व्यक्ति को, कर्म जंजाल प्रतीत होते हैं और बहिर्मुखी व्यक्ति को कर्म किए बिना चैन नहीं मिलता। गीता इन दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के लिए सिद्धि का द्वार खोलती है। भले ही साधन भिन्न हो, पर साध्य दोनों का एक ही है –

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

आचार्य शंकर और लोकमान्य तिलक ने गीता की जो ज्ञानपरक और कर्मपरक व्याख्याएँ की हैं वे दोनों ही व्याख्याएँ अपनी-अपनी जगह उपयोगी हैं। किन्तु उन दोनों के बीच विरोध मानना ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि गीता स्पष्ट कह रही है कि जो सांख्य से प्राप्त होता है योग से भी वही प्राप्त होता है और इसलिए इन दोनों को अलग-अलग समझना उचित नहीं है –

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

यह तो भगवान् श्रीकृष्ण की उदार दृष्टि की बात हुई कि उन्होंने सभी प्रकार के साधकों के लिए सिद्धि का मार्ग दिखा दिया। तथापि क्योंकि उनका स्वयं का अवतरण साधुजनों की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिए हुआ था, अतः उनका अपना झुकाव कर्मयोग की ओर होना स्वाभाविक था। वैसे भी आज के अनुसन्धान के अनुसार वेद का मार्ग कर्मयोग का है, संन्यास का नहीं। गीता की यह विशेषता है कि उसमें संन्यास का प्रतिपादन होते हुए भी न केवल यह कहा गया है कि राग-द्वेष रहित कर्मयोगी नित्य संन्यासी है, अपितु यह भी कहा गया है कि कर्मयोग का मार्ग तत्काल फल देता है, जबकि संन्यास का मार्ग दुष्कर है। कारण यह है कि संन्यासी भी बिना कर्म के तो रह नहीं सकता। अतः जो भी कर्म वह करेगा उसमें तो उसे कर्मयोग की सरणि का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अतः ज्ञानी के लिए विशुद्ध कर्म-त्याग सम्भव नहीं है, जबकि कर्मयोगी के लिए विशुद्ध कर्मयोग से जीवनयापन करना सम्भव है।

कर्मयोग की बात सुनकर अनेक लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि संघर्ष और भाग-दौड़ का जीवन जीना कर्मयोग है और गीता इसी का प्रतिपादन कर रही है। ऐसा जीवन तो सब स्वतः ही जी रहे हैं, उसके लिए शास्त्र की

आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः गीता कर्म के लिए उन सब अर्हताओं की अपेक्षा कर रही है, जो ब्रह्मज्ञानी के लक्षण हैं। कर्मयोगी का अन्तःकरण शुद्ध होना चाहिए उसमें किसी प्रकार का स्वार्थ न हो। उसका अपने शरीर पर नियन्त्रण होना चाहिए, उसकी इन्द्रियाँ वश में होनी चाहिए। सबसे बढ़कर वह सब प्राणियों की आत्मा के साथ अपनी आत्मा का तादात्म्य अनुभव करने वाला होना चाहिए। तब ही कर्म उसे लिप्त नहीं कर सकेंगे –

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते।।

कर्मयोगी के लिए इस प्रकार की शर्तें रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता का कर्मयोगी वस्तुतः ज्ञानी से भिन्न नहीं है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों एक हैं। इन दोनों की एकता को समझ लेना ही बुद्धियोग है। यह बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। कर्मयोगी की समस्त विशेषताओं को बतलाने के बाद श्रीकृष्ण जिस शब्दावली का प्रयोग करते हैं इससे कई भाष्यकारों को यह भ्रम हो जाता है कि वे ज्ञानयोग का प्रतिपादन कर रहे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि क्योंकि उनकी दृष्टि में ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, इसलिए कहाँ कर्मयोग प्रारम्भ होता है और कहाँ ज्ञानयोग प्रारम्भ होता है, यह कहना कठिन हो जाता है।

क्रिया कहाँ होती है?

विचार करना चाहिए कि क्रिया कहाँ होती है? क्रिया तो प्रकृति में होती है। दूसरे शब्दों में समस्त क्रिया शरीर में हो रही है। आँख में देखने की क्रिया हो रही है, कान में सुनने की क्रिया हो रही है। मैं उस क्रिया को जान रहा हूँ किन्तु उस क्रिया को कर नहीं रहा। क्रिया रजोगुण का कार्य है। मैं त्रिगुणातीत हूँ। ऐसी स्थिति में साधक स्पष्ट जानता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में बरत रही हैं –

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।

ऐसी स्थिति में तत्त्व का जानने वाला यह समझ लेता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा –

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

जब कर्मों का कर्त्ता ही मैं नहीं, तो उनका फल मुझे कैसे मिल सकता है? ऐसा ज्ञान होने पर कर्मफल भगवदर्पित कर दिए जाते हैं फिर न मनुष्य पाप का भागी होता है, न पुण्य का। वह जल में कमल की भाँति निर्लिप्त होता है। उसका कर्म केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिए है। प्रश्न होता है कि यदि फल ही नहीं मिलने वाला तो कर्म क्यों किए जाएँ? यह प्रश्न ऐसा मानकर किया गया है कि मानो कर्म करना न करना हमारे आधीन है। प्रकृति में एक ऊर्जा है। वह ऊर्जा कर्म के रूप में अभिव्यक्त होती है। यदि हम उस कर्म के साथ अपना आसक्ति भाव जोड़ देते हैं तो हमारा अन्तःकरण मलिन हो जाता है और हम अशान्त हो जाते हैं। यदि हम ऐसा आसक्ति का भाव न जोड़ें तो हम शान्त रहते हैं। हमारे आधीन कर्म करना या न करना नहीं है, हमारे आधीन केवल आसक्ति रखना या न रखना है। अनासक्ति भाव से जो शान्ति मिलती है वही शान्ति हमें परमात्मभाव में प्रतिष्ठित कर देती है। उस परमात्मभाव में स्थित साधक प्रकृति में चलने वाले कर्म को देखता-जानता तो है, किन्तु वह न कुछ करता है न कुछ करवाता है। यही अकर्म है, न कि स्वरूपतः कर्म का छोड़ने का दुराग्रह।

मूल तथा अनुवाद

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

परमात्मा न मनुष्यों का कर्तृत्व बनाते हैं न कर्म और कर्मफल का संयोग। केवल स्वभाव प्रवृत्त होता है।।१४।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

परमात्मा न किसी के पाप को और न पुण्य को ग्रहण करता है। प्राणी इसलिए दिग्भ्रान्त होते हैं कि उनका ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है॥१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

किन्तु जिनका अज्ञान आत्मज्ञान के द्वारा समाप्त कर दिया गया है उनका ज्ञान सूर्य के समान परमात्मा को प्रकाशित करता है॥१६॥

विपुल-भाष्य

दुःख का कारण अज्ञान

ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या धारणाएँ प्रचलित हो गई हैं। ईश्वर स्रष्टा है इसलिए भ्रम वश यह मान लिया गया है कि सब कुछ वही कर रहा है। दूसरी ओर यह कहा गया है कि ज्ञानी में भी कर्तृत्व का अहंकार नहीं रहता फिर ईश्वर में कर्तृत्व का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है। यह मान भी लें कि ईश्वर में कर्तृत्व है तो फिर यह भी मानना होगा कि वह अपने कर्मों का फल भी भोगेगा। एक त्रिपुटी है – कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल। जहाँ कर्तृत्व है वहाँ कर्म भी है और कर्म का फल भी है। ईश्वर में कर्तृत्व भी नहीं है फिर कर्म और कर्मफल का प्रश्न ही नहीं उठता। कई बार कह दिया जाता है कि जो कुछ करता है वह ईश्वर ही करता है। ऐसी स्थिति में जीव पर कर्म का उत्तरदायित्व ही नहीं आएगा, फिर उसे कर्मफल भी नहीं मिलना चाहिए। अनीश्वरवादियों का यही मुख्य आरोप है। गीता कहती है कि न तो ईश्वर में कर्तृत्व है और न यह जीवों को कर्म करने के लिए प्रेरित ही करता है। वह स्रष्टा होते हुए भी कर्त्ता नहीं है।

वेद मंत्र अपौरुषेय

प्रसिद्ध है कि वेद मंत्र अपौरुषेय हैं किन्तु साथ ही प्रत्येक वेद मन्त्र के साथ एक ऋषि का नाम भी जुड़ा रहता है। यदि वह वेद मंत्र ऋषि ने बनाया ही नहीं तो फिर उस वेद मंत्र के साथ ऋषि का नाम क्यों दिया जाता है? और यदि ऋषि ने ही वह बनाया तो वेद मंत्रों को अपौरुषेय क्यों कहा जाता है? इस समस्या का समाधान परम्परा यह कह कर देती है कि ऋषि मंत्र के द्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं। मंत्र उनके माध्यम से अभिव्यक्त होता है, किन्तु मंत्र का कर्तृत्व उनमें नहीं रहता। गीता की भाषा में कहें तो वे मंत्र के अभिव्यक्त होने में निमित्त मात्र बनते हैं। ईश्वर ही इसी प्रकार सृष्टि के बनाने में निमित्त तो बनता है, किन्तु उसका कर्त्ता नहीं बनता। वेदान्त के अनुसार वह निमित्त भी है और उपादान भी, जैसे नर्तक नृत्य का निमित्त कारण भी है, और उपादान भी। श्रीकृष्ण भी अर्जुन को कौरवों के संहार में निमित्त मात्र बनने की कह रहे हैं, कर्त्ता बनने की नहीं।

ऐसी स्थिति में जीव कर्म के साथ अपना कर्तृत्व सम्बन्ध स्वयं जोड़ता है। इसमें उसका अहंकार कारण है, यह कोई ईश्वरीय विधान नहीं है। यदि ईश्वर की इच्छा से जीव शुभ-अशुभ काम करता होता तो शास्त्रों का विधि-निषेध बताना व्यर्थ हो जाता। कर्म का फल से सम्बन्ध है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जीव कर्म के फल के प्रति आसक्ति का भाव रखे। श्रीकृष्ण अर्जुन को कह चुके हैं कि वह अपने कर्म को कर्मफल से न जोड़े।

प्रश्न होता है कि इस सारी प्रक्रिया में ईश्वर क्या करता है? ईश्वर जीव के द्वारा किए गए कर्मों के अनुसार ऐसी बुद्धि और परिस्थिति बना देता है कि जीव अपने कर्मों का फल भोग सके। उदाहरणतः सूर्य का प्रकाश हो तो मनुष्य शास्त्र भी पढ़ सकता है और जुआ भी खेल सकता है। यदि प्रकाश न हो तो ये दोनों ही कर्म नहीं हो सकते

हैं। शास्त्र का पढ़ना शुभ कर्म है, जुआ खेलना अशुभ कर्म है। इन दोनों प्रकार के कर्मों का दायित्व सूर्य पर नहीं यद्यपि सूर्य ने इन दोनों कर्मों के करने की सुविधा प्रदान कर दी है तथापि वह न शास्त्र पढ़ने को कहता है न जुआ खेलने को। सूर्य के प्रकाश से इन दोनों कर्मों से कौन–सा कार्य किया जाए, यह चुनाव करने में जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। इसी प्रकार ईश्वर ने कर्म करने की सुविधा प्रदान की है, किन्तु सुविधा का लाभ उठाकर जीव अच्छा कर्म करे या बुरा कर्म करे, इसके लिए वह स्वतन्त्र है। ईश्वर उसे अच्छा या बुरा कर्म करने के लिए प्रेरित नहीं करता। इस प्रकार ईश्वर जीव के इच्छा स्वातन्त्र्य में बाधक नहीं है।

कर्मों का दायित्व

प्रश्न होता है कि जीव अच्छा या बुरा कर्म करता क्यों है? उत्तर है कि जीव स्वभाव के वशीभूत होकर अच्छे-बुरे कर्म करता है। यदि उसे कर्म से ऊपर उठना हो तो अपने स्वभाव से ऊपर उठना पड़ेगा, अपने संस्कारों को जीतना होगा। इस प्रक्रिया में निष्काम भाव से किया गया कर्म सहायक होता है क्योंकि उसमें राग-द्वेष नहीं होते हैं। इस प्रक्रिया में ज्ञान भी सहायक होता है क्योंकि ज्ञान के द्वारा मनुष्य यह जान जाता है कि वह पाप–पुण्य से अतीत है। ज्ञान द्वारा जो जीव अपने को प्रकृति से भिन्न समझ लेता है तो फिर प्रकृति उस पर हावी नहीं हो सकती। इस प्रकार गीता यह स्पष्ट कर देती है कि ईश्वर होने का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य अपने कर्मों का दायित्व ईश्वर पर छोड़ दे और स्वयं पुरुषार्थहीन बैठ जाए। उसका समस्त क्रिया-कलाप स्वभाव से प्रेरित हो रहा है। इसलिए उसे अपने स्वभाव को नियंत्रित करने का पुरुषार्थ करना होगा। ईश्वर न मनुष्य को कर्त्ता बनाता है, न उसे किसी कर्म को करने के लिए बाधित करता है और न उसे कर्मफल के लिए आसक्त बनाता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

ईश्वर को जीव के पाप अथवा पुण्य स्पर्श नहीं कर पाते किन्तु जीवों का ज्ञान अज्ञान से ढका रहता है और इसलिए वे मोह में पड़े रहते हैं। अज्ञान के मुख्यतः दो रूप हैं। प्रथम रूप है अहंकार जिसके कारण जीव अपने आपको कर्मों का कर्त्ता मान लेता है और दूसरा रूप है – राग-द्वेष, जिसके कारण जीव कर्मफल को भोगते समय सुखी या दुःखी होता रहता है। राग-द्वेष का कारण है इन्द्रियों का अपने विषयों के प्रति आसक्त होना। जैसे ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि कर्म प्रकृति में हो रहे हैं वैसे ही अहंकार छूट जाता है। अज्ञान का छूटना और ज्ञान का प्रकट होना दोनों उसी प्रकार एक साथ होते हैं जिस प्रकार बादल का हटना और सूर्य का प्रकट होना एक साथ होता है। अज्ञान अन्धकार के समान है। ज्ञान प्रकाश के समान है। ज्ञान का अर्थ है अपने स्वरूप का ज्ञान। अज्ञान का अर्थ है अपने स्वरूप का विस्मरण। गीता में अज्ञान से आवृत्त जीव के लिए 'जन्तु' शब्द का प्रयोग किया है। शास्त्र मनुष्य के लिए बने हैं और ज्ञान की महिमा भी मनुष्य को बताई जा रही है किन्तु जो मनुष्य कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अज्ञान में जी रहे हैं उनमें और पशुओं में कोई अन्तर नहीं है इसीलिए ऐसे मनुष्यों को भी जन्तु ही कहा जाता है –

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

अज्ञानी मनुष्य में यह चेतना रहती है कि मैं करूँगा और मैं भोगूँगा। ऐसी चेतना पशुओं में भी रहती है। इसलिए अज्ञानी और पशु को एक ही जैसा कहा गया है। केवल ज्ञानी मनुष्य ही यह जान पाता है कि मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, कर्त्ता-भोक्ता नहीं।

जैसे ही ज्ञान का उदय होता है वैसे ही अज्ञान नष्ट हो जाता है। अज्ञान के नष्ट होते ही ज्ञान सूर्य के समान परम तत्त्व को प्रकाशित कर देता है –

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

वस्तुतः अज्ञान अथवा माया अन्धकार के समान है। अन्धकार का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह तो केवल प्रकाश का अभाव है। किन्तु फिर भी अन्धकार से हम प्रभावित होते हैं। इसलिए हम यह भी नहीं कह सकते कि अन्धकार नहीं है। इसीलिए वेदान्त में माया को सदसदनिर्वचनीय कहा गया है। अन्धकार का अस्तित्व नहीं है इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि वह है, और अन्धकार अपना काम करता है इसलिए यह भी नहीं कह सकते कि वह नहीं है।

जब हम सो रहे होते हैं तो हमारा ज्ञान नष्ट नहीं हो जाता किन्तु ढक जाता है। ऐसी ही स्थिति अज्ञान की है। अज्ञानी का ज्ञान नष्ट नहीं हुआ है किन्तु ढका हुआ है। जैन दर्शन में एक शब्द का प्रयोग हुआ है – मूर्च्छा। जब हम मूर्च्छित होते हैं तो हमारा ज्ञान भी ढका रहता है। यही स्थिति अज्ञान की है। जैन दर्शन में परिग्रह को मूर्च्छा कहा गया है। वेदान्त में इसे ही माया कहा गया है। बोलचाल की भाषा में माया का वही अर्थ है जो परिग्रह का। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति के पास बहुत माया है तो उसका यही अर्थ होता है कि उसके पास बहुत परिग्रह है। परिग्रह जड है, वह बुद्धि को भी जड बना देता है। मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि वह जिस पदार्थ के प्रति आसक्ति रखता है तद्रूप ही हो जाता है। परिग्रह के प्रति आसक्ति रखने से मनुष्य स्वयं ही अपने आप को एक जड पदार्थ समझने लगता है। जड से जड की ही वृद्धि हो सकती है चेतना की नहीं। परिग्रही जब स्वयं को जड समझता है तो परिग्रह की वृद्धि में अपनी वृद्धि मान लेता है, इसे ही गीता ने यहाँ मोहित हो जाना कहा है। मनोविज्ञान का एक शब्द है – सम्मोहन अर्थात् हिप्नोटिज्म। सम्मोहन मन की संकल्प शक्ति का एक प्रयोग है। मनुष्य जैसा संकल्प करता है वैसा ही बन जाता है। परमहंस रामकृष्ण ने इस प्रक्रिया का उपयोग किया। उन्होंने श्रीकृष्ण की गोपी भाव से उपासना की कि वे स्वयं गोपी हैं। उनकी संकल्प शक्ति इतनी प्रबल थी कि अपने में स्त्री भाव का संकल्प करने के कारण उनमें स्त्री के शरीर वाले लक्षण प्रकट होने लगे। यह आत्म-सम्मोहन का फल था।

योनियों में भटकाव

हम जो भिन्न-भिन्न योनियों में भटक रहे हैं, शास्त्र की भाषा में इसका कारण अज्ञान है। किन्तु मनोविज्ञान की भाषा में इसका कारण आत्मसम्मोहन है। हम अनित्य पदार्थों में नित्य का, अपवित्र में पवित्र का, दुःख में सुख का और अनात्मा में आत्मा का संकल्प कर लेते हैं और फलस्वरूप अनात्मा में ही भटकते रहते हैं। जब हमारा यह आत्म-सम्मोहन टूट जाता है तो ज्ञान का प्रकाश हो जाता है और आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है।

मूल तथा अनुवाद

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥

जिनका मन और बुद्धि ब्रह्म में लीन है, जो ब्रह्म-निष्ठ और ब्रह्म-परायण हैं वे ज्ञान के द्वारा अपने पापों को धुन कर उस परमगति को प्राप्त कर लेते हैं जहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती॥१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥१८॥

ज्ञानीजन विद्या-विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय, हाथी और कुत्ते में तथा चांडाल में समदर्शी होते हैं॥१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

जिसका मन समता में स्थित हो गया उनके द्वारा संसार में ही रहते हुए संसार को जीत लिया गया क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है इसलिए वे भी ब्रह्म में स्थित हैं॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

ब्रह्म में स्थित स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता अनुकूलता को प्राप्त करके हर्षित न हो और प्रतिकूलता को प्राप्त करके उद्विग्न न हो॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥२१॥

बाहर के विषयों में आसक्ति रहित जो आत्मा के आनन्द को प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्म से तादात्म्य भाव प्राप्त कर लेने वाला अक्षय आनन्द का अनुभव करता है॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥२२॥

विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग वस्तुतः दुःख के ही हेतु हैं। हे अर्जुन ! सादि, सान्त अर्थात् अनित्य उन भोगों में विवेकी मनुष्य नहीं रमता॥२२॥

विपुल-भाष्य

ममता छोड़ें, समता धारें

सम्मोहन अथवा हिप्नोटिज्म के प्रभाव की चर्चा करते समय हमने कहा कि हम जैसा चिन्तन करते हैं वैसे ही बन जाते हैं। यह हमारे चिन्तन का प्रभाव है। विचारणीय बिन्दु यह है कि हम वस्तुतः कैसे हैं। उत्तर यह है कि हम वस्तुतः ब्रह्म रूप हैं। हम जो वस्तुतः हैं वह बनने के लिए सम्मोहन शक्ति का प्रयोग नहीं करना पड़ता अपितु वास्तविक स्वरूप प्राप्ति के लिए अपने को सब सम्मोहनों से मुक्त करना पड़ता है – डिहिप्नोटाइज करना पड़ता है। शास्त्रीय भाषा में सम्मोहन की प्रक्रिया यह है कि हम जो वस्तुतः हैं उस स्वरूप को छिपा लें और जो वस्तुतः नहीं हैं उस रूप का प्रक्षेपण कर दें – प्रोजेक्शन कर दें। पहला कार्य माया की आवरण-शक्ति करती है और दूसरा काम माया की विक्षेप-शक्ति करती है। सम्मोहन को दूर करने के लिए हमें अपनी बुद्धि को वहाँ ले जाना होता है जो हम वस्तुतः हैं। जब हम अपनी कल्पना को वहाँ ले जाते हैं जो हम वस्तुतः नहीं हैं तो हम एक योनि से दूसरी योनि में भटकते रहते हैं, क्योंकि जो वास्तविक नहीं है, मायाजाल है, वह बहुत देर तक नहीं रह पाता। स्पष्ट है कि आवागमन के चक्र से वे ही छूट पाते हैं जो अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् परमात्म-रूप में स्थित हो जाते हैं और ज्ञान के कारण जिनके समस्त पाप दूर हो जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिनकी बुद्धि और जिनका मन परमात्मा में एकीभाव से स्थित हो गया है और ज्ञान के कारण जो पाप-पुण्य से ऊपर उठ गए हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता –

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

संसार परिवर्तनशील है, उसमें कुछ भी नित्य नहीं है; केवल परमात्म-तत्त्व नित्य है। परिवर्तनशील के साथ अपना तादात्म्य मानने पर जीव भटकता है। यह अज्ञान की स्थिति है। जब बुद्धि के द्वारा नित्य परमात्म-तत्त्व के साथ अपना तादात्म्य निश्चित हो जाता है तो मन वहीं टिक जाता है। उस समय माया अथवा सम्मोहन का प्रभाव नहीं रहता। जीव अपने सत्य स्वरूप को जानकर सहज ही परमात्मतत्त्व में स्थित हो जाता है। उस समय उसका अहंकार अर्थात्

कर्तृत्व मिट जाता है, तब वह पाप-पुण्य का कर्त्ता नहीं रहता। भेददृष्टि ही आवागमन का कारण है। अभेददृष्टि मुक्ति का साधन है।

सर्वत्र परमात्म-तत्त्व

जब तक शरीर नहीं छूटता तब तक भी ज्ञानी परमात्म-तत्त्व में ही नित्य स्थित रहता है। इस कारण उसे सर्वत्र परमात्म-तत्त्व ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए विद्या और विनय अर्थात् चरित्र से सम्पन्न ब्राह्मण हो, गऊ हो, हाथी हो अथवा कुत्ता या चाण्डाल ही क्यों न हो; ऐसे ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है। इसलिए उसकी दृष्टि में कहीं भी भेदभाव नहीं रहता – वह सर्वत्र समदर्शी होता है –

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

प्रश्न होता है कि यदि ब्राह्मण, गऊ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में सर्वत्र ही ज्ञानी को ब्रह्म दिखाई देता है तो क्या वह सबके प्रति एक जैसा ही व्यवहार करेगा? विचार करना चाहिए कि ज्ञानी भी सवारी तो हाथी पर ही कर सकता है, कुत्ते पर नहीं। क्रिया में तो द्वैत अथवा विषमता रहती ही है, अद्वैत अथवा समव्यवहार सम्भव नहीं है। शास्त्र कहें या न कहें, दूध तो गाय का ही पेय होगा, कुतिया का नहीं। इसलिए शंकराचार्य ने कहा कि दृष्टि में अद्वैत हो सकता है व्यवहार में नहीं – **भावाद्वैतं सदा कुर्यात्, क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।** इसीलिए गीता में भी समदर्शिता की बात की गई है समवर्तिता की नहीं। ज्ञानी समदर्शी होता है, समवर्ती होना तो सम्भव ही नहीं है।

ऐसी स्थिति में आरोप लगाया जाता है कि भारतीय दर्शन केवल सिद्धान्त की बात करता है। तथाकथित उच्च जाति वालों ने जैसा व्यवहार तथाकथित निम्न जाति के लोगों से किया, उससे यह आरोप और भी अधिक पुष्ट हो गया। वेद में भिन्न-भिन्न वर्णों का सम्बन्ध बताने के लिए भिन्न-भिन्न वर्णों को परम पुरुष के शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों से उत्पन्न होने वाला बताया है। श्रुति के इस रूपक को ठीक से समझें तो वर्णव्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जब हमें व्यवहार करना होता है तो हम हाथ से भोजन करते हैं, पाँव से नहीं। और जब चलना होता है तो पाँव से चलते हैं, हाथ से नहीं। यह व्यवहार का स्वरूप है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम हाथ में चोट लग जाए तो दुःखी हों और पाँव में चोट लगे तो चिकित्सा नहीं करें। हमारी दृष्टि में यह बात निरन्तर बनी रहती है कि हाथ और पाँव दोनों हमारे ही अंग हैं, दोनों के स्वस्थ और सुखी रहने में ही हमारा कल्याण है, इसीलिए हम दोनों का समान रूप से ध्यान रखते हैं। यह समदर्शिता हुई। यह बात समझ में आ जाने पर वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत कोई एक वर्ण दूसरे वर्ण के प्रति अन्याय करे – यह सम्भव ही नहीं है। आज समता की बहुत चिन्ता की जा रही है। एक राजनीतिक दल ने अपना नाम ही समता पार्टी रखा हुआ है। वस्तुतः सभी राजनीतिक दल समता की बात करते हैं। समता की बात करते समय कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि वर्णव्यवस्था समता में बाधक है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि वर्णव्यवस्था तो सभी वर्णों को परम पुरुष के शरीर का ही भिन्न-भिन्न अंग मानती है। एक वर्ण दूसरे वर्ण के प्रति अन्याय करे - इसका अवसर ही वर्णव्यवस्था में नहीं है। यदि कोई वर्ण दूसरे वर्ण के प्रति अन्याय करता है तो यह समता की दृष्टि नहीं है, ममता की दृष्टि है। ममता का अभिप्राय है – अपना सुख चाहना, चाहे दूसरे को भले ही कितना भी दुःख क्यों न हो। यह समदर्शी का दृष्टिकोण नहीं है। जो समता चाहते हैं उन्हें सबसे पहले ममता छोड़नी होगी। जो अपना स्वार्थसिद्ध करने में लगे हैं वे स्वयं समाज का शोषण कर रहे हैं, वे भला क्या समता स्थापित करवा पाएँगे? इस स्वार्थ बुद्धि के कारण भिन्न-भिन्न वर्ण, जाति और सम्प्रदायों के बीच सौहार्द स्थापित करने की बात करने वाले राजनीतिक दलों के बीच ही परस्पर कितना सौहार्द है – यह हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष है। भिन्न-भिन्न राजनीतिक दल तो परस्पर कीचड़ उछालते रहते हैं। इसका कारण यह है कि बात तो समता की की जाती है किन्तु वस्तुतः दृष्टि में समता नहीं, ममता अर्थात् स्वार्थ बुद्धि है। जब तक वर्णव्यवस्था की इस दृष्टि को न समझा जाए कि समाज के सभी वर्ग एक ही पुरुष के भिन्न-भिन्न अंगों के समान हैं, तब तक समता स्थापित नहीं हो सकती। शरीर का कोई

एक अंग दूसरे अंग की कीमत पर अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहता और निःस्वार्थ बुद्धि से सभी अंग एक-दूसरे का उपकार करते हैं। तभी शरीरयात्रा निर्बाध रूप से चलती है।

स्वार्थ से छुटकारा

प्रश्न होता है कि स्वार्थ तो मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, मनुष्य उससे कैसे छुटकारा पा सकता है। गीता कहती है कि समता ही ममता से मुक्ति दिला सकती है। ममता का अर्थ है पर-पदार्थ में सुख मानना। यही कामना है। जो कामना के वशीभूत हो गया वह संसार में पराधीन है। जिसने कामना को जीत लिया उसने संसार को जीत लिया। कामना विषमता उत्पन्न करती है, दोष उत्पन्न करती है। किन्तु ब्रह्म सम है, निर्दोष है। जो समता में स्थित हो गया वह ब्रह्म में स्थित हो गया, जो स्थिर बुद्धि वाला है वही ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है और स्थिर बुद्धि वही हो सकता है जो प्रिय को प्राप्त करके हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त कर दुःखी न हो। वस्तुतः जैसे ही हमें कोई एक पदार्थ प्राप्त हो जाता है वैसे ही हमारे मन में उसके प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है और हमारा मन किसी अन्य ऐसे पदार्थ को चाहने लगता है, जो हमें प्राप्त नहीं है। यह खेल सदा चलता रहता है – जो प्राप्त है उसके प्रति विकर्षण और जो प्राप्त नहीं है उसके प्रति आकर्षण। इसलिए हम कभी सुख का अनुभव ही नहीं कर पाते, केवल सुख के पीछे दौड़ते रहते हैं जो हमारी इन्द्रियों को प्रिय लगता है। इस कारण हमारी बुद्धि कभी भी स्थिर नहीं हो पाती और इसी कारण हम मूढ़ बने रहते हैं। जैसे ही हमारी आत्मा बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति को छोड़ देती है, वैसे ही हम ब्रह्म-भाव में स्थित हो जाते हैं। उस समय सुख हमारे बाहर नहीं रहता, हमारी आत्मा में ही अभिव्यक्त हो जाता है। उस सुख का कभी नाश नहीं होता। इसके विपरीत जितने सुख इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होते हैं वे सब अन्त वाले हैं और दुःख का कारण हैं। इसलिए बुद्धिमान् लोग ऐसे सुख में आसक्ति नहीं रखा करते।

गीता ने इन्द्रियभोगों को दुःख का कारण माना है। पातञ्जल योग सूत्र में भी ऐसे सभी सुखों को दुःख-रूप कहा गया है। प्रथम तो भोगों के भोगने में अपनी शक्ति का ह्रास होता है और अन्ततोगत्वा देर-सबेर भोग्य पदार्थ का भी नाश होता है। अतः समस्त भोग परिणाम में दुःख देने वाले हैं। दूसरे, भोग का मिलना न मिलना और मिलने पर भी अभीष्ट मात्रा में मिलना या न मिलना हमारे आधीन नहीं है, और यदि मिल भी जाए तो उसके बिछुड़ने की आशंका तो सदा बनी ही रहती है। यह ताप दुःख है। तीसरे भोग के न रहने पर मनुष्य उनकी स्मृति में दुःखी रहता है। यह संस्कार दुःख है। चौथे, अमुक भोग भोगूँ या न भोगूँ यह अन्तःसंघर्ष सदा चलता रहता है, जिसके कारण भोगों को भोगने पर भी सुख नहीं मिल पाता। यह गुणवृत्ति के विरोध के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख है। यह बात समझ लेने पर भोगों की इच्छा समाप्त हो जाती है अर्थात् ममता नहीं रहती, तभी समता आ पाती है और तभी ब्रह्म की प्राप्ति हो पाती है। भोगों में आसक्त व्यक्ति समता में नहीं रह सकता और विषमता में रहने वाला व्यक्ति तीन काल में भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्म को प्राप्त करना कहें या अक्षय सुख का प्राप्त कहें – एक ही बात है। निष्कर्ष यह हुआ कि हम समदर्शी हो सकें इसके लिए स्वार्थ अथवा भोगों के प्रति आसक्ति छोड़ना आवश्यक है।

साम्यवाद विफल

साम्यवाद ने यह प्रयत्न किया कि समाज में विषमता और अन्याय न रहे किन्तु उसने भोगों के प्रति आसक्ति छोड़ने की बात न करके, भोगों को ही जीवन का परम लक्ष्य मान लिया। परिणामतः वह विफल हो गया।

गीता भी विषमता को मिटाना चाहती है किन्तु गीता का मानना यह है कि जब तक हम भोगों को ही जीवन का परम लक्ष्य मानते रहेंगे तब तक आपाधापी समाप्त नहीं हो सकती और तब तक 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला जंगल का राज्य चलता रहेगा, चाहे वह प्रजातान्त्रिक व्यवस्था हो अथवा साम्यवादी व्यवस्था। पदार्थों के लिए चलने वाली दौड़ शोषण का कारण बनती है किन्तु वह तभी मिट सकती है जब हम पदार्थों को साधन तो मानें, किन्तु साध्य न मानें, साध्य तो आत्मसुख ही होना चाहिए। इस सम्बन्ध में गीता के मूल शब्द मनन करने योग्य हैं –

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

मूल तथा अनुवाद

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

जो व्यक्ति संसार में शरीर छोड़ने से पहिले ही काम-क्रोध के वेग को सहन कर सकता है, वही पुरुष योगी है, वही सुखी है॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥२४॥

केवल वह योगी जो अन्दर ही रमण करता है और अन्दर ही सुख पाता है तथा जिसके अन्दर ही प्रकाश है, स्वयं ब्रह्म बन कर शान्त ब्रह्म को उपलब्ध करता है॥२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥२५॥

जिनके पाप क्षीण हो गये, जिनकी सब दुविधा मिट गयी तथा जो सब प्राणियों के हित में रत हैं ऐसे संयत आत्मा वाले ऋषि शान्त ब्रह्म को प्राप्त करते हैं॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥२६॥

जिन्होंने काम-क्रोध से अपने को पृथक् कर लिया है, चित्त पर विजय प्राप्त कर ली है, ऐसे आत्म-तत्त्व के ज्ञाता यतियों के चारों ओर शान्त ब्रह्म ही है॥२६॥

विपुल-भाष्य

मुक्ति के बाधक : काम और क्रोध

सामान्यतः हम समझते हैं कि शरीर के छूट जाने पर मुक्ति होगी, सुख मिलेगा, किन्तु कृष्ण कहते हैं कि शरीर के छूटने से पहले ही इस संसार में रहते हुए भी मनुष्य सुखी रह सकता है। यदि वह काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को रोक सके, तो ऐसा व्यक्ति योगी है –

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

काम एक शक्ति है। काम का अर्थ है – यह आशा करना कि सुख कहीं बाहर से आए। यही कामना है। इस कामना के दो विकल्प हैं – या तो यह पूरी हो जाती है या यह पूरी नहीं होती। यदि कामना पूरी हो जाती है तो फिर सब कुछ सूना-सूना लगने लगता है; सब नीरस हो जाता है क्योंकि अब करने के लिए कुछ शेष नहीं रहा और कामना

के पूरा करने में शक्ति चुक गई तो व्यक्ति शक्तिहीन सा हो जाता है। दूसरा विकल्प यह है कि कामना पूरी न हो, यदि कामना पूरी नहीं होती तो क्रोध का जन्म होता है। अभिप्राय यह है कि कामना चाहे पूरी हो या नहीं हो, दोनों ही स्थितियों में वह अनर्थकारी है।

काम और क्रोध

गीता कहती है कि काम और क्रोध का एक वेग है। हम सब जानते हैं कि जहाँ वेग होता है वहाँ शक्ति रहती है। इस शक्ति का बहिर्मुख हो जाना ही काम है और अन्तर्मुख हो जाना ही राम है। जब यह शक्ति बाहर सुख ढूँढती है और जिस सुख को वह ढूँढती है वह सुख इसे नहीं मिल पाता तो स्वाभाविक है कि यह शक्ति क्रोध में बदल जाती है। और यदि वही सुख मिल जाए तो वह सुख इतना नीरस सिद्ध होता है कि व्यक्ति अवसाद में डूब जाता है। कारण स्पष्ट है सुख बाहर है ही नहीं तो मिलेगा कैसे? तब उपाय यह है कि सुख अन्दर ढूँढा जाए। जो सुख अन्दर ढूँढता है उसकी शक्ति अन्तर्मुख हो जाती है। और क्योंकि अन्दर सुख है इसलिए ऐसे व्यक्ति को कभी निराशा नहीं होती। श्रीकृष्ण कहते हैं जो अन्दर सुख को पाता है, अन्तरात्मा में ही रमण करता है, अन्दर ही ज्योति का दर्शन करता है वह ब्रह्म रूप बन कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है –

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

भारत के बाहर जिन सेमेटिक मजहबों ने जन्म लिया उन्होंने ईश्वर को भी अपने बाहर ढूँढा। इसके विपरीत भारत में जन्म लेने वाले वेदान्त, जैन और बौद्ध जैसे धर्मों ने परम तत्त्व को अपने अन्दर पाया। इन धर्मों ने ईश्वर की अपेक्षा ब्रह्म शब्द का उपयोग करना अधिक उचित समझा। वह चर्या जिसके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति हो सके ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है – काम पर नियंत्रण। काम का सामान्यतः अर्थ है – सेक्स। किन्तु काम का इतना संकुचित अर्थ नहीं लेना चाहिए। काम का बहुत व्यापक अर्थ है। इस सारे व्यापक अर्थ के पीछे मूल भावना है – बाहर के क्षेत्रों में सुख की खोज करना। इसलिए ब्रह्मचारी को केवल स्त्री से बचने के लिए ही नहीं कहा गया। उसके लिए कोमल शय्या का भी निषेध है, सुगन्धित पदार्थों का भी निषेध है, स्वादिष्ट भोजन तथा नृत्य-गीत का भी निषेध है। इस निषेध का कोई और प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन केवल इतना है कि बाहर सुख खोजने की प्रवृत्ति के कारण मनुष्य की शक्ति बहिर्यात्रा में ही खो न जाए। गीता ने केवल काम और क्रोध को रोकने के लिए नहीं कहा, उस ऊर्जा को अन्दर की ओर दिशा देने को कहा। जब वह ऊर्जा अन्दर की ओर यात्रा करती है तो उसे सुख मिलता है क्योंकि अन्दर वस्तुतः सुख है। उसे सच्चा विश्राम भी अन्दर ही मिलता है। बाहर की ओर से आने वाला विश्राम विश्राम नहीं है, बल्कि एक मूर्च्छा है। इसी प्रकार प्रकाश भी अन्दर है बाहर नहीं। ज्ञान का प्रकाश न हो तो सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का प्रकाश भी पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता। जब ऊर्जा अन्तर्मुख होती है तो वह ज्ञान भी उज्ज्वलतर हो जाता है, जो आत्मा का अपना स्वभाव है। जब आत्मा का ज्ञान और आनन्द पूर्णतः अभिव्यक्त हो जाते हैं तो आत्मा ही ब्रह्मरूप हो जाती है। यही मोक्ष है, यही योग है, क्योंकि इस स्थिति में चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है और चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है – योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। जब तक 'मैं मुक्त हूँ मै ब्रह्म हूँ' ऐसा भाव रहता है तब तक वह सबीज समाधि है, और जब मैं का भाव भी समाप्त हो जाता है, केवल ब्रह्मभाव शेष रहता है, तब वह निर्बीज समाधि है। यही जीवन्मुक्ति है।

गीता में तीन बातों की ओर संकेत है – सुख, विश्राम और ज्ञान। इन तीन ही चीजों के पीछे मनुष्य दौड़ता है। सुख के पीछे भोगी दौड़ता है, जब मनुष्य भोगों को भोगते हुए भी थक जाता है, तो उसे विश्राम चाहिए और जब विश्राम की अति भी सहन नहीं होती तो मनुष्य सत्य को जानना चाहता है। गीता कहती है कि चाहे सुख की खोज हो, चाहे विश्राम की, चाहे ज्ञान की, इन तीनों खोजों का अन्त तभी होता है जब मनुष्य अन्दर की ओर इनकी

खोज करे अन्यथा जब सुख बाहर खोजा जाता है तो सुख तो मिलता नहीं, हाथ लगता है केवल एक अवसाद, विश्राम नहीं मूर्च्छा, और ज्ञान नहीं सूचनाएँ।

पराधीनता व स्वाधीनता

बाहर की ओर दौड़ने का अर्थ है – पराधीनता। अन्तर्यात्रा का अर्थ है – स्वाधीनता। बाहर की ओर दौड़ने से व्यक्ति स्वयं ही पराधीन नहीं होता दूसरों को भी पराधीन करना चाहता है; दूसरों को अपने आधीन बनाना चाहता है; चाहता है सब उसकी इच्छानुसार चलें। यही हिंसा है। बहिर्मुख की यह लाचारी है कि वह यह चाहे बिना नहीं रह सकता कि दूसरे सब उसकी इच्छा के अनुसार चलें। इधर दूसरे सब चाहते हैं कि वह उनकी इच्छा के अनुसार चले। यही संघर्ष का प्रारम्भ बिन्दु है। इसके विपरीत जो अन्तर्मुख है, उसे इस बात की बिल्कुल चिन्ता नहीं है कि दूसरे क्या कर रहे हैं। वह सबको स्वतन्त्र छोड़ देता है। यह अहिंसा का मार्ग है। जो सबको स्वतन्त्र छोड़ देता है सब उसे स्वतन्त्र छोड़ देते हैं, यही तो मुक्ति है। वस्तुतः हम अभी भी द्वैत की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं; दूसरों में और अपने में भेद कर रहे हैं। जब तक अहम् है, तब तक त्वम् भी है। किन्तु जब अहम् नहीं रहता तब त्वम् भी नहीं रहता। यह अद्वैत है। इस स्थिति में न पाप रहता है न पुण्य। यही कल्मषों का क्षीण हो जाना है। उस समय शरीर, मन और बुद्धि स्वतः ही संयमित हो जाते हैं और परम सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। इसी स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति ऋषि कहलाता है। उसका अहम् मिट गया यही निर्वाण है और वह ब्रह्म को प्राप्त हो गया, यही ब्रह्म-निर्वाण है –

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

पाप का जन्म वहीं होता है, जहाँ द्वैत है। जहाँ अद्वैत है, वहाँ मनुष्य उसी प्रकार दूसरे का हित करने में रत रहता है जिस प्रकार वह अपना हित करने में निरन्तर लगा रहता है। वास्तविक स्थिति यह है कि जब हम केवल अपने हित की बात सोचते हैं तो अपना हित तो उसमें स्वतः हो ही जाता है। यह परमार्थ की दशा है क्योंकि सच्चाई यह है कि हम बाहर की उपाधि के कारण भले ही भिन्न-भिन्न दिखाई दें किन्तु अपने निरुपाधि तात्त्विक रूप में हम अभिन्न ही हैं।

बहिर्मुखता अन्तर्मुखता

हमने अब तक बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता की बात की। किन्तु अभेददृष्टि हो जाने पर बाहर और अन्दर का भेद भी समाप्त हो जाता है। जैन परम्परा में तीन शब्दों का प्रयोग है – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जब साधक बहिरात्मा और अन्तरात्मा का अतिक्रमण करके परमात्म-भाव को प्राप्त होता है तो उसे सर्वत्र परमात्म-तत्त्व के ही दर्शन होने लगते हैं। इस स्थिति में काम और क्रोध का प्रश्न ही नहीं होता। कामना अभाव से उत्पन्न होती है। परमात्म-भाव में कोई अभाव नहीं रहता, तब कामना किसकी की जाएगी? जब कामना नहीं होगी तो क्रोध भी कहाँ से आएगा? गीता ने पहले काम और क्रोध के वेग को सहन करने की बात कही थी, किन्तु अब गीता कहती है कि काम और क्रोध को जीतना साधना अवस्था की स्थिति है, काम और क्रोध से वियुक्त हो जाना सिद्धावस्था की स्थिति है। ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए व्यक्ति के लिए कामना करने का कारण ही नहीं रह जाता। इसलिए उसे कामना जीतनी नहीं पड़ती अपितु कामना उससे स्वयं ही अलग हो जाती है। जब कामना नहीं रही तो व्यक्ति शान्त हो जाता है और शान्त व्यक्ति को अतिरिक्त परमात्मा के और कुछ भी दिखाई नहीं देता जैसे कि अशान्त व्यक्ति को केवल संसार ही दिखाई देता है, परमात्मा दिखाई नहीं देता –

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

मूल तथा अनुवाद

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥२८॥

जो मोक्ष-परायण मुनि इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित होकर बाहर के विषयों को बाहर ही रखकर तथा आँखों को भ्रकुटि के मध्य में रखकर, प्राण-अपान को सम रख कर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को संयमित रखता है वह सदा ही मुक्त है॥२७-२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२९॥

मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता, सब लोकों का महेश्वर तथा सब प्राणियों का मित्र जानकर व्यक्ति शान्ति को प्राप्त होता है॥२९॥

विपुल-भाष्य

ध्यान-योग तथा भक्ति-योग

साधना के क्षेत्र में ध्यान का बहुत महत्त्व है। ध्यान के बिना साधक की ऊर्जा अन्तर्मुखी नहीं हो पाती और जब तक ऊर्जा बहिर्मुख रहती है, तब तक काम-क्रोध को जीता नहीं जा सकता। ध्यान के लिए दो चीजों का बहुत अधिक महत्त्व है। पहला महत्त्व तो शरीर में उन भिन्न-भिन्न केन्द्रों का है जिन्हें योग की भाषा में चक्र कहा जाता है और दूसरा महत्त्व श्वास का है जिसकी अन्तर्गति का नाम प्राण और बहिर्गति का नाम अपान है। जिस प्रकार हम इन्द्रियों के मांध्यम से बहिर्जगत के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं उसी प्रकार चक्रों के माध्यम से हम अन्तर्जगत के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। जहाँ तक श्वास का सम्बन्ध है – श्वास की गति हमारे मनोभावों से सीधी जुड़ी हुई है। कोई भी साधक इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है कि जब वह क्रोध कर रहा होता है तो उसका श्वास स्वतः ही तेज चलने लगता है। जब हम प्रसन्नता की मुद्रा में होते हैं तब हमारे श्वास की गति कुछ और होती है और उद्विग्नता की स्थिति में हमारे श्वास की गति कुछ और होती है।

प्रमुखता आज्ञा-चक्र को

शरीर के चक्र और श्वास की गति को आधार बनाकर श्रीकृष्ण अर्जुन को ध्यान की वह प्रक्रिया बता रहे हैं जिस प्रक्रिया से साधक इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण पा जाता है तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो जाता है। वे कहते हैं कि इन्द्रियों के बाह्य विषयों को बाहर ही छोड़कर दोनों आँखों के बीच के स्थान पर चित्त को लगाकर तथा नासिका के भीतर चलने वाले प्राण और अपान को सम बनाकर जो मोक्ष में तत्पर मुनि इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण कर लेता है और इच्छा, भय, क्रोध से रहित हो जाता है वह सदा मुक्त ही है –

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यान्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

वर्तमान पाँचवें अध्याय में ज्ञान-योग और कर्म-योग की महिमा बताने के बाद अन्त में श्रीकृष्ण ध्यान-योग की पद्धति बता रहे हैं क्योंकि चाहे ज्ञानयोगी हो, चाहे कर्मयोगी, ध्यान दोनों के लिए अनिवार्य है। यहाँ श्रीकृष्ण ने अनेक चक्रों में प्रमुखता आज्ञा-चक्र को दी है जिसका स्थान दोनों भावों के बीच वहाँ है जहाँ तिलक की बिन्दी लगाई जाती है। यदि यह चक्र जागृत हो जाए तो साधक की इन्द्रियाँ उसकी आज्ञा मानने लगती हैं इसीलिए इस चक्र का नाम आज्ञा-चक्र है। जिस साधक का अपने पर नियन्त्रण हो जाता है उसकी आज्ञा का उल्लंघन दूसरे भी नहीं कर सकते। इसलिए आज्ञा-चक्र को जागृत करना बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न होता है कि किसी चक्र को जागृत कैसे किया जाए? उत्तर यह है कि हम जिस चक्र पर भी अपना ध्यान केन्द्रित कर देते हैं वही चक्र जागृत हो जाता है। केन्द्र के जागृत होने का अर्थ है – उस स्थान पर ऊर्जा का सक्रिय हो जाना। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि साधक को आज्ञा-चक्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। चक्र अन्दर है। उस पर ध्यान तभी केन्द्रित हो सकता है जब बाहर के विषयों से अपना ध्यान हटा लिया जाए। दूसरी बात यह है कि प्राण और अपान की गति सम करनी होगी। हम ध्यान देंगे तो पता चलेगा कि प्रायः श्वास की बहिर्गति और अन्तर्गति एक जैसी नहीं है। इसका कारण यह है कि हमारा चित्त अशान्त है। यदि चित्त शान्त हो जाए तो प्राण और अपान की गति एक जैसी हो सकती है। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि यदि प्राण और अपान की गति एक जैसी हो जाए तो हमारा चित्त शान्त हो जाएगा। प्राण और अपान की गति एक समान करने का उपाय यह है कि हम एक नासिका से श्वास को भीतर लें और दूसरी नासिका से उसे बाहर निकालें। फिर जिस नासिका से श्वास बाहर निकाला था उससे श्वास अन्दर लें और दूसरी नासिका से श्वास बाहर निकालें। साथ ही यह भी प्रयत्न करें कि श्वास के अन्दर लेने और बाहर लेने का समय एक जितना ही हो। पहले ऐसा प्रयत्नपूर्वक करना होगा, किन्तु बाद में स्वतः ही प्राण और अपान की गति सम हो जाएगी। प्राण और अपान की गति सम होने का फल यह होगा कि हमारा चित्त भी समता में स्थित हो जाएगा। चित्त के समता में स्थित होने का अर्थ है – आवेगों का शान्त हो जाना। यही निर्द्वन्द्वता है, यही समता है, यही मोक्ष है। जो इस साधना में लगा है, वही मुनि है। मुनि का सम्बन्ध मौन से है। मौन का अर्थ यहाँ इतना ही नहीं है कि वाणी का प्रयोग न किया जाए। मौन का अर्थ है कि चित्त स्थिर और शान्त हो जाए।

ध्यान की इस प्रक्रिया से जब ऊर्जा अन्तर्मुखी होती है तो अन्दर ऐसा आनन्द प्रकट होने लगता है कि साधक कृतकृत्य हो जाता है उस समय कोई इच्छा शेष नहीं रहती है। फिर कुछ छिन जाने का भय कैसे रह सकता है? उस समय इच्छा पूरी न होने पर क्रोध आने का प्रश्न भी नहीं उठता।

चक्रों पर ध्यान की प्रक्रिया

श्रीकृष्ण ने आज्ञा-चक्र का केवल संकेत किया है। शेष चक्रों का गीता में उल्लेख नहीं है। वस्तुतः चक्रों पर ध्यान करने की प्रक्रिया गुरु की देख-रेख में ही होनी चाहिए क्योंकि ध्यान का प्रयोम केवल सिद्धान्त से समझ में नहीं आ सकता। आज्ञा-चक्र पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा, तीनों नाड़ियों का मिलन होता है। प्रतीक की भाषा में इड़ा को गंगा, पिंगला को यमुना, सुषुम्णा को सरस्वती और इनके मिलन-स्थल को त्रिवेणी अथवा प्रयाग कहा जाता है। इस प्रयाग में अवगाहन करना ही वास्तविक संगम स्नान है। यहाँ व्यष्टि समष्टि में लीन हो सकती है। जब इड़ा और पिंगला इस स्थान पर सुषुम्णा से मिलती हैं तो साधक द्वन्द्वातीत हो जाता है। इसलिए आज्ञा-चक्र के जागृत होने के साथ दूसरे चक्रों का जागृत होना भी प्रारम्भ हो जाता है। यही वह स्थान है जहाँ आध्यात्मिक गुरु का उपदेश प्राप्त होता है। यही स्थान शिव का तृतीय नेत्र है जिसके खुलने पर काम भस्म हो जाता है, तन्त्र में इस स्थान पर दो दल वाले कमल की स्थिति बताई गई है जिसमें बाएँ दल के ऊपर 'हं' का अक्षर है और दाएँ दल के ऊपर 'क्ष' का अक्षर है। कमल के भीतर एक मंडल है जो शून्य का प्रतीक है और उस मंडल में एक निम्नमुख त्रिकोण बना है जो शक्ति का प्रतीक है। लोकों की दृष्टि से यह तपो लोक है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान का स्थान है। यहाँ साधक केवल साक्षी रह जाता है। एक बार आज्ञा-चक्र जागृत हो जाए तो कुण्डलिनी सहस्रार तक स्वयं पहुँच जाती है।

कुण्डलिनी अपनी प्रसुप्त अवस्था में मूलाधार चक्र में स्थित रहती है। इस चक्र का स्थान रीढ़ की हड्डी के नीचे की ओर का अन्तिम छोर है। आज्ञा-चक्र मन का स्थान है। मूलाधार गंध का स्थान है। इसके बाद स्वाधिष्ठान चक्र है जो रस का स्थान है इसके बाद क्रमशः मणिपुर, अनाहत और विशुद्धि चक्र है जो क्रमशः रूप, स्पर्श और शब्द के स्थान हैं। तदनन्तर आज्ञा-चक्र है जो मन का स्थान है। मूलाधार से लेकर सहस्रार पर्यन्त सात स्थान क्रमशः भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् नामक सात लोकों का प्रतिनिधित्व करते हैं अर्थात् पिण्ड में ही पूर्ण ब्रह्माण्ड का दर्शन किया जा सकता है।

मूलाधार के जागृत होने का फल है रोगमुक्ति और प्रसन्नता। स्वाधिष्ठान चक्र का फल है प्रातिभ ज्ञान। मणिपुर का फल है शरीर का ज्ञान। काव्य प्रतिभा अनाहत चक्र के जागृत होने से प्राप्त होती है। विशुद्धि चक्र व्यक्ति को त्रिकालज्ञ बना देता है। आज्ञा-चक्र से ब्रह्म-भाव प्राप्त होता है और सहस्रार पर समाधि सिद्ध होती है। यह कुण्डलिनी योग का एक आभास मात्र है जिसका पूरा विवरण तन्त्रों में उपलब्ध होता है किन्तु जिसके अनुष्ठान की सम्भावना अनुभवी गुरु की देखभाल में ही सम्भव है। भूल कर भी इसका अभ्यास पुस्तक पढ़ कर नहीं करने लगना चाहिए।

पाँचवें अध्याय में ज्ञान-योग और कर्म-योग का वर्णन करने के बाद जिस प्रकार गीता ने ध्यान-योग का संकेत दिया उसी प्रकार अध्याय के अन्तिम श्लोक में भक्ति-योग का संकेत दिया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो भी यज्ञ या तप किया जाता है उसका फल मुझे ही प्राप्त होता है। प्रत्येक लोक का पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता है किन्तु मैं सभी लोकों का ईश्वर हूँ। जो यह जानता है कि मैं सब प्राणियों का मित्र हूँ – वह परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

गीता में कहा गया है कि साधक अपने आपको कर्त्ता न माने। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न आता है कि वह अपने शुभ कर्मों का फल किसे अर्पित करे। उत्तर यह है कि सभी शुभ कर्मों के फल का भोक्ता भगवान् ही है। ऐसी स्थिति में साधक अपने आपको इस लालच में न डाले कि शुभ कर्मों का फल उसे प्राप्त होगा। ऐसा भाव रखने पर साधक में स्वयं ही कर्म फल के प्रति अनासक्ति का भाव आ जाता है।

दूसरी बात यह है कि भगवान् को ही सारे संसार का स्वामी समझने पर साधक किसी भी व्यक्ति अथवा पदार्थ पर अपना अधिकार नहीं जमाता। यह भी आसक्ति को समाप्त करने का एक उपाय है। आसक्ति न रहने पर भी साधक के जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहती हैं किन्तु यदि उसका यह विश्वास हो कि ईश्वर सब प्राणियों का कल्याण करने वाला है तो फिर वह प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपनी भलाई देखता है और कभी अशान्त नहीं होता।

भक्ति-योग

पाँचवें अध्याय का समापन भगवान् ने भक्ति-योग से किया। इस अध्याय में उन्होंने ज्ञान-योग और कर्म-योग की महिमा भी बताई। यह भी स्पष्ट किया कि ज्ञान-योग की अपेक्षा कर्म-योग अधिक श्रेयस्कर है और ध्यान-योग का भी संकेत किया। किन्तु सभी साधकों की न तो रुचि एक सी होती है, न सामर्थ्य। इसलिए कृपापूर्वक श्रीकृष्ण ने अन्त में भक्ति-योग का स्वरूप बता दिया। अपने इसी कारुणिक स्वभाव के कारण वे गीता के अगले अध्यायों में भी यथावसर भिन्न-भिन्न योगों का विवरण देते रहेंगे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि भिन्न-भिन्न योगों का फल भी भिन्न-भिन्न है। बुद्धि-योग के द्वारा इन सभी योगों में समन्वय स्थापित हो जाता है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि इन सबका एक ही फल है। हिन्दू धर्म की, विशेषतः गीता की, यह विशेषता है कि वे एक ही साध्य की सिद्धि के लिए अनेक मार्गों का प्रतिपादन करता है ताकि सभी रुचि और सामर्थ्य वाले साधकों का कल्याण हो सके।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

श्रीभगवान कहते हैं –

अग्नि का त्याग करने वाला तथा क्रियायें छोड़ देने वाला योगी नहीं है; अपितु संन्यासी और योगी वह है जो कर्मफल का सहारा न लेकर कर्त्तव्य का पालन करता है॥१॥

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥२॥

हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहा जाता है तुम उसे ही योग (भी) जानो। कोई भी ऐसा व्यक्ति योगी नहीं हो सकता जिसने संकल्प न छोड़ दिया हो॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥३॥

योगारूढ़ होने के इच्छा वाले मनस्वी के लिये (निष्काम) कर्म ही कारण है (तथा) योगारूढ़ हो चुके व्यक्ति के लिये शान्ति ही कारण बताया गया है॥३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥४॥

योगारूढ़ उसे कहा जाता है जो सभी सङ्कल्पों को छोड़कर न इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है, न कर्मों में आसक्त होता है॥४॥

विपुल-भाष्य

संन्यास का स्वरूप

बुद्धियोग के अन्तर्गत कर्मयोग और संन्यास दोनों का ही समावेश हो जाता है। चाहे कर्मयोगी हो चाहे संन्यासी दोनों के लिए दो बातें आवश्यक हैं – १.कर्म के फल के प्रति आसक्ति नहीं रखना। २. कर्तव्य का पालन करना। ये दोनों शर्तें संन्यासी के लिए भी आवश्यक हैं और कर्मयोगी के लिए भी। बुद्धियोग की दृष्टि से ये दोनों ऐसे बिन्दु हैं जहाँ संन्यास और कर्मयोग का मिलन होता है। कोई यह समझे कि अग्नि अर्थात् श्रौत कर्म को छोड़ देना अथवा क्रिया का त्याग कर देना संन्यास या योग है – तो यह ठीक नहीं है। श्रीकृष्ण कहते हैं जो कर्मफल पर दृष्टि नहीं लगाता और अपने कर्तव्य कर्म को करता है वही संन्यासी है, वही योगी है। अग्नि को छोड़ देने वाला अर्थात् क्रियाओं को छोड़ देने वाला व्यक्ति संन्यासी या योगी नहीं है –

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

यहाँ श्रीकृष्ण एक गम्भीर मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रकट कर रहे हैं। हम समझते हैं कि कर्म से जो फल प्राप्त होगा, उसमें सुख है। फल सदा भविष्य में रहता है जिसकी दृष्टि फल पर रहती है वह भविष्य की कल्पनाओं में खोया रहता है, किन्तु जीवन सदा वर्तमान में है। वर्तमान में कर्म होता है, कर्म का फल नहीं। जो कर्म में आनन्द लेता है वह वर्तमान में जीता है और जो वर्तमान में जीता है वही वास्तविकता में जीता है। यदि सुख है तो केवल वर्तमान में है, कर्म में है; भविष्य में केवल कल्पना है। जो कर्म के फल पर दृष्टि रखते हैं, वे भविष्य की कल्पना में वर्तमान को अर्थात् वास्तविक जीवन को नीरस बना लेते हैं। उन्हें कर्म बहुत शुष्क नजर आता है, कर्म का फल बहुत मधुर नजर आता है। किन्तु वर्तमान में तो सदा कोई कर्म ही रहता है, इसलिए उनका पूरा जीवन ही शुष्क और नीरस हो जाता है।

ऊर्जा की अभिव्यक्ति

कुछ लोगों ने सोचा क्योंकि कर्म नीरस है इसलिए कर्म को छोड़ दिया जाए। उन्होंने कर्म छोड़ने का नाम संन्यास दे दिया। किन्तु मनुष्य में एक ऊर्जा है। वह ऊर्जा निरन्तर कर्म में अभिव्यक्त होना चाहती है। जब कोई व्यक्ति हठपूर्वक कर्म को छोड़ बैठता है तो वह ऊर्जा समाप्त तो हो नहीं जाती बल्कि ऐसे मार्गों से अभिव्यक्त होने लगती है जो मार्ग न अध्यात्म की दृष्टि से उचित है, न समाज की दृष्टि से। घर छोड़कर कर्म को छोड़ने का दुराग्रह करने वाले अनेक संन्यासियों में जो विकृतियाँ नजर आती हैं वे ऐसी ही स्थिति का परिणाम हैं। अनेक गृह त्यागी किस प्रकार मादक द्रव्यों का उपयोग करते हैं, यह उनकी मानसिक अशान्ति का ही सूचक है। संन्यासियों में परस्पर चलने वाले विवाद कभी-कभी ऐसा उग्र रूप धारण कर लेते हैं कि उन संन्यासियों का त्यागी कहने में संकोच का अनुभव होता है। यह इसलिए होता है कि कर्म छोड़ देने पर ऊर्जा विकृत मार्गों से बहने लगती है।

श्रीकृष्ण ने सुझाया कि जब हमारी ऊर्जा कर्म करने के लिए प्रेरित करे तो हम उस ऊर्जा को अपने कर्तव्य कर्म करने के माध्यम से अभिव्यक्त होने दें, अक्रिय होने का दुराग्रह न करें। इस प्रकार जहाँ एक ओर व्यक्ति की ऊर्जा को अभिव्यक्त होने का मार्ग मिल जाएगा वहाँ दूसरी ओर समाज को कर्तव्य-परायण नागरिक उपलब्ध हो जाएँगे।

योग के लिए श्रीकृष्ण ने एक शर्त लगाई कि व्यक्ति अपने आपको किसी नश्वर पदार्थ के संकल्प से न जोड़े। आचार्य शंकर ने हमारा ध्यान इस ओर दिलाया कि कर्म से जो भी प्राप्त होता है वह सब क्षणिक होता है। कर्म की एक शक्ति है वह कितनी भी अधिक क्यों न हो, सीमित ही होती है। उस शक्ति से जो पदार्थ हमें मिलेगा वह तभी तक हमारे पास रह सकता है जब तक उस कर्म की शक्ति बनी है। जब कर्म की शक्ति चुक जाएगी, तो उसका फल भी हमसे छिन जाएगा। फिर भी हम अज्ञानवश ऐसे ही अनित्य पदार्थों के पीछे अपना सर्वस्व दाँव पर लगाए रहते हैं। इसे ही यहाँ संकल्प कहा गया है। ऐसा संकल्प हमें चैन से नहीं बैठने देता।

परमात्मा सुख-रूप

रोचक तथ्य यह है कि व्यक्ति धन के पीछे रात-दिन पागल रहता है और वह धन चाहता इसलिए है कि उसे सुख मिल सके, किन्तु धन के पीछे उसका पागलपन न उसे भोजन का सुख लेने देता है, न नींद का सुख। उसकी वित्तैषणा उसे अजीर्ण और अनिद्रा का रोग दे देती है। फिर भी वह वित्तैषणा छोड़ता नहीं और इसी कल्पना में अपने जीवन को नीरस बना लेता है। वह समझता है कि उसे यदि और अधिक धन मिल जाएगा तो उसे सब सुख मिल जाएगा। वस्तुस्थिति यह है कि धन से पदार्थ तो खरीदे जा सकते हैं, सुख नहीं। सुख एक भाव है, पदार्थ नहीं। इसलिए परमात्मा को सुख रूप कहा गया है क्योंकि परमात्मा भी एक भाव है, पदार्थ नहीं। कर्म से जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह पदार्थ ही है। इसलिए कर्म का फल पदार्थ ही हो सकता है, सुख नहीं। पदार्थों को प्राप्त करने का संकल्प भोग का ही दूसरा नाम है। यह योग नहीं बन सकता। श्रीकृष्ण कहते हैं जिसने संकल्पों का त्याग नहीं किया, वह योगी नहीं हो सकता। चाहे योग कहो चाहे संन्यास एक ही बात है –

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥

गीता में बारम्बार योग की प्रशंसा की गई है। प्रश्न होता है कि योग की प्राप्ति किस प्रकार हो? उत्तर है कि जो साधक योग को प्राप्त करना चाहता है उसे कर्तव्यकर्म का पालन करना चाहिए –

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

पहले कहा जा चुका है कि योग का अर्थ है समत्व – **समत्वं योग उच्यते।** इस बात की परीक्षा कि साधक समत्व को प्राप्त हुआ कि नहीं, कर्म के क्षेत्र में ही होती है, क्योंकि कर्म करने पर कभी सफलता हाथ लगती है कभी सफलता हाथ नहीं भी लगती। तभी पता चलता है कि साधक समता में स्थित हुआ या नहीं। इस प्रकार कर्म ही वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति समत्व को प्राप्त हो सकता है। कर्म तो सबको करना ही होता है किन्तु योगी के लिए प्रथम शर्त यह है कि वह करणीय कर्म ही करे, अकरणीय नहीं। दूसरी बात यह है कि कर्मफल के प्रति वह अनासक्त रहे तब तो कर्म योग का साधन बनता है, अन्यथा वह भोग का साधन बन जाता है।

जो साधक योग को प्राप्त हो गया उसे स्वतः ही शान्ति मिल जाएगी किन्तु यह शान्ति भी साध्य नहीं है, यह शान्ति भी परमात्मा की प्राप्ति में साधन ही बनती है। शान्ति मन की वह स्थिति है जिसमें सुख-दुःख नहीं रहते। यह एक अभावात्मक स्थिति है। मन की यह स्थिति साधन बनती है परमात्म-प्राप्ति का – **योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।** शान्ति अभावात्मक है, किन्तु परमात्म-प्राप्ति भावात्मक है। साधक का उद्देश्य केवल सुख-दुःख से छुटकारा पा जाना ही नहीं होना चाहिए, अपितु उसका उद्देश्य उस परम तत्त्व की प्राप्ति होना चाहिए जिस परम तत्त्व में सारा द्वैतभाव विगलित हो जाता है। बौद्ध दर्शन अहंकार के विलय को ही परम लक्ष्य मान लेता है। वह अनात्मवादी है। उसका उद्देश्य अभावात्मक निर्वाण है। अतः उसे नास्तिक दर्शन कहा जाता है। किन्तु वेदान्त अभावात्मक शान्ति को ही परम लक्ष्य नहीं मानता, वह परमात्म-प्राप्ति को परम लक्ष्य मानता है। अतः वह आत्मवादी दर्शन है। उसका लक्ष्य भावात्मक है। अतः वह आस्तिक दर्शन है। इसलिए यहाँ गीता में शान्ति को भी साधन ही माना है, साध्य नहीं।

योगी के गीता में तीन लक्षण दिए हैं। प्रथमतः योगी इन्द्रिय के भोगों में लिप्त नहीं होता है। दूसरे उसकी कर्म में भी आसक्ति नहीं होती और तीसरे उसके मन में कोई संकल्प-विकल्प नहीं रहते –

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

इन्द्रियों के भोग्य पदार्थ अनित्य हैं। उनमें आसक्त होने का अर्थ है उनकी आधीनता स्वीकार करना। किन्तु वे पदार्थ आते हैं और जाते हैं। जो उन पदार्थों के प्रति आसक्त होगा उसका सुख-दुःख के झूले में झूलते रहना अपरिहार्य है। यह मानना कि अनुकूल पदार्थ मिल जाने पर तो सुख होता है एक भूल है। अनुकूल पदार्थ मिलने पर भी मनुष्य उस पदार्थ के, जो कि अनित्य है, आधीन हो जाता है। प्रथम तो पराधीनता ही दुःख है, उस पर अनित्य पदार्थ की पराधीनता तो और भी बड़ा दुःख है।

पदार्थ को अपना मानना स्वयं में एक अज्ञान है। अपना शरीर और मन, बुद्धि भी अपने नहीं हैं, प्रकृति के हैं। तब कार-कोठी इत्यादि पदार्थों की तो बात ही क्या है? जो अपना नहीं, पर है, उसके अधीन होना ही पराधीनता है और पराधीनता को स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता – **पराधीन सपनेहुँ सुख नाँही।**

फल के अतिरिक्त कर्म में भी आसक्ति का भाव रहता है। मैंने अमुक कार्य कितना बढ़िया किया अथवा बढ़िया ढंग से किया – यह भी एक प्रकार का राग है। जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी होगा। यदि कर्म के ठीक होने पर सुख होगा तो कर्म के बिगड़ जाने पर दुःख भी होगा। साधक को इन दोनों स्थितियों से ऊपर उठना होता है। उसे यह समझना होता है कि सब क्रियाएँ प्रकृति में होती हैं, उसमें नहीं। वह तो उन क्रियाओं का द्रष्टा ज्ञाता है। ये क्रियाएँ

बनें या बिगड़ें उसे अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि साधक को कर्म छोड़ देने चाहिए। 'कर्म नहीं करूँगा'- यह भी एक प्रकार की आसक्ति है, जो आलस्य से उत्पन्न होती है। यह भी विचार करना चाहिए कि जिस प्रकार पदार्थ अनित्य है, क्रिया भी अनित्य है और अनित्य के प्रति की जाने वाली आसक्ति दुःख ही उत्पन्न करेगी।

साधक और संकल्प

साधक को संकल्पों में नहीं पड़ना चाहिए। कामना से संकल्प उत्पन्न होते हैं और संकल्प से अहंकार पुष्ट होता है। बिना अहंकार के संकल्प हो ही नहीं सकता। सभी संकल्प विकल्प अतीत की स्मृति रूप अथवा भविष्य के कल्पना रूप होते हैं, वर्तमान में तो वे असत् ही होते हैं। असत् के साथ जुड़कर यदि कोई सुख मिल रहा है तो वह सुख भी काल्पनिक ही होगा, वास्तविक नहीं हो सकता। वास्तविक तो कर्म है; उससे जुड़े हुए संकल्प-विकल्प नहीं। जो संकल्प-विकल्पों को छोड़कर केवल कर्म से जुड़ा है वही कर्मयोगी कहला सकता है और वही योगी भी है।

मूल तथा अनुवाद

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।

अपने द्वारा ही अपना उद्धार करे। अपने को विषण्ण न बनाये। व्यक्ति अपना आप ही बन्धु है तथा अपना आप ही शत्रु है।।५।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

जिसने अपने आपको जीत लिया वह अपना आप ही मित्र है, किन्तु जिसने अपने पर काबू नहीं पाया वह स्वयं ही अपने प्रति शत्रुवत् शत्रुता का व्यवहार करता है।।६।।

विपुल-भाष्य

हमारे मित्र तथा शत्रु हम स्वयम्

गीता में योग की बहुत प्रशंसा है। योग में कौन सहायक है कौन बाधक है – इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण एक अद्भुत गहरी बात कहते हैं कि आत्मा ही आत्मा का सहायक है और आत्मा ही आत्मा का बाधक है। इसलिए मनुष्य आत्मा का आत्मा से ही उद्धार करें, आत्मा को नीचे न गिरने दें –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

पहली बात समझने की यह है कि मनुष्य जो बोता है वही काटता है तथा जो काटता है वह वही होता है जो उसने पहले कभी बोया होता है। संसार में तो कभी-कभी हम दूसरे का बोया हुआ काट लाते हैं और कभी-कभी हमारा बोया हुआ भी कोई दूसरा काट ले जा सकता है लेकिन विश्व की व्यवस्था में ऐसा कभी नहीं होता। यही परमात्मा की न्यायशीलता है। उसके राज्य में ऐसा कभी नहीं होता कि करे कोई और भरे कोई। जो करता है, उसे ही भरना पड़ता है।

परमात्मा न्यायकारी व दयालु

परमात्मा न्यायकारी तो है ही, दयालु भी है। उसकी दयालुता इस बात पर है कि मनुष्य जैसा चाहे वैसा बोये – इसमें वह पूर्ण स्वतन्त्र है। कोई मनुष्य कितनी भी विकट परिस्थिति में क्यों न हो किन्तु वह इतनी दीन स्थिति में कभी

नहीं आता कि उसे अपराध करने के लिए विवश होना पड़े। परमात्मा ने बहुत दयालुतापूर्वक उसे यह स्वतन्त्रता दी है कि अगर वह पाप न करना चाहे, तो कोई व्यक्ति या परिस्थिति उसे पाप करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। यह उसकी दयालुता का ही परिणाम है किन्तु साथ ही परमात्मा न्यायकारी भी है; अतः यदि एक बार मनुष्य पाप कर ले तो फिर उसे पाप का फल भोगना ही पड़ता है। मनुष्य जिस प्रकार पाप न करने में स्वतन्त्र है उसी प्रकार पाप करने में भी स्वतन्त्र है। पशु को कोई स्वतन्त्रता नहीं है कि वह पाप और पुण्य में चुनाव कर सके। प्रकृति उससे जैसा कराती है उसे वैसा करना पड़ता है। यह उसकी परतन्त्रता है, क्योंकि वह कर्मयोनि में नहीं है भोगयोनि में है। मनुष्य को यह स्वतन्त्रता है। इसलिए मनुष्य के लिए ही शास्त्र बने हैं। पशुओं के लिए शास्त्र नहीं बने।

शास्त्र बताते हैं कि यह संसार एक कुएँ के समान है। इसमें जैसी आवाज दी जाएगी वैसी लौटकर वापस आएगी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम दूसरों के प्रति कल्याण का व्यवहार करते हैं तो दूसरों से हमें कल्याण भी प्राप्त होता है। इस स्थिति में हम स्वयं ही अपने मित्र बन जाते हैं। इसके विपरीत यदि हम दूसरों का अकल्याण करते हैं तो दूसरों से हमें अकल्याण ही प्राप्त होता है और इस स्थिति में हम अपने स्वयं के ही शत्रु सिद्ध होते हैं।

गीता ने केवल इतना ही नहीं कहा कि आत्मा आत्मा का मित्र है अथवा आत्मा आत्मा का शत्रु है, अपितु बलपूर्वक कहा कि आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। परमार्थतः न कोई हमारा हित कर सकता है न कोई अहित, फिर दूसरा हमारा मित्र या शत्रु कैसे हो सकता है? यह समझ आने पर ही सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त होती है अन्यथा हम सदा दूसरे का ही मुँह ताकते रहते हैं कि कोई आकर हमारा उद्धार कर दे। और जब कोई हमारा उद्धार नहीं कर पाता तो हम सबको अपना शत्रु मान बैठते हैं। यदि कोई ९९ बार उपकार करे और एक बार अपकार कर दे तो हम उसके सारे उपकारों को भूल कर उसको अपना शत्रु मान लेते हैं। इस प्रकार हम हमारे चारों ओर शत्रु-भाव का जाल फैला लेते हैं। क्रिया प्रतिक्रिया के समान होने के प्राकृतिक नियमानुसार जब हम सबको अपना शत्रु मानने लगते हैं तो सब हमें अपना शत्रु मानने लगते हैं। इस प्रकार अपने पतन का मार्ग हम स्वयं ही प्रशस्त कर लेते हैं। गीता कहती है कि हम दूसरे से अपने उद्धार की आशा न करके अपना उद्धार करें, न कि पतन।

देव, गुरु, परमात्मा भी हमारा उद्धार तभी कर पाते हैं जबकि हम ग्रहणशील हों। परमात्मा की अनुकम्पा तो सदा सर्वत्र बिखरी ही है। हम अहंकार की दीवारें अपने चारों ओर खड़ी करके उस अनुकम्पा की शीतलता को अपने तक आने ही नहीं देते। प्रतीक्षा यह नहीं करनी है कि परमात्मा की कृपा कब प्राप्त होगी? प्रतीक्षा यह करनी है हम अपने अहंकार की दीवार की बाधा कब तोड़ पाएँगे।

जब तक अहंकार है तब तक ममता है, राग है और जब तक राग है तब तक द्वेष है। यह राग-द्वेष ही हमें अपना शत्रु बना देते हैं। जो राग-द्वेष से छूट गया तो उसे किसी बाहरी मित्र की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं ही अपना मित्र है और जो राग-द्वेष में लिप्त है उसे किसी बाहरी शत्रु की आवश्यकता नहीं वह स्वयं ही अपना शत्रु है। यह समझ ही सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करती है। अन्यथा मनुष्य इस दीनता में तो जीता ही रहता है कि कोई दूसरा आकर उसका भला कर दे साथ ही उसे यह भय भी बना रहता है कि कहीं कोई दूसरा उसका अहित न कर दे। वस्तुतः न इस दीनता का कोई अर्थ है और न इस भय का, क्योंकि न कोई दूसरा किसी का हित कर सकता है, न अहित। ऐसी समझ आने पर ही मनुष्य पराङ्मुखता को छोड़कर आत्मोन्मुख होता है। यही भोग छोड़कर योगारूढ़ होना है।

अपना आप मित्र वह है जिसने स्वयं को जीत लिया। और जो अपने पर काबू नहीं कर सका मानो वह अपने प्रति ऐसा व्यवहार कर रहा है जैसा कि वह स्वयं अपना ही शत्रु हो –

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

अपने से अपने को जीतने का अर्थ है – अपने शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि को अपने वश में रखना। उपनिषदों में एक रूपक दिया गया है कि इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, शरीर रथ है, और आत्मा रथी। स्पष्ट

है कि रथ को उस दिशा में जाना चाहिए जिस दिशा में रथी चाहे। आत्मा सदा शान्ति चाहती है क्योंकि शान्ति ही उसका स्वभाव है। ऐसी स्थिति में बुद्धि विवेक द्वारा मन की चंचलता को रोक कर इन्द्रियों को विषयों में नहीं जाने देती। आत्मा के द्वारा अपने को वश में रखने का यही अर्थ है। जब आत्मा की शान्ति की इच्छा के विरुद्ध चल कर बुद्धि अपना विवेक खो देती है तो मन की चंचलता का लाभ उठाकर इन्द्रियाँ विषयों की ओर भागती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का सब व्यवहार ऐसा हो जाता है कि जो उसके प्रतिकूल ही होता है। मानो वह अपना आप ही शत्रु बन जाता है।

इन्द्रियों के वशीभूत क्यों

आत्मा रथी है अर्थात् केन्द्र में है। रथी रथ का स्वामी होता है। सारथी को उसकी इच्छा के अनुसार ही रथ को चलाना पड़ता है। यदि किसी रथ के घोड़े जिधर चाहे उधर रथ को ले भागें तो फिर यह मानना चाहिए कि रथी का कल्याण नहीं है। यदि किसी रथ का एक घोड़ा हो तो भी रथ को अपनी इच्छा से गड्ढे में ढकेल सकता है, यदि उसके पाँच घोड़े हों और सब अपनी-अपनी इच्छा से रथ को भिन्न-भिन्न दिशा में घसीटा करें तो फिर तो रथी का अनिष्ट निश्चित ही है। हमारे पाँच इन्द्रियाँ हैं। पाँचों के भिन्न-भिन्न विषय हैं। चक्षु का विषय रूप है, श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, नासिका का विषय गन्ध है, जिह्वा का विषय रस है और त्वगिन्द्रय का विषय स्पर्श है। ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में अनुकूलता ढूँढा करती हैं। आवश्यक नहीं है कि जो विषय एक इन्द्रिय को अनुकूल लगे वह दूसरे को भी अनुकूल हो। उदाहरणतः कोई भोज्य पदार्थ देखने में सुन्दर हो सकता है किन्तु खाने में कड़वा हो सकता है। ऐसी दशा में दोनों इन्द्रियाँ परस्पर विरोधी दिशा में भी भाग सकती हैं। तब हम सामान्यतः बुद्धि द्वारा विवेक करके एक निर्णय लेते हैं कि सुन्दर होने पर भी उस पदार्थ को खाते नहीं। अनेक स्थलों पर हम ऐसा विवेकपूर्ण निर्णय नहीं ले पाते। यह जानते हुए भी अमुक पदार्थ हमारे लिए हानिकारक है हम जिह्वा के स्वाद के वशीभूत होकर अपथ्य का सेवन कर लेते हैं और रोगी हो जाते हैं। यहाँ हमें किसी और ने रोगी नहीं बनाया, अपितु हम स्वयं ही अपने असंयम के कारण रोगी हुए। यही अपने शत्रु होने का स्वरूप है।

हम इन्द्रियों के वशीभूत क्यों होते हैं, इसका कारण गीता देती है कि जब हम अनात्म होते हैं तो हम इन्द्रियों के वशीभूत होते हैं। अनात्म का अर्थ है – अपने को आत्मा न मानकर इन्द्रिय, मन अथवा बुद्धि ही मान लेना। थोड़ा–सा विचार करें तो यह पता चलेगा कि मैं इन्द्रिय नहीं हूँ, इन्द्रिय तो मेरे उपकरण मात्र हैं। मैं आँख से देखता हूँ, किन्तु आँख नहीं देखती। देखने वाला मैं आँख से भिन्न हूँ। इसी प्रकार मैं कान से सुनता हूँ, किन्तु सुनने वाला मैं हूँ, कान नहीं। यही स्थिति सब इन्द्रियों की समझनी चाहिए। यदि यह स्थिति समझ में आ जाएगी तो यह पता चलेगा कि इन्द्रियाँ मुझसे पृथक् हैं। ऐसा होने पर यह समझ में आएगा कि जब इन्द्रियाँ मुझसे पृथक् हैं तो मुझे इन्हें अपने वश में रखना चाहिए न कि इनके वश में मुझे रहना चाहिए। ऐसी समझ होने पर व्यक्ति आत्मवान् होता है अन्यथा यह अनात्म ही रहता है अर्थात् अपने आपको शरीर ही समझता रहता है। अनात्म व्यक्ति की पराधीनता का कोई अन्त नहीं। वह अपना सुख संसार के पदार्थों के अधीन मानता रहता है और यदि संसार के समस्त पदार्थ भी उसे मिल जाएँ तो भी सुखी नहीं हो पाता। क्योंकि सब पदार्थ जड हैं और जब जड में स्वयं में ही सुख नहीं है तो वह किसी दूसरे को क्या सुख दे पाएगा? इसके विपरीत जो आत्मवान् हो गया वह चेतन की ओर उन्मुख हो गया। उसके सुखों का द्वार स्वयं ही खुल गया। इससे बड़ी मित्रता और क्या हो सकती है? व्यक्ति जड की ओर उन्मुख हो या चेतन की ओर – यह उसके अपने आधीन है, किसी दूसरे के नहीं। अतः वह स्वयं ही अपना शत्रु या मित्र होगा।

आत्मवान् तथा अनात्म

यहाँ आत्मवान् तथा अनात्म इन दो शब्दों पर विचार करना चाहिए। आत्मा सबके पास है किन्तु जो शरीर मन और बुद्धि को ही आत्मा माने हुए है वह उन्हीं की आवश्यकता की पूर्ति में लगा हुआ है। इसलिए उसकी आत्मा

का होना एवं न होना बराबर है। इसीलिए उसे अनात्म कहा है। इसी प्रकार आत्मवान् वह है जिसमें यह बोध हो कि वह आत्मा है, शरीर, मन और बुद्धि नहीं। ऐसा व्यक्ति आत्मवान् कहलाता है और वह शरीर, मन तथा बुद्धि के द्वारा अपने हित को उसी प्रकार साधता है जिस प्रकार कोई स्वामी नौकर-चाकरों द्वारा अपना हित साधता है। स्वामी नौकर-चाकरों की भलाई देखता अवश्य है किन्तु उनकी भलाई करने में अपनी भलाई नहीं भूल जाता। शरीर को अर्थ चाहिए, मन को काम और बुद्धि को धर्म। आत्मवान् इस त्रिवर्ग की भी सिद्धि करता है, किन्तु आत्मा के पुरुषार्थ मोक्ष की कीमत पर नहीं। सन्तुलित जीवन का यही अर्थ है। धर्म, अर्थ, काम में भी एक की सिद्धि के लिए दूसरे का बलिदान इसी प्रकार नहीं किया जाता जिस प्रकार एक नौकर के हित की कीमत पर दूसरे नौकर का हित नहीं साधा जाता। इसीलिए कहा गया है – **धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः सः जनः जघन्यः।** मोक्ष तो स्वामिस्थानीय आत्मा का हित है, उसका बलिदान तो त्रिवर्ग की सिद्धि के लिए किया ही नहीं जा सकता। इसीलिए मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा है। वास्तविक पुरुषार्थ तो मोक्ष ही है, धर्म, अर्थ और काम तो उपचार से पुरुषार्थ कहे जाते हैं, वस्तुतः ये प्रकृत्यर्थ हैं अर्थात् प्रकृति की माँग को पूरा करते हैं, न कि पुरुष की माँग को।

मूल तथा अनुवाद

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥७॥

अपने को वश में कर लेने वालों के लिये, जो सर्दी-गर्मी, सुख–दुःख, मान-अपमान में शान्त रहता है, परमात्मा सदा ही प्राप्त है॥७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥८॥

उस योगी को समीचीन माना जाता है जो ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, निर्विकार है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया तथा जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना समान हैं॥८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥९॥

वह श्रेष्ठ है जो सुहृत, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष-योग्य, बन्धुओं, सज्जनों तथा पापियों से भी समान भाव रखता है॥९॥

विपुल-भाष्य

परमात्म-प्राप्ति का उपाय : समत्वबुद्धि

सब परमात्मा को प्राप्त करना चाहते हैं। गीता कहती है कि जिस मनुष्य ने अपने पर विजय पा ली और जो शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में शान्त भाव रखता है उसे परमात्म-तत्त्व सदा ही प्राप्त है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

पहले कहा जा चुका है कि जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर विजय प्राप्त कर लेता है उसके लिए ही यह कहा जा सकता है कि उसने अपने पर विजय प्राप्त कर ली है। इसके विपरीत जिसे शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि जैसा चाहें वैसा नाच नचाते रहें वह तो स्वयं अपने को ही नहीं जीत पाया तो दूसरों को तो क्या जीत पाएगा? विचार

करें तो हम यह पाएँगे कि मनुष्य सदा दूसरे को ही अपने वश में करने का प्रयत्न करता रहता है। वह अपनी परिस्थिति को अपने अनुकूल ढालने के लिए ही सारा पुरुषार्थ करता है, किन्तु अपने शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रिय को अपने अनुकूल न ढाल कर स्वयं ही उनके अनुकूल चलता रहता है और इसलिए अनुकूलता-प्रतिकूलता के झूले में झूलता रहता है। परिस्थिति अनुकूल हुई तो उसे मन में एक प्रकार की शीतलता की प्रतीति होती है। प्रतिकूलता हो तो संताप होता है। इसी प्रकार वह सुख और दुःख तथा मान और अपमान के बीच भी सदा विचलित होता रहता है और शान्त नहीं हो पाता। किन्तु यह बहिर्मुखता उसी में है जो इन्द्रिय के विषयों में आसक्त है।

समभाव परमात्म-तत्त्व का सूचक

जो जितेन्द्रिय है वह अनुकूल-प्रतिकूल में समभाव रखता है। यह समभाव परमात्म-तत्त्व का सूचक है। जिसे यह समभाव प्राप्त हो गया उसने परमात्मा को भी प्राप्त कर लिया क्योंकि निर्विकारता ही परमात्मा का लक्षण है। गीता में शीत और उष्ण उस परिस्थिति के लिए कहा गया है जो पूर्वकृत प्रारब्ध कर्मों के कारण प्राप्त होती है। सुख-दुःख वर्तमान में किए जाने वाले कर्म की सफलता-असफलता से उत्पन्न होते हैं। मान और अपमान में मान और अपमान करने वाला दूसरा व्यक्ति भी प्रत्यक्ष-गोचर रहता है। इन सभी प्रकार की परिस्थितियों में सम रहने की बात गीता ने कही है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि गीता ने शीत, सुख और मान को पहले गिनाया, उष्ण, दुःख और अपमान को बाद में। कारण यह है कि प्रतिकूलता में तो हम सभी निर्विकार रहने का प्रयत्न करते हैं किन्तु अनुकूलता में विकृत होने में हमें कोई परेशानी नहीं होती। वस्तुस्थिति यह है कि अनुकूलता में विकृत होना राग है और प्रतिकूलता में विचलित होना द्वेष है। जो अनुकूलता में समता नहीं रख सकेगा वह प्रतिकूलता में भी समभाव नहीं रख सकता। हम दुःख में तो सदा ही शान्त रहने की बात सोचते हैं क्योंकि हम दुःख से बचना चाहते हैं। किन्तु सुख में उल्लासित होते समय हमारा ध्यान इस ओर नहीं जाता कि सुख का उल्लास भी हमारी शान्ति को भंग कर रहा है। सुख का उल्लास और दुःख की वेदना घड़ी के पेण्डुलम के दो विपरीत छोरों को छूने वाली गति है, यदि हमारे मन की घड़ी का पेण्डुलम सुख में बाईं ओर के छोर की ओर चलित हो गया तो फिर वह दुःख की स्थिति में भी मध्य में अर्थात् समता में स्थिर न रहकर दाहिनी ओर के छोर की ओर जाएगा ही। फलतः दुःख में समता रखना असम्भव हो जाएगा। सुख से होने वाली प्रफुल्लता इतनी आकर्षक होती है कि उस समय हम इस परिणाम को भूल ही जाते हैं कि उल्लास में होने वाली इस उत्तेजना का अन्तिम परिणाम दुःख में होने वाली वेदना है। यह उल्लास का राग ही दुःख का कारण बन जाता है। हम दुःख-रूप कार्य से तो बचना चाहते हैं पर उसके कारण-भूत राग से चिपके रहते हैं। राग हो और दुःख न हो – यह असम्भव है। जिसके मिलने में सुख है उसी के छिनने में दुःख होता है। जिसके मिलने में सुख नहीं है, उसके छिनने में दुःख भी नहीं होगा।

विवेक नहीं

प्रश्न होता है कि यह समता कैसे साधी जाए। अनुकूल परिस्थिति में तो प्रसन्नता होती ही है। उत्तर यह है कि अनुकूलता में प्रसन्नता इसलिए होती है कि हम आत्मा और अनात्मा में विवेक नहीं कर पाते। हम शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को ही अपना स्वरूप समझे हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सर्दी में यदि अग्नि तापने को मिल जाए और गर्मी में शीतल जल मिल जाए तो वह शरीर के लिए अनुकूल ही है और शरीर को सुख भी देता है। यह तो सत्य है, किन्तु भूल वहाँ चालू होती है जब हम शरीर के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मान लेते हैं। हम यह जानते हैं कि शरीर को सुखःदुःख हो रहा है किन्तु यदि विवेकपूर्वक देखें तो पता चलेगा कि हम केवल शरीर के सुख-दुःख को जानते मात्र हैं; वह सुख-दुःख हमें होता नहीं है। यह विवेक जागने पर हम सुख-दुःख के ज्ञाता होते हैं, भोक्ता नहीं। यह समझ जागने पर ही समता सम्भव है। अर्थात् समता कहें, आत्मज्ञान कहें अथवा परमात्मप्राप्ति

कहें, ये एक ही स्थिति के तीन नाम हैं। इसलिए कहा गया कि जो सब परिस्थितियों में शान्त है वह परमात्मा को प्राप्त हो गया, ऐसा मानना चाहिए। एक छोटा-सा दोहा है –

दुःख में सुमिरन सब करैं, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुःख काहे को होय॥

जो सुख में समभाव रख सकता है उसे दुःख होगा ही नहीं क्योंकि दुःख तो सुख के अभाव का ही नाम है। अतः सुख के प्रति आसक्ति ही दुःख उत्पन्न करती है।

समभाव को श्रीकृष्ण ने सर्वाधिक महत्त्व दिया। इसलिए उन्होंने अनेक द्वन्द्वों में सम रहने की बात कही। वे कहते हैं कि योगी मिट्टी के ढेले और स्वर्ण में, शत्रु और मित्र में, साधु और पापी में सर्वत्र समबुद्धि रखता है। इतने द्वन्द्व गिनाने का कारण यह है कि हर साधक अलग-अलग प्रकार के द्वन्द्वों में फँसा रहता है। जिस साधक में लोकेषणा मुख्य होती है वह मान-अपमान को अधिक महत्त्व देता है। जिसमें वित्तैषणा मुख्य होती है वह धन-दौलत को अधिक महत्त्व देता है। ऐसी भिन्न-भिन्न रुचि वाले साधकों में परस्पर विरोधी प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। कोई सम्मान की रक्षा के लिए धन-दौलत की चिन्ता नहीं करता तो कोई साधक धन प्राप्त होता हो तो मान-सम्मान की चिन्ता नहीं करता। इन दोनों प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठा हुआ साधक भी शत्रुता और मित्रता के सम्बन्ध बाँध लेता है। यदि इस द्वन्द्व को भी साधक पार कर जाए तो पापी और पुण्यात्मा में तो भेदभाव शेष रह ही जाता है। इसलिए श्रीकृष्ण ने सभी प्रकार के द्वन्द्वों से परे रहकर समबुद्धि रखने का उपदेश दिया।

यहाँ जितने द्वन्द्व गिनाए गए वे ऊपर से देखने पर भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु मूलतः उन सभी द्वन्द्वों में अनुकूलता-प्रतिकूलता का ही भाव अन्तर्निहित है। यहाँ समता का अभिप्राय मानसिक स्थिति से है। व्यवहार में तो स्वर्ण को सुरक्षित स्थान पर ही रखा जाएगा और पत्थर को खुले स्थान में ही पड़ा रहने देना होगा। फिर भी योगी स्वर्ण के आने या जाने से हर्ष और शोक नहीं करता। समता का यही अर्थ है।

व्यवहार में भी मित्र और शत्रु के बीच समता रखने का एक विशेष अभिप्राय है। यदि कोई न्यायाधीश हो तो वह न्याय करते समय इस बात पर विचार नहीं करेगा कि उसका अपना कौन है और पराया कौन है। इसी प्रकार सज्जन और दुर्जन के बीच समता रखने का यह अर्थ है कि साधक सभी का हित चाहता है किसी का अहित चिन्तन नहीं करता। जब हमारी दृष्टि दूसरों पर रहती है तो हम उनमें बुराइयाँ ही ढूँढा करते हैं। उसका फल यह होता है कि उनकी बुराइयों का चिन्तन करते रहने के कारण वे बुराइयाँ हममें भी आ जाती हैं। जब दृष्टि अपने पर रहती है तो अपने दुर्गुण दिखने लगते हैं। यह दोषों को दूर करने की दिशा में पहला कदम है।

विषमता सांसारिक

जितनी विषमता है, वह सांसारिक है। जितनी समता है, वह तात्त्विक है। स्वर्ण का एक आभूषण सुन्दर है दूसरे आभूषण का वजन उतना ही है किन्तु वह आभूषण बेडौल है। जो ऊपरी दृष्टि से देखेगा वह सुन्दर आभूषण को अनुकूल मानेगा और बेडौल आभूषण को प्रतिकूल, किन्तु जिसकी दृष्टि तात्त्विक है वह दोनों में स्वर्ण के मूल्य को बराबर समझकर समान दृष्टि रखेगा भले ही उसका व्यवहार ऐसा होगा कि वह सुन्दर आभूषण को ग्राह्य और बेडौल आभूषण को अग्राह्य मानेगा। अर्थात् व्यवहार तो उसका भी यथायोग्य ही होगा किन्तु दृष्टि में वह दोनों को समान मूल्य देगा। इस कारण उसके भाव कभी विषम नहीं होंगे। जिसके भाव विषम हैं वह सर्वत्र परमात्मा का दर्शन कैसे कर सकता है? यदि सर्वत्र परमात्मा है तो फिर विविध रूप उसी के मानने होंगे और भेदभाव नहीं किया जा सकेगा।

हम भेदभाव इसलिए करते हैं कि हम असन्तुष्ट हैं। जिनसे हमारी अपेक्षाएँ पूरी होती हैं वे हमें प्रिय लगते हैं; किन्तु जो हमारी इच्छाओं की पूर्ति में बाधक होते हैं वे हमें अप्रिय लगते हैं। यह प्रियता-अप्रियता इसलिए उत्पन्न होती है कि हम इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हैं। इसलिए योगी के लिए दो शर्तें दी गईं कि वह सन्तुष्ट हो और जितेन्द्रिय हो।

सन्तुष्ट होने के सम्बन्ध में गीता ने कहा कि तृप्ति ज्ञान और विज्ञान से होती है। अनेकता में एकता का बोध ज्ञान है और एक से अनेक की उत्पत्ति की प्रक्रिया का ज्ञान विज्ञान है। ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है और विज्ञान से अभ्युदय की। योगी को ये दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं अतः वह तृप्त रहता है। इसलिए गीता में कहा –

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

मूल तथा अनुवाद

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥१०॥

योगी को चाहिये कि अपने चित्त को वश में करके, सब आशायें छोड़कर, परिग्रह रहित होकर अकेला एकान्त में रहकर अपने को योग में लगाये॥१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्–॥११॥

पवित्र प्रदेश में कुशा, मृगछाला और वस्त्र युक्त, न बहुत ऊँचा, न बहुत नीचा अपने आसन को स्थिर स्थापित करके – ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

उस आसन पर बैठकर चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखकर मन को एकाग्र करके अपनी शुद्धि के लिये योगाभ्यास करे॥१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्–॥१३॥

अपनी काया, सिर तथा ग्रीवा को एक सीध में, निश्चलरूप में रखकर, स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि टिका कर, चारों ओर देखे बिना – ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, भय को छोड़कर, शान्त भाव से, समीचीन रूप से मन को संयमित करके मुझमें चित्त को लगाकर मेरे में ही लगा रहे॥१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

मन को वशीभूत करके, योगी इस प्रकार अपने को सदा योग में लगाता हुआ मुझमें स्थित परम निर्वाण की शान्ति को उपलब्ध करता है॥१५॥

विपुल-भाष्य

योग में सहायक तत्त्व

कहा जा चुका है कि ज्ञानयोग हो या कर्मयोग, ध्यान दोनों स्थितियों में आवश्यक है। बुद्धियोग के अनुसार तो ज्ञानयोग और कर्मयोग में परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य है, क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही योग हैं। अतः श्रीकृष्ण योग की विधि थोड़ा विस्तार से बता रहे हैं। योगी इच्छाओं को छोड़कर इन्द्रियों को वश में रखते हुए अकेला एकान्त में मन को निरन्तर परमात्मा में लगाए तथा अपरिग्रह बुद्धि रखे –

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

परमात्मचित्त में कुछ बाधक बाह्य हैं, कुछ आन्तरिक। बाहरी भीड़-भाड़ चित्त को विक्षिप्त करती है इसलिए साधक को एकान्त का सेवन करना चाहिए। एकान्त में भी तरह-तरह की इच्छाएँ साधक को घेर लेती हैं इसलिए उसे इच्छाओं को छोड़ देना चाहिए। जब तक मन में इच्छाएँ हैं तब तक एकान्त में चले जाने पर भी संसार बना रहता है। इसके विपरीत जिसकी आसक्ति समाप्त हो गई उसके लिए घर भी तपोवन है - **निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्।**

साधक अपरिग्रही हो

कहा गया कि साधक को अपरिग्रही होना चाहिए। अपरिग्रह का एक अर्थ यह है कि मनुष्य अपने आपको भोग्य पदार्थों का स्वामी न समझे। स्वामित्व का अर्थ है – दूसरे को अपना दास बनाने की इच्छा कि वह हमारे अनुकूल चले। यदि वह वैसा नहीं करता तो हमें दुःख होता है। अपरिग्रह का दूसरा अर्थ है कि हम परिग्रह के गुलाम न हो जाएँ। परिग्रह की गुलामी का अर्थ है – पराधीनता। अपरिग्रह का अर्थ है – स्वतन्त्रता। पदार्थों का उपयोग करे क्योंकि पदार्थों के उपयोग के बिना जीवन-यात्रा सम्भव नहीं है किन्तु पदार्थों के गुलाम न बने। पदार्थों की गुलामी में किसी को भी सुख नहीं मिल सकता। जो परमात्मा का ध्यान भी इसलिए करते हैं कि उन्हें संसार के भोग प्राप्त हो जाएँ वे भोगी ही हुए, योगी नहीं। परमात्मा के ध्यान का फल यह है कि हमारा मन भोगों के प्रति आसक्ति से रहित हो जाए। ध्यान की इस मौलिक आवश्यकताओं के अनन्तर श्रीकृष्ण ध्यान करने की विधि थोड़ा और विस्तार से बताते हुए कहते हैं –

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

साधक अपने आस-पास के वातावरण से भी प्रभावित होता है अतः उसे ध्यान के लिए पवित्र स्थान ढूँढना चाहिए। प्रायः कहा जाता है कि पवित्रता तो मन में रहती है, स्थान तो जड है, उसकी पवित्रता-अपवित्रता कुछ नहीं होती। किन्तु यह विचार विज्ञान-सम्मत नहीं है। प्रथम तो जिन वृक्षादियों को हम जड समझते हैं, वे जड हैं ही नहीं। उनमें भी प्राणों का स्पन्दन है। दूसरे जो पदार्थ जड हैं भी, वे स्पन्दनों को ग्रहण करते हैं। जहाँ किसी बड़े साधक ने लम्बे समय तक साधना की हो, उस स्थान पर यदि हम साधना करें तो हमें सफलता पाने में सरलता होगी – यह एक वैज्ञानिक सत्य है। इसी आधार पर तीर्थों की कल्पना की गई है। गीता कहती है कि साधक को ध्यान पवित्र स्थान पर करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि साधक का आसन ऐसा होना चाहिए जो साधना के समय निकलने वाली ऊर्जा को साधक के शरीर से बाहर न जाने दे। इसके लिए कुश, मृगचर्म, और वस्त्र का आसन होना चाहिए। कुश को विद्युत शक्ति का अवरोधक माना है। मृगचर्म को यज्ञ रूप माना जाता है और वस्त्र ध्यान के समय शरीर को कष्ट नहीं देता। यह आसन न बहुत ऊँचा होना चाहिए, न बहुत नीचा, अर्थात् आसन भी माध्यस्थ भाव का सूचक होना चाहिए। आसन स्थिर होना चाहिए। यदि आसन अस्थिर होगा तो शरीर भी चंचल रहेगा। और जैसे हिलते हुए पात्र में पानी भी हिलता रहता है ऐसे चंचल शरीर में मन भी चंचल रहता है।

ऐसे आसन पर बैठ कर मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करना चाहिए –

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया कि योग एक शक्ति है। उसका उपयोग सांसारिक लाभ के लिए भी किया जा सकता है, किन्तु यह उसका दुरुपयोग है। योग का सदुपयोग तभी है जब उसका उपयोग चित्तशुद्धि के लिए किया जाए। चित्तशुद्धि का अभिप्राय है – चित्त में पड़ी हुई आसक्ति को क्षीण करना। जब मन एकाग्र होता है तो वह आसक्ति स्वतः क्षीण होने लगती है।

शरीर की विशेष स्थिति

शुद्ध स्थान पर आसन पर बैठने के बाद साधक को अपने शरीर की एक विशेष स्थिति बनानी चाहिए। पहली बात है कि वह अपने शरीर को स्थिर करे। दूसरी बात यह है कि वह अपने कमर से कण्ठ तक के भाग को, सिर को तथा ग्रीवा को एक सीध में रखे। इन तीनों को एक सीध में रखने का फल यह है कि मन समता में स्थित हो जाता है। शरीर के चंचल होने से मन चंचल होता है और विषम होने से मन भी विषम हो जाता है। तीसरी बात है कि दृष्टि को इधर-उधर न घुमा कर अर्द्ध निमीलित नेत्र से नासिका के अग्रभाग को देखे। पूरी आँख खुलने पर मन बाह्य जगत में भटकता है और आँख बन्द कर लेने पर अन्तर्जगत् के सपनों में खो सकता है इसलिए ध्यान के लिए अर्द्धोन्मीलित नेत्र सर्वोत्तम हैं। नासिका का अग्रभाग देखने पर नासिका के मूल भाग अर्थात् आज्ञाचक्र पर एक दबाव पड़ता है। उस दबाव के कारण आज्ञाचक्र के खुलने की सम्भावना बनती है। आज्ञाचक्र के खुल जाने से ऊर्जा ऊर्ध्वोन्मुख होने लगती है। इसलिए शरीर की यह स्थिति ध्यान में साधक है –

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

शारीरिक स्थिति के अनन्तर मानसिक स्थिति का भी विवरण गीता ने दिया है। पहली शर्त है कि साधक का अन्तःकरण शान्त होना चाहिए। राग-द्वेष के कारण अन्तःकरण अशान्त रहता है। अतः ध्यान करते समय साधक को कोई सांसारिक लक्ष्य सामने नहीं रखना चाहिए।

ध्यान के द्वारा मैं दूसरों से आगे निकल जाऊँगा – ऐसी भावना भी अन्तःकरण को अशान्त कर देती है। न ही कोई ऐसा निराशा का भाव रखना चाहिए कि ध्यान से कुछ भी घटित नहीं हो रहा। सभी चमत्कार विभाव हैं। ध्यान स्वभाव में स्थिर होने की प्रक्रिया है। अतः ध्यान करने वाले को अपने मन से सभी विभाव निकाल देने चाहिए।

दूसरी शर्त है – निर्भयता। हम सदा भविष्य के प्रति संत्रस्त रहते हैं। योगशास्त्र में पाँच क्लेशों में एक क्लेश माना गया है – अभिनिवेश अर्थात् मृत्यु का भय। जब तक हम अपने को शरीर मानते हैं, तब तक मृत्यु का भय अवश्यम्भावी है, क्योंकि शरीर को मृत्यु से कोई भी नहीं बचा सकता। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो दरिद्रता, रोग, बुढ़ापा आदि सभी विपदाओं का भय मृत्यु का भय ही है, क्योंकि सभी विपदाओं की चरम परिणति मृत्यु ही है। वस्तुतः ध्यान में तो साधक अपने अहंकार को खोता है, इसलिए अपने आपको बचाने का भाव तो साधक में होना ही नहीं चाहिए। जब तक अहंकार है, तब तक परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता –

प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाहि।
मैं हूँ तो हरि है नहीं, हरि है तो मैं नाहि।।

जब साधक अपने आपको बचाने के लिए उत्सुक ही नहीं है बल्कि अपने आपको मिटाने के लिए उत्सुक है तो फिर उसके भयभीत होने का प्रश्न ही नहीं होता।

ध्यान से ऊर्जा पैदा होती है। वह ऊर्जा यदि निम्नगामी हो जाए तो साधक को अधःपतन की ओर भी ले जा सकती है। इसलिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। मनु ने स्पष्ट किया है कि जो व्यक्ति सन्तान की इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी कामनावश काम का सेवन नहीं करता, वह ब्रह्मचारी ही है। सन्तानोत्पत्ति के लिए काम का सेवन करने वाला गृहस्थ भी इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी का अर्थ है कि ऊर्जा ऊर्ध्वगामी हो अर्थात् परमात्म-प्राप्ति में लगे। वस्तुस्थिति यह है कि परमात्मा तो हमारा अपना ही स्वरूप है इसलिए हमें सदा ही प्राप्त है। किन्तु हम अभी इतने समर्थ नहीं हैं कि ब्रह्मानन्द को झेल सकें। अतः विषयानन्द में अपव्यय होने वाली ऊर्जा को ब्रह्मानन्द की ओर उन्मुख कर देना चाहिए। यही ब्रह्मचर्य है।

शाश्वत शान्ति

गीता में यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि साधक को मुझमें अपना मन लगाना चाहिए। जहाँ-जहाँ भी श्रीकृष्ण ने इस प्रकार के वक्तव्य दिए हैं वहाँ 'अस्मत्' शब्द का अर्थ परमात्मा समझना चाहिए। जो श्रीकृष्ण को परमात्मा का अवतार समझते हैं उनके लिए तो ऐसा अर्थ करना आसान ही है, किन्तु जो ऐसा नहीं मानते उन्हें भी उपनिषद् के इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिए कि जो ब्रह्मवित् है वह ब्रह्म ही हो जाता है। अतः श्रीकृष्ण ब्रह्मवित् होने के नाते ब्रह्मरूप ही हैं। इस प्रकार ध्यान करने का फल बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो योगी मन को वश में कर लेता है वह परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है, आवश्यकता इस अभ्यास को निरन्तर बनाए रखने की है। संसार की इच्छाएँ छूट जाती हैं तो शान्ति मिलती है और परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाने पर परम शान्ति मिलती है। यह शान्ति कभी नष्ट नहीं होती इसलिए इसे शाश्वत कहा गया है। इस शान्ति के प्राप्त हो जाने पर कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रहता इसलिए इसे निर्वाण भी कहा जाता है। स्वयं गीता के शब्द इस प्रकार हैं –

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

मूल तथा अनुवाद

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन! न बहुत खाने वाले को न बिल्कुल ही न खाने वाले को, न बहुत सोने वाले को न जागते रहने वाले को ही योग सिद्ध होता है॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥

जिसका आहार-विहार सम्यक् है, कर्म में जिसकी चेष्टा सम्यक् है तथा जो यथायोग्य सोता-जागता है उसका इस प्रकार के योग से दुःख समाप्त हो जाता है ॥१७॥

विपुल-भाष्य

योगी का आहार-विहार

गीता में समता की बात बहुत व्यापक परिप्रेक्ष्य में कही गई है। केवल मन की समता पर्याप्त नहीं है। शरीर की भी समता चाहिए। इसलिए पहले ध्यान की स्थिति का वर्णन करते समय यह कहा गया कि साधक को काया, सिर

और गले को सम रखना चाहिए। यदि शरीर की समता नहीं है तो मन की समता भी नहीं सध सकती। प्रश्न होता है कि शरीर की समता कैसे साधी जाए? श्रीकृष्ण ने इसका अत्यन्त व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया। शरीर की पहली आवश्यकता भोजन है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए आहार करना आवश्यक है। हम यह विवेक न कर पाएँ कि हमारे शरीर की समता बनाए रखने के लिए कितना भोजन आवश्यक है, तो शरीर में विकार आना आवश्यक है। इसी प्रकार शरीर के लिए विश्राम भी आवश्यक है किन्तु कितना उपयुक्त है, यह विवेक भी होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में दो अतियाँ सम्भव हैं – या तो बहुत अधिक भोजन कर लें या बिल्कुल ही भोजन नहीं करें। दोनों ही स्थितियों में हमारा शरीर योग में बाधक हो जाएगा। शरीर को कितने भोजन की आवश्यकता है इसकी सूचना प्रकृति भूख द्वारा हमें देती है। किन्तु हम यदि स्वाद के लालच में भूख की भाषा को न समझ कर आवश्यकता से अधिक खा लें तो उससे शरीर को लाभ होने के स्थान पर हानि ही होती है। प्रायः हम ऐसा समझते हैं कि कम मात्रा में भोजन मिलने के कारण व्यक्ति निर्बल और रुग्ण हो जाते हैं। सच यह है कि अधिक भोजन करने के कारण भी कुछ कम रोग नहीं होते। शास्त्रों में अधिक भोजन की निन्दा है। इस निन्दा के कारण अनेक साधक उतना भोजन भी नहीं करते जितना शरीर के लिए आवश्यक है। ऐसी स्थिति में शरीर निर्बल हो जाता है। साधक जिस दिन भोजन नहीं करने का निर्णय लेता है उस दिन उसका सारा समय भोजन का ध्यान करते ही बीतता है। अतः श्रीकृष्ण ने बिल्कुल नहीं खाने का निषेध किया। भोजन में सन्तुलन रखने का अर्थ है शरीर का सन्तुलित रहना और शरीर के सन्तुलित रहने का अर्थ है – चित्त की समता। यही योग है।

विश्राम और आलस्य

जो स्थिति भोजन की है वही निद्रा की है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर को एक निश्चित मात्रा में विश्राम चाहिए किन्तु विश्राम और आलस्य पर्यायवाची नहीं हैं। यदि सोने के बाद शरीर में और मन में स्फूर्ति का अनुभव नहीं हो तो समझना चाहिए कि नींद ठीक से नहीं ली गई। जितनी निद्रा आवश्यक है यदि उतनी निद्रा न ली जाए तो चित्त कहीं भी केन्द्रित नहीं हो पाता। ऐसा व्यक्ति यदि ध्यान करना चाहेगा तो ध्यान में उसे नींद आ जाएगी। कुछ साधक कम नींद लेने को उत्कृष्ट साधना समझ लेते हैं। वे रात में तो पूरा सो नहीं पाते किन्तु दिन भर तन्द्रा में ऊँघते रहते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे लोग भी योग की सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाते।

श्रीकृष्ण ने इस सम्बन्ध में कोई एक निश्चित सूत्र नहीं दिया कि कितना भोजन किया जाए और कितनी निद्रा ली जाए। इसका कारण यह है कि हममें से प्रत्येक की आवश्यकता भिन्न-भिन्न है। किसी के लिए चार रोटी खा लेना अधिक भोजन की श्रेणी में आ जाएगा और किसी के लिए चार रोटी खाना उसकी शरीर की आवश्यकता के लिए कम हो सकती है। यही निद्रा की स्थिति है। छोटे बच्चे की नींद की आवश्यकता, युवक की आवश्यकता से बहुत अधिक है। दूसरी ओर वृद्ध व्यक्ति को बहुत कम नींद चाहिए। इसका निर्णय साधक को स्वयं करना पड़ेगा कि उसके शरीर की आवश्यकता कितनी है। इस सम्बन्ध में यदि हम सन्तुलन रख सकें तो शरीर हल्का-फुल्का रहेगा और हल्का-फुल्का शरीर योग में बहुत बड़ा साधक बन जाएगा। सन्तुलित शरीर प्रकृति से जुड़ा रहता है इसलिए उसके लिए प्रत्येक ऋतु अनुकूल बन जाती है। असन्तुलित शरीर प्रकृति से दूर हो जाता है इसलिए उसके लिए प्रत्येक ऋतु कष्टकारी सिद्ध होती है।

ऋतु को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न

हम प्रयत्न यह करते हैं कि ऋतु को अपने अनुकूल ढालने के लिए कृत्रिम साधनों का प्रयोग करें किन्तु इससे हमारे शरीर की प्रतिरोधक शक्ति धीरे-धीरे कम होती जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने शरीर की प्राकृतिक माँग की पूर्ति करें और विकृतियों से बचें। इस प्रकार शरीर की प्रतिरोधक शक्ति बनी रहेगी। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं –

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

किन्तु श्रीकृष्ण इतने पर ही अपनी बात पूरी नहीं कर देते। आहार का प्रश्न केवल मात्रा का प्रश्न नहीं है। आहार युक्त भी होना चाहिए। युक्त के अनेक अर्थ हैं। प्रथम तो आहार की प्राप्ति के लिए अनुचित साधन न बरता गया हो। न्यायपूर्वक कमाए हुए धन से जो आहार अर्जित किया जाता है, वह युक्त है। जो धन निर्बल के शोषण से प्राप्त किया जाएगा उस धन के द्वारा निष्पन्न होने वाला भोजन कभी भी साधक का मन योग में नहीं लगने देगा। युक्त का दूसरा अर्थ है कि आहार मनोयोगपूर्वक किया जाए। भोजन करते समय मन कहीं अन्यत्र है तो न भोजन की मात्रा का ध्यान रहेगा न भोजन ठीक से चबाया जाएगा। इस प्रकार भोजन करने पर पेट तो भर जाएगा लेकिन मन नहीं भरेगा और सदा कुछ न कुछ खाने की इच्छा बनी रहेगी। युक्त का तीसरा अर्थ है देश, काल, परिस्थिति और अवस्था के उपयुक्त भोजन किया जाए। सर्दी में ठण्डाई पीना और गर्मियों में हल्दी की सब्जी खाना ऋतुचर्या के विरुद्ध है। किसी तरुण सम्बन्धी की मृत्यु पर खीर अथवा हलुआ खाना और पुत्र के जन्मोत्सव पर चटनी से रूखी रोटी खाना अनुपयुक्त ही है। केवल आहार की बात नहीं है, हमारे सभी कर्मों में उपयुक्तता आवश्यक है। कर्म का महत्त्व देख कर उसके अनुसार ही उसमें अपनी शक्ति लगानी चाहिए। प्रायः ऐसा होता है कि जिस कर्म का विशेष महत्त्व नहीं है उसके लिए तो हम व्यर्थ ही बहुत तनाव में आ जाते हैं और जो कार्य सचमुच महत्त्व का है उसे कामचलाऊ ढंग से करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। कर्म का तटस्थ भाव से मूल्यांकन करें, भावावेश में नहीं। यदि विद्यार्थी दूरदर्शन पर किसी क्रिकेट मैच देखने के लिए तो स्वेच्छा से रात भर जागता रहे किन्तु परीक्षा की तैयारी के लिए आठ घंटे नींद ले लेने के बाद भी न उठे, तो यह समझना चाहिए कि वह कर्म का ठीक मूल्यांकन नहीं कर पा रहा है। थोड़ा और सूक्ष्म में जाएँ तो एक व्यक्ति धन कमाने के लिए यदि अपना स्वास्थ्य गँवा देता है, तो यह कार्य भी कम मूर्खता का नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण ने युक्त आहार के साथ युक्त विहार की भी बात की है।

युक्त का अर्थ

युक्त का एक महत्वपूर्ण अर्थ है कि हम जो कार्य भी करें उसे पूरे मनोयोग से करें। ऐसा करने पर कर्म हमारे सिर पर सवार नहीं होगा। यदि व्यक्ति दफ्तर में कार्यालय का काम करते समय घर की समस्याओं के बारे में सोचता रहेगा और घर में घर पर पूरा ध्यान न देकर कार्यालय की समस्याओं में उलझा रहेगा तो उसके स्वभाव में चिड़चिड़ाहट के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। क्योंकि दफ्तर में लोग उससे कार्यालयों की समस्या का समाधान चाह रहे हैं और उसका मन घर की समस्याओं में उलझा है। घर की समस्याओं का समाधान कार्यालय में तो मिलेगा नहीं और इसलिए वह विवाद से भर कर स्वयं भी सबसे असन्तुष्ट हो जाएगा और सब उससे असन्तुष्ट हो जाएँगे। इसी प्रकार यदि घर में कार्यालय की समस्याओं को लेकर आए तो अफसर की डाँट-डपट का फल निरपराध पत्नी और बच्चों को भोगना पड़ सकता है। कर्म में युक्त चेष्टा का अर्थ है जो कर्म को पूरे मन से करे और जब दूसरे कर्म में लगे तो पहले कर्म को बिल्कुल भूल जाए। इस प्रकार हम तो कर्म में रहेंगे, किन्तु कर्म हम में नहीं रह पाएगा। यह युक्तता आहार, विहार, सोना, जागना सभी कर्मों में रहना चाहिए। यदि ऐसा हो पाए तो श्रीकृष्ण का आश्वासन है कि ऐसे कर्मयोगी का योग दुःखों को समाप्त कर देता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

गीता का उपदेश कल्पना का विषय नहीं है। उसकी सत्यता उसे व्यवहार में अपना कर परखी जा सकती है। कोई भी साधक उपर्युक्त प्रणाली से कर्म करेगा तो उसके कर्म दुःख का कारण नहीं बनेंगे। इस सत्य को अनुभव करके देखा जा सकता है। साथ ही यह ध्यातव्य है कि गीता का योग संसार में कर्म करते हुए साधा जा सकता है, उसके लिए घर-बार छोड़ कर कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है।

मूल तथा अनुवाद

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

वशीभूत चित्त जब आत्मा में ही टिक जाता है, तब सभी प्रकार की कामनाओं से निःस्पृह व्यक्ति (योग) युक्त कहलाता है।।१८।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

जैसे वायुरहित स्थान में दीपक कम्पित नहीं होता, योग में लगे, चित्त-जेता आत्म-योग में लगे (योगी) की वैसी ही स्थिति है।।१९।।

विपुल-भाष्य

साधन अनेक, साध्य एक

गीता में युक्त आहार-विहार और कर्म की चेष्टा करने का आदेश दिया गया है। इस सम्बन्ध में हम पहले विचार करते हुए यह कह चुके हैं कि देश, काल, परिस्थिति के अनुकूल एकाग्रचित्त से कर्म करना युक्तता है। सभी इस विषय में एकमत हैं कि एकाग्रचित्त से कर्म करना चाहिए। प्रश्न होता है कि व्यक्ति एकाग्र हो क्यों नहीं पाता। गीता ने इसके तीन कारण दिए हैं। प्रथम, यदि चित्त वश में नहीं है तो वह एकाग्र नहीं हो पाएगा। दूसरे, यदि साधक अपने स्वरूप में स्थित नहीं है तो चित्त एकाग्र नहीं हो पाएगा। तीसरे, यदि साधक में अनेक प्रकार की इच्छाएँ हैं तो यह एकाग्र नहीं हो पाएगा। अतः युक्त वही हो सकता है जो इन तीनों बाधाओं को पार कर ले।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।

योग सूत्र में चित्त की पाँच स्थितियाँ बताई गई हैं – क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। क्षिप्त चित्त में रजोगुण मुख्य रहता है । चञ्चलता के कारण क्षिप्त चित्त एकाग्र नहीं हो पाता। मूढ चित्त तमोगुण प्रधान है वह प्रायः अज्ञान से ही घिरा रहता है। विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति सत्त्वगुण के समावेश से कदाचित् चित्त को एकाग्र कर पाता है। यही सत्त्वगुण जब अधिक हो जाता है तो चित्त एकाग्र हो जाता है जिसे सविकल्प समाधि कहा गया है। त्रिगुणातीत स्थिति में चित्त निरुद्ध हो जाता है, यही निर्विकल्प समाधि है। निर्विकल्प समाधि में तो कोई कर्म सम्भव ही नहीं है इसलिए कर्म करते समय चित्त की एकाग्रता ही अभिप्रेत है।

एकाग्रता के अतिरिक्त दूसरी शर्त है चित्त का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना। यही चित्त का लय है। चित्त में पदार्थों का प्रतिबिम्ब आता है और जाता है किन्तु यह चित्त का अपना स्वरूप नहीं है। चित्त का अपना स्वरूप वह है जो पदार्थों के प्रतिबिम्ब से रहित है। जो आनन्द चित्त के अपने स्वरूप में है वह पदार्थों में नहीं है। यह आनन्द चित्त को एकाग्र होने में सहायक बनता है।

हमें अनादि काल से पदार्थों में आनन्द लेने का ही अभ्यास है। योगाभ्यास के द्वारा इस पुराने संस्कार को तोड़ना पड़ता है, यही अभ्यास कहलाता है।

पदार्थों की इच्छा बाधक

स्पष्ट है कि अभ्यास में पदार्थों की इच्छा बाधक है क्योंकि वह इच्छा हमारे चित्त को पदार्थों की ओर खींचती है। इसके लिए पदार्थों के प्रति निःस्पृहता का भाव आवश्यक है। यही वैराग्य है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य मिल

कर चित्त को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। यह वैराग्य भी दो प्रकार का है। स्थूल पदार्थों के प्रति वैराग्य अपर वैराग्य है। स्त्री, पुत्र, धन, पद, प्रतिष्ठा के प्रति विरक्त होना वैराग्य का स्थूल रूप है किन्तु तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण के प्रति निःस्पृह भाव रखना पर-वैराग्य अर्थात् सूक्ष्म वैराग्य है। स्पष्ट है कि यह वैराग्य ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है।

इस देश में अपने आपको विरक्त मानने वाले साधकों की दृष्टि कभी-कभी ज्ञान के प्रति उपेक्षा की हो जाती है। यह सत्य है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान से आत्मकल्याण सम्भव नहीं है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि विवेक ख्याति के बिना सच्चा वैराग्य प्रकट नहीं हो सकता। प्रकृति त्रिगुणात्मक है और पुरुष त्रिगुणातीत है। यह विवेक ही विवेक ख्याति है जो सच्चे वैराग्य का आधार बनती है।

ज्ञान और वैराग्य

अतः ज्ञान और वैराग्य एक-दूसरे के उपकारक हैं इस देश के बहुत बड़ी संख्या में साधु ज्ञान की आराधना के बिना ही वैराग्य द्वारा आत्मकल्याण की इच्छा कर लेते हैं। उन्हें इस बात की तरफ ध्यान देना चाहिए कि इस देश के सभी वे विरक्त पुरुष, जिनका स्मरण हम आज भी करते हैं, आजीवन ज्ञान की साधना में लगे रहे। यदि आज का साधुवर्ग भी उसी प्रकार ज्ञान की आराधना में लग जाए तो उनका स्वयं का कल्याण तो होगा ही, प्राच्यविद्याओं के क्षेत्र में भी एक अद्भुत क्रान्ति घटित हो जाएगी। प्राच्यविद्याएँ प्रायः अर्थकारी नहीं हैं किन्तु मुक्ति-दायिनी हैं। यदि मुक्ति को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानने वाला त्यागी वर्ग ज्ञान की आराधना में लगे तो वह सर्वथा उचित ही होगा। अतीत में भी और वर्तमान में भी अनेकानेक संन्यासियों ने ज्ञानोपासना के द्वारा सरस्वती माता के कोश की श्रीवृद्धि की है। इधर-उधर की बहिर्मुख प्रवृत्तियों में न फँसकर सभी संन्यासियों को उनका अनुकरण करते हुए ज्ञान की सतत आराधना करनी चाहिए। इससे उनके वैराग्य की पुष्टि होगी, इसमें सन्देह नहीं।

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा जिस योगी ने अपने चित्त को वश में कर लिया उस योगी की स्थिति उस दीपशिखा के समान है जो स्पन्दन रहित वायु के स्थान में तनिक भी विचलित नहीं होती –

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।

यह उपमा बहुत सटीक है। यूँ तो घट आदि अनेक पदार्थ भी निष्कम्प रहते हैं किन्तु वे स्वभाव से स्थिर हैं, जबकि दीपक की लौ स्वभाव से अस्थिर है। अतः चित्त के लिए दीपशिखा की उपमा युक्तियुक्त है क्योंकि चित्त भी स्वभाव से चंचल है। दूसरी बात यह है कि चित्त सुषुप्ति में भी स्थिर रहता है किन्तु उस समय वह अविद्या में लीन रहता है। यहाँ चित्त की वैसी स्थिरता बताना अभिप्रेत नहीं है। योगी का चित्त जागरूक रहता है, सुषुप्ति में नहीं। दीपशिखा भी प्रकाशमान है अतः उसकी उपमा योगी के चित्त की एकाग्रता से देना उचित ही है।

यहाँ वायुरहित स्थान की बात की गई है। इन्द्रियों के विषय ही चित्त को अस्थिर बनाते हैं। ये रूप, रस आदि विषय भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के माध्यम से चित्त में प्रविष्ट होकर उसे आकृष्ट करते हैं। जब ये विषय चित्त में प्रविष्ट नहीं होते तो चित्त स्थिर हो जाता है।

चित्त के स्थिर होने का अर्थ है – जगत् से बाहर हो जाना। जगत् का शब्दार्थ है निरन्तर गतिशीलता। जहाँ गति है वहाँ जगत् है जहाँ गति नहीं है वहाँ जगत् भी नहीं है। जब दीपशिखा हवा में कम्पित होती रहती है तो उसे यह जानने का अवसर ही नहीं मिलता कि उसका अस्तित्व दिए में रखे तेल के कारण है। इसी प्रकार जब चित्त विषयों में कम्पित रहता है तो वह उस ध्रुव तत्त्व को जान ही नहीं पाता जिस पर उसका अस्तित्व टिका है।

कठिनाई यह है कि जब हम चित्त को स्थिर करना चाहते हैं तो चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न एक नई अस्थिरता पैदा कर देता है। अतः यह विचार करने से कि मैं स्थिर हो जाऊँ चित्त स्थिर नहीं हो सकता। उसे स्थिर करने के लिए किसी भाव या कर्म में डूबना होगा। यदि कोई व्यक्ति मीरा की तरह कृष्ण के भाव में डूब सके तो उसका चित्त

स्थिर हो जाएगा। यह भक्ति का मार्ग है। यदि कोई कर्म में डूब सके तो भी उसका चित्त स्थिर हो जाएगा। यह कर्म का मार्ग है। यदि कोई ज्ञान में डूब सके तो भी वह स्थिर हो जाएगा, यह ज्ञान का मार्ग है। किसी भी मार्ग से चलें, लक्ष्य एक ही है – चित्त की स्थिरता। चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है – योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। विशेषता यह है कि पतञ्जलि के अष्टांग योग में योगी ज्ञान-मार्ग द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करता है किन्तु गीता ने हमें वह मार्ग सुझाया है कि भक्ति और कर्म द्वारा भी चित्त-वृत्ति का निरोध हो सकता है। स्पष्ट है कि पतञ्जलि का योग कुछ इने-गिने लोगों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है किन्तु गीता के द्वारा प्रदर्शित योग का मार्ग इतना व्यापक है कि इसे कोई भी अपना सकता है। एक और विशेषता यह है कि पतञ्जलि के योग द्वारा मनुष्य मुख्यतः अपना ही कल्याण करता है किन्तु गीता का योग लोक-संग्रह अथवा समाज-कल्याण की भावना को भी अपने में समेटे हुए है।

योग का मार्ग

पतञ्जलि का योग समाज-व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में बहुत सहायक नहीं होता किन्तु गीता द्वारा प्रदर्शित योग का मार्ग समाज-व्यवस्था को भी सुव्यवस्थित कर देता है क्योंकि यह वर्णाश्रम-व्यवस्था के भीतर रह कर साधा जा सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता में पातञ्जल योग का निराकरण किया गया है। रुचि के अनुकूल साधक यदि पातञ्जल योग को अपनाए तो भी वह अपने साध्य को प्राप्त कर सकता है। मूल बात यह है कि योग का कोई भी मार्ग अपनाया जाए किन्तु साधक को अपनी साधना में पूर्ण ईमानदारी बरतनी होगी। यदि साधक की चित्तवृत्ति एकाग्र नहीं हो पा रही है तो उसे यह मान लेना चाहिए कि उसकी साधना में ही कोई न कोई न्यूनता है।

मूल तथा अनुवाद

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति–॥२०॥

जब योगाभ्यास से निरुद्ध चित्त शान्त हो जाता है और जहाँ आत्मा के द्वारा आत्मा को ही देखते हुए (व्यक्ति) आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है– ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥२१॥

उस अवस्था में (सूक्ष्म) बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय आन्तरिक सुख का अनुभव करता है तथा वह योगी तत्त्व से विचलित नहीं होता॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥२२॥

जिसे प्राप्त करके उससे बड़ा कोई दूसरा लाभ (व्यक्ति) नहीं मानता। उस स्थिति में स्थित व्यक्ति बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता॥२२॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥२३॥

उस योग का उत्साही चित्त से अनुष्ठान करना चाहिए जिसे (व्यक्ति) दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला योग समझे ॥२३॥

विपुल-भाष्य

दुःखमुक्ति का उपाय : योग

योग की सबसे पहली शर्त है चित्त का शान्त हो जाना। चित्त का स्वभाव है कि वह सुख की ओर दौड़ता है। जब तक उसे इन्द्रियों के विषयों में सुख प्रतीत होता है तब तक वह उस सुख के पीछे भागेगा ही। हम इन्द्रियों के विषयों में सुख मानते रहे और यह चाहें कि चित्त उनके पीछे न दौड़े, यह सम्भव नहीं है। हम चित्त से उसके स्वभाव के विपरीत कार्य नहीं करवा सकते। अतः यदि हम चित्त को विश्राम में लाना चाहते हैं तो हमें यह धारणा बदलनी होगी कि इन्द्रियों के विषयों में सुख है। इसलिए पतञ्जलि ने एक सूत्र में कहा कि जिसे सामान्य मनुष्य सुख समझता है विवेकी के लिए वह भी दुःख ही है।

अपने जीवन पर दृष्टिपात करें। हमारी अनेकानेक कामनाएँ पूरी हुई हैं। जब तक हमारी एक कामना पूरी नहीं होती तब तक लगता है कि यदि वह कामना पूरी हो जाए तो अपार सुख प्राप्त होगा। कामना पूरी नहीं होने तक हम इस दुःख में जीते हैं कि हमारी कामना पूरी नहीं हो रही किन्तु जैसे ही हमारी कामना पूरी हो जाती है वैसे ही हमें लगने लगता है कि उस कामना के पूरा हो जाने से कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। और तब हमारा चित्त एक नई कामना को पकड़ लेता है। यदि वह कामना भी पूरी हो जाती है तो हमें जो कुछ प्राप्त होता है वह निःसार प्रतीत होने लगता है और फिर तीसरी कामना हम पर सवार हो जाती है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है और ऐसा कोई भी सारभूत तथ्य हाथ नहीं आता जिसको प्राप्त कर लेने पर हमें कृतकृत्यता का अनुभव हो। विवेकी अपने विवेक द्वारा इस परिस्थिति का विश्लेषण कर लेने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इन्द्रियों के विषयों में सुख कहीं भी नहीं है। जैसे ही उसे यह बोध होता है उसका चित्त विषयों के प्रति दौड़ने से विरत हो जाता है। गीता कहती है योग के सेवन से उसका चित्त निरुद्ध हो जाता है।

योगी की स्थिति

प्रश्न होता है कि चित्त तो निरुद्ध हो गया, अब योगी की क्या स्थिति होगी? क्या वह सुषुप्ति के समान उस स्थिति में चला जाएगा जहाँ कुछ भी ज्ञान नहीं होता। उत्तर यह है कि समाधि की स्थिति में सुषुप्ति के समान अज्ञान नहीं रहता। प्रत्युत आत्मा के द्वारा आत्मा का दर्शन होता रहता है। उस अवस्था में साधक स्वयं में ही सुख का अनुभव करता है उसे बाहर सुख की खोज नहीं करनी पड़ती –

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥

ऐसी स्थिति में साधक, सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट होना तो दूर की बात है, समाधिजन्य सुख में भी आसक्त नहीं होता।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा को आत्मा द्वारा ही देखा जा सकता है। मन, बुद्धि, वाणी, प्रकृति के घटक हैं, ये आत्म-तत्त्व को नहीं देख सकते। यहाँ गीताकार ने ध्यानयोग के द्वारा आत्म-तत्त्व की उपलब्धि का उपाय बतलाया है। आत्मतत्त्व की उपलब्धि से जो सुख उपलब्ध होता है उस सुख में दुःख का मिश्रण नहीं रहता है इसलिए उसे एकान्तिक सुख कहा गया है। उस सुख से बड़ा कोई दूसरा सुख नहीं है। इसलिए उसे आत्यन्तिक सुख कहा गया है। जब हम तमोगुण से अभिभूत होते हैं तब भी एक सुख की प्रतीति होती है। वह तामस सुख है। जब हम किसी कर्म में सफल होते हैं तो जो सुख होता है वह राजस सुख है। यह तामस सुख की अपेक्षा उत्कृष्ट है। जब हम तत्त्व ज्ञान की चर्चा में रहते हैं तब जो सुख होता है वह सात्त्विक सुख है। वह राजसी सुख की अपेक्षा उत्कृष्ट है। किन्तु जब हम आत्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं तब जो सुख हमें मिलता है वह गुणातीत सुख है और सात्त्विक सुख से भी बढ़कर है। गीता कहती है कि जो इस सुख में स्थित हो जाता है वह विचलित नहीं होता। मनुष्य को

जब कोई सुख मिलता है तो वह किसी उससे बड़े सुख की आशा में अपनी स्थिति से विचलित हो जाता है। किन्तु जब आत्म-सुख से बड़ा कोई सुख ही नहीं तो फिर साधक उसे छोड़कर किसी और सुख की आशा में विचलित क्यों होगा –

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

क्योंकि आत्म-सुख गुणातीत है; अतः वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है, यह जान लेने पर साधक की इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। इतना अवश्य है कि ध्यान की स्थिति में बुद्धि जागरूक रहती है, मूर्च्छित नहीं होती है। इसलिए गीताकार ने बुद्धि-ग्राह्य शब्द का प्रयोग किया है किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि बुद्धि भी उस गुणातीत सुख को नहीं जान पाती।

गुणातीत स्थिति

गुणातीत स्थिति में दुःख का कोई अर्थ नहीं रहता क्योंकि दुःख रजोगुण का प्रभाव है और जिस सुख में गुण-मात्र का अभाव है वहाँ रजोगुण भी नहीं है। अतः जो रजोतीत स्थिति में स्थित हो गया उसे बड़े से बड़ा दुःख भी विचलित नहीं कर पाता –

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

प्रकृति का नियम है कि तीनों गुण सदा साथ-साथ रहते हैं। यदि सत्त्वगुण और तमोगुण रहेगा तो रजोगुण वहाँ रहेगा ही। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रकृति के क्षेत्र में सदा दुःख रहता ही है। इस दुःख में न्यूनाधिक्य हो सकता है किन्तु दुःख का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। दुःख का अत्यन्ताभाव तो गुणातीत स्थिति में ही सम्भव है। दुःख कम है या अधिक, यह प्रश्न तब तक है जब तक हम प्रकृति के क्षेत्र में रहते हैं। यह हमारी सहिष्णुता पर निर्भर करता है कि हम कितने दुःख को बिना विचलित हुए सहन कर सकते हैं। कोई व्यक्ति थोड़े से ही दुःख से विचलित हो जाता है कोई बहुत बड़े दुःख में भी विचलित नहीं होता। किन्तु व्यक्ति कितना भी अधिक सहिष्णु हो कोई न कोई दुःख तो उसे विचलित कर ही देता है। साधक बड़े से बड़े दुःख में विचलित न हो, यह तभी सम्भव है जब वह गुणों का अतिक्रमण कर जाए; गुणातीत स्थिति में पहुँच जाए। समाधि में यही होता है। दुःख हो और हम विचलित न हों, यह सहिष्णुता है, किन्तु दुःख हमें स्पर्श ही न कर पाए यह ज्ञान की स्थिति है। जब गुरु तेग बहादुर को उबलते हुए तेल के कड़ाहे में डाला गया तब भी उनके मुख पर कोई विकार नहीं आया। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वे बहुत सहिष्णु थे अपितु इसका यह अर्थ है कि वे आत्मस्थ योगी थे और इसलिए वेदना उनका स्पर्श ही नहीं कर पाती थी। मृत्यु को हँसते-हँसते गले लगाने वाले सुकरात और ईसा मसीह ऐसे ही योगी थे। उन्हें दारुण दुःख दिया जा रहा था किन्तु उनके मुख पर रश्चमात्र भी विकार का भाव नहीं था।

दुःख के संयोग से छुटकारा

यही दुःख के संयोग का वियोग है। दुःख है, किन्तु प्रकृति में, पुरुष में नहीं। जो आत्मस्वरूप में स्थित हो गया उसका दुःख के संयोग से छुटकारा हो जाता है। योग का यही फल है। पतञ्जलि ने कहा है कि योग के द्वारा साधक अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। साधक को ऐसा योग प्राप्त करने के लिए सदा उत्साहपूर्वक लगे रहना चाहिए। किसी भी कार्य में सफलता उसी अनुपात में होती है जिस अनुपात में हमारा उस कार्य के प्रति उत्साह होता है। यदि यह निश्चय हो जाए कि योग द्वारा दुःख से मुक्ति मिल सकती है तो फिर निश्चय ही योग के प्रति हमारे मन में अपार उत्साह आ जाएगा। इस उत्साह का फल यह होगा कि हम अपने मन को सब ओर से हटाकर पूर्णतः योग की सिद्धि में लगा देंगे। ऐसा होने पर सफलता प्राप्त करने में विलम्ब नहीं होगा । ध्यान देने की बात है कि योग का लक्ष्य स्वरूप में स्थित होना है। स्वरूप का अर्थ है कि वह हमें नित्य प्राप्त है। वस्तुतः हम कुछ भी करें या

सोचें स्वरूप तो सदा बना ही रहता है। अतः विचारों से संघर्ष करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए अपितु उन्हें भी तटस्थ भाव से देखना चाहिए, ऐसा होने पर संकल्प-विकल्प स्वतः ही शान्त हो जाएँगे। यदि हम संकल्प-विकल्प को अपना शत्रु मानेंगे तो भी उनसे द्वेष का सम्बन्ध स्थापित हो जाएगा। अतः आवश्यकता संकल्प-विकल्प का विरोध करने की नहीं अपितु उनके प्रति तटस्थ भाव रखने की है। जिस प्रकार बादल आते हैं और जाते हैं किन्तु आकाश का अपना स्वरूप बना रहता है उसी प्रकार संकल्प-विकल्प आते-जाते रहते हैं किन्तु स्वरूप बना रहता है।

मूल तथा अनुवाद

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः–॥२४॥

सङ्कल्प से उत्पन्न सभी कामनाओं को व्यक्ति पूर्ण रूप से छोड़कर मन से इन्द्रियों के समूह को सभी ओर से संयमित करके – ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥२५॥

धीरे-धीरे शान्त हो जाये तथा धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को परमात्मा में लगाकर कुछ भी न सोचे॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

यह अस्थिर तथा चञ्चल मन जहाँ-जहाँ भी जाये उस-उस स्थान से हटाकर आत्मा में ही एकाग्र करे॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥

जिसका मन शान्त तथा निष्पाप है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया, ऐसे ब्रह्मभूत योगी को उत्तम सुख मिलता है॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥

पापरहित योगी इस प्रकार अपने को सदा योग में लगाता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति रूप अत्यन्त सुख का अनुभव करता है॥२८॥

विपुल-भाष्य

साधन को साध्य न मान लें

योग के प्रसंग में चित्त की एकाग्रता इतनी महत्वपूर्ण है कि श्रीकृष्ण को इस पर बारम्बार बल देना पड़ा है। मन में तरह-तरह की कामनाएँ बनी रहें और इन्द्रिय अपने-अपने विषयों में रस लेती रहे और चित्त एकाग्र हो जाए, यह सम्भव नहीं है। धैर्यपूर्वक शनैः-शनैः ही चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। चित्त को कामनाओं से हटा लें यह निषेध की भाषा है; आत्मा में लगा दें यह विधिपरक भाषा है। यह सब कहने के बाद गीता एक महत्वपूर्ण वक्तव्य देती है कि कुछ भी चिन्तन न करें –

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

एकाग्रता में बाधा

चित्त की एकाग्रता में पहली बाधा कामनाएँ हैं। ये कामनाएँ संकल्प से उत्पन्न होती हैं। संकल्प का अर्थ है – किन्हीं वस्तुओं अथवा परिस्थितियों को अनुकूल अथवा प्रतिकूल मान लेना। ऐसा संकल्प अज्ञान से उत्पन्न होता है। जब ज्ञान से यह पता चल जाता है कि आत्मा के न कुछ अनुकूल है न प्रतिकूल तो इच्छाएँ स्वयं ही समाप्त हो जाती हैं। इच्छाओं के समाप्त होने पर भी कोई न कोई विचार तो चलता ही रहता है। और इस प्रकार चित्त एकाग्र नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में साधक प्रायः विचार का विरोध करने लगते हैं। विरोध करने से विचार समाप्त नहीं हो पाते। विचार तो उन संस्कारों के कारण आता है जो संस्कार हमने अतीत में संचित कर लिए हैं। जब तक वे संस्कार बने रहेंगे विचार तो बना ही रहेगा। कोई विचार आत्मा के स्वरूप को उसी प्रकार आवृत नहीं कर पाता जिस प्रकार कोई तरंग समुद्र के स्वरूप को ढक नहीं पाती। इसलिए यह सम्भव है कि हम स्थित आत्मा में रहें और आने-जाने वाले विचारों से संघर्ष करने के स्थान पर उनके केवल द्रष्टा बने रहें।

एक बात और भी ध्यान देने की है कि जिस प्रकार भले ही लहर समुद्र से भिन्न प्रतीत हो किन्तु वस्तुतः वह समुद्र से भिन्न है नहीं, उसी प्रकार कोई विचार भी आत्मा से वस्तुतः भिन्न नहीं है। कल्पना करें कि किसी व्यक्ति के मन में यह विचार आया कि वह अधिक धन उपार्जित कर ले अथवा उसकी पदोन्नति हो जाए अथवा उसे सम्मान मिले अथवा उसे सुन्दर कन्या पत्नी के रूप में प्राप्त हो जाए तो इन सब विचारों के मूल में भी खोज तो आनन्द की ही है। आनन्द क्योंकि आत्मा का स्वरूप है इसलिए यह कहा जा सकता है कि सभी विचार आत्मा की खोज हैं। भूल यह हो रही है कि विचार आत्मा को गलत दिशा में खोज रहे हैं। वह आनन्द खोज रहे हैं – धन, पद और स्त्री-पुत्र में जबकि आत्मा वस्तुतः इनमें नहीं है। आत्मा तो मेरा अपना स्वरूप है वह पर-पदार्थ में कैसे हो सकता है। इसीलिए पर-पदार्थ में हमें न आत्मा मिलती है और न आनन्द। यदि यह बात समझ में आ जाए तो विचार स्वयं में शान्त हो जाएगा। विचार से संघर्ष करना निरर्थक है। संघर्ष के द्वारा हम विचार के साथ द्वेष सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जबकि वस्तुतः हमें विचार के प्रति तटस्थ भाव रखना चाहिए। संचित संस्कारों के कारण विचार आते हैं तो आएँ, लेकिन समझना यह है कि ये विचार हमें अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकते। यदि विचार से ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती होती तो अब तक हो गई होती क्योंकि विचार तो हम निरन्तर करते ही रहते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि विचार करने में और विचार आने में अंतर है। हम विचार करते हैं संकल्पपूर्वक किन्तु विचार आते हैं बिना संकल्प के। साधक विचार करे नहीं किन्तु यदि विचार आए तो उससे संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा चिन्तन का विषय नहीं

श्लोक के अन्त में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि साधक कुछ भी चिन्तन नहीं करे। आपाततः लगता है कि कहना चाहिए था कि साधक आत्मचिन्तन करे किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अन्तिम पड़ाव पर आत्मा चिन्तन का विषय नहीं रह जाता। मैं आत्मा का चिन्तन कर रहा हूँ यहाँ अहं का कर्तृत्वाभिमान बना हुआ है। आत्मा चिन्तन का विषय नहीं है वह किसी भी क्रिया का विषय नहीं है। वह स्वतःसिद्ध है। परम मौन का विषय है। यह स्थिति भी चित्तवृत्ति के निरोध की स्थिति है।

हम विचार के द्वारा जो भी खोजते हैं वह वस्तुतः तो आत्मा की ही खोज है किन्तु भूल यहाँ होती है कि हम आत्मा को पर-पदार्थ में खोजने लगते हैं। इसलिए गीता ने कहा कि चंचल मन को बारम्बार आत्मा में लगाएँ सांसारिक पदार्थ में नहीं –

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।

इसका एक सहज उपाय यह है कि मन जहाँ भी जाए वहाँ आत्मभाव की भावना कर लें क्योंकि परमार्थतः तो सब आत्मरूप ही हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह भी समझने की है कि मन की चञ्चलता का भी अपना एक प्रयोजन है। हमारे साथ प्रतिपल कुछ न कुछ घटित होता रहता है। यह घटनाक्रम बहुत तेजी से बदलता है। अभी शरीर में कहीं पीड़ा हुई, अभी कोई किसी विषय में बात करने आ गया, अभी खाने की इच्छा हुई। यह सब घटनाक्रम बहुत तेजी से बदलता है। यदि मन गतिशील न हो तो वह इन सब परिवर्तनों की सूचना हमें तत्काल न दे पाए और तब हमारे लिए यथोचित व्यवहार करना ही असम्भव है। आवश्यकता इस बात की है कि हम जब चाहें तब मन को गति दे सकें और जब चाहें तब मन को रोक सकें। इसका उपाय यह है कि जब हम मन को गति देना चाहें तो विचार के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लें और जब हम मन को स्थिर करना चाहें तो विचार से अपना तादात्म्य हटा कर विचार के प्रति साक्षी भाव रख लें। इस प्रकार देखेंगे कि मन स्वयं ही स्थिर हो गया क्योंकि जब तक विचार के साथ मन तादात्म्य स्थापित न कर ले तब तक विचार बहुत देर तक नहीं चल सकता।

विचार में तो हम सब जीते हैं। निर्विचारता में कुछ बिरले ही जा पाते हैं। गीता कहती है जिसका मन शान्त हो गया, जिसका रजोगुण शान्त हो गया वह निष्पाप ब्रह्मभूत योगी उत्तम सुख को प्राप्त होता है। संसार के सभी पदार्थ अस्थिर हैं, इसलिए उनका चिन्तन अस्थिर मन से हो सकता है; किन्तु ब्रह्म स्थिर है इसलिए इसका चिन्तन भी तो स्थिर मन से ही हो सकता है। इसलिए कहा गया कि शान्त मन वाला ब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्म कोई अपने से भिन्न पदार्थ तो है नहीं जिसके लिए कहा जाए कि योगी ब्रह्म को जान लेता है। इसलिए यह कहा गया कि योगी स्वयं ब्रह्म-रूप हो जाता है। रजोगुण का काम है गतिशीलता। यह गतिशीलता मनुष्य को स्थिर नहीं होने देती। यह अस्थिरता ही पाप का कारण बन जाती है। अतः मन के शान्त होने का अर्थ है – रजोगुण का शान्त हो जाना। इसका फल है – उत्तम सुख की प्राप्ति।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।

अत्यधिक सुख की प्राप्ति

उपर्युक्त प्रकार से जब योगी रजोगुण और रजोगुण से उत्पन्न होने वाले पाप से रहित हो जाता है तो उसे अत्यधिक सुख की प्राप्ति होती है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पदार्थ का उपयोग तो शरीर के लिए किया ही जाता है, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि पदार्थ के लिए कोई आसक्ति भी रखी जाए। होता यह है कि आसक्ति जितनी अधिक होती है पदार्थ उतना कम सुख देता है। भोजन शरीर के लिए उपयोगी है यह समझ कर यदि भोजन किया जाएगा तो भोजन में सन्तुलन रहेगा। शरीर के लिए जितना और जैसा भोजन उपयोगी है उतना और वैसा ही भोजन करना सुख दे सकता है। किन्तु यदि भोजन के लिए आसक्ति है तो यह विवेक नहीं रहता और भोजन सुख न देकर दुःखदायी हो जाता है।

एक दूसरी बात यह है कि जो उपयोगी है वह साधन तो हो सकता है किन्तु साध्य नहीं। किसी चीज का उपयोगी होना ही यह प्रश्न खड़ा कर देता है कि वह उपयोगी किसलिए है? जिस लिए वह उपयोगी है, वही लक्ष्य है। जो साधन साध्य की सिद्धि न कराए अपितु साध्य की सिद्धि में बाधक बन जाए, उसे साधन नहीं कहा जा सकता। धन साधन बन सकता है, इसलिए धन स्वयं में पाप नहीं है। किन्तु जब हम धन को ही साध्य मान लेते हैं तो फिर अर्थोपार्जन में उचित-अनुचित का विचार नहीं रह पाता और अर्थोपार्जन पाप बन जाता है। यह साधन को साध्य मानने का परिणाम है। पदार्थ मात्र साधन है, किन्तु साध्य केवल आत्मा है। पदार्थ के छोड़ने का अर्थ यह नहीं है कि भोजन करना छोड़ दिया जाए क्योंकि भोजन करे बिना तो जीवन ही सम्भव नहीं है। पदार्थ को छोड़ने का अर्थ केवल इतना है कि पदार्थ को साधन माना जाए साध्य नहीं और ऐसा मानने पर हम आवश्यक साधन को उतना ही जुटाते हैं और

उसी प्रकार जुटाते हैं कि साधन साध्य में सहायक तो हो पर बाधक न हो। ऐसी स्थिति में पाप सम्भव ही नहीं क्योंकि ऐसा साधक सदा साध्य रूप आत्मा अथवा ब्रह्म का ही संस्पर्श करता है –

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

मूल तथा अनुवाद

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥

योग से युक्त समभावदर्शी अपने को सब भूतों में और सब भूतों को अपने में देखता है॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

जो सर्वत्र मुझे देखता है तथा सबको मुझमें देखता है उसको मैं नहीं छोड़ता और उसके लिये मैं कभी अलभ्य नहीं होता॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

जो एकाग्रतापूर्वक मुझे सब प्राणियों में स्थित रूप में भजता है वह सभी प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी मुझमें ही स्थित है॥२९॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥

हे अर्जुन! जो सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति समान भाव रखता है तथा सुख-दुःख को समान समझता है, वह परम योगी है॥३२॥

विपुल-भाष्य

अद्वैतवादी की दृष्टि और व्यवहार

अद्वैत की स्थिति विचित्र है। द्वैत की स्थिति में स्व और पर दो हैं, अद्वैत की स्थिति में 'स्व' और 'पर' का भेद नहीं है। एक ही खाँड से बहुत से खिलौने बन जाते हैं। एक खिलौने का रूप हाथी का होता है, दूसरे खिलौने का रूप घोड़े का होता है। आकार का भेद होने से उनके नाम भी भिन्न हो जाते हैं। नाम और रूप भिन्न होने से वह खाँड भिन्न नहीं होती, जिस खाँड से वे खिलौने बने हैं; उस खाँड तक उसकी ही दृष्टि जा पाती है, जो नाम और रूप में अटक न जाए। इस स्थिति को इस रूप में भी कह सकते हैं कि ऐसा साधक सब खिलौनों में खाँड को देखता है और खाँड में सब खिलौनों को देखता है। यह दृष्टान्त हुआ। दार्ष्टान्त में कहा जाएगा कि साधक सब प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में ही सब प्राणियों को देखता है। यह उसी के लिए सम्भव है जो योग से युक्त है। वस्तुतः जो योग से युक्त नहीं है वह तो आत्मा को भी नहीं जान पाता फिर सब में आत्मा को और आत्मा में सबको देखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जो योग से युक्त नहीं है उसे तो नाम और रूप ही दिखाई देते हैं क्योंकि इन्द्रियों का विषय तो नाम और रूप ही है। नाम और रूप से परे तो योगी ही जा सकता है। इस प्रकार जब सर्वत्र आत्मदर्शन ही होता है तो स्वयं ही समदर्शिता आ जाती है –

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि,
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

दृष्टि दृष्टि का भेद

दृष्टि दृष्टि का भेद है। जिसकी दृष्टि आकार पर है उसे हाथी, घोड़े आदि दिखाई देते हैं। जिसकी दृष्टि खाँड पर है उसे खाँड ही दिखाई देती है। इस दृष्टि भेद के कारण सामान्य व्यक्ति को जो पदार्थ संसार दिखाई देता है ज्ञानी व्यक्ति को वही पदार्थ आत्मा दृष्टिगोचर होता है। अतः सिद्धपुरुष को सर्वत्र भगवत् दर्शन होता रहता है। उसके लिए भगवान् कहीं भी अदृश्य नहीं होते हैं और न वह भगवान् के लिए अदृश्य रह जाता है। वस्तुस्थितिं तो यह है कि जब सब-कुछ भगवान् रूप ही है तो फिर भगवान् के लिए अदृश्य हो सकने का कोई उपाय ही नहीं है। प्रारम्भ में साधक भले ही अन्तर्मुख होकर ही भगवान् को देख सके, किन्तु अन्त में जाकर तो वह अन्तर्मुख रहे या बहिर्मुख, उसे सर्वत्र भगवान् ही दिखाई देते हैं –

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान् के लिए कुछ भी अदृश्य नहीं है। फिर यह कैसे कहा गया कि भगवान् के लिए ज्ञानी ही दृश्य है। वस्तुस्थिति यह है कि 'मुझे भगवान देख रहे हैं' यह भान केवल ज्ञानी को होता है, अज्ञानी को नहीं। यदि अज्ञानी को भी यह ज्ञान होता कि भगवान् उसे देख रहा है तो वह पाप करता ही नहीं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान हो जाने पर सब कुछ भगवद् रूप ही प्रतीत होने लगता है। वैसे भी जब तक 'जगत् कुछ और है भगवान् कुछ और है', यह भान होता रहेगा, तब तक अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती।

अद्वैत की स्थिति में भगवान् के अतिरिक्त और कुछ दिखाई दे, यह सम्भव नहीं है। जो है उसे हम सत् कहते हैं। जो है उसमें भगवान् के होने का अर्थ है कि यह प्रतीति में आने लगे कि जो है वह चित् और आनन्द भी है। जो है वही तो हमें दिखाई देगा और जो है वहाँ चित् और आनन्द भी दिखाई देने लगे तो यह अर्थ हुआ कि सर्वत्र सच्चिदानन्द है। यह साधना की वह स्थिति है जब सांसारिक कार्यों में और साधना में कोई अन्तर नहीं रहता। न संसार में और भगवान् में कोई अन्तर रहता है। जब हमें सबमें भगवान् दिखाई देता है तो हमारा सबके प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है केवल चेतन के प्रति ही नहीं, जिसे हमें जड कह रहे हैं उसके प्रति भी। सर्व भूतों में भगवत् दर्शन के लिए नाम और रूप से परे जाना पड़ता है। जो सज्जन है उसमें भगवत् दर्शन करना सरल है, दुर्जन में भगवत् दर्शन करना कठिन है। किन्तु जब तक दुर्जन में भी भगवत् दर्शन न कर लिया जाए तब तक अद्वैत अधूरा ही है। दुर्जन से दुर्जन व्यक्ति में भी परमात्मा को देखा जा सके, इसके लिए तपश्चर्या करनी होती है। सज्जन में परमात्मा को देखने के लिए बहुत थोड़े आवरण को पार करना होता है किन्तु दुर्जन में परमात्मा को देखने के लिए ज्यादा गहरे आवरण को भेदना पड़ता है।

पूर्ण अद्वैत की सिद्धि

पूर्ण अद्वैत की सिद्धि होने से पहले सभी आवरण तोड़ दिए जाते हैं। दुर्जन से दुर्जन व्यक्ति में भी परमात्मा का दर्शन होने लगता है और जड पाषाण में भी परमात्मा का दर्शन होने लगता है। ऐसा व्यक्ति क्या व्यवहार करे, इसका कोई महत्त्व नहीं है। एक घटना है कि एक जिज्ञासु जब संत एकनाथ के पास गया तो संत एकनाथ शिव पिण्डी पर पाँव रख कर लेटे हुए थे। जिज्ञासु को बहुत आश्चर्य हुआ कि जिन्हें वह सिद्ध पुरुष समझ कर आया था वे शिव पिण्डी पर पाँव रखकर कैसे लेटे हैं! संत एकनाथ ने कहा, वे जहाँ भी पाँव रखते वहीं उन्हें शिव दृष्टिगोचर होते हैं, ऐसे में उन्होंने सोचा कि जब सर्वत्र ही शिव हैं और कहीं न कहीं तो पाँव रखना ही है तो शिव पिण्डी पर क्यों न रखा जाए? गीता कहती है कि ऐसा योगी सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः मुझमें ही स्थित रहता है। वस्तुस्थिति तो

यह है कि हम सभी भगवान् में स्थित हैं किन्तु हमें इसका ज्ञान नहीं है और योगी को इसका ज्ञान होता है। इसलिए हम भगवान् में रहते हुए भी संसार में रहते हैं और योगी संसार में रहते हुए भी भगवान् में रहता है –

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

अद्वैतवादी का व्यवहार कैसा होता है इसके लिए गीता ने एक कसौटी दी – आत्मोपम्य अर्थात् व्यक्ति दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करे जैसे व्यवहार वह अपने प्रति करता है। हम जब दूसरों को उपदेश दे रहे होते हैं और जब उसी आदर्श को स्वयं व्यवहार में लाने की बात आती है तो हम तरह-तरह के तर्क निकाल लेते हैं कि हम उन आदर्शों का स्वयं पालन क्यों नहीं कर पा रहे हैं। हम सोचते हैं कि हमारी परिस्थिति प्रतिकूल है इसलिए हम आदर्श का पालन नहीं कर पा रहे हैं। हम यह नहीं सोचते कि दूसरों की परिस्थितियाँ भी तो प्रतिकूल हो सकती हैं। परिणाम यह होता है कि हमें अपने में कोई बुराई दिखाई नहीं देती और बाकी सब में बुराई ही बुराई दिखाई देने लगती है। यही भावना अहंकार की पोषक हो जाती है और हम समझने लगते हैं कि हम दूसरों से विशेष हैं। गीता कहती है कि अपने को विशेष मत समझो, अपने को भी दूसरों के समान समझो। ऐसा समझते ही अहंकार विलीन हो जाता है। योगी अपने को दूसरों से ऊपर नहीं समझता और दूसरों को अपने से नीचा नहीं समझता। उसमें न हीनता की ग्रंथि रहती है न महद्भाव की ग्रन्थि।

दूसरों में और अपने बीच अन्तर करने से यह फलित होता है कि जब दूसरे सफल हो जाते हैं तो हम कहते हैं कि वे अनुचित साधन बरत कर सफल हुए हैं, अपनी योग्यता से सफल नहीं हुए हैं और जब हमें सफलता मिलती है तो हम मानते हैं कि हम अपनी योग्यता से सफल हुए हैं, चाहे हम भी अनुचित साधनों से ही सफल क्यों न हुए हों। अभिप्राय यह है कि हम किसी दूसरे को अच्छा मानने के लिए इसलिए तैयार नहीं हो पाते कि यदि दूसरा भी अच्छा है तो हमारी विशेषता क्या हुई? हम जब किसी के बारे में निन्दनीय बात सुनते हैं तो तत्काल उस पर विश्वास कर लेते हैं क्योंकि ऐसा करने से हमें यह सुख प्राप्त होता है कि हम निन्दनीय व्यक्ति से बड़े हैं। हम दूसरे की प्रशंसा सहन नहीं कर सकते क्योंकि उससे हमारे अहंकार को चोट पहुँचती है कि दूसरा हमसे बड़ा हो गया। व्यक्ति का अहं कहता है, "मैं दूसरों से सदा ऊँचा रहना चाहता हूँ भले ही वह दूसरा अपना पुत्र ही क्यों न हो।"

गीता कहती है कि योगी छोटे और बड़े के भेदभाव में नहीं पड़ता अपितु सर्वत्र समभाव रखता है। अरब में एक कथा प्रचलित है कि खुदा जिसे भी बनाता है उसके कान में यह कह देता है कि मैंने तुझे सबसे अच्छा बनाया है। जब यह बात सबके कान में कह दी जाती है तो सभी अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मान कर घूमते रहते हैं। यद्यपि इस बात को हम मुँह से कहते नहीं हैं, किन्तु मन में मानते यही हैं। जब किसी और की प्रशंसा हो रही होती है तो हम समझते हैं कि गलत काम हो रहा है, किसी की चापलूसी में समय और शक्ति का अपव्यय किया जा रहा है; किन्तु जब हमारी स्वयं की प्रशंसा हो रही होती तो हमें उसमें कुछ भी गलत नहीं लगता। गीता कहती है कि अपने और दूसरों के बीच में ये भेद नहीं करना चाहिए अपितु दोनों स्थितियों में समान दृष्टि रहनी चाहिए।

समान दृष्टि का अर्थ

समान दृष्टि का यह अर्थ नहीं है कि सबके प्रति व्यवहार भी समान हो। उदाहरणतः हमारी अपने सब अंगों के प्रति समान दृष्टि है। हाथ में चोट लगने पर भी हमें उतनी ही चिन्ता रहती है जितनी पाँव में चोट लगने पर। फिर भी हाथ का काम हाथ से किया जाता है पाँव का पाँव से। इसी प्रकार हमारी सब वर्गों के प्रति समान दृष्टि रहती है किन्तु ब्राह्मण ब्राह्मण का कार्य करता है, शूद्र शूद्र का। इससे उन दोनों के बीच समता के भाव में कोई अन्तर नहीं आता।

सबको अपने समान समझने पर भी रोगी अपने दुःख के प्रति उपेक्षा का भाव रखता है किन्तु दूसरों के जरा से भी दुःख को नहीं सह पाता। वह स्वयं ज्ञानी है इसलिए उसका दुःख उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु दूसरे अज्ञानी

हैं उन्हें दुःख महत्त्वपूर्ण लगता है। इसलिए योगी अपने दुःख को दूर करने का उपाय भले न करे किन्तु दूसरों के दुःख दूर करने का उपाय तत्परतापूर्वक करता है –

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥३३॥

अर्जुन बोले –

हे मधुसूदन! जो यह साम्यभाव वाला योग आपने बताया है, चञ्चलता के कारण मैं नहीं समझता कि इसकी स्थिति नित्य बनी रह सकती है॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥३४॥

हे कृष्ण! मन चञ्चल और आलोडित करने वाला है, बहुत शक्तिशाली है, अतः मैं उसका नियन्त्रण करना बहुत दुष्कर मानता हूँ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥३५॥

श्रीभगवान् बोले –

हे महाबाहो ! मन निश्चय ही चञ्चल तथा दुर्दम है परन्तु हे कुन्तीपुत्र! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में हो जाता है॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

जिसका मन वश में नहीं उसके लिए योग दुर्लभ है – ऐसा मैं मानता हूँ। जिसने मन को वश में कर लिया वह साधन द्वारा उसे (योग को) प्राप्त कर सकता है॥३६॥

विपुल-भाष्य

मन की चञ्चलता की समस्या का हल

कर्म योग हो, ज्ञान योग हो अथवा भक्ति योग, सभी योगों में मन की स्थिरता चाहिए। इसलिए साधना में सबसे बड़ी बाधा मन की चंचलता है। इन तीनों योगों में ध्यान सहायक बनता है क्योंकि ध्यान मन को एकाग्र करने का सर्वोत्तम साधन है। अर्जुन पूछ रहे हैं कि हे कृष्ण! जिस योग की तुमने चर्चा की है उसमें मन का लगाना मैं बहुत कठिन समझता हूँ। जिस प्रकार वायु को वश में कर लेना कठिन है उसी प्रकार मन का निग्रह करना कठिन है क्योंकि मन बहुत बलवान है और साधक को विचलित कर देता है अर्थात् न चाहने पर भी साधक को बलपूर्वक विषयों की ओर ले जाता है। अर्जुन का यह प्रश्न मानो हम सबकी ओर से किया गया प्रश्न है :

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिंस्थिराम्।।
चंचलं हि मनः कृष्णः प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

अर्जुन का प्रश्न उचित है। वायु हमें जब भी मिलती है चलती हुई ही मिलती है, कभी खड़ी हुई नहीं मिलती। इसीलिए उसका नाम वायु है – **वातीति वायुः**। मन भी सदा चलता हुआ ही अनुभव में आता है। खड़ा हुआ मन कभी किसी के अनुभव में नहीं आया। अपने इस अनुभव के कारण हम पहले से ही यह मान लेते हैं कि मन स्थिर नहीं हो सकता। मान्यता का भी अपना एक बल है। हम जैसा मान कर चलते हैं वैसा ही हो जाता है। जब हम मान लेते हैं कि मन स्थिर नहीं हो सकता तो मन सचमुच ही स्थिर नहीं हो पाता।

आत्मा पदार्थ नहीं

शरीर एक पदार्थ है, जो पाँच भूतों से बना है। आत्मा पदार्थ नहीं है। मन की स्थिति इन दोनों से भिन्न है। मन, शरीर और आत्मा के बीच का सम्बन्ध है। शरीर और आत्मा के बीच जो राग का सम्बन्ध है वह मन है। शरीर पदार्थ है और पदार्थ में राग नहीं होता। राग चेतना में ही सम्भव है। चेतना का शरीर के प्रति राग-सम्बन्ध ही मन है। शरीर का विश्लेषण करें तो मन नहीं मिलेगा। इसीलिए मन भौतिक विज्ञान का विषय नहीं है। वह सम्बन्ध है, किन्तु पदार्थ नहीं है, पदार्थ का कभी नाश नहीं होता किन्तु सम्बन्ध नष्ट हो सकता है। पदार्थ का रूपान्तरण हो सकता है, नाश नहीं होता।

दूसरी बात ध्यान में देने की यह है कि प्रत्येक गति के साथ स्थिरता रहती है। कोई गति ऐसी नहीं है जिसमें स्थिरता न हो। गति में इस स्थिरता के कारण ही न्यूनाधिक्य आता है। जहाँ स्थिरता का अंश अधिक है वहाँ गति मन्द रहती है और जहाँ स्थिरता का अंश अधिक हो जाता है वहाँ गति तीव्र हो जाती है। वस्तुतः सभी पक्षों का प्रतिपक्ष रहता है। जो बात गति और स्थिरता के बारे में सत्य है, वही बात शीत और ऊष्ण के बारे में सत्य है। मन चंचल है, इसीलिए उसमें स्थिरता का अंश भी है। यह मानने पर ही समस्या का समाधान सम्भव है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन की बात का समर्थन किया कि निश्चय ही मन का निग्रह करना कठिन है। साथ ही यह भी कहा कि मनुष्य जैसा है वैसा ही रहे – यह आवश्यक नहीं है। वह बदल सकता है और उस बदलने के दो उपाय हैं – अभ्यास और वैराग्य। इन दो उपायों की चर्चा पतञ्जलि ने भी की है – **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**। श्रीकृष्ण भी इन्हीं दो उपायों की चर्चा करते हैं –

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

यह ठीक है कि वर्तमान में हम जैसे हैं, हमारा मन चञ्चल है, किन्तु इसका कारण यह है कि हमने चञ्चलता का ही अभ्यास किया है। मन के स्थिर करने का अभ्यास किया ही नहीं। अभ्यास से कुछ भी सरल हो जाता है। अभ्यास के बिना जो कार्य कठिन लगते हैं, वे भी सरल हो जाते हैं। एक व्यक्ति को साइकिल चलाने का अभ्यास नहीं है, उसे बहुत कठिन लगता है कि दो पहियों के वाहन पर बैठकर शरीर का और वाहन का सन्तुलन कैसे बनाया जाएगा। वह साइकिल पर बैठता है तो पूरा ध्यान सन्तुलन बनाने में लगा देता है फिर भी बारम्बार गिर पड़ता है। पन्द्रह दिन के अभ्यास के बाद स्थिति बिल्कुल बदल जाती है। कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, कोई ध्यान नहीं देना पड़ता और सन्तुलन स्वयं बना रहता है। बतियाते, हँसते-बोलते एक हाथ से ही हैण्डिल पकड़ने पर भी साइकिल का सन्तुलन स्वयं बना रहता है, मानो सन्तुलन बनाना कोई कार्य है ही नहीं, वह तो स्वतःसिद्ध है। अभ्यास के बिना जो दुष्कर था, वह अभ्यास से सुकर हो गया। हमने मन की चञ्चलता का अभ्यास किया हुआ है। इसलिए चञ्चलता सहज लगती है। स्थिरता का अभ्यास करें तो स्थिरता सहज हो जाएगी।

मन को चञ्चलता का अभ्यास किसलिए है? चञ्चलता का कारण है – राग। राग का अर्थ है – जो प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ना। यही चञ्चलता है। हमारा पूरा परिवेश हमें दौड़ने के लिए निरन्तर प्रेरणा देता है। बच्चा जैसे ही होश संभालता है माता-पिता प्रेरणा देते हैं कि कक्षा में प्रथम आना है और बच्चा प्रथम आने की दौड़ में शामिल हो जाता है। शिक्षा समाप्त होती नहीं है कि उससे पहले नौकरी की प्रतियोगिता में प्रथम आने की दौड़ शुरू हो जाती है और फिर धन कमाने की दौड़, पद की दौड़ और प्रतिष्ठा की दौड़। ये सब दौड़ें मनुष्य को पकड़ती हैं तो मृत्युपर्यन्त उसका पीछा नहीं छोड़ती। एक दौड़ समाप्त नहीं होती है कि दस नई दौड़ें मन को पकड़ लेती हैं। और जो इन दौड़ों में जितनी अधिक तत्परतापूर्वक भाग लेता है, उसे उतनी ही प्रशंसा प्राप्त होती है। ऐसे में, मन की चञ्चलता का अभ्यास तो खूब सुदृढ़ हो जाता है, मन को स्थिर करने का अभ्यास करने का अवसर ही नहीं मिलता। तब यदि मन को स्थिर करना दुष्कर प्रतीत हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमने स्थिरता का अभ्यास किया ही कब? जैसे ही कोई मन को स्थिर करने का अभ्यास करने को कहता है वैसे ही हम पाते हैं कि हमारे पास मन को स्थिर करने का अभ्यास करने के लिए समय नहीं है। हमें लगता है कि हमारे आस-पास तो सब निरन्तर दौड़ रहे हैं। यदि हम मन को स्थिर करने के अभ्यास में लग गए तो औरों से पिछड़ जाएँगे। जब तक यह पिछड़ जाने का भय नहीं छूटेगा तब तक अभ्यास नहीं होगा। पिछड़ जाने का भय छूट जाना ही वैराग्य है। वैराग्य का अर्थ है यह समझ कि मन की स्थिरता उपादेय है और मन की चञ्चलता हेय है। इसके अतिरिक्त न कुछ उपादेय है और न कुछ हेय है। कुछ उपादेय नहीं है – इस समझ से राग छूट जाता है और कुछ हेय नहीं है – इस समझ से द्वेष छूट जाता है। तब हम मध्यस्थ हो जाते हैं। इसी का नाम उदासीनता है, इसी का नाम वैराग्य है। यदि वैराग्य सध जाए तो मन स्वतः स्थिर हो जाता है। वैराग्य न सधे तो लाख प्रयत्न करने पर भी मन चञ्चलता नहीं छोड़ सकता।

वैराग्य वितृष्णा नहीं

वैराग्य क्षणिक वितृष्णा से भिन्न है। कोई मित्र धोखा दे दे तो मित्र के प्रति वितृष्णा का भाव सहज ही हो जाता है। कोई प्रेमिका प्रेमी के प्रति विश्वासघात कर दे तो उस प्रेमिका से विकर्षण हो जाता है। पर यह व्यक्तिगत वितृष्णा या विकर्षण वैराग्य नहीं है। हम जिससे धोखा खाते हैं उससे विमुख हो जाते हैं, किन्तु हम इस आशा में दूसरों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं कि वह धोखा नहीं देगा। यह वैराग्य न हुआ, यह हुआ एक के प्रति द्वेष और दूसरे के प्रति राग। राग-द्वेष के ये पासे पलटते रहते हैं – आज जो हमारे राग का पात्र है कल वह हमारे द्वेष का पात्र हो जाता है। एक से आशा टूटती है तो दूसरे से आशा जुड़ जाती है और यह शृंखला कभी समाप्त नहीं होती। हम यह सामान्यीकरण नहीं कर पाते कि जिस एक से आशा टूटी है दूसरा भी वैसा ही है, इसलिए उससे भी आशा पूरी नहीं होगी। वैराग्य एक से होने वाली निराशा को समानीकरण के द्वारा सबके प्रति निराशा का भाव में बदल देता है। तब हम एक जगह ठोकर खाने के बाद दूसरी जगह इस आशा में नहीं उलझते कि शायद वहाँ सफलता मिल जाए। तब हमारी वितृष्णा किसी एक सुख के प्रति न होकर सुख-मात्र के प्रति हो जाती है और तब वह दौड़ समाप्त हो जाती है जिस दौड़ के कारण मन चञ्चल है, इसलिए श्रीकृष्ण ने अभ्यास के साथ वैराग्य की आवश्यकता का भी प्रतिपादन किया।

वैराग्य के लिए कहीं अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है। जीवन के अनुभव में से ही वैराग्य फलित होता है। हम जहाँ सुख ढूँढ रहे होते हैं, एक क्षण ऐसा आता है कि यह पता चल जाता है कि वहाँ सुख है ही नहीं। किन्तु इससे पहले कि हम इस अनुभव को पकड़ पाएँ, हमारा मन हमें किसी दूसरे सुख की खोज में भटका देता है। जो उस क्षण के अनुभव को पकड़ लेता है, वह वैराग्य को प्राप्त हो जाता है। मन वैराग्य के क्षण को पकड़ सके इसके लिए उसे वश में करना आवश्यक है। इसलिए गीता ने कहा कि जिनका मन वश में है, वे तो योग को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु जिनका मन वश में नहीं वे योग को प्राप्त नहीं कर सकते–

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

मन का स्वभाव है – सुख की ओर दौड़ना। जो परिवार शाकाहारी है उस परिवार के व्यक्ति के लिए मांस खाना अत्यन्त कठिन है। उसे कोई जबर्दस्ती मांस खिला भी दे तो वमन हो जाएगा। वह मांस नहीं खाता है तो यह कोई बहुत बड़ा त्याग नहीं है, न कोई दुष्कर तपस्या है। उसे मांस के प्रति सहज ग्लानि का भाव है। दूसरे शब्दों में उसे मांस से वैराग्य है। अतः मांस न खाने के प्रति उसका मन सहज ही वश में है। कारण यह है कि उसकी मांस के प्रति अनुकूलता-बुद्धि नहीं है, प्रतिकूलता-बुद्धि है। यदि ऐसी ही प्रतिकूलता-बुद्धि विषय-भोगों के प्रति हो जाए तो मन स्वतः ही वश में हो जाएगा। यह संस्कार का ही प्रभाव है कि वैष्णव परिवार के व्यक्ति में मांस के प्रति प्रतिकूलता-बुद्धि होती है और मांसाहारी परिवार के व्यक्ति में मांस के प्रति अनुकूलता-बुद्धि होती है। इसी प्रकार भोगी व्यक्ति के मन में विषयों के प्रति अनुकूलता-बुद्धि रहती है और योगी के मन में उन्हीं विषयों के प्रति प्रतिकूलता-बुद्धि रहती है। विषयों के प्रति प्रतिकूलता-बुद्धि ज्ञान से उत्पन्न होती है। जिसमें यह बुद्धि उत्पन्न हो जाती है उसका ध्यान स्वयं ही सध जाता है, अर्थात् ज्ञान से वैराग्य होता है और वैराग्य से चित्त की एकाग्रता होती है।

साधना के सोपान

यूँ चित्त की एकाग्रता राग से भी होती है। इसलिए साधना के प्रारम्भिक स्तर पर साकारोपासना विहित है। आकार की सुन्दरता चित्त को एकाग्र करती है। योग से प्राप्त होने वाली अलौकिक शक्तियों का आकर्षण भी साधक की सघनता ला देता है। किन्तु अन्ततोगत्वा यह एकाग्रता राग से आती है और फल की इच्छा मन को सर्वथा निराकुल नहीं होने देती। मन की पूर्ण निर्मलता तो पूर्ण वैराग्य में ही प्रकट होती है।

वस्तुतः किसी भी कर्म के समान साधना के भी क्रमिक सोपान हैं। हम स्थूल वीतरागता से सूक्ष्म वीतरागता की ओर जैसे-जैसे बढ़ते हैं वैसे-वैसे मन निर्मल और शान्त होता जाता है। राग का सबसे स्थूल रूप हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, व्यभिचार और धन लोलुपता जैसे अनैतिक तथा अप्रामाणिक व्यवहार में प्रकट होता है। राग का यह स्थूल रूप छूट जाने पर भी उचित साधनों से धनोपार्जन करते हुए सात्विक जीवन जीने का राग बना रहता है यह भी सूक्ष्म राग है। परम वैराग्य की स्थिति तो रागमात्र के प्रति अनासक्ति भाव रखने की भावना का नाम है।

इस प्रकार साधना में व्यवहार और परमार्थ का सामञ्जस्य है। व्यवहार की शुद्धता प्रथम सीढ़ी है तो परमार्थ अन्तिम सोपान है। प्रथम सीढ़ी पर चढ़े बिना अन्तिम सीढ़ी पर पाँव रखने वाला लक्ष्य तक न पहुँच कर गिरता ही है इसलिए पतञ्जलि के योग सूत्र में योग के आठ अंगों को दो भागों में बाँट दिया गया। आसन, प्राणायाम, यम, नियम और प्रत्याहार बहिरंग साधन हैं तथा ध्यान, धारणा और समाधिक अन्तरंग साधन हैं। बहिरंग व्यवहार है, अन्तरंग परमार्थ है। दोनों मिल कर ही सम्पूर्ण योग बनते हैं बहिरंग योग हो अथवा अन्तरंग – दोनों का लक्ष्य मन की स्थिरता है। मन की स्थिरता के बिना सत्य का यथार्थ स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। जिस प्रकार हिलते हुए पानी में मुख का यथार्थ रूप प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता; मन के स्थिर होने पर ही सत्य का यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है और सत्य का यथार्थ स्वरूप अभिव्यक्त होने पर ही दुःख से मुक्ति सम्भव है। इसलिए कहा जाता है कि मन की अस्थिरता ही सब दुःखों का मूल है और मन की स्थिरता ही सब सुखों का मूल है।

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

अर्जुन बोले –

हे कृष्ण! जो श्रद्धा से युक्त है किन्तु संयमी न होने के कारण जिसका मन योग से विचलित हो गया, वह योग की सिद्धि को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त करता है।।३७।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥३८॥

कहीं वह दोनों ओर से छिन्न-भिन्न बादलों की भाँति भ्रष्ट होकर ब्रह्म के मार्ग से दिग्भ्रान्त होकर तथा निराश्रित होकर नष्ट तो नहीं हो जाता॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥३९॥

हे कृष्ण! आपके लिये उचित होगा कि आप मेरे इस संशय को पूरी तरह निवृत्त कर दें। आपके अतिरिक्त कोई दूसरा इस संशय को काटने वाला मिलना सम्भव नहीं है॥३९॥

श्रीभगवानुवाच –

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥४०॥

श्रीभगवान् बोले –

हे पार्थ ! उसका अनिष्ट न इस लोक में होता है, न परलोक में। हे तात! कल्याणकर्त्ता कोई भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥४१॥

योगभ्रष्ट पुण्यवान् द्वारा प्राप्य (स्वर्गादि) लोकों को प्राप्त करके वहाँ बहुत समय तक रहकर पवित्र श्रीयुत पुरुषों के घर में जन्म लेता है॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥४२॥

अथवा उसका जन्म ज्ञानवान् योगियों के घर में ही होता है। ऐसा जन्म इस संसार में बहुत दुर्लभ है॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥४३॥

हे कुरुनन्दन! वहाँ वह पहले जन्म में अर्जित बुद्धि-योग को प्राप्त कर लेता है तथा उसके प्रभाव से वह पुनः सिद्धि का प्रयत्न करता है॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥४४॥

वह परवश होकर भी उस पूर्वकृत अभ्यास से ही खींच लिया जाता है। योग का जिज्ञासु भी वेदोक्त (सकाम) कर्मों का अतिक्रमण कर जाता है॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥४५॥

प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी अनेक जन्मों की सिद्धियों से पापरहित होकर परम गति को प्राप्त कर लेता है॥४५॥

विपुल-भाष्य

योगभ्रष्ट की भी सद्‌गति

श्रीकृष्ण ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि जिसका मन वश में नहीं है वह योग को प्राप्त नहीं कर सकता। यह सुन कर स्वाभाविक था कि अर्जुन के मन में यह शंका होती कि यदि कोई व्यक्ति श्रद्धा के आवेश में योग के मार्ग पर चल तो पड़े किन्तु मन की चंचलता के कारण सफलता को प्राप्त न कर सके तो ऐसे साधक का क्या होगा? हवा के द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिए गए बादल की तरह क्या वह व्यक्ति संसार के सुखों से वंचित होकर और ब्रह्म को भी प्राप्त न करके 'न माया मिली न राम' की स्थिति में तो नहीं पहुँच जाएगा? यह प्रश्न बहुत कठिन है। अर्जुन कहता है कि हे कृष्ण! इस प्रश्न का उत्तर केवल आप ही दे सकते हैं –

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

अर्जुन का संशय

अर्जुन का संशय वास्तविक है। वैराग्य का प्रसंग सुन कर कोई व्यक्ति भावावेश में संसार छोड़ देता है, किन्तु वह वैराग्य सदा बना रहे, यह आवश्यक नहीं। मनुष्य का मन इतना चंचल है कि उसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। ऐसी स्थिति में आवेश में आकर संसार छोड़ दिया जाता है किन्तु अन्त तक वह वैराग्य निभता नहीं है। अर्जुन का पूछना है कि ऐसी स्थिति में साधक की क्या गति होगी? इस सन्दर्भ में पहली बात तो यह है कि चेतना कभी नष्ट नहीं होती। जिसे हम मृत्यु समझते हैं वह आत्मा का नाश नहीं है, अपितु आत्मा और शरीर के संयोग-मात्र का नाश है। चेतना दो पदार्थों का संयोग नहीं है। इसलिए वह नष्ट नहीं हो सकती। हम समझते हैं कि बेहोशी में चेतना नष्ट हो गई। शरीर जड है उसमें होश है ही नहीं, उसके बेहोश होने का प्रश्न ही नहीं है और आत्मा तो होश का ही नाम है वह भी बेहोश नहीं होती। बेहोशी का केवल इतना अर्थ है कि आत्मा की चेतना का शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है और इसलिए शरीर में होने वाले दुःख का ज्ञान हमें नहीं होता। जब हम परखनली में किसी जीव को बनाते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि परखनली में आत्मा का निर्माण हो जाता है। आत्मा नष्ट नहीं होती तो आत्मा का निर्माण भी नहीं किया जा सकता। परखनली में वही प्रक्रिया होती है जो प्रक्रिया प्रकृति के द्वारा माँ के गर्भ में होती है। अर्थात् उसमें शरीर का निर्माण होता है और आत्मा उससे संपृक्त हो जाती है।

इस प्रकार जब आत्मा अजन्मा और अनश्वर है तो उसके नष्ट होने का तो प्रश्न ही नहीं होता। प्रश्न केवल यह शेष रहता है कि किसी व्यक्ति ने शुभकर्म करना चाहा किन्तु मन की चंचलता के कारण शुभ कर्म कर नहीं पाया; क्या ऐसा व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होगा? इस प्रश्न को दूसरी तरह से देखें। एक व्यक्ति ने अशुभ कर्म करना चाहा। किन्तु बाधा आने से वह अशुभ कर्म कर नहीं पाया तो क्या वह दुर्गति से बच जाएगा? श्रीकृष्ण का उत्तर है कि जिसने शुभ कर्म करना चाहा किन्तु कर नहीं पाया उसकी दुर्गति नहीं होगी, इसके विपरीत जिसने अशुभ कर्म करना चाहा किन्तु कर नहीं पाया वह दुर्गति से बच नहीं पाएगा। अभिप्राय यह है कि शुभकर्म हो या अशुभकर्म, उसमें सफल

होना या सफल न होना तो अनेक कारणों पर निर्भर करता है; किन्तु शुभकर्म करना चाहने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती, भले ही वह विफल भी क्यों न हो जाए –

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

जो व्यक्ति शुभकर्म करने की भावना रखता है उसका भाव तो शुद्ध है ही, भले ही उस भाव को वह कर्म में क्रियान्वित न कर पाए। परिणाम यह होता है कि वह वर्तमान में उस भाव को भले ही कर्म में परिणत न कर पाए किन्तु समय पाकर वह भाव कभी न कभी अपना फल अवश्य देता है। भाव अपना फल इसी जन्म में दे यह आवश्यक नहीं है, कुछ दूर तक साधक योग में गया किन्तु पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सका – ऐसे अपूर्ण योग का एक फल स्वर्ग है। स्वर्ग में कर्म नहीं है केवल भोग है। कोई भी भोग हो वह अनन्त नहीं हो सकता, स्वर्ग में भी कुछ समय ही व्यक्ति रह पाता है। वहाँ से वह व्यक्ति पुनः कर्म क्षेत्र में आ जाता है किन्तु शुभ भाव का फल यह होता है कि वह ऐसे पवित्र कुल में जन्म लेता है जहाँ वह अपनी साधना को आगे बढ़ा सके –

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

स्वर्ग जाने की स्थिति उन साधकों की है जिनके मन में सुख पाने की इच्छा शेष रह जाती है किन्तु जो साधक निष्काम भाव से साधना करते हैं वे स्वर्ग में न जाकर योगियों के घर में ही जन्म ले लेते हैं। ऐसा जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे जन्म को इसलिए दुर्लभ कहा कि साधक की साधना के बीच यहाँ स्वर्ग भी बाधा नहीं डालता। कर्मयोनि से कर्मयोनि में आकर साधक अन्त में परिपूर्णता को प्राप्त हो जाता है। योगी के ऐसे कुल में साधना सहज होती है। वस्तुतः साधना में जब तक प्रयास चलता है तब तक अहंकार की पकड़ रहती है, अहंकार की पकड़ तभी छूटती है जब साधना अनायास हो जाए। साधना की यह सहजता व्यक्ति के प्रयास से ही उत्पन्न नहीं होती अपितु आस-पास का वातावरण भी उसमें निमित्त बनता है। यह वातावरण योगियों के समूह में आसानी से मिलता है। इसलिए योगियों का सान्निध्य मिलना बहुत दुर्लभ घटना है। मनोवैज्ञानिकों ने अचेतन मन की बात की है। किन्तु गीता उससे आगे जाकर पूर्वजन्म की बात करती है। अचेतन मन में केवल वही नहीं है जो हमने इस जन्म में प्राप्त किया है। अचेतन मन में पूर्व जन्म के संस्कार संकलित रहते हैं। ये संस्कार अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। किसी साधक के पूर्वजन्म के संस्कार भी साधना में सहायक हो जाते हैं। ऐसा उन्हीं साधकों के साथ होता है जिनकी साधना पिछले जन्म में अधूरी रह गई थी। यदि किसी साधक को इस जन्म में सरलता से सफलता मिल जाए, तो यह नहीं समझना चाहिए कि भाग्यवश ऐसा हो गया है; वस्तुतः उस साधक का पूर्वजन्म का परिश्रम इस जन्म में फल दे रहा है –

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

जिस प्रकार विषयों के अभ्यास का अपना बल है जो मनुष्यों को विषयों की ओर खींचता है, उसी प्रकार योग के अभ्यास का भी अपना बल है जो साधक को योग की ओर खींचता है। पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण साधक चाहे या न चाहे, भोग उसे अपनी ओर खींच लेता है।

वेद की दृष्टि

योग का अपना महत्त्व है। जो योग की खोज में निकलता है उसे भी एक फल तो मिल ही जाता है। वह सकाम कर्मों को छोड़ देता है। वेद के कर्मकाण्ड भाग में सकाम कर्मों का वर्णन है। जो इन सकाम कर्मों का वर्णन पढ़ते हैं, उन्हें आश्चर्य होता है कि धर्मग्रन्थ में ऐसी बातें कैसे लिख दी गईं? वेद में शत्रु को नष्ट करने के उपाय

बतलाए गए हैं। वेद में अभिचार कर्मों का उल्लेख है जिन अभिचारों के द्वारा मनुष्य की क्षुद्र इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं। वेद में केवल ऐसी ही प्रार्थनाएँ नहीं हैं जो प्रार्थना करने वाले का हित करें, अपितु ऐसी प्रार्थनाएँ भी हैं जो विरोधी का अहित कर सकती हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्य का मन जो-जो कामनाएँ कर सकता है, भले ही वे कामनाएँ अच्छी हों या बुरी, उनकी पूर्ति का साधन वेद में बताया गया है। ऐसा करते समय वेद की अपनी दृष्टि है। वेद की समझ है कि उसे सबकी सहायता करनी है। बुरी कामना नहीं करनी चाहिए – यह बात अपनी जगह ठीक है। वेद का मानना है कि बुरी कामनाएँ भी मनुष्य के मन में उठती ही हैं। यह एक तथ्य है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। वेद ने ऐसी कामनाओं की पूर्ति का भी साधन बताया। इस कारण वेद की निन्दा हुई। आज भी वेद के ऐसे प्रसंगों को लेकर वेद विरोधी वेद की आलोचना करते हैं।

ऐसी स्थिति में वेद के प्रति तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुईं। एक प्रतिक्रिया चार्वाक की थी, जिसने कहा कि वेद के बनाने वाले धूर्त्त, भांड और निशाचर हैं – **त्रयो वेदस्य कर्त्तारः धूर्त्त–भांड–निशाचराः।** ऐसे लोगों को वेद के ऐसे अंश ही दिखाई दिए जिनमें मनुष्य के मन की क्षुद्र इच्छाओं का विवरण था। सच यह है कि वेद ने क्षुद्र से क्षुद्र इच्छाओं से लेकर मनुष्य की उदात्त से उदात्त भावनाओं तक का विवरण दे दिया। इस प्रकार वेद मनुष्य के मन की भावनाओं का एक विश्वकोश है। कोश में वे सब शब्द दिए रहते हैं, जिनका भाषा में प्रयोग होता है। कोशकार किसी शब्द का इसलिए बहिष्कार नहीं कर देता कि उस शब्द का अर्थ खराब है। शब्द का अर्थ कितना ही खराब क्यों न हो, यदि भाषा का उसमें प्रयोग होता है, तो कोशकार उस शब्द को कोश में स्थान देने के लिए बाध्य है। वह यह नहीं कहता कि हम उस शब्द का प्रयोग भी अवश्य करें। हमें इसकी पूरी तरह स्वतन्त्रता है कि हम उस शब्द का प्रयोग न करें। जिन्होंने इस रहस्य को समझा उन्होंने चार्वाक की तरह वेद की निन्दा नहीं की किन्तु वेदोक्त सकाम कर्मों की निन्दा अवश्य की। कोश में कोई अपशब्द दिया हुआ है तो वह कोशकार की निन्दा का विषय नहीं बनता। उसने तो कोशकार के धर्म का निर्वाह किया है। हम कोशकार की निन्दा न करें; उस अपशब्द के प्रयोग को निन्दनीय बताएँ। और भी शास्त्रों की यही स्थिति बनती है। उदाहरणतः कामसूत्र में ऐसी प्रक्रियाओं का वर्णन है जो प्रक्रियाएँ अनुचित हैं। उनका वर्णन केवल इस दृष्टि से है कि उन प्रक्रियाओं को भी मनुष्य अपनाया करते हैं। यह यथार्थ का वर्णन हुआ। किन्तु आदर्श की दृष्टि से उन प्रक्रियाओं को अपनाना नहीं चाहिए।

वेद में जिन अभिचार कर्मों का उल्लेख था चार्वाक ने भूल से यह मान लिया कि वेद उन कर्मों को करणीय मानता है। इसलिए उसने वेद रचने वालों को धूर्त्त घोषित कर दिया। एक दूसरी प्रतिक्रिया जैन और बौद्ध जैसे वैदिकेतर सम्प्रदायों की थी। इन दोनों सम्प्रदायों ने वेद की निन्दा नहीं की, किन्तु वेद के प्रति माध्यस्थ भाव रखा। न वेद की निन्दा की, न प्रशंसा। ये दोनों सम्प्रदाय वीतरागता में विश्वास करते थे, इसलिए इन्होंने वेद के प्रति न राग प्रदर्शित किया न द्वेष। तीसरा दृष्टिकोण गीता का है। गीता का कहना है कि वेद में वर्णित सकाम कर्मों का तो अतिक्रमण करना चाहिए और उदात्त भावनाओं को अपनाना चाहिए। जो योग के प्रति जिज्ञासु हो जाता है वह सकाम कर्म का अतिक्रमण कर देता है क्योंकि योग के प्रति जिज्ञासु भाव तभी उत्पन्न होता है जब कामनाओं की निस्सारता प्रतीति में आने लगे –

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

इस श्लोक में दिया गया 'शब्दब्रह्म' पद ध्यान देने योग्य है। ब्रह्म वेद का नाम है। अतः शब्द ब्रह्म का अर्थ हुआ – शब्द वेद। ऋग्वेदादि प्रसिद्ध ग्रन्थ शब्द रूप होने से शब्द वेद कहलाते हैं। इनमें ही सकाम कर्मों का वर्णन है, जिनका अतिक्रमण योगी करता है। किन्तु जिस तत्त्व का इस शब्दवेद में वर्णन है उस तत्त्व से तो यह समस्त संसार बना ही है, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि 'ऋक् से समस्त मूर्त पदार्थ बने हैं, यजु से समस्त गति बनी हैं, समस्त तेज साम है, और सब कुछ अथर्व से उत्पन्न हुआ है।' यह वर्णन शब्दवेद का नहीं है अपितु तत्त्ववेद

का है। यह सृष्टि विज्ञान का आधार है। इसके अतिक्रमण का प्रश्न ही नहीं होता। इसलिये गीता में शब्दब्रह्म के ही अतिक्रमण की बात की गई है, तत्त्ववेद के अतिक्रमण की बात नहीं की गई। जब श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि वे वेदों में सामवेद हैं, वे तो सामवेद ग्रन्थ की बात नहीं कह रहे हैं अपितु सामतत्त्व की बात कह रहे हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि वेद में वर्णित सकाम कर्म भले ही सामान्य मनुष्यों के लिए आकर्षक हों किन्तु योग के जिज्ञासु को उनमें नहीं अटकना चाहिए। दूसरे, वेद के अध्ययन का सच्चा फल प्राप्त करना हो तो शब्दवेद को तत्त्ववेद जानने का साधन बनाना चाहिए न कि स्वयं शब्दवेद को ही साध्य समझ कर उसे पकड़कर बैठ जाना चाहिए। इसीलिए गीता ने शब्दवेद का अतिक्रमण करने की बात भी कही और तत्त्ववेद पर आधारित यज्ञ की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की। शब्दवेद और तत्त्ववेद के इस भेद को समझ लेने पर गीता में वेद के सम्बन्ध में दिए गए सभी वक्तव्यों का पूर्ण समन्वय हो जाता है।

प्रयत्न और अहंकार

सकाम कर्मों को छोड़ने के अनन्तर योगी पापों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त होता है, यह प्रक्रिया एक जन्म में भी हो सकती है और अनेक जन्म भी लग सकते हैं। इसके लिए प्रयत्न करना होता है। जहाँ प्रयत्न है वहाँ अहंकार है। अहंकार स्थूल भी है और सूक्ष्म भी। जब कोई व्यक्ति कहता है कि मैं बहुत बड़ा पण्डित हूँ, तो यह स्थूल अहंकार है। किन्तु जब कोई यह कहता है कि मैं तो निपट अज्ञानी हूँ मुझे कुछ भी नहीं आता, तो इसमें भी अहंकार छिपा रह सकता है। अर्थात् वह व्यक्ति यह कहते समय अपने मन में यह सोच सकता है कि देखो मैं कितना निरहंकारी हूँ कि सब कुछ जानते हुए कह रहा हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता। यह अहंकार का सूक्ष्म रूप है। इसी प्रकार परिग्रह का भी सूक्ष्म रूप रहता है। एक व्यक्ति सब कुछ छोड़ कर इस अहंकार की मूर्च्छा में जी सकता है कि वह कितना बड़ा त्यागी है कि उसने सब कुछ छोड़ दिया। उसने सब कुछ छोड़ने पर भी छोड़ने के अहंकार को पकड़ लिया। इसलिए शास्त्रों ने कहा कि सब कुछ छोड़ो और साथ ही इस भाव को भी छोड़ दो कि हमने सब कुछ छोड़ दिया है – **येन त्यजसि तत्यज।** गीता में इसी बात को इस रूप में कहा कि योगी पापों से तभी छुटकारा पा सकता है जब वह 'प्रयत्नपूर्वक यत्न' करे। 'प्रयत्नपूर्वक यत्न' में आपाततः पुनरुक्ति प्रतीत होती है। किन्तु यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। अभिप्राय यह है कि यत्न तो करे किन्तु साथ ही यह सावधानी भी बरते कि साधना का अहंकार उसे न पकड़ ले। यदि साधना का कर्तृत्वाभिमान साधक में आ जाएगा तो साधना भी उसी प्रकार बन्धन का कारण बन जाएगी जिस प्रकार सकाम कर्म बन्धन का कारण बनते हैं, क्योंकि बन्धन का कारण कर्तृत्वभिमान है, वह चाहे साधना का हो चाहे किसी और कर्म का –

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

मूल तथा अनुवाद

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः॥४६॥

योगी तपस्वियों से बढ़कर है, ज्ञानियों से भी बढ़कर है तथा कर्मठों से भी बढ़कर है। इसलिये हे अर्जुन! तुम योगी बनो॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

सब योगियों में भी मुझमें अन्तरात्मा को लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, वह मेरी सम्मति में सर्वश्रेष्ठ है ॥४७॥

विपुल-भाष्य

श्रद्धायुक्त योग का महत्व

अर्जुन का प्रश्न था कि श्रीकृष्ण ने सिद्धि के अनेकानेक मार्ग बताए किन्तु यह स्पष्ट नहीं हुआ कि अर्जुन उन मार्गों में से कौन सा मार्ग अपनाए। सभी मार्गों पर एक साथ तो चला नहीं जा सकता, एक समय में किसी एक मार्ग पर ही चला जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि किसी लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक मार्ग हों तो केवल उन अनेक मार्गों को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है अपितु यह जानना भी आवश्यक है कि उन अनेक मार्गों में से किसी विशेष साधक के लिए कौन-सा मार्ग उपयोगी होगा। श्रीकृष्ण का कहना है कि अर्जुन के लिए योग का मार्ग सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि योगी तपस्वियों से भी श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और कर्ममार्गियों से भी श्रेष्ठ है –

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः॥

तपस्या के रूप

तपस्या के दो रूप हैं। प्रथम तो यदि कोई तपस्या करता है तो सबको दिखाई देता है। कोई गर्मी में तपती हुई धूप में खड़ा है, कोई सर्दी में केवल लंगोट पहने घूम रहा है, कोई लम्बे-लम्बे उपवास कर रहा है, कोई काँटों पर लेटा है, कोई खड़े-खड़े ही सो रहा है। बारह वर्ष से न बैठा है, न लेटा है। पाँव हाथी के पाँव की तरह स्थूल हो गए हैं। यह सब तपस्या दिखाई पड़ती है। इस कारण तपस्वी में प्रदर्शन का भाव आ जाता है। उसे जब तपस्या के बदले प्रशंसा प्राप्त होती है तो उसका अहंकार भी पुष्ट होता है। व्यक्ति तपस्या करे तो यह जरूरी नहीं कि उसका आन्तरिक रूपान्तरण भी हो। कोई उपवास करता है तो उसका यह अर्थ नहीं कि अनिवार्य रूप से उसने स्वाद-वृत्ति पर विजय प्राप्त कर ली हो। इस प्रकार तपस्या अहंकार को बढ़ाने वाली हो सकती है और यह जरूरी नहीं है कि वह कषाय को मन्द करे।

तपस्या का एक दूसरा पक्ष है कि तपस्या के साथ प्रायः कोई न कोई कामना जुड़ी रहती है। पुत्र प्राप्ति के लिए, पति प्राप्ति के लिए, धन प्राप्ति के लिए और अन्यान्य कामनाओं के लिए तपस्या करने की कथाएँ पुराणों में भरी पड़ी हैं। ऐसी सकाम तपस्या का फल तो भोग ही है, भले ही उसका साधन तपस्या है। ऐसी स्थिति में तपस्या के मूल में भोग ही है, योग नहीं। जैसे कोई व्यक्ति पैसा कमाने के लिए व्यापार में लाख-दो लाख रुपए लगा दे तो प्रारम्भ में उसे धन छोड़ना पड़ता है, किन्तु इसे कोई भी त्याग नहीं कहता, क्योंकि यहाँ धन छोड़ने का प्रयोजन धन कमाना है, धन छोड़ना नहीं। इसी प्रकार तपस्वी भोगों की प्राप्ति के लिए भोगों को छोड़ता है तो इसे भोगों का त्याग करना नहीं कहा जा सकता है और जहाँ भोगों का त्याग नहीं है वहाँ योग नहीं है। इसके विपरीत योगी भले ही भोगों का बाहर से त्याग न करे किन्तु अन्दर से भोगों की इच्छा छोड़ देता है। बाहर से भोगों को छोड़ दिया किन्तु अन्दर से भोगों की इच्छा को नहीं छोड़ा, ऐसे तपस्वी की अपेक्षा वह योगी श्रेष्ठ है जिसने बाहर से भोग नहीं छोड़े हैं, किन्तु अन्दर से भोगों की इच्छा छोड़ दी है।

इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि योगी भोग के लिए लालायित रहता है। उसे प्रारब्ध कर्मों के अनुसार भोग मिल भी सकते हैं और भोग नहीं भी मिल सकते हैं। वह दोनों स्थितियों में समता का भाव रखता है। वह न दुःख को खोजता है, न सुख को, जो सहज भाव से आ जाए, उसमें समभाव रखता है।

कुछ लोगों को तपस्या का अहंकार होता है तो कुछ को अपने ज्ञान का अहंकार होता है। यहाँ ज्ञान से शास्त्र-ज्ञान अभिप्रेत है। शास्त्रों में शब्द हैं। वे शब्द उस अनुभव की ओर संकेत करते हैं जो अनुभव शास्त्रकारों को हुआ। महत्वपूर्ण शब्द नहीं है, महत्वपूर्ण है वह अनुभव, जिस अनुभव की ओर शब्द संकेत करते हैं। किन्तु शब्द के द्वारा संकेतित अनुभव को वही पकड़ पाता है जिसे स्वयं भी कुछ अनुभव हुआ हो, अन्यथा वह शब्दजाल में ही अटक कर रह जाता है।

अर्थ का महत्व

अनुभव परोक्ष है और सूक्ष्म है, वह दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु शब्द ज्ञान स्थूल है और प्रत्यक्ष है। कोई व्यक्ति मन्त्र, श्लोक, गाथा और सूत्रों को ज्यों का त्यों दोहरा दे तो उसे सहज ही प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है कि वह बहुश्रुत है और उसमें अनेक शास्त्र उपस्थित हैं। किन्तु शब्द का अपने आप में कोई महत्व नहीं है। महत्व उस अर्थ का है जिसे वे शब्द संकेतित करते हैं। अर्थ का अनुभव शब्द की सहायता के बिना भी हो सकता है। इसीलिए कबीर ने कहा था – 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।' जिसने सत्य का अनुभव नहीं किया उसे शास्त्र बहुत दूर नहीं ले जा सकते। इसलिए शब्द ज्ञान निरर्थक हो सकता है और अहंकार का कारण भी बन सकता है किन्तु योग सत्य का सीधा साक्षात्कार है। कोई व्यक्ति पूजा करे, यज्ञ करे अथवा खेती करे या व्यापार करे, यदि उस कर्म के पीछे फल की इच्छा है तो यज्ञ भी व्यापार ही बन जाता है। थोड़ा देकर अधिक पाने की इच्छा ही तो व्यापार है। और कोई पाँच रुपए का प्रसाद चढ़ा कर पाँच हजार की नौकरी पाने का इच्छुक हो तो उससे बड़ा व्यापारी कौन होगा? यदि पाँच रुपए का धार्मिक अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति अपने को व्यापारी न मानकर धार्मिक मान ले तो इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है?

अभिप्राय यह है कि कर्तृत्व के अभिमान के पोषण और भोग की प्राप्ति की लालसा को लक्ष्य बना कर चाहे तपस्या की जाए, चाहे शास्त्र ज्ञान का संग्रह किया जाए और चाहे कोई कर्मानुष्ठान किया जाए, योग इन सब स्थितियों से ऊपर की स्थिति है क्योंकि वहाँ न कर्तृत्व का अभिमान है, न भोग की इच्छा। योग का एक महत्वपूर्ण घटक है – श्रद्धा। कोई व्यक्ति बिना श्रद्धा के भी योग में लग सकता है। बिना श्रद्धा के केवल तर्क के आधार पर योग में लगने की युक्ति यह होगी कि 'संसार में दुःख है, उस दुःख का कोई कारण है और योग के द्वारा दुःख के कारण को दूर करके दुःख का निवारण किया जा सकता है। इसलिए योग का अनुष्ठान करना चाहिए।' ऐसा मान कर योग का अनुष्ठान करने वाले के लिए किसी श्रद्धा की आवश्यकता नहीं है। यह शुष्क तर्क का मार्ग है।

श्रद्धा का मार्ग यह मानकर चलता है कि एक ऐसी शक्ति है जो सच्चिदानन्द रूप है। योग से केवल दुःख दूर नहीं होते अपितु उस सच्चिदानन्द रूप सत्ता की उपलब्धि भी होती है। इतना ही नहीं उस सच्चिदानन्द में एक आकर्षण भी है जो साधक को अपनी ओर आकृष्ट करता है। इसे ही भगवान् की अनुकम्पा कहा जाता है। उस सच्चिदानन्द शक्ति का आकर्षण इतना बलवान् है कि वह साधक को कभी पथभ्रष्ट नहीं होने देता है। सच्चिदानन्द की इस शक्ति में विश्वास रखना ही श्रद्धा है। श्रद्धा का यह मार्ग उपर्युक्त तर्क के मार्ग से भिन्न है। तर्क के मार्ग से भी साधक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है क्योंकि दुःखों के दूर होने पर जो शेष बच जाता है वह ही सच्चिदानन्द परमात्मा है किन्तु तर्क के मार्ग पर चलने वाला अकेला पड़ जाता है। उसे कहीं से शक्ति या सहायता प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत श्रद्धा के मार्ग पर चलने वाले को परमात्मा का सम्बल सदा प्राप्त होता है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगियों में भी वह श्रेष्ठ है जो श्रद्धावान् है –

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

जो तर्क के मार्ग से चलता है उसमें यह अहंकार उत्पन्न हो सकता है कि मैं अपने पुरुषार्थ से सब कुछ कर सकता हूँ। आज विज्ञान ने हमें बता दिया है कि इस विश्व में कोई भी अकेला नहीं है। सब एक दूसरे से जुड़े हैं और सब एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं। ऐसे में विश्व की समस्त शक्तियों से श्रद्धावान् सहायता के लिए प्रार्थना करता है और वे शक्तियाँ उसकी प्रार्थना को स्वीकार भी करती हैं। श्रद्धा हमें यह प्रतीत करवाती है कि विराट् अस्तित्व के सामने हम कुछ भी नहीं हैं। ऐसा अहसास होने पर हम मानो विराट् अस्तित्व से जुड़ जाते हैं।

सच तो यह है कि हम विराट् अस्तित्व से जुड़े ही हैं। विराट् अस्तित्व से जुड़ा होने के कारण ही दीपक सूर्य का प्रतिनिधित्व करने लगता है और परमाणु ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधि बन जाता है तभी तो दीपक में यह शक्ति होती है

कि वह घने से घने अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर सकता है और परमाणु अपने विस्फोट के द्वारा इतनी बड़ी शक्ति का विसर्जन करता है। साधक भी पूरे अस्तित्व से जुड़ा है। कोई माने या न माने यह तो एक सच्चाई है। जिसे इस सच्चाई का बोध हो जाता है वही श्रद्धावान् हो जाता है। इसलिए श्रद्धा का कोई अन्धविश्वास नहीं है बल्कि एक ऐसे सत्य का बोध है जिसके प्रति हम सामान्यतः जागरूक नहीं रहते।

आत्म-संयम योग

यहाँ गीता का छठा अध्याय सम्पन्न हो जाता है। इस छठे अध्याय का नाम आत्म-संयम योग है। योग में जो भी संयम करना पड़ता है, वह स्वयं ही किया जाता है। योगी किसी दूसरे के द्वारा अनुशासित नहीं होता है। यदि साधक की साधना से किसी दूसरे को लाभ होता हो तो उसे दूसरा अनुशासित करेगा। किन्तु साधक अपनी साधना से किसी दूसरे पर अनुग्रह नहीं करता है। वह अपने पर ही अनुग्रह करता है। इसलिए अपना निग्रह भी उसे स्वयं ही करना पड़ता है। उसी आत्म-संयम के मुख्य उपायों का वर्णन इस अध्याय में है। इसीलिए इस अध्याय का नाम आत्म-संयम योग है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥१॥

श्रीभगवान् बोले –

हे पार्थ! मुझमें चित्त लगा कर मेरा आश्रय लेकर योग में लगा हुआ जिस प्रकार तुम मुझे पूर्णतः जानोगे, सो सुनो॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥२॥

मैं तुम्हें विज्ञानसहित सम्पूर्ण ज्ञान बताऊँगा जिसे जानकर फिर यहाँ कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥३॥

हजारों मनुष्यों में कोई ही सिद्धि का प्रयत्न करता है तथा प्रयत्न करने वाले सिद्धों में भी कोई ही मुझे वस्तुतः जान पाता है॥३॥

विपुल-भाष्य

सदा सुखी रहता है आस्तिक

गीता के छठे अध्याय में योग का वर्णन हुआ है। सातवें अध्याय में योग के उसी वर्णन को आगे बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण यह बताते हैं कि जो साधक भगवान् में अनुरक्त हो जाता है और उन्हीं का सहारा लेता है, वह योग का अभ्यास करते हुए पूर्ण रूप से भगवान् को जान लेता है –

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

प्रेम और द्वैत

आसक्ति दो प्रकार की है - एक सांसारिक मनुष्यों के प्रति आसक्ति दूसरे भगवान् के प्रति। सांसारिक आसक्ति में सदा द्वैत का भाव बना रहता है; प्रेम करने वाला सदा उससे पृथक् रहता है जिससे वह प्रेम करता है। यह द्वैत का भाव प्रेम को कभी परिपूर्ण नहीं होने देता। जहाँ दो हैं वहाँ भय का भाव सदा बना रहता है कि न जाने प्रेम कब शत्रुता में बदल जाए – द्वितीयाद्वै भयं भवति। भगवान् के प्रति जो प्रेम है वहाँ दो नहीं रहते। दो का अर्थ है कि सीमा है, जो एक का दूसरे में विलय नहीं होने देती। भगवान् की सीमा नहीं है इसलिए वह किसी से पृथक् हो ही नहीं सकता। किन्तु हमने अपनी सीमा बना रखी है इसलिए हम भगवान् से एकाकार नहीं हो पाते। हमारी सीमा का नाम ही अहंकार है। अहंकार टूट जाए तो भगवान् तो असीम है ही, हम भी असीम हो जाएँगे और जब सीमा न रहेगी तो दो कहाँ से रहेंगे?

जब हम ससीम का सहारा लेते हैं तो वह सहारा कभी भी धोखा दे सकता है, बल्कि कहना चाहिए कि ससीम का सहारा एक सीमा के बाद झूठा सिद्ध होगा ही, क्योंकि ससीम वहीं तक सहारा दे सकता है, जहाँ तक उसकी सीमा है। इसलिए असीम भगवान् का सहारा ही ऐसा है जो कभी धोखा नहीं देता, जो हर परिस्थिति में बना रहता है।

श्लोक में कहा गया है कि साधक भगवान् को पूर्ण रूप से जान लेता है। इसमें संशय की आवश्यकता नहीं है। संशय न करना या श्रद्धा रखना धर्म का प्रारम्भ बिन्दु है। धर्म के सत्य शाश्वत हैं। वे समय के साथ बदलते नहीं हैं। विज्ञान के सत्य शाश्वत नहीं हैं, विज्ञान की खोज के अनुसार जो आज सत्य है वह कल बदल जाएगा। जो न्यूटन के समय सत्य था आइन्स्टीन के समय वह सत्य नहीं रहा। कल आइन्स्टीन का सत्य भी बदल सकता है किन्तु वेद का सत्य इस प्रकार बदलता नहीं। दोनों सत्यों का अपना मूल्य है। धर्म का सत्य शाश्वत है, वह हमारी आस्था का आधार बनता है। विज्ञान का सत्य शंका से उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान पुरानी खोज के परिणामों पर शंका न करे तो वह प्रगति कर ही नहीं सकता। श्रद्धा का अपना महत्त्व है, शंका का अपना। भारत ने श्रद्धा को महत्त्व दिया तो यहाँ धर्म का विकास हो गया, पश्चिम ने शंका को महत्त्व दिया तो वहाँ विज्ञान का विकास हो गया। आवश्यकता दोनों के समन्वय की है।

गीता में समग्रता की चर्चा हुई तो सहज ही ज्ञान और विज्ञान दोनों की बात आई। न ज्ञान अपने में पूरा है, न विज्ञान। समग्र को जानना हो तो दोनों को जानना होगा –

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।

यहाँ ज्ञान और विज्ञान शब्द विशेष अर्थ रखते हैं। मिट्टी एक है, उससे अनेक पात्र बनते हैं। मिट्टी कारण है, इससे बनने वाले पात्र कार्य हैं। एक कारण से अनेक कार्य उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार एक ब्रह्म से वैविध्यपूर्ण जगत् उत्पन्न हो गया। ज्ञान का सम्बन्ध कारणभूत ब्रह्म से है जो एक है। विज्ञान का सम्बन्ध कार्यभूत जगत् से है, जो अनेक रूप है। कहने के लिए ब्रह्म और जगत् भिन्न हैं, किन्तु अद्वैत की दृष्टि में दोनों एक ही हैं। ऐसी स्थिति में न केवल ब्रह्मज्ञान पर्याप्त है, न केवल संसार का ज्ञान पर्याप्त है। दोनों मिलकर ही परिपूर्ण हो पाते हैं। ब्रह्मज्ञान को ज्ञान कहा गया है और संसार के ज्ञान को विज्ञान कहा गया है।

ज्ञान और विज्ञान को अनेक प्रकार से समझा जा सकता है। अनेक से एक की ओर चलना ज्ञान है, एक से अनेक की ओर चलना विज्ञान है। संसार का कारण ब्रह्म है जो कि ज्ञान का विषय है। ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति या एक से अनेक की उत्पत्ति यज्ञ की प्रक्रिया से होती है, जो कि विज्ञान का विषय है। गीता में जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझसे ही सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है तो यह ज्ञान का विषय है तथा जब वे कहते हैं कि समस्त विश्व ब्रह्ममय है तो यह विज्ञान का विषय है। ये ज्ञान और विज्ञान मिलकर समग्रता का ज्ञान कराते हैं।

समग्रता का अर्थ है – जिससे कुछ भी न छूटे। जब कहा जाता है कि यह सब कुछ ब्रह्म है – **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** – तो सब कुछ भगवान् ही हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि सब कुछ ब्रह्म है तथापि हम उसे प्राप्त नहीं कर पाते, यह आश्चर्य की बात है। भगवान् को प्राप्त न कर पाने का कारण है कि हम उसे प्राप्त करने के लिए यत्न नहीं करते। कोई विरला ही यह यत्न करता है और यत्न करने वालों में भी कोई विरला ही उसे जान पाता है –

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।

जो सदा सर्वत्र है उसे प्राप्त करने का उपाय तो यही है कि हम वर्तमान में देखें किन्तु हम सदा भविष्य में देखते हैं। जो वर्तमान में उपलब्ध है उस पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। दुर्भाग्य से दर्शन शास्त्रों का भी हमने ऐसा अर्थ समझ लिया कि वे परलोकोन्मुख हैं – उनमें मरने के बाद स्वर्ग प्राप्ति का उपाय बताया गया है अथवा शरीर छूटने के

बाद कैसे मोक्ष प्राप्त हो – यह बताया गया है, परिणाम यह हुआ कि हमने इस लोक की और वर्तमान की उपेक्षा कर दी जबकि भगवान् यहीं और अभी हैं, दूर अथवा भविष्य में नहीं। उपनिषद् ने तो स्पष्ट कहा था कि उसे यदि अभी और यहीं जान लिया तो ठीक है और यदि यहीं और अभी न जान पाए तो कहीं और कभी नहीं जान पाएँगे – **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्मिथ्या विनष्टिः।**

जो है उसकी उपेक्षा

कठिनाई यह है कि मनुष्य का मन जो है, उसकी उपेक्षा करता है और जो नहीं है उसके पीछे भागता है। दो शब्द बहुत प्रचलित हैं – आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक का यह अर्थ प्रचलित है कि जो ईश्वर को माने और नास्तिक का यह अर्थ प्रचलित है कि जो ईश्वर को न माने। आस्तिक और नास्तिक का शब्दार्थ कुछ और है। आस्तिक का शब्दार्थ है जो है उसे माने, जो नहीं है उसे न माने। प्रायः हमारा मन जो है उसकी उपेक्षा कर देता है और जो नहीं है उसकी ओर दौड़ता है। इसलिए हम यह अनुभव करते हैं कि हम दरिद्र हैं। जिसके पास एक लाख रुपया होता है वह एक लाख का आनन्द लेने के स्थान पर इस चिन्ता के कारण तनावग्रस्त रहता है कि उसके पास एक करोड़ कैसे हो जाएँ। जब उसके पास एक करोड़ हो जाता है तो उसका ध्यान एक करोड़ से हट कर अरबपति होने की ओर लग जाता है। परिणामतः वह कभी भी वर्तमान में नहीं जी पाता, सदा भविष्य में जीता है। वह जो 'है' उसका आनन्द नहीं लेता अर्थात् आस्तिक नहीं बनता और जो नहीं है उसकी चिन्ता में ग्रस्त रहने के कारण नास्तिक बना रहता है। भगवान् तो परम अस्तित्व है। जो कुछ भी है वह भगवान् है। ऐसा कुछ भी नहीं है जो भगवान् न हो। जब हमारी दृष्टि उस ओर जाती ही नहीं है अपितु उस ओर रहती है जो नहीं है तो फिर हम भगवान् को कैसे पाएँगे?

वेद की दृष्टि बहुत विचित्र है। वेद का ऋषि प्रातःकाल उदित होने वाली उषा के सौन्दर्य पर मुग्ध है। सुनहरे रंग की अग्नि की ज्वाला उसे विस्मित करती है। वह उसकी स्तुति में मन्त्र पर मन्त्र बोले जाता है। मंद-मंद बहती पवन उसकी इष्ट देवता है। अधिक क्या कहें? वनस्पति, पर्वत अथवा नदी कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें उसे इष्ट देवता के दर्शन न होते हों। यही सच्ची आस्तिकता है। पश्चिम के विद्वानों को और ईसाई जैसे धर्म के मानने वालों को वेद की दृष्टि बहुत स्थूल प्रतीत होती है। उन्हें लगता है कि वेद में तो स्थूल जड प्रकृति की उपासना है। वे इस तत्त्व को नहीं समझ पा रहे हैं कि अस्तित्व में जड कुछ भी नहीं है। जो भी सत् है वह सब चित् है और जहाँ सच्चिद् है वहीं आनन्द है। जो नाम रूपात्मक जगत् को मिथ्या घोषित करके जगत् के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ब्रह्म की खोज करते हैं उनके हाथ कुछ भी नहीं लगता। गीता ने स्पष्ट घोषणा की है कि सब कुछ वासुदेव है- **वासुदेवः सर्वम्।** किन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि ऐसा ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है – **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।**

एक दृष्टि है कि संसार दुःखमय है। एक अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि हममें से अधिकतर लोग यही अनुभव करते हैं कि वे दुःखी हैं किन्तु हमारे दुःख का कारण यह नहीं है कि संसार का स्वरूप दुःखमय है। संसार तो ईश्वर का रूप है फिर वह दुःख रूप कैसे हो सकता है? दुःख का कारण नकारात्मक मन है। विधायक मन दूध के आधे भरे गिलास को देखता है तो भरे हुए भाग को देखता है। नकारात्मक मन को गिलास का खाली भाग नजर आता है। नकारात्मक मन सदा संघर्ष करता है – जो नहीं है उसे पाने के लिए। जो नहीं है मैं उसे पा लूँगा – यह अहंकार का स्वर है। जो है वह प्रभु की असीम कृपा का फल है – यह प्रार्थना का स्वर है। अहंकारी को कुछ नहीं मिल पाता। जो प्रार्थना में जीता है उसे सब कुछ मिला हुआ ही है।

अहंकार की दीवार

अहंकार ही तो वह दीवार है जो हमें भगवान् से दूर करती है। भगवान् असीम है। अहंकार हमारी सीमा बाँध लेता है। अहंकारी कितना भी बड़ा हो, पर असीम नहीं हो पाता। इसलिए वह बहुत प्रयत्न करता है किन्तु असीम को नहीं जान पाता। परमात्मा को पाने का साधन संघर्ष नहीं, संतोष है। जो मिला है उस पर दृष्टि डालें तो वह कितना अमूल्य है। यह शस्य श्यामला भूमि, नक्षत्र-रत्न-जटित नीलाकाश, शीतल मंद समीर, पक्षियों का कलरव, सूर्योदय

का सौन्दर्य – ये सब हमें सहज सुलभ हैं। इन सबसे अधिक मूल्यवान् हमें मिला है - हमारा शरीर, जिसकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और सभी कम्प्यूटरों को मात देने वाला मस्तिष्क विश्व के सबसे बड़े आश्चर्य हैं क्योंकि हमें ये सहज मिल गए हैं इसलिए हमारा ध्यान इनकी ओर जाता ही नहीं और हमारा ध्यान उन छोटी चीजों में अटका रहता है जो हमें मिल नहीं पाईं। पद, प्रतिष्ठा, वेतन-वृद्धि, अनुकूल स्थान पर स्थानान्तर और ऐसी ही न जाने कितनी छोटी-छोटी चीजें, हमारे जीवन को दुःखमय बनाए रखती हैं। यह नास्तिकता का फल है। प्रकृति ने जो वैभव बिखेर रखा है उसमें भगवान् का दर्शन करने लगें तो भगवान् हमसे दूर नहीं है। और भगवान् प्राप्त हों तो फिर दुःख कैसा?

मूल तथा अनुवाद

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

हे महाबाहो! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार – यह आठ प्रकार की तो मेरी (अपरा प्रकृति) है।।४।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

हे अर्जुन! और मेरी इस जीवरूपिणी दूसरी प्रकृति को परा जानो, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।।५।।

विपुल-भाष्य

मोक्ष का द्वार : अहङ्कार-विजय

गीता के इस अध्याय के प्रारम्भ में दूसरे श्लोक में श्रीकृष्ण ने विज्ञान सहित ज्ञान का उपदेश देने की प्रतिज्ञा की थी। अतः अब वे विज्ञान अर्थात् सृष्टि के विस्तार की बात करते हैं। हम पहले बता चुके हैं कि एक से अनेक होने की प्रक्रिया का नाम विज्ञान है। इसे ही यज्ञविद्या भी कहा जाता है, जिसका दूसरा नाम कर्मकाण्ड है। इसीलिए तैत्तिरीय आरण्यक में विज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि विज्ञान वह है जो यज्ञ तथा कर्म का विस्तार करे – **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।** एक से अनेक होने की प्रक्रिया दो भागों में विभक्त है – जड और चेतन। जड को प्रकृति कहा जाता है और चेतन को जीव। गीता ने इन दोनों को ही प्रकृति कहा है क्योंकि ये दोनों ही ब्रह्म का अंश हैं। जड का विस्तार अपरा प्रकृति है और जीवों का विस्तार परा प्रकृति।

परा और अपरा

परा और अपरा प्रकृति को ब्रह्म की प्रकृति अर्थात् स्वभाव बताया गया है। जब ब्रह्म परिपूर्ण है तो उसे सृष्टि की रचना करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर 'प्रकृति' शब्द में ही छिपा है। जब एक से अधिक होना ब्रह्म की 'प्रकृति' अर्थात् स्वभाव ही है। यहाँ क्यों का प्रश्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वभाव तर्क का विषय नहीं है – **स्वभावोऽतर्कगोचरः।** अग्नि उष्ण क्यों है? जल शीत क्यों है? इसका एक ही उत्तर है कि ऐसा उनका स्वभाव है। ब्रह्म की भी ऐसी प्रकृति अर्थात् स्वभाव है कि वह अपरा प्रकृति अर्थात् जड और परा प्रकृति अर्थात् जीव के रूप में विस्तार पाता है।

इस विस्तार की भी एक प्रक्रिया है। यह विस्तार सूक्ष्म से स्थूल की ओर चलता है। सूक्ष्म की दृष्टि से सबसे सूक्ष्म है अहंकार और सबसे स्थूल है - पृथ्वी। साधक को यदि मुक्त होना है तो उसे सूक्ष्म अहंकार से लेकर स्थूल भूमि तक की प्रकृति का अतिक्रमण करना पड़ेगा। सबसे सूक्ष्म है अहंकार अर्थात् 'मैं हूँ' ऐसा भाव। इस भाव के साथ ही जुड़ा हुआ है यह भाव कि मैं कर्त्ता हूँ – **अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।** जब स्वयं को कर्त्ता मान

लिया तो फिर यह भाव भी सहज ही उत्पन्न हो जाता है कि यदि मैंने किया है तो फल भी मुझे मिलना चाहिए। यदि वह फल मेरे अनुकूल हुआ तो मैं सुखी हो जाता हूँ, यदि वह फल मेरे प्रतिकूल हुआ तो मैं दुःखी हो जाता हूँ। यही समझ राग-द्वेष उत्पन्न करती है। इसी समझ के कारण जीव आवागमन के चक्र में भ्रमण करता रहता है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। प्रकृति के ये तीनों गुण – सत्त्व, रजस और तमस – पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा जगत् में परिवर्तन करते रहते हैं। उस परिवर्तन के साथ अज्ञानवश साधक अपना कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व भाव जोड़ लेता है। यह अहंकार का भाव आ जाए तो फिर इससे सारी अपरा प्रकृति का विस्तार स्वतः होता चला जाता है। क्या उचित है? क्या अनुचित है? यह विचार करना बुद्धि का काम है। अहंकार से ही यह बुद्धि उत्पन्न होती है। इसे ही हम बोलचाल की भाषा में तर्क करना कहते हैं – क्या अनुकूल है, क्या प्रतिकूल है – यह मनन करना मन का काम है। उचित, अनुचित का विचार करना अधिक सूक्ष्म बात है। अनुकूलता, प्रतिकूलता का ज्ञान अपेक्षाकृत स्थूल है। इसलिए अविकसित पशु भी मन के द्वारा अनुकूलता-प्रतिकूलता को जानते हैं किन्तु उचित-अनुचित का विचार कुछ विकसित पशुओं में धुँधले रूप में भले ही हो, किन्तु पूर्ण रूप में तो मनुष्य में ही मिलता है। उचित-अनुचित का विचार ही धर्म है इसलिए कहा गया कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्य और पशु में समान हैं किन्तु धर्म की अवधारणा मनुष्य की अपनी विशेषता है जो उसे शेष पशुओं से पृथक् करती है। जिस मनुष्य में धर्म का अर्थात् उचित-अनुचित का विचार नहीं है वह मनुष्य पशु के ही समान है –

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।।

संक्षेप में कहें तो अर्थ और काम की गवेषणा तो पशु भी करते हैं, किन्तु धर्म की गवेषणा केवल मनुष्य ही करता है। फिर भी यह समझने की बात है कि धर्म भी बुद्धि का विषय है – उचित-अनुचित के विचार का विषय है। किन्तु आत्मा बुद्धि से भी परे है। यह विचार का विषय नहीं है। आत्मा का सम्बन्ध मोक्ष से है। वहाँ निर्विचारता है, विचार नहीं है। इसलिए वहाँ बुद्धि की भी पहुँच नहीं है। मन की पहुँच का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

विभाजित साधना

इस प्रकार हमारी साधना दो भागों में बँट जाती है। एक साधना वह है जहाँ अहंकार अर्थात् कर्त्तृत्व है, संकल्प है। वहाँ तक पाप-पुण्ब का द्वन्द्व है। इस साधना से पुण्य कर्मों द्वारा स्वर्ग मिल सकता है किन्तु मोक्ष नहीं। दूसरी साधना वह है जहाँ साधक कर्त्तृत्व का अभिमान छोड़ देता है और इसलिए वहाँ कर्म उसे स्पर्श ही नहीं कर पाते। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह कर्म छोड़ देता है, किन्तु वह कर्म के कर्त्तृत्व का अभिमान अवश्य छोड़ देता है। फल यह होता है कि वह सब कुछ करते हुए भी कर्म से लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्म उसके लिए बन्धन नहीं बन पाता। वह पाप-पुण्य का अतिक्रमण करके सदा के लिए मुक्त हो जाता है। जहाँ तक कर्म का प्रश्न है, कर्म वह भी बुद्धिपूर्वक ही करता है किन्तु वह उन कर्मों का अपने आपको कर्त्ता नहीं मानता।

अहंकार, बुद्धि और मन सूक्ष्म प्रकृति है और इसके आगे के पाँच – आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि – स्थूल प्रकृति है। सांख्य दर्शन में कारण प्रकृति को भी बताया गया है किन्तु सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष को अलग माना है। यहाँ जीव को भी परा प्रकृति कह दिया गया है। सांख्य की दृष्टि अक्षर पुरुष को केन्द्र में रख कर वर्णन करती है। इसलिए वहाँ पुरुष और प्रकृति में द्वैत है। किन्तु गीता और वेदान्त अव्यय पुरुष को केन्द्र में रखते हैं, इसलिए वहाँ प्रकृति और जीव दोनों को प्रकृति बता दिया गया है। यह अद्वैत-दृष्टि है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि अग्नि का स्वभाव उष्णता है अतः कहने में दो होने पर भी अग्नि और उष्णता वास्तव में दो नहीं हैं। इसी प्रकार प्रकृति और अव्यय पुरुष कहने में दो हैं किन्तु प्रकृति तो अव्यय पुरुष की प्रकृति अर्थात् स्वभाव है अतः वह उससे भिन्न कैसे हो सकती है। फिर भी साधक को अपरा और परा दोनों ही प्रकृतियों का अतिक्रमण करके उस अव्यय पुरुष को जानना है जिस अव्यय पुरुष की वे प्रकृतियाँ हैं। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा कि चाहे अपरा प्रकृति हो, चाहे परा प्रकृति हो, दोनों ही भगवान् की प्रकृतियाँ हैं –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अहंकार

परा प्रकृति के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि जब तक वह अपने आपको अपरा प्रकृति से जोड़े रहेगी तब तक बन्धन बना रहेगा। संक्षेप में जीव जब तक अहंकार से जुड़ा रहेगा तब तक बन्धन बना रहेगा क्योंकि अहंकार अपरा प्रकृति का प्रारम्भ बिन्दु है। जैसे ही अहंकार छूटता है वैसे ही जीव का अपरा प्रकृति से सम्बन्ध छूट जाता है और वह भगवान् से जुड़ जाता है, क्योंकि जीव अन्ततोगत्वा परमात्मा का ही अंश है। अहंकार इतना सूक्ष्म है कि हम जो भी करें उसमें अहंकार अवश्य आ जाता है। पूजा करें, तो पूजा का अहंकार। त्याग करें, तो त्याग का अहंकार। ज्ञान का अहंकार, यहाँ तक कि 'मैंने अहंकार छोड़ दिया' ऐसा अहंकार को छोड़ने का भी अहंकार हमारा पीछा नहीं छोड़ता।

हमें पता भी नहीं लग पाता कि हममें अहंकार है। अहंकार के छोड़ने का उपाय है, यह समझ पैदा करना कि अहंकार प्रकृति का है, मेरा नहीं। आज कम्प्यूटर से यह प्रत्यक्ष हो गया कि अनेक ऐसे कार्य जिन्हें हम चेतन का समझ बैठे थे, वे वस्तुतः जड प्रकृति कर सकती है। हमने बुद्धि से युक्त यन्त्र बना लिया है। हो सकता है कि किसी दिन अहंकार से युक्त यन्त्र भी बन जाए जो यह कहे कि मैं बहुत बड़ा हूँ, मेरा अपमान मत करो क्योंकि अन्ततोगत्वा अहंकार भी अपरा प्रकृति का हिस्सा है। अहंकार को जीतने का उपाय है – परा प्रकृति को समझें, जो जीव रूप होने के कारण ब्रह्म रूप ही है। अर्थात् कर्त्तृत्व से परे एक ऐसा साक्षिभाव है जो अहंकार, बुद्धि, मन और शरीर को जानता है किन्तु जो स्वयं न अहंकार है, न मन, न बुद्धि, और न पाँच भूतों से बना शरीर। जैसे ही हमारा यह साक्षिभाव जागता है, हमारा अपरा प्रकृति के साथ कल्पित तादात्म्य समाप्त हो जाता है और हमें ब्रह्म के साथ अपने वास्तविक तादात्म्य का बोध हो जाता है। यही मोक्ष है।

मूल तथा अनुवाद

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥६॥

सब भूतों की यह योनि है – ऐसा समझो। तथा मैं समस्त जगत् का उद्भव तथा प्रलय हूँ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥७॥

हे धनञ्जय! मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। यह सब मुझमें इसी प्रकार ओत-प्रोत है जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ ॥७॥

विपुल-भाष्य

भेद से अभेद की प्राप्ति

परा प्रकृति अर्थात् चेतन और अपरा प्रकृति अर्थात् जड दोनों को ही भगवान् ने धारण कर रखा है। ये दोनों प्रकृतियाँ मिलकर ही सब प्राणियों को जन्म देती हैं। अर्थात् जीव और प्रकृति के संयोग से ही संसार बना है। स्वयं भगवान् समस्त जगत् की उत्पत्ति के कारण भी हैं और प्रलय के कारण भी हैं –

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

भगवान् सृष्टि के उपादान कारण हैं। जैसे मिट्टी घट का उपादान कारण है तो घट मिट्टी से ही बनता है, मिट्टी में ही स्थित रहता है और मिट्टी में ही लीन हो जाता है। इसी प्रकार यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही स्थित है और ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

सृष्टि की रचना क्यों

प्रश्न होता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना क्यों करता है, उत्तर यह है कि जीव अपने कर्मों का फल भोग सके इसलिए ईश्वर सृष्टि की रचना करता है – यह उसका स्वभाव है। जब किसी जीव का कोई ऐसा कर्म शेष नहीं रहता जो फल देने के लिए परिपक्व हो तो सृष्टि का कोई प्रयोजन न होने के कारण भगवान् सृष्टि को अपने में लीन कर लेते हैं। प्रलय की अवस्था हो अथवा सृष्टि की अवस्था हो; दोनों ही अवस्था में वस्तुतः सत्ता केवल ब्रह्म की ही रहती है। जैसा कि घड़े का अस्तित्व हो अथवा घड़ा टूट जाए, दोनों ही अवस्थाओं में वास्तविक सत्ता तो मिट्टी की ही है। वेदान्त की दृष्टि में ब्रह्म संसार का केवल उपादान कारण ही नहीं अपितु निमित्त कारण भी है, जिस प्रकार जाले का मकड़ी उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है। यद्यपि अपरा प्रकृति भोग्य है और परा प्रकृति भोक्ता है तथापि यह दोनों ब्रह्म रूप ही हैं, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त तो और कुछ है ही नहीं। जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोई रहती हैं उसी प्रकार भगवान् में ही सब कुछ ओत-प्रोत है –

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव

यहाँ यह ध्यातव्य है कि माला में मणियाँ ही दिखाई देती हैं, सूत्र छिपा रहता है किन्तु साथ ही मणियों को सूत्र ही धारण करता है। सृष्टि का नियम है कि जो मूल आधार होता है वह गुप्त ही रहता है। वृक्ष में तने से लेकर डालियाँ, पत्ते, फूल, फल सब दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु जड़ें अदृश्य रहती हैं। वृक्ष का जितना दृश्य भाग है, उसका आधार अदृश्य जड़ें ही हैं। यदि हम अदृश्य जड़ों की उपेक्षा कर दें, तो दृश्य वृक्ष भी सूख जाएगा किन्तु दूसरी ओर इन्द्रियों से वही ग्रहण होता है, जो दृश्य है। यदि अदृश्य को जानना हो तो इन्द्रियाँ हमारी सहायता नहीं कर सकेंगी।

जगत् दृश्य है, ब्रह्म अदृश्य है। जो इन्द्रियों के विषय में उलझे रहते हैं उनको जगत् तो दिखाई देता है परन्तु ब्रह्म दिखाई नहीं देता है। जो साधक यह समझ लेता है कि जगत् का मूल कारण ब्रह्म है उसके लिए जगत् ब्रह्म की स्मृति का कारण बन जाता है। जिस प्रकार हम वृक्ष को देखकर उसकी जड़ का अनुमान करते हैं उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के ज्ञान का कारण बनता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो यह कहना कठिन है कि जड़ कहाँ समाप्त होती है और वृक्ष कहाँ प्रारम्भ होता है। वस्तुतः तो जड़ और वृक्ष एक ही हैं। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् भी एक ही है।

हमें जन्म और मृत्यु अलग-अलग दिखाई देते हैं किन्तु जन्म और मृत्यु एक चक्र है। वर्तुल में हम जहाँ से चलते हैं फिर वहीं आ जाते हैं। जन्म के पश्चात् मृत्यु होती है और मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म होता है। कह सकते हैं कि जन्म, मृत्यु का प्रारम्भ बिन्दु है तो मृत्यु, जन्म का प्रारम्भ बिन्दु है। इसलिए जन्म और मृत्यु को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं अमृत भी हूँ, और मृत्यु भी हूँ, सत् भी और असत् भी हूँ – अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

जन्म और मृत्यु

जिस प्रकार जन्म और मृत्यु एक दूसरे से जुड़े हैं, उसी प्रकार परा और अपरा एक दूसरे से जुड़े हैं। हमें अविभाज्य सत्य को समझाने के लिए विभाजित करके बोलना पड़ता है। फिर शनैः शनैः हम विभाजित से अविभक्त की ओर आते हैं। इसी प्रकार हम दृश्य से अदृश्य की ओर आते हैं। जगत् दृश्य है। उसे देखकर उसके कारण की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यह कारण की जिज्ञासा ही ब्रह्म की जिज्ञासा बन जाती है। जो केवल दृश्य से संतुष्ट हैं वे ही भौतिकवादी हैं। जो दृश्य के पीछे अदृश्य जानना चाहते हैं वे अध्यात्मवादी हैं।

कार्य अनेक हैं, कारण एक है। कारण की खोज ज्ञान का विषय है, कार्य का विश्लेषण विज्ञान का विषय है। यह कार्य और कारण का विभाजन भी सुविधा के लिए किया जाता है अन्यथा अस्तित्व में ऐसा कोई विभाजन नहीं है।

सत्य अखण्ड

वास्तव में सत्य तो अखण्ड है, अद्वैत है किन्तु समझाने के लिए हमें अखण्ड को खण्ड-खण्ड करके समझना पड़ता है। कभी हम कारण और कार्य का भेद करते हैं, कभी अदृश्य और दृश्य का भेद करते हैं, कभी सूक्ष्म और स्थूल भेद करते हैं। कभी ब्रह्म और जगत् का भेद करते हैं, कभी ब्रह्म और जीव का भेद करते हैं, कभी शुभ और अशुभ का भेद करते हैं, किन्तु विचार करें तो जन्म और मृत्यु जैसी विरोधी अवधारणाएँ भी परस्पर इतने अविभाज्य रूप में जुड़ी हैं; उनमें से कोई एक दूसरी के बिना रह ही नहीं सकती। जन्म न हो तो मृत्यु किसकी हो और मृत्यु न हो जो जन्म किसका हो?

श्रीकृष्ण ने भी गीता में अर्जुन के बहाने हम सबको समझाने के लिए अखण्ड सत्य को खण्ड-खण्ड करके ही समझाया। पहला खण्ड अपरा प्रकृति तथा परा प्रकृति का किया, यद्यपि दोनों अखण्ड हैं। वेद की दृष्टि में जड तो कुछ भी है ही नहीं फिर भी प्रकृति को जीव से पृथक् बताया। इसलिए गीता द्वैतवादी को भी स्वीकार्य हो गई।

इस प्रकार हम तर्क से तर्कातीत तक जाते हैं। अद्वैत तो तर्कातीत है, किन्तु उस तक पहुँचने का मार्ग तर्क के माध्यम से ही है। इसी प्रकार ब्रह्म पाप-पुण्यातीत है किन्तु उस तक हम पहुँचते पुण्य के माध्यम से ही हैं। कर्म भी ब्रह्म-प्राप्ति का साधन नहीं है किन्तु निष्काम कर्म द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि किए बिना भी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अखण्ड दृष्टि से देखें तो सत्-असत्, मृत्यु-अमृत, कर्म-ज्ञान सभी एक ही अस्तित्व के अङ्ग हैं जिस अखण्ड अस्तित्व का नाम ही ब्रह्म है।

मूल तथा अनुवाद

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

हे अर्जुन्! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा तथा सूर्य में प्रकाश हूँ, सब वेदों में ओङ्कार हूँ, आकाश में शब्द तथा पुरुषों में पुरुषत्व हूँ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

पृथ्वी में पवित्र गन्ध हूँ, अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥१०॥

हे पार्थ! मुझे सम्पूर्ण भूतों का सनातन मूल कारण समझो। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि तथा तेजस्वियों का तेज हूँ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥११॥

और मैं बलवानों का कामासक्ति रहित बल हूँ तथा सब भूतों में धर्मानुकूल काम हूँ॥११॥

विपुल-भाष्य

सबका सार भगवान् है

गीता में प्रकृति को भगवान् ने अपना बताया है। प्रश्न होता है कि प्रकृति का भगवान् से क्या सम्बन्ध है जिस सम्बन्ध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृति भगवान की है। उत्तर यह है कि प्रकृति का सार-तत्त्व भगवान् ही है। जल में रस, चन्द्र-सूर्य में प्रभा, वेदों में ओङ्कार, आकाश में शब्द तथा पुरुषों में पौरुष भगवान ही है –

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

जल दृश्य है, स्थूल है किन्तु उसमें जो रस है, वह अदृश्य और सूक्ष्म है। इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य तो पिण्ड रूप हैं और स्थूल हैं किन्तु उनमें रहने वाली प्रभा सूक्ष्म है।

जो स्थूल है वह भौतिक होने के कारण विश्लेषण की पकड़ में आ सकता है। एक वैज्ञानिक जल का विश्लेषण करे तो हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का पता लगा सकता है, किन्तु रस का पता उस विश्लेषण से नहीं लगेगा। रस केवल हमारे अनुभव में आता है। वह सूक्ष्म है।

जल में रस

यहाँ जल में रस की बात कही गई है किन्तु रस शब्द बहुत व्यापक है। रस का अर्थ है – सार-तत्त्व। इसलिए उपनिषद् ने कहा कि ब्रह्म रस है - रसो वै सः। अर्थ यह है कि ब्रह्म प्रत्येक पदार्थ का सार-तत्त्व है। रस का एक दूसरा अर्थ है – आनन्द। आनन्द सुख से भी अधिक सूक्ष्म है। सुख के लिए निमित्त चाहिए। आनन्द के लिए किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं है, वह आत्मा का स्वभाव है। यह आनन्द का भाव सर्वव्यापक है। जहाँ-जहाँ सत् है, वहाँ-वहाँ चित् और आनन्द भी है। तब ही तो सच्चिदानन्द भगवान् को सर्वव्यापक कहा जा सकता है। जो कण-कण में आनन्द का दर्शन कर सके – रस ले सके – वही कण-कण में भगवान् का दर्शन कर सकता है। इसलिए भगवान् ने अपना पता बताते हुए कहा कि मैं जल में रस हूँ, जल वस्तुतः जीवन का सूचक है, अतः संस्कृत भाषा में जल का एक पर्यायवाची शब्द 'जीवन' है। आज जब वैज्ञानिक को यह पता चलाना होता है कि किसी अमुक ग्रह में जीवन है या नहीं, तो यह पता लगाता है कि वहाँ जल है या नहीं। यदि कहीं जल है, तो वहाँ जीवन अवश्य होगा। जल और जीवन का ऐसा अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः जल में रस का अर्थ है जीवन में रस। भगवान को यदि देखना हो तो जीवन के आनन्द में उसे देखें। यह वैदिक दृष्टि है। रस का अनुभव यदि आनन्द का है तो प्रभा का अनुभव ज्ञान का है। भगवान् केवल आनन्द रूप ही नहीं है, ज्ञान रूप भी है। उनकी प्रभा को चन्द्रमा और सूर्य में देखा जा सकता है। प्रभा का कार्य है – प्रकाशित करना। अगले श्लोक में तेज का वर्णन होगा। तेज का कार्य है दाहकत्व। सूर्य और चन्द्र में प्रकाशित करने की जो शक्ति है, वह सूक्ष्म है। ज्ञान में भी पदार्थों को प्रकाशित करने की सूक्ष्म शक्ति है।

ब्रह्माण्ड में जो चन्द्रमा और सूर्य हैं, पिण्ड में वही मन और बुद्धि है। मन की बुद्धि की भी जो प्रभा है, वह प्रभा भगवान् ही है। शरीर पञ्चभौतिक है। पञ्चभूतों का सार – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश का सार भी भगवान् है और मन तथा बुद्धि का सार भी भगवान् है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे वेदों में प्रणव हैं। रस आनन्द है, प्रभा ज्ञान है तो वेद सत् है। जो भी विद्यमान है, वह वेद है। यह तत्त्ववेद की चर्चा है। वेदत्रयी का सार है – गायत्री के तीन पाद और गायत्री के तीन पादों का सार है तीन अक्षर – अ, उ, म् वाला ओ३म्। ओ३म् का अर्थ है – स्वीकृति। परमात्मा में सब का समावेश है। अतः परमात्मा का वाचक ऐसा ही शब्द होना चाहिए जो सबको स्वीकार करे। ओ३म् ऐसा ही शब्द है। ओ३म् के घटक तीन अक्षर, अ, द, म् हमारी चारों अवस्थाओं के प्रतीक हैं – जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तथा समाधि। अ, उ, म् ये तीन अवस्थाओं को बताते हैं और चौथी समाधि अथवा तुरीयावस्था का वाचक कोई अक्षर नहीं होता, अतः वह अवस्था ओउम् के उच्चारण के बाद घटित होने वाले मौन से द्योतित होती

है। दूसरी ओर अ, उ, म् बहिःसंज्ञ अर्थात् प्राणिजगत् अन्तःसंज्ञ अर्थात् वनस्पति जगत् और असंज्ञ अर्थात् धातु-पाषणादि को बताते हैं। संक्षेप में अ उ म् पूरी त्रयी को द्योतित करने के कारण परमात्मा के ही वाचक हैं।

शब्द आकाश का गुण

आकाश में भगवान् ने अपने आपको शब्द बताया है। शब्द आकाश का गुण है। गुण–गुणी में समवाय सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध अविनाभावी होता है। जहाँ-जहाँ आकाश है वहाँ-वहाँ शब्द है। जिस शब्द का हम उच्चारण करते हैं, वह आकाश में सुरक्षित रहता है। इसीलिए तो टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन आदि से हम कहीं भी बोलते गए शब्द को कहीं भी पकड़ सकते हैं। साधक को किसी भी शब्द का सावधानीपूर्वक उच्चारण करना चाहिए क्योंकि उसके द्वारा बोला गया शब्द कभी भी नष्ट नहीं होता अपितु पूरे अस्तित्व में व्याप्त होकर सदा बना रहता है। मनुष्यों में भगवान् पौरुष है। मनुष्य का सार पुरुषार्थ ही है। हम अपना अथवा दूसरों का जो कुछ भी भला या बुरा कर सकते हैं, वह अपने पुरुषार्थ द्वारा। किन्तु एक बात का ध्यान रहे कि पुरुषार्थ भगवद्रूप है; अतः अपने पुरुषार्थ के प्रति हम विनम्रता का भाव रखें, अहङ्कार का नहीं और पुरुषार्थ सदा परोपकार का हो, अपकार का नहीं।

अन्यत्र 'जल में रस', 'आकाश में शब्द' इत्यादि कहा किन्तु 'पृथ्वी में पुण्य गन्ध' कह कर भगवान् ने कुछ विशेष सङ्केत किया है। वे कहते हैं कि मैं पृथ्वी में पुण्य गन्ध, अग्नि में तेज, सर्वभूतों में जीवन तथा तपस्वियों में तप हूँ –

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

एक ही पृथ्वी से कड़वा नीम, खट्टा नींबू और मीठा गन्ना निकलता है। यह बीज का चमत्कार है। बीज में जो चेतना है वह एक ही मिट्‌टी, जल, धूप, हवा से कड़वा, खट्टा तथा मीठा फल उत्पन्न करवा देती है। हम सबके शरीर पार्थिव हैं। सिद्ध पुरुषों के शरीर पार्थिव होने पर भी सुगन्ध देते हैं जबकि हमारे शरीर से दुर्गन्ध निकलती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है कि योग का प्रथम लक्षण यह है कि शरीर से शुभ गन्ध निकलने लगती है – गन्धः शुभः। साहित्य का प्रमाण है कि राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर जैसे सिद्ध पुरुषों के शरीर से शुभ गन्ध निकलती थी। यह पवित्र गन्ध भगवान् का रूप है।

अग्नि में भगवान् तेज रूप है। तेज दाहक शक्ति है। अग्नि में अपनी दाह की शक्ति द्वारा अपवित्र को पवित्र बना देने की शक्ति है। इसलिए उसे पावक कहा जाता है। भगवान् दुःख देकर भी साधक के मन का प्रक्षालन करना चाहते हैं। यही उनका तेजस्वी रूप है।

पञ्चभूतों में अर्थात् अपरा प्रकृति में अपनी पहचान बताने के बाद अब श्रीकृष्ण जीवों अर्थात् परा प्रकृति में अपना स्वरूप बताते हैं – मैं सर्व प्राणियों का नित्य मूल कारण हूँ। बुद्धिमानों में बुद्धि हूँ, तेजस्वियों में तेज हूँ, बलवानों में काम तथा राग से रहित बल हूँ और प्राणियों में ऐसी कामना हूँ जो धर्म से विरुद्ध नहीं है –

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

बीज का अर्थ है – मूल कारण। एक घटना के अवान्तर कारण अनेक होते हैं। एक व्यक्ति दुःखी है तो उसके अनेक कारण हो सकते हैं – उसके पास पैसा नहीं है, वह बीमार रहता है, उसके सम्बन्धी झगड़ालू हैं, उसके सन्तान नहीं है, आदि-आदि। वे दुःख के अवान्तर कारण हैं; मूल कारण है – अज्ञान। प्राणियों का शरीर पञ्चभूतों से बना है, उनके सुख-दुःख उनके कर्मों का फल हैं आदि-आदि। अनेक कारणों से प्राणियों का निर्माण होता है, किन्तु ये सब मूल कारण नहीं हैं। मूल कारण तो भगवान् हैं। यदि यह बात समझ में आ जाए तो व्यक्ति भगवान् में ही स्थित

हो जाता है। फिर उसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रहता, न कोई परेशान होने का कारण रहता है। एक व्यक्ति ने हमें अपशब्द कहे, किन्तु वह व्यक्ति अपशब्द कहने में स्वतन्त्र नहीं था, उसके पीछे भी कुछ कारण था। उसके पीछे जो कारण था, उसका भी कुछ कारण था। खोजते-खोजते हम पाएँगें अन्तिम कारण भगवान् थे। जब सबका अन्तिम कारण भगवान् हैं तो हम अवान्तर कारणों की चिन्ता क्यों करें? जो हो रहा है भगवान् के कारण हो रहा है, हम उसे स्वीकार करें।

बुद्धिमान् यह अभिमान करे कि उनमें बहुत बुद्धि है तो उन्हें यह समझना चाहिए कि वह बुद्धि भगवद्रूप है। तेजस्वियों का तेज भी भगवद्रूप है। फिर अभिमान किस बात का? पहले अपरा प्रकृति की चर्चा की तो अग्नि से तेज की चर्चा की गई अब परा प्रकृति की चर्चा चली जो तेजस्वियों के तेज की बात करना उचित ही है।

बल की स्थिति दुहेरा है – रावण भी कम बलवान् नहीं था, राम भी बलवान् थे। भगवान् वे बल हैं जो काम और राग से रहित हैं। रावण का बल काम और राग से ओत-प्रोत था। काम और राग से रहित बल वह है जो शास्त्र मर्यादा के अन्तर्गत रहते हुए कार्य करने का उत्साह प्रदान करता है। राम जो भी कर रहे थे वे किसी कामना अथवा राग के कारण नहीं है अपितु मर्यादा का पालन करने के लिए कर रहे थे। उनका बल इतना प्रबल था कि रावण को उनके सामने पराजित होना पड़ा।

गीता में काम की निन्दा है किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण अपने को धर्मानुकूल काम बता रहे हैं। मनु ने एक व्यवस्था दी कि कामना प्रशस्त नहीं है, किन्तु कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं है जो किसी प्रकार की इच्छा रखता ही न हो; ऐसी स्थिति में शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए तथा शास्त्रोक्त कर्म करने की इच्छा करनी चाहिए –

कामात्मता न प्रशस्ता न चेवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥

प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि वेद पढ़ने का लाभ क्या है। अर्थात् हम वेद पढ़ने की कामना को भी राग से जोड़ना चाहते हैं। इसी प्रकार वेदोक्त कर्मानुष्ठानों का लाभ पूछा जाता है। ये प्रश्न राग-युक्त मन में उठने वाले प्रश्न हैं। धर्म-युक्त मन तो कर्त्तव्य मान कर ही वेदाध्ययन तथा कर्मयोग में प्रवृत्त होता है, उसके लाभ की चिन्ता नहीं करता।

कर्म की मर्यादा

गीता की स्थिति स्पष्ट है – काम चित्त को चञ्चल बनाता है, अतः त्याज्य है। किन्तु लोकसंग्रह के लिए कर्म तो करने ही हैं। फिर मर्यादा यह है कि शास्त्रोक्त स्वाध्यायादि उन कर्मों के करने की कामना करनी चाहिए जो कर्म धर्मानुकूल है, धर्म विरुद्ध नहीं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसी कामना गेरा अपना ही स्वरूप है।

महाभाष्यकार ने स्पष्ट किया कि ब्रह्मज्ञानी को षडङ्ग सहित वेदों का अध्ययन निष्कारण ही करना चाहिए – **निष्कारणेन ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यः**। यही गीता का निष्काम कर्मयोग है। शास्त्र विहित कामना को उत्थित तथा व्यक्ति के राग के कारण उत्पन्न होने वाली कामना को उत्थाप्य कहा जाता है। उदाहरण के रूप में धन की इच्छा को लें। जितने धन से हमारी आवश्यकता की पूर्त्ति हो उतने धनोपार्जन की उचित साधनों द्वारा पूर्त्ति विहित है किन्तु आवश्यकता न होने पर भी येन-केन-प्रकारेण धनोपार्जन को श्रीमद्भागवत में दण्डनीय चोरी का अपराध बताया गया है –

यावद्भ्रियते जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनः।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति॥

मूल तथा अनुवाद

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

और जो ये सात्त्विक, राजस और तामसिक भाव हैं, उन सबको मुझ से ही उत्पन्न होने वाला जानो। परन्तु वास्तव में न उनमें मैं हूँ, न वे मेरे में हैं॥१२॥

विपुल-भाष्य

प्रकृति का अतिक्रमण करें

अब तक जहाँ–जहाँ श्रीकृष्ण ने अपना अस्तित्व बताया वे सभी पदार्थ पवित्र थे, सात्त्विक थे। चन्द्र और सूर्य में प्रभा, वेदों में प्रणव, तपस्वियों में तप, तेजस्वियों में तेज – ये सभी भाव सात्त्विक हैं। इससे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि सात्त्विक भाव तो भगवद्रूप हैं किन्तु राजस और तामस भाव भगवान् से भिन्न है; वस्तुतः ऐसा नहीं है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अब तक गिनाए गए जितने सात्त्विक भाव हैं तथा जो अन्य भी सात्त्विक भाव हैं वे सब और जो राजस तथा तामस भाव हैं वे सब भी भगवान् पर ही आश्रित हैं। किन्तु न मैं उनमें हूँ, न वे मेरे में हैं –

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

अर्जुन युद्ध को हिंसात्मक जान कर उसे तामसी भाव मान कर छोड़ना चाहता था और भिक्षाचर्या का सात्त्विक जीवन जीना चाहता था। इतने मात्र तक वह नैतिकता की बात कर रहा था। किन्तु उसकी दृष्टि में अभी वह परम तत्त्व नहीं आया था जिसमें नैतिकता और अनैतिकता दोनों समान हो जाते हैं। सभी धार्मिक पुरुष नैतिक तो होते ही हैं किन्तु सभी नैतिक पुरुष धार्मिक नहीं होते। धर्म में साक्षिभाव है, कर्तृत्व का अहंकार नहीं। नैतिकता में कर्तृत्त्व का अहंकार नहीं छूटता। जो केवल नैतिक है उसकी दृष्टि यह रहती है कि मैंने राजस और तामस को छोड़ दिया और सात्त्विक को ग्रहण कर लिया। यह भाव उसमें एक अहंकार जगा देता है।

राजस और तामस भाव

धार्मिक व्यक्ति यह जान लेता है कि राजस और तामस भाव भी उसी प्रकार भगवद्रूप है जिस प्रकार सात्त्विक भाव। ऐसा ज्ञान हो जाने पर जहाँ एक ओर सात्त्विकता की अहंकार ग्रन्थि नहीं रहती, वहाँ अपने में ही रहने वाले राजस और तामस भावों की हीनता ग्रन्थि भी नहीं रहती। दूसरा फल यह होता है कि सत्त्व के परिणाम सुख और रजोगुण के परिणाम दुःख में समता भाव आ जाता है क्योंकि ये दोनों ही भगवान् के ही रूप हैं। इस प्रकार ज्ञान में तो शुभ-अशुभ दोनों के प्रति समानता की दृष्टि रहती है किन्तु आचरण में पालन शुभ का ही होता है क्योंकि सबको भगवद्रूप को जान लेने पर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो सकता। भगवान् की आज्ञा सदा शुभ की है, अशुभ की नहीं। भगवान् की ऐसी आज्ञा का कारण यह है कि यद्यपि परमार्थतः शुभ और अशुभ समान हैं; तथापि व्यवहार में शुभ का ही अनुसरण करना श्रेयस्कर है क्योंकि शुभ स्व, पर दोनों के लिए सुखकर हैं; अशुभ दोनों के लिए दुःखदायी है।

प्रस्तुत श्लोक में पहले कही गई इस बात का ही विस्तार है कि सम्पूर्ण जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है। जगत् त्रिगुणात्मक है। अतः चाहे यह कहो कि जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है चाहे यह कहो कि तीन गुण भगवान् से उत्पन्न होते हैं – एक ही बात है। जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है। किन्तु जगत् के सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं जबकि भगवान् अविनाशी हैं। अतः दोनों में अन्तर है। इसीलिए कहा गया कि न भगवान् तीन गुणों में है न तीन गुण भगवान् में हैं। यदि भगवान् तीन गुणों में होते तो त्रिगुणात्मक जगत् का नाश होने पर भगवान् का भी नाश हो जाता और यदि त्रिगुणात्मक जगत् भगवान् में होता तो जिस प्रकार भगवान् अविनाशी हैं जगत् भी अविनाशी होता।

सभी भगवान् पर आश्रित

साधक के समझने की बात यह है कि जब सभी सात्त्विक, राजस व तामस भगवान् पर आश्रित हैं, तो यह महत्त्व इन भावों को न देकर भगवान् को दे, जो भगवान् से जुड़ जाता है, उसके ये भाव तो स्वतः ही वश में हो

जाते हैं क्योंकि भगवान् इन सबका प्रभव अर्थात् प्रभु है। जैसे कोई व्यक्ति स्वामी की चिन्ता किए बिना उसके नौकर-चाकरों को खुश करके ही अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहे तो सफल नहीं हो पाएगा क्योंकि नौकर-चाकर चाहे कितने भी प्रसन्न हो जाएँ, स्वामी की आज्ञा के बिना कुछ नहीं कर सकते। इसके विपरीत यदि कोई स्वामी को खुश कर ले तो नौकर-चाकर यह जान कर कि यह हमारे स्वामी का कृपा पात्र है – स्वयं ही उसका कार्य सम्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार स्वामी तो परमात्मा है, प्रकृति उसकी अनुचरी है। यदि परमात्मा को प्रसन्न कर लिया जाए तो प्रतिकूल फल देने वाले राजस, तामस भाव स्वतः ही भाग जाते हैं और अनुकूल फल देने वाला सात्त्विक भाव स्वतः उपस्थित हो जाता है, किन्तु जो परमात्मा में अपने चित्त को नहीं लगाता और प्रकृति में ही उलझा रहता है, उसके राजस और तामस भाव नष्ट होते नहीं और सात्त्विकता भी उसमें नहीं आती।

देखने में आता है कि साधक बहुत प्रयत्न करता है किन्तु यह अशुभ को छोड़ नहीं पाता और शुभ को ग्रहण नहीं कर पाता। बार-बार संकल्प करने पर भी वह उन्हीं अशुभ भावों में फँस जाता है जिन्हें वह छोड़ना चाहता है। इसका कारण यह है कि वह शुभाशुभातीत परमात्म से नहीं जुड़ पाता जो शुभ और अशुभ दोनों का नियंत्रण करने वाला है। उस भगवान् को जान लेने पर शुभ-अशुभ का द्वन्द्व मिट जाता है, और सर्वत्र ही भगवद्-दर्शन होने लगता है। यह समझना चाहिए कि गुण कार्य है, भगवान् कारण है। कारण नित्य है, कार्य अनित्य है। साधक जो सात्त्विक कार्य करता है, उनका उद्देश्य भी सात्त्विक कार्य करना नहीं है अपितु भगवद्प्राप्ति ही होना चाहिए।

हमारी कठिनाई यह है कि हम प्रकृति में इतने फँस गए हैं कि हमें परमात्मा नजर ही नहीं आते। प्रकृति दृश्य है, परमात्मा अदृश्य है। प्रकृति कार्य है, परमात्मा कारण है। हमारी स्थिति उस व्यक्ति के समान है जो आभूषण के टूट जाने पर अपना सर्वनाश मान लेता है। वह यह नहीं जान पाता कि जिसका वास्तविक मूल्य है, वह स्वर्ण आभूषण के टूटने पर नष्ट नहीं होता। जहाँ तक आभूषण का प्रश्न है, उसे तो एक न एक दिन नष्ट होना ही होता है क्योंकि आभूषण कार्य है और कोई भी कार्य नित्य नहीं हो सकता। जहाँ तक स्वर्ण का प्रश्न है वह कारण है और नित्य है। जिसकी कारण पर दृष्टि है, वह सदा सुखी है। जो कार्य के मोह में पड़ा है उसे तो कार्य के नष्ट होने पर दुःखी होना ही होगा। जब हम प्रकृति में विचरण कर रहे होते हैं तो हम अनेकता में जी रहे होते हैं। जहाँ अनेक हैं वहाँ खण्ड है। खण्ड सदा अपूर्ण होते हैं। अपूर्णता में दुःख रहता है, भय रहता है, संकल्प और विकल्प रहता है। जब हम परमात्मा में जी रहे होते हैं तो हम अखण्ड में जी रहे होते हैं। वहाँ कोई पराया नहीं है। वहाँ एकत्व है। वहाँ कौन किस पर क्रोध करे, कौन किससे झूठ बोले, कौन किसकी चोरी करे और कौन किस पर अपना स्वामित्व जमाए अथवा किससे भयभीत हो, क्योंकि वहाँ कोई दूसरा है ही नहीं।

नैतिकता

परमात्मा के बिना केवल प्रकृति के आधार पर टिकने वाली नैतिकता अशुभ के विरुद्ध शुभ के संघर्ष पर टिकी है। ऐसी नैतिकता में सदा देवासुर संग्राम चलता रहता है जिस संग्राम में अधिकतर आसुरी भाव विजयी हो जाते हैं और दैवी भाव पराजित हो जाते हैं। किन्तु जो पाप-पुण्यातीत परमात्मा से जुड़ जाता है उसके जीवन में सात्त्विकता सहज भाव से आती है; इसके लिए उसे संघर्ष नहीं करना पड़ता। वस्तुतः परमात्मा का मार्ग संघर्ष का नहीं है, प्रार्थना का है, जबकि प्रकृति का मार्ग संघर्ष का है। संघर्ष में जय-पराजय दोनों हैं, किन्तु प्रार्थना में सदा जय ही है। हमारी प्रार्थनाएँ इसलिए विफल हो जाती हैं कि हम प्रार्थना को भी संघर्ष का रूप दे देते हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि हमें सफलता मिले, विफलता न मिले। ऐसी प्रार्थना कभी सफल हो भी सकती है और कभी विफल भी होगी क्योंकि जीवन तो सफलता-विफलता का जोड़ है; उसमें केवल सफलता ही रहे – यह सम्भव नहीं है। प्रार्थना का अर्थ है – समर्पण। प्रभु की जो इच्छा हो हम उसी में खुश हैं – यदि प्रार्थना का यह अर्थ लिया जाए तो प्रार्थना कभी विफल नहीं हो सकती।

मूल तथा अनुवाद

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

त्रिगुणात्मक भावों से यह सारा संसार भ्रमित है, इन सबसे परे मुझ अव्यय को वह नहीं जानता॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

मेरी यह दैवी गुणमयी माया दुस्तर है। जो मेरी ही शरण में आ जाते हैं वे (ही) इस माया को तर सकते हैं॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥१५॥

माया के द्वारा जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है, आसुरी प्रवृत्ति को धारण करने वाले ऐसे पापी, मूढ, नीच मनुष्य मुझे नहीं भजते॥१५॥

विपुल-भाष्य

त्रिगुणमयी माया

भगवान् सर्वव्यापक हैं फिर भी हम उन्हें नहीं जान पाते क्योंकि हम त्रिगुणात्मक माया से मोहित हैं। मोह का जाल बहुत व्यापक है। केवल रजोगुण और तमोगुण ही मोहित नहीं करते, सत्त्व गुण भी मोहित करता है। जिस प्रकार तामसी व्यक्ति आलस्य अथवा प्रमाद में फँसा रहता है अथवा राजसी व्यक्ति रात-दिन की भाग–दौड़ में अपने आपको भूले रहता है उसी प्रकार सात्विक व्यक्ति भी समाज-सेवा जैसे कार्यों को करते हुए इस अहंकार में फँसा रहता है कि वह बहुत अच्छा व्यक्ति है। इस प्रकार वह परमात्मा को नहीं जान पाता क्योंकि परमात्मा तो इन तीनों गुणों से परे हैं –

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

गुणों का अपना आकर्षण है। वह आकर्षण मन को पकड़ लेता है। मन उस आकर्षण से सम्मोहित होकर मूर्च्छित अवस्था में काम करता रहता है और सत्य को नहीं जान पाता। माया का प्रभाव ऐसा है कि मनुष्य शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, इन सब में तो भटकता रहता है किन्तु उसकी तरफ उसका ध्यान नहीं जाता जो इन सबसे परे है।

आत्मा और शरीर

अर्जुन भी युद्धभूमि में अपने सम्बन्धियों के मोहवश युद्ध से विरत होकर भिक्षाचार्य को उत्तम समझ रहा था। किन्तु भिक्षाचर्या करने मात्र से कोई गुणातीत स्थिति को प्राप्त नहीं हो जाता। अर्जुन का सारा शोक इस बात का था कि युद्ध में उसे अपने सम्बन्धियों को मारना होगा। श्रीकृष्ण ने उसे याद दिलाया कि मरता शरीर है, आत्मा नहीं। अपने को शरीर मान लेना अहम्भाव है और शरीर को अपना मान लेना ममता है। ये दोनों ही भाव मनुष्य को सम्मोहित करते हैं जिसके कारण मनुष्य शरीर के मरने पर अपना मरना और शरीर के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझ लेता है। मोहित होने का अर्थ है जो जैसा नहीं है, उसे वैसा मान लेना। वस्तुतः ज्ञान का स्वभाव जानना है। हम ज्ञान रूप ही हैं। परिवर्तन प्रकृति में होता है हम उस परिवर्तन को जानते तो हैं किन्तु उस परिवर्तन के साथ स्वयं परिवर्तित नहीं होते। जैसे ही हम प्रकृति के साथ अपना तादात्म्य भाव छोड़ कर साक्षिभाव में आते हैं वैसे ही माया

का पर्दा हम पर से हट जाता है। किन्तु यह माया बड़ी दुस्तर है। इसे केवल वे ही पार कर पाते हैं जो भगवान् की शरण में आ जाएँ –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

भगवान् ने कहा कि माया उनकी है। इसलिए माया में भी कम शक्ति नहीं है। वस्तुतः माया का दूसरा नाम ही शक्ति है। कोई प्रकृति से लड़ कर जीत नहीं सकता। यदि हमें सुख मिलता है तो हमें यह भ्रम हो जाता है कि हमने प्रकृति को अपने अनुकूल बना लिया। किन्तु वह सुख सदा बना नहीं रहता और जब दुःख आता है तो हमें पता चलता है कि हम प्रकृति से हार गए। वस्तुस्थिति यह है कि जो प्रकृति से उलझा वह तो सदा हारता ही है। जीतता तो केवल वह है जो परमात्मा की शरण में आ जाता है। वस्तुतः हम जिसे जीत-हार समझते हैं उनका सम्बन्ध त्रिगुणात्मक प्रकृति से है। गुणातीत परमात्मा तो ऐसी जीत-हार से परे हैं –

परमात्मा की ही शरण

श्रीकृष्ण ने कहा कि जो परमात्मा की ही शरण में रहता है वह माया से छूट जाता है। परमात्मा की शरण में जाने वाले ऐसे बहुत से साधक हैं जो परमात्मा की शरण के साथ-साथ धन, दौलत और भाई-बन्धुओं का सहारा भी लिए रहते हैं। वे परमात्मा की उपासना भी इसलिए करते हैं कि उनका योगक्षेम बना रहे। उनके लिए परमात्मा साध्य नहीं होता, अपितु लौकिक सुख-सुविधा प्राप्त करने का केवल एक साधन होता है। इसे परमात्मा की शरण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः तो हम मन में लौकिक पदार्थों को ही अपनी शरण मान बैठे हैं। जब कोई लौकिक पदार्थ हम से छूट जाता है तो हम सोचते हैं कि हम परमात्मा की उपासना करते थे, फिर हमें दुःख क्यों मिला? माया के सम्मोहन के कारण हम यह समझ नहीं पाते कि हम परमात्मा की नहीं, बल्कि संसार की उपासना कर रहे थे। अतः दुःख होना स्वाभाविक था।

तर्क द्वारा निर्णय किए जा सकते हैं। बुद्धि द्वारा योजनाएँ बनाई जा सकती हैं और बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी जा सकती हैं लेकिन उन सब योजनाओं को क्षण भर में धूल धूसरित कर देना प्रकृति के बाएँ हाथ का खेल है। जब हमारी एक योजना सफल नहीं होती तो हम समझते हैं योजना में कोई कमी थी, हम दूसरी योजना और भी अधिक सावधानी के साथ बनाते हैं। किन्तु हम यह नहीं समझ पाते कि योजना बनाने वाली बुद्धि भी प्रकृति है। व्यक्ति की बुद्धि समष्टि की प्रकृति के सामने बहुत कमजोर है। इसलिए हम प्रकृति को उससे लड़ कर कभी भी नहीं जीत सकते।

सुख और दुःख, चक्र के अरे की भाँति है। चक्र का अरा ऊपर की तरफ चलता है तो लगता है कि उन्नति हो रही है। किन्तु कोई अरा सदा ऊपर की ओर नहीं चलता, एक सीमा के बाद, उसे नीचे की ओर आना ही होता है। अभिप्राय यह है कि माया के क्षेत्र में एक सम्मोहन है। जब हम ऊपर जा रहे होते हैं तो खुश होते हैं और जब नीचे आ रहे होते हैं तो फिर ऊपर जाने की योजनाएँ बना रहे होते हैं।

माया में डूबे हुए मनुष्यों का वर्णन करने के लिए श्रीकृष्ण ने बहुत कठोर शब्दों का उपयोग किया है। कहा कि जो भगवान् की शरण में नहीं जाते वे पापी हैं, अधम हैं और आसुरी वृत्ति में रहने वाले हैं –

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

यहाँ एक शब्द का प्रयोग हुआ – दुष्कृत। इसका शाब्दिक अर्थ है – कठिन कार्य। वैसे इस शब्द का प्रयोग पाप के लिए होता है। लगता हमें यह है कि पाप करना बहुत सरल है और पुण्य करना बहुत कठिन है। सच यह है कि पाप करना बहुत कठिन है। हम पेड़ की जिस शाखा पर बैठे हैं, उसे ही काटें – यह सरल कार्य नहीं है; क्योंकि पेड़ की शाखा जैसे ही कटेगी हम स्वयं ही नीचे गिरेंगे, कोई और नहीं। यह जानते हुए भी कि पेड़ की शाखा काटना बहुत दुष्कर कार्य है। हममें से अधिकतर लोग यह जानते हैं कि पाप से दुःख होगा, फिर भी हम पाप किए जाते हैं।

इसलिए पापी को यहाँ मूढ कहा गया है। जिस शाखा पर हम बैठे हैं, उसे काटेंगे तो गिर पड़ेंगे – यह जानने के लिए बहुत बुद्धि की आवश्यकता नहीं है। लेकिन बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी ऐसी मूढता में पड़े हैं कि पाप को बुरा जानते हैं किन्तु फिर भी वे मूढतावश पाप किए जाते हैं। रावण कुछ क्रम बुद्धिमान् नहीं था, बल्कि अपने समय का जाना-माना विद्वान् था। फिर भी मूढता में पड़ कर वह आज आसुरी भाव का प्रतिनिधि बना हुआ है।

माया और ज्ञान

माया ज्ञानहीन होती है। ज्ञान के बिना किया गया कोई भी कर्म विपरीत फल ही देता है। अज्ञानी परमात्मा से भी माँगता है तो भोग-विलास की वह सामग्री, जो परमात्मा से दूर ले जाती है। इससे बड़ी मूढता और क्या हो सकती है कि हम परमात्मा से उसकी भक्ति न माँगें, संसार के भोग माँगें, किन्तु अधिकतर यही होता है। जहाँ से अमृत मिल सकता है वहाँ से कोई विष माँग लाए तो उसे नराधम न कहा जाए तो क्या कहा जाए?

असुर का अर्थ है जो प्राणों के पोषण में लगा है, भोगों से प्राण का पोषण होता है इसलिए भोगों की इच्छा करने वाले को गीता में आसुरी भाव का आश्रय लेने वाला बताया गया है।

मूल तथा अनुवाद

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥१६॥

हे अर्जुन! मुझे चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग भजते हैं – आर्त, जिज्ञासु, भोगार्थी तथा ज्ञानी॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥१७॥

उनमें मुझसे नित्य संयुक्त, अनन्य भक्त तथा ज्ञानी उत्तम हैं, ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे (अत्यन्त) प्रिय है॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

(यूँ तो) ये सभी महान् हैं किन्तु इनमें ज्ञानी तो मेरी (साक्षात्) आत्मा ही है। वह मुझसे जुड़कर अत्युत्तम गति रूप मुझमें ही स्थित रहता है॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

ज्ञानी अनेक जन्मों के बाद 'यह सब कुछ वासुदेव ही है' इस भाव के साथ मुझे भजता है। ऐसा महात्मा दुर्लभ है॥१९॥

विपुल-भाष्य

चार प्रकार के भक्त

एक ओर वे लोग हैं जो माया से सम्मोहित हैं अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् के तीन गुणों में ही भटकते रहते हैं और गुणातीत भगवान् की ओर जिनका ध्यान ही नहीं जाता है। ऐसे लोग दुष्कृत हैं, मूढ हैं। दूसरी ओर कुछ लोग सुकृत भी हैं जो अपने आपको भगवान् से जोड़ते हैं। भगवान् का भजन करने वाले ये लोग भी चार भागों में बँटे हैं –

(१) कुछ लोग दुःख में भगवान् का भजन करते हैं। दुःख में भी भगवान् का भजन करने वाले व्यक्ति दो प्रकार के हैं। एक तो वे हैं जो केवल भगवान् का सहारा लेते हैं और दूसरे वे हैं जो भगवान् का सहारा लेने के साथ-साथ दूसरे उपाय भी बरतते हैं।

(२) दूसरी कोटि के वे लोग हैं जो भगवान् के स्वरूप को जानना चाहते हैं इसलिए भगवान् का भजन करते हैं। दार्शनिक इसी कोटि में आते हैं।

(३) तीसरी कोटि उनकी है जो सांसारिक सुख भोगों की इच्छा से भगवान् का भजन करते हैं। आर्त्त भक्तों के समान ये भक्त भी दो भागों में बँटे हैं। एक वे जो भगवत् भजन के साथ अन्य सांसारिक उपाय भी बरतते हैं, दूसरे वे जो केवल भगवान् की उपासना द्वारा सुख-वैभव चाहते हैं।

(४) चौथे प्रकार के भक्त वे हैं जो ज्ञान के कारण भगवान् की भक्ति करते हैं। ज्ञानी को तो भगवान् के अतिरिक्त कहीं कुछ और दिखाई ही नहीं देता इसलिए उनके पास भगवत्-भक्ति के अतिरिक्त और कोई विकल्प होता ही नहीं है। ज्ञानी की भगवत्-भक्ति अकारण हैं। दुःखी व्यक्ति का दुःख भगवत्-भक्ति से दूर हो सकता है, जिज्ञासु को ज्ञान मिल सकता है और भोगों की इच्छा करने वाले को भोग प्राप्त हो सकते हैं।

ज्ञानी की भक्ति

प्रश्न होता है कि ज्ञानी को क्या मिलता है? उत्तर है कि ज्ञानी को भगवान् का प्रेम प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि भगवान् की भक्ति करने वाले लोग उपर्युक्त चार प्रकार के हैं तथापि शेष तीन प्रकार के भक्त तो किसी कारणवश भक्ति करते हैं और उस कारण के समाप्त हो जाने पर उनकी भक्ति भी समाप्त हो जाती है, किन्तु ज्ञानी की भक्ति क्योंकि अकारण है इसलिए वह नित्य बनी रहती है। दूसरे अन्य प्रकार के भक्त तो भक्ति के अलावा दूसरे सहारे भी लेते रहते हैं किन्तु ज्ञानी केवल भक्ति का ही सहारा लेता है –

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुनः।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभः॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

यहाँ जिस चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख है उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। जिज्ञासु और ज्ञानी एक कोटि में आते हैं, आर्त्त और अर्थार्थी दूसरी कोटि में आते हैं। जानने की इच्छा रखना और जानना एक ही प्रक्रिया के दो भाग हैं। इसी प्रकार दुःख से छूटना और सुख प्राप्त कर लेना भी एक ही प्रक्रिया के दो भाग हैं। इन दोनों कोटियों में अन्तर यह है कि जिज्ञासा के अनन्तर ज्ञान हो जाने पर साधक तो कृतकृत्य हो जाता है, किन्तु एक सुख मिलने पर मनुष्य तृप्त नहीं होता अपितु उसमें नए सुख की इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

ज़िज्ञासु अधूरेपन का अनुभव करता है किन्तु ज्ञानी पूर्णता का अनुभव करता है। ज्ञान में और परिचय में अन्तर है। परिचय बाहरी होती है, ज्ञान अन्तरंग होता है। इस पर भी भगवान् का ज्ञान इतना अन्तरङ्ग होता है कि जो भगवान् को जानता है वह भगवान् ही हो जाता है। ऐसा होने का कारण यह है कि वस्तुतः जानने वाला ही तो स्वयं भगवान् है। फिर ज्ञानी में और भगवान् में द्वैत कैसे रह सकता है? ऐसी स्थिति में ज्ञान और प्रेम का एक ही अर्थ होता है, क्योंकि न ज्ञान में द्वैत रहता है, न प्रेम में द्वैत रहता है। इसलिए श्लोक में ज्ञानी को भगवान् अपना प्रिय बताते हैं। प्रेम की स्थिति माँगने की स्थिति नहीं है। इसलिए ज्ञानी आर्त्त और अर्थार्थी से भिन्न है। आर्त्त भक्त दुःख से छुटकारा चाहता है, अर्थार्थी सुख चाहता है। ये दोनों याचक हैं, इसलिए इनकी भक्ति स्वार्थ-पूर्ण है। ये यह दावा नहीं कर सकते कि ये भगवान् से प्रेम करते हैं क्योंकि प्रेमी कोई माँग नहीं कर सकता।

प्रेम का लक्षण

प्रेम का एक दूसरा कारण है कि हम जिससे प्रेम करते हैं उससे कुछ छिपाते नहीं हैं। ज्ञानी भगवान् से कुछ नहीं छिपाता है। अज्ञानी भगवान् से भी छिपा लेता है। जब हम पाप कर रहे होते हैं तो हमारे मन में यही विश्वास

रहता है कि हम अपने पाप को भगवान् से भी छिपा सकते हैं। यदि हमारे मन में यह विश्वास हो कि हम अपने पाप को भले ही संसार से छिपा लें पर भगवान् से नहीं छिपा सकते, तो हम पाप कर ही नहीं सकेंगे। क्योंकि यदि भगवान् ने जान लिया तो कोई और जान पाए या न जान पाए, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। लेकिन तब भी हम अपने आपको सारे संसार से छिपाने का प्रयत्न करते रहते हैं। हम प्रतिक्षण होते कुछ और हैं और दूसरों को दिखाते कुछ और हैं। मन में सोचते कुछ और हैं और बोलते कुछ और हैं। यही हमारे व्यक्तित्व का दोहरापन है। ज्ञानी यह जानता है कि भगवान् को तो सब कुछ पता ही है तो और लोगों से छिपाने का क्या लाभ है। इसलिए वह किसी से कुछ नहीं छिपाता अर्थात् उसका व्यक्तित्व दोहरा नहीं होता। गीता में ऐसे व्यक्ति को युक्तात्मा कहा है अर्थात् जिसकी आत्मा अखण्ड है। ऐसा नहीं है कि वह घर में कुछ और है और बाहर कुछ और है। अयुक्तात्मा क्षण-क्षण में बदलता है। आज वह किसी से प्रेम कर सकता है तो कल वह किसी से घृणा कर सकता है। आज उसका प्रेम जितना प्रगाढ़ है कल उसकी घृणा भी उतनी ही तीव्र हो सकती है। ऐसा व्यक्ति परिस्थिति का दास है। आज उसके पास पैसे हैं तो वह प्रसन्न है, कल उसके पास पैसे न हों तो वह दुःखी हो जाएगा अर्थात् उसका दुःख-सुख पराधीन है। न उसका सुख अपना है, न दुःख।

स्पष्ट है कि यह व्यक्ति परिस्थिति के अनुसार बदलता है किन्तु परमात्मा तो बदलते नहीं। ज्ञानी भी नहीं बदलता। इसलिए दुःख से छुटकारा पाने के लिए और सुख को प्राप्त करने के लिए भगवान् का भजन करने वाले भी भले ही भक्त कहलाएँ लेकिन ज्ञानी तो भगवान् की अपनी आत्मा ही है –

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।

ज्ञानी तो भगवत् स्वरूप है ही लेकिन विशेष बात यह है कि ज्ञानी को अन्य सब भी भगवद्रूप प्रतीत होते हैं। वस्तुस्थिति भी यही है कि सब भगवद्रूप हैं ही किन्तु यह समझ केवल मनुष्य योनि में ज्ञानी को ही प्राप्त होती है। ऐसा ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है –

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।

यहाँ मनुष्य जन्म को अन्तिम जन्म बताया है अर्थात् सभी योनियों में यह योनि सर्वोत्कृष्ट है। पशु-पक्षी आदि में तो भगवत् प्राप्ति की सामर्थ्य ही नहीं होती और देवयोनि में इतने अधिक भोग रहते हैं कि जीव उनमें डूबा रहने के कारण भगवद्-प्राप्ति का प्रयत्न ही नहीं करता।

मनुष्य योनि में भी यदि शास्त्र का स्वाध्याय करने को मिल जाए तो यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् ने आत्मोद्धार का पूरा अवसर दिया है। समझने की आवश्यकता यह है कि मनुष्य-योनि भोग-योनि नहीं है; अतः आयु को भोगों में न बिताया जाए।

संसार के प्रारम्भ में भगवान् थे, महाप्रलय के बाद भी भगवान् ही रह जाते हैं। जब आदि और अन्त में भगवान् ही हैं तो यह मानना पड़ेगा कि मध्य में भी वे ही हैं। अर्थात् आदि और अन्त के मध्य में जो संसार है वह भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही दृष्टि ज्ञान की है, यही दृष्टि भक्ति की है। जब सर्वत्र भगवद् दर्शन होने लगते हैं तो साधक आनन्द से भर जाता है।

ज्ञान मार्ग-भक्ति मार्ग

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि ज्ञान मार्ग अलग है और भक्ति मार्ग अलग है। स्वयं गीता की भी ज्ञानपरक और भक्तिपरक व्याख्याएँ अलग-अलग हुई हैं। विचार यह करना चाहिए कि जब स्वयं श्रीकृष्ण ज्ञानी को उत्तम भक्त मानते हैं तो ज्ञान और भक्ति को दो मार्ग जानना कहाँ तक उचित है? वैसे भी यदि ज्ञान और भक्ति को दो पृथक् तत्त्व माना जाए तो यह मानना होगा कि भक्ति में ज्ञान नहीं रहता। बहुत से विचारक ऐसा समझते भी हैं कि शङ्कराचार्य

प्रभृति तो ज्ञानमार्गी थे जिन्होंने ज्ञान द्वारा सिद्धि प्राप्त की और मीरा जैसे साधक भक्ति द्वारा सिद्धि को प्राप्त हुए। शङ्कराचार्य अथवा मीरा के बाह्याचरण में भले ही भिन्नता लगे किन्तु आन्तरिक अभिप्राय में कोई भिन्नता नहीं है। ये दोनों ही सांसारिक सुख भोगों के प्रति विमुख हैं। दोनों परम विरक्त हैं। दोनों का ही चित्त परम-तत्त्व में लीन है। दोनों ही न आर्त्त हैं, न अर्थार्थी, न जिज्ञासु। फिर दोनों को ही ज्ञानी भक्त कहने में कहाँ आपत्ति आती है? जो शङ्कराचार्य का शास्त्रोपदेश कर्म देख कर और मीरा का नृत्य-गान देख कर दोनों में भेद करना चाहते हैं वे दो म्यानों के आकार-प्रकार के भेद के आधार पर उन दोनों म्यानों के अन्दर रखी तलवार की समानता को नकारने की नासमझी कर रहे हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि जब हम बाहरी आचरण की समानता का दुराग्रह करते हैं और आन्तरिक भाव की अनदेखी कर देते हैं तो एक अनर्थकारी सम्प्रदायवाद का जन्म होता है। क्या शबरी और केवट तथा राजा जनक का बाह्य व्यवहार एक-सा हो सकता है? किन्तु क्या उनके बाह्य व्यवहार की विषमता के आधार पर उनके हृदय की निर्मलता से इनकार किया जाना चाहिए?

गीता ने तो इतनी व्यापक दृष्टि बरती कि आर्त्त अथवा अर्थार्थी को भी 'उदार' कहा है। सबकी भूमिका भिन्न-भिन्न होती है। इतना ही नहीं रुचि-वैचित्र्य के कारण कोई ऋजु मार्ग ग्रहण करता है तो कोई कुटिल मार्ग भी ग्रहण कर सकता है किन्तु जब तक उनका मन्तव्य एक है तब तक वे सब समान-धर्मा हैं –

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

इतनी व्यापक दृष्टि ही हमें सम्प्रदायवाद के विष से बचा सकती है।

मूल तथा अनुवाद

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥२०॥

भिन्न-भिन्न कामनाओं से जिनका ज्ञान अपहृत कर लिया गया है, ऐसे व्यक्ति अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न नियमों का पालन करके अन्य देवताओं को पूजते हैं॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥२१॥

जो-जो जिस-जिस देवता के स्वरूप का श्रद्धा से पूजन करना चाहता है मैं उसकी उसी देवता के प्रति श्रद्धा को अचल बना देता हूँ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥२२॥

वह व्यक्ति श्रद्धा से युक्त होकर उसी देवता की आराधना करता है और मेरे द्वारा विहित उन कामनाओं को प्राप्त भी कर लेता है॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

किन्तु उन मन्द-बुद्धियों का फल सान्त होता है। देवयाजी देवों को प्राप्त करते हैं तथा मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं॥२३॥

विपुल-भाष्य

कामनाओं का जाल

ज्ञान हमारा स्वभाव है। ज्ञान को कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ता। किन्तु हमारा ज्ञान हर लिया जाता है, इच्छाओं के द्वारा। ज्ञान सत्य को देखता है। जो जैसा है, वह सत्य है। किन्तु कामना जो जैसा है उसे वैसा नहीं देख पाती। कामना देखना चाहती है उसे जो जैसा होना चाहिए। सत्य यह है कि सभी संयोग अनित्य हैं। कोई कितना भी इष्ट हो, एक न एक दिन उसका संयोग समाप्त होने वाला है। ज्ञान इस सत्य को देख सकता है। किन्तु कामना कहती है कि इष्ट का वियोग कभी भी नहीं होना चाहिए। इसलिए वह हमारे इस सत्य के ज्ञान को ढक लेती है कि किसी भी संयोग का अन्त अवश्यम्भावी है – **संयोगा विप्रयोगान्ताः।**

सत्य छुपाती है कामना

कोई भी घटना ले लें। ज्ञान एक सत्य को दिखाएगा, किन्तु कामना उस सत्य को छिपा लेगी। मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी यह जानता है कि जो पैदा हुआ है वह मरेगा, किन्तु अपने आपको अत्यन्त बुद्धिमान् समझने वाले व्यक्ति भी यह मान बैठते हैं कि उन्हें मृत्यु कभी नहीं आएगी। ऐसा इसलिए होता है कि इस सत्य को कि मृत्यु अवश्यम्भावी है यह कामना ढक लेती है कि हमारी मृत्यु कभी न हो। मैं कभी न मरूँ, यह कामना तो बड़ी कामना है। छोटी-छोटी कामनाएँ भी ज्ञान को ढक लेती हैं। बाजार में किसी चीज को खरीदने की इच्छा पैदा हो जाए तो वह इच्छा हमारे इस ज्ञान को ढक देती है कि हमारे पास उस चीज़ को खरीदने के लिए पैसे नहीं हैं और तब वह इच्छा हमें पतन की ओर ले जाती है। उस चीज को खरीदने के लिए हम अनुचित ढंग से धन प्राप्त करने में लग जाते हैं। ऐसा न भी हो तो वह इच्छा हमारे सुख में तो बाधा डालती ही है। खाते-पीते, सोते-बैठते हम किसी चीज का पूरा आनन्द नहीं ले पाते क्योंकि वह इच्छा हमें उस वैभव को देखने भी नहीं देती जो परमात्मा की कृपा से हमारे चारों ओर बिखरा हुआ है। हम किसी इच्छा की पूर्ति के लिए उचित-अनुचित सब प्रकार के साधन बरतते हैं। फिर भी आवश्यक नहीं है कि वह इच्छा पूरी हो ही जाए। मान लो एक इच्छा पूरी हो भी जाए तो दूसरी अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार इच्छाओं का यह जाल हमें कभी सत्य का दर्शन नहीं होने देता। सबसे बड़ा सत्य तो यह है कि हम ब्रह्म रूप हैं, परिपूर्ण हैं। इस सत्य को जानने के लिए किसी कर्म-काण्ड अथवा उपासना की आवश्यकता नहीं। यह सत्य हमें सहज ही उपलब्ध है, किन्तु इच्छाओं का जाल इस सत्य को ढके हुए है। श्रुति ने इच्छाओं के जाल को सोने का ढक्कन कहा है जो सत्य के मुख को आवृत्त किए रहता है – **हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।**

जैन परम्परा में इसी तथ्य को दूसरी तरह कहा गया है कि परिग्रह मूर्च्छा है। परिग्रह पदार्थ का नाम नहीं, परिग्रह पदार्थ के प्रति आसक्ति का नाम है। यह आसक्ति साधक को मूर्च्छित कर देती है। मूर्च्छित व्यक्ति सत्य को कैसे जान सकता है? कामना हमें केवल संसार में ही नहीं भटकाती धर्म के क्षेत्र में भी मार्ग से च्युत कर देती है। धर्म का लक्ष्य है परमात्मा की प्राप्ति। परमात्मा की प्राप्ति के लिए इच्छाओं को छोड़ना आवश्यक है। किन्तु जब हम धर्म को भी इच्छाओं की पूर्ति का साधन बना लेते हैं तो धर्म का वास्तविक उद्देश्य हमसे चूक जाता है। धर्म के क्षेत्र में अनेक देवी-देवता हैं जिनसे हम अपनी लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करते हैं; यदि हमारी प्रार्थना पूरी न हो तो निराशा हमारे हाथ लगती ही है किन्तु यदि हमारी प्रार्थना पूरी हो भी जाए तो परमात्मा की प्राप्ति होना तो दूर परमात्मा की प्राप्ति में बाधक इच्छाओं का आवरण और भी अधिक घना हो जाता है। प्रश्न होता है कि क्या देवताओं की उपासना करने से सचमुच अभीष्ट फल मिल सकता है? स्थिति यह है कि श्रद्धापूर्वक आराधना करने से फल मिल तो सकता है, किन्तु वह फल उतना ही मिलेगा जितना भगवान् के द्वारा दिए गए विधान में विहित है। भगवान् की इच्छा के बिना देवता भी कोई फल नहीं दे सकते। इसीलिए देवराधना कभी फल देती भी है और कभी फल नहीं भी देती। इसलिए सांख्य दर्शन में कहा गया कि जिस प्रकार लौकिक साधन कभी सफल होते हैं और कभी सफल नहीं भी होते हैं, उसी प्रकार शास्त्रोक्त साधन भी कभी इष्टफल दे पाते हैं और कभी इष्ट फल नहीं भी दे पाते – **दृष्टवदानुश्रविकः।**

साधनों में अन्तर

लौकिक साधनों में और शास्त्रोक्त साधनों में एक अन्तर अवश्य है। लौकिक साधनों में मूर्च्छित करने के लिए दिए जाने वाले क्लोरोफॉर्म का उदाहरण लें। क्लोरोफॉर्म लेने पर व्यक्ति मूर्च्छित हो ही जाता है इसके लिए उसे ऐसी किसी श्रद्धा की आवश्यकता नहीं होती कि मैं क्लोरोफॉर्म लेने पर मूर्च्छित हो जाऊँगा। वह कितना भी अविश्वास क्यों न करे, मूर्च्छित हो ही जाता है। ऐसे उपायों को साँख्य दर्शन में दृष्ट उपाय कहा गया है। अर्थात् उनका फल प्रत्यक्ष गोचर है। उसमें श्रद्धा की आवश्यकता नहीं। किन्तु देवाराधना ऐसा दृष्ट उपाय नहीं, वह आनुश्रविक अर्थात् शास्त्रोक्त उपाय है। श्रद्धा होने पर ही वह फल देता है। जैसी दृष्टि हमारी दृष्ट उपायों के प्रति है कि भोजन करने से हमारी भूख शान्त हो जाएगी, जब वैसी ही दृष्टि हमारी शास्त्रोक्त उपायों के प्रति होती है कि मन्त्र का जप करने से बाधा दूर हो जाएगी तब ऐसी दृष्टि को श्रद्धा कहा जाता है। यदि भगवान् के विधान में विहित हो और हमारी श्रद्धा हो तो देवोपासना अपना फल देती है किन्तु देवोपासना से जो फल मिलता है प्रथम तो वह फल क्षणभंगुर है; दूसरे, एक फल के मिल जाने पर कोई ऐसी तृप्ति नहीं होती कि फिर दूसरे फल की इच्छा उत्पन्न न हो। इसलिए देवोपासना के द्वारा कामनाओं की पूर्ति करने वाले व्यक्ति को गीता ने मन्द-बुद्धि कहा है।

कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा आती है। पिता के शाप से अभिशप्त होकर वह यमराज के यहाँ पहुँचा। यमराज ने उससे वरदान माँगने को कहा। नचिकेता ने यह जानना चाहा कि मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है? यमराज ने कहा कि हे नचिकेता तू कुछ भी माँग ले, पर यह प्रश्न मत पूछ। यमराज ने नचिकेता के सामने उन सब पदार्थों को लेने का प्रस्ताव रखा जिन पदार्थों की कामना मन्द-बुद्धि व्यक्ति देवताओं से किया करता है। धन, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े और दीर्घायु, इन सबका प्रस्ताव यमराज ने नचिकेता के सामने रखा। किन्तु नचिकेता ने एक ही प्रश्न किया कि क्या ये पदार्थ सदा बने रहेंगे? यमराज को कहना पड़ा कि इनमें कोई भी पदार्थ सदा बना रहने वाला नहीं है। नचिकेता ने कहा कि जो आज है कल नहीं है, ऐसे पदार्थ को लेकर मैं क्या करूँगा। मुझे अमृतत्त्व का ज्ञान दो।

परमात्म-तत्त्व

सदा बना रहने वाला तो केवल परमात्म-तत्त्व ही है। इसलिए श्रीकृष्ण ने कहा कि जो साधक सब कामनाओं को छोड़ कर परमात्मा का भजन करता है वही परमात्म-तत्त्व को प्राप्त कर सकता है। जहाँ तक कामनाओं का प्रश्न है वे तो विधि के विधान के अनुसार पूरी होती भी हैं और पूरी नहीं भी होती हैं। फिर सकाम देवोपासना के द्वारा उन कामनाओं में अपने को उलझा देना कोई विशेष फल तो देता नहीं, किन्तु परमात्मा की प्राप्ति में बाधक अवश्य बन जाता है –

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

हम मन्द बुद्धि न बनें। केवल तात्कालिक सुख को न देखें। तात्कालिक सुख के पीछे शाश्वत सुख को न खो दें। दूर-दृष्टि बनें। देवोपासना करें किन्तु माँगे केवल भगवद्भक्ति, कोई लौकिक सुख-भोग नहीं।

मूल तथा अनुवाद

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥

मूढ़ लोग मुझे समझते हैं कि अव्यक्त व्यक्त भाव को प्राप्त हो गया हूँ क्योंकि वे मेरे श्रेष्ठ अव्यय भाव को नहीं ज़ानते॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥

योग माया से ढका हुआ मैं सबको प्रकट नहीं होता। मूढ मनुष्य मुझमें अजन्मा अव्यय को नहीं पहचानते॥२५॥

विपुल-भाष्य

व्यक्त और अव्यक्त

गीता में जहाँ भी उत्तम पुरुष अर्थात् मैं, मुझको आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है वहाँ वे शब्द उस अव्यय पुरुष के लिए आए हैं, जो निर्विकार, अजन्मा, निर्मल और लोकातीत है। किन्तु ऐसा अव्यय पुरुष भी व्यक्त रूप धारण करके अवतार ले लेता है। अवतार लेने पर वह अस्मदादि सामान्य मनुष्यों के समान ही दिखाई पड़ता है। जो नासमझ होते हैं वे ऐसे अवतारी पुरुष के शरीर को तो देखते हैं किन्तु उसके अव्यय रूप को नहीं समझ पाते –

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

जीव मात्र भगवान का अंश

वस्तुस्थिति यह है कि जीव मात्र भगवान् का अंश है। गीता ने स्पष्ट कहा है कि जहाँ भी कोई विभूति है अथवा तेजस्विता है, वह भगवान् का ही अंश है। इस दृष्टि से बुद्धिमत्ता अथवा समझदारी की बात यह है कि हम श्रीकृष्ण में तो क्या, प्राणि-मात्र में अविनाशी सच्चिदानन्द रूप परमात्मा का दर्शन कर सकें। किन्तु नासमझ लोगों को केवल मूर्त शरीर दिखता है, उसमें छिपा हआ परमात्म-तत्त्व नहीं। सच यह है कि भौतिक स्तर पर भी अदृश्य ही दृश्य बनता है। अरणि में अग्नि अदृश्य रूप में रहती है। मंथन करने पर वही दृश्य बन जाती है। इसी प्रकार परमाणु अदृश्य है। पंचभूत के रूप में वह दृश्य बन जाता है। जगत् परमात्मा का दृश्यरूप है। शरीर जीवात्मा का दृश्यरूप है।

दृश्यरूप इन्द्रिय गोचर है। इसलिए वह नासमझों को भी दिखाई देता है। किन्तु उन्हें अदृश्य दिखाई नहीं देता। इस कारण वे दृश्य से तो जुड़ जाते हैं किन्तु अदृश्य को नहीं देख पाते। यही उनके दुःख का कारण बन जाता है, क्योंकि दृश्य नश्वर है। नश्वर पदार्थ से भले ही क्षणिक सुख मिल जाए किन्तु शाश्वत आनन्द की प्राप्ति तो अदृश्य पर ध्यान केन्द्रित करने पर ही सम्भव है। अदृश्य दृश्य कैसे बनता है इसकी प्रक्रिया योगमाया में निहित है। जब अदृश्य, जो कि अपरिमित है, माया से परिमित होता है तो वह दृश्य बन जाता है। कोई भी दृश्य पदार्थ परिमित ही होना चाहिए। माया का काम है – अपरिमित को परिमित बना देना। परिमित का ही आकार हो सकता है। निराकार वही हो सकता है जो अपरिमित हो।

आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहें तो भूत दृश्य है, ऊर्जा अदृश्य । ऊर्जा सर्वत्र फैली है किन्तु भूत परिमित स्थान पर ही है। ऊर्जा से भी अधिक सूक्ष्म चेतना है। ऊर्जा की भी एक सीमा है, किन्तु चेतना की कोई सीमा नहीं। बुद्धिमत्ता इसमें है कि साधक भूत के पीछे छिपी ऊर्जा और ऊर्जा के पीछे भी छिपी हुई चेतना को देख सके। जब

यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है तो फिर सर्वत्र सबमें भगवद् दर्शन होने लगता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगमाया के द्वारा मनुष्य का शरीर धारण किए हूँ और इसलिए मूढ लोग मेरे अन्दर निहित उस अज तत्त्व को नहीं देख पाते जो अव्यय है –

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

एक बार यह योगमाया का पर्दा हट जाए तो श्रीकृष्ण में ही नहीं; अन्यत्र भी सर्वत्र भगवान् के दर्शन होने लगते हैं और जिसका यह माया का अनावरण नहीं हटता उसे श्रीकृष्ण का भी शरीर ही दिखाई पड़ता है, उसमें छिपा भगवत्–तत्त्व नहीं। महाभारत के समय में भी शिशुपाल आदि जैसे व्यक्ति श्रीकृष्ण को मनुष्य अर्थात् शरीर ही समझ रहे थे।

इन्द्रियों से हमें शरीर ही दिखाई दे सकता है। इन्द्रियाँ भौतिक हैं। वे पंचभूतों से बनी हैं, इसलिए वे पंचभूत से बने शरीर को ही देख सकती हैं। अव्यक्त को जानने के लिए इन्द्रियातीत होना पड़ता है।

अदृश्य को जानने के लिए इन्द्रियातीत तो होना ही पड़ता है, विचारातीत भी होना पड़ता है। विचार इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तक जा सकता है। किन्तु विचार की भी अपनी सीमा है। विचार भी नाम और रूप की सीमा के भीतर ही घूम सकता है, नाम और रूप से परे नहीं जा सकता। विचार शब्द के सहारे चलता है। शब्द बहुत ही स्थूल है किन्तु शब्द जिस भाव को कहता है वह भाव अथवा अर्थ बहुत सूक्ष्म है। हम प्रायः शब्द-शरीर तक अटक जाते हैं, अर्थ-आत्मा तक नहीं पहुँच पाते। इसलिए हमारा मंत्र जप भी बहुत फलदायी नहीं हो पाता। जप का लक्षण है कि जिस शब्द का जप करें, उसी शब्द के अर्थ पर चेतना को लगाना – तज्जपस्तदर्थभावनम्। चित्त की चंचलता के कारण हम जप करते समय यन्त्रवत् शब्द को तो दोहराते रहते हैं लेकिन अर्थ हमसे छूट जाता है। परिणामतः हमारा जप बहुत फल नहीं दे पाता।

अन्ततोगत्वा हमें शब्द को भी छोड़ना है क्योंकि परम सत्य शब्दातीत है। संस्कृत का एक शब्द बहुत महत्वपूर्ण है – पदार्थ। पदार्थ का अर्थ है – पद का अर्थ। अर्थात् जितने भी पदार्थ हैं, उन सबको बताने के लिए कोई न कोई पद भी है। लेकिन परम तत्त्व कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए उसको बताने के लिए कोई पद भी नहीं है। वह पदातीत है। कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारी आँखों के सामने कोई पदार्थ तो आ जाता है किन्तु उस पदार्थ का वाचक पद बुद्धि में नहीं आता। ऐसी स्थिति में भी उस पदार्थ का रूप हमारे सामने आ जाता है। किन्तु परम तत्त्व का कोई रूप भी नहीं है। वह केवल शब्दातीत ही नहीं है, रूपातीत भी है।

नाम और रूप

नाम और रूप ने परम तत्त्व को ढक रखा है। इसीलिए माया को नामरूपात्मक कहा गया है। नाम रूप ही निराकार को साकार बनाते हैं। किन्तु अद्वैत में निराकार और साकार को दो अलग नहीं माना जा सकता। अरणि में अग्नि छिपी रहे या प्रकट हो; दोनों अग्नियाँ वस्तुतः एक ही हैं। नाम-रूप भी भगवान् के ही हैं। इसलिए नाम-रूप के माध्यम से भी भगवान् का भजन किया जा सकता है। किन्तु नाम और रूप पर अटकना नहीं चाहिए। यह ध्यान सदा रखना चाहिए कि एक ऐसा तत्त्व भी है जो नाम और रूप से परे है। अव्यक्त और व्यक्त के बीच देश-काल अथवा नाम-रूप का सेतु है। अव्यक्त देश-कालातीत अथवा नामरूपातीत है और व्यक्त नाम-रूपात्मक है अथवा देश-कालावच्छिन्न है। नाम-रूप बदलते हैं। इस आधार पर एक मान्यता आई कि नाम-रूप मिथ्या है। नाम-रूप को मिथ्या मानने के कारण जगत् को ही मिथ्या मान लिया गया। जगत् को मिथ्या मानने पर कर्म भी निरर्थक हो गया। अतः अकर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन होने लगा।

वैदिक सिद्धान्त यह है कि अकर्म का अर्थ यह नहीं है कि कर्म छोड़ दिया जाए। अकर्म का अर्थ है कि अपने को कर्मों का कर्त्ता न माना जाए – जैसा कि सांख्य दर्शन का भी सिद्धान्त है। नाम-रूप के मिथ्या होने का भी यह अर्थ है कि वे कभी होते हैं (सत्) और कभी नहीं होते (असत्)। इन दो भावों का मिथुनीभाव (मिश्रण) होने से

भले ही मिथ्या कहें किन्तु वे हैं सत्य – नामरूपे सत्यम्। जगत् भी परिवर्तनशील है किन्तु असत् नहीं। अव्यक्त क्योंकि निराकार है अतः अनेक धर्म साकार मूर्त्ति को अव्यक्त का प्रतीक मानने को तैयार नहीं हैं। वे मूर्त्तिपूजा के विरोधी हैं। दूसरे मत में अव्यक्त ही व्यक्त होता है, अतः व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त की उपासना की जा सकती है। गीता की दृष्टि इस सम्बन्ध में अत्यन्त उदार है। जिन साधकों की रुचि साकारोपासना में है, गीता मानती है कि वे भी अव्यक्त तत्त्व तक मूर्त्ति के माध्यम से पहुँच सकते हैं किन्तु जिनकी रुचि निराकारोपासना में ही है, वे मूर्त्तिपूजा करने के लिए बाध्य नहीं हैं। अव्यक्त माया के द्वारा व्यक्त होता है। माया का एक अर्थ है – समझ में न आए। वस्तुतः अव्यक्त का व्यक्त होना एक ऐसी घटना है जिसे बुद्धि से समझना अथवा तर्क द्वारा व्याख्यायित करना सम्भव नहीं - तदेव मायायाः मायात्वं यत्तर्कासहिष्णुत्वम्।

मूल तथा अनुवाद

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥

हे अर्जुन! मैं अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के प्राणियों को जानता हूँ किन्तु मुझे कोई नहीं जानता॥२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥२७॥

हे अर्जुन! परन्तप! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व के मोह से सभी भूत संसार में सम्मोहन को प्राप्त होते हैं॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥२८॥

ऐसे पुण्यात्मा जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व तथा मोह से मुक्त होकर दृढव्रती मेरा भजन करते हैं॥२८॥

विपुल-भाष्य

द्वन्द्वातीत बनें

हमारी दृष्टि जगत् पर है। जगत् अस्थिर है। जगत् की अस्थिरता के कारण हमें लगता है कि समय चल रहा है। जैसे हम गाड़ी में चलते हैं तो पटरी के दोनों ओर खड़े हुए वृक्ष भी चलते हुए दिखाई देते हैं; वस्तुतः चलती गाड़ी है, वृक्ष नहीं। इस प्रकार चल तो जगत् के पदार्थ रहे हैं किन्तु हमें चलता हुआ समय दिखाई देता है। समय चलता हुआ प्रतीत होता है; तो समय के तीन विभाजन हो जाते हैं – भूत, वर्तमान और भविष्य।

जिस साधक की दृष्टि जगत् पर नहीं है किन्तु परमात्मा पर है, उसे समय चलता हुआ प्रतीत नहीं होता, इसलिए उसके लिए समय का भूत, वर्तमान और भविष्य जैसा विभाजन भी नहीं है। वस्तुतः तो समय चलता नहीं है, किन्तु यदि हम जगत् की चलती हुई गाड़ी में बैठ जाएँ तो समय रूपी वृक्ष खड़े रहने पर भी चलता हुआ दिखाई देता है जबकि यदि हम परमात्मा की स्थिर गाड़ी में बैठ जाएँ तो समय रूप वृक्ष जो खड़ा है, खड़ा ही दिखाई देगा, चलता हुआ नहीं।

समय और चित्त

जब समय खड़ा हो जाएगा तो न भूत रहेगा, न भविष्य; सब कुछ वर्तमान ही बन जाएगा। श्रीकृष्ण तो स्वयं परमात्मा हैं। उनके लिए जगत् तो भले ही चले, किन्तु वे जगत् की अस्थिरता के साथ स्वयं नहीं चल रहे। इसलिए उनके लिए समय खड़ा है।

हम सिनेमा में चलचित्र देखते हैं। उस चलचित्र में घटनाएँ समय में गति करती हुई दिखाई देती हैं – अब एक बालक उत्पन्न हुआ था, अब युवा हो गया, अब वृद्ध हो जाएगा। यह भूत, वर्तमान और भविष्य की दृष्टि हुई। किन्तु जिस रील पर ये घटनाएँ अङ्कित हैं, उस रील को देखें तो ये सभी घटनाएँ वर्तमान में ही युगपत् अङ्कित हैं। जब रील को चलाते हैं तो ये घटनाएँ भूत, वर्तमान और भविष्य की बन जाती हैं।

समय की रील पर भी भूत, वर्तमान और भविष्य की घटनाएँ एक साथ अङ्कित हैं। जिसके लिए समय स्थिर है उसे सब कुछ वर्तमान में ही दिखाई देता है, किन्तु जिसके लिए समय चल रहा है उसे घटनाएँ क्रमिक रूप में दिखाई देती हैं। स्वरूपतः समय स्थिर है। किन्तु जिसका चित्त स्थिर है उसके लिए तो समय स्थिर है और जिसका चित्त अस्थिर है उसे समय स्थिर होने पर भी अस्थिर ही नजर आता है। अतः स्थिर चित्त वाला अतीत, वर्तमान तथा भविष्य को एक साथ ही जान लेता है किन्तु अस्थिर चित्त वाला समय को क्रमशः ही जान पाता है।

यह तो समय की बात हुई। एक तत्त्व कालातीत भी है। वही परमात्मा तत्त्व है। अस्थिर चित्त वाला तो उस तत्त्व को जान ही नहीं पाता, स्थिर चित्त वाला भी उसे नहीं जान पाता। स्थिर चित्त का अर्थ है – चित्त का एकाग्र हो जाना। पर चित्त की एकाग्रता भी अन्ततोगत्वा एक चित्तवृत्ति ही है। परमात्मतत्त्व को चित्तवृत्ति के द्वारा नहीं जाना जाता, अपितु चित्त वृत्ति के निरोध द्वारा जाना जाता है। यह चित्तवृत्ति का निरोध अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए श्रीकृष्ण ने कह दिया परमात्मतत्त्व तो भूत, वर्तमान तथा भविष्य सबको वर्तमान की तरह ही जानता है, किन्तु परमात्मतत्त्व को कोई नहीं जान पाता –

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

परमात्म तत्त्व

'परमात्मतत्त्व को कोई नहीं जान पाता' यह कहने का प्रयोजन है कि उस तत्त्व को जानना अत्यन्त दुष्कर है। दुष्करता का कारण यह है कि हम अधिकतर द्वन्द्वों के मोह में फँसे हैं। यह मोह उत्पन्न होता है, इच्छा तथा राग-द्वेष के कारण। इच्छा हुई कि एक कार खरीदनी चाहिए। कार खरीदने के पैसे पास हैं नहीं। एक मित्र के पास पैसे माँगने गए, उसने पैसे देने से मना कर दिया। हम जानते हैं कि उसके पास पैसे थे फिर भी उसने झूठ कह दिया है कि उसके पास पैसे नहीं हैं। हमारी कार खरीदने की इच्छा जितनी ही तीव्र होगी, उस मित्र के प्रति हमारा द्वेष उतना ही प्रबल हो जाएगा। दूसरे मित्र ने पैसे दे दिए। उसके प्रति हमारा राग हो जाएगा। निष्कर्ष यह है कि इच्छानुकूल के प्रति राग तथा इच्छा-प्रतिकूल के प्रति द्वेष – यही द्वन्द्व की जड़ है।

मजेदार बात यह है कि ऐसा द्वन्द्व धर्म के क्षेत्र में भी चलता है। मध्य युग का इतिहास धर्म-दर्शन के द्वन्द्वों से भरा पड़ा है। द्वैतवादी अद्वैतवाद के खंडन में लगा है, निराकारवादी साकार के खंडन में लगा है, आदि-आदि। विचार करना चाहिए कि इस खण्डन-मण्डन से राग-द्वेष का द्वन्द्व बढ़ा या कम हुआ? धर्म दर्शन का उद्देश्य है – वीतरागता और वही धर्म साधन बन गया राग-द्वेष को बढ़ाने का। गीता की स्पष्ट घोषणा है कि जो मार्ग इसको इष्ट है वह उसी मार्ग से चल कर अपने राग-द्वेष को कम करे। अपने इष्ट मार्ग पर हम चलें किन्तु दूसरे के इष्ट मार्ग के प्रति हेय बुद्धि न रखें। यदि हम दूसरे के इष्ट मार्ग के प्रति हेय बुद्धि रखेंगे तो द्वेष उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता और द्वेष उत्पन्न होते ही हम उस द्वन्द्व के चक्कर में फँस जाएँगे जो ऐसा सम्मोहन उत्पन्न करता है कि हमें सत्य दिख ही नहीं पाता। सत्य को देखे बिना भला जन्म-मरण से छुटकारा कैसे हो सकता है –

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

राग-द्वेष तो सिद्धान्तों के प्रति भी उचित नहीं है फिर सांसारिक पदार्थों के प्रति तो राग-द्वेष करना सर्वथा ही निन्दनीय है। राग-द्वेष द्वन्द्व का उपलक्षण है। समस्त द्वन्द्वों – सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश का जन्म राग-द्वेष से ही होता है।

धर्मशास्त्रों में पापों की लम्बी सूची है किन्तु वस्तुतः पाप एक ही है – राग-द्वेष का द्वन्द्व। जिसका यह पाप छूट गया उसके जीवन में स्वतः ही पुण्य के फूल खिलने लगते हैं। 'मैंने पाप छोड़ा और पुण्य किया'– यह भी एक सूक्ष्म किन्तु गहरा अहङ्कार है। इस अहङ्कार के कारण मनुष्य शेष सभी मनुष्यों को हेय दृष्टि से देखने लगता है। वह यह भूल जाता है कि मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षियों तक में परमात्मा का निवास है। फिर किसी को भी हेय दृष्टि से देखना, परमात्मा का ही तिरस्कार करना है। अतः गीता कहती है कि पाप का अन्त हो जाए और पुण्य कर्म प्रकट हो जाएँ तो साधक द्वन्द्वों के मोह से छूट कर भगवान् का भजन कर सकता है किन्तु इसके लिए उसे अपने व्रत पर दृढ़ रहना चाहिए –

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

संस्कृत और अध्यात्म तत्त्व

संस्कृत भाषा अध्यात्म के तत्त्वों को प्रकट करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। उपर्युक्त श्लोक की शब्द रचना बहुत महत्त्वपूर्ण है। पहले कहा गया कि 'जिनका पाप अन्त को प्राप्त हो गया है।' यह नहीं कहा कि 'जिन्होंने पाप छोड़ दिया है।' ऐसा कहते तो कर्तृत्व का अहङ्कार आ जाता। कर्तृवाच्य का प्रयोग नहीं किया। भाववाच्य का प्रयोग किया 'पाप छोड़ दिया' ऐसा नहीं कह कर, कहा 'पाप समाप्त हो गए हैं'। फिर यह नहीं कहा कि 'जो पुण्य करते हैं' अपितु कहा कि 'जिनके कर्म पुण्य रूप हैं।' दोनों अभिव्यक्तियों में रात-दिन का अन्तर है। पुण्य किया नहीं जाता अपितु जो द्वन्द्व से मुक्त हो गया उसके कर्म स्वतः पुण्यमय हो जाते हैं। अतः उसे पाप-पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्म बाँध नहीं पाते। पाप-पुण्य का द्वन्द्व भी जब तक बना रहता है तब तक मोह उत्पन्न करता ही है क्योंकि है तो आखिर वह भी द्वन्द्व ही।

द्वन्द्व का अर्थ है अखण्ड को खण्ड करके दो भागों में बाँट लेना। परमात्मा अखण्ड है। सुख और दुःख एक ही चक्र के दो अरे हैं। पूरे चक्र को देखें तो सुख-दुःख दोनों एक साथ ही रहते हुए दिखेंगे। एक-एक अरे को देखें तो सुख दिखते समय दुःख दिखेगा नहीं और हम सुख के मद में मत्त हो जाएँगे तथा दुःख दिखने पर हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाएँगे, सामान्य दोनों ही स्थितियों में नहीं रह पाएँगे।

अखण्ड से कट कर खण्ड कुरूप, वीभत्स और अनुपयोगी हो जाता है। मेरा हाथ जब तक मेरे शरीर से जुड़ा है, वह सुंदर तथा उपयोगी है किन्तु यदि उसे शरीर से काट कर अलग कर दिया जाए तो उसकी ओर देखने से भी भय तथा ग्लानि का भाव उत्पन्न होता है। जो खण्ड-खण्ड करके देखता है उसे जगत् दिखाई देता है, जो अखण्ड को देखता है उसे परमात्मा दिखाई देता है। जगत् का अर्थ है – द्वन्द्वात्मकता, परमात्मा का अर्थ है – निर्द्वन्द्वता। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हमें बारम्बार द्वन्द्वों में घसीटते हैं किन्तु ऐसी स्थिति में हमें निर्द्वन्द्वता के व्रत पर दृढ़ रहने का पुरुषार्थ करना है। वस्तुतः यही सच्चा पुरुषार्थ है।

मूल तथा अनुवाद

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥

जो मेरी शरण में आकर जरा और मरण से छुटकारा पाने के लिये यत्न करते हैं वे ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सम्पूर्ण कर्म को जान लेते हैं॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित (सब कुछ) मुझे ही समझते हैं। वे अन्तकाल में भी योगयुक्त चित्तवाले मुझे ही प्राप्त करते हैं॥३०॥

विपुल-भाष्य

युक्त चेता बनें

गीता के दर्शन में भक्ति और पुरुषार्थ दोनों का समन्वय है। भक्ति का यह अर्थ नहीं है कि हम हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाएँ और सोच लें कि भगवान् ही सब कुछ कर देगा, और पुरुषार्थ का यह आशय नहीं है कि हम इस अहंकार में जिएँ कि हम अपने पुरुषार्थ से ही सब कुछ कर सकते हैं; हमें भगवान् की सहायता की आवश्यकता नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण ने कहा कि जो जरा और मरण से छुटकारा पाने के लिए परमात्मा का आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, उन्हें तीन चीजों का ज्ञान हो जाता है – ब्रह्म, जीव और कर्म।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

स्थूल दृष्टि से यहाँ ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि कोई साधक, कभी वृद्ध नहीं होगा अथवा मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा। वृद्धावस्था, मृत्यु शरीर के धर्म हैं। वे सब शरीरधारियों के साथ लगे हैं। जो जीव अपना सम्बन्ध शरीर से न मान कर परमात्मा से मान लेता है वह इस अर्थ में जरा और मरण से मुक्त हो जाता है कि उसका शरीर तो बूढ़ा भी होता है और मरता भी है किन्तु वह उस बुढ़ापे और मरण को अपना नहीं मानता। स्पष्ट है कि इसके लिए पुरुषार्थपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना होता है।

साधना पद्धतियाँ

ज्ञान–प्राप्ति के साथ भगवत्–भक्ति भी आवश्यक है या नहीं – इस सम्बन्ध में दो प्रकार की धाराएँ हैं। एक धारा यह मानती है कि परमात्मा की शरण में जाना आवश्यक है। दूसरी धारा किसी भी शरण में जाना आवश्यक नहीं समझती। नैयायिक और वेदान्ती ईश्वरवादी हैं, बौद्ध और जैन ईश्वर को नहीं मानते। योग दर्शन ईश्वर के प्राणिधान को एक विकल्प के रूप में स्वीकार करता है। गीता शरणगति को बहुत महत्व देती है। ऐसी स्थिति में ऐसा लगता है कि साधना पद्धतियों में भेद है, किन्तु यदि गहराई में जाएँ तो यह भेद बहुत कुछ मिट जाता है। अनीश्वरवादी ईश्वर की शरण नहीं लेते हैं। दूसरी ओर इन सभी परम्पराओं में यह भी कहा गया है कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और आत्मा ही आत्मा का मित्र है। आत्मा को सुख-दुःख देने वाला आत्मा ही है। गीता पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि जीव ही ब्रह्म है। ऐसी अवस्था में पुरुषार्थ की अपेक्षा कहा जाता है कि जीव के पुरुषार्थ से ही सब कुछ होता है और शरणागति की भाषा में कहा जाता है कि परमात्मा की कृपा के बिना कुछ भी नहीं होता। जीव और ब्रह्म की एकता पर ध्यान दें तो जीव के पुरुषार्थ और परमात्मा की कृपा में अविनाभाव सम्बन्ध है – परमात्मा की कृपा के बिना जीव पुरुषार्थ नहीं कर सकता और जीव के पुरुषार्थ बिना परमात्मा की कृपा नहीं हो सकती; दोनों मिल कर सिद्धि प्रदान करते हैं।

पुरुषार्थ और कृपा

तीन महीने का शिशु भूख लगने पर रोता है। वह इतना ही कर सकता है। उसके रोने को सुन कर माँ उसे उठा लेती है और स्तनपान करा देती है। बच्चे का पुरुषार्थ है कि वह रोया। माँ की कृपा है कि उसने स्तनपान कराया। पुरुषार्थ और कृपा दोनों के मिलने से कार्य सिद्धि हुई। जीव का पुरुषार्थ है कि वह परमात्मा को सच्चे मन से पुकारे। जब जीव ऐसा अनन्य भाव से करता है तो परमात्मा कृपा करके अपना रूप उस पर प्रकट कर देते हैं। जीव यह अहंकार न करे कि वह परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।

वह अहंकार को छोड़ कर सच्चे मन से केवल परमात्मा को पुकारे। परमात्मा की कृपा तो सदा बरसती ही रहती है। देरी केवल हमारे अहंकार के खोल को उतार कर फेंक देने की है। शरणागति के बिना यह अहंकार छूटता

नहीं। इसलिए अनीश्वरवादी भी अरिहन्त, सिद्ध और बुद्ध की शरण खोजते हैं। गीता कहती हैं कि जो अहंकार को छोड़कर पुरुषार्थ करते हैं वे समग्र रूप से जीव और ब्रह्म को जान लेते हैं। थोड़ा बहुत तो ब्रह्म, जीव और कर्म को हम सभी जानते हैं, किसी से भी चर्चा करें तो वह कुछ न कुछ तो ब्रह्म, जीव और कर्म के सम्बन्ध में बताता ही है। किन्तु थोड़ा-सा गहराई में जाएँ तो वह लड़खड़ाने लगता है। पता चल जाता है कि उसका ज्ञान अधूरा है क्योंकि यह ज्ञान सुनी-सुनाई बात पर टिका हुआ है; न ब्रह्म का प्रत्यक्ष हुआ, न जीव का और न कर्म का। कितना भी शास्त्र पढ़ लें, हमारा ज्ञान अधूरा ही रहता है। इन तत्त्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने की प्रक्रिया कुछ दूसरी है। गीता ने उस प्रक्रिया की ओर एक शब्द से संकेत किया है। इन तत्त्वों को वे जान सकते हैं तो युक्तचेता हैं। युक्तचेता के दो अर्थ हैं। एक अर्थ है कि जिनका चित्त बिखरा हुआ नहीं है अर्थात् जिनका चित्त एकाग्र है। और दूसरा अर्थ है कि जिनका चित्त परमात्मा से जुड़ गया है। इन दोनों अर्थों का परस्पर अविनाभाव है जिसका चित्त एकाग्र है उसी का चित्त परमात्मा से जुड़ सकता है; जिसका चित्त परमात्मा से जुड़ गया उसी का चित्त एकाग्र हो सकता है। संसार के सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदल रहे हैं। आज हम पदार्थ के जिस रूप पर चित्त को एकाग्र करते हैं कल वह रूप ही बदल जाता है तो वहाँ वह चित्त कैसे टिका रहेगा। इसीलिए हम आज जिससे प्रेम करते हैं कल हम उसी से द्वेष करने लगते हैं और आज तक जिसे हम बुरा कहते रहे, कल उसे हम बहुत अच्छा कहने लगते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष के झूले में झूलता हुआ चित्त कभी भी स्थिर नहीं हो पाता।

चित्त की प्रकृति

चित्त की एक प्रकृति है कि वह वहाँ टिकता है जहाँ उसे सुख मिले। किसी पदार्थ में जब तक सुख मिलता है तब तक ही वहाँ चित्त टिकता है। पदार्थ से मिलने वाला सुख क्षणभंगुर है इसलिए पदार्थ में चित्त कभी स्थिर नहीं हो सकता। इसलिए अतिरिक्त उस साधक के, जिसका चित्त परमात्मा में जुड़ गया है, हम सबका चित्त चंचल ही रहता है।

हम चंचल चित्त के द्वारा, परमात्मा को जानना तो दूर रहा, भौतिक जगत् को भी नहीं जान पाते। भौतिक विज्ञानी भौतिक जगत् का जितना अंश जान पाते हैं उतना अंश जान पाने के लिए भी उन्हें युक्तचेतस् अर्थात् एकाग्रचित्त होना पड़ता है। यदि वे वैज्ञानिक अपने चित्त को सर्वथा स्थिर कर लें तो उन्हें अधिभूत में भी ब्रह्म का दर्शन होने लगेगा। इसलिए आज के जो उच्च कोटि के वैज्ञानिक हैं वे जड के पीछे छिपी चेतना को स्वीकार करने लगे हैं। गीता भूत को क्षरं पुरुष कह कर यही संकेत दे रही है कि भौतिक अस्तित्व के पीछे भी चेतना है।

अधिभूत के बाद अधिदैव आता है। अधिभूत का सम्बन्ध तमोगुण से है तो अधिदैव का सम्बन्ध रजोगुण से है। विश्व में जितने भी भौतिक पदार्थ हैं सबमें निरन्तर क्रिया हो रही है इस क्रिया के पीछे भी चेतन स्वरूप भगवान् ही है।

अस्तित्व का तीसरा स्तर ज्ञान का है जिसमें सत्त्व गुण की प्रधानता है। हर ज्ञान के पीछे तो चेतना है ही। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसका चित्त एकीकृत हो गया वह परमात्मा को अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित ही जानता है अर्थात् उसे कोई पदार्थ, क्रिया या ज्ञान ऐसा नजर नहीं आता जिसमें भगवान् न हों। सर्वत्र भगवत्-दर्शन की यह स्थिति अन्त समय तक बनी रहती है और इसलिए यह शरीर छोड़ने पर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है –

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञश्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥७॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच –

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

अर्जुन बोले –

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत क्या है तथा अधिदैव क्या कहलाता है?।।१।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? वह इस शरीर में कैसे है? तथा योगयुक्त चित्त वालों के द्वारा उसे अन्त समय में कैसे जाना जाता है?।।२।।

श्रीभगवानुवाच –

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।।३।।

श्रीभगवान् बोले –

परम अक्षर ब्रह्म है। स्वभाव अध्यात्म है। प्राणियों के भाव को उद्भूत करने वाला त्याग कर्म कहलाता है।।३।।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

क्षरभाव अधिभूत है। पुरुष अधिदैव है और हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! शरीर में स्थित मैं ही अधियज्ञ हूँ।।४।।

विपुल-भाष्य

कतिपय परिभाषाएँ

श्रीकृष्ण ने गीता के सातवें अध्याय के अन्त में छः पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। अर्जुन ने आठवें अध्याय के प्रारम्भ में इन्हीं छः पारिभाषिक शब्दों का अर्थ भी कृष्ण से पूछ लिया – (१) ब्रह्म, (२) अध्यात्म, (३) कर्म, (४) अधिभूत, (५) अधिदैव तथा (६) अधियज्ञ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतश्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।

अर्जुन की जिज्ञासा

इन छः शब्दों का अर्थ पूछने के साथ-साथ अर्जुन ने यह भी पूछ लिया कि मृत्यु के समय संयमी साधक परमात्मा का चिन्तन किस प्रकार करता है? विशेषता यह है कि अर्जुन ने छः प्रश्न दो श्लोकों में किए तो श्रीकृष्ण ने उनका उत्तर भी दो श्लोकों में ही दे दिया। प्रायः प्रश्न तो छोटे होते हैं किन्तु उत्तर लम्बा होता है। यहाँ विशेषता यह है कि जितने लम्बे प्रश्न थे, उत्तर भी उतने ही थोड़े से शब्दों में दे दिए गए। श्रीकृष्ण ने कहा कि (१) परम अक्षर ब्रह्म है (२) स्वभाव अध्यात्म है (३) प्राणियों की सत्ता को अभिव्यक्त करने वाला विसर्जन कर्म है (४) क्षरभाव अधिभूत है (५) पुरुष अधिदैव है तथा (६) शरीर में रहने वाला परमात्मा ही अधियज्ञ है –

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

उत्तर प्रश्नवत् संक्षिप्त हैं किन्तु वे बहुत गम्भीर हैं। अतः उनकी थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है।

पहला वक्तव्य है कि ब्रह्म अक्षर है। इसकी तुलना में अधिभूत को क्षर बताया है। अक्षर का अर्थ है जिसका क्षरण न होता हो, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न आए। संसार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील दृष्टिगोचर होते हैं। इन्द्रियों से हम जो भी जानते हैं वह सब – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श अथवा शब्द – आता है और चला जाता है; ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका क्षरण न होता हो। विचार करने की बात यह है कि परिवर्तन किसका हो रहा है। कोई ऐसा आधार तो होना चाहिए जिसका परिवर्तन हो रहा हो। वह आधार स्थायी होता है। पानी वाष्प बनता है तो पानी और वाष्प ये दो अवस्थाएँ हुईं। ये दो जिस तत्त्व की अवस्थाएँ हैं, वह तत्त्व तो नित्य है। इसीलिए वैज्ञानिक कहते हैं कि मैटर न पैदा किया जा सकता है न नष्ट किया जा सकता है, उसका केवल रूपान्तरण हो सकता है।

यदि हमारा ध्यान उस पर टिक जाए जो परिवर्तनशील है तो कभी हमें अनुकूलता प्रतीत होगी, कभी प्रतिकूलता। यदि हमारा ध्यान उस पर केन्द्रित हो जो शाश्वत है तो फिर अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

इन्द्रियों से हम जो जानते हैं, वह ज्ञेय है, ज्ञान का विषय है। जो जानता है वह ज्ञाता है, विषयी है। ज्ञेय बदलता है, ज्ञाता नहीं। हमारा शरीर, मन, बुद्धि, सब बदल जाते हैं। अपने बचपन का चित्र उस समय का चित्र, जब हम एक-दो मास के थे, यदि हमें दिखाया जाए तो जब तक कोई बतला न दे कि यह हमारा चित्र है, हम इसे पहचान भी नहीं पाएँगे कि यह चित्र हमारा है। शरीर इस सीमा तक बदल जाता है। मन तो पल-पल बदलता है, अभी प्रसन्नता की सीमा न थी कि अभी विषाद पकड़ लेता है। बुद्धि भी बदलती है। कल तक एक मत ठीक लगता था, आज वह गलत लगने लगता है। शरीर, मन, बुद्धि सब बदलते हैं; ये ज्ञेय हैं, ज्ञाता नहीं। पर जो इन सबको जानता है, इन सबमें होने वाले परिवर्तन का साक्षी है, वह नहीं बदलता। वही आत्मा है, वही ब्रह्म है।

इसी आत्मा से जुड़ा अध्यात्म है। गीता ने कहा कि अध्यात्म स्वभाव है। स्वभाव का अर्थ है आत्मा का अपना, किसी से उधार लिया हुआ नहीं। विचार करें तो पाएँगे कि हमारे व्यक्तित्व की सारी सामग्री हमने उपार्जित की है। जो भाषा हम बोलते हैं, वह हमने अपने परिवेश से अर्जित की है, वह हमारा अपना स्वरूप नहीं । हम हिन्दी भाषी हैं, तो यह भाषा हमने अपने माता-पिता से सीखी। यह हमारी मातृभाषा है, स्व-भाषा नहीं। स्व-भाषा तो यदि कोई है तो वह मौन है। मौन रहना हमने किसी से सीखा नहीं। हमारे विचार हमने अर्जित किए हैं। जन्म लेते समय न हम हिन्दू थे, न मुसलमान, न भारतीय, न रूसी। हमने सीखा कि हम हिन्दू हैं, भारतीय हैं। अतः हम एक हिन्दू की तरह सोचने लगे कि पुनर्जन्म होता है। यह सोच हमने सीखी है। एक हिन्दू के घर में पैदा होने वाले बच्चे को पैदा होने के बाद ही एक ईसाई के घर में पलने के लिए दे दें तो वह सोचेगा कि पुनर्जन्म नहीं होता। हम किताबें पढ़-पढ़ कर आस्तिक-नास्तिक, द्वैतवादी-अद्वैतवादी और न जाने क्या-क्या बन जाते हैं। कोई विचार हमारा अपना नहीं है। हमारा

अपना स्वभाव अगर कोई है तो वह निर्विचारता। निर्विचारता हम किसी से सीखते नहीं हैं। दो विचारों के बीच, जब एक विचार समाप्त हो जाता है और दूसरा विचार प्रारम्भ नहीं होता, तब बीच में एक निर्विचारता का अन्तराल आता है, वही हमारा स्वभाव है, शेष सब विचार उधार लिए हुए हैं, जिन्हें गलती से हम 'अपने विचार' समझ बैठे हैं।

इसी प्रकार अपने व्यक्तित्व की वे सब परतें छीलते चले जाएँ जो हमने अपने चारों ओर से एकत्र कर ली हैं तो पता चलेगा कि शरीर, मन, बुद्धि, सबका निर्माण उधार ली हुई सामग्री से हुआ। हमारा अपना स्वभाव - वह जो हमारे अपने अस्तित्व का अविभाज्य अङ्ग है - केवल चेतना है। जानने की शक्ति हमारी अपनी है, वह हमने कहीं से ली नहीं है। यही अध्यात्म है। शेष सब विभाव है, प्रकृति है, पुरुष नहीं। लेकिन हमारा व्यक्तित्व हमारी चेतना से नहीं बनता, वह बनता है हमारे कर्म से - कर्म जिसे परिभाषित किया गया भूतभाव को उत्पन्न करने वाले त्याग के रूप में, यह बड़ी महत्वपूर्ण परिभाषा है। हम वस्तुतः तो ब्रह्म हैं, किन्तु भूत बने हुए हैं। भूत का अर्थ है प्राणी, किन्तु प्राणी शब्द यहाँ बहुत व्यापक है। पाषाण तथा वनस्पति में भी प्राण हैं, अतः वे भी भूत हैं; कृमि, कीट, पशु तथा मनुष्य तो भूत हैं ही। ब्रह्म ही इन विभिन्न भूतभावों में अभिव्यक्त हुआ है। इसके लिए उसे अपना विसर्जन करना पड़ा - उसे अपने को यज्ञ में आहुत करना पड़ा। इसी सर्वहुत यज्ञ का नाम पुरुषमेध यज्ञ हो गया। यह प्रथम कर्म था जिससे सृष्टि की रचना हो गई। इस सृष्टि में निरन्तर गति हो रही है, इसी कारण इसे जगत् कहा जाता है – जगत् अर्थात् निरन्तर गतिशील। एक अणु में इलेक्ट्रॉन आदि इतनी तीव्र गति से चल रहे हैं कि हम उस गति की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह दूसरा कर्म है जिसके द्वारा भूत अपने को अभिव्यक्त करते हैं। तीसरा कर्म मनुष्य की कर्मयोनि में किए जाने वाले वे पाप-पुण्य हैं जिनका फल जीव को दुःख-सुख के रूप में भोगना होता है। वे कर्म भी हमारे भूतभाव अर्थात् व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इन सभी कर्मों के लिए त्याग करना पड़ता है – आलस्य छोड़कर पुरुषार्थ करना पड़ता है।

ब्रह्म अक्षर है, तो अधिभूत क्षर है। अधिभूत क्योंकि क्षर अर्थात् परिवर्तनशील है, अतः वह ही हमारी पकड़ में आता है। जो प्रत्यक्षवादी हैं, अर्थात् केवल उसे ही सत्य मानता है जो इन्द्रियों की पकड़ में आए, वह भूतवादी भी होगा क्योंकि अक्षर इन्द्रियगम्य हो नहीं सकता। इन्द्रियाँ सदा सीमित ग्रहण करती हैं। जो सीमित है, वह बदलेगा। असीम के लिए बदलने का अवकाश ही नहीं है। बदलने के लिए कोई खाली जगह चाहिए। जो सर्वव्यापक है उसके लिए कोई जगह खाली है ही नहीं। जब हमें किसी ऐसे सङ्कीर्ण स्थान पर बैठा दिया जाता है जहाँ हमारे आस-पास खाली जगह न हो तो हम तंग आकर कहते हैं कि हम तो फँस गए, हिलने-डुलने की भी जगह नहीं है। आकाश कहाँ हिले-डुले कि बदल सके। फिर भी कहते हैं कि आकाश – स्पेस – निरन्तर फैल रहा है – यूनिवर्स एक्सपेन्ड कर रहा है। तब यह सोच-सोच कर बुद्धि चकित हो जाती है कि आकाश कहाँ फैलेगा? फैलने के लिए तो आकाश चाहिए न! उपनिषद् कहता है कि आकाश किस पर टिका है - यह मत सोचो, नहीं तो सिर फट जाएगा - **मूर्धा ते निपतिष्यति**। सिर इसलिए फट जाएगा कि जो आकाश के परे है और क्योंकि स्पेस और टाइम को अलग नहीं किया जा सकता - इसीलिए जो काल से भी परे है, वह दिक्कालाद्यनवच्छिन्न बुद्धि की पकड़ में आ ही नहीं सकता - **यो बुद्धेः परतस्तु सः**। हम जब तक बुद्धि की सीमा से आबद्ध हैं तब तक अधिभूत के ही क्षेत्र में घूम रहे हैं।

अधिभूत और अधिदैव

अधिभूत का उल्टा है अधिदैव अर्थात् पुरुष। अधिभूत ज्ञेय है, अधिदैव ज्ञाता है। पुरुष ज्ञाता तो है किन्तु वह भी सीमित - **पुरि शेत इति पुरुषः**। चेतना जब जीव रूप में आबद्ध होती है तो पुरुष कहलाती है। सर्वप्रथम पुरुष ब्रह्मा हैं जिनका वैदिक नाम हिरण्यगर्भ है। सभी पुरुष चेतना-युक्त हैं। वे जान सकते हैं इसीलिए वे सुख-दुःख का संवेदन कर सकते हैं। जब सुख-दुःख को हम सहन नहीं कर पाते तो हम अपनी चेतना को मूर्च्छित कर लेते हैं – शराब पी कर ही हम चेतना को मूर्च्छित नहीं करते, पदार्थ भी चेतना को मूर्च्छित करने का उपाय है। पदार्थ की ऐसी सङ्गति अथवा आसक्ति को परिग्रह कहा जाता है। जैन परम्परा में परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा किया गया है। किसी पदार्थ

से आसक्ति कर लें तो हमारा पदार्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है - जैसे पदार्थ सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर पाता, उसी प्रकार हम भी संवेदनहीन हो जाते हैं। लगता है कि सुख मिल रहा है, वस्तुतः वह सुख नहीं है बल्कि एक मूर्च्छा है जो दुःख का अनुभव नहीं होने देती और हम समझ लेते हैं कि हम सुखी हैं। हमारे शरीर में जीव ही नहीं, परमात्मा भी है। यही परमात्म तत्त्व अधियज्ञ है। यह शुद्ध चेतना है। यहाँ सुख-दुःख का द्वन्द्व नहीं है, अपितु विशुद्ध आनन्द है। श्रुति ने अलङ्कार की भाषा में कहा कि एक ही वृक्ष पर दो समानधर्मा पक्षी बैठे हैं किन्तु उनमें से एक उस वृक्ष का फल खाता है, दूसरा केवल साक्षी बना रहता है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति॥

यह जो फल खाता है वह अधिदैव है, जो केवल साक्षी है वह अधियज्ञ है।

मूल तथा अनुवाद

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥५॥

हे अर्जुन ! व्यक्ति जिस भाव का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है उस-उस भाव से भावित होकर उस-उस (भाव) को ही प्राप्त होता है॥५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥६॥

हे अर्जुन! जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए व्यक्ति अन्त में शरीर छोड़ता है, सदा उस-उस भाव को उस भाव से भावित होकर व्यक्ति प्राप्त हो जाता है॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

इसलिये तुम सारे समय मुझे ही स्मरण रखो और युद्ध करो। मन और बुद्धि को मुझमें अर्पित करके तुम निस्सन्देह मुझे ही उपलब्ध करोगे॥७॥

विपुल-भाष्य

कर्म करते हुए भी भगवत्स्मरण

मनुष्य युद्ध के समय मृत्यु के जितना निकट होता है उतना कभी भी नहीं होता। अर्जुन युद्ध में खड़ा है। एक बाण के वक्षःस्थल के आर-पार होने की देर है कि पलक झपकते ही मृत्यु सामने आ खड़ी होगी। ऐसे में अर्जुन की यह चिन्ता स्वाभाविक है कि मृत्यु के समय संयमी भगवान् का स्मरण कैसे करे- **प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**। श्रीकृष्ण ने कहा था कि युक्तचेता मृत्यु के समय भी भगवान् को ही भजता है – **प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण ने युक्तचेता साधक के लिए अन्य समय में तो भगवत्स्मरण की बात की ही है, मृत्यु के समय भी भगवत्स्मरण की बात की है। अन्य समय में भगवत्स्मरण हो तो आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु मृत्यु के समय में तो व्यक्ति प्रायः असह्य वेदना से ग्रस्त होता है, अतः उस समय में भगवत्स्मरण किस प्रकार होगा – यही अर्जुन की जिज्ञासा है। अर्जुन की इस जिज्ञासा के समाधान में श्रीकृष्ण को पूरे ही अष्टम अध्याय में मनुष्य के अन्तिम काल की अवस्था का वर्णन करना पड़ गया। यदि व्यक्ति रोग से त्रस्त हो और ऐसा लगे कि वह मरणासन्न है तो गीता के अष्टम अध्याय का अर्थ सहित पाठ करना उसके अन्तिम समय को सुधारने में विशेष

सहायक हो सकता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अष्टम अध्याय केवल मरणासन्न के लिए उपयोगी है। वस्तुतः तो मरणासन्न के लिए भी यह तभी उपयोगी हो सकता है जब साधक ने पूरा जीवन भगवत्स्मरण पूर्वक किया हो। पहला सूत्र श्रीकृष्ण ने यह दिया कि हमारा चिन्तन ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करता है। व्यक्तित्व के निर्माण में हमारे भावों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। आज बाजार में शरीर को सजाने-सँवारने के अनेक महँगे से महँगे साधन मिलते हैं। ब्यूटी पार्लर खुले हैं। नए-नए फैशन के वस्त्राभूषण आ रहे हैं। यह सब इसलिए कि व्यक्ति आकर्षक लगे। यदि व्यक्ति का भाव शुद्ध नहीं है तो वह कितना ही सज-सँवर ले, वह कभी आकर्षक व्यक्तित्व का धनी नहीं हो सकता।

सर्वश्रेष्ठ साधन

भाव-शुद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन है – परमात्मा का चिन्तन। हम जिसका चिन्तन करते हैं, तद्रूप ही हो जाते हैं। परमात्मा से अधिक शुद्ध कुछ भी नहीं है, बल्कि यह कहना चाहिए कि साधक जिस शुद्धतम रूप की कल्पना कर सकता है, वही रूप उसका परमात्मा है। जब हम शुद्धतम रूप की कल्पना करते हैं तो वह परमात्मा का सगुण रूप है। कल्पना में तो सगुण ही आता है। जब हम निर्विचारता में जाते हैं तो परमात्मा का निर्गुण रूप सामने आता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि निर्गुण और सगुण दो परमात्मा हैं। हमारा विचार निर्गुण को ही सगुण बना लेता है। मूल तो निर्गुण ही है किन्तु निर्गुण इतना सूक्ष्म है कि उस तक पहुँचने के लिए किसी ने अवतार को माध्यम बनाया, किसी ने पैगम्बर को, किसी ने तीर्थङ्कर को, किसी ने बुद्ध को और किसी ने ईश-पुत्र को। इन सब सगुण माध्यमों का साध्य तो एक निर्गुण शुद्ध आत्मा अर्थात् परमात्मा ही है। गीता ने यही माध्यम श्रीकृष्ण को बनाया। गीता का इस सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं है। साधक किसी भी माध्यम को अपना इष्ट बना सकता है किन्तु उसे साधन को ही साध्य नहीं समझ लेना चाहिए।

सिद्धान्त है कि जैसा भाव वैसा व्यक्तित्व। मृत्यु के समय हम पुराना चोला छोड़कर नया शरीर धारण करने की तैयारी कर रहे होते हैं। उस समय हमारा क्या भाव है – यह महत्वपूर्ण है। सामान्य नियम यह है कि जो भाव जीवन भर रहा, वही भाव अन्त समय भी होगा। जीवन भर धन की चिन्ता की तो अन्त समय में भगवत्स्मरण होना कठिन है फिर भी अन्त समय में एक सुविधा है – अन्त समय में हमें अपने चारों ओर फैले जगत् की चिन्ता की आवश्यकता नहीं होती। जगत् तो अब प्रकृति ही छुड़वा रही है, अतः समझदारी इसी में है कि परमात्मा का चिन्तन किया जाए। किन्तु सबमें यह समझदारी नहीं आती। यह समझदारी तब ही आती है, जब जीवन भर भी परमात्मा का चिन्तन किया हो। मुमुर्षु व्यक्ति प्रायः एक स्वप्न की सी स्थिति में होता है। जैसे हमारा अपने स्वप्नों पर अधिकार नहीं होता कि हम कौन-सा स्वप्न लें, स्वप्न बलात् स्वयं आते हैं, उसी प्रकार मुमुर्ष का अपने चिन्तन पर अधिकार नहीं रह जाता; बलात् विचार स्वयं आते चले जाते हैं। मुमूर्ष को कौनसे विचार आएँगे – इसका निर्णय इस बात पर अवलम्बित है कि वह जब मुमुर्षा की अर्द्धमूर्च्छित अवस्था में नहीं था तब कौन-सा चिन्तन करता था। जिस प्रकार स्वप्न में हमें वही दिखता है जो हम जागृत अवस्था में सोचते/करते हैं, उसी प्रकार मुमुर्षा से पूर्व की स्थिति में व्यक्ति जो सोचता है वही चिन्तन मुमुर्षा की स्थिति में भी चलता है। यह सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति जागते में तो सदा हिन्दी बोले और स्वप्न में वह रूसी बोलने लगे। इसी प्रकार यह सम्भव नहीं है कि साधक जीवन भर जगत् का चिन्तन करे और अन्त समय में परमात्मा का।

दूसरी बात यह भी है कि अन्त समय की खबर नहीं है कि कब आ जाए। हम समझते हैं कि हम अच्छे-भले हैं, लेकिन पलक झपकते ही काल हमारा गला पकड़ लेता है। अतः हर समय को अन्तिम मानकर सदा ही भगवत्स्मरण करना चाहिए। किन्तु इन सभी तर्कों के स्थान पर जो बात श्रीकृष्ण ने कही, वह कहीं अधिक वजनी है। वे कहते हैं कि हे अर्जुन! तू सब समय परमात्मा का चिन्तन कर और युद्ध कर तथा परमात्मा में ही मन और बुद्धि को अर्पित कर दे तो निस्सन्देह तू परमात्मा को ही प्राप्त हो जाएगा –

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

जो परमात्मा का चिन्तन न करके अन्त समय में किसी अन्य का चिन्तन करते हैं उन पर भी 'अन्त मति सो गति' का नियम लागू होगा। अतः अर्जुन को युद्ध करते हुए भी पूरे समय परमात्मा का ही चिन्तन करना चाहिए। यह आदेश सामान्य आदेश से भिन्न है। सामान्यतः कहा जाता है कि त्रिकाल में – प्रातः, मध्याह्न तथा सायं – संध्या करें। शेष समय सांसारिक कार्य करें। अन्य धर्मों में भी प्रायः भगवच्चिन्तन के लिए दिनचर्या में एक विशेष समय निर्धारित रहता है। यथा मुसलमानों के लिए दिन में पाँच समय नमाज अदा करने का विधान है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि सभी समय भगवच्चिन्तन करो। प्रश्न होगा कि फिर सांसारिक कार्य कब करेंगे? उत्तर दिया कि युद्ध करते हुए अर्थात् सांसारिक कार्य करते हुए ही भगवच्चिन्तन करना है। जैसे हम साँस लेते हुए ही सब काम करते हैं; ऐसा नहीं करते कि साँस लेने के लिए कोई अलग समय निर्धारित कर रखा हो, उसी प्रकार भगवच्चिन्तन का कोई पृथक् समय निर्धारित न करके संसार के सब कार्यों में ही भगवच्चिन्तन की धारणा को जोड़ देना है। भगवच्चिन्तन कोई कर्मकाण्ड नहीं है, यह तो एक हार्दिक भाव है। जैसे एक लोभी व्यक्ति सारे कार्य करते समय धन-लाभ का ही अभिप्राय हृदय में रखता है अथवा कामी व्यक्ति खाते-पीते भी प्रियतमा के ध्यान को कभी नहीं छोड़ पाता, उसी प्रकार साधक सभी कार्य को करते हुए भी परमात्मभाव को न भूले; अपने शुद्ध स्वरूप को – साक्षिभाव को – सदा सामने रखे। यही तो एक प्रक्रिया है जिससे कि परमात्मा को सदा स्मरण किया जा सकता है। यदि कोई संन्यासी सारे कार्य छोड़कर भगवान् का भजन सदा करने की हठ करे, तो भी आहार-विहार-निद्रादि के समय में तो उसे भगवच्चिन्तन से विमुख होना ही पड़ेगा। अतः व्यावहारिक यही है कि कार्य करते हुए ही भगवत्स्मरण किया जाए।

भगवत्स्मरण कब सहज

प्रश्न होता है कि स्मरण किया जाता है मन से या बुद्धि से। मन में सौ विकल्प उठते हैं और बुद्धि सौ सङ्कल्प करती है। फिर हर समय भगवत्स्मरण कैसे सम्भव है? उत्तर है कि मन और बुद्धि को भगवान को अर्पित कर दें। मन और बुद्धि को अपना न मानें। फिर मन–बुद्धि के विकल्प-सङ्कल्प हमारे नहीं रहेंगे, वे भगवान् के ही हो जाएँगे। जैसे 'मैंने किया' यह कर्तृत्व-भाव अहङ्कार है, उसी प्रकार 'मैंने सोचा' भाव भी तो अहङ्कार ही है। मन हो या बुद्धि – सब प्रकृति के विकार हैं। प्रकृति तो मेरी नहीं है; भगवान् की है। फिर मन और बुद्धि मेरे कैसे हुए? और यदि मन और बुद्धि मेरे नहीं तो उनके विकल्प और सङ्कल्प भी मेरे नहीं हैं, भगवान् के हैं। यह समर्पण भाव है। समर्पण में 'अहं' ही नहीं रहता, तो 'ममत्व' कहाँ से रहेगा? जब 'अहं' और 'ममत्व' नहीं रहा तो शेष भगवान् ही तो बचे। जब भगवान् के अतिरिक्त और कुछ रहा ही नहीं तो फिर जिसका भी स्मरण होगा, वह भगवत्स्मरण ही बन जाएगा। तब भगवत्स्मरण उतना ही सहज हो जाएगा, जितना सहज श्वास-प्रश्वास है।

मूल तथा अनुवाद

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥८॥

हे पार्थ! अभ्यास रूप योग से युक्त, अनन्य चित्त से चिन्तन करने वाला व्यक्ति परम दिव्य पुरुष को उपलब्ध करता है॥८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

जो कवि, पुराण, नियन्ता, अणु से भी अणु, सबके धारक, अचिन्त्य रूप वाले, तम से परे आदित्यवर्ण (परमात्मा) का चिन्तन करता है –

वह भक्ति से युक्त अन्त समय में योगबल से भृकुटि के बीच में प्राणों को अच्छी प्रकार से स्थापित करके अचल मन से परम दिव्य पुरुष को (उसका) स्मरण करते हुए प्राप्त हो जाता है॥९,१०॥

विपुल-भाष्य

परमात्मा का स्वरूप

'अन्तमति सो गति' अर्थात् जीव का जिस प्रकार का चिन्तन अन्त समय में होता है, शरीर छोड़ने के बाद उसकी वैसी ही गति होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि साधक अन्तिम समय में भगवच्चिन्तन करे। कठिनाई यह है कि अन्तिम समय में प्रायः वेदना इतनी तीव्र होती है कि मनुष्य का अपने पर नियन्त्रण ही नहीं रहता। ऐसे में भगवच्चिन्तन करना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण वह उपाय बता रहे हैं जिसके द्वारा इस समस्या का निराकरण हो सके।

प्रथम तो साधक को निरन्तर अभ्यास करना होगा कि संसार अनित्य है। अनित्य से नित्य सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। नित्य केवल परमात्मा है। जब यह धारणा दृढ़ हो जाएगी तो सांसारिक पदार्थों से मिलने वाले सुख-दुःख के प्रति समता का भाव आएगा, यही योग है। जैसे-जैसे योग का अभ्यास बढ़ेगा वैसे-वैसे चित्त की वृत्तियाँ शान्त होंगी। वस्तुतः परमात्मा की प्राप्ति में बाधक चित्तवृत्ति की चंचलता ही है और चित्तवृत्ति की चंचलता ही दुःख का कारण है। दर्शन की दृष्टि से चंचलता रजोगुण से उत्पन्न होती है। सत्त्वगुण में तो ज्ञान का प्रकाश रहता है। तमोगुण में मूर्च्छा का अन्धकार हो जाता है। इन दोनों ही स्थितियों में दुःख नहीं रहता। दुःख का कारण तो रजोगुण से उत्पन्न होने वाली चित्त की चंचलता ही है। इस चित्त की चंचलता को हटाने का उपाय परमात्मा का ध्यान करना है।

परमात्मा सगुण भी

प्रश्न होता है कि परमात्मा स्वरूपतः निर्गुण है और ध्यान सगुण का ही हो सकता है; तब परमात्मा का ध्यान कैसे किया जाए? समाधान यह है कि परमात्मा निर्गुण ही नहीं है वह सगुण भी है। अतः प्रारम्भ में तो उसके सगुण रूप का ही चिन्तन करना होगा। अन्त में यही चिन्तन निर्विकल्पता में बदल जाएगा। तब आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहेगा। इसलिए गीता ने श्रुति का अनुकरण करते हुए परमात्मा के ऐसे गुणों का वर्णन किया है जिन पर साधक अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है। प्रथमतः परमात्मा को कवि बताया गया है। जिस प्रकार कवि काव्य रचता है, उसी प्रकार परमात्मा संसार की सृष्टि करता है। कविता का उपादान कारण भी कवि है और निमित्त कारण भी। इसी प्रकार संसार का उपादान कारण भी परमात्मा है और निमित्त कारण भी। परमात्मा पुराण है अर्थात् पुराना होते हुए भी नित्य नवीन है। वह सब पर अनुशासन करता है, उसके बनाए नियमों का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। प्रकृति में सबसे छोटा घटक अणु है। परमात्मा उससे भी अधिक सूक्ष्म है। उसने समस्त अस्तित्व को धारण किया है। जैसे सागर के बिना कोई लहर नहीं टिक सकती, ऐसे ही परमात्मा के बिना न प्रकृति टिक सकती है, न जीव।

हम परमात्मा के स्वरूप का कितना भी चिन्तन करना चाहें, हमारे मन और बुद्धि में उसका रूप नहीं आ सकता। हमारी विचार करने की शक्ति परमात्मा के कारण बनी है। परमात्मा हमारे विचार का विषय नहीं बन सकता। जैसे

सारी ऊर्जा का स्रोत सूर्य है, ऐसे समस्त संसार का मूल परमात्मा है। जैसे सूर्य स्व-पर-प्रकाशक है और उसमें कभी अन्धकार नहीं होता, ऐसे ही परमात्मा स्व-पर-प्रकाशक है उसमें अज्ञान का लेश भी नहीं है। इस रूप में परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए –

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

ऐसे चिन्तन करने का फल यह होता है कि साधक का मन स्थिर होकर भगवान् से जुड़ जाता है। भगवान् से जुड़ने का नाम ही भक्ति है। भक्ति का अर्थ है – भाग। अर्थात् जो जीव ऐसा मान लेता है कि वह परमात्मा का ही भाग है, वह अपने दुःख-सुख के भार को परमात्मा पर डाल देता है, स्वयं नहीं ढोता।

जब हम अपने सुख-दुःख के भार को स्वयं ढोने लगते हैं तो हमारी चिन्ताओं का कोई अन्त नहीं होता। हमें तो इतना भी पता नहीं कि अगले क्षण क्या होने वाला है। ऐसे में हम जो भी योजना बनाते हैं, वे सभी योजनाएँ विफल हो जाती हैं। इस प्रकार हमारी दुश्चिन्ताओं का कभी अन्त नहीं आता। किन्तु जब हम अपने जीवन की बागडोर भगवान् के हाथ में छोड़ देते हैं; तो हम निश्चिन्त हो जाते हैं। यही भक्ति है।

भक्ति हार्दिक भाव

भक्ति एक भाव है, विचार नहीं। विचार बुद्धि के स्तर पर होता है, भक्ति हार्दिक भाव है। विचार क्षण-क्षण बदलते हैं, भक्ति स्थिर रहती है। विचार में द्वैत रहता है, भक्ति में उपास्य और उपासक दोनों एक हो जाते हैं। विचार में द्वन्द्व है, भक्ति निर्द्वन्द्व है। विचार का आधार तर्क है। हर तर्क का प्रति तर्क होता है इसलिए कोई भी विचार विरोधी विचार से कट जाता है। इसीलिए विचार के आधार पर हम कभी स्थिर नहीं रह सकते। भक्ति प्रेम है। प्रेम का कोई प्रतिपक्ष नहीं है। द्वेष राग का प्रतिपक्ष है, प्रेम का नहीं। भक्त को सर्वत्र ही भगवान् दिखते हैं, तो वह द्वेष किससे करेगा? जब राग-द्वेष छूट जाते हैं तो अन्य द्वन्द्व भी स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि सब द्वन्द्वों का मूल राग-द्वेष का द्वन्द्व ही है।

द्वन्द्व से मुक्त होने का अर्थ है – समता में स्थिर हो जाना। गीता ने समत्व को ही योग बताया है। योगियों ने समत्व की एक पहचान शारीरिक भी बताई है। जब तक श्वास इड़ा और पिंगला में चलता है, तब तक विषमता बनी रहती है। जब प्राण सुषुम्णा में आ जाता है तब समता फलित होती है। प्राण के सुषुम्णा में आने की पहचान यह है कि साधक का चित्त दो भृकुटियों के बीच वहाँ स्थिर हो जाता है जहाँ मस्तक पर बिन्दी लगाई जाती है। यही शिव के तृतीय नेत्र का स्थान है जिसके जागृत होने पर काम जल कर भस्म हो जाता है। जो साधक जीवन में इस साधना का अभ्यास करता है अन्त समय में भी उसके प्राण इसी स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं, जिसे योगी आज्ञा-चक्र कहते हैं। ऐसी स्थिति में कुशल साधक जन्म-जन्मान्तर में नहीं भटकता, प्रत्युत दिव्य पुरुष में लीन हो जाता है –

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

मूल तथा अनुवाद

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यञ्चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

वेदवेत्ता जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग यति जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करते हुए (लोग) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, मैं उस पद को तुम्हें संक्षेप में बताऊँगा॥११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

सब इन्द्रियों को संयमित करके मन को हृदय-देश में निरुद्ध करके, प्राणों को मूर्धा में स्थापित करके आत्मयोग में दृढ़ स्थित जो व्यक्ति 'ओ३म्' इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ मुझे स्मरण करता हुआ देह छोड़कर जाता है वह परम गति को प्राप्त करता है॥१२–१३॥

विपुल-भाष्य

वेदों का सार

श्रीकृष्ण भगवान् थे – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। तथापि जब उन्होंने मनुष्य का शरीर धारण कर ही लिया तो उन्होंने मनुष्योचित समस्त चर्या का पालन किया। गीता में उन्होंने इसका कारण बताते हुए कहा है कि यद्यपि उन्हें किसी कर्त्तव्य-पालन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे तो पूर्ण हैं, तथापि उन्हें देख कर दूसरे लोग भी कर्त्तव्य-कर्म न छोड़ बैठें, इसलिए वे कर्त्तव्य-कर्म का पालन करते ही हैं। कर्त्तव्य-कर्म करने की आवश्यकता नहीं है फिर भी उनका पालन किया – इस भाव को प्रकट करने के लिए वैदिक परम्परा में लीला शब्द का प्रयोग होता है, यथा – राम-लीला।

श्रीकृष्ण की रास-लीला आदि तो प्रसिद्ध हैं किन्तु एक तथ्य अल्पविदित है। उन्होंने उज्जैन में संदीपनी नामक एक आचार्य के पास गुरुकुल में रह कर ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत विधिवत् वेदाध्ययन किया था। उसी गुरुकुल में उनके पास रह कर सुदामा नामक एक निर्धन ब्राह्मण ने भी स्वाध्याय किया था। हिन्दी के कवि नरोत्तमदास ने अपनी कृति में श्रीकृष्ण के अपने सहपाठी सुदामा के प्रति सहृदयपूर्ण व्यवहार का मार्मिक वर्णन किया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में हमें इतना ही बताना अभिप्रेत है कि श्रीकृष्ण ने विधिवत् वेदाध्ययन किया था। अतः वे जो कुछ भी वेद के सम्बन्ध में कहते हैं, वह अत्यन्त प्रामाणिक है।

यहाँ प्रसङ्ग चल रहा है कि वेद के अध्ययन करने का प्रयोजन क्या है अथवा वेद का सार क्या है? इस बात को तीन प्रकार से कहा गया है – (१) वेदवित् जिसे अक्षर अर्थात् अविनाशी बताते हैं (२) वीतराग यति जिसे प्राप्त करते हैं और (३) जिसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, वह पद कौन-सा है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं उस पद को सार-रूप में बताऊँगा –

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यञ्चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

सच्चिदानन्द ही अक्षर

वेद शब्द के तीन अर्थ हैं – सत्, चित्, आनन्द। वेद शब्द विद् धातु से निकला है और विद् धातु के तीन अर्थ व्याकरण में बताए गए हैं – सत्ता, ज्ञान तथा लाभ। इसी आधार पर वेद शब्द सच्चिदानन्द का वाचक बन जाता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो सत् है उसका कभी नाश नहीं हो सकता। अतः वेद जिस सत् तत्त्व का वर्णन करता है वह तत्त्व अक्षर अर्थात् अविनाशी है। अद्वैत दृष्टि में द्वैत नहीं हो सकता। अतः जो-जो सत् है वह-वह ही चिदानन्द भी है। जड का अर्थ यह नहीं है कि उसमें चेतना नहीं है। चेतना तो सर्वव्यापक है; जड हम उसे कहते हैं जिसमें स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियाँ न हों, किन्तु चेतना उसमें भी रहती है। निष्कर्ष यह है कि सच्चिदानन्द ही अक्षर है।

उस सच्चिदानन्द के सर्वव्यापक होने पर भी उसे प्राप्त वे ही कर सकते हैं, जो संयमी हैं, और वीतरागी हैं। जिसमें राग है उसमें द्वेष भी है। अतः राग-द्वेष युक्त व्यक्ति सत् को दो भागों में विभक्त कर लेता है – अनुकूल तथा प्रतिकूल। यह सत् को खण्डित कर देने की प्रक्रिया है, जबकि सच्चिदानन्द अक्षर होने के कारण अखण्ड है। जिसके खण्ड हो सकते हों वह तो कभी खण्डित हो ही जाएगा। अतः अक्षर तो अखण्ड ही हो सकता है और अखण्ड पर दृष्टि उसी की हो सकती है जो वीतराग हो।

वीतरागता की प्राप्ति का उपाय है – ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म के समान चर्या। ब्रह्म संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का हेतु है – इससे बड़ा कर्म नहीं हो सकता किन्तु यह सब करते हुए भी वह उस कर्म में आसक्त नहीं होते। यही ब्रह्म की चर्या है। जिस साधक के समस्त कर्म इसी प्रकार अनासक्त भाव से किए जाते हैं, वही ब्रह्मचारी है। क्योंकि आसक्ति का सघनतम रूप काम-वासना में प्रकट होता है अतः काम-वासना का निरोध ब्रह्मचर्य का पर्यायवाची बन गया है तथापि ब्रह्मचर्य शब्द बहुत व्यापक है; आसक्ति मात्र अब्रह्म है। जो ब्रह्मचारी नहीं वह वीतराग नहीं है और जो वीतराग नहीं है वह सच्चिदानन्द को नहीं जान सकता। इस सच्चिदानन्द का ही वाचक पद है – ओंकार। अतः ओंकार ही वेद का सार है। सच्चिदानन्द को जान लिया तो सारे वेद को जान लिया।

इतना कह देने पर भी यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि वीतरागता कहो या ब्रह्मचर्य्य - उसकी प्राप्ति का व्यावहारिक उपाय क्या है? वीतरागता-वीतरागता रटने से तो न वीतरागता आती है, न ब्रह्मचर्य्य सिद्ध होता है। अतः गीता वीतरागता की सिद्धि की एक व्यावहारिक पद्धति बताती है। इस पद्धति के पाँच अङ्ग हैं – (१) सारे इन्द्रियों रूपी द्वारों पर संयम करें, (२) मन को हृदय (=केन्द्र) में निरोध करें। (३) प्राणों को मूर्धा में स्थिर करें। (४) ओंकार का अनायास उच्चारण (अनाहत नाद) होने दें तथा (५) परमात्मा का चिन्तन करें –

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।

यहाँ इन्द्रियों को द्वार बताया है। इन्द्रियों के माध्यम से हमारी चेतना बाहर जाती है। बाहर तो जगत् है जो क्षर है, अक्षर तो है नहीं। अतः साधक यदि अक्षर को जानना चाहे तो इन्द्रियों को अन्तर्मुख बनाए –

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्
कश्चिद्धीरः प्रत्यङ्आत्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्

इन्द्रियों से भी सूक्ष्म मन है। इन्द्रियाँ तो फिर भी कभी शान्त हो जाती हैं किन्तु मन सदा ही चलता रहता है। जो स्वयं चल है उसे सभी कुछ चल नजर आता है। चलती रेल में बैठे व्यक्ति को घर-पेड़, खेत-खलिहान सब चलते हुए दीखते हैं। गतिशीलता जगत् का नाम है। चञ्चल मन को जगत् ही नजर आता है। मन स्थिर हो जाए तो यह जगत् ही स्थिर ब्रह्मरूप दिखने लगता है। तब साधक को सब कुछ ब्रह्म रूप नजर आने लगता है – सर्व ब्रह्ममयं जगत् अथवा वासुदेवः सर्वमिति। मन को स्थिर करने का उपाय है कि उसे हृदय में निरुद्ध कर दिया जाए। हृदय नाम केन्द्र का है। हृ का अर्थ है हरति अर्थात् आदान, द का अर्थ है ददाति अर्थात् प्रदान और य का अर्थ है यच्छति अर्थात् संयम। जो संयमित रहते हुए आदान-प्रदान करे वह हृदय है। विश्व का हृदय ब्रह्म है वही उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करता है। मन को उस ब्रह्म में लगाएँ तो वह स्थिर हो जाएगा।

परम गति की प्राप्ति

इन्द्रियाँ और मन जब अवरुद्ध हो गए तो प्राण का इन माध्यमों में भटकने का रास्ता बन्द हो जाएगा। तब प्राण मूर्धा में स्थित हो जाएगा। इस मूर्धा को ही दसवाँ द्वार कहा जाता है। प्राण के वहाँ स्थित हो जाने पर इन्द्रियों की

तथा मन की चञ्चलता स्वतः निवृत्त हो जाती है। तब एक अजपा जप चलता है – सोऽहम्। श्वास अन्दर जाता है तो 'सो' की ध्वनि होती है तथा श्वास बाहर आता है तो 'हम्' की ध्वनि होती है। यह ध्वनि करनी नहीं पड़ती, चौबीस घंटे श्वास-प्रश्वांस के साथ स्वतः होती हुई, जीव को यह स्मरण दिलाती है कि जीव ही ब्रह्म है। जब यह ध्वनि सूक्ष्म हो जाती है और चित्त के शान्त होने पर श्वास-प्रश्वास की तीव्रता स्वयं मन्द हो जाती है तो 'सोऽहम्' में व्यञ्जन सकार तथा हकार भी लुप्त हो जाते हैं और केवल 'ओ३म्' शेष रहता है। यही ओंकार का सहज अजपा-जप है जिसे योगिजन अनाहत-नाद कहा करते हैं क्योंकि इस नाद में कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठ नामक उच्चारण स्थानों को प्राण आहत नहीं करता। हाँ, श्वास-प्रश्वास की चोट भृकुटियों के मध्य आज्ञाचक्र पर अवश्य पड़ती है। इस चोट से आज्ञा चक्र, जो शिव का तृतीय नेत्र है, जागृत होकर काम को भस्म कर देता है। साधक को यह सारी प्रक्रिया आत्म के शुद्ध रूप परमात्मा का स्मरण करते हुए करनी है तब ही उसे सफलता मिलेगी। जो जीवन में इस प्रक्रिया को सिद्ध कर लेता है, अन्त समय में वह इसी प्रक्रिया से अपने प्राण छोड़ता है। ऐसे साधक को परम गति मिलती है। परम गति का अर्थ है अन्तिम गति अर्थात् इसके बाद वह जन्म-जन्मान्तर में नहीं भटकता। परम गति का अर्थ उत्कृष्ट गति भी है। जब गति अपने उत्कृष्टतम रूप में होती है तो वह स्थिति में बदल जाती है। पाँच मील की यात्रा प्रति घंटा एक मील चलने पर पाँच घंटे में होगी, दो मील चलने पर ढाई घंटे में होगी, पाँच मील चलने पर एक घंटे में, दस मील चलने पर आधा घंटे में; गति बढ़ाते-बढ़ाते कल्पना करें कि गति इतनी तीव्र हो गई कि वह यात्रा शून्य समय में सम्पन्न हो गई। यही उत्कृष्टतम गति है। विचार करें तो पता चलेगा कि यही उत्कृष्टतम गति भी है और यही स्थिति भी है। यहाँ भटकन नहीं है।

मूल तथा अनुवाद

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

हे पार्थ! जो अनन्य चित्त से नित्य निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ हो जाता हूँ॥ १४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

मुझे प्राप्त करके परम सिद्धि को प्राप्त महात्मा क्षणिक तथा दुःखों के घर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करते॥१५॥

विपुल-भाष्य

मुक्ति का उपाय

मोक्ष का उपाय तो श्रीकृष्ण ने बता दिया किन्तु वह उपाय सरल नहीं है। इन्द्रियों तथा मन पर काबू पाना, प्राण को मूर्धा में दसवें द्वार तक ले जाना, ओंकार का अजपा-जप करना और भगवान का स्मरण रखना – ये सब सरल साधन नहीं हैं। साधक सरल साधन की खोज में रहते हैं। अतः भगवान् कृपा करके एक सरल उपाय भी बताते हैं।

उपर्युक्त सभी साधन न हो पाएँ तो केवल एक साधन से भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। वह साधन है – प्रतिक्षण भगवत्स्मरण। यदि भगवत्स्मरण के साथ चित्त किसी दूसरे पदार्थ में भी जाएगा तब तो स्मरण में बाधा आ जाएगी। अतः नित्य स्मरण की शर्त है कि किसी अन्य की ओर चित्त न जाये – अनन्यचेता; जो ऐसा स्मरण कर सके उसका तो चित्त भगवान् से सदा ही जुड़ा रहेगा। अतः वह नित्ययुक्त होने के कारण सच्चा योगी है। ऐसे योगी को भी भगवान् सरलता से ही प्राप्त हो जाते हैं –

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

वेदान्त का अधिकारी

मनुष्य का मन सुख की इच्छा से भाँति-भाँति के पदार्थों में भटकता रहता है। अतः पहले यह समझना आवश्यक है कि संसार के पदार्थों में सुख नहीं है। तब ही मनुष्य अनन्यचेता बन सकता है और तब ही उसका भगवत्स्मरण सतत और नित्य हो सकता है। वेदान्त का वही अधिकारी है जिसे नित्य और अनित्य के बीच विवेक प्राप्त हो गया है। इस विवेक के होने पर इस लोक और परलोक के भोगों के प्रति वैराग्य हो जाता है क्योंकि वे अनित्य हैं, यह वैराग्य होने पर शम, दम आदि गुण स्वतः प्रकट होते हैं। ये गुण प्रकट होने पर ही मोक्ष की इच्छा सफल होती है। अतः वेदान्त का अधिकारी उसे ही बताया गया है जो (१) नित्यानित्यवस्तु के बीच विवेक कर सके (२) इहलोक-परलोक के भोगों के प्रति विरक्त हो (३) शम दमादि गुणों से सम्पन्न हो तथा (४) मोक्ष का अभिलाषी हो।

वेदान्त के अधिकारी की ये चार शर्तें पूरी हों तो स्वतः ही भगवत्स्मरण होने लगता है। भगवत्स्मरण का तात्पर्य अपने ही शुद्ध रूप से है। अपने स्वरूप से अधिक सुलभ कुछ भी नहीं है। वस्तुतः स्वरूप के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त करना हो तो प्रयत्न करना पड़ेगा, किन्तु स्व स्वरूप को प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न करना नहीं पड़ता, वह तो सदा ही प्राप्त है। जितने उपाय बताए जा रहे हैं, वे पररूप को हटाने के हैं, स्वरूप को प्राप्त करने के नहीं। फिर भी यहाँ भगवान् को सुलभ कहा गया ताकि साधक को यह भ्रम न हो जाए कि भगवान् सांसारिक पदार्थों के समान दुर्लभ है। परमार्थतः सुलभ-दुर्लभ की बात पदार्थों पर लागू होती है, स्व स्वरूप पर नहीं।

जो स्व स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, अपितु कहना चाहिए कि जो स्वरूप को जान लेते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। संस्कृत में जितनी धातुएँ गति को बताती हैं वे सब ज्ञान को भी बताती हैं। जब कहा जाता है कि साधक ने भगवान् को प्राप्त कर लिया तो यह अर्थ नहीं होता कि भगवान् पहले प्राप्त नहीं था, अपितु यह अर्थ होता है कि प्राप्त होने पर भी वह पहले ज्ञात नहीं था। हम जन्म-जन्मान्तर में भटकते हैं, वासनाओं के कारण वासना सुख की खोज में भटकाती है।

सुख की खोज में हम अनेक जन्मों से भटकते रहे हैं। पहले जन्म की बात छोड़ भी दें, क्योंकि वह हमें याद नहीं है, किन्तु इसी जन्म की बात लें। धन की इच्छा को लें जो जीवनभर चलती है। धन प्राप्त होता है, क्षण भर को लगता है कि सुख मिला किन्तु शीघ्र ही वह सुख समाप्त हो जाता है तथा और अधिक धन प्राप्ति की इच्छा पकड़ लेती है। काम-सुख को देखें। कभी ऐसा नहीं होता कि काम-सुख शाश्वत बना रहे। एक क्षण के बाद ही वह सुख विषाद में बदल जाता है। लोकैषणा अर्थात् यश की इच्छा वायवी है। जो हमारे मुँह पर हमारी प्रशंसा में दो शब्द कहते हैं, वे ही हमारी पीठ पीछे हमारी निन्दा में दस वाक्य रस ले-लेकर बोलते हैं। सब जगह अहङ्कारियों की भीड़ भरी है, ऐसे में कौन किसका गुणगान करेगा? हम तो भगवान् का गुण-गान भी यह दिखाने के लिए करते हैं कि देखो हम कितने बड़े भक्त हैं! यह कहानी है हमारी वित्तैषणा, पुत्तैषणा और लोकैषणा की। सब वासनाएँ क्षणभङ्गुर हैं – अशाश्वत हैं और दुःख का घर हैं – दुःखालय हैं। ये ही कामनाएँ हमें अगले जन्म में इसलिए ले जाती हैं कि इस जन्म में वे पूरी नहीं हो पातीं – हो सकती भी नहीं। मनु ने भोगों को कामनाओं की आग भड़काने वाला ही बताया है। बुद्ध ने तृष्णा को एक ऐसे पात्र की तरह बताया है जिसका पैंदा नहीं है और हम उसके द्वारा कुएँ से जल भर कर निकालना चाहते हैं। हम बारम्बार उस बेपैंदे के पात्र को कुएँ में डाल कर खींचते हैं। जब वह पात्र बाहर आता है तो पता चलता है कि वह थोड़ा भी पानी खींच कर नहीं लाया। फिर भी आशा नहीं छूटती; हम उस पात्र को फिर कुएँ में डाल कर फिर खींचते हैं कि शायद इस बार पानी निकल आए किन्तु दोनों ओर से खुले पात्र में पानी कैसे बन्द हो सकता है?

यह क्रम चल रहा है। पैसा मिला, हमने समझा कि सिद्धि मिल गई। पद मिला, हमने फिर समझा कि सफलता मिल गई। कहीं प्रशंसा मिली तो हमने समझा कि हम वस्तुतः बहुत बड़े हैं। किन्तु अन्त में हमारे हाथ में गरम राख

के अतिरिक्त कुछ नहीं आता – रोग, बुढ़ापा, उपेक्षा और फिर मृत्यु। किन्तु फिर भी कामनाएँ छूटती नहीं। कैसे छूटें, हम आप्तकाम तो हुए नहीं? नया जन्म ले लेते हैं, इस आशा में कि शायद इस बार कृतकृत्य हो जाएँ। कृतकृत्यता सम्भव है, किन्तु इसके लिए यह समझना होगा कि वासनाओं की तृप्ति का प्रयत्न कितना निरर्थक है। यह भ्रम टूटना चाहिए कि इस बार कामना की पूर्ति से सुख नहीं मिला तो अगली बार मिल सकता है। कामनाएँ स्वभावतः दुःख ही दे सकती हैं, सुख नहीं। जिसकी यह समझ में आ जाता है, वह दुबारा जन्म नहीं लेता।

महात्मा कौन?

गीता के प्रस्तुत श्लोक में एक शब्द का प्रयोग हुआ – महात्मा। हम बुद्धि तक तो देख पाते हैं किन्तु बुद्धि से परे भी एक तत्त्व है – महत्। श्रुति कहती है – बुद्धेरात्मा महान्परः। कभी सोच कर देखें कि भोजन खाते तो हम हैं किन्तु भोजन को पचाकर रक्त, मांस, मज्जा आदि कौन बनाता है? क्या हम बुद्धिपूर्वक खाये गए भोजन को रक्तादि में परिणत करते हैं? यह कार्य बुद्धि का नहीं अपितु महत्-तत्त्व का है। हृदय का स्पन्दन, रक्त-सञ्चार, नाड़ियों का कम्पन – ये सब अनैच्छिक क्रियाएँ महत् द्वारा सञ्चालित होती हैं। जो साधक अपने को इस महत् तत्त्व से जोड़ देता है, वह महात्मा है। महत् तत्त्व से जुड़ने का अर्थ है – बुद्धि से परे चले जाना। वस्तुतः बुद्धि ने ही तो हमें यह गणना करना सिखलाया है कि अमुक कामना की पूर्ति के लिए अमुक योजना बनानी चाहिए। हम बुद्धि से योजनाएँ बनाते रहते हैं। किन्तु एक अदृश्य शक्ति जो बुद्धि से भी परे है कुछ और ही योजना बना डालती है – मेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और। इसलिए महात्मा अपने को उसी बुद्धि से परे की शक्ति पर छोड़ देता है। ऐसा साधक परम संसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। परम संसिद्धि का अर्थ है – कृतकृत्यता, जब कुछ प्राप्तव्य शेष न रह जाए। जब कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता तब पुनः जन्म लेना अनावश्यक हो जाता है। तब वह चक्र टूट जाता है जिसे आवागमन कहा जाता है – पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्।

मूल तथा अनुवाद

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक सभी लोकों से फिर आना पड़ता है परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता ॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

ब्रह्म का दिन एक हजार युग का तथा रात्रि भी एक हजार युग की है - इस बात को कालतत्त्ववेत्ता जानते हैं॥१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥१८॥

सारे भूतगण (ब्रह्मा का) दिन होने पर अव्यक्त से उत्पन्न हो जाते हैं तथा रात्रि होने पर उसी अव्यक्त नामक तत्त्व में विलीन हो जाते हैं॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

हे पार्थ! ये भूतगण प्रकृति के वशीभूत रात्रि आने पर लीन हो जाता है तथा दिन आने पर उत्पन्न हो जाता है॥१९॥

विपुल-भाष्य

सत् श्रीअकाल पुरुष

जीव के जन्म लेने का स्थान केवल यह भूलोक ही नहीं है और न केवल इस भूलोक पर दिखने वाली योनियाँ ही सब योनियाँ हैं। इस भूलोक पर जितना अधिकतम सुख सम्भव है उससे सौ गुणा अधिक सुख स्वर्गलोक में है जहाँ पुण्यात्मा जीव जाते हैं किन्तु पुण्य क्षीण होने पर वे पुनः भूलोक में आ जाते हैं – **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।** कुछ देवता ऐसे हैं जो पूरे कल्प-पर्यन्त बने रहते हैं। इन देवताओं को आजान देवता कहते हैं। इन आजान देवताओं का सुख पूर्व में वर्णित देवताओं से सौ गुणा अधिक है और आजान देवताओं के सुख से भी सौ गुणा अधिक सुख इन्द्र का तथा इन्द्र से भी सौ गुणा अधिक सुख ब्रह्मलोक में है।

ब्रह्मलोक के सुख का ऐसा विवरण पढ़कर सहज ही ब्रह्मलोक में जाने की इच्छा मनुष्य को पकड़ सकती है किन्तु गीता सावधान करती है कि ब्रह्मलोक का सुख भी शाश्वत नहीं है, वहाँ से भी जीव को पुनर्जन्म लेना पड़ता है। कठोपनिषद् में नचिकेता ने कहा कि जीवन कितना भी लम्बा क्यों न हो, वह थोड़ा ही होता है – **अपि सर्वं जीवितमल्पमेव।** कारण यह है कि भोगों से कभी तृप्ति होती नहीं, अतः कितने भी सुख कितने भी लम्बे समय तक भोग लिए जाएँ, अतृप्ति बनी ही रहती है। यही अतृप्ति मृत्यु के समय मनुष्य को दुःख देती है कि यदि थोड़ा और जीवित रहते तो और सुख भोगते। मनुष्य आयुष्य से अधिक जीवित तो नहीं रह पाता किन्तु और सुख भोगने की इच्छा उसे नया शरीर अवश्य प्रदान कर देती है। यह इच्छा छूटती है परमात्म-दर्शन से और परमात्म-दर्शन होने पर ही पुनर्जन्म का अभाव होता है –

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

सुख की सीमा

ब्रह्मलोक में ऐन्द्रिक सुख की चरम सीमा है। यह एक अनुभूत तथ्य है कि सुख में समय सिकुड़ जाता है और दुःख में लम्बा हो जाता है। ब्रह्मलोक में सुख इतना अधिक है कि वहाँ समय इतना अधिक सिकुड़ जाता है कि हमारे चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष वहाँ ब्रह्मा के एक दिन के समान होते हैं और इतने ही वर्ष एक रात के समान। ब्रह्मलोक के सुख की अतिशयता का अनुमान इतने से लगाया जा सकता है कि यद्यपि हम देवताओं को अत्यन्त सुखी मानते हैं तथापि उनका एक रात-दिन हमारे केवल एक वर्ष के बराबर होता है जबकि ब्रह्मा का एक रात-दिन आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्ष के बराबर है। समय के इस अनुपात से अनुमान लगाया जा सकता है कि देवलोक का आनन्द हमारे आनन्द की अपेक्षा तथा ब्रह्मलोक का आनन्द देवलोक के आनन्द की अपेक्षा कितना अधिक है।

इस गणना पर पहुँचने का आधार यह है कि सत्य युग के १७,२८,०००, त्रेता के १२,९६,०००, द्वापर के ८,६४,००० तथा कलियुग के ४,३२,००० वर्ष होते हैं। इस प्रकार मिलाकर एक चतुर्युगी में ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। यह दिव्ययुग कहलाता है। ऐसे एक हजार दिव्य युगों का अर्थात् ४,३२,००,००,००० वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन तथा इतने ही वर्षों की एक रात होती है। इस प्रकार ब्रह्मा का दिन-रात ८,६४,००,००,००० वर्षों का होता है। दिन-रात को ही संस्कृत में अहोरात्र कहते हैं। अहोरात्र के जानकारों ने यह सब गणना बताई है –

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

ब्रह्मलोक का सुख हमारी अपेक्षा इतने लम्बे काल तक चलता है किन्तु वह सुख भी प्रलय के समय समाप्त हो जाता है।

संयोग जन्य सुख कहो, ऐन्द्रिक सुख कहो, सांसारिक सुख कहो – एक ही बात है। ये सब सुख अनित्य हैं, चाहे कितने ही लम्बे क्यों न चलें। इनकी अनित्यता का एक कारण तो यह है कि भोग की सामग्री कभी न कभी

हमसे छूटती ही है। दूसरा कारण यह है कि जिस कर्म के फलस्वरूप भोग-सामग्री हमें मिलती है उस कर्म के क्षीण हो जाने पर वह सामग्री हमें नहीं मिल पाती। तीसरा कारण यह है कि हमारी भोग करने की शक्ति सीमित है; हम अनन्त भोग नहीं कर सकते, भले ही हमें भोग की सामग्री उपलब्ध भी क्यों न होती रहे। भोग इन्द्रियों के द्वारा होता है और इन्द्रियों की शक्ति सीमित है; बल्कि भोग से इन्द्रियों की शक्ति तेजी से क्षीण होती है – **सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।** ब्रह्मलोक में सुख भोगने वाले जीव भी मानो सुख भोगते-भोगते थक जाते हैं तो सो जाते हैं। यही ब्रह्मा की रात्रि है जिसे हम प्रलय कहते हैं। रात्रि में विश्राम के अनन्तर जब जीव जगते हैं तो ब्रह्मा का दिन हो जाता है, यही सृष्टि की उत्पत्ति है।

प्रश्न होता है कि जब दिन है तब तो सृष्टि दिखाई दे रही है किन्तु रात में अर्थात् प्रलय में यह सृष्टि कहाँ चली जाती है? उत्तर है कि प्रलयकाल में सृष्टि अव्यक्त हो जाती है। कल्पना करें कि पृथ्वी, नदी, पर्वत – ये सब व्यक्त पदार्थ बिखर कर परमाणुओं में बदल जाएँ तो फिर क्या दिखेगा? परमाणु तो आँखों से दिख सकते नहीं, तो यह सृष्टि का अव्यक्त में लीन हो जाना हुआ। किन्तु परमाणु भी आज खण्डित हो चुका है। अतः अव्यक्त का अर्थ लेना चाहिए – मूल प्रकृति अर्थात् सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था। परमाणु तो फिर भी वैज्ञानिक उपकरणों की पकड़ में आते हैं किन्तु मूल प्रकृति विज्ञान की पकड़ से भी बाहर है। वह अव्यक्त है। सृष्टि के समय इस अव्यक्त से ही व्यक्त प्रकट हो जाता है। वही क्रम निरन्तर चलता रहता है – प्रलय-सृष्टि, सृष्टि-प्रलय। यही काल की वर्तुलाकार गति है –

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥

संस्कृत का एक शब्द बहुत महत्वपूर्ण है – काल। काल समय का वाचक भी है और मृत्यु का वाचक भी। जो काल की पकड़ में है वह मृत्यु की पकड़ में है। ऊपर हमने ब्रह्मा के दिन-रात की गणना की है। उसे ३६५ से गुणा करने पर ब्रह्मा का वर्ष निकल आएगा और उसे भी १०० से गुणा करने पर ब्रह्मा की आयु निकल आएगी। किन्तु ८,६४,००,००,०००×३६५×१०० वर्ष की भी अन्ततः एक अवधि है। इसके बाद ब्रह्मा को भी काल के कराल गाल में जाना होगा। फिर अस्मदादि अल्पजीवियों की तो कथा ही क्या है –

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

अर्थात् जन्म-मृत्यु हमारा ही नहीं होता, सृष्टि का भी होता है। हम अनादिकाल से सृष्टि के साथ-साथ जन्म-मरण के चक्र में घूम रहे हैं। काल-चक्र का ही यह चमत्कार है।

कालचक्र

काल-चक्र से मुक्ति कैसे हो? काल एक अवधि में फैला है, जैसे कोई रेखा फैली रहती है। रेखा की भी लम्बाई है, काल की भी लम्बाई है, किन्तु बिन्दु की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई जैसा कोई भी आयाम नहीं है। जैसे रेखा की लम्बाई है, किन्तु बिन्दु की नहीं; वैसे ही काल की लम्बाई है, किन्तु क्षण की नहीं। क्षण काल का वह लघुतम खण्ड है जिसका आगे कोई खण्ड नहीं हो सकता। जब हम क्षण में टिक जाते हैं, तो काल की पकड़ से बाहर हो जाते हैं। क्षण वर्तमान है, वह इतना छोटा है कि उसमें अतीत और भविष्य के लिए जगह ही नहीं है। यदि हम वर्तमान में स्थिर हो जाएँ तो न अतीत की स्मृति के लिए अवकाश रहता है, न भविष्य की कल्पनाओं के लिए। वहाँ केवल शुद्ध चेतना शेष रह जाती है। यह शुद्ध चेतना ही काल की पकड़ से – मृत्यु के पाश से – परे है। हमें मृत्यु की पकड़ में अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना ले जाती है, हम यदि वर्तमान में – शुद्ध वर्तमान में – स्थित हो जाएँ तो न स्मृति है, न कल्पना, न कामना, न वासना। जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने एक ग्रन्थ लिखा – समयसार। समय काल का वह खण्ड है जिसका आगे विभाजन न हो सके। जो इस समय में टिक गया, वह आत्मस्थ हो गया। वर्तमान

में तो केवल आत्मा ही है, ये जो मनोजगत् है वह सब भूत और भावी में है, स्मृति कल्पना और कामना में है। यह मनोजगत् ही जगत् में परिभ्रमण का हेतु बन जाता है। प्रकृति काल से बँधी है, पुरुष तो सदा कालातीत ही है। यही तो सत् श्रीअकाल पुरुष है जिसकी वन्दना सिक्ख सम्प्रदायानुयायी किया करते हैं।

मूल तथा अनुवाद

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

परन्तु उस अव्यक्त से भी परे जो दूसरा एक सनातन अव्यक्त भाव है वह सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

उस अव्यक्त को अक्षर कहा जाता है, उसे ही परम गति कहा जाता है, वही मेरा परम धाम है जिसको प्राप्त करके व्यक्ति (संसार में) नहीं लौटता ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

हे अर्जुन! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है, जिस परमात्मा के अन्दर ये सब भूत हैं और जिससे ये सब कुछ ओत-प्रोत है॥२२॥

विपुल-भाष्य

सनातन अव्यक्त

सृष्टि-प्रलय, प्रलय-सृष्टि का क्रम चलता रहता है। व्यक्त सृष्टि अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती है तो प्रलय हो जाती है और वही अव्यक्त प्रकृति जब व्यक्त हो जाती है तो जगत् की उत्पत्ति हो जाती है। इस क्रम में हम मूल प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं किन्तु वह फिर भी व्यक्त हो जाती है किन्तु एक ऐसा तत्त्व भी है जो कभी व्यक्त होता ही नहीं। उस तत्त्व को अनेक नामों से कहा गया है – कभी श्रीकृष्ण उसे उत्तम पुरुष के 'अहम्' 'माम्' 'मम्' आदि पदों से अभिव्यक्त करते हैं, कभी उसे दिव्यपुरुष बताते हैं, कभी 'कवि' 'पुराण' आदि विशेषणों से विशेषित करते हैं। यहाँ उसे 'सनातन अव्यक्त' कहा है अर्थात् वह कभी भी व्यक्त होता ही नहीं। मूल प्रकृति भी अव्यक्त है किन्तु वह सनातन अव्यक्त नहीं है, वह कभी न कभी व्यक्त हो जाती है। परमात्मा कभी भी व्यक्त नहीं होता। व्यक्त होते ही तो कोई भी वस्तु इन्द्रियों का विषय हो जाएगी और जो इन्द्रियों का विषय होगा वह परिवर्तनशील होगा। उसमें छहं भावविकार रहेंगे – (१) जायते, (२) अस्ति, (३) विपरिणमते, (४) वर्धते, (५) अपक्षीयते, (६) नश्यति। अस्तित्व उसका ही होता है जो उत्पन्न होता है। अतः प्रथम भावविकार है – उत्पन्न होना। दूसरा भावविकार है – अस्तित्व में आना, तीसरा परिवर्तन, चौथा वृद्धि, पाँचवाँ ह्रास और षष्ठ नाश। निष्कर्ष यह कि जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है किन्तु एक भाव सनातन है; वह उत्पन्न नहीं होता इसलिए वह नष्ट भी नहीं होता। ये षड्भाव विकार प्रकृति में ही होते हैं, पुरुष में नहीं। अपने दैनन्दिन अनुभव में भी हम देखते हैं कि हमारा शरीर बदलता है, इच्छाएँ बदलती हैं, सिद्धान्त बदलते हैं किन्तु इन सब परिवर्तनों को जानने वाला ज्ञाता नहीं बदलता। जो बचपन में साक्षी था, साक्षी वही बुढ़ापे में भी है जिसे हम 'मैं' के रूप में जानते/कहते हैं। यह साक्षी पुरुष मृत्यु को भी जानता/

देखता है किन्तु स्वयं नहीं मरता। अभिप्राय यह है कि जो भी भौतिक है, वह सब नष्ट होता है किन्तु यह परम अव्यक्त तत्त्व नष्ट नहीं होता –

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

यह सनातन अव्यक्त तत्त्व ही अक्षर कहलाता है क्योंकि इसमें कोई क्षरण नहीं होता। इसे परम गति भी कहा जाता है।

परम गति की प्राप्ति

पहले हम कह चुके हैं कि 'गति की चरम सीमा' तथा 'स्थिति' एक ही बात है। उस अक्षर तत्त्व को परम गति कहो या स्थिति एक ही बात है – तदेजति तन्नेजति। संसार से स्थिर कुछ भी नहीं है। जो पाषाणादि हमें स्थिर दिखाई देते हैं, विज्ञान बताता है कि उनमें भी इलेक्ट्रोन आदि इतनी तीव्रता से गति कर रहे हैं कि वे हमें खड़े दिखाई देते हैं। गति के दिखाई देने के लिए भी गति के बीच थोड़ा-सा अन्तराल चाहिए किन्तु यदि वह गति इतनी निरन्तर हो कि जब तक हम एक कण को जान पाएँ कि वह चला गया तब तक वह दुबारा वहीं घूम कर फिर अपनी पुरानी जगह आ जाए तो हमें लगेगा कि वह कण कहीं गया ही नहीं, अपितु वहीं था।

इलेक्ट्रोन आदि की गति ऐसी ही निरन्तर – लगभग बिना अन्तराल के – है। जगत् शब्द का अर्थ है – जो निरन्तर चले। किन्तु श्रुति में एक अद्भुत प्रयोग किया गया कि जो 'जगती में जगत्' है – यत्किञ्च जगत्यां जगत्। हम पृथ्वी पर चल रहे हैं और समझ रहे हैं कि पृथ्वी अचल है किन्तु पृथ्वी भी चल रही है, न केवल अपनी धुरी पर अपितु सूर्य के भी चारों ओर, और सूर्य भी स्थिर नहीं है, एक केन्द्र के चारों ओर परिभ्रमण कर रहा है जिसे वेद ने परमेष्ठी कहा है। यही 'जगती में जगत्' है – चलायमान पर चलायमानता है। जो किसी आधार पर चल रहा है वह अपने आधार को स्थिर मान रहा है किन्तु वस्तुतः वह आधार भी चलायमान है। कुछ भी ऐसा नहीं जो स्थिर हो। पर अन्ततोगत्वा चलायमान का कोई आधार तो स्थिर होना ही चाहिए। इसी स्थिर आधार को यहाँ परम गति कह दिया गया क्योंकि स्थिरता गति की ही चरम परिणति है।

जब तक गति चरमोत्कर्ष को प्राप्त न हो तब तक आवागमन (आना-जाना) बना रहता है। पृथ्वी पर हम कहीं से भी चलना प्रारम्भ करें, यदि नाक की सीध में चलते चलें तो वहीं पहुँच जाएँगे जहाँ से चले थे, क्योंकि पृथ्वी गेंद की भाँति गोल है। जन्म-मरण की गति भी ऐसी ही है। हम जन्म से चल कर जन्म तक और मृत्यु से चल कर मृत्यु तक भी पहुँच जाते हैं। जीवन में कुछ भी नया घटित नहीं होता, पुराना ही लौट-लौट कर आता है किन्तु हम समझते हैं कि यौवन अथवा वृद्धावस्था शायद पहली बार आए हैं। ये अवस्थाएँ पहले अनन्त बार आ चुकी हैं। जीवन का हर अनुभव पहले अनन्त बार हो चुका है।

किन्तु एक अवस्था अब तक नहीं आई – परम गति अथवा स्थिति की अवस्था। जब वह अवस्था आ जाती है तो अवस्थाओं की पुनरावृत्ति नहीं होती –

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

यह परमगति कैसे प्राप्त हो? इसके लिए अनन्य भक्ति चाहिए। सभी सम्प्रदायों ने भक्ति के लिए अनन्यता की शर्त लगाई है। अनन्यता का एक ऐसा अर्थ ले लिया गया कि घोर धर्मान्धता को प्रश्रय मिला। कहा गया कि यदि कृष्ण की भक्ति करनी है तो किसी अन्य इष्ट रामादि की भक्ति नहीं करनी चाहिए। फलस्वरूप जय श्रीकृष्ण कहने वाले जय श्रीराम कहने से चिढ़ने लगे। अनन्य का यह अर्थ कदापि नहीं है। पुरुष से अन्य प्रकृति है। जो उस परम पुरुष को पाना चाहे वह अन्य अर्थात् प्रकृति की भक्ति में न लगे – यह अनन्य भक्ति का सही अर्थ है। कृष्ण हों या राम, ये सब तो परमपुरुष के ही रूप हैं, इनमें किसी की भी भक्ति करें, वह परम पुरुष की ही भक्ति है, इससे भक्ति की अनन्यता में कोई अन्तर नहीं आता – सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति। किन्तु प्रकृति के अङ्गभूत पद,

प्रतिष्ठा, धन, सुख भोगादि के प्रति भी आस्था रखें और परम पुरुष को भी जान लें, ये नहीं हो सकता। श्रुति कहती है कि सुख-भोग की इच्छा और परमात्मा की प्राप्ति एक दूसरे से बहुत दूर हैं, इनकी दिशाएँ विपरीत हैं और इन दोनों का फल भी भिन्न है – दूरमेते विपरीते विषूची।

कर्म का द्वन्द्व

संसार के पदार्थ अप्राप्त हैं, अतः उन्हें प्राप्त करने के लिए कर्म करना पड़ता है; भगवान् प्राप्त ही हैं उन्हें जानने के लिए कर्म से अलग होना पड़ता है। इसलिए कहा कि जागतिक पदार्थों का मार्ग भगवान् के मार्ग से भिन्न है। भगवान् कर्म से प्राप्त नहीं होते - इस कारण एक विचारधारा पनपी कि कर्म छोड़ दो। किन्तु कर्म किसी से छूटा नहीं; आचार्य शङ्कर भी कर्म नहीं छोड़ पाए, वे बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही इतना काम कर गए कि दूसरे लोग अस्सी वर्ष की आयु पाकर भी नहीं कर पाए। हम गीता को भी गलत समझते रहे और आचार्य शङ्कर को भी। कर्म से भगवान् नहीं मिलते – यह सच है, किन्तु इसलिए कर्म छोड़ देने चाहिए – यह न गीता ने कहा, और न यह आशय आचार्य शङ्कर का था। कहा केवल यह कि कर्म से परमात्मा नहीं मिलता, संसार के पदार्थ तो कर्म से ही प्राप्त होते हैं; दोनों का फल अलग-अलग है –

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
सकल पदारथ हैं जग माँही, कर्महीन नर पावत नाँही।

गीता ने एक प्रश्न का समाधान किया कि मान लें हमें संसार के पदार्थ चाहिए ही नहीं तो फिर कर्म क्यों करें? उत्तर कह दिया कि कर्म छोड़ना तो सम्भव ही नहीं है किन्तु गड़बड़ तब पैदा होती है, जब हम अपने को कर्मों का कर्ता मान लेते हैं। कर्म प्रकृति के क्षेत्र की चीज है और हम पुरुष हैं। यह विवेक होने पर प्रकृति अपना कार्य करती रहती है और पुरुष साक्षी बना रहता है। यही कर्म में अकर्म सिद्ध करने का मार्ग है। जब हमने अकर्म का अर्थ कर्म छोड़ना मान लिया, तो दो बड़े अनर्थ फलित हुए। कर्म छोड़े तो जा सकते नहीं; प्रकृति बलात् कर्म में नियोजित कर देती है। अतः कर्म छोड़ने के दुराग्रह ने हमें प्रकृति के विरुद्ध खड़ा कर दिया। हम प्रकृति से जीत तो सकते नहीं, एक अन्तर्द्वन्द्व में फँस कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि कर्म हमसे छूटेंगे नहीं और इसलिए हमें कभी भी परमात्म प्राप्ति होगी ही नहीं। हाथ लगी निराशा, कुण्ठा, ग्रन्थि और विषाद। अर्जुन इसी दल-दल में फँसने जा रहा था – भिक्षा-वृत्ति का आश्रय लेना चाहता था – कि श्रीकृष्ण ने उसे बचाया किन्तु हमारा देश इस दल-दल में फँस गया। दूसरे कर्म छोड़ने के दुराग्रह से हम अकर्म में नहीं जाकर अकर्मण्यता में चले गए। फलित हुआ – अभाव और दरिद्रता। निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों हमारे हाथ से निकल गए। हम गीता के सूत्र को जितना शीघ्र अपनाएँगे इस दुरवस्था से हम उतना ही जल्दी उभर जाएँगे – नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

मूल तथा अनुवाद

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥२३॥

हे अर्जुन् ! जिस समय शरीर छोड़कर वापिस नहीं लौटते और वापिस लौट आते हैं उन दोनों कालों को मैं तुम्हें बताऊँगा॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष तथा उत्तरायण के छः मास के समय में शरीर छोड़ने वाले ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होते हैं॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥

धूम, रात्रि तथा कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन के छः महीनों में शरीर छोड़ने वाले योगी चंद्रमा की ज्योति को प्राप्त करके फिर लौट आते हैं॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥२६॥

संसार के ये दो शुक्ल और कृष्ण मार्ग सनातन हैं जिनमें एक से जाकर ऐसे स्थान को प्राप्त होता है जहाँ से लौटना नहीं होता (किन्तु) दूसरे मार्ग से जाकर फिर वापिस आता है॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७॥

हे अर्जुन! इन दोनों मार्गों को जानकर कोई योगी दिग्भ्रमित नहीं होता, इसलिए हे अर्जुन ! उन सभी समयों में योग-युक्त रहो॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

योगी इस तत्त्व को जान कर वेद, यज्ञ, तप और दान का जो पुण्य फल बताया गया है, उस सब का अतिक्रमण कर जाता है और आदि परम पद को प्राप्त होता है॥२८॥

विपुल-भाष्य

मरणोपरान्त जीव की गतियाँ

गीता के अष्टम अध्याय में पुनर्जन्म विद्या का ही वर्णन विशेष रूप से है। श्रीकृष्ण का उद्देश्य तो यह है कि किस प्रकार जीव आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाए, किन्तु तथ्य यह है कि सभी जीव तो मुक्त होते नहीं। अतः जो मुक्त नहीं होते उन जीवों का मरणोपरान्त क्या होता है – यह सम्भावना है कि या तो वह लौट कर संसार में आए अथवा लौट कर न आए –

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥

ये दोनों प्रकार की सम्भावनाएँ मुख्यतः इस बात पर निर्भर करती हैं कि व्यक्ति में वासना है या नहीं। वासना शेष है तो वह लौट कर संसार में आएगा। वासना नहीं है तो वह मुक्त हो जाएगा।

जो मुक्त नहीं होंगे वे कर्मानुसार दो मार्गों का अनुसरण कर सकते हैं – शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग, जिन्हें अन्यत्र क्रमशः देवयान तथा पितृयान भी कहा गया है। शुक्ल मार्ग के भी दो भेद हैं – स्वर्ग में ले जाने वाला देव-पथ कहलाता है और क्रममुक्ति में ले जाने वाला ब्रह्म-पथ कहलाता है। कृष्ण मार्ग भी दो प्रकार के हैं – पितृलोक में ले जाने वाला पितृपथ तथा नरक गति में ले जाने वाला यमपथ है।

शुक्ल मार्ग से वे जीव जाते हैं जो शास्त्रोक्त कर्म करते हैं। ये शास्त्रोक्त कर्म दो प्रकार के हैं – विद्या-सापेक्ष तथा विद्या-निरपेक्ष। विद्या-सापेक्ष कर्म वे हैं जिनमें वेद-ज्ञान की आवश्यकता रहती है। वे कर्म तीन हैं – यज्ञ, तप और दान। इस तीन कर्मों को करने वाला देव-पथ से स्वर्ग की प्राप्ति करता है।

विद्या-निरपेक्ष कर्म भी तीन हैं – इष्ट, आपूर्त तथा दत्त। इष्ट स्मार्त कर्म हैं, आपूर्त समाज-कल्याण के कार्य हैं तथा दत्त गरीबों को भोजनादि देना है। इन तीन कर्मों को करने वाला जीव पितृपथ से पितृलोक में जाता है।

यदि उपर्युक्त विद्या-सापेक्ष तथा विद्या-निरपेक्ष कर्म ही फल की इच्छा के बिना किए जाते हैं, तो वे ब्रह्मपथ के द्वारा क्रममुक्ति के साधन बन जाते हैं।

शेष सभी शास्त्रविरुद्ध स्वार्थपूर्ण अथवा निरर्थक कर्म यमपथ द्वारा संसार में आने वाले हैं जिसमें नरक गति भी शामिल है।

इस प्रकार जीव अपने ज्ञान तथा कर्म के आधार पर मरणोपरान्त गति को प्राप्त होता है तथापि शास्त्रों में कुछ काल का आधार भी दिया है कि कौन जीव किस काल में शरीर छोड़े तो उसकी क्या गति होती है। यह वर्णन लाक्षणिक है, इसे शब्दशः नहीं समझना चाहिए। शुक्ल ज्ञान और पवित्रता का प्रतीक है, कृष्ण अज्ञान और मलिनता का प्रतीक है। शुक्ल हैं – अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण तथा कृष्ण हैं – धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।

हमने जो ऊपर चार पथों का वर्णन किया है उनमें से यहाँ शुक्ल के अन्तर्गत केवल ब्रह्म-पथ तथा कृष्ण के अन्तर्गत पितृ-पथ का वर्णन है। देव-पथ और यम-पथ को हेय मानकर छोड़ दिया गया है तथापि उनका भी ग्रहण यहाँ अभीष्ट है।

पहले ब्रह्म-पथ को लें। यह विद्या-सापेक्ष यज्ञ, तप और दान कर्मों को निष्काम भाव से करने से प्राप्त होती है। इन कर्मों को वेदविद् ही कर सकता है। कर्म अपना फल अवश्य देता है। ये कर्म उत्तम है, अतः जीव इन कर्मों के फलस्वरूप ब्रह्मलोक में चला जाता है जहाँ सुख का उत्कृष्ट रूप है। किन्तु जीव क्योंकि उन सुखों की इच्छा नहीं करता, अतः अनिच्छापूर्वक भी इन कर्मों के फलस्वरूप ब्रह्मलोक के उत्कृष्ट सुख भोगने के अनन्तर वह मुक्त हो जाता है, यही क्रममुक्ति है। यदि जीव इन्हीं कर्मों को फलेच्छापूर्वक करता है तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है जहाँ से पुण्य कर्मों के क्षीण होने पर वह पुनः मर्त्यलोक में आ जाता है। यह विद्या-सापेक्ष कर्मों के निष्कामभाव तथा सकामभाव से करने का फल हुआ।

शेष रहे विद्या-निरपेक्ष कर्म। ये कर्म पितृलोक अथवा चन्द्रलोक में ले जाते हैं। वहाँ इन कर्मों का फल भोगकर जीव पुनः मर्त्यलोक में आ जाता है। गीता ने विद्या-सापेक्ष कर्मों के करने वालों को ब्रह्मविद् कहा है तथा लोक कल्याणकारी विद्या-निरपेक्ष कर्मों के करने वालों को भी योगी कहा है। स्पष्ट है कि इन दोनों ही प्रकार के कर्मों में मनुष्य को स्वार्थ त्याग करना पड़ता है। यदि ये कर्म सकामभाव से भी किए जाएँ तो भी साधक को शास्त्रानुसार अपने तन, मन और धन की सुविधा तो न्यूनाधिक छोड़नी ही पड़ती है। अतः इन कर्मों का फल सुखद ही है, किन्तु फिर भी जब तक कामना है, बन्धन तो है ही, मोक्ष नहीं है।

मोक्ष तो कामना के छोड़ने पर ही है। शास्त्रोक्त कर्म करते समय कुछ न कुछ जो त्याग करना पड़ता है वह भी कामना की अल्पता का सूचक है किन्तु बदले में इहलोक और परलोक के सुख की कामना वस्तुतः उत्तम कर्मों को भी एक प्रकार का व्यापारिक रूप दे देती है। हम कुछ देकर कुछ पाना चाहते हैं – यह व्यापार है। शास्त्रोक्त कर्मों में यह व्यापार सदा लाभ का ही सौदा सिद्ध होता है, घाटे का नहीं। इतने पर भी व्यापार, व्यापार है। उसे भक्ति नहीं कहा जा सकता। व्यापार के विनिमय से हमें स्वर्ग अथवा पितृलोक का सुख मिल जाता है।

ब्रह्मलोक का सुख साधक को बिना कामना के ही प्राप्त होता है; बल्कि कामना करने वाला तो वहाँ पहुँच भी नहीं सकता। दूसरे ब्रह्मलोक के सुख के बाद मुक्ति हो जाती है, पुनर्जन्म नहीं होता – निष्कामता का इतना बड़ा

फल है। यह क्रममुक्ति है। हाँ, जिसे सर्वत्र भगवत्‌दर्शन होने लगे उसे ब्रह्मलोक भी नहीं जाना पड़ता। उसकी समवलय मुक्ति हो जाती है - **न तस्य प्राण उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते।**

उपर्युक्त वर्णन के प्रतीकार्थ पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। उत्तर का अर्थ है – परवर्ती। उत्तरायण है परवर्ती और दक्षिणायन है पूर्ववर्ती। हम सबसे पहले तो राग-द्वेष के वशीभूत होकर समाज में एक दूसरे की लौकिक सहायता करने में ही लगे रहते हैं।

यही इष्टापूर्त है। यह पूर्ववर्ती स्थिति है। इससे संसार-यात्रा तो चलती है, किन्तु संसार से परे जाने की स्थिति नहीं बनती। संसार से परवर्ती स्थिति बनती है विद्या द्वारा। यही परवर्ती स्थिति उत्तरायण है। यहाँ ज्ञान प्रधान है, राग द्वेष नहीं।

राग-द्वेष धूम है, उनमें सब कुछ व्यामोह की स्थिति में रहता है। ज्ञान अग्नि है उसमें अन्धकार नहीं रहता। धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन क्रमशः अज्ञान की बढ़ती हुई स्थितियाँ हैं किन्तु इस अज्ञान में भी क्योंकि परोपकार का भाव निहित रहता है अतः अन्त में दक्षिणायन भी चान्द्र ज्योति को प्राप्त करा ही देता है। चान्द्र ज्योति मन्द है किन्तु शीतल है। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण क्रमशः ज्ञान की बढ़ती हुई स्थितियाँ हैं। इनकी परिणति चन्द्रमा की मन्द ज्योति में नहीं, अपितु ब्रह्म की उस परम ज्योति में होती है जो सब ज्योतियों की ज्योति है – **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।**

पिण्ड में मूलाधार से लेकर ऊपर सहस्रार चक्र तक ज्ञान का उत्तरोत्तर विकास है। यहीं अग्नि से ब्रह्म तक की यात्रा है। यह शरीर के ऊपरी भाग में है। अतः इसे उत्तरायण ही कहा जाना चाहिए। मूलाधार से नीचे काम-वासना का स्थान है। यह कृष्ण पक्ष है। ज्ञान की यात्रा में प्रकाश की उत्तरोत्तर वृद्धि है, वासना में अन्धकार की वृद्धि है। ये दो ही गतियाँ साधक कर सकता है – ऊर्ध्व मुख अथवा निम्न मुख; प्रथम अनावृत्ति में ले जाती है दूसरी आवृत्ति में। इस सम्बन्ध में योगी को कोई सन्देह नहीं रहता, किन्तु भोगी निम्न वृत्तियों में ही फँस कर रह जाता है –

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

शुक्ल और कृष्ण यात्रा के मार्ग हैं। उन पर यात्रा करके भी साधक ब्रह्म तक पहुँच सकता है किन्तु यह दीर्घकालिक तरीका है। कृष्ण तो अर्जुन को समवलय मुक्ति अथवा सद्योमुक्ति की प्रेरणा देते हैं जिसके सामने विद्या-सापेक्ष यज्ञ, तप और दान जैसे वेदोक्त पुण्य-फलदायी कर्म भी फीके पड़ जाते हैं –

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः॥८॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ नवमोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥१॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥२॥

श्री भगवान् बोले –

तुम दोष देखने की प्रवृत्ति से रहित हो। मैं तुम्हें अत्यन्त गोपनीय विज्ञान सहित वह ज्ञान दूँगा जिसे जानकर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे। यह राजविद्या परम गोपनीय, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष फल देने वाला, धर्मानुकूल, साधने में सुगम तथा अविनाशी है। ॥१-२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥३॥

हे परंतप! इस धर्म में श्रद्धा न करने वाले व्यक्ति मुझको प्राप्त न होकर मृत्यु के संसार मार्ग में लौट आते हैं॥३॥

विपुल-भाष्य

ज्ञान और विज्ञान

गीता का नवम अध्याय कुछ अद्भुत घोषणाओं के साथ प्रारंभ होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि (१) वे ऐसा परम गुह्य तत्त्व बतलाएँगे जिसमें ज्ञान तथा विज्ञान दोनों का समावेश होगा। (२) वह गुह्य तत्त्व राजविद्या के नाम से प्रसिद्ध है जिसे जानकर साधक अशुभ से मुक्त हो जाता है। जो इस विद्या में श्रद्धा नहीं रखते वे भगवत्प्राप्ति न करके मृत्यु रूप संसार में भ्रमण करते रहते हैं। मूल श्लोक इस प्रकार है –

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

असूया दृष्टि

प्रथम बात यह है कि अर्जुन में असूया नहीं है। असूया नाम है किसी के गुणों को भी दोष रूप में देखने की प्रवृत्ति। असूया एक ऐसी दृष्टि है जो कहीं भी हमारी श्रद्धा टिकने ही नहीं देती। दोष-दृष्टि वालों को वेद, उपनिषद्, गीता – सबमें दोष ही दोष दिखाई देते हैं। राम हों या कृष्ण, महावीर हों या बुद्ध, ईसा हों या मोहम्मद – असूया वाले व्यक्ति को सबमें दोष ही दोष दिखाई देते हैं। ऐसे व्यक्ति को साधारण ज्ञान भी नहीं दिया जा सकता, विशिष्ट

ज्ञान की तो बात ही क्या। असूया वाले व्यक्ति तो स्वयं ईश्वर में भी दोष निकालने से बाज नहीं आते, ईश्वर ने सृष्टि बनाई तो उसमें दुःख क्यों बनाए – इत्यादि इत्यादि। ऐसे व्यक्ति को जो भी ज्ञान दिया जाएगा, वह उसी ज्ञान में दोष ढूँढ लेगा।

इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! मैं तुझे गुह्य ज्ञान भी दे दूँगा क्योंकि तुझ में असूया-भाव नहीं है। वह गुह्य ज्ञान दो भागों में विभक्त है – ज्ञान और विज्ञान। जानने की दो पद्धतियाँ हैं – संश्लेषण द्वारा तथा विश्लेषण द्वारा। संश्लेषण द्वारा हम अनेकता में छिपी एकता को जानते हैं - यह ज्ञान है। विश्लेषण द्वारा हम एकता से अनेकता के आविर्भाव की प्रक्रिया को जानते हैं – यह विज्ञान है।

कोई कवि कमल को देखता है तो उसे उसमें अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन होता है। उसके लिए कमल एक इकाई है। कमल की पंखुड़ियों को खण्ड-खण्ड करके तोड़कर देखने की वह कल्पना भी नहीं कर सकता। उसके लिए अविभाज्य कमल ही सत्य है, शिव है, सुंदर है। किन्तु वैज्ञानिक इतने से संतुष्ट नहीं है। वह कमल को तोड़–तोड़ कर विश्लेषण करेगा। उसमें कौन-कौन से तत्व कितनी मात्रा में हैं – यह इसका अध्ययन करेगा। कवि संश्लिष्ट दृष्टि से समग्र कमल की एकता को देखता है – यह ज्ञान है। वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा कमल के भिन्न-भिन्न घटक तत्वों को जानता है। उसके लिए कमल अनेक घटकों का समूह है। यह विज्ञान है। श्रीकृष्ण ज्ञान-विज्ञान दोनों के बताने की बात कहते हैं।

ज्ञान-विज्ञान दोनों की समन्वित दृष्टि ही अशुभ से मुक्त कर सकती है। ज्ञान शांति देता है और विज्ञान सुख। ज्ञान का फल है स्वरूपावबोध, आत्मावबोध। आत्मा अखण्ड है, वह ज्ञान का विषय है, विज्ञान का नहीं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है वह एक नहीं, अनेक है अतः वह विज्ञान का विषय है। शांति तो स्वरूपावबोध से ही मिलती है, किन्तु सुख प्रकृति के रहस्यों को जानकर ही प्राप्त किया जा सकता है। विज्ञान यही कर रहा है; वह सुख तो दे रहा है, नित्य नए आविष्कारों से नए-नए सुख-साधन उत्पन्न हो रहे हैं, किन्तु शांति देना विज्ञान के वश में नहीं है। सर्वत्र मनुष्य अशांत है और विज्ञान उसकी अशांति दूर करने में असमर्थ है। मनुष्य कुंठा से, झुँझलाहट से और तनाव से ग्रस्त है। इस स्थिति से ज्ञान ही मुक्त कर सकता है – ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। दूसरी ओर आत्मावबोध शांति दे सकता है किन्तु रोटी, कपड़ा, मकान नहीं जुटा सकता। इसलिए गीता में श्रीकृष्ण ने सर्वत्र आत्मज्ञान के साथ कर्मयोग का भी उपदेश दिया। विज्ञान से ही तो कर्म का वितान होता है - विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्मापि च।

अन्तर में ज्ञान-जन्य स्थितप्रज्ञता और बाह्य में सब लौकिक शास्त्रोक्त कर्मों का सम्पादन – यही वह गुह्य रहस्य है जो गीता की अपनी विशेषता है। इस पद्धति के तीन फल हैं – प्रथम तो कर्म के निष्पादन से लौकिक आवश्यकताओं की पूर्तिरूप फल मिलता है, जो प्रत्यक्ष है। दूसरे, आत्मज्ञानी के सभी कर्म धर्मानुकूल ही होते हैं। तीसरे, ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाला कर्म के श्रम से अथवा कर्म की निष्फलता से कभी पीड़ित नहीं होता अतः उसकी साधना सुखपूर्वक होती है। ज्ञानी कर्म का कर्ता-भोक्ता तो अपने को कभी मानता ही नहीं कि कर्म उसे दुःखी कर सके और आत्मा तो सदा आनंद रूप ही है।

बात बिल्कुल तर्कसङ्गत है किन्तु फिर भी हम से सध नहीं पाती क्योंकि हमारी श्रद्धा नहीं है। हम कर्मों के कर्ता नहीं हैं – यह बुद्धि से समझ लेने पर भी हृदय से हम अपने को कर्ता ही माने हुए हैं। बौद्धिक ज्ञान जीवन में बहुत गहरा नहीं पैठता, भले ही बुद्धि विलास में उपयोगी हो जाए। जीवन में पैठती है श्रद्धा। श्रद्धा अन्धविश्वास का नाम नहीं है। श्रद्धा का अर्थ है – जहाँ ज्ञान और कर्म की दूरी समाप्त हो जाए।

बुद्धि व हृदय का द्वन्द्व

हम शास्त्रों को पढ़कर सब कुछ जान लेते हैं। विशेष कर धर्म के क्षेत्र में तो शायद ही कोई ऐसी चीज हो जो हमें मालूम न हो। साधारण व्यक्ति भी आत्मा, ब्रह्म, पाप, पुण्य आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ बता सकता है। किन्तु बड़े–बड़े विद्वान् भी लोभ के वशीभूत होकर अकरणीय कार्य कर बैठते हैं, क्रोध के आवेश में मूढवत् आचरण करने

लगते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि जानकारी है, किन्तु श्रद्धा नहीं। तर्क के स्तर पर हमने जान लिया कि लोभ बुरा है, किन्तु हृदय कहता है कि अधिकाधिक संग्रह करो, जाने कब पैसे की आवश्यकता पड़ जाए। बुद्धि से जाना कि क्रोध बुरा है, किन्तु हृदय कहता है कि बिना कठोरता बरते संसार का कार्य नहीं चल सकता। इस बुद्धि और हृदय के द्वंद्व से ही वह स्थिति उत्पन्न होती है जिसे बोलचाल की भाषा में कथनी और करनी का भेद कहा जाता है।

श्रद्धा क्यों नहीं हो पाती? क्योंकि हम भक्त नहीं हैं, विभक्त हैं। भक्त का अर्थ है – जो जुड़ा है, विभक्त का अर्थ है – जो टूट गया। जो पूरे अस्तित्व से जुड़ा है, वह भक्त है। अस्तित्व से जुड़ना कहो या परमात्मा से जुड़ना कहो – एक ही बात है। जो सूर्य की उपासना को, वृक्ष की उपासना को, पृथ्वी की उपासना को जड की उपासना मानते हैं, वे अस्तित्व को और परमात्मा को पृथक्-पृथक् मान रहे हैं। जिनके लिए अस्तित्व मात्र परमात्मा है उनके लिए किसी की भी उपासना परमात्मा की उपासना है; जो अस्तित्व से कट गया वह भक्त नहीं, विभक्त है।

जो अस्तित्व से टूट जाता है वह अपने में भी टूट जाता है। जहाँ खण्ड है, वहाँ द्वैत है। जहाँ द्वैत है वहाँ भय है – **द्वितीयाद्वै भयं भवति**। खण्डित व्यक्ति अपने से भी डरता है। उसे डर रहता है कि आज उसने ऐसा करने का निर्णय किया है, किन्तु पता नहीं कि कल वह वैसा कर भी पाएगा या नहीं; प्रायः वह अपने निर्णय पूरे नहीं कर पाता। इससे उसकी इच्छा-शक्ति निर्बल होती चली जाती है। उसका मनोबल क्षीण हो जाता है। वह सर्वत्र हार जाता है – मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। उसको अपने पर ही श्रद्धा नहीं रहती, किसी दूसरे पर तो श्रद्धा करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

हम भक्त बनें – जुड़ें। अस्तित्व से जुड़ें, परमात्मा से जुड़ें। अनेकता में एकता को देखें – **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**। एकत्व का दर्शन होने पर मोह और शोक कहां टिक सकते हैं? – **तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः**। फिर न भय है, न पाप – **ततो न विजुगुप्सते**।

श्रद्धा का अर्थ है – यह विश्वास कि अपनी सृष्टि का निर्माण मैं स्वयं करता हूँ। दुःख भगवान् ने नहीं बनाया, मैंने अपने अज्ञान से दुःख उत्पन्न किया है। ज्ञान से वह दुःख दूर भी मुझे ही करना होगा। हमने कहा कि अज्ञान से दुःख होता है। वस्तुतः कहना यह चाहिए कि अज्ञान ही दुःख है। योग-सूत्र ने अविद्या को ही क्लेश कहा है।

श्रीकृष्ण ने कहा कि जहाँ श्रद्धा नहीं, वहाँ भगवद्दर्शन भी नहीं। भगवद्दर्शन हृदय से होता है, बुद्धि से नहीं। जहाँ बुद्धि ठहर जाती है, वहीं प्रकृति की सीमा है और जहाँ प्रकृति की सीमा है वहीं परमात्मा का प्रारम्भ है। तर्क का महत्व है प्रकृति को जानने में, विज्ञान में। श्रद्धा का महत्व है परमात्म-दर्शन में, परम सत्य के साक्षात्कार में। महत्व दोनों का है किन्तु जन्म-मरण के चक्र से तो श्रद्धा ही मुक्त कर सकती है।

श्रद्धा कहें या अनसूया अर्थात् असूया का अभाव कहें - एक ही बात है। श्रद्धा है विधायक् दृष्टि, असूया है निषेधात्मक दृष्टि। जिसकी दोष-दृष्टि है उसे सर्वत्र प्रकृति की भयंकरता दिखती है, जिसमें श्रद्धा है उसे सर्वत्र परमात्मा के सत्यं शिवं सुन्दरं के दर्शन होते हैं। दृष्टि ही सृष्टि है। हम जैसा देखना चाहते हैं, अस्तित्व में वही दिख जाता है, कहना चाहिए अस्तित्व वैसा ही परिणत हो जाता है। पदार्थ दृष्टि वाले के लिए संसार पदार्थों का समूह है, परमात्म-दृष्टि वाले के लिए कण-कण चेतना की ज्योति से द्योतित है। यह दृष्टि का ही भेद है और दृष्टि के भेदानुसार सृष्टि भी भिन्न हो जाती है।

मूल तथा अनुवाद

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मुझ अव्यक्त स्वरूप वाले द्वारा यह सब जगत् ओतप्रोत है और ये सब भूत मुझमें स्थित हैं (किन्तु) मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

मेरे योग के ऐश्वर्य को देखो कि ये सब भूत मेरे में नहीं हैं किन्तु मैं इनका भरण-पोषण करने वाला और उत्पन्न करने वाला हूँ। फिर भी मेरी आत्मा भूतों में स्थित नहीं है।।५।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

जैसे सर्वव्यापी महान् वायु सदा आकाश में टिका है उसी प्रकार सब भूत मुझमें स्थित हैं। ऐसा समझो ।।६।।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

हे कुन्तीपुत्र ! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं (अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाते हैं।) और कल्प के आदि में मैं उनको फिर बनाता हूँ।।७।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

अपनी प्रकृति का सहारा लेकर प्रकृति के वशीभूत परतन्त्र स्थूल भूत समुदाय को मैं बार-बार बनाता हूँ।।८।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

हे धनंजय! कर्मों में अनासक्त उदासीन के समान स्थित मुझे वे कर्म बाँधते नहीं।।९।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

हे अर्जुन! मुझ अध्यक्ष के द्वारा प्रकृति चर और अचर को उत्पन्न करती है। इसलिये यह संसार चल रहा है।।१०।।

विपुल-भाष्य

परमात्मा की लोकोत्तरता

संसार के रहस्य को न दार्शनिक खोल पाए, न वैज्ञानिक। संसार के रहस्य की इस अभेद्यता के कारण इस देश में एक शब्द प्रचलित हो गया – माया। एक दूसरा शब्द प्रचलित हुआ – लीला। माया कहो या लीला, दोनों ही शब्दों में रहस्यमयता का भाव छिपा हुआ है। गीता में श्रीकृष्ण ने इसी भाव के लिए गुह्यतम शब्द का प्रयोग किया।

पहली रहस्यमयता यह है कि जगत् व्यक्त है किन्तु इससे जो तत्व ओतप्रोत है वह अव्यक्त है। दूसरा रहस्य यह है कि समस्त संसार परमात्मा में है किन्तु परमात्मा जगत् का भाग नहीं है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।

इस वक्तव्य के तत्काल बाद श्रीकृष्ण इसके विपरीत वक्तव्य देते हैं कि संसार परमात्मा में नहीं है।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' और 'न च मत्स्थानि भूतानि' में स्पष्ट विरोध है।

व्यक्त और अव्यक्त का सम्बन्ध

पहेली का हल निकलता है व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध को समझाने से। चुम्बक अपने चुम्बकीय क्षेत्र में स्थित लोहे को अपनी ओर खींच लेता है। चुम्बक भी व्यक्त है, लोहा भी व्यक्त है। किन्तु चुम्बक की आकर्षण शक्ति अव्यक्त है। यह अव्यक्त आकर्षण शक्ति, व्यक्त चुम्बक तथा व्यक्त लोहे, दोनों में ओतप्रोत है। यह, चुम्बक और लोहे, दोनों का स्पर्श करती है। व्यक्त जगत् में अव्यक्त परमात्मा के ओतप्रोत होने का भी यही अर्थ है। जगत् बिखरे हुए परस्पर असम्बद्ध पदार्थों का समूह नहीं है अपितु एकता के सूत्र में पिरोए हुए परस्पर सम्बद्ध पदार्थों का संगठन है। पदार्थ व्यक्त है, किन्तु उन्हें एकता के सूत्र में पिरोनी वाली आकर्षण शक्ति अव्यक्त है। विश्व के एक छोर पर एक परमाणु में कुछ घटित हो तो विश्व के दूसरे छोर पर बैठे परमाणु को वह घटना तत्काल प्रभावित कर देती है। यह प्रभाव इतना त्वरित गति से होता है कि मानो वे विश्व के दो छोरों पर बैठे परमाणु आकाश के एक ही प्रदेश – स्पेस के एक ही बिन्दु – पर बैठे हैं। उन दोनों परमाणुओं को एकसूत्रता में जोड़ने वाला तत्व नितान्त अव्यक्त है। उस तत्व का पता भौतिक विज्ञान को भी नहीं चला है यद्यपि भौतिक विज्ञान इस घटना को जानता है कि विश्व के एक छोर पर रखे परमाणु में घटित होने वाले परिवर्तन को विश्व के दूसरे छोर पर रखा परमाणु समकाल में, साईमैल्टेनियसली, जान जाता है। वह कैसे सम्भव है? कोई भौतिक तत्व तो विश्व के इस छोर के परमाणु की घटना को दूसरे छोर पर रखे परमाणु तक तत्काल एक ही समय में पहुंचा नहीं सकता, क्योंकि आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रकाश से तेज गति किसी की नहीं है। तब यह मानना होगा कि उस एक परमाणु को दूसरे परमाणु से जोड़ने वाली सर्वव्यापक चेतना ही है, कोई भौतिक तत्व नहीं। यह चेतना अव्यक्त है और सब भूतों से ओतप्रोत है। कह सकते हैं कि यह चेतना सब भूतों में व्याप्त है। दूसरी ओर भूत परिवर्तनशील है, चेतना कूटस्थ है। अतः कह सकते हैं कि भूत चेतना में नहीं है अन्यथा चेतना भी कूटस्थ न रह पाती। अथवा क्योंकि चेतना कूटस्थ है, अतः यदि वह भूतों में होती तो भूतों को भी कूटस्थ होना चाहिए था किन्तु वे परिवर्तनशील हैं। अतः यह भी कहा जा सकता है कि चेतना भूतों में नहीं है।

गीता ने एक उदाहरण द्वारा स्थिति स्पष्ट की। आकाश में वायु है। किन्तु न आकाश की स्थिरता वायु में आती है, न वायु की चञ्चलता आकाश में जाती है। आकाश में वायु है किन्तु वायु आकाश का स्पर्श कहाँ कर पाती है? परमात्मा में जगत् है किन्तु जगत् परमात्मा का स्पर्श नहीं कर पाता –

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

परमात्मा अव्यक्त है, वह व्यक्त जगत् को कैसे उत्पन्न कर सकता है? इसके लिए उसे प्रकृति की सहायता लेनी पड़ती है। मूल प्रकृति न तो परमात्मा के समान सर्वथा अव्यक्त ही है, न पञ्चभूतों के समान सर्वथा व्यक्त ही है। यह प्रकृति ही माया है – मायान्तु प्रकृतिं विद्धि। जैसे शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं होती, प्रकृति अथवा माया मायापति परमेश्वर से भिन्न नहीं है।

परमात्मा स्वयं कूटस्थ

परमात्मा स्वयं कूटस्थ है किन्तु वह परिवर्तनशील जगत् को उत्पन्न कर देता है – यही रहस्य है, माया है, लीला है, इसे तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता। फिर भी उसे अनुभव किया जा सकता है। एक स्थितप्रज्ञ कर्म से विचलित हुए बिना अविचल भाव से कर्म कर सकता है। कर्म उसकी परिधि पर घटित होते रहते हैं किन्तु केन्द्र में वह कूटस्थ

बना रहता है। अज्ञानियों को लगता है कि वह कर रहा है और भोग रहा है किन्तु अन्तरतम में न वह कर्ता है, न भोक्ता, वह केवल दृष्टा-ज्ञाता बना रहता है।

इसलिए स्थितप्रज्ञ के कर्म भी अकर्म ही हैं। यदि एक जीव के लिए यह सम्भव है तो परमात्मा के लिए यह सम्भव क्यों नहीं होगा? बल्कि कहना यह चाहिए कि क्योंकि परमात्मा के लिए यह सम्भव है कि वह सृष्टि का सृजन करे, पालन करे और संहार करे किन्तु फिर भी कर्म से बँधे नहीं, इसीलिए परमात्मा के अंशभूत जीव के लिए भी यह सम्भव है कि वह सब कर्त्तव्य कर्म करने पर भी कर्मों से न बँधे। यही वह परम रहस्य है, गुह्यतम विद्या है, जिसे श्रीकृष्ण अर्जुन को देना चाहते हैं।

परमात्मा के कर्मों को हम कर्म न कह कर लीला कहते हैं। कर्म में सफलता है, विफलता है। सफलता में सुख है, विफलता में दुःख। लीला में भी सफलता-विफलता होती है किन्तु वहाँ सफलता का सुख नहीं होता, विफलता का दुःख नहीं, क्योंकि लीला को हम वास्तविक नहीं मानते। लीला में हम जानते हैं कि सफलता भी एक नाटक है, विफलता भी एक नाटक है। सत्य दोनों ही नहीं है। लीला में सफलता-विफलता का सुख-दुःख नहीं है, किन्तु क्रीडा का एक आनन्द अवश्य है।

परमात्मा आनन्द रूप

परमात्मा आनन्द रूप है। यह जगत् इसके आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। आनन्द शब्द जिस टुनदि धातु से निकलता है उस धातु का अर्थ है – समृद्धि। ब्रह्म का बृंहण कहो या उसका आनन्द भाव कहो – एक ही आशय है। बृंहण का अर्थ विस्तार है और आनन्द का अर्थ समृद्धि है। ब्रह्म का यही विस्तार है कि उसमें संसार का बृंहण हो जाता है और यही उसकी समृद्धि भी है।

'दार्शनिक भाषा में बृंहण को विवर्त शब्द से कहा जाता है। विवर्त का अर्थ है कि जिस तत्व का विवर्त होता है वह अपने मूल स्वरूप को छोड़ता नहीं है, जैसे समुद्र का जल विवर्त अर्थात् लहर रूप में आ जाने पर भी जल ही रहता है। विवर्त के विपरीत परिणमन है। परिणमन में मूल तत्व में ही परिवर्तन आ जाता है, जैसे दूध का दही बनना। दूध जब दही बन जाता है तो वह दूध नहीं रहता। जगत् ब्रह्म का विवर्त है, परिणमन नहीं। इस दार्शनिक चर्चा का व्यावहारिक प्रयोजन है। कर्म आत्मा का विवर्त है, परिणमन नहीं अर्थात् साधक जब कर्म में प्रवृत्त हो तो इस बात का निरन्तर ख्याल बना रहना चाहिए कि कर्म करते हुए भी उसकी आत्मा का अपना मूलरूप विकृत नहीं हो गया है। आत्मा का क्योंकि मूल रूप अविकृत है अतः उस मूल रूप की स्मृति बने रहने पर कर्म साधक को अशान्त नहीं कर पाएँगे। इसके विपरीत यदि साधक अपना कर्मों के साथ तादात्म्य भाव मानकर कर्मों के साथ स्वयं भी आन्दोलित होता रहेगा तो स्वाभाविक है कि वह सुख-दुःख के झूले में झूलता रहेगा। इसी स्थिति को कर्म-बन्धन कहा जाता है। कर्म करते हुए भी अपना तादात्म्य परिवर्तनशील कर्म के साथ न जोड़कर स्थिर आत्मा के साथ जोड़े रखना ही स्थितप्रज्ञता है, यही कर्म में अकर्म है। अर्जुन कर्मों की घोरता से भयभीत होकर कर्म छोड़ना चाहता था। श्रीकृष्ण ने उसके इस चिन्तन को दोषपूर्ण तथा अव्यावहारिक बताकर कर्म में अकर्म की सिद्धि करने का व्यावहारिक मार्ग सुझाया। इसी मार्ग से ब्रह्म संसार की उत्पत्ति–स्थिति-प्रलय का हेतु बनते हुए भी कर्म-दोष से निर्लिप्त रहता है। साधक भी इसका अनुकरण कर सकता है। मूल गीता के शब्द हैं – परमात्मा प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में प्रकृति अथवा माया की सहायता से सृष्टि को जन्म देता है किन्तु ये कर्म उसे बाँधते नहीं हैं क्योंकि वह इस सारी प्रक्रिया में उदासीन मध्यस्थ के समान अनासक्त बना रहता है –

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

मूल तथा अनुवाद

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥

मेरे परम स्वरूप को न जानने वाले मूर्ख लोग सम्पूर्ण भूतों के स्वामी, किन्तु मानव शरीर धारण करने वाले, मेरी अवहेलना करते हैं॥११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

निरर्थक आशा, निरर्थक कर्म और निरर्थक ज्ञान वाले विक्षिप्त चित्त वाले व्यक्ति, राक्षसी और आसुरी तथा मोहनी प्रकृति को ही धारण किये रहते हैं॥१२॥

विपुल-भाष्य

दृष्टि आत्मा पर हो, शरीर पर नहीं

परमात्मा अव्यक्त है किन्तु साधक तो उनका साक्षात् दर्शन करना चाहता है। अव्यक्त का दर्शन कैसे हो? भक्तों को दर्शन देने के लिए परमात्मा यदा-कदा व्यक्त रूप में भी प्रकट हो जाते हैं। उनके व्यक्त रूप में प्रकट होने का प्रथम प्रयोजन तो उन्होंने स्वयं ही कह दिया है - साधुजनों की रक्षा और धर्म की स्थापना तथा दुष्टों का नाश उनके अवतार ग्रहण करने का प्रयोजन है। दिव्यता का मनुष्य रूप ग्रहण करना ही अवतार है।

दिव्यता का आंशिक रूप समय-समय पर मनुष्य रूप में अवतरित होता रहा है। कभी हम उसे पैगम्बर अर्थात् परमात्मा के संदेशवाहक के रूप में जानते रहे हैं, कभी ईश्वर के पुत्र के रूप में। किन्तु श्रीकृष्ण की स्थिति भिन्न है। वे सम्पूर्ण दिव्यता के साकार रूप हैं। अतः वे स्वयं भगवान् हैं – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। यह अवधारणा विचित्र है। इस देश में हमने श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् के ही रूप में देखा है, भगवान् के किसी एक अंश रूप में नहीं। आंशिक अवतार भी हैं, जिन्हें अंशावतार कहा जाता है, किन्तु श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं।

वेदोत्तर अवधारणा

इस अवधारणा को समझना थोड़ा कठिन पड़ता है, प्रायः कहा जाता है कि अवतार की अवधारणा वेदोत्तरकालिक है। वेद के भगवान् तो सर्वथा निराकार हैं, वे साकार कैसे हो सकते हैं? विचार करने पर यह धारणा समीचीन प्रतीत नहीं होती। ऋग्वेद की प्रथम पंक्ति पर विचार करें। यह प्रथम पंक्ति इस प्रकार है –

अग्निमीळे पुरोहितम्।

पंक्ति का सीधा-सा अर्थ है – 'मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ जो कि पुरोहित है।' किन्तु इसी पंक्ति का यह अर्थ भी बनता है कि "मैं पुरोहित की स्तुति करता हूँ जो कि अग्नि रूप है।' अब यहाँ हम अग्नि का कुछ भी अर्थ करें किन्तु इतना स्पष्ट है कि अग्नि यहाँ उपास्य है। पुरोहित तो उपासक होता ही है। पंक्ति का सीधा-सा आशय होगा कि उपास्य अग्नि उपासक पुरोहित-रूप है तथा उपासक पुरोहित उपास्य अग्नि-रूप है। भाव यह हुआ कि उपासक उपास्य है और उपास्य उपासक है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो उपासक और उपास्य का समानाधिकरण्य यहाँ उन दोनों

का तादात्म्य बताता है। अब इतना तो स्पष्ट है कि उपासक पुरोहित तो साकार है और उपास्य सामान्यतः निराकार है, किन्तु यदि उपास्य और उपासक में तादात्म्य है तो उपास्य साकार भी हुआ।

यह व्याख्या कोई खींचतान करके नहीं की जा रही है। वैदिक भाषा का एक शब्द है – पुरुष। सामान्यतः हम पुरुष का अर्थ मनुष्य समझते हैं किन्तु वेद में और सांख्य जैसे वैदिक दर्शन में भी पुरुष का अर्थ वह दिव्य तत्त्व भी है जिसे हमें आत्मा अथवा परमात्मा नाम से जानते हैं। यह आकस्मिक घटना नहीं है कि हमने परमतत्त्व को पुरुष शब्द से कहना पसन्द किया जो पुरुष शब्द मनुष्य का वाचक भी है। हमारा आशय यह था कि दिव्य तत्त्व मनुष्य में ही पूर्णतः अभिव्यक्त होता है। अथर्ववेद ने तो स्पष्ट घोषणा ही कर दी – **पुरुषे ब्रह्म विदुः** अर्थात् पुरुष में ही ब्रह्म को जाना। ऋग्वेद ने पुरुष के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा कि पुरुष ही यह सब कुछ है – **पुरुष एवेदं सर्वम्।** ऋग्वेद ने और भी घोषणा की कि महादेव मरणधर्मा अर्थात् मनुष्य में ही अनु प्रविष्ट है – **महादेवो मर्त्त्यां आविवेश।**

साकार और निराकार

अभिप्राय यह है कि पुरुष और पुरुष अर्थात् जीव और ब्रह्म का तादात्म्य वेदों के संहिता भाग में स्पष्टतः प्रतिपादित है। उसी का उपबृंहण उपनिषद् नामक वेदान्त भाग में हुआ। यदि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य है तो साकार उपासक और निराकार उपास्य का भी परमार्थतः तादात्म्य ही हुआ। श्रीकृष्ण में यह तादात्म्य स्पष्ट है। अतः वे अपने लिए उसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिस भाषा का प्रयोग ब्रह्म के लिए किया जाता है। यहाँ यह शंका कि ब्रह्म तो निराकार और अपरिमित है जबकि श्रीकृष्ण साकार और परिमित है। फिर श्रीकृष्ण को ब्रह्म कैसे माना जा सकता है? इसी शंका को लेकर श्रीकृष्ण कहते हैं कि मूढ़ लोग मेरी देह को मानुषी समझ कर मेरी अवहेलना करते हैं किन्तु वे मेरे उस परम भाव को नहीं जानते जो सब भूतों का परम स्वामी है –

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

श्रीकृष्ण के पास मानुषी देह भी है और उसमें निहित परम दिव्य तत्त्व भी है। जिनकी दृष्टि परम दिव्य तत्त्व पर है उनके लिए उनकी मानुषी देह भी दिव्य बन जाती है, जैसे मंदिर में स्थित मूर्ति के कारण मंदिर की चारदीवारी भी पूज्य एवं पावन हो जाती है। देह परमतत्त्व का मंदिर ही तो है। किन्तु जिनकी दृष्टि शरीर पर है उनके लिए शरीर में स्थित दिव्य आत्मा भी शरीर के समान भौतिक ही होकर रह जाती है जैसे कि भौतिक दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए देव-मूर्ति भी पाषाण का एक टुकड़ा ही होती है। श्रीकृष्ण के शरीर पर दृष्टि डालें तो वे हम सबकी तरह एक साधारण मनुष्य हैं किन्तु उनकी दिव्यता पर दृष्टि डालें तो वे भगवान् हैं।

मूढ व्यक्तियों की दृष्टि शरीर पर ही जाती है। श्रीकृष्ण तो हमारे सामने नहीं हैं, किन्तु अनेक सन्त-महात्मा तो हमारे सामने हैं। मूढ व्यक्ति उन सन्त-महात्माओं के दर्शन करने जाते हैं तो उनके शरीर को ही देखकर चले आते हैं – अमुक महात्मा का शरीर तो खा-खा कर मोटा हो गया है, अमुक महात्मा परिश्रम तो कुछ करते नहीं इसलिए सदा रुग्ण रहते हैं, इत्यादि। यह शरीर दृष्टि वाले व्यक्तियों की स्थिति है। जिनकी आत्म-दृष्टि है, वे उन्हीं महात्माओं में दिव्यता के दर्शन कर लेते हैं।

मुख्य बात यह नहीं है कि हमने औरों में क्या देखा – शरीर या आत्मा? मुख्य बात यह है कि यदि हमें औरों का शरीर दिखाई पड़ता है तो हमें अपना भी शरीर ही दिखेगा और यदि औरों में आत्मा दिखाई पड़ती है तो हमें अपने में भी आत्मा ही दिखेगी। जिसे सर्वत्र शरीर दिखाई देता है, उसे सर्वत्र बुराई दिखाई देगी – अपने में भी और दूसरों में भी, क्योंकि शरीर तो सबका ही रक्त, मांस, मज्जा किंवा मल-मूत्र से भरा है। किन्तु जिन्हें आत्मा का दर्शन हो रहा उन्हें सर्वत्र सत्यं शिवं सुन्दरम् अथवा सच्चिदानन्द का ही दर्शन होगा। यह दृष्टि का महत्व है कि आप कहीं शरीर देख लें अथवा आत्मा देख लें, रहते दोनों एक ही जगह हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि मूढ सर्वत्र शरीर को ही देखते हैं। अतः उन्हें श्रीकृष्ण का मनुष्यत्व तो नजर आता है, परमात्मत्व नजर नहीं आता। इसके विपरीत जो सम्यग्दृष्टि है उसे तो श्रीकृष्ण में क्या, सर्वत्र ही आत्म-तत्त्व दिखता

है। अब जो शरीर को ही देखेगा, उसकी सब आशाएँ भी शरीर सम्बन्धी होंगी – पैसा मिल जाए तो अमुक-अमुक सुख के साधन जुटा लूँ। उसके सब कर्म भी इसी प्रकार की आशाओं की पूर्ति के लिए होंगे। उसका सब ज्ञान भी उन्हीं कर्मों के करने में लगेगा और इस प्रकार वह सदा विचित्ति के भाव में रहेगा, सदा अनमना, कहीं भी उसका चित्त टिकेगा नहीं। टिक भी कैसे सकता है? संसार के चंचल पदार्थों को अपना लक्ष्य बनाने वाले का चित्त कैसे स्थिर अथवा शान्त रह सकता है?

तीन प्रकार की प्रकृति

ऐसे मूढ़ लोगों को गीता ने तीन भागों में बाँट दिया – राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति वाले। जब हममें इच्छाएँ प्रबल होती हैं तो हम आसुरी प्रकृति के होते हैं, जब क्रोध प्रबल होता है तो हम राक्षसी प्रकृति के होते हैं और जब मोह प्रबल होता है तो हम मोहिनी प्रकृति के होते हैं। कामना प्रबल होने पर हम दूसरे के हिताहित की नहीं सोचते – यह आसुरी प्रकृति हुई। क्रोध में हमें उचितानुचित का विवेक नहीं रहता – यह राक्षसी प्रकृति हुई। हम अपने सुख की ही हर समय चिन्ता करते रहते हैं – यह मोहिनी प्रकृति हुई। जिन्हें शरीर ही नजर आता है वे इन्हीं तीन प्रकृतियों में फँसे रहते हैं। बिना आत्मदृष्टि हुए इन तीन प्रकृतियों से ऊपर उठना असम्भव है। जो इन तीन प्रकृतियों के दास हैं उनकी समस्त आशाएँ, समस्त कर्म और समस्त ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। वे सदा कुण्ठाग्रस्त, अनमने, चिड़चिड़े, झल्लाए हुए और घुटे-घुटे मन वाले मानो अपनी चेतना ही खो बैठते हैं – विचेतस हो जाते हैं। कितना सजीव वर्णन है ऐसे व्यक्तियों का? –

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीश्चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः॥

मूल तथा अनुवाद

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥१३॥

इसके विपरीत हे अर्जुन! देवी प्रकृति का अवलम्बन लेकर महात्माजन मुझको सब भूतों का आदि कारण और अव्यय समझ कर अनन्य चित्त से भजते हैं॥१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

दृढ़ व्रतवाले निरन्तर मुझे नमन करते हुए मेरा गुणानुवाद करते हुए यत्नपूर्वक मेरे से जुड़कर भक्ति से मेरी उपासना करते हैं॥१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥१५॥

दूसरे (ज्ञानी) मुझे ज्ञान यज्ञ के द्वारा अभिन्न भाव से पूजते हुए भी (मेरी उपासना करते हैं) और कुछ दूसरे मनुष्य अनेक प्रकार से सर्वतोव्यापक पृथक् भाव से मेरी उपासना करते हैं॥१५॥

विपुल-भाष्य

उपासना निरन्तर चले

राक्षसी, आसुरी अथवा मोहिनी प्रकृति के विरुद्ध है – दैवी प्रकृति। कहा जा चुका है कि इच्छाओं के जाल में फँसे लोग असुर हैं, क्रोध राक्षसी प्रवृत्ति है तथा अपने ही अपने सुख की चिन्ता करते रहना मोहिनी प्रकृति है। इन

तीनों प्रकार की प्रकृतियों के विरुद्ध दैवी प्रकृति है। उस दैवी प्रकृति का विवरण देते हुए गीता कहती है कि जो महात्मा हैं वे परमात्मा को सम्पूर्ण संसार का मूल कारण तथा अव्यय जानकर अनन्य मन से उसी की उपासना करते हैं –

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।

दैवी प्रकृति का अर्थ है – परमात्मा की प्रकृति। परमात्मा कामनाओं से मुक्त है, उसमें न राग है, न द्वेष। अतः उसमें क्रोध भी नहीं है। यही परमात्मा की प्रकृति है। जो इस प्रकृति का अनुसरण करते हैं वे साधक दैवी प्रकृति के कहलाते हैं।

दैवी प्रकृति की विशेषता

दैवी प्रकृति की एक विशेषता है – दैवी प्रकृति हमारा स्वभाव है। राग-द्वेष हमारा स्वभाव नहीं है, वह विभाव है, आगन्तुक है। वीतरागता कहीं से आती नहीं, वह तो हम में सदा से ही उपस्थित है किन्तु राग-द्वेष आकर उसे ढक लेते हैं। अतः दैवी प्रकृति प्राप्त नहीं करनी होती, वह तो स्वतः प्राप्त है, केवल राक्षसी, आसुरी तथा मोहिनी प्रकृति को छोड़ना होता है। नियम यह है कि जो कभी प्राप्त होता है, वह कभी छूटता भी है। यदि सदाचार अर्जित किया जाएगा तो वह कभी न कभी विसर्जित भी हो जाएगा। सदाचार शिष्टाचार नहीं है, सदाचार वह आचार है जो सत् पर आश्रित है। सत् नित्य तत्त्व है। सत् को उत्पन्न नहीं किया जाता। वह सदा है। ऐसा तत्त्व केवल परमात्मा ही है। परमात्मा क्योंकि परम आत्मा है अतः उस पर सब जीवात्माओं का समान अधिकार है। अतः जब किसी साधक को दैवी प्रकृति का साक्षात्कार होता है तो वह इस अभिमान से नहीं भर जाता कि वह दूसरों से बड़ा है बल्कि इस बोध से कि उस दैवी सम्पदा के सभी अधिकारी हैं वह सबके प्रति आत्मीयता के भाव से भर जाता है।

यदि सदाचार अर्जित किया जाए तो वह भी इस अभिमान का कारण बन जाता है कि मैं उत्कृष्ट हूँ तथा अन्य सब निकृष्ट हैं। किन्तु दैवी प्रकृति स्वभाव है। स्वभाव का अहङ्कार नहीं होता।

जो गहरी लगन से प्रतिष्ठा, पद और पैसे को अर्जित करने में लगे हैं, वे भी कभी-कभी मैत्री, करुणा आदि गुणों का अभिनय किया करते हैं। वे अपने आपको धर्मात्मा समझने की भारी भूल करते हैं, वस्तुतः उन्हें अल्पात्मा कहना चाहिए क्योंकि उनका लक्ष्य तुच्छ पदार्थ रहते हैं, भले ही उन पदार्थों की प्राप्ति के लिए वे मैत्री आदि सद्गुणों का ही पालन क्यों न करें। यह दैवी प्रकृति नहीं है। दैवी प्रकृति का एकमात्र लक्ष्य परमात्म प्राप्ति है। यही लक्ष्य महान् है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्नशील हैं, वे ही महात्मा हैं।

एक ही परिस्थिति में मनुष्य दैवी प्रकृति का आश्रय भी ले सकता है और राक्षसी प्रकृति का भी आश्रय ले सकता है। किसी ने हमें गाली दी तो हम क्रुद्ध होकर अपने स्वरूप को विकृत भी कर सकते हैं और यह निर्णय भी ले सकते हैं कि कोई हमें कितना भी भला-बुरा कहे किन्तु हम अपने स्वभाव से च्युत नहीं होंगे क्योंकि स्वभाव से च्युत होने में हमारी अपनी ही हानि है, किसी दूसरे की नहीं। यह स्वभाव-केन्द्रित दृष्टि ही अनन्यभाव से परमात्मा का भजन करना हुआ।

हमारी दृष्टि दूसरे पर न जाए – यह अनन्यता है। हममें अनन्यता नहीं है। हमारी दृष्टि सदा दूसरे पर टिकी रहती है, हमें दुःख हो रहा है तो दूसरों के कारण, हमें सुख देंगे तो दूसरे – यह अन्य-परक दृष्टि है। अनन्यता की दृष्टि इसके विपरीत है – मैं स्वयं ही अपने सुख-दुःख का देने वाला हूँ।

ईश्वर ने सुख-दुःख नहीं बनाए हैं – उसने कुछ नियम अवश्य बनाए हैं। उन नियमों का पालन करने से सुख होता है, उल्लंघन करने से दुःख होता है। नियमों का पालन करना अथवा उल्लंघन करना हमारे हाथ में है। अतः हमारा सुख-दुःख भी हमारे हाथ में है। यह समझ व्यक्ति को अनन्यमनस्क बना देती है – वह दूसरों का मुँह नहीं ताकता। यही बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर अग्रसर होने का बिन्दु है और अन्तर्मुखता ही परमात्म-प्राप्ति की ओर उठाया गया प्रथम चरण है।

जैसे ही हम अन्तर्मुख होते हैं, हम उस स्रोत को जान लेते हैं जो संसार का आदि है और अव्यय है। संसार के सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं किन्तु चेतना का व्यय नहीं होता। वह संसार के आदि में भी है और अन्त में भी। वह सारे परिवर्तनों के बीच निर्विकार बनी रहती है।

चेतना कोई वस्तु नहीं है, वह मेरा अपना स्वरूप है। स्वरूप से कभी सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। यद्यपि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है तथापि यह भाव निरन्तर बना रहता है कि यह शरीर मेरा है। फिर परमात्मा तो मेरा अपना स्वरूप है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे हो सकता है? किन्तु फिर भी कामनाओं के ताने-बाने में फँस कर जीव इस सम्बन्ध को भूला रहता है। दैवी प्रकृति वाले कामनाओं से मुक्त रहते हैं। अतः उन्हें तो नित्य ही परमात्मा का स्मरण रहता है –

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।

निरंतर भगवदुपासना

पहली बात है – निरन्तरता। संसार के कार्य नश्वर पदार्थों से जुड़े हैं, अतः उनमें निरन्तरता नहीं रह सकती। एक लक्ष्य प्राप्त हो गया तो उस लक्ष्य से जुड़े कार्य भी समाप्त हो जाते हैं। फिर दूसरे लक्ष्य के लिए दूसरे कार्य प्रारम्भ किए जाते हैं। कोई कार्य निरन्तर नहीं चलता। किन्तु भगवदुपासना निरन्तर चलने वाली है। भगवदुपासना कोई कर्म नहीं है, एक भाव है, एक स्मरण है, जो सदा बना रहना चाहिए। ऐसा नहीं है कि दिन में एक घंटा उपासना करेंगे, शेष तेईस घंटों में अन्य कार्य। चौबीस घंटों में ही अन्य कार्य भी चलेंगे और साथ ही चौबीस घंटे ही भगवदुपासना – चैतन्य की निकटता – भी बनी रहेगी। यह निरन्तरता का – सततता का – अर्थ हुआ।

कीर्त्तन का अर्थ केवल ढोल-मँजीरे बजाना नहीं है। यदि ढोल-मँजीरे बजाना ही कीर्त्तन हो तो कोई भी व्यक्ति निरन्तर कीर्तन नहीं कर सकता। चौबीस घंटे बारह महीने ढोल मँजीरे कोई कैसे बजाएगा? कीर्त्तन का अर्थ है कि हमारी प्रत्येक क्रिया में भगवदुपासना की सुगन्ध आए। हमारा कोई कार्य ऐसा न हो कि दूसरों को लगे कि हम मिट्टी के पुतले हैं, मरे-मरे बेमन से कार्य कर रहे हैं। दूसरों को लगे कि हम आनन्द से भरे हैं, उत्साहित हैं, किंसी अदृश्य ज्योतिं से आलोकित हैं। हमारी सारी चर्या ऐसी हो मानो ब्रह्म की ही चर्या है, हमारी नहीं। यही तो ब्रह्मचर्य है। यही भगवत्कीर्तन है जो निरन्तर चलना चाहिए।

इसके लिए लगन चाहिए और सङ्कल्प की दृढ़ता चाहिए। और कोई व्रत करें न करें, एक व्रत पर दृढ़ रहें कि हमारा छोटा से छोटा काम चैतन्य की अभिव्यक्ति बनेगा, यांत्रिक नहीं होगा, मैकेनिकल नहीं होगा, नीरस नहीं होगा, भाव-पूर्ण होगा। यह तब ही हो सकता है जब हम वर्तमान में रहें, अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना में न खोएँ। वर्तमान ही सत्य है, अतीत मृत है और भविष्य अभी जन्मा ही नहीं। अतीत का एक नाम है – भूत। नानी-दादी की कहानियों में आता है कि भूतों के पाँवों के पंजे उल्टे होते हैं – एड़ियाँ आगे की ओर, उँगलियाँ पीछे की ओर। आँखें आगे हों और पंजे पीछे तो व्यक्ति किधर जाएगा? जिधर उसे दीख रहा है उधर वह चल नहीं सकता और जिधर वह चल रहा है उधर उसे दीख नहीं रहा। यह भूत का स्वरूप है। भूत सत्य नहीं है, वह सत्य की छाया है। हम छाया से न चिपटें, सत्य को पकड़ें। वर्तमान ही सत्य है, अतीत तो उसकी छाया मात्र है । भविष्य की चिन्ता भी दुश्चिन्ता ही है क्योंकि हम जब भी कुछ कर सकेंगे, वर्तमान में ही कर सकेंगे। भविष्य में न कोई चल सका है, न खा सका है, न कमा सका है। जो होता है, वर्तमान में होता है। भविष्य केवल आशङ्काएँ दे सकता है, आश्वासन नहीं। आश्वासन तो वर्तमान में ही है।

यदि हम ध्यान दें तो पाएँगे कि हमारी नब्बे प्रतिशत समस्याएँ अतीत की स्मृतियों और भविष्य की आशङ्काओं से उत्पन्न होती हैं, वर्तमान की समस्याएँ तो दस प्रतिशत ही हैं। फिर भी हम अतीत और भविष्य का बोझ व्यर्थ अपने सिर पर उठाए रहते हैं और ऐसे में वर्तमान की वास्तविक समस्याओं का भी समाधान हमसे चूक जाता है।

ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग

उपासना का एक अङ्ग है – विनम्रता। विनम्रता का मुख्य अर्थ है - स्वीकृति। हम प्रतिरोध न करें, जो भी परिस्थिति आए उसे भगवदिच्छा समझ कर प्रसन्न मन से स्वीकार करें। विश्व विश्वेश्वर की इच्छा से चलता है, हमारी इच्छा से नहीं। हम विश्वेश्वर की इच्छा पर अपनी इच्छा थोपना चाहें तो निराशा ही हमारे हाथ लगेगी। हम उसकी इच्छा को स्वीकार करें – यही नमस्कार है। भगवान् की इच्छा क्या है - यह शास्त्र बताते हैं। शास्त्रानुसार आचरण करना ही भगवान् को नमस्कार करना है।

उपासना के दो मार्ग हैं – ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। ज्ञान अद्वैत बुद्धि तक ले जाता है, भक्ति में द्वैत बना रहना आवश्यक है। जब हम किसी को जानना चाहते हैं तो उसे तब तक पूरी तरह नहीं जान सकते जब तक तन्मय न हो जाएँ। यह तन्मयता ही अद्वैत है। ज्ञानी की दृष्टि में किसी को अपने से भिन्न मानने का अर्थ है कि हम उसे अन्तरङ्ग रूप में नहीं जान पायें, केवल ऊपरी रूप में जान रहे हैं। इसलिए ज्ञानमार्ग में द्वैत अज्ञान का सूचक है।

भक्ति में उपास्य-उपासक का भेद आवश्यक है। अतः वहाँ द्वैत बना रहता है। जिनका बुद्धि-पक्ष प्रबल है उनके लिए ज्ञानमार्ग उपयुक्त है, किन्तु हृदय-प्रधान साधकों के लिए भक्ति ही उपयुक्त है। अधिकारी के भेद से पद्धति-भेद हो जाता है। गीता सभी पद्धतियों को स्वीकार करती है, अतः यह वस्तुतः सम्प्रदायातीत है, सबको स्वीकार्य है, भले वह कोई भी पद्धति से चले –

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

एक कथा प्रसिद्ध है। ज्ञानी ने शिष्य को मंत्र दिया - सोऽहम्, मैं ब्रह्म हूँ। शिष्य भक्त के पास गया। भक्त ने कहा, अरे मूर्ख तू ब्रह्म का दास है, ब्रह्म नहीं; कह – दासोऽहम्। वह फिर ज्ञानी के पास गया। ज्ञानी बोला – पागल मत बन, तू स्वयं सदा ही ब्रह्म रूप है, कह - सदा सोऽहम्। वह फिर भक्त के पास गया। भक्त ने कहा अरे सत्यानाश हो गया। मूर्ख ! ब्रह्म होने का घमण्ड मत कर। तू तो ब्रह्म के दासों का भी दास है। कह दासदासोऽहम्। और शिष्य बेचारा कुछ भी समझ नहीं पाया। ऐसा विरोध है ज्ञान और भक्ति का। फिर भी दोनों ही मार्ग समीचीन हैं। हमें अपनी रुचि के अनुसार दोनों में से किसी एक को चुनना होता है। लक्ष्य की सिद्धि दोनों ही मार्गों से हो जाती है।

मूल तथा अनुवाद

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥१६॥

मैं कृतु हूँ, यज्ञ हूँ, स्वधा हूँ, औषधि हूँ, मन्त्र हूँ, घृत हूँ, अग्नि हूँ और आहुति भी मैं ही हूँ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च॥१७॥

मैं सम्पूर्ण जगत् का धारण करने वाला पिता, माता, पितामह, जानने योग्य पवित्र, ओंकार, ऋक्, साम और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ॥१७॥

विपुल-भाष्य

कर्म में अद्वैत की स्थापना

अद्वैत तत्व का हृदयङ्गम करना सुगम नहीं है। संसार में तो सर्वत्र विविधता दिखाई दे रही है। इस विविधता का अपलाप कैसे किया जा सकता है? अतः शास्त्र अनेकानेक उपायों से अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। गीता में भी बारम्बार अद्वैत के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यज्ञ की शब्दावली का प्रयोग करके अद्वैत का

प्रतिपादन किया गया है। यह बात इसलिए महत्वपूर्ण है कि याज्ञिक कर्मकाण्ड प्रायः ज्ञान का विरोधी माना जाता है। किन्तु गीता यज्ञ की ही शब्दावली का प्रयोग करके इसमें अद्वैत तत्व को इस रूप में घटित कर रही है कि सामान्य व्यक्ति को भी यह समझ में आ जाए कि कहीं द्वैत है ही नहीं।

हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि गीता में श्रीकृष्ण 'अहम्' अर्थात् मैं शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए करते हैं। वे कहते हैं कि मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा हूँ, मैं ही औषधि हूँ, मैं ही मन्त्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही हवन हूँ –

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

इस श्लोक में यज्ञ से जुड़े सभी आयाम आ गए। क्रतु वैदिक यज्ञ है, यज्ञ श्रौत भी होता है और स्मार्त भी। श्रौत और स्मार्त दोनों प्रकार के यज्ञों में भगवद्दर्शन करना चाहिए, दोनों यज्ञ भगवद्रूप ही हैं। वैदिक दृष्टि से जड कुछ है ही नहीं। प्रकृति तो भगवान् की ही कृति है। जैसे कोई कृतिकार अपनी कृति में स्वयं ही रहता है, उसी प्रकार भगवान् सृष्टि की रचना करके स्वयं भी सृष्टि में प्रविष्ट हो गए – **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।** नटराज की अवधारणा सर्वविदित है। एक नर्तक नृत्य करता है तो क्या नृत्य को नर्तक से अथवा नर्तक को नृत्य से अलग करके देखा जा सकता है? कोई चाहे कि उसे केवल नृत्य देखना है, नर्तक को नहीं अथवा उसे केवल नर्तक को देखना है, नृत्य को नहीं, तो हम इन दोनों को अलग-अलंग करके त्रिकाल में भी नहीं दिखा सकते। नृत्य सृष्टि है, नर्तक सृष्टा। दोनों में अभेद है तथा सुविधा के लिए हमने दोनों का अलग-अलग नामकरण कर दिया। यह सृष्टि ईश्वर की रचना है। सृष्टि को ईश्वर से अथवा ईश्वर को सृष्टि से अलग करके नहीं देखा जा सकता। इसीलिए कहा गया कि जगत् में सब कुछ ईश से वासित है – **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**

यज्ञ से ही सृष्टि का उद्भव

गीता ने ईश्वर का दर्शन करने के लिए सर्वप्रथम यज्ञ को चुना। इसका विशेष अभिप्राय है। यज्ञ सर्जन की प्रक्रिया का प्रतिनिधि है। अपूर्व की उत्पत्ति करना यज्ञ का प्रयोजन है। कोई भी उत्पत्ति दो के बिना नहीं हो सकती। यज्ञ के लिए दो पदार्थ चाहिए – अग्नि और अग्नि में आहुत किए जाने वाला पदार्थ जिसे सोम कहा जाता है। यज्ञ केवल अग्नि से भी सम्पन्न नहीं हो सकता और केवल सोम से भी नहीं। दूसरी ओर न केवल यजमान यज्ञ कर सकता है, न केवल यजमान की पत्नी। पति-पत्नी दोनों को होना चाहिए। सीता की अनुपस्थिति में राम द्वारा सोने की सीता बना कर अश्वमेध यज्ञ करने की कथा प्रसिद्ध है। यह दो का युगल इसलिए आवश्यक है कि यज्ञ सर्जन की प्रक्रिया है और सर्जन दो के बिना नहीं होता। हम स्रष्टा का दर्शन यज्ञ में सुगमता से कर सकते हैं क्योंकि यज्ञ में सर्जन ही हो रहा है। वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में यज्ञ से ही सृष्टि का उद्भव माना गया है।

गीता के प्रस्तुत श्लोक में यज्ञ से सम्बद्ध सभी पदार्थों में भगवद्दर्शन की बात कही गई है। यज्ञ कर्म है और कर्म का आधार द्वैत है। सर्वत्र भगवद्दर्शन अद्वैत की स्थिति है जो ज्ञान का विषय है। गीता ज्ञानपूर्वक कर्म का समर्थन करती है। यही ज्ञान और विज्ञान का समन्वय है। यदि हम यज्ञ करते समय भी अद्वैत दृष्टि को पृष्ठभूमि में रख सकें तो यज्ञ केवल अभ्युदय का ही नहीं निःश्रेयस का भी साधन बन जाता है। यज्ञ यहाँ कर्म का उपलक्षण है। कर्म से अभ्युदय तो होता ही है किन्तु कर्म के पीछे अद्वैत दृष्टि रहे तो कर्म वासना के मल का प्रक्षालन भी कर देता है।

यज्ञ में आहुति देते समय हम कहते हैं - **इदममुकदेवाय इदन्न मम।** विचार करना चाहिए कि जिस द्रव्य की हम आहुति देते हैं क्या वह द्रव्य हमारा है? क्या हम अन्न के एक कण को भी पैदा कर सकते हैं? अन्न उसी प्रक्रिया से उत्पन्न हो सकता है जो प्रक्रिया प्रकृति में चलती है। जिस प्रक्रिया से अन्न उत्पन्न होता है वह प्रक्रिया स्वयम् एक यज्ञ है। फिर उस अन्न को मैं अपना कैसे कह सकता हूँ।

सच तो यह है कि सब कच्चा माल प्रकृति की देन है। हम कोई कच्चा माल पैदा नहीं कर सकते। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कोयला, पेट्रोल, लोहा – इनमें से कुछ भी हम उत्पन्न नहीं करते, हम केवल कच्चे माल को परिष्कृत कर सकते हैं। हम कार बनाते हैं किन्तु जिस लोहे से कार बनती है, वह लोहा हम उत्पन्न नहीं करते। इस अर्थ में सभी सम्पदा मूलतः प्रकृति की देन हैं। प्रकृति क्योंकि भगवान् का ही क्षर रूप है, अतः समस्त द्रव्य में भगवान् ही है। गीता कहती है कि वह अन्न जो पितरों को दिया जाता है – स्वधा और समस्त औषधियाँ – भगवान् का ही रूप है। जिस घृत की आहुति दी जाती है वह भी भगवद्रूप है। यह सब तो सोम हुआ। इस सोम की जिस अग्नि में आहुति दी जाती है, वह अग्नि भी भगवद्रूप है।

शब्द ब्रह्म की अवधारणा

अग्नि में सोम की आहुति देने से ही यज्ञ सम्पन्न नहीं हो जाता, जब तक आहुति देते समय मन्त्र का उच्चारण भी ना किया जाए। गीता कहती है कि वह मन्त्र भी भगवद्रूप है। वैयाकरणों में शब्द-ब्रह्म की अवधारणा प्रसिद्ध है। वेद में वाक् अपने को सर्वदेव रूप में घोषित करती है। मीमांसक मन्त्र को देवताओं का ही स्वरूप मानते हैं। गीता कहती है कि जिन मन्त्रों के उच्चारण से आहुति दी जाती है वे मन्त्र भी भगवद्रूप हैं और आहुति देने की प्रक्रिया भी भगवद्रूप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त यज्ञीय द्रव्य, अग्नि, मन्त्र और यज्ञ की क्रिया को भी गीता ने भगवद्रूप बताकर कर्मकाण्ड में अद्वैत की स्थापना की है।

अब गीता एक दूसरे रूप में भगवान् को प्रस्तुत करती है। हम सबको जन्म देने वाला कौन? माता-पिता से हमारा जन्म होता है किन्तु वस्तुतः यदि माता-पिता के ही हाथ में जन्म देना होता तो कोई दम्पती निःसन्तान रहते ही नहीं। हमारा जन्म वस्तुतः किसी और के हाथ में है। जिसके हाथ में हमारा सबका जन्म है वह तो परमात्मा ही है। अतः गीता कहती है कि भगवान् ही जगत् का पिता है, माता और पितामह है। जगत् को धारण भी उसी ने किया है –

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च॥

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि ओङ्कार, ऋक्, साम और यजु भी भगवान् ही हैं। ऋक्, साम और यजु ही त्रयी विद्या हैं। इस त्रयी से ही संसार उत्पन्न हुआ है। जितने ठोस पदार्थ हैं, वे ऋक् से उत्पन्न हुए हैं, जितनी गति है, वह यजु से उत्पन्न हुई है और समस्त तेज साम का परिणाम है। इसी त्रयी विद्या का सार ओङ्कार है। भगवान् का विस्तार अपरम्पार है किन्तु यदि उन्हें संक्षेप में जानना हो तो उनका वाचक प्रणव अथवा ओंङ्कार ही है।

ओङ्कार के तीन घटक

ओङ्कार के तीन घटक हैं - अ, उ तथा म्। हम भी साधारणतः तीन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं- जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओं में चेतना अलग-अलग ढंग से काम करती है। जागृत में हम बहिर्जगत को जानते हैं। स्वप्न में हमें बाह्य जगत् का ज्ञान नहीं होता किन्तु अन्तर्जगत् में ही वे पदार्थ दिखाई पड़ते हैं जो बाह्यजगत् में हैं। किन्तु स्वप्न के समय जहाँ जब दिखाई पड़ते हैं वहाँ तब नहीं होते। सुषुप्ति में न बाह्य पदार्थ दिखाई देते हैं, न अन्तर्जगत् में कोई पदार्थ दिखते हैं। इन तीनों ही अवस्था में चेतना रहती है। चेतना की ये तीनों अवस्थाएँ भी भगवद्रूप ही हैं क्योंकि भगवान् ही चिद्रूप है।

ऋक्, यजु और साम तीन ग्रन्थों का नाम अवश्य है किन्तु ये तीन तत्त्व भी हैं। इन तीन तत्त्वों का वर्णन जिन ग्रन्थों में है उन ग्रन्थों को भी उन्हीं तत्वों के नाम से जाना गया। इन तत्वों के वर्णन करने वाले ग्रन्थों का एक सामान्य नाम दिया गया - वेद। वेद शब्द संस्कृत का है। इसके तीन अर्थ हैं - सत्ता, चित् और आनन्द, अर्थात् वेद का अर्थ हुआ - सच्चिदानन्द। सच्चिदानन्द परमात्मा का ही नाम है। इस प्रकार शब्द की दृष्टि से वेद और परमात्मा एकार्थक हैं। अर्थ की दृष्टि से विचार करें तो ऋक्, यजु और साम का सम्बन्ध क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य से है तथा

इन तीन देवों का सम्बन्ध क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ से है। ये तीन लोक ही क्रमशः भूः भुवः स्वः कहलाते हैं। इस प्रकार वेद-ब्रह्म सर्वव्यापी हो जाते हैं। ये अग्नि, वायु और आदित्य ही क्रमशः सांख्य के तमस्, रजस् और सत्व गुण के प्रतिनिधि हैं। ये ही व्यष्टि में वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ हैं तथा समष्टि में विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर हैं। इस प्रकार पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड में प्रकारान्तर से त्रयी ही व्याप्त हैं। यही ब्रह्म का सर्वव्यापक रूप है।

त्रयी का सार भूः भुवः स्वः नामक तीन व्याहृतियाँ हैं तथा इन व्याहृतियों का सार ओङ्कार है। ओ३म् एक ध्वनि है जो सृष्टि से आरम्भ में ब्रह्म के कण्ठ से उच्चरित हुई।

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

इस प्रकार ओङ्कार अव्यक्त ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसलिए ओङ्कार को भी गीता ने भगवान् ही बतलाया। अन्य समस्त शब्द विचारजन्य हैं, ओङ्कार की ध्वनि वह ध्वनि है जो निर्विचारता में स्वतः उद्भूत होती है। श्वास के जाने के साथ 'सो' तथा बाहर निकलने के साथ 'हम्' की ध्वनि होती है। यही 'सोऽहम्' है जिसका जाप बिना प्रयास के होता रहता है। इसलिए इसे अजपाजप कहते हैं। इस 'सोऽहम्' में और सूक्ष्मता में जाने पर बीच के व्यञ्जन अक्षर निकल जाते हैं और 'ओऽम्' ही शेष रहता है। यह ध्वनि तब सुनाई पड़ती है जब चित्त अत्यन्त शान्त और मौन हो जाता है – कोई कोलाहल नहीं रहता। उस समय ओ३म् और भगवान् के बीच तादात्म्य हो जाता है। ओ३म् संज्ञा है भगवान् संज्ञी है और संज्ञा तथा संज्ञी में तादात्म्य होता है। भगवान के अन्य नाम गुणधर्म के आधार पर मनुष्यों ने बनाए किन्तु प्रणव उनका स्वभाविक - अकृत्रिम – नाम है।

मूल तथा अनुवाद

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

मैं ही परमगति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, मित्र, उत्पत्ति-स्थल, प्रलय-स्थल, स्थान, निधान, अविनाशी और मूल कारण भी हूँ॥१८॥

विपुल-भाष्य

अव्ययपुरुष के द्वादशलक्षण

वेदान्त की घोषणा है जीव ही ब्रह्म है – जीवो ब्रह्मैव नापरः। इस घोषणा का पूरा तात्पर्य समझे बिना जीव को ब्रह्म मान लेने पर अनेक सङ्कट आ सकते हैं। एक कथा वेदान्तियों में प्रसिद्ध है। गुरु ने शिष्य को कहा कि यह सब ब्रह्म रूप है – सर्वं खल्विदं ब्रह्म। शिष्य ने यह उपदेश सुना और अपने घर की ओर चला। मार्ग में एक पागल हाथी आ रहा था। हाथी को मद चढ़ा हुआ था और वह महावत के काबू से बाहर हो गया था। महावत हाथी के ऊपर बैठा चिल्ला रहा था कि हाथी पगला गया है, सब रास्ते से हट जाएँ और हाथी भागा जा रहा था। महावत की पुकार सुन लोग दाएँ-बाएँ हो जाते थे और हाथी बीच रास्ते के भागा चला जाता था। वह शिष्य भी उसी रास्ते से जा रहा था किन्तु उसने हाथी के लिए रास्ता नहीं छोड़ा। हाथी ने क्रोध में आकर उस शिष्य को सूँड़ से पकड़ कर एक तरफ फेंक दिया। शिष्य के काफी चोट आई। वह अपने घर न जाकर सीधा वापिस गुरु के पास गया। गुरु ने पूछा – यह चोट कैसे लगा ली। शिष्य ने कहा – चोट आपके उपदेश के कारण लगी है। आपने कहा था, सब ब्रह्म है। एक पागल हाथी था, उसने मुझे उठाकर फेंक दिया। गुरु ने कहा कि किसी और को भी हाथी ने चोट पहुँचाई है क्या? शिष्य ने कहा, और सब तो महावत की चेतावनी सुनकर बच गए। गुरु ने कहा कि तुम क्यों नहीं बचे? शिष्य ने कहा कि आपने कहा था कि सब ब्रह्म है। मैंने सोचा हाथी भी ब्रह्म, मैं भी ब्रह्म, फिर डरने की क्या बात है। गुरु

ने कहा कि हाथी और तुम ब्रह्म हो तो फिर वह महावत क्या है जो बचने की चेतावनी दे रहा था। क्या वह महावत ब्रह्म नहीं है? तुम्हें चोट इसलिए नहीं लगी कि तुमने मेरा उपदेश माना बल्कि इसलिए लगी कि तुमने मेरा उपदेश पूरी तरह नहीं माना। यदि तुम महावत को भी ब्रह्म समझ कर उसकी बात मान लेते तो तुम्हारे चोट न लगती।

जीव भी ब्रह्म किन्तु माया से अवच्छिन्न

कथा का आशय यह है कि जीव भी ब्रह्म है किन्तु जब तक वह माया से अवच्छिन्न है, उसे ब्रह्म की बराबरी नहीं करनी चाहिए। श्रीकृष्ण मानवी शरीर में हैं किन्तु वे माया के वशीभूत नहीं हैं, अतः वे जीव नहीं भगवान् ही हैं – **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।** अस्मदादि सामान्य जीवों को उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए बल्कि उनके भक्तों का ही अनुकरण करना चाहिए। उन्होंने रासलीला की, किन्तु उनके भक्त सूरदास ने रासलीला नहीं की। उन्होंने मक्खन चुराया किन्तु उनकी भक्त मीरा ने चोरी नहीं की। हमें अनुकरण श्रीकृष्ण का नहीं, सूरदास और मीरा का करना है – **भक्तवन्न तु कृष्णवत्।** ऐसी सीमा क्यों बाँधी? उत्तर यही है कि श्रीकृष्ण माया से अवच्छिन्न नहीं हैं, अपितु माया के स्वामी हैं, मायापति हैं। हमारे वश में माया नहीं है, अपितु हम ही माया के वश में हैं। फिर हम श्रीकृष्ण का अनुकरण कैसे कर सकते हैं?

प्रश्न होता है कि श्रीकृष्ण ने ऐसा व्यवहार किया ही क्यों जिसका अनुकरण हम न कर सकें। यह प्रश्न ज्ञानमार्गी का है, भक्त का नहीं। श्रीकृष्ण के तीन रूप हैं - गीता का, महाभारत का और श्रीमद्भागवत का। गीता में उनका ज्ञानी रूप है। वहाँ वे कहते हैं कि जो श्रेष्ठ पुरुष करते हैं, दूसरे लोग उनका अनुकरण किया करते हैं – **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।** अतः गीता में रासलीला या मक्खन की चोरी का कोई प्रसङ्ग नहीं है। महाभारत में श्रीकृष्ण का कर्मठ रूप है। कर्म-क्षेत्र में जो करणीय है उसका आदर्श वे महाभारत में प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन की सफलता के लिए उसका सारथी कुशल होना चाहिए तो उसके सारथी का भार श्रीकृष्ण स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं, यह विचार नहीं करते कि सारथी का काम एक छोटा काम है। यह कर्म-मार्ग का आदर्श है। जब कर्ण ने अर्जुन पर अमोघ बाण छोड़ा तो श्रीकृष्ण ने अपने योग बल से अर्जुन का रथ नीचे दबा दिया और कर्ण का निशाना चूक गया तथा अर्जुन बच गया। यदि श्रीकृष्ण जैसा योगी सारथी न होता तो अर्जुन बच नहीं सकता था।

श्रीमद्भागवत में (आजकल बहुत पढ़े-लिखे लोग भी श्रीमद्भगवद् गीता तथा श्रीमद्भागवत में भेद नहीं कर पा रहे हैं और गीता के लिए अनेक स्थानों पर श्रीमद्भागवत लिख रहे हैं और छाप भी रहे हैं। श्रीमद्भागवत एक बृहत्काय स्वतन्त्र पुराण है और श्रीमद्भगवद् गीता महाभारत का एक लघुकाय हिस्सा है।) श्रीकृष्ण का भक्ति-प्रधान रूप है। भक्ति परम प्रेमस्वरूपा है। प्रेम में हार्दिकता काम आती है, बौद्धिकता नहीं। उसी भक्ति-प्रधान श्रीमद्भागवत महापुराण में रासलीला का वर्णन है। उस रासलीला में वासना का लेश-मात्र भी नहीं है, प्रत्युत मदन-विजय का भाव है। ऐसी लीला श्रीकृष्ण इसलिए कर पाए कि वे मायापति हैं, मायावच्छिन्न नहीं। हम वैसी लीला करें तो पतन के गर्त में ही गिरेंगे क्योंकि हम मायावच्छिन्न हैं। उस लीला के रहस्य को भक्ति की हार्दिकता में तो ठीक समझा जा सकता है किन्तु शुष्क ज्ञान की बौद्धिकता उसमें दोष ही दोष देखेगी।

मायापति या अव्ययपुरुष

मायापति कहें या अव्ययपुरुष कहें। श्रीकृष्ण अव्ययपुरुष हैं। गीता में वे अव्ययपुरुष के द्वादश लक्षण बतलाते हैं। साथ ही जीव के लक्षण भी देते हैं। इन लक्षणों में जो भेद है वही भेद इस बात का कारण बनता है कि जीव को श्रीकृष्ण का अनुकरण क्यों नहीं करना चाहिए। जो श्रीकृष्ण का अनुकरण करना ही चाहें वे गीतोक्त उपदेश का पालन करें। श्रीमद्भागवत का भक्ति-प्रधान रूप उपासना के लिए है, अनुकरण के लिए नहीं।

गीता में अव्यय पुरुष के बारह लक्षण इस प्रकार दिए गए हैं –

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।

प्रथमतः अव्यय पुरुष श्रीकृष्ण गति हैं। वे ही सर्वोपरि लक्ष्य बनाने योग्य हैं। हमारा लक्ष्य तो सत्यं शिवं सुन्दरम् अथवा आनन्द है। उसकी खोज हम धन, पद, प्रतिष्ठा आदि में करते हैं। किन्तु वहाँ हमें मिलता नहीं। जहाँ हमें वह मिल सके वह परमात्मा ही है। वह गुण केवल अव्ययपुरुष में है, जीवों में नहीं। जीवों को प्राप्त करके कोई आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता।

अव्ययपुरुष भर्त्ता है। संसार का भरण-पोषण ईश्वराव्यय ही करता है। यह एक ऐतिहासिक घटना है कि छत्रपति शिवाजी एक किला बनवा रहे थे। सैकड़ों मजदूर काम में लगे थे। शिवाजी के मन में यह अभिमान आ गया कि इतने मजदूरों को वे रोटी-रोजी देते हैं, उनके गुरु समर्थ रामदास ने उनके मन का आशय जान लिया। पास ही एक शिलाखण्ड रखा था। रामदास ने मजदूरों से कहा कि उस शिलाखण्ड को वे तोड़ दें। मजदूरों ने वह शिलाखण्ड तोड़ा तो उसके बीच में पोली जगह में एक बिच्छू का जोड़ा बैठा था। रामदास ने कहा कि इस बिच्छू के जोड़े को भी शायद शिलाखण्ड के अन्दर तुम ही भोजन पहुँचा रहे हो। शिवाजी को अपनी गलती का तुरन्त आभास हो गया और उनका अहङ्कार विगलित हो गया।

संसार का प्रभु भी अव्ययपुरुष है। हम अपने को अपने घर का स्वामी समझते हैं। एक भूकम्प का झटका आता है, घर धराशायी हो जाता है। शरीर को हम अपना समझते हैं; एक हृदयाघात होता है तो शरीर छूट जाता है। भगवान् बुद्ध ने कहा कि हमारा अपना अहं ही हमारा नहीं है तो पुत्र और धन हमारे कहाँ से होंगे? **अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुत्तो पुत्तो कुतो धनम्?**

हम जो देख पाते हैं वह अस्तित्व का थोड़ा-सा भाग है। एक बार में तो हम एक परमाणु को भी पूरा नहीं देख पाते हैं। हमारे सम्मुख जो भाग होता है, वह हमें दिखता है, विपरीत दिशा वाला भाग नहीं दिखता। फिर पूरे ब्रह्माण्ड का साक्षी तो ईश्वर ही है।

अस्तित्व ही परमात्मा

अस्तित्व ही परमात्मा है और अस्तित्व के बाहर कुछ भी नहीं, इसलिए परमात्मा सबका निवास है, वही सबकी शरण है। परमात्मा जैसा सुहृत् भी कौन हो सकता है? सबके लिए बिना रोक-टोक पानी, हवा, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र जैसे रत्न समान भाव से परमात्मा ने दिए। कहा जाता है कि शरीर सबसे अधिक विकसित यन्त्र है, यह यन्त्र भी परमात्मा की देन है।

सब अस्तित्व से आता है और अस्तित्व में लीन हो जाता है। त्रैकालिक अस्तित्व केवल परमात्मा का है। वहीं से जगत् उत्पन्न होता है और उन्हीं में लीन हो जाता है। यह विभूति जीव में कहाँ है? सृष्टि है तो भी उसी में निवास करती है और प्रलय हो जाए तो भी अव्यक्त अवस्था में प्रकृति का वही स्थान है।

संक्षेप में परमात्मा ही सृष्टि का बीज है। किन्तु लौकिक बीज में और परमात्मा में एक अन्तर है। लौकिक बीज अपना स्वरूप खोकर वृक्ष बनता है। परमात्मा अपने स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए संसार को जन्म दे देता है। अतः परमात्मा अव्यय बीज है, ऐसा बीज जिसका कभी नाश नहीं होता। इसे ही बृंहण कहा जाता है, जहाँ कारण अपने स्वरूप को निर्विकार बनाए रखते हुए भी कार्य को उत्पन्न कर देता है।

इतनी अलौकिकता अव्ययपुरुष में है। जीव में यह अलौकिकता कहाँ? फिर जीव यदि अव्ययपुरुष का अज्ञानवश अनुकरण करना चाहेगा तो विपत्ति में ही पड़ेगा। हाँ, माया पर विजय पाने पर जीव भी ईश्वर के समकक्ष हो जाता है। पतञ्जलि ने योगसूत्र में उन विभूतियों का वर्णन किया है जो योग से प्राप्त होती हैं। फिर भी हमें उन विभूतियों के प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिए और यदि वे हमें प्राप्त हो जाएँ तो उनका प्रदर्शन भी नहीं करना चाहिए। इसी में हमारी निरहङ्कारिता सुरक्षित रह सकती है।

मूल तथा अनुवाद

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

मैं सूर्य रूप से तपता हूँ, वर्षा को आकर्षित करता हूँ, और बरसाता हूँ। हे अर्जुन ! मैं ही अमृत हूँ, मृत्यु हूँ और सत् और असत् भी मैं ही हूँ।।१९।।

विपुल-भाष्य

मन समग्र को खंडित कर देता है

दुनिया का अर्थ है – द्विनियति; जहाँ दो नियत हैं और वे दो भी परस्पर विरुद्ध हैं। दो के बिना दुनिया बन नहीं सकती और उन दो को भी परस्पर विरुद्ध होना चाहिए। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश ये सब द्वन्द्व मिल कर दुनिया का स्वरूप बनाते हैं। क्या हम ऐसी दुनिया की कल्पना कर सकते हैं जिसमें जन्म तो हो किन्तु मृत्यु न हो। ऐसी दुनिया हो ही नहीं सकती। केवल एक दशक के लिए संसार में जन्म होना तो चालू रहे किन्तु मृत्यु होनी बन्द हो जाए तो संसार मनुष्यों से इतना भर जाएगा कि मनुष्य का जीवन कीड़े-मकोड़े से भी बदतर हो जाएगा। किसी को तिल भर भी हिलने को जगह न मिलेगी। बड़ी कृपा है भगवान् की कि उसने जीवन की हीं नहीं, मृत्यु की भी व्यवस्था की है।

वस्तुतः जीवन में मृत्यु के तथा मृत्यु में जीवन के बीज निहित हैं। मनुष्य जिस क्षण उत्पन्न होता है उसी क्षण मृत्यु की ओर उसकी यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह मृत्यु की यात्रा का अन्तिम बिन्दु है, प्रारम्भ बिन्दु नहीं। मृत्यु का प्रारम्भ बिन्दु तो जन्म है। जिसे हम मृत्यु समझते हैं वह मृत्यु की यात्रा का अन्तिम बिन्दु तो है ही; जन्म की यात्रा का प्रारम्भ बिन्दु भी है। इस प्रकार एक तरह से जीवन और मृत्यु की यात्राएँ साथ-साथ चल रही हैं।

प्रकाश और अन्धकार

यूँ समझें कि किसी ने कहा कि इस कमरे में प्रकाश है तो क्या वहाँ अन्धकार नहीं? वस्तुतः वहाँ प्रकाश और अन्धकार दोनों साथ-साथ हैं। यह कहना कि वहाँ प्रकाश है – एक काम-चलाऊ वक्तव्य है। यह वक्तव्य भी सापेक्ष है। एक जवान व्यक्ति को जिसकी नजर तेज है वही कमरा अध्ययन करने के लिए प्रकाशमय प्रतीत होता है, किन्तु एक मन्द दृष्टि वाला वृद्ध व्यक्ति उसी कमरे में अँधेरा बताता है। वस्तुतः उस कमरे में प्रकाश और अन्धकार दोनों साथ-साथ हैं। जीवन और मरण की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चल रही हैं। सुख और दुःख साथ-साथ चलते हैं। सुख की मात्रा अधिक हो तो हम सुख कह देते हैं किन्तु है वहाँ दुःख भी। दुःख की मात्रा अधिक हो तो हम उसे दुःख कह देते हैं किन्तु है वहाँ सुख भी। आत्महत्या करने वाला व्यक्ति भी इस आशा में आत्महत्या कर लेता है कि वर्तमान के दुःख से छुटकारा पाने का सुख उसे मिल जाएगा, यद्यपि उसकी यह आशा झूठी है, यह एक दूसरी बात है।

इस द्वन्द्व में मन एक मजेदार खेल खेलता है। सुख-दुःख, जीवन-मरण दोनों एक ही रस्सी के दो छोर हैं किन्तु मन इन दोनों छोरों में से एक छोर को पकड़ लेता है और दूसरे छोर को नजरअन्दाज कर देता है। पूर्ण सत्य का एक हिस्सा मन के हाथ में आता है, दूसरा हिस्सा छूट जाता है।

जब हम कहते हैं कि हम हैं, तो हम यह भूल ही जाते हैं कि कभी हम नहीं भी रहेंगे। सत् और असत् के बीच हमें सत् तो दिखता है किन्तु जिस प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के असत् से वह सत् घिरा है, वह असत् हमें दिखता ही नहीं। जो मन की इस संकीर्णता से ऊपर उठ जाते हैं वे इस खोज में लग जाते हैं कि जब हम नहीं थे तो कहाँ और क्या थे तथा जब हम नहीं रहेंगे तो कहाँ और क्या होंगे? हम हैं – यह ज्ञान अधूरे सत्य का ज्ञान है, पूरा ज्ञान

तो तब ही कहलाएगा जब हम यह भी जान लें कि जन्म से पहले तथा मृत्यु के बाद हम क्या थे और क्या होंगे?

प्रकृति में सर्वत्र विरोधी द्वन्द्व है। सूर्य तपता है और वर्षा कर देता है; जल ग्रहण करता है और जल को छोड़ भी देता है। ग्रहण करना और छोड़ना परस्पर विरोधी हैं किन्तु वस्तुतः ये एक ही प्रक्रिया के दो अविभाज्य अंग हैं। ग्रहण न करे तो छोड़े क्या और छोड़े नहीं तो ग्रहण क्या करे? एक क्रिया के बिना दूसरी क्रिया सम्भव नहीं है। कोई पैदा न हो तो मरे कौन और कोई मरे नहीं तो पैदा कौन हो?

सहज चरम परिणति

दो विरोधी दिखाई पड़ने वाले तत्व सूक्ष्म में एक ही हैं। प्रकृति में उनमें कोई विरोध नहीं है, विरोध हमने अपने मन की कल्पना से उन पर आरोपित किया है, विरोध मन का विक्षेपण है, प्रोजेक्शन है; वस्तु में कहीं विरोध नहीं है, यहाँ तो एक की दूसरी सहज चरम परिणति है। होता यह है कि सत्य का एक पक्ष मन को अनुकूल प्रतीत होता है और दूसरा छोर उसे प्रतिकूल प्रतीत होता है। अतः वह उन दोनों में विरोध मान लेता है और उन दोनों को अलग-अलग भी मान लेता है। फलतः उसके हाथ कभी अखंड सत्य आता ही नहीं।

मन खण्ड को देखता है, परमात्मा अखंड है – इसलिए परमात्मा कभी मन की पकड़ में नहीं आता। मन से ऊपर उठें तो परमात्मा, जो अखंड सत्य का ही दूसरा नाम है, दिख सकता है। बहुत बार कहा जाता है कि मन के परे जाओ, अमन हो जाओ। किन्तु मन से परे जाना होता नहीं। किसी न किसी बहाने मन आकर खड़ा हो जाता है। मन से परे भी जाना है तो हम मन से ही जाना चाहेंगे क्योंकि मन के अतिरिक्त किसी और चीज का तो हमें पता नहीं। आत्मा-परमात्मा का नाम हमने सुना है, किन्तु उन्हें जाना नहीं है, जाना तो हमने मन को ही है।

मन से परे कैसे जाएँ? मन का अस्तित्व कामना पर टिका है। ऋग्वेद में कामना को मन का बीज बताया है – **कामस्तग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।** कामना न रहे तो मन नहीं रहेगा – **नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।** कामना रहे और मन न रहे – यह नहीं हो सकता, बीज रहेगा वो वृक्ष बन ही जाएगा।

कामना छूटती नहीं। मन जानता है कि कामना की मौत मन की मौत है। इसलिए मन ने कामना को जोर से पकड़ लिया है। और कोई कामना न हो तो मोक्ष की कामना सही। वह मोक्ष की कामना हमें फिर द्वन्द्वों की दुनिया में ले आती है – यह बन्धन है, यह मुक्ति है, यह पाप है, यह पुण्य है और तब मन अपने ही दो हिस्से कर लेता है – एक हिस्सा अच्छाई का पक्षधर बन जाता है, दूसरा हिस्सा बुराई की तरफ झुक जाता है। ज्यादातर तो बुराई वाला हिस्सा जीत जाता है किन्तु कभी-कभी अच्छाई वाला हिस्सा भी जीत जाता है। बुराई जीती तो नरक, अच्छाई जीती तो स्वर्ग, किन्तु मोक्ष दोनों स्थितियों में ही नहीं है। फिर अच्छाई भी बुराई को पूरी तरह नहीं जीत लेती है, इसलिए स्वर्ग के सुख में भी तारतम्य है। अच्छाई जरा ज्यादा जीत गई तो अधिक स्वर्ग सुख, कम जीती जो कम स्वर्ग सुख। इस नियम में अपवाद स्वर्ग में भी नहीं है कि सुख-दुःख रहते हैं साथ-साथ, न्यूनाधिक हो सकता है, किन्तु किसी एक का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता।

पूर्ण सत्य का दर्शन

स्वर्ग भी दुनिया का एक हिस्सा है, वहाँ भी द्वन्द्व है। द्वन्द्व से परे जाना हो तो दुनिया के स्वभाव को समझना होगा। जब सुख और दुःख को साथ-साथ रहना है तो यह इच्छा करना कि केवल सुख रहे और दुःख न रहे, असम्भव की माँग करना है। संसार का जैसा स्वभाव है उसे स्वीकार करें। हम दुनिया की प्रकृति को नहीं बदल सकते। अपनी दृष्टि को बदलें। दुःख को स्वीकार करें, दुःख से भागें नहीं। यह न समझें कि सुख मिल जाएगा तो सब कुछ मिल जाएगा क्योंकि सुख के साथ और सुख के पीछे भी दुःख आएगा – जैसे दिन के बाद रात अनिवार्यतः आती ही है। तो दुःख-सुख के प्रति तटस्थ हो जाएँ – कामना छोड़ने का यही एक मार्ग है। कामना छूटी तो वह मन गया जो सत्य को अनुकूलता-प्रतिकूलता के आधार पर दो भागों में बाँट देता था। कामना ही नहीं तो क्या अनुकूल, क्या प्रतिकूल? जब अनुकूलता तथा प्रतिकूलता गई तो जन्म को शुभ तथा मृत्यु को अशुभ समझने का आधार समाप्त हो

गया। तब भी जन्म और मृत्यु रहेंगे किन्तु शुभ-अशुभ होकर नहीं, प्रत्युत एक ही सत्य के दो अविभाज्य अङ्ग होकर। यह पूर्ण सत्य का दर्शन है और पूर्ण सत्य का दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन। मैं तपता भी हूँ और बरसता भी हूँ; ग्रहण भी करता हूँ, विसर्जन भी करता हूँ; अमृत भी हूँ, मृत्यु भी हूँ; सत् भी हूँ, असत् भी हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

श्रीकृष्ण के इस रूप को वही समझ पाएगा जो मन से परे जाकर अखंड सत्य को देख सकता है, मन के द्वारा शुभ-अशुभ, अनुकूल-प्रतिकूल आदि द्वन्द्वों में तोड़ कर नहीं।

मूल तथा अनुवाद

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

त्रयी के जानकार सोम पीने वाले निष्पाप व्यक्ति यज्ञ द्वारा मेरी उपासना करके स्वर्ग की कामना करते हैं और वे पुण्यमय स्वर्ग को प्राप्त करके स्वर्ग में दिव्य देव भोगों को भोगते हैं॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते॥२१॥

वे विशाल स्वर्गलोक को भोगने के बाद पुण्य के क्षय होने पर मृत्युलोक को (पुनः) प्राप्त होते हैं इस प्रकार भोगों की इच्छा करने वाले त्रयी धर्म का आश्रय लेकर आवागमन को प्राप्त करते हैं॥२१॥

विपुल-भाष्य

गीता तथा वेदोक्त कर्म

इस विषय में काफी चर्चा हुई है कि उपनिषदों और गीता में वेदों का, विशेषकर वैदिक कर्मकाण्ड का, विरोध है। यह चर्चा पश्चिमी विद्वानों ने चलाई किन्तु अनेक भारतीय विद्वानों ने भी इसका समर्थन किया। इस धारणा का आधार यह है कि उपनिषदों में यज्ञों को अदृढ़ अर्थात् कमजोर नौका बताया गया है – प्लवा ह्येते अदृढाः यज्ञरूपाः। गीता में वेदवाद में रत उन लोगों को समाधि के लिए अनुपयुक्त बताया गया है, जो कामनाओं से युक्त होकर स्वर्ग का फल देने वाली वेदवाणी का प्रतिपादन करते हैं। साथ ही यह भी कहा गया कि वेद तो त्रिगुणात्मक विषय का प्रतिपादन करते हैं - त्रैगुण्यविषया वेदाः।

इन आधारों पर उपनिषद तथा गीता को वेद-विरोधी मानने वाले विद्वान् इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि कठोपनिषद् में नचिकेता ब्रह्मविद्या सम्बन्धी जिज्ञासा करने से पहले नचिकेताग्नि की विद्या सीखना चाहता है। यमराज भी उसे ब्रह्म-विद्या बाद में सिखाते हैं, यज्ञ-विद्या का उपदेश पहले देते हैं। जहाँ तक गीता का प्रश्न है, गीता ने तो पदे-पदे यज्ञ की भरपूर प्रशंसा की है। (गीता ३.९-१६) फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उपनिषद् अथवा गीता

वेद विरोधी हैं अथवा वेदोक्त कर्मकाण्ड के विरोधी हैं? यह होते हुए भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि फिर उपनिषद् तथा गीता में ऐसे वक्तव्य क्यों आ जाते हैं जिनसे यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि उनमें वेद का विरोध है?

लौकिक अथवा पारलौकिक कामनाएँ

वेद में जिस कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है उसके सम्पादन की दो विधियाँ हैं। प्रथम विधि तो यह है कि उस कर्मकाण्ड द्वारा किन्हीं लौकिक अथवा पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति की जाए। उदाहरणतः यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है – **स्वर्गकामो यजेत्** अथवा पुत्रेष्टि यज्ञ से पुत्र की प्राप्ति होती है। प्रश्न होता है कि इन कर्मों को सकाम भावना से किया जाए या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें यह देखना है कि हममें विविध कामनाएँ हैं या नहीं? इस सम्बन्ध में ईमानदारी से आत्मविश्लेषण की आवश्यकता है। ऊपरी तौर पर यह कह देने से कि हममें कोई इच्छा नहीं है, हम तो केवल भगवान् को अथवा मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हैं, सत्य की खोज नहीं हो पाएगी। हमें सीधे सच्चे मन से यह स्वीकार करना चाहिए कि कामनाओं को छोड़ देना सरल नहीं है। कोई बिरला योगी ही कामनाओं से मुक्त हो पाता है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है - इस नियम के अनुसार अधिकांश मनुष्यों में कामनाओं की पूर्ति की इच्छा देखकर संसार के सभी धर्मों में कामनाओं की पूर्ति के साधन भी आविष्कृत हो गए। वैदिक परम्परा यज्ञ से कामनाओं की पूर्ति मानती है, तो कोई दूसरी परम्परा किसी मजार पर जाकर मनौतियाँ मना आती है। कोई किसी अतिशय क्षेत्र में जाकर कामनाओं की पूर्ति की प्रार्थना करते हैं तो कोई किसी सन्त में रोगों को दूर करने की चमत्कारिक शक्ति माने हुए हैं। अभिप्राय यह है कि कोई धर्म कामनाओं को कितना भी नकारता रहे किन्तु उसके अनुयायी तो कामनाओं की पूर्ति का साधन अपने-अपने सम्प्रदाय के ढाँचे में ढूँढ ही लेते हैं – मूर्ति नहीं तो मजार, मजार नहीं तो मन्त्र, मन्त्र नहीं तो तन्त्र।

प्रश्न होता है कि गीता की ऐसे साधनों के प्रति क्या दृष्टि है? गीता का कहना है कि ऐसे साधनों से कामनाओं की पूर्ति होती है। जिन कामनाओं की पूर्ति ऐसे साधनों से होती है, उन कामनाओं में सर्वोत्कृष्ट कामना है – स्वर्ग की कामना। इह लोक के सुख लौकिक हैं, किन्तु स्वर्ग के सुख दिव्य हैं। सकाम कर्म, जिनका वेद में वर्णन है, स्वर्ग तक की सभी कामनाओं को पूरा करते हैं - इसमें गीता को सन्देह नहीं है। किन्तु गीता को इस सम्बन्ध में भी सन्देह नहीं है कि इन सकाम कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती।

सकाम कर्मों का फल सान्त है, अनन्त नहीं। किसी भी कर्म का फल अनन्त नहीं हो सकता। जब कर्म की शक्ति समाप्त हो जाएगी, तो पुण्य क्षीण हो जाएँगे और स्वर्गादि सुख भी समाप्त हो जाएँगे। साधक पुनः आवागमन के चक्र में पड़ जाएगा। सकाम कर्मों से कामनाओं की पूर्ति होती है किन्तु आवागमन से छुटकारा नहीं मिलता – इस दृष्टि से उपनिषद् और गीता दोनों ही सकाम कर्मों को हेय मानते हैं, जहाँ कहीं उपनिषद् अथवा गीता में कर्मकाण्ड को हेय बताया गया, वहाँ यही दृष्टि है।

किन्तु कर्म का सम्पादन सकाम भावना से ही किया जाए – यह आवश्यक नहीं है। निष्काम भाव से भी कर्म कर सकते हैं । कौन से कर्म किए जाएँ और कौन से कर्म न किए जाएँ - इस विषय में तो शास्त्र ही परम प्रमाण है – **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**। कर्त्तव्य कर्मों की जानकारी के लिए तो श्रुति ही परम प्रमाण है - **धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः**। इस दृष्टि से उपनिषद् अथवा गीता वेद के परम भक्त हैं। किन्तु उपनिषद् और गीता हमें इतनी ही चेतावनी देते हैं कि वेदोक्त कर्मों का पूर्ण सावधानी से पालन करते हुए भी हम उन कर्मों के साथ अपनी फलेच्छा को न जोड़ दें। फलेच्छा के जुड़ते ही हम मनोजगत् में चले जाएँगे और पूर्ण सत्य अथवा समाधि अथवा मोक्ष हमसे दूर चला जाएगा। उपनिषद् अथवा गीता यही चेतावनी देते हैं - इसे वेद का अथवा वेदोक्त कर्मकाण्ड का विरोध मान लेना एक भारी भूल है।

पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा

भारतीय परम्परा ने इस स्थिति को बहुत अच्छी तरह विवेचित किया है। वेद की मीमांसा दो दर्शनों ने की। एक का नाम है पूर्व-मीमांसा तथा दूसरे का नाम है उत्तर-मीमांसा। जहाँ हम अभी हैं, वहाँ कामनाओं का जाल है,

उन कामनाओं की पूर्ति का साधन पूर्व-मीमांसा ने बताया किन्तु हमें यहीं रुक नहीं जाना है। हमें जहाँ पहुँचना है वह स्थिति कामनाओं से मुक्त होने की है। उस स्थिति की प्राप्ति का उपाय उत्तर-मीमांसा ने बताया। ये दोनों ही मीमांसाएँ हैं। वेद की ही मीमांसा ये दोनों मीमांसाएँ दो विभिन्न प्रकार के अधिकारियों के लिए करते हैं; दोनों वेद के परमभक्त हैं, कोई भी वेद-विरोधी नहीं है।

गीता की स्थिति पर विचार करें। गीता में स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है। जिनमें कामना है वे स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उन्हें जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं मिलेगा – **कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।** उन्हें भोग और ऐश्वर्य्य मिल जाएगा, किन्तु समाधि प्राप्त नहीं होगी –

भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।

इसी स्थिति को और स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया कि त्रयी विद्या के जानकार सोमपान द्वारा पापों का निवारण कर भगवान् का यज्ञ से पूजन करते हैं किन्तु साथ ही स्वर्ग की प्रार्थना भी करते हैं। वे पुण्य का अर्जन करके इन्द्र लोक में दिव्यभोगों को भोगते हैं। लम्बे समय तक उस स्वर्ग के विशाल भोगों को भोग कर वे पुण्य के क्षीण होने पर फिर मर्त्यलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार कामनाओं से बँधे हुए लोग – कामकामी लोग – आवागमन को ही प्राप्त होते हैं, मोक्ष को नहीं –

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक–
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।

बात साफ है, सकाम कर्म से स्वर्ग मिलता है – यह पूर्व-मीमांसा का विषय है। मुमुक्षु को भी कर्म करने चाहिए किन्तु निष्काम भाव से – यह उत्तर-मीमांसा का विषय है। क्योंकि संसार में स्वर्गेच्छु भी हैं और मुमुक्षु भी, अतः वेद में दोनों प्रकार के वर्णन हैं – सकाम कर्मों का भी और निष्काम कर्मों का भी, क्योंकि वेद सभी प्रकार के मनुष्यों के लिए बने हैं, किसी एक कोटि के मनुष्यों के लिए नहीं। जो उपनिषदों को वेदों से पृथक् मानते हैं उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि ईशोपनिषद् यजुर्वेद का तथा बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथब्राह्मण का अन्तिम भाग है। ये दोनों महत्वपूर्ण उपनिषद् वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ से भिन्न कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं।

साधक को लौकिक तथा पारलौकिक कामनाओं से छुड़ाए बिना मुक्त नहीं किया जा सकता। अतः स्वाभाविक है कि उत्तर-मीमांसा में सकाम कर्मों का दोष दिखाया जाए। इसे अज्ञानवश वेद अथवा वेदोक्त कर्म की निन्दा नहीं समझ लेना चाहिए।

लौकिक कामना की पूर्त्ति

इतिहास साक्षी है कि जैन-बौद्ध जैसी परम्पराएँ रोग तथा तृष्णा को बन्धन का कारण मानते हुए सभी सकाम कर्मों की विरोधी रहीं किन्तु उन वेदेतर परम्पराओं में भी स्वतंत्र मन्त्र-तन्त्र शास्त्र विकसित हो गया जिसका उद्देश्य लौकिक कामना की पूर्ति ही मुख्य है। मनुष्य का स्वभाव सर्वत्र एक है। जैन तथा बौद्ध परम्पराओं में विकसित मन्त्र-विद्या तथा तन्त्र-विद्या को वैदिक परम्परा के पूर्व-मीमांसा-स्थानीय माना जा सकता है।

यहाँ गीता की एक विशेषता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यहाँ कहा गया कि स्वर्गेच्छु भी यज्ञ द्वारा भगवान् का ही पूजन करते हैं। मूल शक्ति तो एक ही है – आत्मशक्ति। शेष सभी शक्तियाँ उस मूल आत्मशक्ति से शक्ति प्राप्त करती हैं। केनोपनिषद् में स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मशक्ति की सहायता के बिना अग्नि एक तिनका भी नहीं जला सकी, न वायु एक तिनके को उड़ा सकी। अतः भले ही हम यज्ञ में देवी-देवताओं की उपासना करें किन्तु परमार्थतः वह भगवान् की ही उपासना है। देवी-देवता जिस शक्ति के बल पर हमें फल देते हैं, वह शक्ति उनकी अपनी नहीं है, अपितु भगवान् से प्राप्त हुई है। अतः परमार्थतः देवी-देवताओं का पूजन भी भगवान् का ही पूजन है।

सकाम कर्मों में से कामना को हटा कर स्वरूपतः उन कर्मों को करते हुए भी यदि हम उन कर्मों को भगवदपर्ण कर दें तो उन कर्मों से भी हमें भगवत्प्राप्ति हो जाएगी और सांसारिक सुख-सुविधा (योगक्षेम) तो स्वतः ही प्राप्त होंगे। इस विषय का विस्तार इसी नवम अध्याय में आगे श्रीकृष्ण स्वयं करेंगे।

मूल तथा अनुवाद

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥२२॥

जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं उन नित्य भजन करने वालों का योग और क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२३॥

हे अर्जुन! श्रद्धा से युक्त जो भक्त दूसरे देवताओं की भी उपासना करते हैं वे भी भले ही विधि को क्यों न छोड़ दें (किन्तु) मेरी ही उपासना करते हैं॥२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥२४॥

सम्पूर्ण यज्ञों का मैं ही भोक्ता हूँ और मैं ही स्वामी भी हूँ किन्तु वे (अज्ञानी) मुझे तत्त्वतः नहीं जानते अतः पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥२५॥

देवताओं की पूजा करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों की पूजा करने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मुझको पूजने वाले मुझको प्राप्त होते हैं॥२५॥

विपुल-भाष्य

भगवान् योगक्षेम वहन करते हैं

श्रीकृष्ण ने सकाम कर्मों की सीमा बता दी। उन कर्मों से स्वर्ग तक के समस्त सुख मिल सकते हैं किन्तु आवागमन से छुटकारा नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि जिन्होंने कामनाएँ छोड़ दीं उनके योगक्षेम का क्या होगा? हम कामना करते हैं, तदनुसार प्रयत्न करते हैं तो फल प्राप्त होता है। हमारी इच्छा दो भागों में बँटी है - जो हमारे पास है वह सुरक्षित रहे तथा जो हमारे पास नहीं है वह हमें प्राप्त हो जाए। ये दो इच्छाएँ ही क्रमशः क्षेम तथा योग हैं। जिसने ये इच्छाएँ कीं, उसने ही तदनुकूल पुरुषार्थ किया और उसे योगक्षेम उपलब्ध हो गया। जिसने

ये इच्छाएँ ही छोड़ दीं, वह तदनुकूल पुरुषार्थ भी नहीं करेगा, फिर फलप्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं होता। परिणाम यह होगा कि उसका योगक्षेम ही नहीं रहेगा। योगक्षेम के बिना भगवद्भजन भी कैसे होगा? प्रसिद्ध है कि 'भूखे भजन न होय गुपाला।' तो कामनाएँ छोड़ने का फल यह हुआ कि सांसारिक सुख तो गया सो गया, भगवान् भी गए – न इधर के रहे न उधर के रहे, न खुदा ही मिला, न बिसाले सनम। यह प्रश्न भयङ्कर रूप में उपस्थित होता है।

भगवतोपासना

श्रीकृष्ण इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि जो अनन्य भाव से भगवान् की उपासना करते हैं और सदा भगवान् के ही ध्यान में लगे रहते हैं उनके योगक्षेम का वहन स्वयं भगवान् करते हैं –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

भगवान् ने यह बहुत बड़ा भार अपने ऊपर ले लिया। 'भूखे भजन न होय गुपाला' की जगह भगवान् कहते हैं कि गोपाल का भजन करने वाला भूखा रह ही नहीं सकता। यह आश्वासन आपाततः उस स्थिति से बिल्कुल भिन्न है जहाँ कहा जाता है कि भगवान् का भजन करने वाले पर बहुत विपत्तियाँ आती हैं। वस्तुस्थिति यह है कि हमारा योगक्षेम किसमें है – यह हमारी अपेक्षा भगवान् को ज्यादा पाता है। जो भगवान् का भक्त है वह जानता है कि भगवान् जो भी दे रहे हैं उसका योगक्षेम उसी में है। रोटी मिल जाने में ही हमारा योगक्षेम नहीं है, कभी रोटी छिन जाने में भी हमारा योगक्षेम निहित हो सकता है। जिन्हें स्थूल परिस्थिति दिखाई देती है उन्हें लगता है कि भक्तों पर बहुत विपत्तियाँ आ रही हैं किन्तु भक्त को मालूम है कि इस विपत्ति में ही उसका हित निहित है। भगवान् केवल मरहम-पट्टी ही नहीं करते, शल्यक्रिया भी करते हैं। कहाँ किसको किसकी जरूरत है - यह भगवान् को पता है, हमें नहीं। जिन्हें भगवान् की दयालुता पर भरोसा है वे भगवान् की इच्छा को ही अपनी इच्छा बना लेते हैं, उनकी कोई व्यक्तिगत इच्छा होती ही नहीं। हमारे अपने युग में स्वामी दयानन्द ने अपने अन्तिम समय में कहा था – हे ईश्वर ! तेरी इच्छा पूर्ण हो। महात्मा गांधी ने गोली लगने पर 'हाय' नहीं कहा, 'हे राम' कहा। इन भगवदुपासकों को अपनी मौत में भी अपना योगक्षेम ही नजर आया, अपना अहित नहीं।

यह एक दृष्टि है। दूसरी दृष्टि से देखें। जो बहिर्मुख हैं उन्हें बाहर के पदार्थों में अपना योगक्षेम दिखता है किन्तु अन्तर्मुख साधक को बाह्य पदार्थ तुच्छ प्रतीत होते हैं। उसके अन्दर के आनन्द के स्रोत खुल जाने पर, उसका योगक्षेम बाह्य पदार्थों के आधीन नहीं रहता। स्थूल दृष्टि वालों को लग सकता है कि भक्त पर कष्ट आया किन्तु भक्त को वह कष्ट प्रतीति में नहीं आता। उसके लिए तो उसका योगक्षेम सदा ही सुरक्षित है।

तीसरी दृष्टि से देखें। भगवदुपासक कभी भी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। जिसकी हम उपासना करते हैं, यदि उसी की आज्ञा का हम उल्लंघन करें तो फिर हमारी उपासना ढोंग हुई। भगवान् की आज्ञा में चलने का अर्थ है शास्त्राज्ञा का पालन। शास्त्राज्ञानुसार अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्म का पालन करने वाले का योगक्षेम स्वयं ही सुरक्षित हो जाता है।

चौथी दृष्टि भक्ति की है। द्रौपदी, अजामिल, गजेन्द्र आदि की अनेकानेक कथाओं में भगवान् द्वारा भक्तों की रक्षा का वर्णन है। हम आशा करते हैं कि हमारी भी उसी प्रकार भगवान् रक्षा करें किन्तु यह विचार नहीं करते कि क्या हमारी भक्ति अनन्य है? द्रौपदी की साड़ी दुःशासन खींचता रहा और द्रौपदी अपने बल पर साड़ी को बचाने की कोशिश करती रही किन्तु विफल होने पर जब उसने अपना भरोसा छोड़ कर हाथ खड़े करके भगवान् को पुकारा तो भगवान् उसकी रक्षा को आए। यह भक्ति मार्ग की दृष्टि है।

भक्त का पुरुषार्थ

दो न्याय हैं - मर्कट न्याय और मार्जारी न्याय। बन्दरिया का बच्चा अपनी माँ को अपने पुरुषार्थ से पकड़े रहता है तो बन्दरिया को कुछ नहीं करना होता, सब पुरुषार्थ बच्चे का है। यह ज्ञानी की स्थिति है। बिल्ली का बच्चा कुछ

नहीं करता, उसकी माँ ही मुँह से पकड़ कर उसे यहाँ-वहाँ ले जाती है। यह स्थिति भक्त की है। ज्ञानी अपने पुरुषार्थ से भगवान् को प्राप्त करता है, भक्त का पुरुषार्थ इसी में है कि वह अपना सब पुरुषार्थ छोड़ कर पूर्णरूपेण भगवान् की शरण में आ जाता है। भगवान् ज्ञानी और भक्त दोनों का योगक्षेम अपने-अपने ढंग से वहन करते हैं।

फिर भी कुछ लोगों का विश्वास भगवान् पर नहीं है, देवी-देवताओं पर है। यह स्थिति इस अज्ञान से उत्पन्न है कि देवी-देवता पृथक् हैं और भगवान् पृथक् हैं। देवी-देवताओं से मनुष्य क्या माँगता है? पद, पैसा, सन्तान, यश। थोड़ा सूक्ष्म में जाएँ तो ये सब माँगें इसलिए हैं कि मनुष्य को आनन्द मिल सके। आनन्द तो भगवान् का स्वरूप है। जीव भगवान् का अंश होने के कारण अंशी भगवान् की ही खोज करता है। आनन्द की खोज भगवान् की खोज है। जब हम इस आनन्द को भगवान् में खोजते हैं तो हमारी खोज सही दिशा में होती है किन्तु जब हम आनन्द को पैसे में खोजते हैं तो खोज तो ठीक चीज रहे हैं किन्तु खोज की दिशा गलत है। धन की देवी लक्ष्मी है। हम लक्ष्मी की पूजा करें किन्तु लक्ष्मी को भगवान् से भिन्न न मानें। साथ ही लक्ष्मी से कुछ माँगें नहीं तो लक्ष्मी का पूजन भी भगवान् का ही पूजन हुआ। यह देवी-देवताओं के पूजन की सही विधि है।

लक्ष्मी को भगवान् से भिन्न मान कर उनसे पैसे की कामना की - यह देवी-देवताओं का अविधिपूर्वक पूजन हुआ। श्रद्धा यहाँ भी है किन्तु यहाँ श्रद्धा पैसे में है; भगवान् में नहीं। ऐसा अविधिपूर्वक किया गया पूजन भी वस्तुतः होता भगवान् का ही है, इसलिए ऐसे पूजन का भी फल मिल जाता है किन्तु ऐसे पूजन से एक तो साधक अज्ञान से नहीं निकल पाता, दूसरे उसे जो फल मिलता है, वह सीमित है –

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।

अज्ञान का फल बहुत कड़वा है। अज्ञानी को कर्म द्वारा सब कुछ मिल जाता है किन्तु तत्व की प्राप्ति उसे नहीं होती। भगवान् घट-घट वासी हैं। सबके अन्तर में बैठा वही वस्तुतः भोक्ता है। समस्त भोग्य पदार्थ भी वही है। भगवान् के अतिरिक्त यदि कोई अन्य भोक्ता या भोग्य पदार्थ माना जाएगा तो द्वैत उपस्थित हो जाएगा। बस, भगवान् के अतिरिक्त किसी और को भोक्ता माना अथवा भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य को भोग्य पदार्थों का स्वामी माना तो साधक तत्व से वञ्चित रह गया –

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।

विचार करना चाहिए कि संसार में हम किस पदार्थ के स्वामी हैं। क्या जल मैंने बनाया, अथवा वायु मैंने बनाई? पृथ्वी, आकाश, अग्नि, सोना, चाँदी, लोहा – कुछ भी मैंने नहीं बनाया। पूरी सृष्टि में एक परमाणु भी ऐसा नहीं जिसे हमने बनाया हो। फिर इस सृष्टि में किसी भी पदार्थ के स्वामी हम कैसे हो सकते हैं? जड पदार्थों की ही बात नहीं है। मैंने न अपना शरीर बनाया, न मन, न बुद्धि, न इन्द्रियाँ। फिर इनका स्वामी तो कोई और ही है जिसने इन सबको बनाया है। एक मकान बनाए कोई और तथा उसमें रहने मैं लगूँ तो उस मकान का मालिक उसको बनाने वाला होगा या मैं? यदि किसी अन्य के बनाए मकान में कोई और घुस बैठें तो उसका यह कब्जा अवैध माना जाएगा। संसार बनाया भगवान् ने और उस पर हम कब्जा करके बैठ गए हैं और उसे अपना मानने लगे हैं तो हमारी यह प्रवृत्ति अवैध अथवा अविधिपूर्वक ही होगी।

श्रद्धा का विषय

श्रद्धा में बहुत बल है। जो जैसी श्रद्धा करता है वह वही बन जाता है – **यो यच्छ्रद्धः स एव सः।** मुख्य बात यह है कि हम अपनी श्रद्धा का विषय परमात्मा को बनाएँ। मजेदार बात यह है कि हम जिसे अपनी श्रद्धा का विषय बना लेते हैं वही हमारा परमात्मा बन जाता है। जिसकी श्रद्धा पैसे पर हो, पैसा ही उसका परमात्मा बन जाता

है। वह पैसे से आगे न देख पाता है, न सोच पाता है। यद्यपि पैसे से उसे सन्तोष मिलता नहीं है किन्तु वह क्या करे, पैसे के अतिरिक्त पैसे से बड़ी किसी चीज का उसे पता ही नहीं है। उसकी श्रद्धा पैसे पर आकर अटक गई है। पैसे को जीवन का चरम लक्ष्य मानने पर ज़ब सन्तोष न प्राप्त हो तो चाहिए यह कि मनुष्य सोचे कि पैसे को श्रद्धा का विषय बनाना गलत है। ऐसा हो जाए तो समझना चाहिए कि मनुष्य ने अनुभव से कुछ सीखा। किन्तु यदि मनुष्य यह सोच ले कि सन्तोष इसलिए नहीं हो रहा कि पैसा कम है, यदि पैसा अधिक हो जाए तो सुख मिल जाएगा, तो व्यक्ति धन बढ़ाने में लग जाता है। धन बढ़ता जाता है, किन्तु सुख बढ़ना तो दूर रहा, उल्टा कम होने लगता है। हम अपने अनुभव से भी नहीं सीखते, दूसरों के अनुभव से भी नहीं सीखते।

हमारे पास एक करोड़ रुपया नहीं है, लेकिन दूसरों के पास तो है। हम दूसरे करोड़पतियों को देखें। क्या वे सुखी हैं? यदि वे ही नहीं हैं तो हम कैसे हो जाएँगे? लेकिन अपनी श्रद्धा का विषय बदलने को तैयार नहीं होते। हमारी श्रद्धा के विषय वही बने रहते हैं – पैसा, पद, प्रतिष्ठा। इनसे ऊपर भी कुछ है – यह हमारे ख्याल में नहीं आता। हमारे ख्याल में आता है कम पैसे से ज्यादा पैसा, छोटे पद से बड़ा पद और थोड़ी प्रतिष्ठा से बड़ी प्रतिष्ठा। हम परिमाणात्मक परिवर्तन के लिए उत्सुक हैं, गुणात्मक परिवर्तन के लिए नहीं। परमात्मा पर श्रद्धा का अर्थ है - श्रद्धा के विषय में गुणात्मक परिवर्तन – पदार्थ पर श्रद्धा नहीं, परमात्मा पर श्रद्धा। लेकिन हम पदार्थ की श्रद्धा से ऊपर नहीं उठते। देवताओं के पास जाते हैं तो पदार्थ के लिए, पितरों के पास जाते हैं तो भी पदार्थ के लिए और भूतों की उपासना भी पदार्थ के लिए ही करते हैं। तो देव देवलोक प्रदान कर देते हैं, पितर पितृलोक, भूत भूतयोनि और इन सब लोकों में पदार्थ तो हैं, किन्तु परमात्मा नहीं। परमात्मा को तो वे ही प्राप्त कर पाते हैं जो परमात्मा और केवल परमात्मा को अपनी श्रद्धा का विषय बनाते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रता।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।

मूल तथा अनुवाद

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

जो भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल अर्पित करता है ऐसे शुद्ध बुद्धि वाले व्यक्ति का भक्तिपूर्वक किया गया वह (पत्र, पुष्पादि) मैं स्वीकार करता हूँ।।२६।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

हे अर्जुन! तुम जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो और जो तप करते हो वह सब मुझे अर्पित कर दो।।२७।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

इस प्रकार संन्यास योग से युक्त होकर तुम शुभ और अशुभ फल देने वाले कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे और मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे ।।२८।।

विपुल-भाष्य

संन्यास के लिए किसी की प्रतीक्षा न करें

कर्मकाण्ड हो अथवा लौकिक कर्म हों – वे सामग्री सापेक्ष हैं। कोई सोमयाग करना चाहे तो हजार दो हजार रुपयों में सोमयाग नहीं हो सकता, लाखों रुपए चाहिए। यदि लाखों रुपए नहीं हैं तो सोमयाग को तब तक के लिए स्थगित करना होगा जब तक उतने पैसों की व्यवस्था न हो जाए। मकान बनवाना हो तो भी एक मोटी रकम चाहिए, दस-बीस रुपयों में मकान नहीं बन सकता। यदि आवश्यक राशि नहीं है तो मकान बनवाना भी तब तक के लिए स्थगित करना पड़ेगा जब तक उतनी राशि की व्यवस्था न हो जाए।

भगवान् की उपासना में सामग्री की अपेक्षा नहीं है। हमारे पास कुछ भी न हो तो भी भगवान् की उपासना अभी वर्तमान के क्षण में ही की जा सकती है, किसी सामग्री की प्रतीक्षा में भगवदुपासना टालने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी कौन-सी सामग्री है जो हमारी हो और भगवान् की न हो? जब सब सामग्री भगवान् की है तो हम उन्हें क्या दे सकते हैं? हम भगवान् को देंगे – यह भावना इस अज्ञान पर टिकी है कि पदार्थ हमारे हैं। देने का अर्थ होता है, अपना स्वत्व हटा कर दूसरे का स्वत्व स्थापित करना। हमारा तो किसी पदार्थ पर स्वत्व है ही नहीं, फिर हम भगवान् को ही क्या, किसी को भी कुछ कैसे दे सकते हैं?

ममत्व को हटाता है ज्ञान

मेरा कुछ नहीं – यह ज्ञान ममत्व को हटाता है और मैं किसी को कुछ नहीं दे सकता - यह ज्ञान अहङ्कार को समाप्त करता है। तो वस्तुतः तो भगवान् को अहङ्कार और ममत्व को ही अर्पित करना है, पदार्थ को नहीं। अहङ्कार और ममत्व तो हमारे पास सदा ही हैं, उन्हें भगवदपर्ण कर दिया तो भगवदुपासना हो गई। इसमें प्रतीक्षा करने की क्या आवश्यकता है?

फिर भी हम प्रतीक्षा किए जाते हैं कि गृहस्थ के दायित्वों से मुक्त होने पर भगवद्भजन करेंगे। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह अज्ञान है। गृहस्थ के दायित्वों को निभाएँ किन्तु अपने को किसी कर्म का कर्त्ता न मानें तो संन्यास हो गया। यह गृहस्थ में रहते हुए ही संन्यास ले लेने की विधि है। मान लें किसी ने गृहस्थ के दायित्व पूरे कर दिए और फिर संन्यास लिया। अब उसके शिष्य हो गए और उन शिष्यों का दायित्व उस पर आ गया तो क्या वह यह कहेगा कि शिष्यों का दायित्व पूरा करने पर वह भगवदुपासना करेगा? आखिर दायित्व दायित्व है, चाहे गृहस्थ का हो, चाहे शिष्यों का। मान लें कि किसी ने शिष्य भी नहीं बनाए तो क्या वह भोजन करना छोड़ देगा, सोना छोड़ देगा? और तब कहेगा कि जरा भोजन कर लूँ, फिर उपासना करूँगा अथवा अभी थोड़ा विश्राम कर लूँ तब उपासना करूँगा। और यूँ उपासना टलती ही रहेगी। ऐसा समय तो कभी आने वाला नहीं है कि मनुष्य को कुछ करना ही न हो।

संन्यास का व्यावहारिक उपाय

श्रीकृष्ण इस परिस्थिति में संन्यास का एक व्यावहारिक उपाय बताते हैं। मनुष्य कुछ भी करे, खाए-पीए, हवन करे, किसी को कुछ दे, तपस्या करे, वह सब क्रियाएँ भगवदर्पण कर दे, कर्तृत्व छोड़ दे, 'मैं कर रहा हूँ', यह भाव हटा कर यह भाव रखे कि 'भगवान् कर रहे हैं।' सोचें कि हमने कोई कार्य करने का विचार किया। विचार बुद्धि से किया। क्या वह बुद्धि हमने बनाई है जिससे विचार किया? बुद्धि तो हमने बनाई नहीं, फिर बुद्धि तो उसी की हुई जिसने बुद्धि बनाई। फिर बुद्धि के द्वारा किया गया विचार मेरा हुआ या उसका जिसने बुद्धि बनाई है? उस विचारानुसार किया गया कर्म भी मेरा कैसे हो सकता है जो विचार ही मेरा नहीं है। कर्म पर विचार करें। कर्म हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों द्वारा होते हैं। ये हाथ-पैर भी मैंने तो बनाए नहीं। फिर भी इन्हें मैं अपना मान बैठा हूँ। हाथ-पैरों को अपना मानने के कारण उनकी क्रियाओं को भी मैं अपना मान लेता हूँ। श्रीकृष्ण कहते हैं कि सब क्रियाएँ भगवान् की हैं, अतः उनको भगवदर्पण ही कर देनी चाहिए।

वस्तुतः देखा जाए तो भगवदर्पण करने योग्य एक ही वस्तु है – हम स्वयं। हम भगवान् के हैं, वही हमारा जन्मदाता है और वही हमारा पालनकर्ता है। हम उसी के हैं। यह भगवान् के सम्मुख आत्मसमर्पण की विधि है।

कभी हम सोचते हैं कि हम पहले संयम तो साध लें, फिर भगवान् के योग्य होंगे। हम संयमी हों या असंयमी, जब हम हैं ही भगवान् के तो फिर यह विचार करने का प्रश्न ही कहाँ हैं कि हम योग्य हैं अथवा अयोग्य? जब अहङ्कार का समर्पण करना है तो प्रतीक्षा किस बात की कर रहे हैं? अहङ्कार भरपूर मात्रा में उपस्थित है, उसे अभी समर्पित किया जा सकता है।

पदार्थों का समर्पण गौण है, मुख्य है समर्पण का भाव। पदार्थ दिए किन्तु यह भाव बना रहा कि मैंने पदार्थ दिए तो यह गहरा अज्ञान है। प्रथम तो पदार्थ मेरे थे ही नहीं, दूसरे भगवान् को पदार्थों की आवश्यकता कहाँ है? अतः पदार्थ तो उपलक्षण हैं। पत्र, पुष्प, फल – ये तीन एक ही पदार्थ की तीन स्थितियाँ हैं। प्रथम पत्र आता है, फिर पुष्प और फिर फल। पत्र से भी पहले पानी है। इन चारों पदार्थों को देते समय लक्षणा से अर्थ यह है कि साधक विकास की किसी भी स्थिति में हो, वह अपने को भगवदर्पण कर सकता है। भगवान् उसके समर्पण को स्वीकार कर लेंगे। मान लें कि एक सुशिक्षित है वह विकास की अन्तिम स्थिति में है, फल के समान। दूसरा अनपढ़ है, विकास की पहली स्थिति में है, जल के समान। सुशिक्षित ने अपना अहङ्कार छोड़ कर अपने को भगवान् के समर्पित कर दिया तो भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया। अब यदि दूसरा अनपढ़ व्यक्ति भी अपना अहङ्कार छोड़ कर अपने को भगवान् के सम्मुख अर्पित करता है तो क्या भगवान् उसे स्वीकार नहीं करेंगे? भगवान् दोनों का आत्मसमर्पण स्वीकार कर लेंगे। हम यह न सोचें कि हममें अमुक कमी है, जब यह कमी दूर हो जाएगी, तब हम भगवदुपासना अथवा संन्यास के योग्य होंगे। हम किसकी कमी दूर करना चाह रहे हैं? शरीर की, जो रक्तमांस का पिटारा है? मन की, जो एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि चञ्चलता उसका स्वभाव है? बुद्धि की, जो बुद्धिमान से भी बुद्धिमान व्यक्ति की होने पर भी एक अणु का भी रहस्य पूरी तरह नहीं जान सकती? क्या शरीर, मन और बुद्धि की कमियाँ कभी दूर हुई हैं? हमारे पास जो कुछ है और जिस स्थिति में है उसे इसी क्षण भगवदर्पण कर दें। बस संन्यास सिद्ध हो जाएगा। भगवान् भक्तिपूर्वक दिया गया कुछ भी स्वीकार कर लेंगे।

साधक का कर्म एवं उसका फल

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

पत्र हो या पुष्प, फल हो या जल – ये सब तो पहले से ही भगवान् के हैं हमें केवल उन पर से ममत्व बुद्धि हटानी है। सब क्रिया भी भगवान् की है, हमें केवल उन क्रियाओं पर से अपनी कर्तृत्व बुद्धि हटानी है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जब सब क्रियाएँ भगवान् को अर्पित कर दीं तो साधक को किस कर्म का फल मिलेगा? न कोई अच्छा कर्म उसका, न बुरा कर्म उसका। साधक को किसी कर्म का फल नहीं मिलता, उसे जो कुछ मिलता है वह भगवान् की कृपा से मिलता है। भगवान् की कृपा भी माँ की कृपा के समान है। माँ प्यार करके भी कृपा करती है और ताड़ना करके भी कृपा करती है। भगवान् सुख देते हैं तो भी उनकी कृपा है, दुःख देते हैं तो भी साधक के मैल धोकर उसे पवित्र बनाते हैं। सच्चा उपासक सुख-दुःख को अपने कर्मों का फल नहीं मानता, भगवान् की कृपा मानता है। मैंने कर्म किए और उनका अच्छा-बुरा फल मैं भोग रहा हूँ – यह तो कर्तृत्त्व के अभिमान का स्वर है। जहाँ अहङ्कार नहीं है वहाँ केवल भगवान् की कृपा ही सब कुछ करती है। व्यक्ति कुछ नहीं करता। जब वह कुछ करता ही नहीं तो फिर उसको कर्मबन्धन कैसे होगा?

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

कर्मकाण्ड पदार्थाश्रित है, संन्यास भावाश्रित है। पदार्थ को पकड़ना संन्यास नहीं है तो पदार्थ को छोड़ना भी संन्यास नहीं है। संन्यास है पदार्थ की यथार्थ स्थिति को समझना। इसलिए संन्यास ज्ञानकाण्ड का विषय है, कर्मकाण्ड का नहीं। पदार्थ को पकड़ना यदि एक कर्मकाण्ड है तो पदार्थ को छोड़ना भी एक कर्मकाण्ड ही है। संन्यास है यह समझ कि पदार्थ मेरे नहीं हैं और न पदार्थों की सहायता से किए जाने वाली क्रियाओं का कर्त्ता मैं हूँ। ज्ञानी इस समझ पर ही रुक जाता है किन्तु भक्त इससे आगे जाकर यह भी कहता है कि पदार्थ मेरे नहीं हैं भगवान् के हैं, कर्त्ता मैं नहीं हूँ, भगवान् हैं। यही नहीं, भक्त तो यह कह देता है कि मैं स्वयं भी भगवान् का हूँ। ज्ञान हो या भक्ति – यह एक भाव है, कर्मकाण्ड नहीं। इसे अभी यहीं साधा जा सकता है।

मूल तथा अनुवाद

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

मैं सभी भूतों में समान रूप से हूँ। मेरा न कोई अप्रिय है न प्रिय, किन्तु जो मुझको प्रेम से भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।।२९।।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरी उपासना करता है तो उसे भी साधु ही मानना चाहिये क्योंकि उसका निर्णय सम्यक् है।।३०।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है। हे अर्जुन! मेरा वचन है कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।।३१।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

हे अर्जुन! पापी, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी जो मेरा आश्रय लेते हैं, वे परम गति को प्राप्त कर लेते हैं।।३२।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों तथा भक्त राजर्षियों की तो बात ही क्या है। तुम सुखहीन अनित्य संसार में रहकर भी मेरी उपासना करो।।३३।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

तुम मुझमें मन को लगाओ, मेरी उपासना करो, मेरी वन्दना करो - इस प्रकार अपने को मुझमें लगाकर मेरे परायण रह कर तुम मुझे ही प्राप्त कर लोगे।।३४।।

विपुल-भाष्य
भगवत्प्राप्ति का अधिकार सबको है

दो अलग-अलग दुनिया हैं - एक दुनिया वह है जिसमें आवागमन है, द्वंद्व है। यह तो वस्तुतः दुनिया है क्योंकि यहाँ द्विनियति है – सुख-दुःख, जय-पराजय, लाभ-हानि, जन्म-मरण। एक दूसरी दुनिया है जिसे दुनिया नहीं कहना चाहिए क्योंकि वहाँ द्वंद्व नहीं है। वहाँ सुख-दुःख नहीं है, शान्ति है, आनन्द है। वहाँ जन्म-मरण नहीं है, अमृतत्व है। पहली दुनिया में सदाचार और दुराचार का महत्व है, सदाचार स्वर्ग का द्वार है, दुराचार नरक का है। किन्तु जहाँ आवागमन ही नहीं, वहाँ सदाचार का या दुराचार कोई अर्थ नहीं है, जैसे एक देश की मुद्रा दूसरे देश में कागज का टुकड़ा है वैसे ही आवागमन की दुनिया का शुभ-अशुभ का भेद मोक्ष की परिधि के अन्दर अर्थहीन हो जाता है।

परमात्मा के लिए न पुण्यात्मा प्रियता का पात्र है, न पापात्मा द्वेष का पात्र। वे सब में समान दृष्टि रखते हैं। किन्तु जो परमात्मा के भक्त हैं, परमात्मा उनमें प्रकट हो जाते हैं और वे परमात्मा में प्रकट हो जाते हैं। एक प्रज्वलित समिधा है, एक सामान्य काष्ठ का खण्ड है, अग्नि दोनों जगह है, एक में वह प्रकट है, एक में वह प्रकट नहीं। जहाँ अग्नि प्रकट हो जाती है वहां लकड़ी से ही अग्नि प्रकट नहीं होती, अग्नि में लकड़ी का स्वरूप भी उद्‌भासित हो जाता है। कहना होगा कि वहां लकड़ी में अग्नि है और अग्नि में लकड़ी। किन्तु जहाँ अग्नि प्रकट नहीं है, वहाँ केवल लकड़ी ही दिखाई पड़ती है, बुझी हुई सी, मरी हुई थी, दीन सी। यद्यपि वहाँ भी अग्नि है।

भक्ति वह कीमिया है जो साधक में परमात्मा को प्रकट कर देती है। यद्यपि है परमात्मा उनमें भी जिनमें भक्ति नहीं है, किन्तु परमात्मा वहाँ प्रकट नहीं है, अतः वे बुझे-बुझे, मरे-मरे, दीन-हीन से ही रहते हैं। जिस भक्त में परमात्मा प्रकट हो गए वह भक्त उद्‌भासित हो जाता है। वहाँ भक्त ही उद्‌भासित नहीं होता, भक्त की भक्ति के प्रताप से वहाँ परमात्मा का अस्तित्व भी दमकने लगता है। गीता कहती है कि भगवान् का न कोई द्वेष्य है, न प्रिय; वे सब के प्रति समान हैं। तथापि भक्त उनमें हैं और वे भक्तों में –

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

आचरण एवं भाव

भक्ति की महिमा अपरम्पार है। परमात्मा ही लक्ष्य हो, कोई और नहीं - अनन्यता हो, और निश्चय दृढ़ हो – सम्यक् निर्णय; तो भक्ति व्यक्ति के आचरण को नहीं देखती, भक्ति से दुराचारी से दुराचारी भी साधु की कोटि में आ जाता है। भक्ति एक भाव है, आचरण नहीं। आवश्यक नहीं कि हमारा आचरण भी हमारे भावानुकूल ही हो। भाव आन्तरिक है, आचरण बाहरी। आचरण हम दिखावे के लिए भी कर सकते हैं क्योंकि वह सबको दिखाई देता है। प्रशंसा पाने के लिए, लोकैषणा के लिए हम सदाचारी बन सकते हैं किन्तु आवश्यक नहीं कि हमारा हार्दिक भाव भी शुद्ध हो। ऐसा सदाचार संसार में चल सकता है, परमात्मा के यहाँ नहीं क्योंकि परमात्मा बाहरी आचरण को नहीं देखते, आन्तरिक भाव को देखते हैं। भाव लोकैषणा का हो और आचरण साधु का तो हम दुनिया को तो धोखा देते ही हैं, अपने को भी धोखा देने का विफल प्रयत्न करते हैं, किन्तु परमात्मा के सामने हमें अनावृत होकर ही जाना पड़ता है।

इसके विपरीत किसी व्यक्ति का आचरण ठीक नहीं है किन्तु भाव शुद्ध है तो वह एक न एक दिन धर्मात्मा हो जाएगा और शाश्वत शान्ति को भी प्राप्त कर लेगा। शान्ति भाव-शुद्धि से आती है। आचरण की शुद्धि समाज के लिए आवश्यक है, समाज-व्यवस्था के लिए आवश्यक है, किन्तु व्यक्ति की शान्ति के लिए भाव-शुद्धि आवश्यक है। जब तक अहङ्कार है, आसक्ति है, व्यक्ति कितना ही दान-पुण्य कर ले उसे शान्ति नहीं मिल सकती। उसका अहङ्कार सम्मान चाहेगा, पुण्य का प्रतिफल चाहेगा और जहाँ उसके सम्मान को जरा सी भी चोट लगी कि वह अशान्त हो जाएगा, भयङ्कर रूप से अशान्त। उसने इतने लोकोपकार के कार्य किए, अपना जीवन लगा दिया और कृतघ्न समाज

के पास उसकी प्रशंसा में कहने के लिए दो शब्द भी नहीं! उसे मञ्च पर आगे की पंक्ति में आसन भी नहीं दिया गया! उसकी आसक्ति माँगेगी कि उसके दान के बदले उसे प्रतिष्ठा मिले, जिस प्रतिष्ठा के फलस्वरूप उसकी 'गुडविल' बने। उसकी वह 'गुडविल' उसे उससे दस गुना अधिक लाभ करा देगी जितने धन का व्यय उसने समाजोपयोगी कार्यों में किया था। यह पुण्य न हुआ, व्यापार हुआ - कम देकर अधिक पाने की योजना हुई।

इसके विपरीत एक सामान्य व्यक्ति सोचता है कि वह दोषों से भरा है। कोई उसे नमस्कार भी कर दे तो उसे भार प्रतीत होता है, सोचता है वह नमस्करणीय नहीं है, लोग उसे नमस्कार क्यों कर रहे हैं? काश ! वह इस योग्य हो पाता कि वह नमस्करणीय होता। यह विनम्रता, यह भाव ही उसे एक दिन धर्मात्मा बना देता है। गीता 'धर्मात्मा' शब्द का प्रयोग करती है, 'पुण्यात्मा' शब्द का नहीं। आत्मा का स्वभाव धर्म है, पुण्य नहीं। पाप-पुण्य मनोजगत् की वस्तुएँ हैं, आत्म-जगत् की वस्तु धर्म है। पाप-पुण्य का द्वंद्व है। पुण्य का फल सुख भोग है, सुख भोग का फल पाप है और पाप का फल दुःख है। धर्म का फल शान्ति है, शान्ति का फल स्थिरता है और स्थिरता का फल आनन्द है। गीता कहती है कि इस प्रकार भक्त कभी दुःख में नहीं पड़ता –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

सदाचार-दुराचार का मामला नैतिक है। श्रीकृष्ण ने अनैतिक व्यक्ति के लिए भी शान्ति के द्वार खोल दिए बशर्ते कि वह परमात्मा का अनन्य भक्त हो और उसका निश्चय दृढ़ हो। परमात्मा और संसार की भक्ति एक साथ नहीं चल सकती। भक्ति के लिए अनन्यता चाहिए। साथ ही दृढ़ता भी। जरा सी आपत्ति आई तो समझने लगे कि परमात्मा या तो है ही नहीं या फिर है तो अन्यायी है। सङ्कल्प इतना दृढ़ हो कि कुछ भी हो, भक्ति में विकार न आए। अनन्य दृढ़ भक्ति हो तो आचरण की कमजोरी शीघ्र ही दूर हो जाती है – **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।**

भेदभाव नहीं

यह तो एक आश्वासन हुआ। किन्तु एक और भी बाधा है। परम्परा कहती है कि स्त्री, शूद्र, वैश्य तथा अन्य म्लेच्छादि पापयोनियाँ निकृष्ट हैं, क्षत्रिय, ब्राह्मण उत्कृष्ट हैं। यह भेदभाव परमात्मा के यहाँ भी चलता होगा? श्रीकृष्ण का आश्वासन है – "जात-पात पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि को होई।" वर्ण-व्यवस्था का आधार मनोवैज्ञानिक है, पारमार्थिक नहीं। महाभारत कहती है कि सभी ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं इसलिए सभी ब्राह्मण हैं। यह पारमार्थिक दृष्टि है। व्यवहार में रुचि-भेद से भेद करना पड़ता है। शरीर को प्रधान माने और शारीरिक श्रम को ही आजीविका का साधन बनावे सो शूद्र। धन को प्रधान माने और धन को ही आजीविका का साधन बनावे सो वैश्य। शरीर को ही सब कुछ समझना अथवा धन को ही सब कुछ मान लेना कोई बहुत ऊँची मानसिकता नहीं है। संसार में अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करे सो क्षत्रिय और ज्ञान की आराधना करे सो ब्राह्मण। यह कुछ ऊँची मानसिकता है। किन्तु परमात्मा मन का विषय नहीं है। वहाँ मन से ऊपर उठना है, मन से परे जाना है। जो मन से परे गया उसकी मानसिकता ऊँची थी या नीची - यह प्रश्न उसी प्रकार महत्वहीन है जिस प्रकार लक्ष्य की ओर प्रस्थान करने के लिए मार्ग पर उतरने वाला मकान की पहली मञ्जिल से नीचे उतरा या चौथी मञ्जिल से। किस मञ्जिल से नीचे उतरा – यह प्रश्न महत्वहीन है। मकान छोड़ कर मार्ग पर आना महत्वपूर्ण है – चल कर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए। मकान छोड़ कर चौथी मञ्जिल वाला भी आ सकता है, पहली मञ्जिल वाला भी। चौथी मञ्जिल वाला आ सकता है तो पहली मञ्जिल वाला तो आ ही सकता है। चौथी मञ्जिल से उतरने में अधिक समय लगेगा फिर भी उतरा जा सकता है। मन से परे जाना है, मानसिकता नीची हो या ऊँची। फिर नीची मानसिकता वाला भी चाहे तो मन से परे जा सकता है, तब ऊँची मानसिकता वाले के लिए तो कहना ही क्या? लेकिन मानसिकता छोड़नी जरूरी है ताकि उसे पाया जा सके जो मन के पार है – उसे आत्मा कहो या परमात्मा कहो।

गीता जिस लक्ष्य की ओर इशारा कर रही है वहाँ ऊँच-नीच का आधार मानसिकता नहीं, मन का अतिक्रमण करने की क्षमता है। कोई शास्त्रों का दिग्गज ब्राह्मण पण्डित भी यदि मनोजगत में ही विचर रहा है तो जुलाहे कबीर से अथवा चर्मकार दादू से पिछड़ जाएगा क्योंकि वे मन के पार जाकर परमात्मा को देख सके और शास्त्रज्ञ पण्डित अहङ्कार के बोझ में ही दबकर रह गया। हाँ, वह भी मन से ऊपर उठ सके, तो सोने में सुहागा है –

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

यहाँ स्त्रियों की गणना शूद्र, वैश्यों के साथ की है। स्त्री चारों वर्णों में होती है, फिर भी स्त्री के शरीर को प्रकृति ने पुरुष के शरीर की अपेक्षा निर्बल बनाया है। उसकी शारीरिक निर्बलता परमात्मा प्राप्ति में बाधक नहीं है। कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जहाँ शारीरिक निर्बलता बाधक होती है। उदाहरणतः लक्ष्मीबाई जैसे कुछ अपवादों को छोड़ दें तो स्त्री का शरीर सेना के लिए उपयुक्त नहीं है। किन्तु परमात्मा की प्राप्ति के लिए शारीरिक निर्बलता बाधक नहीं है, यही अभिप्राय है। जिन जातियों को हम जरायमपेशा कहते हैं जिनमें वंश परम्परा से ही चोरी आदि करने का प्रचलन है, वे पापयोनि हैं। भगवान् ने भक्ति का मार्ग उनके लिए भी खोल दिया है।

गीता के नवम अध्याय का अन्त इस घोषणा के साथ होता है कि संसार अनित्य है और सुख रहित है। इसमें किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि संसार क्षणभंगुर है। जहाँ तक काल का सम्बन्ध है, हम एक क्षण में ही जीते हैं। हमें रहने के लिए दो क्षण कभी नहीं मिलते। दूसरे, हम प्रथम क्षण में जो होते हैं, दूसरे क्षण हजार प्रयत्न करने पर भी वैसे नहीं रह सकते, बदल जाते हैं। भोक्ता भी प्रति क्षण बदल रहा है, भोग्य पदार्थ भी प्रति क्षण बदल रहे हैं। एक क्षण में मैंने जिसे एक रूप में देख कर चाहा, अगले क्षण में उसका वह रूप ही बदल गया। इसलिए अब मैं उसे प्राप्त नहीं कर सकता। फिर किस पर भरोसा करके किसे चाहें?

परमात्मा नहीं बदलता

केवल परमात्मा नहीं बदलता। वह इस क्षण सुख रूप है तो प्रति क्षण सुख रूप है। उसे चाहें तो धोखा नहीं होगा। शेष किसी भी व्यक्ति अथवा पदार्थ को चाहें, धोखा हो सकता है। वह व्यक्ति और पदार्थ बदल कर ऐसा हो सकता कि हमें उससे बड़ा शत्रु ही कोई न दिखे। मुश्किल यह है कि दूसरे ही नहीं बदलते हम भी बदल जाते हैं। इस अदला-बदली में स्थायित्व कहाँ से आएगा? हाँ, एक उपाय है। यदि हम प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक व्यक्ति में और अपने में भी परमात्मा के दर्शन कर सकें तो हमारा सांसारिक व्यवहार भी इस अदला-बदली की परेशानी से बच सकता है। गोस्वामी तुलसीदास ने सारे जग को प्रणाम किया, किन्तु सियाराम मय जान कर – ''सियाराम मय सब जग जानी। कर हूँ प्रणाम जोरि जुग पाणि।'' श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन से अमन न हो सको, तो मन को मुझमें लगा दो, कर्मकाण्ड – यज्ञयाग करो किन्तु मेरे लिए, नमस्कार करो मुझे। मुझ में ही लग जाओ। इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। हम कह चुके हैं कि श्रीकृष्ण उत्तम पुरुष का प्रयोग परमात्मा के लिए करते हैं। वेदान्त के अनुसार यह अधिकार केवल श्रीकृष्ण को ही नहीं, प्रत्येक उस साधक को है जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है कि वह कह सके कि मैं ब्रह्म हूँ – अहं ब्रह्मास्मि। फिर श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं। वे गीता के नवम अध्याय का समापन इस श्लोक से करते हैं–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥९॥

श्रीपरमात्मने नमः

अथ दशमोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥१॥

श्रीभगवान् ने कहा –

हे महाबाहो! मैं अपने से प्रेम करने वाले तुम्हें, तुम्हारी हित की कामना से पुनः भी इन परम वचनों को कहूँगा। तुम इन्हें सुनो॥१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः॥२॥

मेरी उत्पत्ति को न देवता जान पाये हैं, न महर्षि। मैं सब देवों और महर्षियों का आदि (कारण) हूँ॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥३॥

जो मुझे अजन्मा, अनादि और तीनों लोकों का स्वामी जानता है, मनुष्यों में ज्ञानवान् वह सब पापों से छूट जाता है॥३॥

विपुल-भाष्य

पाप से कैसे मुक्त हों

मनुष्य के मन में देवासुर संग्राम चला करता है। वह धर्म को जानता है किन्तु उसमें प्रवृत्त नहीं हो पाता। वह पाप को भी जानता है किन्तु उससे निवृत्त नहीं हो पाता –

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥

जानता है कि धर्म में कल्याण है किन्तु फिर भी धर्माचरण नहीं कर पाता – यह दुःख साधक के मन को सालता रहता है। जानता है कि पाप से अहित होता है फिर भी न चाहने पर भी पाप कर बैठता है – यह पीड़ा साधक को और भी अधिक व्याकुल कर देती है। पाप से कैसे छुटकारा मिले - यह साधक की सबसे बड़ी समस्या भी है और जिज्ञासा भी।

पाप से छुटकारा पाने के लिए साधक अपने से ही लड़ता रहता है। इस अन्तर्द्वन्द्व में उसे कदाचित् विजय प्राप्त हो भी जाए – वह पाप से बच भी जाए, तो भी उसकी यह विजय अस्थायी ही होती है। मौका पाकर कोई न कोई पाप कभी न कभी साधक को फिर धर दबोचता है। मनुष्य क्रोध को छोड़ता है तो लालच की भावना प्रबल हो जाती है। लालच भी छूट जाए तो अहङ्कार आ जाता है। जो अहङ्कार को छोड़ने का दावा करते हैं, उनका वह दावा भी एक नाटक ही सिद्ध होता है। ऊपर से विनयशील बने रहते हैं कि हमें तो कुछ नहीं आता, हम तो संसार के कीचड़ में फँसे हैं - इत्यादि, किन्तु मन में यह भाव बना रहता है कि लोग उन्हें बहुत बड़ा साधक, विद्वान् अथवा महात्मा

समझें। मन का ऐसा विचित्र खेल है कि दिखावा विनम्रता का किया जाता है और भाव अहङ्कार को पुष्ट करने का रहता है।

श्रेष्ठ उपदेश

हजार उपदेशों से श्रेष्ठ उपदेश वह है जिसके द्वारा मनुष्य इस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो सके। पुण्य का कितना भी प्रलोभन दिया जाए, स्वर्ग के कितने ही सब्जबाग दिखाए जाएँ, किन्तु पुण्य में मनुष्य की प्रवृत्ति होती नहीं। पाप का भय, नरक का डर सभी सम्प्रदायों ने दिखाया है किन्तु सभी सम्प्रदायों में सदा पुण्यात्मा कम और पापात्मा अधिक रहे हैं। इसका क्या रहस्य है? मनुष्य सोचता है कि स्वर्ग-नरक तो जब मिलेगा तब मिलेगा, अभी तो तत्काल पाप से सुख-भोग मिल रहे हैं और पुण्य के मार्ग पर चलने में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं तो वह भविष्य की चिन्ता न करके वर्तमान में सुख भोगना चाहता है। फिर भी उसके मन में यह बात तो सदा चुभती ही रहती है कि वह कोई गलत काम कर रहा है।

यह समस्या सार्वजनीन है; अर्जुन की भी है और हमारी भी। श्रीकृष्ण अर्जुन के पूछने पर बतला चुके हैं कि मनुष्य काम और क्रोध के वशीभूत होकर न चाहते हुए भी पाप में प्रवृत्त हो जाता है। अतः काम और क्रोध रूपी शत्रुओं को नष्ट करना चाहिए। किन्तु यह वक्तव्य बहुत साधारण है। सभी कहते हैं कि वासनाओं पर विजय पाओ। किन्तु वासंनाओं को कैसे जीता जाए? इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे महाबाहो अर्जुन! मैं तुम्हें यह परम वचन कहता हूँ इससे अधिक मूल्यवान कोई दूसरा वचन नहीं। हे अर्जुन! तुम मुझसे प्रेम करते हो अतः तुम्हारे हित की इच्छा से यह बात मैं तुम्हें कहूँगा –

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

दो बातें श्रीकृष्ण ने यहाँ कहीं – प्रथम तो अर्जुन उनसे प्रेम करता है दूसरे श्रीकृष्ण के वक्तव्य के पीछे उसके हित की कामना ही है - कुछ और नहीं।

भगवान् के वचन हमने बहुत बार सुने किन्तु क्या हमने भगवान से वैसा प्रेम किया जैसा प्रेम अर्जुन ने किया था? अर्जुन ने अपना अहङ्कार छोड़ कर श्रीकृष्ण की शरण ली। प्रेम में तर्क काम नहीं देता और अहङ्कार का प्रेम से वैसा ही विरोध है जैसा अन्धकार का प्रकाश से। अहङ्कारी वक्ता की बात सुनता ही नहीं है, वह तो वक्ता पर ही अपना मत थोपने के लिए आतुर रहता है, भले ही वक्ता स्वयं भगवान् ही क्यों न हो । इसलिए जिसमें भगवान के लिए प्रेम नहीं है, जो अपने अहङ्कार को ही लिए बैठा है, उसके लिए भगवान् के परम कल्याणकारी वचन भी निरर्थक हो जाते हैं। इसलिए पहली शर्त है कि किसी परम कल्याण की बात सुनने के लिए हम प्रेम की भाव-मुद्रा में हों, तर्क-वितर्क की मुद्रा में नहीं। तर्क-वितर्क से न किसी को कल्याण का मार्ग मिला है और न किसी ने सत्य को पाया है। सत्य तो वह है जिसका खंडन न किया जा सके। सूर्य पूर्व में उदित होता है - यह एक सत्य है। इसका कोई खंडन नहीं किया जा सकता, किन्तु हमने इस सत्य को तर्क-वितर्क से नहीं, अनुभव से जाना है। जितने भी सत्य हैं- हमने उन्हें अनुभव से जाना है, तर्क-वितर्क से नहीं। अग्नि उष्ण है – इस सत्य को हमने अनुभव से जाना है और यह अनुभव स्पर्शेन्द्रिय से हुआ है।

प्रेम भी एक अनुभव है किन्तु वह अनुभव इन्द्रिय-जन्य नहीं है। यदि हमें कोई अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से हुआ है तो वह अनुभव वासना का अनुभव है, प्रेम का नहीं। प्रेम क्योंकि अतीन्द्रिय अनुभव है, अतः अतीन्द्रिय सत्य प्रेम की भाव मुद्रा में कहा-सुना जा सकता है। साधक पाप से मुक्त हो सके इसके लिए जिस अतीन्द्रिय सत्य को जानना आवश्यक है, वह केवल प्रेम में जाना जा सकता है, तर्क-वितर्क से नहीं। अर्जुन उसी भगवत्प्रेम में सराबोर है। परम सत्य की तो बात ही क्या, लौकिक व्यवहार में भी परिवार यदि प्रेम के भाव में है तो सभी समस्याएँ सरल

होती चली जाती हैं और यदि परिवार के सदस्य बहस करने की मुद्रा में हैं तो बिल्कुल सरल बात भी जटिल बन जाती है।

दूसरी बात श्रीकृष्ण कहते हैं कि उनके मन में अर्जुन की हित कामना है, कोई निहित स्वार्थ नहीं। वक्ता के मन में श्रोता के हित के अतिरिक्त यदि कोई अपना छिपा हुआ स्वार्थ भी है तो वह सत्य को कह ही नहीं पाएगा। स्वार्थ के कारण वह उससे सुहाती बातें करेगा, सत्य गौण हो जाएगा। कौन श्रोता धन द्वारा मेरा लाभ कर सकता है, अथवा कौन ऐसे पद पर है कि उससे मुझे कुछ मिल सकता है – यदि ऐसा भाव वक्ता के मन में है तो श्रोता का हित उसे दिखाई ही नहीं देगा। श्रीकृष्ण को अर्जुन से कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है इसलिए वे सत्य को प्रकट कर सकते हैं। श्रोता यदि समझ लेता है कि वक्ता के मन में उससे स्वार्थ-सिद्धि की भावना है तो वह उसकी बात को गम्भीरता से लेता ही नहीं।

प्रेम और हित की कामना

वक्ता के प्रति श्रोता का प्रेम और वक्ता की श्रोता के हित की कामना – ये दोनों शर्तें यहाँ पूरी हो रही हैं तो श्रीकृष्ण अर्जुन को ये परम वचन – परम रहस्य और परम कल्याणकारी वचन – कहते हुए गीता का दशम अध्याय प्रारम्भ करते हैं कि भगवान् का मूल न देव जानते हैं, न महर्षि क्योंकि वे देवों तथा महर्षियों से भी पहले से हैं। देव तथा महर्षि भगवान् से ही उत्पन्न हुए हैं। जहाँ तक भगवान् का प्रश्न है, उनका न आदि है, न अन्त। ऐसा जानकर ही व्यक्ति की मूढ़ता छूटती है और जब मूढ़ता छूट जाती है तो मनुष्य सब ही प्रकार के पापों से छूट जाता है –

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

संसार के प्रत्येक पदार्थ का, प्रत्येक व्यक्ति का आदि और अन्त है। देव और महर्षियों का भी आदि है –

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

जब सबका आदि और अन्त है तो कोई तत्व ऐसा भी होना चाहिए जो अनादि-अनन्त हो। असत् में से तो कुछ आ नहीं सकता। जो उत्पन्न हो रहा है वह कहाँ से उत्पन्न हो रहा है? मान लें क ख से उत्पन्न हो रहा है तो ख कहाँ से उत्पन्न हो रहा है? ख ग में से उत्पन्न हो रहा है। यह क्रम चलते-चलते जब हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ एक स्वयम्भू तत्व उपलब्ध होता है, जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, वहीं हम भगवान् को पा लेते हैं। यदि हम ऐसा तत्व मानें ही नहीं तो अनवस्था दोष आ जाएगा, कारण-कार्य परम्परा का कहीं अन्त ही नहीं होगा। जो परम कारण है, जो सबका कारण है किन्तु जिसका कोई कारण नहीं, वही भगवान् है।

जब उस परम कारण जो जान लिया जिसका न आदि है न अन्त, तो संसार के वे पदार्थ महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाते जो आज हैं और कल नहीं हैं। हमारी मूढता यह है कि हम नश्वर पदार्थों को शाश्वत मान कर चलते हैं। सबसे पहले शरीर को ही लें। सर्वविदित है कि शरीर सदा नहीं रहेगा। फिर भी हमारी मूढता यह है कि हम भले ऊपर से यह कहते रहें कि शरीर नश्वर है किन्तु हमारा सारा व्यवहार यही मानकर चल रहा है कि मानो हम कभी नहीं मरेंगे। अमर होने की इच्छा सबमें है और होनी चाहिए, किन्तु मूर्खता तब चालू होती है जब हम शरीर को अमर बनाना चाहते हैं। श्रीकृष्ण ने मनुष्य के लिए यहाँ 'मर्त्य' शब्द का प्रयोग किया है। मरण शरीर का स्वभाव है। जब शरीर ही छूट जाएगा तो शरीर के सम्बन्ध द्वारा जिनसे सम्बन्ध है – स्त्री, पुत्र, धन, भवन, यश, ये सब तो छूट ही जाएँगे। हम इन सब छूट जाने वालों के लिए ही तो पाप करते हैं। पाप से जो मिलेगा वह छूटेगा – यह प्रत्यक्ष गोचर है। छूटेगा तो वह भी जो पुण्य से मिलेगा।

यह विचार करने पर एक बहुत भयावह चित्र हमारे सामने आता है कि वह सब देर-सबेर छूटने वाला है जिसके लिए हम पाप अथवा पुण्य भी कर रहे हैं। क्या हमारे सारे पुरुषार्थ का यही अन्त है कि हम जो भी अर्जित करें वह

सब छूट जाए, कुछ भी हमारे साथ सदा-सदा के लिए रहे ही नहीं। इस भावना से एक निराशा, एक विषाद का भाव उत्पन्न होता है। ऐसे में श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवान् अनादि हैं अतः अनन्त भी हैं। उस भगवान् को कहीं जाकर प्राप्त नहीं करना है, वह हमारा अपना ही स्वरूप है।

तर्क कहता है कि सब क्षणभङ्गुर है। कोई भी पदार्थ अथवा व्यक्ति एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं, सब बदल रहे हैं, मर रहे हैं। भगवान् बुद्ध ने इसी आधार पर क्षणिकवाद का प्रतिपादन कर दिया। किन्तु तर्क इससे आगे भी जाता है। लहर उठती है और विलीन हो जाती है किन्तु जिसमें लहर उठती है और विलीन हो जाती है, वह सागर बना रहता है। संसार उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है किन्तु जिसमें यह उत्पन्न होता है और विलीन होता है, वह परमात्मा बना रहता है।

सुख असीम में है

लहर उत्पन्न होने से पहले भी रहने वाले और उनके विलीन होने के बाद भी रहने वाले सागर को कैसे जानेगी? देव और महर्षि परमात्मा के सागर में उठने वाली एक लहर ही है क्योंकि वह उनका भी 'प्रभव' अर्थात् उत्पत्ति स्थान है। हम सब अस्तित्व में उठने वाली क्षणभङ्गुर लहरें हैं। हम अस्तित्व से निकल कर अस्तित्व में ही लीन हो जाते हैं। कोई पदार्थ अथवा व्यक्ति कितना भी बड़ा हो – देव हो, महर्षि हो – अस्तित्व के सामने उसका महत्व उतना भी नहीं जितना सागर के सामने बिन्दु का है। सागर तो फिर भी ससीम है। अस्तित्व की कोई सीमा ही नहीं। अतः उपनिषदों ने दो वक्तव्य दिए। पहली बात कही कि जो हमें मौत से न बचा सके उसका क्या लाभ – **किमहं तेन कुर्याम् येन नाहममृता स्याम्?** अन्त में तो सब मौत छीन ही लेगी। दूसरी बात कही कि सीमित में सुख नहीं है, सुख असीम में है – **भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति।**

जब हम अमृत और भूमा की कामना करते हैं तो नश्वर और अल्प का आकर्षण छूट जाता है। तब ही पाप भी छूट जाता है। जानना यह है कि एक अमृत और भूमा तत्व भी है। जब तक यह न जाना जाएगा, नश्वर और अल्प का आकर्षण बना रहेगा और पाप से छुटकारा नहीं हो सकेगा।

उस अमृत और भूमा तत्व को तर्क से नहीं, प्रेम से जाना जाता है। अर्जुन में वह प्रेम प्रकट हो रहा है तो श्रीकृष्ण उसे भगवान् का स्वरूप भी प्रकट कर रहे हैं। भगवान् के वे वचन हमारे सामने हैं, यदि हममें अर्जुन वाला भगवत्प्रेम प्रकट हो जाए तो हमें भी भगवान् के उस दिव्य रूप के दर्शन हो सकते हैं। बाधक केवल हमारा अहङ्कार है जो हमारी ममता संसार से जोड़ देता है और भगवान् के प्रति प्रेम प्रकट नहीं होने देता। जब ऐसा दुःख मनुष्य पर आता है कि जिसका प्रतिकार वह नहीं कर सकता तब उसका अहङ्कार टूटता है। क्या मृत्यु ऐसा ही दुःख नहीं है जिसका प्रतिकार कोई भी नहीं कर सकता? फिर अहङ्कार किस बात का?

मूल तथा अनुवाद

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, अमूढता, क्षमा, सत्य, दम, शम तथा सुख-दुःख, भाव-अभाव और भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश - सभी प्राणियों के ये नाना प्रकार के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं॥४-५॥

विपुल-भाष्य

सब भावों का उद्‌गम भगवान्

पदार्थ स्थूल हैं। पदार्थों से सूक्ष्म क्रिया है और क्रिया से भी सूक्ष्म भाव है। हमारी सभी क्रियाएँ किसी न किसी भाव से संचालित होती हैं। मनोविज्ञान भावों का अध्ययन करता है किन्तु अध्यात्म-विद्या मन से भी परे चेतना के उस स्तर का स्पर्श करती है जहाँ से समस्त भाव उत्पन्न होते हैं। मन इन भावों को विभक्त करके दो भागों में बाँट देता है – अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल को हम सुख कहते हैं, प्रतिकूल को दुःख। यह विभाजन मन के स्तर पर है, किन्तु चेतना केवल ज्ञाता, दृष्टा है। चेतना के स्तर पर अनुकूलता और प्रतिकूलता का भेदभाव नहीं है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि बुद्धि, ज्ञान, अमूढता; क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-संयम, मनोनिग्रह, सुख, सम्पन्नता, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान और यश जैसे अच्छे भाव तो चेतना से उत्पन्न होते ही हैं, दुःख, अभाव, भय और अपयश जैसे भाव भी चेतना से ही उत्पन्न होते हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

स्पष्ट है कि चेतना नहीं है, तो न सुख है न दुःख है। चेतना के स्तर पर सुख और दुःख का विभाजन भी नहीं है। सुख और दुःख का विभाजन मन के स्तर पर है। सुख होता है तो हम समझते हैं कि भगवान् की कृपा है किन्तु दुःख को हम भगवान् की कृपा नहीं मान पाते। हमें दुःख में कोई प्रयोजन दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु बहुत बड़ा सत्य यह है कि दुःख ही हमें सत्य की खोज के लिए प्रेरित करता है यदि दुःख न हो तो संसार में महात्मा बुद्ध पैदा ही नहीं हो सकते। हमें जन्म में उत्सव दिखाई देता है, किन्तु मृत्यु में कोई सार्थकता दृष्टिगोचर नहीं होती, जबकि सत्य यह है कि मृत्यु के बिना जन्म भी नहीं हो सकता; जन्म और मृत्यु एक ही अखंड प्रक्रिया के दो छोर हैं जो उस अखंड को देख लेता है उसके लिए जन्म में अनुकूलता की दृष्टि और मृत्यु में प्रतिकूलता की दृष्टि नहीं रह जाती। जहाँ तक प्रयोजन का सम्बन्ध है, मृत्यु मनुष्य की सबसे बड़ी शिक्षिका है। इसी बात को कठोपनिषद् में इस रूप में कहा गया है कि नचिकेता को मृत्यु ने ही आत्मविद्या प्रदान की थी।

दुःख और मृत्यु भी परमात्मा रूप

अभिप्राय यह है कि प्रयोजन दुःख और मृत्यु का भी है क्योंकि ये भी परमात्मा के रूप हैं किन्तु मन की स्थिति विचित्र है। मन कामनाओं से भरा हुआ है। वह हर पदार्थ और स्थिति को कामना की तराजू पर तोलता है। जो पदार्थ अथवा स्थिति उसकी कामना की पूर्ति में सहायक होती है उसे यह अनुकूल मान लेता है और जो उसकी कामना में बाधक हो उसे वह प्रतिकूल मानता है। इस प्रकार मन सुख और दुःख के द्वन्द्व को जन्म दे देता है। अस्तित्व में यह द्वन्द्व कहीं नहीं है। यहाँ न कुछ अनुकूल है न प्रतिकूल; अस्तित्व मात्र परमात्मा रूप होने के कारण हमारे प्रेम का पात्र है, उसमें कुछ भी हेय नहीं। इसलिए श्रीकृष्ण ने जहाँ सुख, सम्पन्नता, अभय और यश को अपने से अर्थात् भगवान् से उत्पन्न बताया है वहीं दुःख, अभाव, भय और अपयश को भी अपने से ही उत्पन्न बताया है।

मन की दुविधा

मन सदा दुविधा में रहता है। जब मन यह सोचता है कि यह ठीक है तभी वह यह भी सोचता रहता है कि यह ठीक नहीं है। परिणाम यह होता है कि हम आज जिसे अपना मित्र मानते हैं दो दिन बाद ही वह हमें अपना शत्रु प्रतीत होने लगता है और जो आज शत्रु प्रतीत होता है, कल वही हमें अपना मित्र लगने लगता है। कारण यह है कि मन कभी अखण्ड को पकड़ ही नहीं पाता। यह जिस खण्ड को आज पकड़ता है कल ठीक उसके विपरीत खण्ड

को पकड़ लेता है इसलिए शत्रु मित्र और मित्र शत्रु बन जाते हैं। जो मन के पार जाकर देख सकते हैं, वे अखण्ड को देख लेते हैं; उनके लिए न कोई मित्र रहता है न कोई शत्रु। उनकी समदृष्टि हो जाती है।

मन सदा खण्ड को देखता है, इसलिए चंचल रहता है। अस्तित्व के एक खण्ड से दूसरे खण्ड पर जाना ही चंचलता है। जब हम अखण्ड को देखते हैं तो इस चंचलता का कोई कारण नहीं रहता। अखण्ड कहें, अस्तित्व कहें, परमात्मा कहें – एक ही बात है। मन के चंचल होने के कारण मन के सभी निर्णय अस्थिर होते हैं। इस अस्थिरता से ऊपर उठ कर बुद्धि स्थिर और निश्चित निर्णय कर पाती है। यह बुद्धि भी चेतना से ही शक्ति ग्रहण करती है।

बुद्धि के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व ज्ञान है। विचार ज्ञान नहीं है, ज्ञान है - अनुभव। विचारों का आधार शब्दजाल है। प्रकाश एक शब्द है। अन्धा व्यक्ति भी प्रकाश शब्द को जानता है किन्तु उसे प्रकाश का कोई अनुभव नहीं होता। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि अन्धे को प्रकाश का ज्ञान है। इसके विपरीत एक आँखों वाले दस दिन के बच्चे को भले प्रकाश शब्द का पता न हो किन्तु वह प्रकाश का अनुभव करता है इसलिए उसे प्रकाश का ज्ञान है। दार्शनिक और दृष्टा में यही अन्तर है। दार्शनिक शब्द के सहारे विचार का विस्तार कर सकता है किन्तु उसे तत्व का ज्ञान भी हो – यह आवश्यक नहीं। इसके विपरीत दृष्टा को तत्व का ज्ञान होता है, भले ही उसे वह शब्दों में अभिव्यक्त न कर पाए।

एक दूसरा महत्वपूर्ण शब्द है – असम्मोह अर्थात् सम्मोहन का अभाव। हम आत्म-सम्मोहन की स्थिति में जीते हैं। हम आत्म-सम्मोहन के द्वारा कभी अपने आपको दीन-हीन मान लेते हैं और कभी अपने आपको संसार के सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने की अहम्मन्यता से भर जाते हैं और विविध प्रकार के दिवास्वप्नों में खोए रहते हैं। दिवास्वप्नों के क्रम का टूट जाना भी असम्मोह है।

अखण्ड का बोध

जब अखण्ड का बोध होता है, निर्णय दृढ़ होता है, सत्य का अनुभव होता है और दिवास्वप्न टूट जाते हैं तो वे समस्त सद्गुण स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। जिनका उल्लेख गीता में श्रीकृष्ण ने किया है। वे सद्गुण हैं – क्षमा, सत्य, दम, क्षम, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप और दान। ये सद्गुण ऊपर से आरोपित नहीं किए जाते प्रत्युत उस साधक में स्वयं प्रकट हो जाते हैं जो अपने आत्म-स्वरूप में स्थिर होने के कारण सुख-दुःख से ऊपर उठ जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से धर्म एक ही है – अपने स्वरूप में स्थित हो जाना। स्वरूप-स्थिति के इस एक ही पारमार्थिक धर्म से व्यवहार में नाना नैतिक गुण अनायास अभिव्यक्त होते हैं। जिस साधक ने चेतना का स्पर्श नहीं किया उसके समस्त नैतिक गुण भी आरोपित होने के कारण अन्ततः खोखले ही सिद्ध होते हैं। अतः श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि यह जानना चाहिए कि ये समस्त गुण शुद्ध चेतना से ही आविर्भूत होते हैं।

मूल तथा अनुवाद

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥६॥

सात महर्षि, चार पूर्व में उत्पन्न होने वाले सनकादि, तथा मनु, मेरे भावरूप मेरे सङ्कल्प से उत्पन्न हुए, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥७॥

जो व्यक्ति मेरी इस विभूति और योग को तत्त्वतः जानता है, वह निश्चल योग से युक्त हो जाता है – इसमें सन्देह नहीं॥७॥

विपुल-भाष्य

सबका उद्‌गम भगवान् है

समस्त भावों का उद्‌गम भगवान् है – यह बात बताई जा चुकी है। अब श्रीकृष्ण कहते हैं कि सम्पूर्ण प्रजा का उद्‌गम भी वही है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

पहले दो श्लोकों में भाव-विभूति बताने के बाद अब श्रीकृष्ण कुछ विशेष व्यक्तियों की गणना अपनी विभूति के रूप में कर रहे हैं – पहले सप्तर्षि भगवान् की विभूति हैं। ये सप्तर्षि हैं - मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ। ये महर्षि इसलिए कहलाते हैं कि ये दीर्घायु, मन्त्रदृष्टा, ऐश्वर्यशाली, दिव्यदृष्टि सम्पन्न, विद्यावृद्ध, साक्षात्कृतधर्मा तथा गोत्रप्रवर्तक हैं। ये प्रवृत्ति धर्म के प्रवर्तक हैं। इसके बाद सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार नाम के चार बालकों का नाम आता है। ये परम भगवद्भक्त हैं, सदा हरिस्मरण करते रहते हैं।

ब्रह्माजी का दिन एक हजार चतुर्युगी का होता है। इसे कल्प कहते हैं। एक-एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। इनमें से प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगी से कुछ अधिक समय तक शासन करता है। वर्तमान कल्प के चौदह मनुओं के नाम हैं - स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्म सावर्णि, धर्म सावर्णि, रुद्र सावर्णि, देव सावर्णि तथा इन्द्र सावर्णि। वर्तमान समय ब्रह्माजी की आयु का इक्यानवाँ वर्ष चल रहा है तथा इस समय सातवें मनु वैवस्वत का मन्वन्तर है।

बिन्दुज और नादज

ये सप्तर्षि, चार बालक तथा चौदह मनु भगवान् के मानस पुत्र हैं तथा इन्हीं से समस्त प्रजा उत्पन्न हुई। यह प्रजा दो प्रकार की है – संयोग से उत्पन्न होने वाली जो बिन्दुज कहलाती है और शब्द से उत्पन्न होने वाली जो नादज कहलाती है। बिन्दुज प्रजा में पिता-पुत्र सम्बन्ध होता है और नादज प्रजा में गुरु-शिष्य सम्बन्ध होता है। सप्त ऋषियों और चतुर्दश मनुओं ने विवाह किया था। उनसे उत्पन्न होने वाली प्रजा बिन्दुजा कहलाती है किन्तु सनक, सनन्दन आदि ने विवाह नहीं किया, केवल उपदेश दिया। इसलिए उनके उपदेश को सुन कर चलने वाले साधक उनकी नादज प्रजा कहलाती है।

स्पष्ट है कि सप्तऋषियों और मनुओं से प्रजा उत्पन्न हुई किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में सप्तऋषि और मनु स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न नहीं हुए क्योंकि उनसे पहले सृष्टि थी ही नहीं, अतः वे आदि पुरुष भगवान् की मानसी सृष्टि हैं, जो कि उनके संकल्पमात्र से उत्पन्न हो गए। ये आदि पुरुष ऐश्वर्य सम्पन्न थे क्योंकि ये साक्षात् ईश्वर से उत्पन्न हुए।

गीता में अन्यत्र कह दिया गया है कि जो भी विभूति युक्त है अथवा ऊर्जावान् है वह ईश्वर का अंश है।

किन्तु कहीं ईश्वर अव्यक्त है, कहीं व्यक्त हो जाता है। वह व्यक्त रूप में रहे अथवा अव्यक्त रूप में, व्याप्त सर्वत्र है। विभूति हम उसे कहते हैं जहाँ वह व्यक्त हो जाता है। कहीं वह सत्य के रूप में व्यक्त होता है जिसे हम धर्मात्मा कहते हैं। कहीं वह शिव के रूप में प्रकट होता है जिसे हम समाज-सेवक कहते हैं। और कहीं वह सुंदर के रूप में अभिव्यक्त होता है जिसे हम कलाकृति कहते हैं। वह सत्यं शिवं सुन्दरम् अव्यक्त रूप में तो एक परमाणु में भी रहता है। वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से परमाणु में रहने वाले सत्य, शिव और सुंदर को देखा जा सकता है।

कण-कण में ओतप्रोत परमात्मा

एक दूसरी दृष्टि भी है जिससे हम कण-कण में ओतप्रोत परमात्मा को देख सकते हैं, वह दृष्टि ऋषि की दृष्टि है। वेद का ऋषि जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी, आकाश सबमें परमात्मा के दर्शन करता है। अज्ञानियों को लगता है कि वैदिक ऋषि जड की पूजा कर रहा है। किन्तु वैदिक ऋषि की पैनी दृष्टि सब जगह सच्चिदानन्द के दर्शन कर सकती है। उसके लिए ऊखल-मूसल जैसे साधारण पदार्थ भी देवता हैं। ये सभी कहते हैं कि परमात्मा सर्वव्यापक है किन्तु

सब जगह परमात्मा को देखने की क्षमता सबमें नहीं होती। कहना और बात है और तत्वतः जानना और बात है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो उनकी विभूति और योग को तत्वतः जानता है, उसका ध्यान निश्चित ही निश्चल हो जाता है और वह भगवान् से जुड़ जाता है –

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।

इस दसवें अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण अपनी विभूति का विस्तार वर्णन करेंगे किन्तु अभी संक्षेप में इतना जान लेना पर्याप्त है कि यह समस्त विश्व भगवान् की ही विभूति है। भगवान् कल्याण की आत्यन्तिक स्थिति का नाम है। जब समस्त अस्तित्व ही भगवद्रूप है और उसके कभी भी कहीं भी, दर्शन किए जा सकते हैं तो फिर मन के इधर-उधर भटकने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यदि भगवान् का दर्शन कभी होगा तो इस रूप में ही होगा कि वह अभी ही है और यहीं है। यदि वह अभी और यहीं नहीं है तो कभी कहीं भी नहीं है।

इसे दूसरे रूप में भी समझा जा सकता है। भगवान् मेरा अपना रूप है। उसे जानने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे पदार्थ को प्राप्त करने के लिए चलना पड़ता है किन्तु स्वयं को प्राप्त करने के लिए अचल होना पड़ता है। हम चल कर अपने से दूर तो जा सकते हैं पर अपने निकट नहीं आ सकते। इसलिए संसार के दूसरे पदार्थों को प्राप्त करने के लिए गति करनी पड़ती है, कर्म करना पड़ता है। किन्तु आत्म-रूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिए गति छोड़नी पड़ती है, निष्कम्प होना पड़ता है। गति का फल संयोग है और जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। गति संयोग कराती है तो गति ही वियोग भी करा देती है किन्तु जो योग स्थिति के कारण होता है, उसका वियोग नहीं हो सकता। क्योंकि जब गति नहीं है तो वियोग कैसे होगा? इस योग को श्रीकृष्ण ने मेरा योग अर्थात् भगवान् का योग कहा है। इसे वही प्राप्त कर सकता है जो भगवान् की विभूति को तत्वतः जानता है।

सात्विक, राजसी और तामसिक

शब्दतः जानना और बात है, तत्वतः जानना और बात है। शब्दतः हम सब कहते हैं कि भगवान् सब में है किन्तु हमें राम में तो भगवान् दिखता है, रावण में नहीं दिखता। फिर ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि भगवान् सब में है। सच यह है कि भगवान् अपनी माया शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होता है और क्योंकि माया त्रिगुणात्मक है इसलिए वह केवल सात्विक रूप में ही अभिव्यक्त नहीं होता, राजसी और तामसी रूप में भी अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार सत्य-असत्य, साधु-असाधु तथा सुन्दर-असुन्दर के द्वंद्वों में विभक्त होकर ही संसार प्रवृत्त होता है। शुभ–अशुभ सभी भाव भगवान् की अभिव्यक्ति हैं, किन्तु स्वयं भगवान् इन दोनों से परे हैं। जब हम द्वंद्व में छिपे उस द्वन्द्वातीत को जान लेते हैं तो हमारा ध्यान निश्चल हो जाता है, द्वैत खो जाता है।

द्वन्द्वातीत होना कहें, अद्वैत कहें, एकत्व कहें, एक ही अर्थ है। जहाँ चंचलता नहीं है, वहाँ मन भी नहीं है क्योंकि निश्चलता मन की मौत है। परमात्मा हमें प्राप्त इसीलिए नहीं होता कि हमारा ध्यान इधर से उधर भटकता रहता है। यह भटकन उस अज्ञान से उत्पन्न होती है जो अपने में स्थित भगवान् की विभूति को तो देखने नहीं देता और संसार की निस्सार वस्तुओं की कामना किया करता है। वेद में इस कामना को मन की शक्ति कहा है। यदि कामना समाप्त हो जाए तो मन अशक्त होकर मर जाता है। यही भटकन की समाप्ति है, यही संसार का अंत है। यही मोक्ष है और यही परमात्मा दर्शन है।

मूल तथा अनुवाद

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

मैं सबका मूल हूँ, ये सब मुझ से ही प्रवर्त हुए हैं – ऐसा जानकर बुद्धिमान् भाव युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं।।८।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।६।।

जिनका चित्त मुझमें लगा है, मेरे में ही जिनके प्राण अर्पित हैं, ऐसे व्यक्ति परस्पर जानते हुए तथा कहते हुए निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं ।।६।।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

उन निरन्तर योगयुक्त प्रीतिपूर्वक उपासना करने वालों को मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।।१०।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

उन पर अनुकम्पा करने के लिये, उनके अन्तःकरण में स्थित मैं अज्ञानजनित अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञान दीपक से नष्ट कर देता हूँ।।११।।

विपुल-भाष्य

हम प्रज्ञावान् बनें

कारण कार्य परम्परा में हम जब किसी कार्य का कारण खोजते हैं तो फिर उस कारण का भी कारण जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जहाँ जाकर यह जिज्ञासा समाप्त हो जाती है, वह मूल कारण होता है अर्थात् उस कारण का कोई कारण नहीं होता, वह स्वयंभू होता है। चाहे मानसी सृष्टि हो, चाहे बिन्दुज अथवा नादज, सबका मूलकारण परमात्मा ही है। परमात्मा ही समस्त क्रियाओं का प्रवर्तक है। ऐसा समझ कर बुद्धिमान लोग भावपूर्वक परमात्मा को ही भजते हैं –

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।

भाव शब्द नहीं है; शब्द मुख में रहता है, भाव हृदय में रहता है। भाव विचार भी नहीं है, विचार मस्तिष्क में रहता है, भाव हृदय में रहता है। शाब्दिक भजन में अन्तराल रहता है – निरन्तरता नहीं आ पाती । वैचारिक चिन्तन में भी विच्छिन्नता रहती है, विचार सदा एक से नहीं रह पाते। भाव ही निरन्तर रह पाता है। माता का पुत्र के प्रति प्रेम सदा बना रहता है, चाहे वह कुछ भी करे। प्रेम का अस्तित्व निरन्तर रहता है। ज्ञानी का भगवद् भजन भी ऐसा ही है। वह अद्वैत का भाव है जो खाते-पीते, उठते-बैठते हर समय बना रहता है। जैसे कुम्हार के द्वारा बनाए गए सभी पात्रों में मिट्टी रहती है, भले ही उन पात्रों का नाम और रूप अलग-अलग होता है, किन्तु अपने मूल रूप में तो वे सभी पात्र मिट्टी ही होते हैं। उसी प्रकार संसार के सब पदार्थों के नाम और रूप अलग-अलग हैं किन्तु अपने मूल रूप में वे सभी पदार्थ सच्चिदानन्द रूप भगवान् हैं। अज्ञानी की दृष्टि नाम और रूप पर रहती है क्योंकि नाम और रूप स्थूल हैं, इन्द्रिय-गोचर हैं। ज्ञानी की दृष्टि सच्चिदानन्द पर रहती है। दृष्टि का ही भेद है। वैसे जहाँ नाम रूपात्मक जगत् है, वहीं सच्चिदानन्द परमात्मा है। अज्ञानी को जगत् दिखता है, ज्ञानी को परमात्मा।

स्वार्थपरायणता

ज्ञान और अज्ञान का सम्बन्ध शाब्दिक-ज्ञान से नहीं है, न सूचनाओं का नाम ज्ञान है। सूचनाओं के आधार पर सुख-सुविधाएँ जुटाई जा सकती हैं। यह सुख-सुविधाओं की खोज ही स्वार्थ को जन्म देती है और स्वार्थ ही सारे संघर्ष का मूल है। जो व्यक्ति अपना स्वार्थ जितना अधिक सिद्ध कर सकता है वह उतना ही अधिक बुद्धिमान् समझा

जाता है, किन्तु स्वार्थपरायणता व्यक्ति को कभी सन्तुष्ट नहीं रहने देती। असन्तुष्ट व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। स्वार्थ की खोज में बुद्धि लगाने का परिणाम दुःख ही होता है।

बुद्धि का एक दूसरा उपयोग भी है। हम छोटे स्वार्थ को न खोजें, परम स्वार्थ को खोजें। परम स्वार्थ ही परमार्थ है। उसका नाम परमार्थ इसलिए है कि वह अर्थ परम है, अर्थात् उसके उपलब्ध हो जाने पर किसी अन्य पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रह जाती। इसलिए जहाँ स्वार्थ असन्तोष को जन्म देता है, वहाँ परमार्थ सन्तोष को जन्म देता है। परमार्थ में एक बार चित्त लग जाए तो प्राणों की सम्पूर्ण शक्ति उसी में एकाग्र हो जाती है। फिर साधक को कोई दूसरी चर्चा नहीं सुहाती। ऐसे साधक का भजन निरन्तर चलता है। वह सदा प्रेम में पगा रहता है। गीता में इसे ही बुद्धि योग कहा गया है। अंग्रेजी में दो शब्द हैं - इन्टलेक्ट और विज्डम। इन्टलेक्ट का अर्थ है बुद्धि और विज्डम का अर्थ है प्रज्ञा। बुद्धि स्वार्थ खोजती है, प्रज्ञा परमार्थ में रमण करती है।

महात्मा बुद्ध ने तीन शब्दों का प्रयोग किया है – शील, समाधि और प्रज्ञा। शील का सम्बन्ध आचरण से है जिसे योग सूत्र में यम, नियम कहा गया है। समाधि चित्तवृत्ति की स्थिरता का नाम है। प्रज्ञा समाधि का फल है। शील साधन है, तो समाधि साध्य है। समाधि साधन है तो प्रज्ञा साध्य। प्रज्ञा एक प्रकाश है जो अज्ञान के अन्धकार को दूर करता है। जो प्रज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं भगवान् उनके अज्ञानज अन्धकार को ज्ञानदीप द्वारा नष्ट कर देते हैं।

शील, समाधि और प्रज्ञा

एक ओर शील है, दूसरी ओर प्रज्ञा है, बीच में समाधि है। समाधि निश्चलता है। आचरण की पवित्रता अर्थात् शील चित्तवृत्ति की निश्चलता में सहायक होता है। जिसके आचरण में जितना अधिक प्रपञ्च होगा उसका चित्त उतना ही चंचल बना रहेगा; इस प्रकार यम और नियम का पालन समाधि में सहायक होता है। समाधि का दूसरा चरण निर्विचारता का है। विचारों की गति बहुत तीव्र है। विचारों का केन्द्र मस्तिष्क है। भाव विचारों की अपेक्षा स्थिर होते हैं, किन्तु भाव भी बदलते हैं। भावों का केन्द्र हृदय है। हृदय और मस्तिष्क के अतिरिक्त भी हमारे शरीर में एक तीसरा केन्द्र है – नाभि। हमारे अस्तित्व का वास्तविक केन्द्र नाभि ही है। वेद में केन्द्र के लिए नाभि शब्द का प्रयोग हुआ है। हमारे शरीर में जितने छिद्र हैं, सबका प्रयोजन है। आँख, कान, नाक, मुँह, मूत्रेन्द्रिय और मलद्वार सब में कुछ न कुछ क्रिया होती है। नाभि एक ऐसा छिद्र जिसमें कोई क्रिया नहीं होती। इसलिए नाभि पर ध्यान केन्द्रित करने से चित्तवृत्ति भी निश्चल हो जाती है।

बालक जब माता के गर्भ में होता है तो वह नाभि के माध्यम से ही आहार ग्रहण करता है। उस समय वह निर्विचारता की स्थिति में होता है। उस निर्विचारता की स्थिति में ही उसका शरीर बनता है और बढ़ता है। उस अवस्था में यदि विचार की बाधा उपस्थित हो जाती, तो शरीर का इतना व्यवस्थित निर्माण नहीं हो पाता। गर्भावस्था में क्योंकि बालक निर्विचार होता है इसलिए परमात्मा के कार्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती और संसार के सबसे अधिक विकसित, जटिल और उपयोगी यंत्र का अर्थात् शरीर का निर्माण अनायास ही हो जाता है। वर्तमान अवस्था में भी यदि हम अपनी चित्तवृत्ति को मस्तिष्क और हृदय से हटा कर नाभि पर ले जाएँ तो निर्विचारता की स्थिति में परमात्मा की शक्ति स्वयं अपना कार्य करने लगती है। इसीलिए साधकों के लिए कहा जाता है कि उन्हें बालकों के समान हो जाना चाहिए और पांडित्य से विमुख हो जाना चाहिए – पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत। पाण्डित्य का अर्थ है – विचारों की बहुलता। बाल-भाव का अर्थ है – निर्विचारता। हमारे और परमात्मा के बीच विचार ही बाधक है। विचार की बाधा हट जाए यही शरणागति है। विचार की बाधा हटने पर परमात्मशक्ति अपना कार्य करने लगती है। यही भगवत्कृपा है। जब तक विचार के अहंकार की दीवार खड़ी रहेगी, तब तक न हम समर्पण कर पाएँगे और न हमें भगवत्कृपा मिल पाएगी।

वर्तमान का अस्तित्व

विचार हमें अतीत और भविष्य में घुमाते हैं जबकि अस्तित्व सदा वर्तमान में रहता है। इसलिए विचार को छोड़े बिना हम कभी भी अस्तित्व से नहीं जुड़ पाते। अस्तित्व 'अस्ति' शब्द से बना है जिसका अर्थ है – जो है।

अतीत 'अस्ति' नहीं है। भूत है और अनागत भी 'अस्ति' नहीं है, भविष्यत् है। जो विचार अतीत और अनागत में भटकता है वह केवल कल्पना में ले जा सकता है, वास्तविकता में नहीं। वास्तविकता में तो हम तभी जा सकते हैं जब विचार छोड़ दें। विचार का छूट जाना ही समाधि है। समाधि में जो सुख मिलता है वह इस बात का बोध कराता है कि सुख भाग-दौड़ में नहीं है, स्थिरता में है। यही बोध प्रज्ञा है। यही बुद्धि का सही उपयोग अर्थात् बुद्धियोग है। गीता इस स्थिति का वर्णन बहुत स्पष्ट शब्दों में करती है –

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

अर्जुन बोले –

आप परम ब्रह्म, परम धाम, तथा पवित्र हैं, आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य, पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी बताते हैं। देवर्षि नारद, असित और देवल तथा व्यास भी यही कहते हैं और आप स्वयं भी ऐसा ही कह रहे हैं।।१२-१३।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

हे केशव! जो आप मेरे प्रति कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके व्यक्त स्वरूप को न दानव जानते हैं, न देव।।१४।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

हे भूतभावन! हे भूतेश ! हे देवाधिदेव ! हे जगत्पते ! हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपने को अपने से जानते हैं।।१५।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

आप अपनी दिव्य विभूतियों को सम्पूर्ण रूप से कहने में समर्थ हैं जिन विभूतियों से इन सब लोकों को व्याप्त करके आप स्थित हैं।।१६।।

विपुल-भाष्य

अर्जुन की भगवद्विभूति सम्बन्धी जिज्ञासा

श्रीकृष्ण ने अपनी विभूति का संक्षिप्त वर्णन किया तो अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा हुई कि वे अपनी विभूति का विस्तार से वर्णन करें। साथ ही, अर्जुन ने यह भी जानना चाहा कि वह भगवान् का चिन्तन किस प्रकार करे, किन-किन भावों में भगवान् को जाने। अर्जुन की यह जिज्ञासा सभी साधकों की जिज्ञासा है। हम सभी भगवान् की विभूतियों को जानना चाहते हैं और साथ ही यह भी जानना चाहते हैं कि भगवद् प्राप्ति के लिए हम कौन-सा मार्ग अपनाएं? गीता के दसवें अध्याय के शेष भाग में इसी जिज्ञासा का उत्तर श्रीकृष्ण ने दिया, किन्तु उत्तर से पहले अर्जुन की जिज्ञासा को थोड़ा विस्तार से समझना आवश्यक है।

द्वैत दृष्टि

अर्जुन ने प्रथम वक्तव्य तो यह दिया कि श्रीकृष्ण ने अपनी अर्थात् परमात्मा की जिन विभूतियों का वर्णन किया उन विभूतियों के सम्बन्ध में उसकी श्रद्धा है। स्वयं श्रीकृष्ण उन विभूतियों का वर्णन कर रहे हैं। यह अर्जुन की श्रद्धा का प्रमुख कारण है। किन्तु इसके अतिरिक्त ऋषियों ने, देवऋषि नारद ने, असित, देवल और व्यास ने भी उन विभूतियों का वर्णन किया है, उन्होंने बताया है कि श्रीकृष्ण सर्वव्यापक, शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अजन्मा, परमब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र हैं। श्रीकृष्ण को भगवान् मानने में आज भी अनेक साधकों को कठिनाई होती है। इस कठिनाई का मुख्य कारण द्वैत दृष्टि है। हम यह मान बैठे हैं कि जीव पृथक् है और ब्रह्म पृथक् है जबकि वास्तविकता यह है कि जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है – जीवो ब्रह्मैव नापरः। यदि जीवमात्र ब्रह्म है, तो फिर श्रीकृष्ण को ब्रह्म मानने में क्या आपत्ति हो सकती है?

एक दृष्टि है कि हम अपूर्ण हैं। यह अपूर्णता स्पष्ट है। हमारा शरीर, मन और बुद्धि सब ही अपूर्ण हैं। हम जब अपने आपको शरीर, मन या बुद्धि समझ लेते हैं तो यह मानना कठिन हो जाता है कि हम पूर्ण हैं और जब तक हम पूर्ण न हों, तब तक हम ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? क्योंकि हमारा शरीर, मन और बुद्धि कभी भी पूर्ण नहीं होता, इसलिए हम कभी भी ब्रह्म नहीं बनते। यह तर्क द्वैतवाद का आधार है। इसके अनुसार जीव अपूर्ण है, ब्रह्म पूर्ण है और इसलिए जीव और ब्रह्म दोनों अलग-अलग हैं।

इसके विपरीत अद्वैतवाद का कहना है कि हम शरीर, मन अथवा बुद्धि हैं ही नहीं। हम इन सबसे परे आत्मा हैं। आत्मा तीनों कालों में पूर्ण है और इसलिए हम अर्थात् आत्मा ब्रह्म ही है। इस दृष्टि से सब ही ब्रह्म हैं। किन्तु श्रीकृष्ण जैसे व्यक्ति में आत्मा की परिपूर्णता इतने प्रखर रूप में अभिव्यक्त हुई है कि उनमें भगवद् दर्शन करना सरल है। यूँ ज्ञानी तो तुच्छ से तुच्छ प्राणी में भी भगवद् दर्शन करता है किन्तु श्रीकृष्ण में आत्मा का जो वैभव अभिव्यक्त हुआ वही उनकी विभूति कहलाता है। आत्मा का वैभव कहें या परमात्मा का वैभव, एक ही बात है।

स्वतः और परतः प्रकाश

दर्शन शास्त्र में दो शब्द आते हैं - स्वतः प्रकाश और परतः प्रकाश। उदाहरणतः सूर्य स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित है इसलिए वह स्वतः प्रकाश है जबकि चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण परतः प्रकाश है। किन्तु यह भी स्थूल दृष्टि से कहा जा रहा है। वस्तुतः तो सूर्य भी ज्ञान के बिना प्रकाशित नहीं हो सकता। उसको भी ज्ञेय बनने के लिए ज्ञान की अपेक्षा है। किन्तु ज्ञान को जानने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, इसलिए ज्ञान स्वयं प्रकाश है। ज्ञान हमारा अपना स्वरूप है। ज्ञान को ज्ञान ही जानता है। दूसरे शब्दों में हम स्वयं ही स्वयं को जानते हैं। अर्जुन कहता है कि हे कृष्ण! आप स्वयं ही स्वयं को जानते हैं। अतः आप ही अपनी विभूति का सम्पूर्ण रूप से वर्णन कर सकते हैं। आपकी ये विभूतियाँ सब लोकों में व्याप्त हैं।

अपने से अपने को जानना वास्तविक ज्ञान की प्रक्रिया है। ज्ञान की एक प्रक्रिया यह है कि ज्ञाता ज्ञेय को जानता है। इस प्रक्रिया में ज्ञाता भिन्न रहता है, ज्ञेय भिन्न रहता है, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय में दूरी बनी रहती है। ज्ञान की

दूसरी प्रक्रिया यह है कि ज्ञाता और ज्ञान में तादात्म्य स्थापित हो जाए। इस प्रक्रिया में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच कोई दूरी नहीं रहती। जब तक ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न है, तब तक वह ज्ञेय के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ इकट्ठी कर सकता है किन्तु ज्ञेय को जान नहीं सकता। जाना तो तभी जा सकता है जब स्वयं ज्ञाता ही ज्ञेय बन जाए। श्रुति ने एक महत्वपूर्ण घोषणा की कि जिसके लिए समस्त भूत आत्मा ही बन जाते हैं वहाँ एकत्वं स्थापित हो जाता है और तब शोक और मोह नहीं रहता। सूचनाओं का अपना महत्व है। सूचनाओं के बिना पदार्थ का उपयोग नहीं किया जा सकता। ज्ञान का अपना महत्व है। ज्ञान के बिना आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। मूल बात यह है कि ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। इसलिए ज्ञान सूचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि वे अपनी विभूतियों के सम्बन्ध में सूचनाएँ न दें अपितु विभूतियों का साक्षात्कार कराएँ। हम जैसे-जैसे भगवान् की विभूतियों का साक्षात्कार करते हैं वैसे-वैसे उन विभूतियों को जानने की इच्छा बढ़ती जाती है।

ज्ञान और भाव

अर्जुन की दूसरी जिज्ञासा यह है कि किस उपाय से भगवान् को जाने और किन-किन भावों में डूब कर भगवान् को पाए। अर्जुन के इस प्रश्न में दो प्रकार की जिज्ञासाएँ निहित हैं। एक का सम्बन्ध ज्ञान से है, दूसरे का सम्बन्ध भाव से है। एक ज्ञानमार्ग है, दूसरा भक्तिमार्ग है। बुद्ध, महावीर और शंकराचार्य ज्ञानमार्गी हैं, सूर, मीरा और चैतन्य भक्तिमार्गी हैं। अर्जुन का प्रश्न इन दोनों मार्गों को अपने में समाहित किए हुए है। उसका यह आग्रह नहीं है कि वह ज्ञान से अथवा भक्ति से ही भगवान् को पाए। प्रयोजन भगवद् प्राप्ति से है, पद्धति विशेष का कोई आग्रह नहीं।

अर्जुन ने एक और महत्वपूर्ण बात यह कही कि भगवान् की विभूतियों को न देव जानते हैं और न दानव। देवताओं में दिव्य शक्तियाँ हैं, दानवों में मायावी शक्तियाँ, किन्तु भगवान् का ज्ञान शक्ति-प्रदर्शन का नहीं समर्पण का विषय है। देवताओं और दानवों का अहंकार तो और भी प्रबल होता है। इसलिए वे मोक्ष के अधिकारी नहीं हो पाते। मोक्ष का अधिकारी केवल मनुष्य है।

इस प्रकार अर्जुन ने अपनी जिज्ञासा गीता के दसवें अध्याय के बारहवें श्लोक से लकर अट्ठारहवें श्लोक तक श्रीकृष्ण के सम्मुख रख दी। इस जिज्ञासा के समाधान से श्रीकृष्ण ने दसवें अध्याय के शेष भाग में अपनी विभूतियों का वर्णन विस्तार से किया।

मूल तथा अनुवाद

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ? हे भगवन्! आप किन-किन रूपों में मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं? ॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

हे जनार्दन ! अपनी योगशक्ति और विभूति को विस्तारपूर्वक कहिये। आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं हो रही॥१८॥

श्रीभगवानुवाच –

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१९॥

श्रीभगवान् बोले –

हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं तुम्हें अपनी दिव्य आत्म विभूतियों को मुख्य रूप से कहूँगा, मेरे विस्तार का कोई अन्त नहीं है॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥२०॥

हे अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूँ। सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥२१॥

मैं आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य, मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूतों में चेतना हूँ॥२२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥

मैं रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष और राक्षसों में कुबेर हूँ। वसुओं में अग्नि हूँ और पर्वतों में सुमेरु हूँ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥२४॥

पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति भी मुझे ही समझो। हे अर्जुन! मैं सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूँ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥२५॥

मैं महर्षियों में भृगु हूँ, शब्दों में एक अक्षर ओंकार हूँ, यज्ञों में जप-यज्ञ और स्थावरों में हिमालय हूँ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥२७॥

मुझे अश्वों में अमृत से उत्पन्न होने वाला उच्चैःश्रवा, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा समझो॥२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।२८।।

मैं शस्त्रों में वज्र, और गऊओं में कामधेनु हूँ। मैं सर्जन शक्ति में काम हूँ और सर्पों में वासुकि हूँ।।२८।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।२९।।

मैं नागों में शेषनाग और जलचरों में वरुण हूँ, मैं पित्रों में अर्यमा, और संयमित करने वालों में यमराज़ हूँ।।२९।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।३०।।

मैं दैत्यों में प्रह्लाद, गणनाओं में समय, पशुओं में सिंह तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ।।३०।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।३१।।

मैं पवित्र करने वालों में वायु तथा शस्त्रधारियों में राम हूँ, मैं मछलियों में मगर हूँ तथा नदियों में गङ्गा हूँ।।३१।।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।।३२।।

मैं सर्गों का आदि तथा अन्त हूँ तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या तथा विवाद करने वालों में वाद हूँ।।३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।।३३।।

मैं अक्षरों में अकार हूँ, समासों में द्वन्द्व समास हूँ। अक्षय काल, विश्वतोमुख धाता (भी) मैं ही हूँ।।३३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।३४।।

मैं सर्वहारी मृत्यु, होने वालों का उत्पत्ति-स्थान तथा स्त्रियों में कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।३५।।

सामों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, मासों में मार्गशीर्ष तथा ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ ।।३५।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।।३६।।

मैं छल करने वालों में द्यूत तथा तेजस्वियों में तेज हूँ, विजेताओं में जय तथा निर्णय एवं सात्त्विक पुरुषों का सत्त्व हूँ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥

मैं वृष्णियों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में व्यास, कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं हूँ॥३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

मैं दण्ड देनेवालों में दण्ड हूँ, जीत की इच्छा करने वालों में नीति हूँ, गोपनीय विषयों में मौन हूँ तथा ज्ञानियों में ज्ञान (भी) हूँ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥

हे अर्जुन ! जो सब भूतों का मूल है, वह भी मैं ही हूँ। चराचर में ऐसा कुछ भी नहीं है जो मेरे बिना हो॥३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥४०॥

हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह मैंने उदाहरणरूप (कुछ) विभूति का विस्तार बताया है ॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥४१॥

जो कुछ भी विभूतियुत अथवा कान्तियुक्त और ऊर्जस्वी है उस सबको तुम मेरे ही अंश से उत्पन्न हुआ मानो ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

अथवा हे अर्जुन! तुम्हें बहुत अधिक जानकर क्या करना है? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश-मात्र से व्याप्त करके स्थित हूँ॥४२॥

विपुल-भाष्य

श्रीकृष्ण की विभूति

श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का संक्षेप में वर्णन करते हुए कहा कि समस्त भाव और समस्त प्रजा उनकी ही विभूति है। उन्होंने यह भी बताया कि जो तत्त्वतः, शब्दतः नहीं, उनकी विभूति को जानता है, वह निश्चल ध्यान को प्राप्त हो जाता है। विभूति के तत्व ज्ञान का ऐसा प्रभाव सुनकर अर्जुन के मन में विभूति को विस्तार से जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। उसकी इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए गीता के दसवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक से लेकर बयालीसवें श्लोक तक श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया। तेईस श्लोकों में विभूति का वर्णन करने पर भी

श्रीकृष्ण को यह कहना पड़ा कि वे अपनी प्रधान विभूतियों का ही वर्णन कर पाए हैं क्योंकि इन विभूतियों के विस्तार का कोई अन्त नहीं है –

हन्त! ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।

वस्तुस्थिति यह है कि जब समस्त अस्तित्व ही श्रीकृष्ण की विभूति है तो फिर उस विभूति का अन्त कैसे हो सकता है? अतः श्रीकृष्ण विभूति का वर्णन करते भी जाते हैं और साथ ही साथ यह भी कहते जाते हैं कि इनकी विभूति का कोई अन्त नहीं है। संक्षेप में कहना चाहें तो कहा जा सकता है कि वे ही अस्तित्व का आदि भी हैं, मध्य भी हैं और अन्त भी हैं। और भी संक्षेप में कहना चाहें तो कहा जा सकता है कि वे सब प्राणियों के हृदय में स्थित उनकी आत्मा हैं –

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।

आत्मा का अर्थ है अस्तित्व का अन्तरतम रूप। अस्तित्व फैला हुआ है, किन्तु इस फैलाव का जो सार है वह आत्मा है। आत्मा को जान लें तो समस्त अस्तित्व को जान लिया जाता है।

जानने की दो प्रक्रियाएँ हैं – एक प्रक्रिया ज्ञान की है, दूसरी विज्ञान की। ज्ञान से हम केन्द्र को पकड़ते हैं, विज्ञान से परिधि को। आत्मा केन्द्र है, ब्रह्माण्ड उसकी परिधि है। ज्ञान से आत्मा को जाना जाता है, विज्ञान से परिधि को। आधुनिक विज्ञान करोड़ों प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित तारों को उपकरणों के माध्यम से जान रहा है लेकिन फिर भी वह यह दावा नहीं करता कि वह पूरे ब्रह्माण्ड को जान गया। कोई वैज्ञानिक यह नहीं कहता कि अमुक बिन्दु पर अस्तित्व का अन्त आ गया और इसके आगे अस्तित्व नहीं है। वह यही कहता है कि हमने इतने करोड़ प्रकाश वर्ष की दूरी तक अस्तित्व को जान लिया है किन्तु इसके आगे भी कितनी और दूरी तक ब्रह्माण्ड है, यह हम नहीं कह सकते। जैसे-जैसे अधिक शक्तिशाली उपकरणों का आविष्कार होता जाता है वैसे-वैसे दूर से दूर स्थित ग्रह-नक्षत्रों का पता चलता जाता है। किन्तु सम्पूर्ण अस्तित्व का ज्ञान विज्ञान को नहीं होता। इसलिए कोई वैज्ञानिक सर्वज्ञ होने का दावा नहीं करता है।

आत्मा का विस्तार

किन्तु ज्ञान के मार्ग में सब कुछ जान लेने की भी कोशिश करते हुए देखा जाता है। उपनिषद् में प्रश्न उठाया गया कि ऐसा कौन तत्त्व है कि जिसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है – **कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।** उत्तर दिया गया कि आत्मा के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। आत्मज्ञ सर्वज्ञ होता है, क्योंकि जो कुछ भी है वह सब आत्मा का ही विस्तार है। गीता में श्रीकृष्ण ने इसे आत्मविभूति कहा है। आत्मविभूति का अर्थ श्रीकृष्ण की विभूति भी है और आत्मा की विभूति भी है।

विज्ञान की विधि बहिर्मुखता की विधि है। ज्ञान की विधि अन्तर्मुखता की विधि है। विज्ञान विस्तार में जाता है, ज्ञान गहराई में जाता है। गहराई में जाने पर केन्द्र मिलता है, विस्तार में जाने पर परिधि मिलती है। ज्ञान में एकत्व है, परिधि में अनेकत्व है। स्पष्ट है कि दोनों में परस्पर विरोध है। गीता की विशेषता यह है कि उसमें इस विरोध का परिहार करते हुए ज्ञान और विज्ञान का समन्वय स्थापित किया गया है। एक ही आत्मा ब्रह्माण्ड की अनेकता में परिणत हुई है इसलिए आत्मा की एकता और ब्रह्माण्ड की विविधता में कोई विरोध नहीं है।

अधिभूत और अधिदेव

अर्जुन का प्रश्न आत्मा के सम्बन्ध में नहीं है अपितु विभूतियों के सम्बन्ध में है। यह प्रश्न ज्ञान का नहीं, विज्ञान का है। श्रीकृष्ण के सम्मुख समस्या यह है कि आत्मा की विभूति का कोई अन्त नहीं है। इस समस्या का समाधान वे इस प्रकार करते हैं कि वे अस्तित्व को दो भागों मे बाँट लेते हैं – अधिभूत और अधिदेव। अध्यात्म तो वे स्वयं

हैं ही। अधिभूत और अधिदैव का विस्तार भी अनन्त है। इसलिए वे अधिभूत और अधिदैव में भी प्रधान-प्रधान का वर्णन कर देते हैं, 'हाथी के पाँव में सबके पाँव समा जाते हैं' इस न्याय के अनुसार मुख्य में गौण का वर्णन भी समाविष्ट मान लिया जाता है।

जब अधिभूत और अधिदैव में प्रधान का चयन करना हो तो स्वयं ही एक कविता बन जाती है। गीता के दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण के द्वारा किया गया विभूतियों का वर्णन अस्तित्व का महाकाव्य है। गीता की इस प्रवृत्ति को देखते हुए ही गीता का नाम गीता पड़ गया। गीता का अर्थ है – जो गाथी गई। गाया काव्य ही जाता है। गीता में दर्शन है, किन्तु वह दर्शन संगीतबद्ध है। दर्शन जब तर्कबद्ध होता है तो मस्तिष्क को छूता है, किन्तु जब वह संगीतबद्ध होता है तो वह हृदय को छूता है। इसी संगीत की विधा में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं आदित्यों में विष्णु हूँ, ज्योतियों में रवि हूँ, मरुतों में मरीचि हूँ, नक्षत्रों में शशि हूँ, वेदों में सामवेद हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूतों में मैं चेतना हूँ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।

हमारे अस्तित्व का केन्द्र सौरमण्डल है। सूर्य न हो तो हम भी न हों। अध्यात्म को अधिभूत से जोड़ने वाला भी अधिदैव है। इसलिए सूर्य को जड-जंगम की आत्मा कहा गया है – सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। सौर-प्राण ही देवप्राण का मूल है। अतः श्रीकृष्ण अपनी विभूतियों का वर्णन करते समय सबसे पहले आदित्य से प्रारम्भ करते हैं। अदिति के पुत्र आदित्य हैं, दिति के पुत्र दैत्य है। अदिति का अर्थ है – अखण्ड। दिति का अर्थ है – खण्ड। जो अखंड से जुड़ता है वह दिव्य हो जाता है जो खण्ड से जुड़ता है वह दैत्य हो जाता है। बारह मासों के आधार पर बारह आदित्य माने गए जिनमें कार्तिक मास के सूर्य का नाम विष्णु है। कार्तिक मास का सूर्य न बहुत शीतल है न बहुत ऊष्ण। इसलिये बारह मास के सूर्यों में कार्तिक मास के सूर्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया। वही विष्णु है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं आदित्यों में विष्णु हूँ। श्रेष्ठ आदित्य का ग्रहण करने से शेष आदित्यों का भी ग्रहण स्वतः ही हो गया। सूर्य बहुत ठंडा हो जाए तो भी सृष्टि नष्ट हो जाएगी, बहुत उष्ण हो जाए तो भी सृष्टि नष्ट हो जायेगी, इसलिए कार्तिक मास के समशीतोष्ण सूर्य को श्रेष्ठ माना गया है।

एक दूसरी दृष्टि से देखें तो सभी प्रकाशमान ज्योतियाँ सूर्य से प्रकाश को ग्रहण करती हैं। अतः सूर्य श्रेष्ठ है। यह द्युलोक की चर्चा हुई। मध्य लोक में आएँ तो मध्य लोक का देवता वायु है और पिण्ड चन्द्रमा है। श्रीकृष्ण ने उनचास मरुतों में मरीचि को और नक्षत्रों में शशि को श्रेष्ठ मानते हुए उन्हें अपनी विभूति बताया।

ऋग्वेद और सामवेद

आधुनिक विद्वान वेदों में ऋग्वेद को मुख्य मानते हैं किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण ने अपने को वेदों में सामवेद बताया। इसका रहस्य तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक हम शब्द-राशि पर से ध्यान हटा कर तत्त्ववेद पर ध्यान न दें। सामवेद ऋग्वेद से बहुत छोटा है किन्तु साम तत्त्व ऋक् तत्व से बड़ा है। ऋक पिण्ड का नाम है, साम उस पिण्ड के आभा-मण्डल का नाम है। पिण्ड छोटा है, कम महत्वपूर्ण है; आभामण्डल बड़ा है, महत्त्वपूर्ण है। अतः सामतत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ है। देवों का राजा इन्द्र है अतः श्रीकृष्ण अपने को देवों में इन्द्र बताते हैं। साथ ही इन्द्रियों में अपने को मन बताते हैं। प्रतीक की भाषा में इन्द्रियों को भी देव कहा गया है क्योंकि वे भी पदार्थ को प्रकाशित करती हैं। उन इन्द्रियों का राजा भी इन्द्र है। यह इन्द्र ही मन है जो इन्द्रियों को वश में रखता है। उपनिषद् में मन को इन्द्रियों रूपी घोड़ों की लगाम बताया गया है। जैसे लगाम के वश में घोड़े रहते हैं, उसी प्रकार मन के वश में इन्द्रियाँ रहती हैं।

प्रस्तुत श्लोक के अन्त में श्रीकृष्ण अपने को भूतों में चेतना बताते हैं। वेद के अनुसार कोई भूत चेतना रहित नहीं है। एक परमाणु में भी जो अद्भुत व्यवस्था हमें देखने को मिलती है, वह चेतना के बिना नहीं हो सकती है।

भूतों से इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है किन्तु मन से भी अधिक सूक्ष्म चेतना है। चेतना से अधिक सूक्ष्म कुछ भी नहीं है। जो जितना सूक्ष्म है, वह उतना श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे भूतों में चेतना हैं, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसी उनकी विभूति अर्थात् महिमा है।

अस्तित्व का काव्य : भगवद्विभूति

श्रीकृष्ण अपनी विभूतियों का अर्थात् आत्मा की विभूतियों का वर्णन करने लगे तो एक काव्य ही बनता चला गया। उन्होंने अस्तित्व को कई परिप्रेक्ष्यों से देखा और सभी परिप्रेक्ष्यों से अस्तित्व के शिखर को छुआ। अस्तित्व बहुरंगी है और बहुत रहस्यमय है। इसलिए अस्तित्व के बहुत से अंश मिथक लगते हैं। हम यक्षों की चर्चा करते हैं, राक्षसों की बात भी करते हैं, लेकिन हममें से किसी ने यक्ष और राक्षस देखे नहीं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं यक्ष और राक्षसों में कुबेर हूँ, और पर्वतों में मेरु हूँ। पर्वत हमने देखे हैं, लेकिन मेरु पर्वत किसी ने नहीं देखा। फिर भी मेरु पर्वत का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। ऐसा ही एक मिथक गन्धर्व जाति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ।

वस्तुतः यह वर्णन कोई इतिहास नहीं है। यहाँ तो प्रतीकों की चर्चा है, और प्रतीक मिथक भी बन सकते हैं। मिथक वस्तुतः हों या न हों, वे एक अवधारणा तो उत्पन्न कर ही सकते हैं। मिथक झूठे हो सकते हैं किन्तु मिथक से जो एक चित्र हमारे मन में बनता है, वह चित्र झूठा नहीं हो सकता। जब प्रतीकों को प्रयोग करना हो तो मिथकात्मक प्रतीक ज्यादा उपयुक्त होते हैं क्योंकि प्रतीक को पकड़ कर नहीं बैठना होता। प्रतीक को छोड़ना होता है और प्रतीक के माध्यम से वहाँ तक पहुँचना होता है जिस सत्य की प्रतीति कराने के लिए प्रतीक का उपयोग किया गया है। क्योंकि मिथकात्मक प्रतीत को छोड़ना आसान होता है इसलिए वास्तविक प्रतीक की अपेक्षा प्रतीक का मिथकात्मक होना ज्यादा अनुकूल होता है।

श्रेष्ठता के प्रतीक

वर्तमान प्रसंग को लें। बताना इस सत्य को है कि जहाँ कहीं भी श्रेष्ठता है वह ईश्वर की विभूति का ही अंश है। वह श्रेष्ठता पुरुषों में भी हो सकती है, स्त्रियों में भी हो सकती है; साथ ही पशु, पक्षी, वृक्ष और पर्वत तथा नदियों में भी हो सकती है, तो श्रीकृष्ण श्रेष्ठता को बताने के लिए कुछ ऐसे प्रतीकों का प्रयोग कर रहे हैं जो प्रतीक मिथक हैं। वे कहते हैं कि मैं हाथियों में ऐरावत हूँ, घोड़ों में उच्चैःश्रवा हूँ, पर्वतों में मेरु हूँ। यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है कि ऐरावत नाम का हाथी है या नहीं है अथवा उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा या मेरु नाम का पर्वत कहीं है या नहीं, क्योंकि ये सब प्रतीक हैं और प्रतीक छोड़ने के लिए होता है। कोई सवारी नहीं करनी है कि उच्चैःश्रवा नाम के घोड़े को सचमुच होना ही चाहिए। पकड़ना तो इस सत्य को है कि जो श्रेष्ठ है वह ईश्वर की विभूति है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि चराचर में ऐसा कुछ भी नहीं जो मेरे बिना हो। इसलिए वे केवल चेतन का वर्णन ही नहीं जड का वर्णन भी करते हैं। वे कहते हैं कि मैं स्थावरों में हिमालय हूँ, आयुधों में वज्र हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष हूँ। इतना ही नहीं वे तो यह भी कहते हैं कि मैं अक्षरों में ओंकार हूँ और समासों में द्वन्द्व हूँ। हो सकता है कि कोई वैयाकरण हो और उसके लिए व्याकरण शास्त्र के प्रतीक ही काम दे जाएँ। द्वन्द्व समास में दोनों पद प्रधान रहते हैं – पूर्वपद भी और उत्तरपद भी, अन्य समासों में कोई पद गौण हो जाता है। इसलिए द्वन्द्व समास को श्रेष्ठ समास कहा। हो सकता है कि कोई नैयायिक हो, तार्किक हो। तर्क की श्रेष्ठता शास्त्रार्थ के समय प्रकट होती है। तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं विचार-विमर्श करने वालों में तर्कशास्त्र हूँ। ये प्रतीक उनके लिए कहे जा रहे हैं जिनके लिए शास्त्रीय प्रतीक ही अधिक उपयुक्त हैं। जिन्हें वेद प्रिय हैं उनके लिए दूसरे प्रतीकों का प्रयोग हो रहा है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं साम में बृहत्साम हूँ और छन्दों में गायत्री छन्द हूँ। जो कवि हृदय हैं उनके लिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ऋतुओं में वसन्त हूँ। सर्जनात्मक शक्तियों में स्वयं कामदेव हूँ।

प्रतीक ही देने हैं तो किसी भी चीज को प्रतीक बनाया जा सकता है। राजनीति में दूसरे को धोखा देना भी एक कला है। महाकवि कालीदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कहा है कि राजाओं को दूसरों को धोखा देने की विद्या भी एक शास्त्र के रूप में पढ़ाई जाती है क्योंकि राजनीति में इसकी भी आवश्यकता पड़ती है। प्रश्न होता है कि क्या छल विद्या में भी कुछ सर्वश्रेष्ठ हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं कि छल देने वालों में मैं द्यूत हूँ। जुए में छल का सबसे अधिक उपयोग होता है। शकुनि ने छल से ही जुए में पाण्डवों को हराया था। अन्यत्र तो श्रीकृष्ण ने ऐसे प्रतीकों का उपयोग किया जिन प्रतीकों को हम अच्छा समझते हैं। किन्तु यहाँ अपने आपको जुआ बताया। चोरी करने में भी एक निपुणता चाहिए और जहाँ निपुणता है वहाँ विभूति तो है ही, भले ही उस विभूति का दुरुपयोग हो रहा है। रावण मार्ग भ्रष्ट था, लेकिन पंडित और शूरवीर भी था। इसलिए हम रावण को जलाते हैं लेकिन जलाने से पहले उसकी पूजा भी करते हैं। जलाते हम उसकी चरित्रहीनता को हैं, पूजा हम उसकी शूरवीरता और विद्वता की करते हैं। शूरवीरता और विद्वता तो विभूति है। अतः उसे तो ईश्वर का अंश ही मानना होगा। खराब से खराब व्यक्ति में भी कुछ अच्छाई रहती है और यदि हम उस अच्छाई को देख सकें तो दुष्ट में भी ईश्वर के दर्शन कर सकते हैं।

इस प्रसंग में श्रीकृष्ण ने बहत्तर प्रतीकों की उपयोग किया है। चोरी करना अच्छा नहीं है। बड़ा से बड़ा चोर भी सब कुछ ले जाता है लेकिन कुछ छोड़ भी जाता है। मृत्यु ऐसी चोर है कि कुछ भी नहीं छोड़ती। जब मृत्यु आती है तो मनुष्य का कुछ शेष नहीं रहता, न धन, न् पद, न प्रतिष्ठा, न बन्धु-बान्धव, न शरीर, न मन, न ज्ञान। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि हरण करने वालों में मैं सर्वस्व हरने वाली मृत्यु हूँ।

तुच्छ कुछ भी नहीं

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों को बताने के लिए चित्र-विचित्र प्रतीक दिए और ऐसे प्रतीक दिए कि जीवन के अच्छे-बुरे सभी पक्ष उनमें समाहित हो गए। अच्छा-बुरा तो हमारा व्यक्तिगत दृष्टिकोण है। अस्तित्व में न कुछ अच्छा है, न बुरा। अस्तित्व के लिए मृत्यु भी उतनी आवश्यक है जितना जन्म। हम अपने राग-द्वेष के कारण जन्म को अच्छा और मृत्यु को बुरा मान लेते हैं। वस्तुतः ये दोनों ही ईश्वर के रूप हैं। यह समझ आ जाने पर न जन्म के प्रति राग रहता है न मृत्यु के प्रति द्वेष। इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा था कि जो उसकी विभूति को जान लेता है वह विचलित नहीं होता।

अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रतीकों की संख्या बढ़ाते रहने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। यहाँ जो प्रतीक दिए गए हैं वे केवल प्रधानता की दृष्टि से हैं। वैसे ईश्वर की विभूति का कोई अन्त नहीं है।

संक्षेप में समझना यह चाहिए कि जो भी ऐश्वर्य है वह ईश्वर के तेज का ही अंश है और जगत् में तो कुछ ऐसा है नहीं जो ऐश्वर्य-रहित हो। जिस परमाणु को हम अभी तक तुच्छ मानते रहे थे, विज्ञान ने सिद्ध कर दिया कि वह सबसे अधिक शक्तिशाली है। यदि परमाणु की यह स्थिति है तो अस्तित्व का कोई भी भाग ईश्वर की विभूति या ऐश्वर्य से रहित कैसे हो सकता है –

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥
यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीसूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥१०॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथैकादशोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥१॥

अर्जुन बोले –

मेरे पर अनुग्रह करने के लिए जो आपने परम गुह्य अध्यात्म विषयक वचन कहा है, उससे मेरा मोह नष्ट हो गया है॥१।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥२॥

हे कमलनेत्र! मैंने आपसे भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का (वर्णन) विस्तार से सुना है और (आपकी) अविनाशी महिमा भी (सुनी है)॥२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥३॥

हे परमात्मन्! आप जैसा कहते हैं, यह वैसा ही है। हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ऐश्वर्ययुक्त रूप को देखना चाहता हूँ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥४॥

हे प्रभो! यदि आप समझते हों कि मैं वह रूप देख सकता हूँ तो हे योगेश्वर! आप अपना (वह) अव्यय (रूप) दिखाइये॥४॥

विपुल-भाष्य

ईश-दर्शन की इच्छा

जीवन में अनेक बार ऐसा अनुभव होता है कि हम प्रयत्न करते हैं तो कुछ नहीं होता, फिर अचानक एक दिन प्रातिभ ज्ञान से, स्वतः प्रेरणा से सब समस्या का समाधान हो जाता है। हमें पता भी नहीं चलता कि समाधान कहाँ से आया। वह समाधान हममें से नहीं आता, हमारे ऊपर से आता है। इसे अनुग्रह कहा जाता है। पार्थिव आकर्षण समस्या को उलझाते हैं, दिव्य आकर्षण समस्या को सुलझाते हैं। जैसे पृथ्वी अपनी ओर खींचती है, आकाश भी अपनी ओर खींचता है। वह आकाशीय आकर्षण अनुग्रह है। अपने में देखें तो दोनों आकर्षण स्पष्ट हैं, एक आकर्षण काम-केन्द्र का है जो शरीर के निचले भाग में है, एक आकर्षण ज्ञान-केन्द्र का है जो शरीर के ऊपरी भाग, सहस्रार-चक्र, में है। इस सहस्रार-चक्र में जो अमृत-वर्षा होती है वह हमारे पुरुषार्थ से नहीं हो रही है, वह ईश्वर की अनुकम्पा का फल है।

अनुग्रह का अर्थ

अनुग्रह का अर्थ है कि जो बिना हमारे कुछ किए हमें मिल जाता है। हमारे किए से हमें जो मिलेगा वह हमारा पारिश्रमिक होगा। पारिश्रमिक तो हमारी योग्यता के अनुरूप ही होगा। हममें से किसी की योग्यता इतनी नहीं है कि उसके बदले में पारिश्रमिक में हमें भगवान् मिल जाएँ। हम कितना भी बड़ा परिश्रम करें, उसका पारिश्रमिक हमसे छोटा ही होगा। भगवान् हमसे छोटे नहीं हैं कि हमारे परिश्रम से हमें मिल जाएँ।

फिर भगवान् कैसे मिलेंगे? भगवान् मिलेंगे अनुग्रह से, कृपा से। भक्तियोग का यही आधार है। श्रुति कहती है कि भगवान् न प्रवचन से मिलेंगे, न बहुज्ञता से, न मेधा से; वे मिलेंगे अनुग्रह से –

नायमात्माप्रवचनेन लभ्यः
न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमैवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष विवृणुते तनूं स्वाम्

अर्जुन कहता है कि जो गोपनीय अध्यात्म श्रीकृष्ण ने उस पर अनुग्रह करने के लिए उसे बताया है, उसे सुन कर उसका मोह नष्ट हो गया –

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।

अनुग्रह का प्रथम फल है – मोह का नाश। जिसे शास्त्र मोह कहते हैं उसी को आज के मनोवैज्ञानिक सम्मोहन कहते हैं। दुर्गा सप्तति में कहा गया कि देवी महामाया ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खींच कर मोह में डाल देती हैं –

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।।

हम कितना भी पुरुषार्थ करें, मोह बिना भगवदनुग्रह के नहीं जाता। धन का मोह छूटे तो यश का मोह पकड़ लेता है, पुत्र का मोह छूटे तो शिष्य का मोह पकड़ लेता है। जैसे कीचड़ से कीचड़ नहीं धुलता, मोह से मोह नहीं छूटता। हमारे सभी प्रयत्न मोह से आविष्ट हैं। मूर्च्छित व्यक्ति अपनी मूर्च्छा कैसे दूर करेगा? कोई अपने ही कंधे पर कैसे चढ़ सकता है? सम्मोहन की स्थिति में हम जो भी करते हैं वह सम्मोहन का ही प्रभाव होता है। यहाँ तक कि हमने मोक्ष की भी एक कल्पना कर ली है और हम उसी कल्पना से सम्मोहित हैं – मोक्ष का अनुभव तो हमें है नहीं। नैयायिक कहता है कि मोक्ष में सत् तो है किन्तु चित् नहीं है, सांख्य कहता है कि मोक्ष में चित् है किन्तु आनन्द नहीं है। वेदान्ती कहता है मोक्ष में सत्, चित्, आनन्द तीनों हैं। बौद्ध कहते हैं कि निर्वाण में सत् भी नहीं है, चिदानन्द की तो बात ही क्या है? यह सब विवाद उनका है जिन्हें अपरोक्षानुभूति तो है नहीं, केवल शब्दों की पकड़ है। फलतः वे अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार मोक्ष की अवधारणा करके सम्मोहन की स्थिति में ही रह रहे हैं। यह सम्मोहन टूटता है अनुग्रह से।

अनुग्रह में बाधक हैं तीन ग्रह – आग्रह, विग्रह और परिग्रह। ये तीन ग्रह छूटें तो अनुग्रह प्राप्त हो। आग्रह का अर्थ है कि सत्य की हमें कोई अनुभूति नहीं है फिर भी हम मान बैठे हैं कि सत्य अमुक प्रकार का ही है। बिना अनुभव के शास्त्रों को रट कर व्यक्ति ऐसा आग्रह कर बैठता है। आग्रह के कारण उसके लिए सत्य दर्शन का द्वार बन्द हो जाता है। यह सम्प्रदाय का मोह है।

सम्प्रदाय का आग्रह

सम्प्रदाय का आग्रह विग्रह को जन्म देता है। वेदों में एक शब्द आया 'मम सत्यम्' अर्थात् मेरा सत्य; वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने इसका अर्थ किया – युद्ध। अर्थात् जब हम सत्य का ठेका ले लेते हैं कि सत्य केवल

मेरे पास है तो फिर विग्रह का जन्म होता है। जो सबसे विग्रह कर बैठा हो, वह सब में परमात्मा का दर्शन कैसे कर सकता है?

अनुग्रह में तीसरा बाधक है – परिग्रह। परिग्रह का अर्थ है जो अपना नहीं है उसे अपना मान बैठना। यह भी एक प्रकार का सम्मोहन है। जैन परम्परा परिग्रह का अर्थ करती है - मूर्च्छा। यह मूर्च्छा टूटे तो अनुग्रह प्राप्त हो।

जैसे ही अनुग्रह प्राप्त होता है और मोह टूटता है, वैसे ही साधक में सत्य का दर्शन करने की इच्छा होती है। जैसे मूर्च्छा टूटने पर व्यक्ति अपने चारों ओर देखता है कि वह कहाँ है और अपने को भी टटोल कर परखता है कि वह कौन है और कैसा है, ऐसे ही मोह नष्ट होने पर साधक सत्य का दर्शन करना चाहता है। अर्जुन के साथ यही हुआ। वह कहता है कि हे पुरुषोत्तम! मैं ईश्वर का रूप स्वयं देखना चाहता हूँ –

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।

श्रुति में एक महत्वपूर्ण प्रार्थना है। भगवान् से प्रार्थना है कि हे भगवन्! सत्य का मुख स्वर्ण के ढकने से ढका है, उसे आप उघाड़ दें ताकि मैं सत्य धर्म दर्शन कर सकूँ-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

धन, यश, पद, प्रतिष्ठा – ये सब स्वर्ण के ढक्कन हैं जो सत्य को ढके हैं। ये उघड़ें तो सत्य का दर्शन हो।

अर्जुन ने ईश्वर का साक्षात्कार करने की इच्छा तो अभिव्यक्त कर दी किन्तु साथ ही एक सावधानी भी बरती। उसने कहा कि हे कृष्ण! आप मुझे अपना विराट् रूप देखने के योग्य समझते हों तो ही अपना स्वरूप मुझे दिखाएँ –

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मनमव्ययम्।।

कहा जाता है कि सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही दुहा जाता है, साधारण पात्र में नहीं। विराट् सत्य का दर्शन करने की पात्रता भी होनी चाहिए। परमात्मा का रूप तो सर्वत्र सदा ही विद्यमान है, हमें दिखाई इसलिए नहीं देता कि हमारी पात्रता नहीं है। यूँ तो हम सभी अपने को पात्र माने बैठे हैं और चाहते हैं कि हमें भगवान् के दर्शन हो जाएँ। किन्तु थोड़ा अपने अन्दर झाँक कर देखें तो पता चलेगा कि हमारी भगवद्दर्शन की इच्छा झूठी है। हम जब भगवान् के सम्मुख होते हैं तो पाएँगे कि हमारा मन इच्छाओं से भरा रहता है। कभी धन की इच्छा, कभी पद की, कभी सन्तति की, कभी कुछ और। ऐसा कब हुआ कि हमें केवल सत्य चाहिए और कुछ नहीं? फिर हम जो चाहते हैं, हमें वही मिल जाता है। भगवान् को हमने चाहा ही कब है? हमारे लिए भगवांन् तो एक सीढ़ी है जिस पर चढ़ कर हम वही प्राप्त करना चाहते हैं जिसे अनादि काल से हम सुख का स्रोत मानते रहे हैं पर जो वास्तव में दुःख का स्रोत है अर्थात् परिग्रह। सभी परिग्रह व्ययशील हैं। अर्जुन अव्यय को देखना चाहता है।

चक्षु ही सत्य

मानना एक बात है, जानना एक बात है, देखना कुछ और ही बात है। श्रुति कहती है कि चक्षु ही सत्य है – चक्षुर्वै सत्यम्। हमने मान लिया कि ईश्वर है क्योंकि हमारा जन्म ईश्वरवादी कुल में हुआ था। हमारे कुल, समाज और परिचितों में सभी ईश्वर को मानते थे तो हम भी मानने लगे। यह मान्यता हुई। शास्त्र पढ़े तो ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में युक्तियाँ पढ़ीं, ईश्वर का वर्णन पढ़ा, यह ईश्वर का जानना हुआ। जैसे कोई भूगोल की पुस्तक में पढ़ कर अमरीका के बारे में जान ले। किन्तु अमरीका को स्वयं देखने की बात कुछ और ही है। इसी प्रकार ईश्वर को देखने की बात कुछ और ही है। अर्जुन ईश्वर को देखना चाहता है।

गीता के दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया और अर्जुन ने उसे सुना। इससे अर्जुन की नींद टूटी। अर्जुन को पता चला कि जो कुछ श्रेष्ठ है, वह ईश्वर का ही ऐश्वर्य है, ईश्वर की ही विभूति है। अब अर्जुन उस विभूति को देखना चाहता है।

प्रश्न यह होता है कि जैसे कान से सुना जाता है, वैसे आँख से देखा जाता है। कान भी इन्द्रिय है, आँख भी इन्द्रिय है। यदि एक इन्द्रिय ईश्वर को नहीं जान सकती तो दूसरी इन्द्रिय भी उसे नहीं जान सकती। फिर आँख से ही ईश्वर को कैसे जाना जा सकता है? इसी बिन्दु पर निराकार के उपासक कई बार यह आग्रह कर लेते हैं कि ईश्वर साकार हो ही नहीं सकता। ऐसे सभी लोग द्वैतवादी हैं। उनके लिए ईश्वर पृथक् है, जगत् पृथक् है। किन्तु अद्वैतवादी के लिए तो दो का अस्तित्व है ही नहीं। फिर वह साकार को भी ईश्वर से पृथक् कैसे मान सकता है?

गीता में विराट् रूप के दर्शन का वर्णन है। यह ईश्वर के सगुण-साकार रूप का दर्शन है। वेदोक्त पुरुषसूक्त की ही व्याख्या विराट् रूप है। पुरुषसूक्त में स्पष्ट रूप में सारे अस्तित्व – पृथ्वी, आकाश, अग्नि, वायु, चारों वर्ण, और पशु – का पुरुष के साथ तादात्म्य रूप माना है। यहाँ गीता में भी श्रीकृष्ण के विराट् रूप में यही प्रदर्शित किया गया है। अर्जुन विराट् रूप का दर्शन करता है तो उसके लिए ईश्वर अपरोक्षानुभूति का विषय बन जाता है। इसके बाद सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और विभिन्न मतवादों के लिए कोई स्थान नहीं रहता। किन्तु पूरे अस्तित्व में पदार्थ न दिख कर ईश्वर दिखे, इसके लिए दृष्टि में दिव्यता चाहिए। अस्तित्व में तो दिव्यता है, हमारी दृष्टि में भौतिकता है। दृष्टि में दिव्यता आए तो वह पदार्थ की भौतिकता को भेद कर दिव्यता को देख सकेगी। इसलिए आगे चल कर श्रीकृष्ण कहेंगे कि अर्जुन, मैं तुझे दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ।

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

श्रीभगवान् बोले –

हे अर्जुन! अब तुम मेरे सैकड़ों, हजारों नाना प्रकार के वर्ण और आकृति वाले अलौकिक रूपों को देखो।।५।।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

हे अर्जुन ! आदित्य, रुद्र, वसु, अश्विनी कुमार और मरुद्गणों को देखो तथा पहले न देखे हुए बहुत से आश्चर्यों को देखो।।६।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

हे अर्जुन! मेरे इस शरीर में अब एक ही जगह स्थित चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देखो और जो कुछ और भी देखना चाहते हो वह सब देखो।।७।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

तुम मुझे अपने इन प्राकृतिक नेत्रों से देखने में समर्थ नहीं हो अतः मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ, तुम मेरे ऐश्वर्य में योग को देखो।।८।।

विपुल-भाष्य

दिव्य चक्षु से विराट् दर्शन

दो प्रकार की जिज्ञासाएँ शास्त्र में उपलब्ध होती हैं – धर्म की जिज्ञासा और ब्रह्म की जिज्ञासा। धर्म का अर्थ है – कर्त्तव्य। ब्रह्म का अर्थ है – परम तत्त्व। धर्म की जिज्ञासा पहले है, वह पूर्व मीमांसा है। ब्रह्म की जिज्ञासा बाद में है, वह उत्तरमीमांसा है। कर्त्तव्य पालन करने से सुख मिलता है। कर्म स्वर्ग ही दे सकता है, मोक्ष नहीं। उत्तर मीमांसा की दृष्टि स्वर्ग से आगे जाना चाहती है। स्वर्ग उन भौतिक सुखों का ही विस्तार है जो भौतिक सुख कुछ कम मात्रा में इस लोक में भी मिलते हैं – स्त्री, पुत्र, वाहन, गन्ध-लेपन, सौन्दर्य इत्यादि। इहलोक में प्राप्त होने वाले तथा परलोक में प्राप्त होने वाले सुखों में परिमाण का अन्तर है, गुणात्मक अन्तर नहीं। इसलिए स्वर्ग को इन आँखों से भी देखा जा सकता है। हम देख सकते हैं कि युवावस्था के भोगों का जो सुख यहाँ है वही सुख कुछ अधिक मात्रा में स्वर्ग में भी है। इसके लिए किसी दिव्य दृष्टि की आवश्यकता नहीं है। पूर्व मीमांसा के समान इस्लाम तथा ईसाई आदि मजहबों में भी स्वर्ग की कल्पना है।

स्वर्ग के सुख

परम तत्त्व के जान लेने का सुख कैसा है – इसका कोई अनुभव हमें संसार में नहीं होता। संसार में भोगों का ही अनुभव होता है। स्वर्ग में भी भोग ही है। परम तत्त्व का साक्षात्कार कोई भोग नहीं है। भोगों का माध्यम इन्द्रियाँ हैं, परम तत्त्व का साक्षात्कार इन्द्रियों से नहीं होता। इन्द्रियों से उसे ही जाना जा सकता है जो सीमित है। परम तत्त्व की कोई सीमा नहीं, इसलिए उसे इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। वैज्ञानिक उपकरणों से हमारी इन्द्रियों की शक्ति बढ़ जाती है; जितनी दूर तक हम आँखों से देख सकते हैं, दूरबीन के द्वारा उससे कितनी ही गुणा अधिक दूर तक देख सकते हैं। लेकिन दूरबीन से भी देखते उसे ही हैं जिसका रूप हो।

गिद्ध की आँख हमारी अपेक्षा कहीं अधिक दूर तक देख सकती है। कुत्ते की नाक की सूँघने की शक्ति हमारी अपेक्षा कहीं अधिक है; वह चोर की गन्ध को पकड़ कर चोर तक पहुँच जाता है। यह शक्ति मनुष्य में नहीं है। मनुष्य में एक अन्य शक्ति है जो पशुओं में नहीं है – वह उसे भी जान सकता है जिसका न रूप है, न गन्ध, न शब्द, न स्पर्श, न रस। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श से युक्त पदार्थ ही सीमाबद्ध है। जिसका रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श है ही नहीं, उसकी सीमा कौन बनाएगा? जिस माध्यम से मनुष्य उस परम तत्त्व को जानता है, वही माध्यम दिव्य दृष्टि है।

हमारा अहं ही हमारी सीमा है। हम समझते हैं जहाँ तक हमारा शरीर है, मन है, बुद्धि है वहीं तक हम हैं। शरीर, मन, बुद्धि – ये सभी सीमित हैं। इनसे अपना तादात्म्य स्थापित करके हम भी सीमित हो जाते हैं। इसलिए जब तक हम अहं से जुड़े हैं, तब तक हम सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते और जब तक हम स्वयं ही सीमित हैं तब तक असीम को कैसे जान सकते हैं? अतः असीम को जानने के लिए अहं का विसर्जन आवश्यक है। मजेदार बात यह है कि अहं का विसर्जन करते ही हम स्वयं असीम हो जाते हैं और परम तत्त्व भी असीम है, अतः असीम होते ही हम स्वयं ही परम तत्त्व बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम यह नहीं कहते हैं कि 'ब्रह्म है', हम कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' हम 'ब्रह्मास्ति' नहीं कहते, अपितु 'ब्रह्मास्मि' कहते हैं। ब्रह्म कोई पदार्थ नहीं है कि उसके अस्तित्व को अन्य पुरुष की भाषा में कहा जाए, ब्रह्म तो उद्देश्य है, सब्जेक्ट है ऑब्जेक्ट नहीं, अतः उसे उत्तम पुरुष की तरह ही जाना जा सकता है।

इस अहङ्कार-विहीन स्थिति की प्राप्ति में श्रीकृष्ण जैसा परम गुरु बहुत सहायक होता है। श्रीकृष्ण कोई व्यक्ति नहीं हैं। स्वयं परम तत्त्व हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रीकृष्ण के हमारी तरह का शरीर नहीं है किन्तु वे अपना तादात्म्य शरीर से स्थापित किए हुए अहङ्कारी जीव नहीं हैं। अहङ्कार-मुक्त भगवान् है – **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।** वे जब कहते हैं कि हे अर्जुन, तू मुझमें स्थित आदित्य, वसु, रुद्र तथा अश्विनी कुमारों एवं मरुतों को देख, और

अनेक ऐसे आश्चर्यों को देख जो इससे पूर्व तूने कभी नहीं देखे थे; एक ही स्थान पर स्थित समस्त चराचर को देख और जो भी कुछ और देखना चाहता है उसे देख, तो अर्जुन को वह सचमुच दिखाई देने लगता है –

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥

इन श्लोकों की शब्दावली को देखें तो वेदों का प्रतिबिम्ब इस शब्दावली में मिल जाएगा। श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम अर्जुन को आदित्य, वसु, रुद्र और अश्विनी कुमारों को देखने का निमंत्रण दिया। ये चार देव ही वेद के प्रमुख देव हैं। आदित्य बारह हैं, वसु आठ, रुद्र ग्यारह तथा अश्विनी कुमार दो। इस प्रकार कुल मिलाकर तैंतीस देवता बनते हैं। इनमें आदित्य द्युलोक के, वसु पृथ्वी के तथा रुद्र अन्तरिक्ष के देवता हैं। अश्विनी कुमार उस क्षेत्र के देवता हैं जहाँ अन्तरिक्ष द्युलोक तथा पृथ्वी लोक से मिलता है। इस प्रकार इन तैंतीस देवताओं से तीनों लोकों के देवता समाहित हो जाते हैं।

विराट् और सूक्ष्म

विराट् दर्शन का प्रसङ्ग श्रीकृष्ण ने देवों से ही प्रारम्भ किया क्योंकि देव सूक्ष्म हैं। दिव्य दृष्टि स्थूल को तो देखती ही है, सूक्ष्म को भी देख लेती है। स्थूल हमारे द्वारा सदा से देखा जाता रहा है, सूक्ष्म अदृष्टपूर्व है। इसलिए जब सूक्ष्म दिखाई देता है तो आश्चर्य होता है। स्थूल का अपना आकर्षण है – ऐन्द्रिक आकर्षण। सूक्ष्म का अपना आकर्षण है – अतीन्द्रिय का आकर्षण। जब तक स्थूल का आकर्षण है तब तक सूक्ष्म आकर्षित नहीं कर पाता। सूक्ष्म आकर्षित कर ले तो स्थूल का आकर्षण स्वतः छूट जाता है। स्थूल का आकर्षण छूट जाना ही वैराग्य है।

स्थूल सब माया है। माया का अर्थ है जो माप्य है, सीमित है, नापा जा सकता है। सूक्ष्म को नापा नहीं जा सकता। शरीर को नापा जा सकता है, प्रेम को नापने वाला पैमाना नहीं है। जो नापा जा सकता है, वह नश्वर भी होता है। नश्वर का अर्थ है जो एक क्षण में है किन्तु इससे पहले भी नहीं था और इसके अगले क्षण में भी नहीं रहेगा। उसे न सत् कह सकते हैं न असत्। शास्त्र कहते हैं माया सदसदनिर्वचनीय है। ब्रह्म सदा है, सनातन है। माया में नानात्व है, ब्रह्म में एकत्व है। किन्तु माया भी ब्रह्म में ही समायी है; सीमित भी असीम से बाहर थोड़े ही रह सकता है? परिवर्तनशील का भी आधार कूटस्थ ही है। विराट् दर्शन का यही अर्थ है कि सब कुछ विराट् में समाया है। नानात्व को देखें तो नाना वर्ण और आकृतियाँ हैं, एकत्व को देखें तो सब कुछ एकस्थ है।

यह एकत्व चर्म चक्षुओं से नहीं दिखता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! तू अपने चक्षुओं से मेरे इस विराट् रूप को नहीं देख सकेगा, अतः मैं तुझे दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

चर्म चक्षु सबके पृथक्-पृथक् हैं, दिव्य चक्षु में अपने और पराये का भेद नहीं, दिव्य चक्षु जो कृष्ण के हैं वे ही अर्जुन के हो सकते हैं। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! तेरे अपने स्वचक्षु विराट् को नहीं देख पाएँगे अतः मैं तुझे दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ।

दिव्य चक्षु का अर्थ है – साक्षिभाव। जहाँ कोई माध्यम नहीं रहा, माध्यम की अपेक्षा ही नहीं रही, वहाँ दिव्यता है। जहाँ माध्यम है, वहाँ भौतिकता है। देखने की क्षमता आत्मा में है। हम आँख बन्द करके भी देख सकते हैं। किन्तु आँख बन्द करने पर भी वही दिखता है जो हमारे मन पर अङ्कित है। जो हमारे संस्कारों में नहीं है, वह स्वप्न में भी नहीं दिखता। अतः बिना आँखों के भी हम वही देख पाते हैं जो आंखों से दिख चुका है। दिव्य दृष्टि से जो दिखता है, वह पहले कभी नहीं दिखा – अदृष्टपूर्व है।

खण्ड और अखण्ड

अब तक जो हमें दिखा है, वह खण्ड है; दिव्य दृष्टि से जो दिखता है वह अखण्ड है। विश्लेषण से हम खण्ड तक पहुँचते हैं, जो अणु से भी अणु है उसे विश्लेषण से जाना जा सकता है। संश्लेष से हम समग्र को जान सकते हैं जो महान् से भी महान् है उसे संश्लेष से जाना जा सकता है। दिव्य दृष्टि से हम उसे जानते हैं जो महान् से भी महान् है और अणु से भी अणु है – अणोरणीयान्महतो महीयान्।

दिव्य दृष्टि है अन्तर्मुखता। अन्तर्मुखता का अर्थ है बाह्य का – स्थूल का – आकर्षण न रह जाए। अर्जुन ने **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** कह कर श्रीकृष्ण के सम्मुख समर्पण कर दिया। समर्पण का अर्थ है - अहङ्कार का विसर्जन। अहङ्कार ही तो हमें स्थूल से बाँधता है। अहङ्कार न हो तो सब स्थूल भौतिक सम्पदा हमारे लिए धूल के समान हो जाती है। तब ही उसका आकर्षण छूटता है, तब ही अन्तर्मुखता प्राप्त होती है। उसके बिना विराट् का दर्शन सम्भव नहीं है।

मूल तथा अनुवाद

सञ्जय उवाच –

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥९॥

सञ्जय बोले –

हे राजन्! ऐसा कहकर महायोगेश्वर कृष्ण ने अर्जुन को परम ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखाया॥९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥११॥

अनेक मुख और नयनों से युक्त अनेक अद्भुत दर्शनों वाले, अनेक दिव्य आभूषणों वाले, अनेक शस्त्रों को हाथ में लिये अनेक दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये, दिव्य गन्ध लिये शरीर वाले सब आश्चर्यों से युक्त अनन्त विश्वतोमुख॥१०-११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२॥

उस महात्मा के आलोक के समान वही आलोक कदाचित् हो सकता है जो आकाश में हजार सूर्यों से एक साथ उत्पन्न होता है॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥१३॥

अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त सम्पूर्ण जगत् को देवाधिदेव श्रीकृष्ण के इस शरीर में एक स्थान पर स्थित देखा॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥१४॥

उसके बाद आश्चर्यचकित, पुलकित अर्जुन ने श्रीकृष्ण को मस्तक झुका कर हाथ जोड़कर कहा ॥१४॥

विपुल-भाष्य

अनेक में एक

विराट् का शब्दार्थ है – विविध रूप में विराजमान परमात्मा तो एक ही है किन्तु अनेक बन जाता है। यह माया का प्रताप है। एकता पारमार्थिक है, अनेकता प्रातिभासिक है। जैसे एक ही सूर्य अनेक जलपात्रों में अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित हो तो एक सूर्य की सत्ता पारमार्थिक होगी और उसके अनेक प्रतिबिम्बों की सत्ता प्रातिभासिक होगी। श्रुति कहती है कि एक ही अनेक हो गया – एकोऽहं बहु स्याम्। श्रुति यह भी बताती है कि एक का अनेक होना माया के कारण है – **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।**

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विराट् रूप का दर्शन कराया तो उसे एक में अनेक के दर्शन हुए – **तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।**

अनेकता ज्ञानी को भी दिखती है किन्तु वह उस अनेकता के बीच में ओतप्रोत उस एकता को भी देखता है जिस एकता को अज्ञानी नहीं देख पाता। इसलिए अज्ञानी के लिए अनेकता आत्यन्तिक है, अल्टीमेट है, जबकि ज्ञानी के लिए अनेकता प्रातिभासिक है, एपेरेन्ट है, अल्टीमेट तो एकता ही है। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने अनेकधा प्रविभक्त को एकस्थ दिखला दिया। एकता ज्ञान का फल है, अनेकता विज्ञान का। अनेकता सहित एकता का दर्शन ज्ञान-विज्ञान का संयुक्त फल है। श्रीकृष्ण ने विज्ञान-सहित ज्ञान बताने की प्रतिज्ञा की थी, अतः उन्होंने अनेकता सहित एकता का दर्शन कराया।

ईश्वर का ऐश्वर्य्य

अनेकता का विस्तार अनन्त है। विज्ञान शक्तिशाली से शक्तिशाली यन्त्रों द्वारा भी ब्रह्माण्ड का ओर-छोर नहीं देख पाया है। न मालूम हमारे सौरमण्डल जैसे कितने सौरमण्डल और हमारी आकाशगङ्गा जैसी कितनी आकाशगङ्गायें और हैं। यह ईश्वर के ऐश्वर्य्य का ही विस्तार है। जब हम इस अनेकता में पिरोयी हुई एकता को देखते हैं तो मानो एक के ही अनेक मुख, अनेक नयन हो जाते हैं। अर्जुन यह सब देखकर आश्चर्य से भर गया। अर्जुन का आश्चर्य तो दिव्य दृष्टि के कारण था, सामान्य दृष्टि वाले वैज्ञानिक भी अस्तित्व को देखकर आश्चर्य से अभिभूत हो जाते हैं। एक परमाणु की रचना इतनी जटिल, व्यवस्थित, सूक्ष्म और विचित्र है कि उसमें पूरा ब्रह्माण्ड प्रतिबिम्बित हो उठता है। एक छोटे से बरगद के बीज में पूरा बरगद का वृक्ष समाया रहता है। यह सब कम आश्चर्य की बात नहीं है।

अर्जुन को तो एक वैज्ञानिक की दृष्टि से भी अधिक कीमती दिव्य दृष्टि मिली थी। इस कारण उसे सब में दिव्यता के दर्शन हुए। दिव्य शब्द संस्कृत की दिव् धातु से निकला है। दिव् का अर्थ है प्रकाश किन्तु दिव् का अर्थ क्रीडा भी है। यह समस्त विश्व प्रकाश की क्रीडा है, विद्युत्कणों का खेल है। सृष्टि के आरम्भ में रश्मियों का ही जाल चारों ओर फैला था – **तिरश्चीनो विततः रश्मिरेषाम्।** इन्हें विज्ञान की भाषा में कॉस्मिक रेज़ कहा जाता है। तत्त्वतः यदि हम पदार्थ का विघटन करें तो हमें विद्युत्कण ही प्राप्त होंगे। पदार्थ घनीभूत विद्युत्कण है। यदि हम इस घनत्व को चीर कर देख सकें तो विद्युत्कण ही दिखेंगे, पदार्थ लुप्त हो जाएगा। यही भूत में दिव्यता का दर्शन है। यह दिव्यता ही देव-तत्त्व है। श्रुति घोषणा करती है कि जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है, देव-तत्त्व से ही उत्पन्न हुआ है। वेद के लिए कुछ भी भूत नहीं है, सभी देव हैं। देव का अर्थ है – प्राण। जिसे वेद प्राण अथवा देव कहते हैं, उसे ही आज का विज्ञान क्वान्टम अर्थात् ऊर्जा समूह कहता है।

अर्जुन की भेदक दिव्य दृष्टि ने विराट् विश्व में इसी दिव्यता के दर्शन किए तो उसे सभी आभूषण दिव्य दिखे, सभी आयुध भी दिव्य हो गए। माला, वस्त्र, गन्धलेप – सब में दिव्यता भर गयी। पदार्थमात्र भूत नहीं रहा, देव बन गया। अद्भुत था यह दृश्य –

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो मुखम्।।

दिव्यता अर्थात् प्रकाश की यह क्रीडा इतनी बलशाली थी कि यदि हजार सूर्यों का प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाए तो उस प्रकाश की तुलना उस दिव्यता से हो सकती है –

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।

संसार के सभी धर्मों में प्रकाश को बहुत महत्त्व दिया गया है। बाइबिल का प्रारम्भ इस वाक्य से होता है कि परमात्मा ने कहा कि आलोक हो जाए और आलोक हो गया। सिक्खों के गुरुओं ने कहा कि सभी एक ही नूर (प्रकाश) से उत्पन्न हुए हैं, उनमें किसे भला और किसे बुरा कहें ?

धर्मात्मा कहते रहे हैं कि सोने का मूल्य मिट्टी से अधिक नहीं है। यहाँ बाजार-भाव की चर्चा नहीं है, बाजार में तो एक तोला सोने के बदले टनों मिट्टी खरीदी जा सकती है। यहाँ तात्विक मूल्य की चर्चा है। विज्ञान बताता है कि जो कार्बन कोयले में है वही कार्बन हीरे में है। अतः तत्त्वतः कोयला और हीरा दोनों एक ही हैं, दोनों कार्बन के ही रूप हैं। जिसकी यह तात्विक दृष्टि हो जाती है उसके लिए हीरा कोयले का टुकड़ा ही बन जाता है। सच्चे वैराग्य का मूल यही तात्विक दृष्टि है।

सूक्ष्म चेतना

देव अर्थात् प्राण तत्त्व दिव्य हैं किन्तु देवों की दिव्यता भी अन्तिम नहीं है। देवों से भी अधिक सूक्ष्म चेतना है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि सब प्रकाशमान हैं किन्तु ये सब परतः प्रकाश हैं, स्वतः प्रकाशमान तो चेतना ही है। सूर्य को भी तब जाना जा सकता है जब चेतना हो। किन्तु चेतना को जानने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है, वह स्वसंवित् है। इसलिए चेतना देवों की भी देव है। श्रीकृष्ण को गीता देवदेव – देवों का भी देव – बताती है।

गीता एक साथ तीन शब्दों का प्रयोग करती है – अद्भुत, आश्चर्य्य, विस्मय। प्रथम तो जड परमाणु की संरचना ही अद्भुत है। फिर ऊर्जा रूप क्वान्टम का घनीभूत होकर परमाणु में परिणत हो जाना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है और चेतना का ऊर्जा में परिणत हो जाना और भी अधिक विस्मयकारक है। इस प्रकार तीन स्तरों पर तिहेरा आश्चर्य्य है। आईन्स्टीन एक आश्चर्य्य की चर्चा कर पाये कि किस प्रकार एनर्जी मैटर में और मैटर एनर्जी में बदल जाता है। इस प्रक्रिया के लिए उन्होंने एक सूत्र दिया – $E=MC^2$, वेद ने इससे आगे का एक सूत्र दिया कि किस प्रकार चेतना भूत में और भूत चेतना में परिणत हो जाता है, दूसरे शब्दों में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है। उस प्रक्रिया का नाम यज्ञ है जिस प्रक्रिया से चेतना जगत् में बदल जाती है – **वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यद्यज्ञः**। यह यज्ञ की प्रक्रिया विस्मयकारक है।

विस्मय शब्द संस्कृत का है जो स्मय के पहले वि उपसर्ग लगने से बना है। स्मय का अर्थ – अहङ्कार। विस्मय का अर्थ है – अहङ्कार की समाप्ति। जब तक हमें यह लगता है कि हम किसी चीज को समझ सकते हैं तब तक हमारा अहङ्कार बना रहता है; किन्तु जब हमें लगता है कि हमारी बुद्धि जवाब दे गई तो हमारा अहङ्कार विगलित हो जाता है। यही वि-स्मय है। अर्जुन श्रीकृष्ण के विराट् रूप को देख कर विस्मय से भर गया। हम अहङ्कार से भरे हैं, अतः हमें किसी चीज पर विस्मय होता ही नहीं। हम इस भ्रान्तिपूर्ण अहङ्कार से भरे रहते हैं कि हम सब कुछ समझते हैं जबकि हम समझते कुछ भी नहीं। कुछ नहीं जानते हुए भी अपने को सर्वज्ञ समझना अज्ञानी का लक्षण है और सब कुछ जान लेने पर भी अपने को अज्ञ मानना ज्ञानी का लक्षण है – **यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः**।

श्रीकृष्ण के विराट् रूप को देखकर अर्जुन को लगा कि यह तो अद्भुत है। अद्भुत का अर्थ है – अभूतपूर्व। हमें परमाणु स्थिर दिखता है किन्तु यदि उसमें चलने वाली तीव्र गतिविधि हमें दिख जाए तो वह हमारे लिए अद्भुत होगी। हमें परमाणु ठोस दिखाई देता है किन्तु उसके भीतर बहुत बड़ा शून्य है। यह सब अदृष्टपूर्व है। वैज्ञानिक को

ये सब अद्भुत चीजें दिख जाती हैं तो वह इतने बड़े-बड़े आविष्कार कर सकता है कि हजारों मील की दूरी पर खेले जाने वाले क्रिकेट मैच का दृश्य तथा वहाँ होने वाली आवाजें हमें ज्यों की त्यों दूरदर्शन पर दिखाई सुनाई पड़ती हैं। ये विज्ञान के चमत्कार हैं।

धर्म का चमत्कार

धर्म का चमत्कार इससे कहीं बड़ा है। जब हमें विराट् का दर्शन होता है तो हमारी सब क्षुद्रता समाप्त हो जाती है। हम अल्पज्ञ से सर्वज्ञ, एकदेशव्यापी से सर्वव्यापक तथा निर्बल से सर्वशक्तिमान् बन जाते हैं। संक्षेप में जीव ब्रह्म बन जाता है, लघु विराट् बन जाता है क्योंकि श्रुति कहती है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है – ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

अर्जुन ने जब विराट् का दर्शन किया तो उसके अन्दर तीन प्रतिक्रियाएँ हुईं। प्रथम तो उसका अहङ्कार विगलित हो गया – वह विस्मय से आविष्ट हो गया। दूसरे, उसे रोमाञ्च हो गया। उसके मन का विस्मय-भाव मन तक ही नहीं रहा, शरीर में भी अभिव्यक्त हो गया। तीसरे, वह हाथ जोड़कर सिर झुका कर प्रणाम करने लगा –

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।

हमारी वास्तविक प्रार्थना तब प्रारम्भ होती है जब हमारी बुद्धि काम नहीं कर पाती। जब तक हमारी बुद्धि काम करती है तब तक हम समस्या का समाधान स्वयं ही खोजते रहते हैं, तो भला हम किसी दूसरे के सामने मस्तक क्यों झुकाने लगे? हम समर्पण तब करते हैं जब हमारी बुद्धि जवाब दे दे, हम स्वयं कुछ न कर पाएँ।

पहले विज्ञान ने हमें अहङ्कार से भर दिया था कि हम सब कुछ कर सकते हैं, ईश्वर की आवश्यकता नहीं। किन्तु अब हमें यह अहसास होने लगा कि बाहरी प्रकृति पर विज्ञान भले ही विजय पा ले किन्तु आन्तरिक प्रकृति – मनुष्य के स्वभाव– की शुद्धि के लिए धर्म ही एकमात्र शरण है। उसके लिए बुद्धि नहीं, भक्ति चाहिए। वह भक्ति अर्जुन में प्रकट हो गई तो वह प्रार्थना करने लगा।

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ–
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

अर्जुन बोले –

हे देव! मैं आपके शरीर में सब देवों को तथा भूत समूह को, कमल के आसन पर बैठे ब्रह्मा को, महादेव को, सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।।१५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं-
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

हे विश्वेश्वर! मैं आपका अनन्त रूप वाला वह सर्वव्यापी रूप देख रहा हूँ जिसकी अनेक भुजायें, उदर, मुख और नेत्र हैं। हे विश्वरूप न मैं आपका अन्त देख पाता हूँ न मध्य और न आदि।।१६।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।

मैं आपको मुकुट पहने, गदायुक्त, चक्रधारी, सब ओर से प्रकाशमान, तेजपुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान ज्योतियुक्त कठिनाई से देखे जा सकने योग्य तथा सभी ओर से अप्रमेय देख रहा हूँ।।१७।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

आप जानने योग्य परम अक्षर हैं, आप ही इस जगत् के सहारे हैं। आप अनादि धर्म की रक्षा करने वाले हैं, आप अविनाशी सनातन पुरुष हैं – ऐसा मेरा मत है।।१८।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं-
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

मैं आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित अनन्त सामर्थ्ययुक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र और सूर्य रूपी नेत्रों वाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेज से विश्व को तप्त करने वाले रूप में देख रहा हूँ।।१९।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं-
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

हे महात्मन्। ये द्यौ और पृथ्वी के बीच में सम्पूर्ण स्थान तथा सब दिशायें एक आपसे व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक व्यथित हो गये हैं।।२०।।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

ये समस्त देवगण आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कुछ भयभीत होकर अञ्जलिबद्ध स्तुति कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों के समूह स्वस्तिवाचन करते हुए उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं ।।२१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

ये आदित्य रुद्र और वसु सारे साध्य देव, अश्विनी कुमार और मनु, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समूह सब ही विस्मित होकर आपको देख रहे हैं॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

हे महाबाहो! आपके अनेक रूप, नेत्र, बाहु, जंघा, दाढ़ के कारण विकराल महान् रूप को देखकर सब लोग व्यथित हो गये हैं तथा मैं भी व्यथित हूँ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥२४॥

हे कृष्ण! आकाशस्पर्शी देदीप्यमान अनेक वर्णों से युक्त विस्तृत मुख वाले प्रदीप्त विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धैर्य और शान्ति नहीं रख पा रहा हूँ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥२५॥

हे देवेश! हे जगत् की शरण! आपके दाढ़ों के कारण विकराल प्रलय काल की अग्नि के समान मुखों को देखकर मैं दिङ्मूढ़ हो गया हूँ और शान्तिलाभ नहीं कर पा रहा ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७॥

ये सभी धृतराष्ट्र के पुत्र नृप-वृन्द सहित आप में प्रवेश कर रहे हैं। भीष्म, द्रोण और यह कर्ण हमारी ओर के प्रमुख योद्धाओं सहित आपके दाढ़ों के कारण विकराल भयानक रूप में बड़ी तेजी से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कुछ चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखाई दे रहे हैं ॥२६-२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति;
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥२८॥

जैसे नदियों के अनेक जल प्रवाह समुद्र की ओर बहते हैं वैसे ये मनुष्य भी आपके प्रज्वलित मुख में प्रवेश कर रहे हैं॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः;
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

जैसे पतंगे नाश के लिये प्रज्वलित अग्नि में तेजी से गिर जाते हैं उसी प्रकार ये सब लोग नाश के लिये आपके मुख में तेजी से प्रविष्ट हो रहे हैं॥२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥३०॥

आप समस्त लोकों को प्रज्वलित अग्नि द्वारा ग्रस्त करते हुए सब ओर से बारम्बार चाट रहे हैं। हे विष्णु! आपका यह उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज के द्वारा व्याप्त करके सता रहा है॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥३१॥

हे देव श्रेष्ठ! मुझे बतलाइये आपका यह उग्र रूप कौनसा है? आपको प्रणाम है, प्रसन्न हों, मैं आदि पुरुष आपको जानना चाहता हूँ, मैं आपकी गतिविधि को नहीं जान पा रहा हूँ॥३१॥

विपुल-भाष्य

अर्जुन की विराट्-स्तुति

दिव्य चक्षुओं से अर्जुन विराट् रूप को साक्षात् देख रहा है। वेदान्त में इसे ही अपरोक्षानुभूति कहा जाता है। दिव्य चक्षु का अर्थ है – साक्षिभाव। अर्जुन इस समय द्रष्टा है। उसका कर्तृभाव समाप्त हो गया है। जब तक कर्तृत्व है तब तक अहङ्कार है और जब तक अहङ्कार है तब तक हम सत्य को वैसा नहीं देख पाते जैसा सत्य है, अपितु हम सत्य को अपनी दृष्टि से रंगकर देखते रहते हैं। जब हम सत्य को अपनी दृष्टि से देखते हैं तो सत्य पौरुषेय हो जाता है किन्तु जब हम अपने अहं को हटा लेते हैं तो सत्य वैसा दिखाई देता है जैसा सत्य है; ऐसी स्थिति में सत्य अपौरुषेय हो जाता है। अपौरुषेय सत्य ही श्रुति है। यह श्रुति स्वतः प्रमाण है। श्रुति में तर्क का दखल नहीं होता।

तर्क से सदा परोक्ष ज्ञान ही होता है जबकि श्रुति प्रत्यक्ष ज्ञान का फलित है। स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष का परोक्ष द्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता।

किसी आचार्य ने गीता को श्रुति माना है किन्तु कुछ आचार्य गीता को स्मृति मानते हैं। स्वयं गीता की पुष्पिका में गीता अपने को उपनिषद् घोषित करती है। गीता का पूरा नाम है – श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्। इसका ही संक्षिप्त रूप हो गया – श्रीमद्भगवद्गीता। और भी संक्षिप्त रूप हो गया- गीता। अभिप्राय यह है कि गीता भी एक उपनिषद् है, एक श्रुति है, क्योंकि इसके वक्ता श्रीकृष्ण जो कुछ कह रहे हैं उसका आधार अपरोक्षानुभूति है। गीता में प्रतिपादित सत्य अपौरुषेय है, पौरुषेय नहीं। श्रीकृष्ण को जिस सत्य का साक्षात्कार है, अर्जुन भी उसी सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है, श्रीकृष्ण के सान्निध्य से अर्जुन को भी दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है और वह भी सत्य का सीधा साक्षात्कार कर सकता है। ऐसी स्थिति में उसका वक्तव्य भी श्रुति ही बन जाता है। साक्षात्कृतधर्मा ही ऋषि है। ऋषि का वचन ही श्रुति है। श्रीकृष्ण तो साक्षात्कृतधर्मा हैं ही, उनकी कृपा से अर्जुन भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हो जाता है। अतः उसके द्वारा की गई विराट् की स्तुति वेदमन्त्रवत् ही स्वतः प्रमाण है। इस स्तुति को देखें तो यह स्तुति वैसी ही है जैसी वेदों में दिए गए पुरुष सूक्त में अभिव्यक्त की गई है।

अनन्ताः वै वेदाः

पूछा जाता है कि क्या वेद अमुक समय तक ही बन पाए, उस समय के बाद वेद-मन्त्रों का निर्माण बन्द हो गया? क्या अब वेद की ऋचायें नहीं बन सकतीं? उत्तर यह है कि जहाँ भी सत्य की अपरोक्षानुभूति होगी और उसकी अभिव्यक्ति होगी वहाँ वह श्रुति ही कहलाएगी क्योंकि वह स्वतः प्रमाण होगी। इसी आधार पर गीता को श्रुति माना गया है। इसी आधार पर वेदों को अनन्त कहा गया है – अनन्ताः वै वेदाः। जो अनन्त है उसका प्रवाह कभी भी अवरुद्ध नहीं हो सकता।

अर्जुन विराट् रूप की स्तुति में वर्तमान काल का प्रयोग कर रहा है – मैं देख रहा हूँ – पश्यामि। 'पश्यामि' अपरोक्षानुभूति का सूचक है। अर्जुन जो कुछ कह रहा है उसे प्रत्यक्ष देख रहा है; यह सुनी-सुनाई बात नहीं है। इस घटना को तर्क के आधार पर नहीं नकारा जा सकता। जब अग्नि की उष्णता को हम प्रत्यक्ष द्वारा जान लेते हैं तो इस तर्क के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि अग्नि उष्ण कैसे हो सकती है।

जो कुछ मायोपहित है, वह सब प्रमेय है, सीमित है। विराट् अस्तित्व अप्रमेय है, प्रमाणातीत है। उसका न मध्य दिखाई देता है, न अन्त – **नान्तं, न मध्यं, न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप**। मध्य, आदि और अन्त के बीच का बिन्दु है। जिसका आदि और अन्त नहीं दिख रहा, उसका मध्य भी कैसे पता लगेगा? अर्जुन ऐसे विराट् रूप को देख कर स्तब्ध रह गया। उसे वह रूप दुर्निरीक्ष्य प्रतीत हो रहा है – **पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।**

यह श्रीकृष्ण का अव्यय रूप है। क्षर-पुरुष तो भौतिक है लेकिन उसे भी जानना सरल नहीं है। आधुनिक विज्ञान क्षर पुरुष की ही गवेषणा में लगा है। अब वह क्वाण्टम सिद्धान्त पर पहुँच कर एनर्जी को ही मूल मानते हुए अक्षर-पुरुष की सीमा का भी स्पर्श कर रहा है किन्तु अव्यय पुरुष आधुनिक विज्ञान का विषय नहीं है क्योंकि अव्यय पुरुष में अद्वैत-भाव है और अद्वैत ज्ञान का विषय है, विज्ञान का नहीं। श्रीकृष्ण क्षर-पुरुष ही नहीं है, अक्षर और अव्यय पुरुष भी हैं-

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।

परिच्छिन्नता ही पुरुष का लक्षण है – पुरि शेते। जहाँ परिच्छेद नहीं वह तो परात्पर है, वह शब्द का विषय नहीं है। रस को बल परिच्छिन्न करता है तो अव्यय पुरुष होता है। अव्यय पुरुष में भी परिच्छिन्नता है, किन्तु बलों का चयन नहीं है। बलों पर बलों का चयन होने पर अक्षर पुरुष का निर्माण होता है और यही बलों का चयन जब ग्रन्थि-बन्ध कर देता है तो क्षरपुरुष बनता है। यह विषय वेद-विज्ञान का है।

सारांश यह है कि आत्मा के तीन घटक हैं – मन, प्राण और वाक्। मन की कामना, प्राण का तप तथा वाक् का श्रम मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। मन, प्राण तथा वाक् से ही क्रमशः अव्यय-पुरुष, अक्षर-पुरुष तथा क्षर-पुरुष सम्बद्ध हैं। ये पुरुषत्रयी ही वेदितव्य – जानने योग्य है क्योंकि इसके जान लेने पर कुछ भी जानने को शेष नहीं रहता। या तो इस सृष्टि में ज्ञान है, या क्रिया, या अर्थ। ज्ञान का सम्बन्ध अव्यय से, क्रिया का अक्षर से तथा अर्थ अर्थात् पदार्थ का सम्बन्ध वाक् से है। इन तीन के अतिरिक्त शेष कुछ भी नहीं बचता जिसे जानना शेष हो। अर्थ अर्थात् मूर्त ऋक्तत्त्व है, क्रिया अर्थात् गति यजुस्तत्त्व है और ज्ञान अर्थात् तेज सामतत्त्व है। इस प्रकार पुरुषत्रयी वेदत्रयी से ही जुड़ी है।

सहस्रशीर्ष पुरुष

कहा जा चुका है कि अर्जुन द्वारा विराट्-तत्त्व की स्तुति वेद के पुरुष सूक्त का ही भाष्य है। यह विराट्-तत्त्व अनन्त है। इसमें सब समाविष्ट हैं, अतः इसके अनन्त बाहु हैं। शशि और सूर्य इसके नेत्र हैं। यह सर्वव्यापक है। इसका रूप अत्यन्त उग्र है। ऋषि, सिद्ध, देव, गन्धर्व, यक्ष, असुर सभी इसे देख कर विस्मित हैं – सबका गर्व इसके सम्मुख चूर-चूर हो रहा है। सहस्रशीर्षा पुरुषः इत्यादि श्रुति का ही अनुवाद करते हुए अर्जुन कहता है कि इसके अनेक मुख, नेत्र, बाहु, पाद हैं। उसकी दंष्ट्रा देख कर सभी आकुल-व्याकुल हो उठते हैं।

विराट् को देखकर हमारी क्षुद्रता विलीन हो जाती है। जब तक हमारी दृष्टि विराट् पर न जाए तब तक ही हम इस क्षुद्रता में सम्मोहित रहते हैं, किन्तु विराट् पर दृष्टि जाते ही यह अहङ्कार टूट जाता है कि मैं बहुत कुछ अथवा सब कुछ हूँ। प्रतीति होने लगती है कि मैं तो कुछ भी नहीं हूँ। इसी प्रतीति को भगवान् बुद्ध ने शून्यता नाम दिया है। हम विराट् में से उत्पन्न होते हैं, विराट् में ही स्थित है तथा विराट् में ही लीन हो जाते हैं। विराट् ही है, हम तो हैं ही नहीं। जब यह प्रतीति होती है कि मैं विराट् के सम्मुख हूँ ही नहीं तो एक बारगी व्यक्ति हड़बड़ा कर कह उठता है कि मुझे दिशायें सूझ नहीं रहीं और कहीं भी शरण दृष्टिगोचर नहीं हो रही, हे प्रभो आप कृपा करें –

दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश जगन्निवास।

यही लगता है कि सब शून्य में विलीन हो रहे हैं। अर्जुन के सम्मुख उस समय जो भी खड़े थे – भीष्म, द्रोण, कर्ण, कौरव तथा पाण्डव पक्ष के योद्धा – वे उस विराट् में समाते हुए दिखने लगे। उस दृश्य का काव्यात्मक भाषा में निरूपण करते हुए अर्जुन कहता है कि ये सब हड़बड़ा कर विराट् पुरुष की कराल दंष्ट्रा में प्रविष्ट हो रहे हैं। इनमें से कुछ विराट् के दाँतों के बीच फँस कर रह गए हैं तथा उनके सिर चूर्ण बन गए हैं –

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशानान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।

हम सब निरन्तर प्रतिक्षण शून्य में विलीन होने की ओर ही तो अग्रसर हो रहे हैं, जिस स्थिति को मृत्यु कहा जाता है। जो अमीर से अमीर हो रहे हैं अथवा गरीब से गरीब हो रहे हैं, बलवान् हो रहे हैं या निर्बल हो रहे हैं, सम्मानित हो रहे हैं या अपमानित – इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि सब मौत की ओर ही बढ़ रहे हैं। व्यक्ति के जीवन की गति ऊपर की ओर हो या नीचे की ओर, सब एक ही गति को प्राप्त करते हैं जिसे मृत्यु कहा जाता है। संसार में कोई अटल सत्य है तो वह मृत्यु है। यह भी पक्का नहीं है कि कल सूर्य उदित हो या न हो। कोई ऐसी प्राकृतिक घटना घट सकती है कि सूर्य का कल पता ही न चले कि कहाँ गया। किन्तु इतना निश्चित है कि जिसका जन्म हुआ है वह मरेगा अवश्य। जैसे पतङ्गे प्रज्वलित दीपक में गिर कर स्वाहा हो जाते हैं, ऐसे सब लोग तेजी से चल कर मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाते हैं –

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः;
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

किसी अन्य गन्तव्य की ओर हमें जाना हो तो बीच-बीच में थोड़ा विश्राम भी कर लेते हैं, किन्तु मृत्यु की ओर हम निरन्तर – बिना विश्राम किए – चलते रहते हैं, कोई क्षण ऐसा नहीं जिस क्षण में हमारा चरण मृत्यु की ओर न बढ़ता हो।

अर्जुन भाई-बन्धुओं की मृत्यु से भयभीत था। युद्ध में अपनी मृत्यु का भी भय रहता ही है। यहाँ विराट् रूप में मृत्यु की अपरिहार्यता देख कर अर्जुन ने यह समझ लिया कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। जो अवश्यम्भावी है वह होगा, भले हम उससे कितना ही डरें। अतः डरना निरर्थक है। मृत्यु हमारी अन्तिम नियति है। मृत्यु में निमित्त कुछ भी हो सकता है – व्याधि, जरा, दुर्घटना, शस्त्र-प्रहार लेकिन मृत्यु होगी और कोई न कोई निमित्त ढूँढ़ लेगी। अर्जुन भीष्म, द्रोण या कर्ण को मारने वाला नहीं है; मरने वाले तो स्वयं मरेंगे, अर्जुन उसमें निमित्त ही बन सकता है। अर्जुन निमित्त न बने तो भीष्मादि सदा बने रहेंगे – ऐसा नहीं है।

जीवो जीवस्य भोजनम्

गीता युद्ध का दर्शन है। युद्ध उपलक्षण है उस संघर्ष का, जो जीवन में निरन्तर चलता है। हमारा अस्तित्व ही संघर्ष पर टिका है। यदि हम हिंसा से डरें तो भोजन भी नहीं कर सकते। चाहे हम शाकाहारी ही क्यों न हों, वनस्पति की हिंसा के बिना तो तब भी पेट नहीं भर सकता। संसार की प्रकृति ही ऐसी है कि जीव ही जीव का भोजन बनता है – **जीवो जीवस्य भोजनम्**। किन्तु यह तो स्थूल हिंसा की बात हुई। वस्तुतः भोजन के लिए ही सारा संघर्ष है। मान लें एक अध्यापक का पद विज्ञापित हुआ। दस अभ्यर्थी साक्षात्कार के लिए आए, जिनमें आप भी एक थे। आपका चयन हो गया, दूसरे नौ नौकरी नहीं पा सके। उन नौ को कष्ट होना स्वाभाविक है। क्या उन नौ की हिंसा के भय से आप नौकरी के लिए संघर्ष नहीं करेंगे? यदि आप हिंसा से इस प्रकार भयभीत हो जाएँ तो जीवन चलाना ही दुर्लभ हो जाएगा। प्रतिस्पर्द्धा तो पदे-पदे है।

ऐसी स्थिति में स्थूल दृष्टि से दो विकल्प दिखाई देते हैं – एक विकल्प है प्रतिस्पर्द्धा छोड़कर भिक्षा-चर्य्या से जीवनयापन तथा दूसरा विकल्प है प्रतिस्पर्धापूर्वक अपनी योग्यता तथा आवश्यकता के अनुसार सामग्री जुटाने के लिए संघर्ष। अर्जुन दूसरे विकल्प में पाप मानकर पहला विकल्प अपनाना चाहता था। श्रीकृष्ण ने उसे बताया कि एक तीसरा विकल्प भी है। व्यक्ति प्रतिस्पर्द्धा से पीछे न हटे, संघर्ष करे, युद्ध करे किन्तु हार-जीत की चिन्ता न करे। संघर्ष हमारा कर्त्तव्य है, जन्म-सिद्ध अधिकार है; उसके पीछे जो फलेच्छा का राग-द्वेष हमने जोड़ा है, वही हमारी अनधिकृत चेष्टा है। पाप राग-द्वेष में है, संघर्ष में नहीं। यह प्रवृत्ति में निवृत्त रह सकने की कला सिखाना ही गीता की अपूर्वता है। अर्जुन अपने अधिकार के लिए लड़े। इस प्रक्रिया में यदि भीष्म, द्रोण अथवा कर्ण मारे जाते हैं तो अर्जुन ने तो अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए युद्ध लड़ा था, भीष्मादि को मारने के लिए नहीं, फिर भी वे मारे गए तो अर्जुन उनको मारने वाला कहाँ बनता है? वह तो उनकी मृत्यु में निमित्त ही बना। न उसे उनके प्रति द्वेष रखने की आवश्यकता है, न उस जैसे वीरों को मारने का अहंकार पालने की आवश्यकता है, और न राज्य प्राप्ति का लोभ करने की आवश्यकता है। ऐसे युद्ध में पाप नहीं होगा।

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

श्रीभगवान् बोले –

मैं लोकों का नाश करने वाला प्रवृद्ध काल हूँ। मैं इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हूँ। जो प्रतिपक्षीदल में स्थित योद्धा हैं वे तुम्हारे बिना भी नहीं रहेंगे॥३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

अतः तुम उठो, यश प्राप्त करो, शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का भोग करो। ये मेरे द्वारा पहले ही मार दिये गये हैं। हे सव्यसचिन्! तुम केवल निमित्त बन जाओ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य सब भी जो मेरे द्वारा मार ही दिये गये हैं, उन्हें तुम मारो, व्यथित मत होओ; तुम रण में जीतोगे, युद्ध करो॥३४॥

विपुल-भाष्य

भगवान् की न्यायशीलता

श्रीकृष्ण अपने सौम्य रूप में अर्जुन के सारथि बने हुए थे। विराट् रूप में उनका उग्र रूप प्रकट हुआ। विराट् तो अपने में समग्र को समेटे है – सौम्य को भी और उग्र को भी। सौम्य रूप को तो अर्जुन सदा से देखता ही आ रहा था किन्तु उग्र रूप को देख कर उसे कुछ समझ में नहीं आया कि भगवान् का ऐसा भयङ्कर रूप भी कैसे हो सकता है। हम सामान्यतः भगवान् के सौम्य रूप से ही परिचित हैं – वे दयालु हैं, रक्षक हैं, वरदाता हैं। किन्तु सत्य यह है कि वे प्रलयङ्कर भी हैं। श्रीकृष्ण यदि बाँसुरी बजा सकते हैं तो सुदर्शन चक्र भी चला सकते हैं। वेदों में प्रार्थना है कि हे भगवन्! आप मन्यु (=सात्विक रोष) हैं, मुझे भी मन्यु प्रदान करें। माली केवल पौधों को सींचता ही नहीं है, बेकार उग आई घास-फूस को काटता भी है। वैद्य के लिए कभी-कभी कटु औषधि से भी उपचार करना आवश्यक हो जाता है, सर्जन को सड़ा-गला अङ्ग काटना भी पड़ता है और न्यायाधीशों को घृणित अपराध करने वाले को मृत्युदण्ड भी देना पड़ता है। तथापि हम वैद्य अथवा न्यायाधीश को भगवद्रूप ही मानते हैं।

एक वाक्य प्रसिद्ध है कि वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं है – वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। वेद नाम ज्ञान का है। हम किसी पर प्रहार दो कारणों से करते हैं – राग-द्वेष वश किया गया प्रहार हिंसा है, ज्ञानपूर्वक किया गया प्रहार हिंसा नहीं है। माली बेकार के घास-फूस को अथवा न्यायाधीश घृणित अपराधी को इसलिए नष्ट नहीं करता कि उसे उनसे कोई व्यक्तिगत द्वेष है अथवा उनको नष्ट कर देने से उनका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध होने वाला है। वे तो सामूहिक हित के लिए ऐसा करते हैं। माली को यह ज्ञान है कि अमुक-अमुक घास-फूस निरर्थक है जो लाभकारी वनस्पतियों को नहीं पनपने देंगे, अतः वह उस घास-फूस को उखाड़ डालता है। वह ज्ञानपूर्वक किया गया कर्म है, राग-द्वेषवश किया गया कर्म नहीं। यह हिंसा नहीं है। न्यायाधीश न्याय के नियमानुसार अपराधी को दंडित करता है,

व्यक्तिगत राग-द्वेषवश नहीं। नियम व्यवस्था बनाए रखने के लिए बने हैं। उनका लक्ष्य सामूहिक हित है, व्यक्तिगत हित नहीं। उन नियमों के अधीन किसी को दण्डित करने वाला न्यायाधीश क्रूर नहीं, दयालु ही है।

क्रूरता और दयालुता

भगवान् भी न्यायाधीश हैं। उन्हें कभी-कभी उग्र रूप भी धारण करना पड़ता है। यह उग्रता उनकी क्रूरता नहीं, दयालुता ही है। अर्जुन पूछ रहा है कि हे कृष्ण, आप अपने उग्र रूप को मुझे समझाएँ कि आपका यह उग्र रूप क्या है। आप मुझ पर तो कृपादृष्टि ही बनाए रखें। मैं आपकी इस प्रवृत्ति को समझ नहीं पा रहा कि आप इतना विकराल रूप क्यों बनाए हैं –

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥

अर्जुन पहले ही कह चुका है कि उसके लिए श्रीकृष्ण का उग्र रूप दुर्निरीक्ष्य है। वह उस रूप को देख कर अपनी घबराहट भी अभिव्यक्त कर चुका है। अतः यह आवश्यक है कि श्रीकृष्ण न केवल अपने उग्र रूप का प्रयोजन स्पष्ट करें अपितु सांत्वना भी प्रदान करें।

प्रथम श्रीकृष्ण अपने उग्र रूप का प्रयोजन प्रकट करते हैं। वे दुर्योधन के पास पाण्डवों की ओर से सन्धि का प्रस्ताव लेकर गए थे। उन्होंने पाण्डवों के लिए केवल पाँच गाँव माँगे थे। दुर्योधन की मौत नजदीक थी अतः यह सन्धि का प्रस्ताव उसे नहीं रुचा। उसने अत्यन्त उद्दण्डतापूर्वक कहा कि वह तो सुई की नोक के बराबर भी भूमि बिना युद्ध किए नहीं देगा – सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव। जैसे कोई माँ बच्चे को पहले प्रेम से समझाती है किन्तु यदि वह प्रेम से न समझे तो उसे दण्डित भी करती है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने प्रथम तो सन्धि का अत्यन्त उदार प्रस्ताव रखा। जब दुर्योधन ने वह प्रस्ताव ठुकरा दिया तो युद्ध के अतिरिक्त कोई विकल्प शेष नहीं रह गया था। यही श्रीकृष्ण के उग्र रूप प्रकट करने का प्रयोजन है। वे युद्धवादी नहीं हैं किन्तु वे ऐसे शान्तिवादी भी नहीं हैं कि अन्याय को चुपचाप सहन करते रहें। ऐसी स्थिति में उन्होंने कहा कि मैं संहार करने के लिए प्रचण्ड काल रूप बन गया हूँ। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात उन्होंने यह कही कि विपक्ष में खड़े योद्धा अर्जुन के बिना मारे भी नष्ट हो जाएँगे। व्यक्ति अपने पाप के बोझ से स्वयं ही मर जाता है, उसे मारने वाला तो केवल निमित्त बनता है। दुर्योधन के पक्ष में भीष्म, द्रोणादि द्रौपदी की लाज लूटे जाते समय जिस तरह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे, वह पाप उन्हें पहले ही मार चुका है। उन्हें कोई बचा नहीं सकता –

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

पापी को उसका पाप मारता है, या पापी को भगवान् मारता है – दोनों एक ही बात है। भगवान् द्वारा कुछ नियम निर्धारित हैं जिनके अन्तर्गत जीव अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है। अब हम चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि जीव को कर्मों का फल स्वयं ही मिल जाता है और चाहे तो यह भी कह सकते हैं कि भगवान् कर्मों का फल देता है। भाषा का ही भेद है, भाव एक ही है। अतः अगले श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन के प्रतिपक्षी उनके द्वारा पहले ही मार दिए गए हैं, उसे तो केवल निमित्त बन कर यश का भागी बनना है और राज्य का सुख भोगना है –

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

एक शब्द है – नियति। नियति का अर्थ यदृच्छा – मनमानी नहीं है। नियति का अर्थ है, नियमों द्वारा नियत किया गया। कारण-कार्य सम्बन्ध ही नियति है। यदि कारण उपस्थित है तो कार्य होगा ही। यदि हम कारण को पहचानते हैं तो भविष्य में घटित होने वाले कार्य की भविष्यवाणी की जा सकती है। यदि हम जानते हैं कि आग जलाती है तो

आग में हाथ डालने वाले व्यक्ति के हाथ जलने से पहले ही हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उसका हाथ जलना नियत है – अवश्यम्भावी है। यही नियति है। भीष्मादि का पाप उनकी मृत्यु का कारण है। हम जानते हैं कि उन्होंने पाप किया है तो हम यह भविष्यवाणी भी कर सकते हैं कि उनका विनाश होगा। इस भविष्यवाणी का आधार कारण-कार्य सम्बन्ध का ज्ञान है।

पाप विनाश का कारण

भीष्मादि मरेंगे अपने पाप से। पाप उनके विनाश का कारण है। अर्जुन उनकी मृत्यु का कारण नहीं है, वह केवल उनकी मृत्यु का निमित्त है। अर्जुन गलती से यह समझ रहा है कि वह भीष्मादि को मारेगा; भीष्मादि को उनका पाप पहले ही मार चुका है, अर्जुन केवल निमित्त बनेगा। कार्य के लिए कारण निश्चित होता है; निमित्त नहीं। निमित्त अर्जुन नहीं बनेगा तो कोई और बन जाएगा। कारण तो कार्य में ही छिपा रहता है, निमित्त कार्य से बाहर रहता है। घड़े का कारण मिट्टी है जो घड़े में ही छिपी है। जिस गधे पर ढो कर मिट्टी लाई गई है, वह गधा निमित्त मात्र है। मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बन सकता, गधे के बिना भी बन सकता है। गधे पर मिट्टी नहीं लाई जाएगी तो बैलगाड़ी पर आ जाएगी, ट्रक में आ जाएगी। न्यायशास्त्र में कारण को निमित्त से अलग करने के लिए कारण को उपादान कारण तथा निमित्त को निमित्त कारण कहा जाता है। कभी-कभी निमित्त इतना सक्रिय होता है और उपादान इतना निष्क्रिय सा प्रतीत होता है कि लगता है कि निमित्त ने काम किया। पर निमित्त सदा अन्यथासिद्ध होता है, एक निमित्त के अभाव में कुछ और निमित्त बन सकता है किन्तु उपादान कारण का विकल्प नहीं होता।

भीष्मादि का पाप उनके विनाश का उपादान कारण है किन्तु पाप तो सूक्ष्म है, दिखाई देता नहीं। दिखाई देता है अर्जुन का बाण चलाना तो अज्ञानी समझता है कि अर्जुन ने भीष्म को मारा। स्वयं अर्जुन भी यही समझ कर पितामहादि के मारने के पाप की आशङ्का से युद्ध से विमुख होना चाहता है। श्रीकृष्ण उसके इसी अज्ञान और अज्ञानजनित अहङ्कार को दूर कर रहे हैं कि वह भीष्मादि को मारेगा।

यहाँ 'सव्यसाची' विशेषण महत्त्वपूर्ण है। सव्यसाची का अर्थ है – बाएँ हाथ से भी बाण चला सकने वाला। हम दाएँ हाथ से तो बाण चलाते ही हैं किन्तु अर्जुन बाएँ हाथ से भी बाण चलाने में कुशल है। यदि दायाँ हाथ बाण न चला पाए तो वह बाएँ हाथ से भी बाण चला लेगा। हाथ बाण चलाने में निमित्त ही है। एक हाथ निमित्त न बनेगा, तो दूसरा हाथ निमित्त बन जाएगा।

शङ्का हो सकती है कि अर्जुन भीष्मादि को पूर्व में ही मरा हुआ मान कर युद्ध में अपना पुरुषार्थ दिखलाने में शिथिलता बरत सकता है। हम सब भी नियति को मान कर पुरुषार्थ छोड़ सकते हैं। उत्तर यह है कि शिथिलता दिखलाना अर्जुन की प्रकृति में नहीं है। अर्जुन तो 'सव्यसाची' है, इतना कुशल है कि बाएँ हाथ से भी बाण का सन्धान कर लेता है। उसकी प्रकृति उसे प्रमाद नहीं करने देगी – प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति। लोग आरोप लगाते हैं कि कर्मवाद ने भारतीयों को आलसी बना दिया। बुद्ध, महावीर, शङ्कर – ये सभी कर्मवादी थे, लेकिन इन जैसा पुरुषार्थी संसार में ढूँढ़ना कठिन है। शङ्कराचार्य ने ३२ वर्ष की अल्पायु में जो कार्य किया वे बड़े-बड़े तथाकथित पुरुषार्थी ८२ वर्ष की आयु पा कर भी नहीं कर पाते।

पुरुषार्थ में बाधक नियतिवाद नहीं, कर्तृत्व का अहङ्कार है। हमारी शक्ति कर्म में कम लगती है अहङ्कार के पोषण में अधिक लगती है। मैंने किया अथवा मैं करूँगा अथवा मैं कर रहा हूँ – इस प्रकार तीनों काल में 'मैं' ही मुख्य हो जाता है, करना गौण हो जाता है। नियम अपना कार्य कर रहे हैं, मैं उन्हीं नियमों से बँधा हुआ नियमों के क्रियान्वयन में निमित्त बन रहा हूँ - यह सच्चा नियतिवाद है जो व्यक्ति को कर्तृत्व के अहङ्कार से इस प्रकार मुक्त कर देता है कि केवल क्रियां शेष रह जाती है, कर्त्ता विलीन हो जाता है। वैसी स्थिति में ही सच्चा पुरुषार्थ हो पाता है। जिसे हम पुरुषार्थ समझ बैठे हैं, वह तो अपने पर अहङ्कार की कीचड़ लपेटना है। संसार का नियन्ता नियम है, व्यक्ति नहीं। यदि व्यक्ति संसार के नियन्ता बन जाएँ तो संसार एक क्षण में ही तहस-नहस हो जाए। उन नियमों का

नाम जिनसे संसार सञ्चालित हो रहा है, ऋत है। यह वेद का ऋत ही लातीनी भाषा में रैक्टस (Rectus) कहलाता है जिससे अंग्रेजी का राइट (Right) शब्द निकला है। उचित वह है, जो नियमानुकूल हो।

धर्म की विजय

जैसे भीष्मादि पाप से मरेंगे, वैसे पाण्डवों का पक्ष न्याय का पक्ष होने के कारण विजयी होगा। अभी तक श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मरने के लिए भी तैयार रहने को कहा था – **हतश्चेत्प्राप्स्यसि स्वर्गम्।** युद्ध में हार-जीत दोनों ही सम्भव हैं। अर्जुन भी कह रहा था कि यह निश्चित नहीं है कि वह जीत ही जाएगा। यह सामान्य समझ की बात है। किन्तु गहरी बात यह है कि जहाँ धर्म है वहाँ विजय ही होती है – **यतो धर्मस्ततो जयः।** पाण्डवों का पक्ष न्याय का है। अतः वहाँ पराजय का प्रश्न नहीं है –

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण का उग्र रूप देख कर अर्जुन को जो घबराहट हो गई थी उसे शान्त करते हुए श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कर दिया कि वे धर्मात्माओं के लिए सौम्य रूप है तो पापात्माओं के लिए प्रचण्ड रूप भी हैं। पापात्माओं के लिए उनकी प्रचण्ड रूपता उनकी क्रूरता नहीं है बल्कि उसी प्रकार की दयालुता है जैसी दयालुता उस सर्जन की होती है जो हमारे विषाक्त अङ्ग को काट कर फैंक देता है।

यह समझ आने पर अर्जुन का भय दूर हुआ और वह पुनः भगवान् की स्तुति में प्रवृत्त हो गया।

मूल तथा अनुवाद

सञ्जय उवाच –

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

सञ्जय बोले –

श्रीकृष्ण के यह वचन सुनकर मुकुटधारी अर्जुन काँपते हुए नमस्कार करके पुनः भयभीत होकर प्रणाम करके श्रीकृष्ण को गद्गद स्वर में बोले॥३५॥

अर्जुन उवाच –

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥३६॥

अर्जुन बोले –

हे हृषीकेश! यह ठीक ही है कि आपके प्रताप से जगत् आनन्दित है, अनुरक्त है, भयभीत राक्षस पलायन कर रहे हैं और सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

हे अनन्त! देवेश! जगत् के आश्रय! जो सत्, असत् तथा उससे परे अक्षर तत्त्व है, वह आप ही हैं (तो) हे महात्मन्! ब्रह्मा के भी प्रथम उत्पादक गौरव-युक्त आपको वे क्यों नमस्कार न करें?॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥

आप आदिदेव पुराण पुरुष हैं। आप इस जगत् के परम अवलम्बन हैं। ज्ञाता और ज्ञेय हैं। परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे जगत् ओतप्रोत है॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥३९॥

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह हैं। आपको हजार बार नमस्कार हो, नमस्कार हो! आपको पुनः-पुनः भी नमस्कार, नमस्कार॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥४०॥

हे अनन्तसामर्थ्यशालिन्! आपको सामने से और पीछे से भी नमस्कार! आपको सब ओर से नमस्कार हो। अनन्त विक्रमशालिन्! आप सबको व्याप्त किये हुए हैं। आप सर्वरूप हैं॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं-
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं-
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥४२॥

जो मैंने गर्वपूर्वक आपके इस प्रताप को न जानते हुए,(आपको) मित्र मानकर, प्रेम से अथवा प्रमाद से हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! ऐसा कहा है, हे अच्युत! जो विनोद के लिये, विहार, शय्या अथवा बैठते

अथवा भोजन के समय एकान्त में या सबके सामने आपका असत्कार किया है उस सबके लिए, अचिन्त्य रूप आपसे मैं क्षमा चाहता हूँ।।४१-४२।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

आप इस चराचर जगत् के पिता हैं, सर्वोत्कृष्ट गुरु हैं, पूज्य हैं। अनुपम प्रभावशील! त्रिलोकी में आपके समान कोई भी दूसरा नहीं है।।४३।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

इसलिये मैं शरीर को समाहित कर प्रणम्य तथा स्तुत्य आप ईश को प्रसन्न करता हूँ। जैसे पिता पुत्र का, सखा सखा का तथा पति प्रियतमा पत्नी का (अपराध) सहन करते हैं, वैसे ही हे देव! (आपके लिये भी) सहन करना उचित है।।४४।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं-
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

मैं पहले (कभी भी) न देखे हुए (इस रूप) को देखकर हर्षित हो रहा हूँ। मेरा मन भय से व्यथित है। अतः देवरूप आप अपने उसी देवरूप को मुझे दिखायें। हे देवेश! जगन्निवास! आप प्रसन्न हों।।४५।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

मैं आपको वैसा ही मुकुटधारी चक्र-गदा हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूँ। हे विश्वमूर्ते! सहस्रबाहो! उसी चतुर्भुज रूप में प्रकट होइये।।४६।।

विपुल-भाष्य

अर्जुन की प्रार्थना

गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् और भक्त का सम्वाद है। भक्त भी साधारण नहीं, अर्जुन है जो साक्षात् अपने सम्मुख भगवान् श्रीकृष्ण के विराट् रूप को देख रहा है – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। श्रीकृष्ण की कृपा से अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है और उसे श्रीकृष्ण अपने अलौकिक रूप में दिखाई दे रहे हैं। परम्परा श्रीकृष्ण को नारायण तथा अर्जुन को नर मानती है। इस परम्परा का यह अर्थ है कि श्रीकृष्ण भगवान् की सम्पूर्ण विभूति के

प्रतिनिधि हैं क्योंकि वे अंशावतार न होकर षोडश कलावतार हैं और अर्जुन को नर कहने का यह अभिप्राय है कि वह एक व्यक्ति न होकर सम्पूर्ण मानव जाति का प्रतिनिधि है। विभूति की अपेक्षा श्रीकृष्ण, भगवान् अर्थात् भग (ऐश्वर्य्य) से युक्त है किन्तु नर की अन्तिम नियति होने की अपेक्षा वे नारायण अर्थात् नर के अयन अर्थात् अन्तिम शरण भी हैं। मनुष्य की दो ही गति हैं – मृत्यु अथवा नारायण। सामान्यतः व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है तो फिर जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता है – पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्। किन्तु यदि वह नारायण की शरण में आ जाए तो फिर वह जन्म-मरण के चक्र से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है। जन्म-मरण के चक्र में तो पशु-पक्षी भी फँसे ही हैं, नर तो वही है जिसने नारायण की शरण लेकर जन्म-मरण के चक्र से सदा-सदा के लिए मुक्ति पा ली – **यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।** अर्जुन और श्रीकृष्ण की जोड़ी नर-नारायण की जोड़ी है। अहङ्कार का विसर्जन ही नरत्व है, अहङ्कार ही पशुत्व है। जैसे ही हम अहङ्कार का विसर्जन करते हैं और पशुत्व से नरत्व को प्राप्त होते हैं वैसे ही हमें नारायण के विराट् रूप के दर्शन हो जाते हैं।

कुछ भाष्यकारों ने वेदों में भी कृष्णार्जुन संवाद को घटित किया है। जो श्रीकृष्ण और अर्जुन को महाभारतकाल के ऐतिहासिक पात्र मान रहे हैं, उनके लिए वेदों में श्रीकृष्ण और अर्जुन की चर्चा ढूँढना नितान्त गलत होगा क्योंकि वेद श्रीकृष्ण और अर्जुन के जन्म से बहुत पहले बन चुके थे फिर उनमें श्रीकृष्ण अथवा अर्जुन की चर्चा कैसे हो सकती है? किन्तु यदि श्रीकृष्ण को नारायण और अर्जुन को नर माना जाए तो नर-नारायण का संवाद एक शाश्वत घटना हो जाती है और वेदों में उसका उल्लेख होना असङ्गत नहीं रह जाता।

वेदों में इतिहास

यह एक मनोरंजक विवाद है कि वेदों में इतिहास है या नहीं। वेदों में इतिहास है तो फिर यह मानना होगा कि वे घटनाएँ पहले घटीं और वेद उसके बाद बने। इससे वेदों की नित्यता अथवा अपौरुषेयता अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर द्वारा वेदों के निर्माण के सिद्धान्त में बाधा आती है। किन्तु वेदों के अनेक अंशों में घटनाओं का उल्लेख तो है जैसे इन्द्र-वृत्र युद्ध का वर्णन वेदों में है। मीमांसक वेदों को नित्य मानते हैं। उन्होंने ऐसे इतिहास को भी नित्य माना है जिसका वर्णन वेदों में है, अर्थात् इन्द्र-वृत्र के युद्ध जैसी घटनाओं की सदा से पुनरावृत्ति होती आई है। अतः ऐसे इतिहास का वर्णन वेदों में मिलने से वेदों की नित्यता में बाधा नहीं आती। नर-नारायण रूप में अर्जुन तथा श्रीकृष्ण का सम्वाद भी नित्य इतिहास है। जब भी किसी साधक का अहङ्कार विगलित होता है और उसे दिव्य दृष्टि से नारायण के विराट् रूप का दर्शन होता है तो उसकी वही मनःस्थिति बनती है जो कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में श्रीकृष्ण के सम्मुख अर्जुन की बनी। अतः अर्जुन द्वारा जो प्रार्थना श्रीकृष्ण की गीता के ग्यारहवें अध्याय में की गई है, वह एक भक्त की आदर्श प्रार्थना है। किसी भी भक्त के मुख से अर्जुन वाली मनःस्थिति होने पर वही प्रार्थना निकलेगी। अतः वह प्रार्थना एक शाश्वत प्रार्थना है। इसी दृष्टि से उस प्रार्थना पर विचार करना चाहिए। पहली बात इस प्रार्थना में यह मिलेगी कि अर्जुन की इस प्रार्थना में आश्चर्य, आनंद और भय का भाव तो है किन्तु कोई माँग नहीं है। जब तक हमारे सम्मुख भगवान् का स्वरूप प्रकट नहीं होता, तब तक ही हम ऐसा सोचते हैं कि भगवान् से पद, प्रतिष्ठा, पैसा, पुत्र, यश, विजय आदि माँगेंगे, किन्तु भगवान् का आमना-सामना होने पर ये सब इच्छाएँ – यहाँ तक कि मोक्ष की इच्छा भी – अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होने लगती है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की स्तुति में चार-चार पंक्तियों वाले लगभग २५ श्लोक पढ़े किन्तु कहीं भी उसने कोई कामना नहीं की, यद्यपि वह युद्ध भूमि में खड़ा था और वह अपनी विजय तथा शत्रु की पराजय की कामना सहज ही कर सकता था। किन्तु वस्तुतः कामना की उपस्थिति तथा परमात्म-दर्शन में वैसा ही विरोध है जैसे अन्धकार और प्रकाश में है। कामना है तो परमात्म दर्शन नहीं हो सकता और परमात्म-दर्शन हो जाए तो कामना नहीं टिक सकती। दूसरे शब्दों में कामना ही तो जीव को ब्रह्म नहीं होने देती। कामना गई तो जीव तो ब्रह्म है ही - **जीवो ब्रह्मैव नापरः।** श्रीकृष्ण जैसा गुरु मिल जाए तो कामना स्वतः ही विलीन हो जाती है। गुरु का काम कामनाओं का विलय करना है, कामनाओं की पूर्ति करना नहीं। श्रीकृष्ण के सम्मुख अर्जुन में कोई कामना शेष नहीं रही। यही श्रीकृष्ण का जगद्गुरुत्व है – **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।**

आप्तकाम

एक शब्द आता है – आप्तकाम। आप्तकाम के दो आयाम हैं – कामनाओं का विलीन हो जाना और सभी कामनाओं का सिद्ध हो जाना। भक्ति में कोई कामना शेष नहीं रहती और भगवान् उसकी सब कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार भक्त दोनों अर्थों में आप्तकाम होता है। अर्जुन कुछ नहीं माँग रहा और भगवान् उसे सब कुछ दे रहे हैं। अर्जुन कामना रहित है - यह निःश्रेयस की सिद्धि हो गई। कामना गई तो मोक्ष हो ही गया। भगवान् उसे यश, राज्य सब कुछ दे रहे हैं – यह अभ्युदय की सिद्धि हो गई। बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख। यह प्रार्थना करने की कला है। कठोपनिषद् में नचिकेता को यमराज सारे लौकिक पदार्थ देना चाहते हैं किन्तु नचिकेता स्त्री, पुत्र, धन, हाथी घोड़े सबको ठुकरा देता है। यह उसकी निष्कामता है। साथ ही वह एक वाक्य कहता है कि देवदर्शन कभी निष्फल नहीं जाता। उसे देवदर्शन हुआ है तो समस्त सम्पदा तो उसे मिल ही जाएगी, फिर भिखमंगापन क्यों प्रदर्शित करना – **लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।** यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य है। वेद अथवा गीता निष्कामता के पोषक हैं, दरिद्रता के नहीं। नारायण को माँग लो, लक्ष्मी तो उनका अविभाज्य अर्धाङ्ग होने से स्वयं ही मिल जाएगी। लक्ष्मी को माँगोगे तो वह तो मिलेगी नहीं, नारायण से भी चूक जाएँगे। यही तो वह रहस्य है जिसके कारण कणाद ने धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस, दोनों को साधने वाला बताया है। अतः प्रार्थना में कामना नहीं है, वासना नहीं है, है केवल भगवान् का गुणानुवाद और आभार प्रदर्शन, कृत-कृत्यता का भाव। अर्जुन कहता है कि भगवान् के गुणानुवाद में ही समस्त प्राणी अनुरक्त हैं। वे आदिपुरुष हैं, मूल कारण हैं। वे परमज्ञानी हैं, चरम वेदितव्य हैं। वे सर्वथा नमस्य हैं –

नमः पुरस्तादथ पृष्ठस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

नमस्कार का अर्थ है – झुकना। व्यक्ति सहज ही अपने को सर्वोपरि मानता है। वह किसी के सम्मुख क्यों झुके? बहुत से लोग चरण-स्पर्श करने अथवा हाथ जोड़ कर नमस्कार करने की परम्परा को भी सामन्तवादी युग की दासता मनोवृत्ति का प्रतीक मानते हैं और हाथ हिलाकर 'हाय, बाई-बाई' आदि शब्दों के उच्चारण को आधुनिकता तथा प्रगतिशीलता का सूचक मानते हैं। मनुष्य मनुष्य के सामने झुके अथवा मनुष्य मनुष्य को झुकाए – यह सचमुच उचित प्रतीत नहीं होता। किन्तु भारतीय परम्परा में झुकने का – नमन करने का – कुछ गहरा अर्थ है। हम व्यक्ति को नहीं, व्यक्ति में बैठे भगवान् को प्रणाम करते हैं – **सियाराममय सब जग जानी, करहूं प्रणाम जोरी जुग पाणि।** मनुष्य तो मनुष्य, भारतीय तो पशु-पक्षी और वृक्षों तक को नमस्कार करते हैं। यह सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखने का फल है। फिर अर्जुन के सम्मुख तो साक्षात् ही भगवान् हैं, अतः वह अभिभूत होकर नमन कर रहा है।

अर्जुन को यह ख्याल आया कि वह गलती से श्रीकृष्ण को अपना मित्र मानकर व्यवहार करता रहा। श्रीकृष्ण की महिमा का पता उसे अब चला। अतः वह उनसे अपने उस अज्ञानपूर्ण व्यवहार के लिए क्षमा माँग रहा है।

प्रसन्नता और भय

हमारे सामने विशिष्ट व्यक्तित्व खड़ा हो तो यह जरूरी नहीं कि हम उसे पहचान ही लें। यदि हमें व्यक्ति की पहचान होती तो सुकरात और मीरा को जहर क्यों पिलाते? ईसा और गांधी की हत्या क्यों करते? अर्जुन को लगा कि वह श्रीकृष्ण की महिमा के अनुरूप उनसे व्यवहार नहीं करता रहा है।

श्रीकृष्ण के विराट् रूप को देखकर अर्जुन में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुईं; वह प्रसन्न भी हुआ और भयभीत भी –

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

परमार्थ को जानने पर हमें प्रसन्नता होती है कि हम अमृत के अंश हैं – **अमृतस्य पुत्राः।** किन्तु साथ ही परमार्थ से हमारे सारे व्यवहार गड़बड़ा जाते हैं, इसलिए पारमार्थिक दृष्टि हमें भयभीत भी कर देती है। इसलिए अर्जुन श्रीकृष्ण के विराट् रूप को अधिक देर तक सहन नहीं कर सका और उनसे उनके सामान्य रूप में ही आने की प्रार्थना करने लगा।

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥४७॥

श्रीकृष्ण बोले –

हे अर्जुन! प्रसन्न होकर मैंने अपने योग बल से अपना यह परम तेजस्वी आद्य एवम् अनन्त विश्वरूप तुम्हें दिखाया है जिसे तुम्हारे अतिरिक्त किसी ने पहले नहीं देखा था॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न
च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥४८॥

हे अर्जुन! तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा न वेद, यज्ञ अथवा अध्ययन से, न दान से, न क्रियाओं से और न उग्र तप से इस रूप में मुझे देख सकता है॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥४९॥

मेरा इस प्रकार का घोर रूप देखकर तुम व्यथित मत होओ, न दिग्भ्रमित होओ, निर्भय होकर प्रसन्न मन से मेरे उसी रूप को तुम पुनः देखो॥४९॥

विपुल-भाष्य

ईश्वर और ब्रह्म

विराट् रूप समग्र का दर्शन है। विराट् के दो अर्थ हैं – समग्र अथवा विशाल तथा विशेष रूप से प्रकाशमान। विराट् समग्र अस्तित्व को अपने में समेटे है, इसलिए उसका न आदि है और न अन्त। किसी के आदि होने का अर्थ है कि उसके पहले भी कुछ है जहाँ से वह प्रारम्भ हुआ तथा अन्त होने का अर्थ है कि उसके बाद भी कुछ है। जिसके पहले भी कुछ नहीं, उसका आदि नहीं हो सकता तथा जिसके बाद भी कुछ नहीं उसका अन्त नहीं हो सकता। हमारे देखने में तो वे ही पदार्थ आते हैं जिनका आदि भी है और अन्त भी। सादि सान्त का मतलब है – सीमित। अस्तित्व की सीमा नहीं है, सीमा हमारी दृष्टि की है। दिव्य दृष्टि का अर्थ है कि दृष्टि की सीमा न रहे। अस्तित्व तो अनादि-अनन्त है ही, दृष्टि की सीमा गई तो अनादि-अनन्त का दर्शन होने लगता है। अनादि-अनन्त अस्तित्व परमार्थ है, सादि-सान्त अस्तित्व व्यवहार है। अनादि-अनन्त का शास्त्रीय नाम है – ब्रह्म, सादि-सान्त का शास्त्रीय नाम है – माया। ब्रह्म अर्थात् जो निरन्तर विस्तार पा रहा है, बृंहण कर रहा है; माया अर्थात् जो माप्य है; सीमित है।

एकोऽहं बहु स्याम्

असीम को ससीम बनाने वाली कामना है। प्रजापति की कामना है - मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ - **एकोहं बहु स्याम्**। असीम अनेक हो ही नहीं सकता। अनेक का अर्थ है - सीमाबद्धता। कामना हमें बाँधती है। यह बन्धन ही सीमा है। जो सीमित है उसका ही रूप है। जिसका रूप है उसका ही नाम है। नाम-रूप ही जगत् है। जो नाम-रूपातीत है वह जगत् से बहिर्भूत है। नाम-रूपातीत होने का अर्थ है – शब्द तथा बुद्धि से परे।

अर्जुन को दिव्य दृष्टि से जिस विराट् का दर्शन हुआ वह न शास्त्र का विषय है, न बुद्धि का। वह आत्मा का विषय है। आत्मा में तो विषय-विषयी, सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट का भेद ही नहीं है। वहाँ विषयी ही विषय बन जाता है - ज्ञाता ही ज्ञेय बन जाता है। इसे ही निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। अर्जुन इसी निर्विकल्प समाधि में चला गया था। अब वह उस निर्विकल्प समाधि से बाहर आना चाहता है तो उसके सम्मुख श्रीकृष्ण अपना पूर्ण रूप प्रकट कर देते हैं। निर्विकल्पता की स्थिति में अर्जुन को जो रूप दिखा था वह विराट् अर्थात् तेजोमय और अनादि-अनन्त था जिसे कोई भी सविकल्प स्थिति में नहीं देख सकता –

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥

भारतीय चिन्तन की दो विशिष्ट धारणायें हैं – ईश्वर और ब्रह्म। सामी (सेमेटिक) धर्म ईश्वर तक जाते हैं, ब्रह्म की अवधारणा उनमें नहीं है। ईश्वर के लिए एक वैदिक शब्द है – पुरुष। पुरुष भी सीमित है – पुरि शेते। जो सीमित है वह माया का हिस्सा है। अतः ईश्वर भी माया का हिस्सा है। यह घोषणा बहुत साहसपूर्ण है। ईश्वर का दर्शन सविकल्प समाधि का विषय है। ईश्वर जगत् के जन्म, स्थिति तथा प्रलय का कारण है। ईश्वर माया रूप होने के कारण त्रिगुणात्मक है। वह अपने रजोगुण-प्रधान रूप से जन्म देता है, इसे ब्रह्मा कहा जाता है; सत्व-प्रधान रूप में वह पालनकर्त्ता है, इसे विष्णु कहा जाता है तथा तमः-प्रधान रूप में वह प्रलयकर्त्ता है, इसे महेश कहा जाता है। यह ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति ही संसार का सञ्चालन करने के कारण त्रिमूर्त्ति ईश्वर भी संसार का हिस्सा बन जाता है। जो जिसका सञ्चालन करता है, वह स्वयं भी उससे ऊपर नहीं उठ सकता। जो पुलिसवाला कैदी को बाँधता है, वह स्वयं भी कैदी से बँध जाता है। पुलिसवाला कैदी को छोड़कर नहीं जा सकता। सामान्यतः यह समझा जाता है कि कैदी पुलिसवाले के बन्धन में है; किन्तु इससे भी बड़ा सत्य यह है कि पुलिसवाला भी कैदी के बन्धन में है। ईश्वर ही जगत् को नहीं पकड़े है, जगत् ने भी ईश्वर को पकड़ रखा है। अतः ईश्वर जगत् का ही भाग है।

ईश्वर जगत् का भाग है, इसलिए उसे जागतिक पद्धति से प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर क्रियायोग से प्राप्य है। क्रिया-योग वह है जो हमारे पुरुषार्थ से सिद्ध होता है। वेद, यज्ञ, स्वाध्याय, दान, तप – ये सब पुरुषार्थ-साध्य हैं। इनसे ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु ब्रह्म गुणातीत है; वह क्रियायोग से प्राप्य नहीं है। शङ्कराचार्यजी की शब्दावली में ब्रह्म कर्म से नहीं, अकर्म से मिलता है।

अकर्म की स्थिति प्राप्त करना एक विरोधाभासी कार्य है। अकर्म को प्राप्त करने के लिए हम जो भी करेंगे, वह स्वयं एक कर्म बन जाएगा। चित्तवृत्ति को एकाग्र करना सरल है, किन्तु चित्तवृत्ति का निरोध दुष्कर है। हम चित्तवृत्ति का निरोध करने के लिए जो भी प्रयास करेंगे वह चित्त से ही तो करेंगे। अतः चित्तवृत्ति तो बनी रहेगी।

भक्ति की साधना

अकर्म के लिए अपने को छोड़ना होगा। यही समर्पण है। अपने को अस्तित्व पर छोड़ दें। स्वयं को स्वयं न सँभालें, अस्तित्व को ही स्वयं को सँभालने दें। अर्जुन ने श्रीकृष्ण पर अपने को छोड़ दिया। तब ही वह निर्विकल्प समाधि को प्राप्त हुआ। यह शुद्ध समर्पण है, अहं का विसर्जन है। इस स्थिति में साधक तैरता नहीं है, वहता है। कर्म-योग में तो कर्म है ही, ज्ञान-योग में 'मैं जानता हूँ' यह क्रिया बनी रहती है। जानना भी आखिर एक क्रिया ही है।

अकर्म अथवा अक्रिया तो भक्ति में ही सिद्ध होती है। अपने को पूर्णतः भगवान् पर छोड़ देना ही भक्ति है। इसका सुफल ही भगवत्कृपा है।

कोई कितना ही प्रयत्न करे स्वयं को पकड़ कर पृथ्वी से ऊपर नहीं उठा सकता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कितना भी प्रचण्ड तप किया जाए, अकर्म की स्थिति पुरुषार्थ से नहीं बनती, भगवत्कृपा से ही बनती है –

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

इसका यह अर्थ नहीं है कि ये सब क्रियायें न की जाएँ। स्वयं श्रीकृष्ण कहेंगे कि यज्ञ, वेद का स्वाध्याय तथा दान तो सदा ही करने चाहिए । यहाँ इन कर्मों का निषेध नहीं किया जा रहा, केवल इनकी सीमा बताई जा रही है। इन कर्मों का अपना फल है किन्तु निर्विकल्प समाधि किसी कर्म का फल नहीं हो सकती। भोजन करने से पेट भरता है और शरीर चलता है किन्तु भोजन करने से सत्य प्राप्त नहीं होता। भोजन का अपना महत्त्व है, सत्य का अपना।

परमार्थ महत्वपूर्ण है तो व्यवहार भी निरर्थक नहीं है। बड़ा से बड़ा साधक भी शरीर के रहते व्यवहार नहीं छोड़ सकता। सारा व्यवहार सविकल्पक है। जहाँ विकल्प है, वहाँ द्वैत है। शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उपासना को भी द्वैताश्रित माना है। उपासना में भी उपासक और उपास्य दो रहते हैं। अद्वैत तो तब आता है जब उपासक और उपास्य एक ही हो जाते हैं। यह किसी भी क्रिया से सम्भव नहीं है। मजेदार बात यह है कि क्रिया छोड़ना भी एक क्रिया बन जाती है। नींद लाने का प्रयत्न नींद के आने में बाधक बनता है क्योंकि कोई सचेत प्रयत्न चल रहा है - यही इस बात का सूचक है कि नींद नहीं आई है। यह सब होने पर भी हम न सदा नींद में रह सकते हैं, न सदा समाधि में रह सकते हैं। अभ्यास की पूर्णता इसमें है कि व्यवहार भी चलता रहे और परमार्थ की दृष्टि से ओझल न हो। जैसे कुशल स्त्री बातें भी करती रहती है, चलती भी जाती है। और सिर पर पानी के एक के ऊपर एक तीन घड़े भी लिए रहती है किन्तु घड़े गिरते नहीं क्योंकि उसकी दृष्टि घड़ों पर ही है। उसी प्रकार सिद्ध योगी समस्त व्यवहार करने पर भी दृष्टि परमार्थ पर रखता है। इसे ही कबीर ने सहज समाधि कहा है - साधो! सहज समाधि भली।

श्रीकृष्ण का जो विराट् रूप अर्जुन ने देखा तो उससे उसमें दो भाव उत्पन्न हुए - एक व्यथा का और दूसरा विमूढता का। वस्तुतः हम अज्ञान की स्थिति में एक खुशफहमी में रहते हैं कि सब कुछ ठीक है। जब हमें सत्य का सामना करना पड़ता है तो हमारा सम्मोहन टूट जाता है। उस समय एक व्यथा पैदा होती है कि जिस अहं को हमने केन्द्र में मानकर सब प्रपञ्च फैला रखे थे, उस अहं का तो कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है। फलस्वरूप सारा मायाजाल ताश के पत्तों के घर की तरह बिखर जाता है। यही व्यथा है।

अर्जुन किङ्कर्त्तव्यविमूढ़

इस व्यथा से एक दिङ्मूढ़ता उत्पन्न होती है कि अब व्यक्ति क्या करे। अब तक उसका जो परिप्रेक्ष्य था, जब उसके सर्वथा विपरीत परिप्रेक्ष्य का दर्शन उसे होता है तो वह किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। अर्जुन की यही स्थिति विराट् रूप को देखकर हो गई थी। यूँ भी श्रीकृष्ण ने अवसरानुकूल अपना उग्र रूप ही दिखाया था। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वासन देते हैं कि तुम व्यथित मत होओ और न विमूढ़ता में पड़ो। मैंने तो प्रसन्न होकर तुम्हें विराट् रूप दिखाया है फिर भयभीत क्यों होते हो –

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥

भगवान् के अनेक रूप हैं। भारतीय परम्परा ने उन्हें केवल मनुष्य के रूप में ही नहीं, मत्स्य, कच्छप और वराह रूप में भी देखा है; केवल सौम्य रूप में ही नहीं देखा है। हम दुर्गा की और गणेश की प्रतिमा बनाते भी हैं, उसकी पूजा भी करते हैं और उसका नदी में विसर्जन भी कर देते हैं। अर्जुन ने श्रीकृष्ण का विराट् रूप देखा भी और फिर उसे समेटने की भी प्रार्थना कर दी। श्रीकृष्ण ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली।

मूल तथा अनुवाद

सञ्जय उवाच –

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥५०॥

सञ्जय बोले –

अर्जुन को ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने फिर अपना वैसा ही रूप दिखला दिया। उन महात्मा ने पुनः सौम्य मूर्त्ति होकर उस भयभीत (अर्जुन) को धीरज बँधाया॥५०॥

अर्जुन उवाच –

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

अर्जुन बोले –

हे कृष्ण! आपके इस सौम्य मानव रूप को देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ; अपने स्वस्थ-रूप को प्राप्त हो गया हूँ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच –

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥५२॥

श्रीभगवान् बोले –

तुमने जो यह अत्यन्त दुर्दश रूप देखा है, देवगण भी नित्य इस रूप को देखने के इच्छुक रहते हैं॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

मैं इस रूप में न वेदों से, न तपस्या से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥५४॥

किन्तु हे अर्जुन! मेरे इस रूप को अनन्य भक्ति से देखना सम्भव है। और तत्त्वतः इसे जाना भी जा सकता है तथा इससे तादात्म्य भी स्थापित किया जा सकता है॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥

हे अर्जुन! जो मेरे लिये कर्म करता है, मत्परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति रहित है, सबके प्रति निर्वैर है, वह मुझे प्राप्त करता है॥५५॥

विपुल-भाष्य

तर्कातीत भक्ति

अर्जुन ने प्रार्थना की कि श्रीकृष्ण अपने विराट् रूप को समेट कर अपने पहले वाले सौम्य रूप में ही आ जाएँ। श्रीकृष्ण ने वह प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपना पीताम्बरधारी सौम्य रूप प्रकट कर दिया।

इस घटना पर जो कुछ अर्जुन ने कहा वह महत्त्वपूर्ण है। अर्जुन कहता है कि हे जनार्दन, आपका यह सौम्य मानव रूप देखकर मैं सचेत हो गया हूँ तथा अपनी प्रकृति को प्राप्त हो गया हूँ –

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

सचेत का अर्थ है - चित्त सहित। निर्विकल्पता में मन अमन हो जाता है, मन खो जाता है। विराट् रूप का दर्शन करते समय अर्जुन सचेत नहीं रहा था, अचेत-अमन हो गया था। अब श्रीकृष्ण के मानव रूप को देखकर वह सचेत-समन रूप हो गया, होश में आ गया।

श्रीमद्भागवत में राधा का नाम नहीं

एक बहुत प्यारी कथा है। श्रीमद्भागवत में राधा का नाम नहीं आया। नीरस इतिहासकार इसका यह अर्थ लगाते हैं कि श्रीमद्भागवत के निर्माण तक राधा की अवधारणा बनी ही नहीं थी, अतः श्रीमद्भागवत में राधा का नाम नहीं आया। परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती; कर भी कैसे सकती है, राधाकृष्ण का मिलन तो जीव-ब्रह्म का मिलन है जो कि नित्य है। परम्परा कहती है कि श्रीमद्भागवत की कथा परीक्षित को सुनाई गई है जिसकी आयु के केवल सात दिन ही शेष थे। कथा शुकदेव सुना रहे थे और उन्हें कथा सात दिन में ही पूरी कर देनी थी। इसी आधार पर भागवत की कथा का सप्ताह आज भी होता है। अब यदि शुकदेव राधा का नाम ले देते तो भावावेश के कारण वे अचेत हो जाते और उन्हें छह महीने तक होश ही नहीं आता तथा भागवत की कथा सुनाने का काम एक सप्ताह में पूरा नहीं हो पाता – **मूर्च्छा षाण्मासिकी भवेत्।** इसी आशंका के कारण शुकदेव ने राधा का नामोच्चार ही नहीं किया। राधा के नाम के स्मरण मात्र से शुकदेव अचेत हो जाते, दूसरे शब्दों में निर्विकल्प समाधि में चले जाते – यह वक्तव्य हमें समझ में नहीं आएगा क्योंकि यह समझ से परे की बात है। यह समझने का विषय नहीं है, बुद्धि का विषय नहीं है; अनुभव का विषय है, भावना का विषय है, हृदय से अनुभव किया जा सकता है, बुद्धि से समझा नहीं जा सकता।

अर्जुन ने जब विराट् का दर्शन किया तो वह भी अचेत हो गया, अमन हो गया। अब जब उसने श्रीकृष्ण का मानुष रूप देखा तो वह सचेत हुआ। यह निर्विकल्पता से सविकल्पता में आने की स्थिति है। गीता इस स्थिति को दूसरे शब्दों में कहती है कि श्रीकृष्ण का मानुष रूप देखकर अर्जुन प्रकृति को प्राप्त हो गया। जब तक अर्जुन विराट् रूप देख रहा था वह आत्मयोग में था; अब जब वह मानुष रूप को देख रहा है तो प्रकृतिस्थ हो गया। मनुष्य, मनुष्य तब ही तक है, जब तक वह प्रकृति में है, जैसे ही वह प्रकृति से ऊपर उठता है – आत्मस्थ होता है – वह भगवान् बन जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस दुर्लभ विराट् रूप को अर्जुन ने देखा उसे देखने के लिए देवता भी लालायित रहते हैं। देवता भी प्रकृति के अधीन हैं। वे प्रकृति से ऊपर नहीं उठ पाते, अतः आत्मस्थ नहीं हो पाते। मोक्ष का अधिकारी केवल मनुष्य है, देवता भी मुक्त नहीं होते हैं। एक कथा शतपथ ब्राह्मण में आई है। प्रजापति के पास सभी प्राणी गए और उन्होंने अपने लिए भोजन की व्यवस्था जाननी चाही। प्रजापति ने कहा कि देवता वर्ष में दो बार भोजन करेंगे, पितर महीने में दो बार तथा मनुष्य दिन में दो बार भोजन करेंगे और पशु को जब जितनी बार भोजन मिल जाए तब ही कर लेंगे। देवता, पितर और पशु तो प्रजापति के आदेश का पालन करते हैं किन्तु एक मनुष्य ही उस आदेश का अतिक्रमण कर देता है – **मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति।** मनुष्य दिन में दो बार ही भोजन नहीं करता, अधिक बार

या कम बार भी करता है। यही उसकी स्वतंत्रता है। यह स्वतंत्रता ही उसे मुक्ति का अधिकारी बनाती है। देवता सहित सभी प्राणी नियम से बँधे हैं, केवल मनुष्य ही नियमों से ऊपर भी उठ सकता है। जो नियमों से ऊपर उठ सकता है, वही मुक्त हो सकता है।

नियमों से ऊपर उठने के दो मार्ग हैं – नियमों का उल्लंघन करके मनुष्य पशु से भी नीचे गिर सकता है तथा नियमों का अतिक्रमण करके मनुष्य देवताओं से भी ऊपर उठ सकता है। यह अतिक्रमण करने की शक्ति - ट्रान्सैन्ड करने की सामर्थ्य – मुख्यतः दो रूपों में प्रकट होती है। एक तो तर्क का अतिक्रमण किया जाता है, दूसरे नैतिकता का अतिक्रमण किया जाता है।

भक्ति तर्क का विषय नहीं

तर्क के अतिक्रमण का अर्थ है, प्रेम में प्रवेश अथवा भक्तिभाव। प्रेम या भक्ति तर्क का विषय नहीं है। जब तक हम तर्क के स्तर पर जी रहे हैं तब तक वासना में ही फँसे रहेंगे, वासना से ऊपर उठकर प्रेम अथवा भक्ति का अनुभव हमें नहीं होगा। परम्परा कहती है कि कुछ भाव अचिन्त्य हैं, जिन्हें तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। स्पष्टीकरण के रूप में बताया गया कि प्रकृति तक ही तर्क चलता है, जो प्रकृति से परे है, वहाँ तर्क नहीं चलता –

अचिन्त्याः खलु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

जब तक हमारी भावना प्रकृति में बँधी है, तब तक वह भावना वासना है। जैसे ही हमारी भावना प्रकृति से ऊपर उठ जाती है, वह भक्ति बन जाती है। भावना एक ही है; वही वासना बन जाती है, वही भक्ति बन जाती है। इसी कारण मीरा की भक्ति उसके पति राणा को वासना नजर आती थी क्योंकि भावना तो वहाँ भी थी। वह भावना प्रकृति से ऊपर उठ गई थी अतः वासना नहीं थी – इस सूक्ष्म अन्तर को राणा नहीं समझ पाए।

जो प्रकृति से ऊपर उठे, तर्क से ऊपर उठे, उसके लिए प्रकृति के नियम भी पीछे छूट जाते हैं। राणा भेजा विष का प्याला, इमरत कर पी जाना। विष मारता है – यह प्रकृति का नियम है पर मीरा प्रकृति से ऊपर उठ गई तो प्रकृति के नियम उस पर लागू नहीं हो सके और विष भी उसके लिए अमृत हो गया। यह भक्ति का प्रभाव है। प्रह्लाद को उसके पिता ने पहाड़ से गिराया, आग में जलाया। प्रकृति के नियम लागू होते तो उसे मर जाना चाहिए था। किन्तु वह भक्त था, प्रकृति के नियम उस पर लागू नहीं हुए। प्रकृति के सब नियम तोड़कर खम्भे में से नरसिंह रूप धर कर भगवान् प्रकट हो गए। ये सब घटनाएँ हमें इसलिए कपोल-कल्पित प्रतीत होती हैं कि हम कभी तर्क से ऊपर उठ ही नहीं पाए, हमारी भावना वासना से ऊपर उठकर भक्ति में परिणत हो ही नहीं पाई।

हम तर्क से नीचे तो गिरे हैं; तर्क विरुद्ध – इर्रेशनल – कार्य तो हम करते हैं किन्तु तर्कातीत – सुपरारेशनल – स्थिति का अनुभव हमें नहीं। फलतः हमें भक्ति तर्क विरुद्ध – इर्रेशनल – ही नजर आती है। हम बुद्धि पर अटक गए हैं, भक्ति हमें पागलपन नजर आती है और भक्तों के जीवन से जुड़ी घटनाएँ हमें कपोल-कल्पित नजर आती हैं। हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि ऐसी घटनाएँ सब देशों में और सब समयों में होती रही हैं। हो सकता है कि इनमें कुछ घटनाएँ ढोंग अथवा चालाकी की हों, जहाँ असली होता है वहाँ नकली भी बन ही जाता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि असली कुछ होता ही नहीं और सब नकली ही है।

एक अतिक्रमण तर्क का है, दूसरा अतिक्रमण नैतिकता का है। जैसे तर्क से नीचे मूर्खता है और तर्क से ऊपर भक्ति है, उसी प्रकार नैतिकता से नीचे गिर जाना पशुता है और नैतिकता से ऊपर उठ जाना भगवत्ता है। जैसे प्रकृति के कुछ नियम हैं, समाज के भी कुछ नियम हैं। यदि उन नियमों का पालन न किया जाए तो समाज विशृङ्खलित हो जाता है। किन्तु समाज ही अन्तिम नहीं है। अन्तिम तो आत्मा है और आत्मा जैसे प्रकृति का हिस्सा नहीं है वैसे आत्मा समाज का हिस्सा भी नहीं है। नैतिक नियम समाजोपयोगी है किन्तु आत्मोपलब्धि में उनका कोई उपयोग नहीं है। श्रीकृष्ण

ने स्पष्ट घोषणा की कि आत्मा न वेदों से, न तप से, न दान से, और न यज्ञ से उपलब्ध होती है, वह तो केवल भक्ति से ही उपलब्ध होती है –

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

पारमार्थिक तत्त्व केवल जानने और देखने की वस्तु ही नहीं है, उसमें प्रवेश करना होता है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना होता है। यह भक्ति द्वारा ही सम्भव है।

भक्ति का गुणगान

प्रश्न होता है कि भक्ति का इतना गुणगान किया जा रहा है तो कर्म तथा ज्ञान का क्या होगा। ग्यारहवें अध्याय के अंतिम श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म भी भगवद्बुद्धिपूर्वक ही किए जाएँ तथा ज्ञान भी भगवदर्पित ही हों –

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

वस्तुतः भक्ति, कर्म तथा ज्ञान यहाँ आकर पृथक्-पृथक् नहीं रहते। कुछ व्याख्याकारों ने गीता की भक्तिपरक, ज्ञानपरक अथवा कर्मपरक व्याख्या की है और एक दूसरे की व्याख्या पर आक्षेप भी किए हैं किन्तु गीता के यदि इस श्लोक पर विचार करें तो श्रीकृष्ण का स्वारस्य तो भक्ति, कर्म और ज्ञान की एकता में है, न कि उनके प्रधान – गौण भाव स्थापित करने में। हाँ, कभी कहीं गीता में ज्ञान प्रधान नजर आने लगता है, कभी भक्ति और कभी कर्म। इसी कारण व्याख्याकारों में मतभेद हो गया लगता है। जब एक ही भाव की तीन अभिव्यक्तियाँ हों तो वे तीनों ही अभिव्यक्तियाँ प्रधान हैं। अतः कभी किसी को और कभी किसी को प्रधान कह देने में कोई विरोध नहीं है। इस दृष्टि से देखें तो गीता के विविध भाष्यों में उपलब्ध विरोध का परिहार स्वतः ही हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविधायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥११॥

श्रीपरमात्मने नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले –

जो भक्त तथा निरन्तर योगयुक्त आपकी और जो अव्यक्त अक्षर, ब्रह्म की उपासना करते हैं,उनमें कौन सर्वश्रेष्ठ योगविद् हैं? ॥१॥

श्रीभगवानुवाच –

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान् बोले –

मैं उन्हें सर्वश्रेष्ठ योगविद् मानता हूँ जो मुझमें मन को लगाकर निरन्तर योगयुक्त होकर परम श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

जो अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अक्षर की उपासना करते हैं, जो इन्द्रियों को वश में करके सर्वत्र समबुद्धि रखते हैं, सर्वभूतों के हित में लगे हुए वे मुझे ही प्राप्त करते हैं॥३॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सर्वत्र समबुद्धि इन्द्रियों को संयमित करके सर्वभूतों के हित में लगे हुए मुझे ही प्राप्त करते हैं॥४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

उन अव्यक्त में चित्त लगाने वालों को विशेष कष्ट होता है, देहधारियों के लिये अव्यक्त का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

जो सब कर्मों को मुझमें अर्पित करके अनन्य भाव से मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगाने वालों का, मैं शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार-सागर से उद्धार करने वाला बन जाता हूँ।।६-७।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

मेरे में मन लगाओ, मेरे में ही बुद्धि लगाओ, इस प्रकार तुम मुझमें ही बस जाओगे - इसमें संशय नहीं है।।८।।

विपुल-भाष्य

भक्ति की महिमा

हिन्दू विचारधारा और हिन्दू जीवन शैली को समझाना, विदेशियों को ही नहीं, भारतीयों को भी कठिन हो जाता हैक्योंकि ईसाई अथवा मुस्लिम मजहब एक विशेष उपासना-पद्धति का प्रतिपादन करते हैं तथा दूसरी उपासना-पद्धतियों का निराकरण करते हैं जबकि हिन्दू परम्परा न केवल अनेक उपासना-पद्धतियों का निरूपण करती है बल्कि परस्पर विरोधी उपासना पद्धतियों का भी समर्थन कर देती है। ऐसी स्थिति में अन्य मजहबों का अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दोषों से रहित लक्षण करना सम्भव हो जाता है जबकि हिन्दुत्व की कोई ऐसी व्याख्या सम्भव नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि एक धर्मग्रन्थ, एक उपासना-पद्धति तथा एक पैगम्बर वाली मजहब की अवधारणा हिन्दू परम्परा में नहीं है। अतः हिन्दुत्व को एक मजहब समझना भूल ही होगी।

हिन्दू चिन्तन का मूल आधार यह है कि सबकी रुचि एक जैसी नहीं होती। मोटे तौर पर हम व्यक्तियों को तीन भागों में बाँट सकते हैं - सात्विक, राजसी तथा तामसी। इनमें से किसी एक प्रकार के व्यक्ति को दूसरे प्रकार के व्यक्तित्व में बदलने का प्रयत्न करना उस व्यक्ति के साथ न्याय नहीं है। उचित यह है कि जो व्यक्ति जिस टाइप का है उसके लिए उसी प्रकार की साधना पद्धति का प्रतिपादन किया जाए। इस चिन्तन के कारण ही हिन्दू ग्रन्थों में अनेक परस्पर विरोधी उपासना पद्धतियों का प्रतिपादन/.समर्थन मिल जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता ऐसे व्यापक और उदार दृष्टिकोण का सर्वोत्तम निदर्शन है। ऐसे दृष्टिकोण के कारण गीता के सम्बन्ध में एक कठिनाई भी पैदा हो गई क्योंकि गीता में अनेक उपासना-पद्धतियों का वर्णन है, अतः इसके जो भाष्य हुए उनमें परस्पर विरोध उत्पन्न हो गया, हुआ यह कि जिस भाष्यकार को जो उपासना-पद्धति रुचिकर प्रतीत हुई – उस भाष्यकार ने उसी पद्धति को तो गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मान लिया तथा शेष उपासना पद्धतियों का निराकरण करने का प्रयत्न किया, जिसके लिए उन्हें खींचतान भी करनी पड़ी। फलतः गीता भी साम्प्रदायिक अभिनिवेश का आधार बन गई जिसकी ज्ञानपरक, कर्मपरक तथा भक्तिपरक परस्पर विरोधी व्याख्याएँ तो हुई हीं, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि दार्शनिक प्रस्थानों के पारस्परिक मतभेदों को विवाद का रूप देने में भी उसका उपयोग किया गया। ऐसे भाष्यों को पढ़ कर आधुनिक पाठक की उन भाष्यों में अरुचि हो जाना स्वाभाविक है।

कर्म तथा ज्ञान

एक दूसरी विशेषता गीता की यह है कि इसमें दो पद्धतियों का वर्णन कर देने के बाद यह प्रश्न उठा दिया जाता है कि इन दोनों पद्धतियों में ज्यादा ठीक पद्धति कौन सी है और इस प्रश्न के उत्तर में उन दो पद्धतियों में से किसी एक को ज्यादा अच्छा बता दिया जाता है। उदाहरणतः तृतीय अध्याय में कर्म तथा ज्ञान के सम्बन्ध में अर्जुन पूछता है कि यदि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है तो श्रीकृष्ण उसे कर्म में क्यों लगा रहे हैं। प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण कर्म की महिमा बताते हैं। साथ ही ज्ञान मार्ग को भी वे एक उचित मार्ग बताते हैं। वे ये भी कह देते हैं कि संन्यास और कर्मयोग दोनों से ही कल्याण होता है – **संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ**। इसके बावजूद शङ्कराचार्य जैसे

भाष्यकार ज्ञान किंवा संन्यास को ही मोक्षमार्ग मान कर कर्म के प्रशंसापरक वाक्यों को गौण कर देते हैं। इसकी प्रतिक्रिया में लोकमान्य तिलक जैसे भाष्यकार कर्मयोग को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मानते हैं। ऐसे स्थलों पर किसी एक भाष्यकार के मत को ठीक तथा दूसरे के मत को गलत मानने के स्थान पर यह मानना चाहिए कि गीताकार तो दोनों ही मतों का समर्थन कर रहा है, भाष्यकार उनमें से किसी एक मत को अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण चुन लेता है।

अर्जुन का प्रश्न

द्वादश अध्याय के प्रारम्भ में भी एक ऐसा ही प्रसङ्ग उपस्थित हो गया है। श्रीकृष्ण ने एकादश अध्याय में भक्ति की महिमा बताई। भक्ति तो सगुण-साकार की ही होती है। दूसरी ओर कुछ साधक श्रुति के नेति-नेति वर्णन के आधार निर्गुण-निराकार की उपासना को ही श्रेष्ठ मानते हैं। इस पर अर्जुन का प्रश्न है कि इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।

प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण कारण बताते हुए निराकार-निर्गुण की उपासना की अपेक्षा साकार-सगुण की भक्ति को श्रेष्ठ घोषित करते हैं –

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।

हिन्दू धर्म की यह एक पुरानी पद्धति है कि जिस देवता अथवा उपासना-पद्धति की महिमा बतानी होती है, उसे सर्वश्रेष्ठ बता दिया जाता है। वेद में जिस देव की स्तुति की जाती है, उसे अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ घोषित कर दिया जाता है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति पुराणों में भी मिलती है। ऐसी स्थिति में सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि वस्तुतः यथार्थ स्थिति क्या है; कौन सा देव सचमुच श्रेष्ठ है? समाधान यह दिया जाता है कि वस्तुतः तो न कोई देव छोटा है, न बड़ा; प्रसङ्गानुरूप किसी एक देव को बड़ा बता दिया जाता है। ऋग्वेद कहता है – **न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतो महान्त इत्।** इसी शैली पर हम यह कह सकते हैं कि न कोई उपासना-पद्धति छोटी है, न बड़ी है, सभी पद्धतियाँ महती हैं।

इस पृष्ठभूमि में अब हम यह देखें कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा अथवा साकारोपासना को निराकारोपासना की अपेक्षा श्रेष्ठ क्यों बताया गया । स्पष्ट है कि मनुष्य के दो पक्ष हैं – बुद्धि पक्ष तथा हृदय पक्ष। बुद्धि विश्लेषण करती है, हृदय संश्लिष्ट करके देखता है। आधुनिक विज्ञान की खोजों के अनुसार हमारे मस्तिष्क का बायाँ भाग पूर्वापर रूप में क्रमशः सरल रेखाकार ढंग से सूचनाओं को विश्लेषित करके व्यवस्थित करता है। यह विज्ञान की पद्धति है। दूसरी ओर हमारे मस्तिष्क का दाहिना भाग, जो बाएँ भाग को नियंत्रित करता है, समग्रता से संश्लिष्ट रूप में सूचनाओं को युगपत् देखता है। विश्लेषण का फल अनेकता है, संश्लेषण का एकता है। जब हम विश्लेषण करते हैं तो साकार-सगुण में शुद्ध अस्तित्व का दर्शन नहीं होता; सब कुछ सोपाधिक होने के कारण नाना रूप में दिखाई देता है, किन्तु निरुपाधिक एकत्व के दर्शन नहीं होते। अतः ज्ञानी सभी साकार-सगुण का नेति-नेति कह कर निराकरण करते हुए निरुपाधिक निराकार-निर्गुण तक पहुँचता है। यह बुद्धि पक्ष की पद्धति है।

इसके विपरीत हृदय-पक्ष किसी का निराकरण नहीं करता, सबको स्वीकार करता है। जब दो है ही नहीं, तो जो भी है, वह ब्रह्म के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? यदि नाम-रूप भिन्न हैं तो यह भिन्नता प्रभु के स्वरूप का सौन्दर्य है, इसका अपलाप करने की आवश्यकता नहीं है। क्या लहरों के विभिन्न रूप होने से समुद्र की एकता खंडित हो जाती है? और फिर लहरों को हटा देने पर समुद्र भी कहाँ रहेगा? क्या कोई ऐसा समुद्र है जिसमें लहरें न हों? यदि नाम-रूप माया है तो माया भी तो मायापति की शक्ति ही है। शक्ति के बिना शक्तिमान् का अर्थ ही क्या है? श्रुति भी सब कुछ को ब्रह्म बता रही है – **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** यह साकारोपासक की दृष्टि है।

साकारोपासना श्रेष्ठ

संक्षेप में निराकारोपासना और साकारोपासना की यही दो दृष्टियाँ हैं। यहाँ श्रीकृष्ण साकारोपासना को श्रेष्ठ बता रहे हैं, यद्यपि गन्तव्य निराकारोपासना का भी वही है जो साकारोपासना का। साकारोपासना को श्रेष्ठ मानने का प्रथम कारण तो यह है कि निराकारोपासना का आधार तर्क है, जबकि साकारोपासना का आधार श्रद्धा है। तर्क शुष्क है और अप्रतिष्ठित है। तर्क की कोई प्रतिष्ठा आधार भूमि नहीं है। कोई मान्यता ऐसी नहीं है जिसके यदि पक्ष में तर्क हो, तो विपक्ष में तर्क न हो। इसीलिए तर्क के आधार पर खड़ा हुआ कोई मत निर्विवाद नहीं होता। इसीलिए तार्किक का अर्थ ही हो गया जो वाद-कुशल हो, जो अपने विरोधी को परास्त करके अपना मत स्थापित कर सके। तर्क एक प्रकार की कुश्ती है। कुश्ती में दो पहलवान लड़ते हैं, जो बलवान् होता है वह जीत जाता है; इस बात का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है कि सत्य किधर है। कुश्ती विशुद्ध शक्ति-परीक्षण है, उसका सत्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं। तर्क भी बौद्धिक कुश्ती है; जिसकी बुद्धि तीव्र है, वह जीत जाएगा, इस बात का जीत-हार से कोई सम्बन्ध नहीं है कि सत्य किधर है। ऐसे सत्य-निरपेक्ष तर्क पर टिका ज्ञान भला सत्य का साक्षात्कार कैसे करा सकता है? फिर भी हम गलती से यह मान लेते हैं कि तर्क से सत्य का पता चल जाएगा किन्तु जो ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं, वे भी अन्ततोगत्वा तर्क को छोड़ देते हैं। किसी ज्ञानी ने आज तक यह दावा नहीं किया कि वह तर्क से सत्य तक पहुँचा है। न वेद का ऋषि यह कहता है कि उसे तर्क से सत्य मिला है, न बाइबिल या कुरान का ही ऐसा दावा है। ये सब धर्मग्रन्थ सत्य के साक्षात् दर्शन का दावा करते हैं, तर्क द्वारा सत्य तक पहुँचने का नहीं।

श्रद्धा की बात निराली है। श्रद्धा तो प्रारम्भ से ही तर्क के स्थान पर अनुभव को प्रमुख मानती है। अनुभव में तर्क का कोई स्थान नहीं। जिसने छूकर जान लिया कि अग्नि उष्ण है, उसके लिए अब इस बात का क्या महत्व है कि अग्नि की उष्णता कैसे सिद्ध हो। दूसरी ओर जिसे अग्नि की उष्णता का अनुभव नहीं है, उसे यदि तर्क से यह सिद्ध किया जाए कि अग्नि उष्ण होती है तो भी क्या उसके मन में से यह संशय जा सकेगा कि कहीं तर्क में कोई कमी तो नहीं है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि अग्नि शीतल ही होती हो? निःशंकित ज्ञान तो अपरोक्षानुभूति से ही सम्भव है। यह अपरोक्षानुभूति ही श्रद्धा का आधार है; श्रद्धा अन्धविश्वास का नाम नहीं है। भक्ति की यह विशेषता है कि वह श्रद्धा पर टिकी है, तर्क पर नहीं।

बौद्धिकता की एक दूसरी कमी यह है कि ज्ञान में हमारा यह अहंकार बना रहता है कि 'मैं जान सकता हूँ।' ज्ञानी सदा ज्ञेय की अपेक्षा ऊँचा होता है। घट साधारण वस्तु है; जिसने घट को जाना वह चेतन सत्ता ऊँची है। अब यदि परमात्मा घटपटादि के समान साधारण ज्ञेय होता तो वह भी हमारे ज्ञान का विषय हो जाता। परमात्मा तो स्वयं परम ज्ञानी है। वह हम जैसे अल्पज्ञों के ज्ञान का विषय कैसे बन सकता है। अतः जब परमात्मा का ज्ञान प्रकाशित होता है तो उस प्रकाश में ज्ञानी का ज्ञान तो लुप्त ही हो जाता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञानी भी अन्ततोगत्वा अपने को खो देता है।

दूसरी ओर भक्ति का तो प्रारम्भ ही अपने को खोकर है। जब तक 'अहं' का भाव है वह हमें उपास्य के सम्मुख समर्पण करने ही नहीं देता। भक्ति में भक्त यह मान कर ही चलता है कि वह कुछ भी नहीं है, जो कुछ है भगवान् है। अतः भक्ति में सत्य के साक्षात्कार की सबसे बड़ी बाधा – अहंकार – तो प्रारम्भ से ही दूर हो जाती है। ज्ञानी को अपना यह अहंकार बड़ी कठिनाई से दूर करना होता है क्योंकि ज्ञान सामान्यतः अहंकार को बढ़ाता है, घटाता नहीं; कोई उपनिषद् का ऋषि अथवा कोई आइन्स्टीन ही ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच कर यह घोषित कर पाता है कि वह कुछ भी नहीं जानता, अन्यथा सामान्यतः तो दो अक्षर पढ़ लेने वाला भी इसी घमंड में चूर रहता है कि उससे अधिक कोई और संसार में जानने वाला है ही नहीं। दूसरी ओर भक्ति में एक अनपढ़ शबरी भी, एक सीधा-सादा केवट भी, उस सत्य का दर्शन कर लेते हैं जो सर्वशास्त्रविशारदों को दुर्लभ है। यह अहंकार के विसर्जन की महिमा है।

ज्ञान की सीमा

एक क्षण को मान लें कि ज्ञान की बहुत महिमा है। किन्तु क्या बड़ा से बड़ा ज्ञानी भी सृष्टि के रहस्य को जान पाया? सृष्टि तो बहुत बड़ी है, एक छोटे से परमाणु की संरचना पर भी वैज्ञानिक स्तब्ध हो जाते हैं और उसके रहस्य को यत्किञ्चित् ही खोल पाते हैं। ज्ञान की शक्ति इतनी सीमित है। फिर ज्ञान के बल पर बुद्धि के सहारे परम सत्य परमात्मा को जान लेने का दम्भ केवल दुस्साहस ही कहलाएगा।

भक्ति की एक विशेषता है कि जिसके प्रति हमारी भक्ति होती है, उसके ध्यान में हमारा चित्त तत्काल लग जाता है और फिर वह भक्ति का पात्र हमारे चित्त में सदा बना रहता है। ज्ञान में हम चित्त को बारम्बार एकाग्र करते हैं किन्तु वह पुनः पुनः भटक जाता है। भक्ति में हम चित्त को उपास्य से हटाना भी चाहें तो चित्त घूम फिर कर पुनः पुनः उपास्य पर ही आ जाता है। जब किसी प्रियजन का वियोग होता है तो चित्त की यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हम कार्यान्तरों में व्याप्त होकर उस प्रियजन को कितना भी भुलाना चाहें, वह भूलता नहीं। यह भक्ति की महिमा है। किन्तु यह लौकिक अनुभव तो उस अनुभव का अंशमात्र ही है जो अलौकिक अनुभव तब होता है जब हमारी यह भावधारा भगवान् की ओर मुड़ जाती है। उस स्थिति में भक्त 'नित्ययुक्त' होने के कारण 'युक्ततम' कहलाता है।

इन्हीं कुछ विशेषताओं के कारण श्रीकृष्ण ज्ञानी की निराकारोपासना की अपेक्षा भक्त की साकारोपासना को वरीयता देते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं मानना चाहिए कि वे निराकारोपासना का खंडन कर रहे हैं। वे तो केवल सर्वजनसुलभ भक्ति की उपादेयता प्रकट कर रहे हैं। यदि एक अपेक्षा से भक्ति को श्रेष्ठ बताया जा सकता है तो दूसरी अपेक्षा से ज्ञान अथवा कर्म की भी महिमा कम नहीं है। प्रसङ्गानुसार किसी एक पद्धति की विशेषता बताने का यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिए कि दूसरी पद्धतियाँ हेय हैं।

ज्ञानी की प्रवृत्ति की विशेषता

ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी में मल्लिषेण नामक एक जैन आचार्य हुए। उन्होंने द्वादशारनयचक्र नामक एक अद्‌भुत ग्रन्थ लिखा। ऐसा ग्रन्थ भारतवर्ष में दूसरा नहीं बना, शायद अन्यत्र भी संसार में ऐसा ग्रन्थ नहीं है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने किसी भी मत का समर्थन नहीं किया बल्कि सभी मतों को खण्डित करके दिखा दिया। उन्होंने उस समय भारत में जितने मत प्रचलित थे उन्हें १२ भागों में बाँट दिया। इसके बाद उन्होंने प्रथम मत का खंडन द्वितीय मत के द्वारा कर दिया, द्वितीय मत का खंडन तृतीय मत के द्वारा कर दिया और तृतीय मत का खंडन चतुर्थ मत के द्वारा कर दिया। इस प्रकार अन्त में ग्यारहवें मत का खंडन बारहवें मत से करके बारहवें मत का खंडन भी प्रथम मत द्वारा कर दिया। इस प्रकार बारह के बारह मत खण्डित हो गए और मण्डन किसी भी मत का नहीं हुआ, अर्थात् यह सिद्ध हो गया कि सभी मत गलत हैं।

आपाततः मल्लिषेण का यह तरीका पागलपन प्रतीत हो सकता है लेकिन वस्तुतः यह एक गम्भीर सत्य की ओर संकेत है। आज के सन्दर्भ में देखें तो ईसाई मत को काटने वाले मुसलमान लेखकों के तर्क मिल जाएँगे, इस्लाम को काटने वाले हिन्दुओं के तर्क मिल जाएँगे और हिन्दुओं के मत को काटने वाले ईसाइयों के तर्क मिल जाएँगे। इस प्रकार तीनों ही मत खण्डित हो जाएँगे, स्थापित कोई भी मत नहीं हो पाएगा। अधिकतर यही होता भी रहा है। सभी मत एक-दूसरे को काटते रहे। यह एक तरीका है जहाँ यह मानकर चला जाता है कि दो परस्पर विरोधी मतों के बीच कोई एक ही मत सत्य हो सकता है, दोनों सत्य नहीं हो सकते।

साध्य और साधन

लेकिन गीता का मानना कुछ और है। वह मानती है कि दो परस्पर विरोधी मत एक ही लक्ष्य तक पहुँचा सकते हैं। उनके साधन भले ही भिन्न हों, पर साध्य एक ही होता है। इस दृष्टि से गीता ने उपासना पद्धतियों को मुख्यतः दो भागों में बाँट दिया है – साकारोपासना अर्थात् भक्तिमार्ग और निराकारोपासना अर्थात् ज्ञानमार्ग। भक्तिमार्ग का अपना तरीका है, ज्ञानमार्ग का अपना तरीका है; दोनों ही तरीकों से भगवान् प्राप्त हो जाते हैं। भक्त तो साकार-सगुण की

उपासना करता है लेकिन ज्ञानी यह मानता है कि न ब्रह्म का कोई आकार है न उसमें कोई गुण है। ज्ञानी की ब्रह्म की अवधारणा गीता इन शब्दों में बताती है –

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।

ज्ञानी के ब्रह्म को हम विधिमुख और निषेधमुख दोनों प्रकार से समझ सकते हैं। यहाँ विधिमुख से ब्रह्म को सर्वव्यापक, कूटस्थ तथा ध्रुव बताया है और निषेधमुख से अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त तथा अचिन्त्य बताया है। दोनों ही प्रकार के विशेषण वस्तुतः एक ही तथ्य की ओर सङ्केत करते हैं कि ब्रह्म संसार के सभी पदार्थों से विलक्षण है। यही तथ्य ब्रह्म को निराकार और निर्गुण बना देता है जबकि संसार के तो सभी पदार्थ साकार और सगुण हैं।

पहले ब्रह्म के विधिपरक विशेषणों पर विचार करें। यह सर्वव्यापक है तो कूटस्थ तो स्वतः ही होगा, हिल-डुल तो वही सकता है, जो एक देशव्यापी हो। सर्वव्यापक के लिए कोई ऐसा स्थान शेष ही नहीं बचता जहाँ वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर हिल-डुल सके। इस प्रकार ब्रह्म में देशिक परिवर्तन सम्भव नहीं है। वह सार्वकालिक है, अतः उसमें कालिक परिवर्तन भी नहीं हो सकता। जो एक काल में है और दूसरे काल में अभी नहीं है, वही तो एक काल से दूसरे काल में गमन कर सकता है; जो एक साथ ही सब कालों में है, वह किस काल को छोड़ कर किस काल में जाएगा? अतः ब्रह्म में न देशिक परिवर्तन सम्भव है, न कालिक। वह कूटस्थ और ध्रुव है। कूटस्थता से कालिक परिवर्तन का निषेध हो जाता है और ध्रुवता से देशिक परिवर्तन का निषेध हो जाता है।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि निषेध अपनी पूर्णता पर पहुँचकर विधि में और विधि अपनी पूर्णता पर पहुंचकर निषेध में परिणत हो जाते हैं। जो सर्वव्यापक है, वही देशातीत हो जाता है और जो सार्वकालिक है वही कालातीत हो जाता है। अतः शास्त्र ब्रह्म को सर्वव्यापक और सार्वकालिक भी बताते हैं और साथ ही देशानवच्छिन्न और कालानवच्छिन्न भी बताते हैं। इस दार्शनिक समझ ने ही इस देश को शून्य का आविष्कार करने की सामर्थ्य प्रदान की। शून्य निषेध रूप में अत्यन्ताभाव को भी बताता है और विधि रूप में पूर्णता को भी बताता है। शून्य स्वयं में कुछ भी नहीं है, किन्तु फिर भी वह सब संख्याओं का मूलाधार है। यदि हम शून्य से आगे बढ़ें तो १ की संख्या प्राप्त हो जाती है और यदि हम शून्य से पीछे हटें तो -१ की संख्या प्राप्त हो जाती है; यदि शून्य ही न हो तो १ अथवा -१ की संख्या के प्राप्त करने का आधार ही नहीं रह जाएगा।

वीतराग साधना

निषेध अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर कैसे विधि में परिणत होता है, इसका एक उत्तम उदाहरण भगवान् महावीर के जीवन में मिलता है। वे वीतरागता की साधना में प्रवर्त हुए - न किसी से कोई संवाद न सम्पर्क। न किसी से कुछ लेना, न किसी को कुछ देना। साधना काल में लौकिक सम्बन्धों की तो बात ही क्या, उनका गुरु-शिष्य जैसा आध्यात्मिक सम्बन्ध भी किसी से नहीं था। न उनका कोई गुरु था, न शिष्य। (एक गोशालक शिष्य बन गया, गलती से, सो दुःख का ही कारण बना।) यही वीतरागता, निषेधपरक साधना, जब अपनी चरम परिणति – परिपूर्णता को – प्राप्त हो गई तो वे ही भगवान् महावीर सर्वभूतहित में रत हो गए।

अहिंसा सर्वभूतहित ही तो है। जिन्होंने कभी किसी को शिष्य बनाना झंझट समझा होगा, उन्होंने लाखों को अपना शिष्य बनाया। जिन्होंने बोलने को साधना में बाधक समझकर मौन रखा, अब उन्होंने तीर्थ की स्थापना करके दूसरों का मार्गदर्शन करने के लिए देशना देनी प्रारम्भ कर दी। निवृत्ति अपनी चरम परिणति पर पहुँचकर प्रवृत्ति में बदल गई। लेकिन यह प्रवृत्ति, जो निवृत्ति की चरम परिणति में से निकलती है उस प्रवृत्ति से मूलतः भिन्न है जो प्रवृत्ति अस्मदादि साधारण पुरुषों की है।

गीता साधारण प्रवृत्ति और ज्ञानीजनों की प्रवृत्ति का अन्तर बताते हुए कहती है कि ज्ञानी अपनी इन्द्रियों पर संयम रख कर, सबमें समबुद्धि रखते हुए सर्वभूतहित में रत रहता है और जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

सन्त और ज्ञानी का मिलन

अन्तर स्पष्ट है। हमारी प्रवृत्ति इन्द्रियों के वशीभूत होकर चलती है, ज्ञानी की प्रवृत्ति इन्द्रियों को वशीभूत करके चलती है। हमारी प्रवृत्ति अपने-पराए के भेदभाव से सञ्चालित होती है, ज्ञानी की प्रवृत्ति सबके प्रति समभाव रखकर चलती है; हमारी प्रवृत्ति स्वार्थ को केन्द्र में रखती है, ज्ञानी की प्रवृत्ति प्राणिमात्र के कल्याण को केन्द्र में रखती है। इस मौलिक अन्तर के साथ ज्ञानी भी प्रवृत्ति करता है।

यही भक्त और ज्ञानी का मिलन बिन्दु भी है। भक्त भी इन्द्रियों के विषयों के आकर्षण के वश में नहीं होता, न उसमें अपने-पराए का भेद होता है और वह प्राणिमात्र को भगवद्रूप मानकर उनके हित में ही प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार भक्त और ज्ञानी का प्रस्थान बिन्दु भले ही भिन्न है - एक सर्वत्र भगवद्दर्शन से प्रारम्भ करता है, दूसरा दृश्य पदार्थ की ब्रह्मरूपता के निषेध से प्रारम्भ करता है, किन्तु दोनों का अन्तिम बिन्दु पर मिलन हो जाता है। अतः गीता कहती है कि भक्त भगवान् को प्राप्त करते हैं तो ज्ञानी भी भगवान् को ही प्राप्त करते हैं - **ते प्राप्नुवन्ति मामेव।**

इस समानता के बावजूद यह भी स्पष्ट है कि भक्त ज्ञानी के समान यह स्वीकार नहीं कर सकता कि उसका उपास्य अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त और अचिन्त्य है। उसकी समझ में यह नहीं आता कि ऐसे उपास्य की भक्ति कैसे की जा सकती है। भक्ति के लिए तो क्षण-क्षण में बदलने वाला सौन्दर्य चाहिए - **क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।** किसी मन्दिर में जाएँ तो श्रीकृष्ण के विग्रह का प्रातः शृङ्गार कुछ और है, दोपहर कुछ और तथा सायंकाल कुछ और। यह परिवर्तनशीलता का सौन्दर्य है, जहाँ कूटस्थता का आश्वासन नहीं है। अपनी-अपनी रुचि है। एक को लगता है कि भगवान् को तो सर्दी-गर्मी से ऊपर उठा हुआ होना चाहिए, दूसरे को लगता है भगवान् भले ही सर्दी-गर्मी से ऊपर हों लेकिन उनकी पोशाक तो हमारी तरह ही सर्दी-गर्मी ऋतु के अनुसार बदलती रहनी चाहिए। इनमें से किसी एक को ठीक और दूसरे को गलत कहना ही गलत है।

भक्ति से अमृतत्व की प्राप्ति

तर्क कहता है कि भगवान् तो अव्यक्त ही है। श्रुति भी उन्हें अकाम, अव्रण, अस्नाविर, शुद्ध, अपापविद्ध जैसे विशेषणों से विशेषित करती है। जो भी भक्त है वह तो क्षणभङ्गुर, अपूर्ण, दीन, हीन, मलिन, और इतनी उद्विग्नता उत्पन्न करने वाला है कि उसे भगवान् मानना सम्भव नहीं हो पाता। जो साकारोपासना के विरोधी हैं, उनका यही तो तर्क है कि मूर्ति तो जड पत्थर की बनी है, वह भगवान् कैसे हो सकती है? वे मूर्ति तोड़ने को पुण्य-कार्य समझते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में मूर्ति तोड़ कर वे इसी अज्ञानपूर्ण मान्यता को समाप्त कर रहे हैं कि भगवान् भी हमारी तरह हाथ-पाँव वाले अर्थात् व्यक्त हैं। भगवान् तो अव्यक्त हैं, फिर उनकी मूर्ति कैसे बन सकती है?

गीता कहती है कि तर्क की कसौटी पर उपर्युक्त विचार एकदम खरे उतरते हैं। संसार के अधिकतर धर्म मूर्ति-पूजा के विरोध में ही हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम अपना मन अव्यक्त में लगा सकते हैं? मन को तो व्यक्त आधार ही चाहिए। हम सदा गुण के सहारे गुणी को जानते हैं, सीधा निर्गुण द्रव्य तो मन की पकड़ में आता नहीं। आप ऐसे भगवान् पर अपने मन को टिकाना चाहें जिसका न रूप है, न रस, न गन्ध, न स्पर्श, न शब्द, तो आपका मन अभाव को अर्थात् शून्य को ही पकड़ पाएगा, भगवान् को नहीं। यदि हमें अपना मन भगवान् पर टिकाना है तो यह प्रश्न तो सदा बना ही रहेगा कि वे भगवान् कैसे हैं जिन पर हमें अपना मन टिकाना है। 'भगवान् ऐसे हैं'- ऐसा कहते ही वे अव्यक्त नहीं रहते, अपितु व्यक्त की कोटि में आ जाते हैं।

अव्यक्त की उपासना

गीता इसी कठिनाई को ध्यान में रख कर कहती है कि जो अव्यक्त में आसक्त चित्त वाले हैं उनको बहुत परेशानी उठानी पड़ती है –

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

जो अव्यक्त की उपासना करना चाहेगा, उसे सबका निषेध कर देना होगा क्योंकि सब व्यक्त है। फलतः वह अकेला रह जाएगा। कोई साथ रहता है तो यात्रा में साहस बना रहता है। अकेले में यात्रा करनी पड़े तो सब कुछ स्वयं ही सँभालना पड़ता है। जो अव्यक्त की उपासना पर निकले, उन्होंने तो भगवान् की ही सहायता लेने से इन्कार कर दिया। इसीलिए बुद्ध या महावीर इस रूप में जाने जाते हैं कि वे अनीश्वरवादी हैं। बुद्ध ने कहा कि अपने दीपक आप बनो और महावीर ने कहा कि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है, उसे किसी अन्य मित्र को खोजने की आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट है कि अव्यक्त की उपासना के मार्ग में किसी से कोई सहायता नहीं मिलती।

इसके विपरीत व्यक्त की उपासना में न केवल परमात्मा सहायक होता है बल्कि वही सब कुछ कर भी देता है और स्वयं कुछ भी नहीं करना होता। स्वयं तो केवल इस अभिमान को छोड़ना होता है कि मैं भी कुछ कर सकता हूँ। परमात्मा की सहायता कोई साधारण तो है नहीं कि कुछ तो परमात्मा करे और कुछ स्वयं को करना पड़े। परम शक्ति सहायता करे तो फिर स्वयं का कर्त्तव्य इतना ओछा पड़ता है कि उसका होना न होना बराबर है। अतः भक्तिमार्ग में 'मैं भी कुछ करूँगा', यह विचार भी बाधक है। वहाँ जो करेंगे, भगवान् करेंगे। स्पष्ट है कि ज्ञान मार्ग में सारा भार साधक पर रहता है जबकि भक्ति मार्ग में सारा भार भगवान् पर रहता है, स्वयं साधक निर्भार रहता है। ऐसी स्थिति में अव्यक्त की उपासना का मार्ग अपेक्षाकृत कठिनाई से भरा हुआ ही है।

गीता ने एक दूसरी बात यह भी कही है कि अव्यक्त में साधक का चित्त आसक्त रहता है। आसक्ति उपासना नहीं है बल्कि बन्धन है। अव्यक्त चित्त की पकड़ में तो आता नहीं, फिर भी साधक का यह दुराग्रह रहता है कि वह अव्यक्त की ही उपासना करेगा। इस दुराग्रह के कारण अव्यक्त की उपासना तो बन नहीं पाती, अव्यक्त से आसक्ति अवश्य जुड़ी रहती है। आसक्ति कदापि धर्म नहीं है। मजेदार बात यह है कि धर्म ने भी हमें अधिकतर अनासक्ति न देकर आसक्ति ही दी है। यह बात दूसरी है कि यह आसक्ति पैसे की न होकर सम्प्रदाय की है, किन्तु है वह भी आसक्ति ही। इसे ही मजहबी जुनून या 'फेनेटिसिज्म' कहा जाता है। मजहबी जुनून के पीछे व्यक्ति मारने-मरने पर उतारू हो जाता है। इसे धर्म-प्रेम नहीं समझ लेना चाहिए। कल्पना करें कि एक व्यक्ति निराकार का उपासक है। भगवान् की मूर्ति नहीं बन सकती – यह मान कर वह मूर्ति तोड़ने के लिए मोहम्मद गजनवी की तरह अपने प्राणों को भी दांव पर लगा देता है। वह मूर्ति तोड़ भी देता है। किन्तु भगवान् मूर्त्त नहीं हैं, अमूर्त्त हैं – यह मान कर भी वह अमूर्त्त भगवान् को जानने का कितना प्रयत्न करता है? उसका पुरुषार्थ केवल मूर्त का खंडन करने तक सीमित है, अमूर्त्त को जानने की लगन उसमें नहीं है। यदि वह वस्तुतः अमूर्त्त को जान ले तो फिर मूर्ति तोड़ने में उसका कोई रस शेष नहीं रह जाएगा। किन्तु उसमें मजहबी जुनून तो है, धर्म-प्रेम नहीं है। अव्यक्त के पक्षधर अधिकतर अव्यक्त में आसक्त तो रहते हैं किन्तु अव्यक्त की उपासना नहीं कर पाते।

तर्क से यह सिद्ध कर लेना कि भगवान् अव्यक्त है, बहुत सरल है किन्तु अव्यक्त की उपासना कर पाना बहुत दुष्कर है। अव्यक्त तक पहुँचने के लिए विचार का अतिक्रमण करना पड़ता है, विचारातीत होना पड़ता है। हम विचार के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करके बैठे हैं अर्थात् हमने यह समझ रखा है कि हम विचार हैं। फिर हम विचारों का अतिक्रमण कैसे कर सकते हैं? कोई अपना ही अतिक्रमण कैसे करेगा?

इसलिए अव्यक्त की उपासना के लिए पहले देहाभिमान छोड़ना आवश्यक है। देह का अर्थ केवल स्थूल शरीर नहीं है, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर भी देह का ही हिस्सा है। इसलिए देहाभिमान छोड़ने का अर्थ है – स्थूल शरीर के साथ-साथ मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार एवं संस्कारों के साथ भी अपना तादात्म्य सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेना। इसीलिए तो ज्ञानी ही निराकार की उपासना कर पाता है। ज्ञानी का अर्थ यह नहीं है कि उसने बहुत से शास्त्र पढ़ लिए हैं। ज्ञानी का अर्थ है कि जो अपने आपको न शरीर समझता है, न मन, न बुद्धि, न अच्छे-बुरे संस्कार। ऐसा ज्ञानी तो अव्यक्त की उपासना कर सकता है किन्तु देहाभिमानी अव्यक्त की भी कल्पना अपने विचारानुसार करता रहेगा। उसका

अव्यक्त वास्तविक न होकर उसके पूर्वाग्रहों से कल्पित होगा। उदाहरणतः वह एक ज्योति को अव्यक्त मान कर ज्योति की उपासना को ही अव्यक्त की उपासना मान लेगा। जो अव्यक्त है, वह ज्योति स्वरूप भी कैसे हो सकता है? गीता कहती है कि देहाभिमानी के लिए अव्यक्त को जान पाना दुःशक्य ही है। देहाभिमानी के लिए तो अव्यक्त भी उसके मन का प्रक्षेपण ही होता है।

भगवदर्पण कर्म

इसके विपरीत, जो साधक निर्विकल्पता और निर्विचारता की दुर्गमता को समझ कर सगुण-साकारोपासना को अपना लेते हैं, वे अपने समस्त कर्म भगवदर्पण करके अनन्य भाव से भगवान् के ही ध्यान में लीन रहते हैं –

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।

अव्यक्त की उपासना में अपने अतिरिक्त शेष सबका निषेध करना होता है। साकारोपासना में भगवान् के अतिरिक्त सबका निषेध करना होता है। ज्ञानी तो समाधि में चला जाता है। भक्त कर्म छोड़ता नहीं, प्रत्युत कर्म को ही भगवदुपासना का साधन बना लेता है। दोनों मार्गों के अपने-अपने खतरे हैं। ज्ञानमार्ग में यह खतरा है कि साधक का अहङ्कार कहीं स्व-पर के भेद से ऊपर उठकर अद्वैत की स्थिति में आने के स्थान पर अपने सीमित स्व को ही ब्रह्म न समझ बैठे। भक्तिमार्ग का यह खतरा है कि भक्त आसक्ति-पूर्ण कर्मों को भी कहीं भगवदर्पण-बुद्धि से किए गए कर्म घोषित न कर दे। फिर भी यह स्पष्ट है कि भक्त स्खलित होगा तो सामान्यजन की कोटि में आकर रह जाएगा किन्तु ज्ञानी का स्खलन उसे पागलपन तक ले जा सकता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने भक्तों का मैं मृत्यु रूपी संसार-सागर से शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।

सामान्यतः हम समझते हैं कि मृत्यु का उल्टा जीवन है जबकि सच यह है कि जीवन और मृत्यु तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मृत्यु का उल्टा जीवन नहीं है, मृत्यु का उल्टा अमृत है, मोक्ष है। जिसे आज की भाषा में जीवन कहा जाता है उसे शास्त्रीय भाषा में संसार कहा जाता है। गीता यहाँ मृत्यु को संसार कह रही है। यदि मृत्यु न हो तो न जीवन हो, न संसार हो, मृत्यु से छुटकारा पाने का अर्थ है – संसार से छुटकारा पाना। जहाँ तक संसार है, मृत्यु भी वहाँ तक बनी ही रहेगी।

मृत्यु और मोक्ष

इस मृत्यु रूपी संसार-सागर से भगवान् ही उद्धार कर सकते हैं और वह भी अविलम्ब। भगवान् का अर्थ ही है जो मृत्यु के पार है, मृत्यु की पकड़ से परे है। मृत्यु कोई स्थान नहीं है और न मोक्ष कोई स्थान है कि हमें एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाना हो। मृत्यु भी एक भाव-दशा है, मोक्ष भी एक भाव-दशा है। मृत्यु यह भाव है कि मैं अब नहीं रहा, मेरा अस्तित्व समाप्त हो गया, मोक्ष यह भाव है कि मैं सदा हूँ। उपनिषद् ने मृत्यु के दो लक्षण दिए – असत् और तमस्; अमृत के भी दो लक्षण हैं – सत् और ज्योति। असत् और तमस् की एक भाव-दशा है जिसे मृत्यु कहा जाता है, सत् और ज्योति की दूसरी भाव-दशा है जिसे अमृत कहा जाता है। उपनिषद् की प्रार्थना कहती है कि मुझे असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो –

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतं गमय

संक्षेप में अहं का भाव मृत्यु है, भगवद्भाव अमृत है। जहाँ "मैं" है वहाँ मृत्यु अवश्यम्भावी है। जहाँ अहं का विलय हो जाता है, वहाँ जो शेष बचता है वही भगवान् है। भक्ति में अहं का विलय हो जाता है, 'मैं' मिट ही जाता है, तब 'तू' ही शेष रहता है।

कबीर ने एक गम्भीर बात कही –

प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाई।
मैं हूँ तो हरि है नहीं, हरि है तो मैं नांहि॥

भगवत्प्रेम तो बड़ी बात है, साधारण लौकिक प्रेम में भी अपने अहं को यत्किञ्चित् मारना होता है, बल्कि कहना चाहिए कि प्रेम में अहं स्वयं दब जाता है। जब तक हम अपने में जगह न बनाएँ, दूसरा वहाँ कैसे प्रवेश कर सकता है। अतः जब कोई दूसरा हममें प्रविष्ट होता है तो हमारा अहं उतनी दूर तक संकुचित हो जाता है जितनी दूरी में दूसरा समाता है। यह तो लौकिक प्रेम की बात हुई जहाँ दूसरा भी सीमित होता है। अतः वह भी रह जाए और हम भी रह जाएँ, यह सम्भव है, किन्तु हरि तो असीम है, वे मुझमें आएँगे तो मुझे उनके लिए अपने में स्थान बनाने के लिए तो अपने को पूरी तरह ही समेट लेना होगा। यही अहं का विलय है, यही भगवद्दर्शन है, यही मृत्यु से, संसार-सागर से उबर जाना है। जब अहं रहा ही नहीं तो मरेगा कौन? और जो रह गया वह भगवान् है जो सद्रूप और ज्योतिरूप है, अतः अमृत है। मृत्यु गई तो संसार-सागर स्वयं ही सूख गया क्योंकि मृत्यु और संसार तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ऐसा सिक्का तो हो नहीं सकता जिसका एक पहलू हो और दूसरा पहलू हो ही नहीं। भक्ति अहं का विलय है, कर्ता का विलय है, किन्तु कर्म का विराम नहीं है। भक्त से कर्म होते रहते हैं किन्तु कर्तव्य का अभिमान उसमें नहीं रहता। इसी स्थिति के लिए श्रीकृष्ण ने कहा कि भक्त सब कर्म मुझे समर्पित कर देता है। जिनके लिए विचारातीतता या नैष्कर्म्य की समाधिस्थता दुष्कर है, उनके लिए भी भक्ति का मार्ग खुला है। गीता कहती है कि ज्ञानी का निर्गुण-निराकार की उपासना का मार्ग कठिन है, भक्ति का मार्ग अधिकतर लोगों के लिए सुलभ है। फिर भी यदि कोई निराकारोपासना ही करना चाहे तो लक्ष्य की प्राप्ति उसे भी हो जाएगी, किन्तु उसे विचारातीतता में जाना होगा।

मूल तथा अनुवाद

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥९॥

और यदि तुम मुझमें स्थिर चित्त लगाने में समर्थ नहीं हो तो हे अर्जुन! अभ्यास योग द्वारा मुझे ही प्राप्त करने की इच्छा करो॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

और यदि तुम अभ्यास करने में भी समर्थ नहीं (तो) मेरे लिये ही कर्म करने वाले बनो। मेरे लिये कर्म करते हुए भी तुम सिद्धि को प्राप्त कर लोगे॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

और यदि तुम यह भी नहीं कर सकते कि मेरे योग का सहारा लेकर ही (कर्म करो) तो अपने पर संयम करके सारे कर्मों के फल का त्याग कर दो॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, तथा ध्यान से (भी) कर्म के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल शान्ति (मिलती है)॥१२॥

विपुल-भाष्य
भक्ति में तर्क का स्थान

भक्ति एक भाव है। उसका सम्बन्ध हृदय पक्ष से है। इसलिए यह भ्रम हो जाता है कि भक्ति से बुद्धि का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। शंकराचार्य एक तार्किक थे, लेकिन एक भक्त भी थे। यह बात उनके स्तोत्रों से स्पष्ट हो जाती है। चैतन्य महाप्रभु तो परमभक्त के रूप में प्रसिद्ध हैं लेकिन भक्ति के प्रवाह में आने से पहले वे बंगाल के सुप्रसिद्ध तार्किक थे।

श्रीकृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन! तू मुझमें ही अपना मन लगा और मुझमें ही अपनी बुद्धि को भी लगा। इस प्रकार तू मुझमें ही रमने लगेगा, इसमें संदेह नहीं –

मय्येव मन आधस्त्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

यहाँ श्रीकृष्ण ने भगवान् में बुद्धि को लगाने की बात भी की है, मन को लगाने की बात तो की ही है। निराकार की उपासना करने वाला ज्ञानी तो ब्रह्म को मन तथा बुद्धि दोनों से परे मानता है। अतः उसमें मन या बुद्धि के लगाने का प्रश्न ही नहीं है। किन्तु भक्त भगवान् के साकार रूप की उपासना करता है। जो सगुण साकार है वह मन तथा बुद्धि का भी विषय हो सकता है। गीता ने मन तथा बुद्धि में भी मन को प्रथम रखा। इसका भी एक रहस्य है।

तर्क के दो उपयोग

तर्क की अपेक्षा भाव की पकड़ गहरी है। तर्क हमारे अस्तित्व की ऊपरी सतह पर ही काम करता है, भाव गहराई में जाता है। भगवान् को प्रथम भाव से ही पकड़ना होता है। तदनन्तर तर्क भी खोजे जा सकते हैं। तर्क के दो उपयोग हैं। जो तर्क से प्रारम्भ करते हैं, वे पाते हैं कि तर्क से तुष्टि नहीं होती – नान्तरात्मा प्रसीदति। चैतन्य महाप्रभु के साथ यही हुआ। बंगाल भर में उनके तार्किक रूप की धूम मची थी लेकिन अन्दर से वे कहीं सूनापन अनुभव कर रहे थे। उस सूनेपन को भक्ति ने भरा। गली-गली झूम-झूम कर कीर्तन करने लगे। उन्होंने तर्क से ही तर्क की निस्सारता जान ली। यह तर्क का प्रथम उपयोग है।

तर्क का दूसरा उपयोग भी है। सत्य को आप अनुभव से जान लीजिए। फिर उस अनुभव की सत्यता को सिद्ध करने के लिए तर्क खोजिए। आचार्य शंकर ने कहा कि श्रुति के अनुरूप तर्क का अनुसंधान करना चाहिए – श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्। तर्क से सत्य तो नहीं मिलता, किन्तु सत्य की पुष्टि में तर्क खोजा अवश्य जा सकता है। यही तर्क का सदुपयोग है। गीता इसी मार्ग का समर्थन करती है। पहले भगवान् में मन को लगाओ, भगवान् के भाव से मन को भावित कर लो। सब विश्व भगवद्रूप दिखने लगेगा। फिर बुद्धि से – तर्क से – भी इसी अद्वैत की सिद्धि में लग जाओ। अद्वैत का अनुभव हुआ – यह ठीक है, लेकिन कोई भी अनुभव तर्क विरुद्ध तो नहीं हो सकता। अतः किसी भी अनुभव को तर्क से पुष्ट किया जा सकता है। यदि कोई अनुभव तर्क से कट जाए तो फिर वह अनुभव भ्रम की कोटि में चला जाएगा। इसलिए जिन्होंने सत्य का अनुभव किया, उनका वह अनुभव मूल्यवान् है किन्तु उस अनुभव की यथार्थता को सिद्ध करने वाले तर्क भी कम मूल्यवान् नहीं हैं। मीरा जैसे भोले भक्त बहुत प्यारे हैं किन्तु भक्ति का विवेचन करने वाले शाण्डिल्य भी महत्वपूर्ण हैं। गीता के अनुसार क्रम यह होना चाहिए कि मन पहले और बुद्धि बाद में। यह भी ठीक नहीं है कि मन तो भगवान् में लग जाए और बुद्धि कहीं अन्यत्र लगी रहे। इस प्रकार जब पूरा व्यक्तित्व भगवान् में लग जाता है तो भक्त भगवान् में ही रमण करने लगता है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र का प्रथम पाद समाधिपाद के रूप में लिखा। जिन साधकों का चित्त जन्म-जन्मान्तर की साधना से परिष्कृत हो चुका है उनके लिए समाधिपाद ही पर्याप्त है। उन्हें उससे आगे का योगसूत्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं। वे उत्तम पात्र हैं। किन्तु जिनका चित्त इतना निर्मल नहीं कि वे तत्काल समाधि में जा सकें, उनके

लिए योगसूत्र का दूसरा पाद साधनपाद नाम से बनाया गया। वे मध्यम पात्र हैं। उन्हें तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान जैसे क्रियायोग से पहले अपने चित्त को निर्मल बना कर फिर समाधि में जाना होगा।

गीता में अत्यन्त कृपापूर्वक श्रीकृष्ण ने पात्र की क्षमता के अनुसार उपर्युक्त भगवद्रमण की प्रक्रिया के अनन्तर तीन प्रक्रियाएँ और बताईं। यदि साधक भगवद्रूप में रमण न कर सके – मन बुद्धि को भगवान में न लगा सके – तो अभ्यास करे और फिर भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा करे। यदि वह अभ्यास भी न कर सके तो फिर सब कर्म भगवदर्पण कर दे। इस प्रकार भी वह सिद्धि को प्राप्त कर लेगा –

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।।

साधक और भगवान् का तादात्म्य

पहली प्रक्रिया है कि साधक अपना और भगवान् का तादात्म्य सम्बन्ध समझे। हम सब अनुभव करते हैं कि हमारे शरीर, मन, बुद्धि निरन्तर बदल रहे हैं। दूसरी ओर संसार भी निरन्तर बदल रहा है। यही शरीर, मन तथा बुद्धि का संसार से तादात्म्य सम्बन्ध है। दोनों का एक ही क्षणभंगुर रूप है। दूसरी ओर शरीर, मन तथा बुद्धि के बदलने पर भी 'मैं' नहीं बदलता हूँ, मैं जो बचपन में था, वही जवानी और बुढ़ापे में भी बना हूँ - ऐसी 'मैं' की अपरिवर्तनशीलता सबके अनुभव में आती है। दूसरी ओर भगवान् भी नहीं बदलते। यही मेरा भगवान् से तादात्म्य सम्बन्ध है। इस नाते मैं वस्तुतः तो नित्य ही भगवान् में निवास कर रहा हूँ किन्तु मन और बुद्धि संसार का भाग होने के कारण संसार में लगे हैं। जब मैं अपने को मन-बुद्धि समझने लगता हूँ तो यह मान बैठता हूँ कि मैं तो संसार में आसक्त हूँ, भगवान् में नहीं लगा हूँ। यह मान कर मैं दुःखी होता रहता हूँ। वस्तुतः मेरी यह धारणा झूठी है। यदि मैं यह समझ लूँ कि मैं तो नित्य ही भगवान् में स्थिर हूँ, भले ही मन-बुद्धि संसार में भटकते रहें तो परिणाम यह होगा कि मन-बुद्धि भी भगवान् में ही लग जाएँगे। यह ज्ञान-मार्ग है।

मन-बुद्धि से अपने को भिन्न समझ सकना ज्ञान-मार्ग की पहली शर्त है। यह सबके लिए संभव नहीं है। दूसरा विकल्प है अभ्यास-योग। आसन, प्राणायाम, यम, नियम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि रूप अष्टाङ्ग योग अभ्यास-योग है। ये सब साधन मन-बुद्धि को संसार से हटाकर किसी एक इष्ट पर एकाग्र करने के हैं। इस एकाग्रता का साधन मंत्र-जप भी हो सकता है, ईश्वर-प्राणिधान भी हो सकता है अथवा त्राटक भी हो सकता है। प्रक्रिया यह है कि चित्त को सब ओर से हटाकर किसी एक पर लगा लिया जाए और फिर अंत में उस एक को भी छोड़ दिया जाए। इस प्रकार चित्त-वृत्ति को पहले एकाग्र किया जाता है और फिर उसका सर्वथा निरोध कर दिया जाता है। इन्हें ही क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। यह योगी का मार्ग है। जो ज्ञान-मार्ग से न जा सकें, वे योग-मार्ग से जाएँ।

योगाभ्यास के लिए अलग से समय निकालना होता है तथा योगाभ्यास की प्रक्रिया में गुरु भी आवश्यक है। बिना जानकार व्यक्ति से सीखे करने से आसन अथवा प्राणायाम भी लाभ के स्थान पर हानि कर सकते हैं। अतः श्रीकृष्ण एक और भी सरल उपाय बताते हैं। हम हर समय कुछ न कुछ कर्म तो करते ही रहते हैं। यदि थोड़ा विचार करें तो पाएँगे कि हमारे इन सब कर्मों के पीछे अभिप्राय किसी न किसी सांसारिक पदार्थ को प्राप्त करने का रहता है। सभी सांसारिक पदार्थ नश्वर हैं। यदि वे प्राप्त हो भी जाएँ तो नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए रात-दिन कर्म करने पर भी हमें संतोष नहीं होता। यदि हम इन्हीं कर्मों की दिशा मोड़ दें तो ये ही कर्म बन्धन के स्थान पर भगवत्प्राप्ति का साधन बन सकते हैं। यदि हम इन कर्मों का लक्ष्य सांसारिक पदार्थों को न मानकर भगवत्प्राप्ति मान लें, तो ये कर्म वस्तुतः भगवत्प्राप्ति का साधन बन सकते हैं।

किसी भी कर्म के दो फल रहते हैं – लौकिक और पारमार्थिक। महत्वपूर्ण यह है कि हमारी दृष्टि किस फल पर है। उदाहरणतः एक अध्यापक अध्यापन करता है। इसके दो फल हैं। एक तो अध्यापन करने के बदले में उसे वेतन मिलता है – यह लौकिक फल हुआ। दूसरे वह अध्यापन के द्वारा अपना तथा अपने विद्यार्थी का ज्ञान बढ़ाता है – यह पारमार्थिक फल हुआ। भगवान् प्राणि-मात्र के कल्याण में लगे हैं, अध्यापक भी यदि विद्यार्थी के कल्याण पर दृष्टि रखे तो वह वही कर रहा है जो भगवान् कर रहे हैं अर्थात् दोनों ही प्राणियों के कल्याण में लगे हैं। अतः अध्यापक का अध्यापन-कर्म भगवान् के लिए किया गया कर्म हो जाएगा। यह एक उदाहरण सभी कर्मों पर घट जाएगा। चिकित्सक की दृष्टि यदि अपनी फीस पर न रहकर रोगी के दुःख दूर करने पर है तो उसका चिकित्सा-कर्म बन्धन न बन कर भगवदुपासना बन जाएगा। उसे फीस मिलती है – यह आनुषंगिक है किन्तु उसकी दृष्टि फीस पर नहीं, रोगी के कष्ट निवारण पर है। अतः उसका मुख्य प्रयोजन रोगी का कष्ट निवारण हो गया।

परमार्थिक कर्म

ऐसी दृष्टि होने के दो फल हैं। प्रथम तो ऐसी दृष्टि होने पर साधक अनुचित कर्म करेगा ही नहीं। अनुचित कर्म स्वार्थ-सिद्धि के ही लिए किए जाते हैं। जब कर्म का लक्ष्य ही परोपकार है, स्वार्थ नहीं, तो फिर अनैतिक कर्म करने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे,ऐसी पारमार्थिक दृष्टि से कर्म करने पर कर्म का सम्बन्ध जड से हटकर चेतन से जुड़ जाता है। वेतन अथवा फीस जड पदार्थ है, विद्यार्थी अथवा रोगी चेतन है। जड में कोई आनन्द नहीं रह सकता, आनन्द सदा चेतन में ही रहता है। विद्यार्थी का ज्ञान बढ़ता देखकर अध्यापक को अथवा रोगी का कष्ट दूर होता देखकर चिकित्सक को जो आनन्द मिलता है, वही वास्तविक जीवन है। जो इस आनन्द से वंचित है, उसके जीवन में पद, प्रतिष्ठा अथवा पैसा कोई सुख उत्पन्न करने के स्थान पर एक ऊब और असंतोष ही उत्पन्न करते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसके कर्म पारमार्थिक फल को दृष्टि में रखकर किए जाते हैं उसके कर्म भी भगवत्प्राप्ति करा देते हैं। इसके लिए उसे किसी योगाभ्यास की अलग से आवश्यकता नहीं होती। यह मार्ग अत्यन्त सरल है। जो ज्ञान मार्ग पर भी न चल सकें, योगाभ्यास भी न कर सकें, वे इस कर्मयोग के मार्ग को अपना सकते हैं। कर्मयोगी का प्रत्येक कर्म ही भगवदुपासना बन जाता है।

कर्म–फल भगवान के आधीन

श्रीकृष्ण साधारण गुरु नहीं हैं, जगद्गुरु हैं। वे स्वयं भगवान् हैं, करुणा के सागर हैं। संसार का बन्धन साधारण नहीं है, जन्म-जन्मान्तर के संस्कार-जीव को बाँधे है। जीव इस बन्धन से जब छूटना चाहता है तो नाना प्रकार के प्रयत्न करता है फिर भी सफलता नहीं मिलती। ऐसे में श्रीकृष्ण आश्वासन की भाषा बोलते हैं। वे एक उपाय बताते हैं। फिर कहते हैं कि यदि हे अर्जुन! तू यह उपाय भी न कर पाये तो यह दूसरा उपाय कर, यदि यह उपाय भी तेरे लिए सम्भव न हो तो यह तीसरा उपाय है। अर्थात् अनेक विकल्प साधक के सामने हैं। ऐसे में साधक अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार कोई भी एक विकल्प चुन सकता है और सुखद बात यह है कि सभी विकल्पों का समान महत्व है।

श्रीकृष्ण ने कहा कि यदि व्यक्ति सर्वत्र भगवद् दर्शन न कर सके तो अभ्यास करे। पतंजलि का योगदर्शन आठ अङ्गों में उस अभ्यास की प्रक्रिया को बताता है कि व्यक्ति किस प्रकार समाधि में जा सकता है। यदि कोई अभ्यास भी न कर सके तो फिर जो भी कर्म मनुष्य करे उन कर्मों का यही एक लक्ष्य रखे कि भगवद्प्राप्ति करनी है तो वे सारे कर्म ही भगवद्प्राप्ति का साधन बन जाएँगे। साधक यह भी न समझे कि वह कर्मों का करने वाला है बल्कि यह समझे वह जो कुछ भी कर रहा है, ईश्वर ही कर रहा है।

कर्तव्य का अहंकार

यह समझना कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, जो कुछ कर रहा हूँ ईश्वर कर रहा है- सरल नहीं है। स्पष्ट दिखाई देता है कि मैं ही कर रहा हूँ। ऐसे में कर्तव्य का अहंकार छूटता नहीं है। श्रीकृष्ण अन्त में एक चौथा उपाय बताते

हैं, जो बहुत सरल भी है और बहुत प्रभावशाली भी। माना कि कर्म हम करते हैं, कर्म करना हमारे आधीन है, हम चाहें तो करें चाहें तो न करें, चाहें तो एक प्रकार से करें, चाहें तो दूसरी प्रकार से करें। इस प्रकार यह मानना कठिन है कि कर्म मैं नहीं कर रहा हूँ क्योंकि ऐसा स्पष्ट लगता है कि कर्म मैं ही कर रहा हूँ। लेकिन कर्म का फल तो मेरे आधीन बिल्कुल नहीं है। यदि कर्म का फल मनुष्य के आधीन होता तो कोई भी मनुष्य कभी विफल होता ही नहीं, सभी सदा ही अपना मनोवांछित फल प्राप्त कर लेते। लेकिन ऐसा नहीं होता बल्कि अधिकतर तो हम जो चाहते हैं वह हमें मिल नहीं पाता है। ऐसे में यह मानना होगा कि कर्म का फल हमारे आधीन नहीं है। जो मेरे आधीन है ही नहीं, उसे पकड़ने का प्रयत्न दुःख ही दे सकता है। ऐसे में साधक यह कर सकता है कि वह कर्म के फल को छोड़ दे। कर्म करता रहे, लेकिन कर्म के फल की इच्छा से मुक्त हो जाए।

यह सामान्य समझ की बात है कि जो मेरे हाथ में नहीं है मैं उसे पकड़ने का प्रयत्न करके कोई प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर सकता। प्रश्न होता है कि कर्म का फल किसके आधीन है? तो मान लें कि कर्म का फल भगवान् के आधीन है। ऐसा मानते ही परम शान्ति मिलेगी। कारण कि कर्म का फल यदि भगवान् के आधीन है तो साधक बहुत सुरक्षित है। भगवान तो सदा ही साधक का भला चाहते हैं। यदि कर्म का फल भगवान् के आधीन है तो फिर साधक निश्चिन्त रह सकता है कि उसका अहित होने वाला नहीं है। भगवान् जो भी फल देगा, उस फल में साधक का हित ही होगा। यह समझ आते ही शान्ति प्राप्त हो जाती है।

हमें अशान्ति इसलिए बनी रहती है कि हम समझते हैं कि कर्म का फल अमुक प्रकार का होगा तो उसमें ही हमारा हित है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम भगवान् की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् हैं। भगवान् हमारा हित सोचकर एक प्रकार का फल हमें दे रहे हैं, हम मान रहे हैं कि फल ऐसा नहीं ऐसा होना चाहिए था। तो इसका यह अर्थ हुआ कि या तो हम अपने आपको भगवान् से अधिक बुद्धिमान समझते हैं और या फिर हमारा यह विश्वास नहीं है कि भगवान् हमारा हित चाहता है। जैसे ही हम यह मान लेते हैं कि भगवान् हमारी अपेक्षा बहुत अधिक दूर तक देख सकते हैं और वे सदा हमारा हित ही चाहते हैं, वैसे ही जो भी फल मिलेगा हम उसी में प्रसन्न रहेंगे – यही शान्ति प्राप्त करने का मार्ग है।

गीता अनेक मार्ग बता देने के बाद यह बताती है कि कर्म के फल की इच्छा का त्याग श्रेष्ठ है। क्रम यह है कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। अभ्यास से सफलता मिल सकती है लेकिन अभ्यास का मार्ग बड़ा लम्बा है।

परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान

ज्ञान का मार्ग छोटा है लेकिन ज्ञान के मार्ग से भी सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। शब्द से जो हमें पता चलता है वह परोक्ष ज्ञान है। इसलिए गीता ने कहा, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यान से हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। हम सत्य को सीधा जान लेते हैं, इसलिए ज्ञान से ध्यान को श्रेष्ठ बताया। पर ध्यान से भी अधिक उत्तम कर्म फल की इच्छा छोड़ने को बताया। कारण यह कि एक तो हम सदा ध्यान में रह नहीं सकते दूसरे ध्यान सरल भी नहीं है। अधिक से अधिक हम जितनी देर ध्यान में रहेंगे उतनी देर शान्ति बनी रहेगी। लेकिन जैसे ही ध्यान से उठेंगे और प्रतिदिन के कर्मों में लगेंगे वैसे ही पुनः अशान्ति धर दबोचेगी, जबकि कर्म के फल की इच्छा को हमेशा के लिए छोड़ा जा सकता है। इसलिए उससे प्राप्त होने वाली शान्ति हमेशा बनी रह सकती है।

कर्म के फल की इच्छा को छोड़ देना गीता का अपना मौलिक चिन्तन है। गीता की दृष्टि में यह मार्ग सरल भी है और तुरन्त तथा स्थायी फलदायी भी है। इसलिए श्रीकृष्ण ने इसी मार्ग को श्रेष्ठ बताया है यद्यपि दूसरे योगाभ्यास, ज्ञान और ध्यान के मार्गों को भी प्रतिपादित किया है। कर्म के फल की इच्छा को छोड़कर कर्म करते रहने का यह मार्ग व्यावहारिक भी है। इसके लिए न संसार छोड़ना पड़ता है और न कर्म छोड़ने पड़ते हैं। केवल एक दृष्टि बदलनी पड़ती है। गीता का प्रसंग देखा जाए तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को न योगाभ्यास करने को कहा, न शास्त्र पढ़ने के लिए और न ध्यान करने के लिए अपितु युद्ध करने का आदेश दिया। ऐसे में युद्ध करते हुए भी उसे किसी फल की इच्छा

नहीं करनी चाहिए। इतनी-सी बात श्रीकृष्ण ने और जोड़ दी और इतना-सा कह देने से सारा परिदृश्य बदल गया। यही गीता की विशेषता है।

गीता का मार्ग आधुनिक युग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। इस युग में सभी व्यस्त हैं, सबके पास समय का अभाव है। चाहे योगाभ्यास करें या शास्त्रों का अभ्यास करें या ध्यान – इन सभी साधनों के लिए समय निकालना पड़ता है। कर्मफल भगवान पर छोड़ने के लिए अलग से समय निकालने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, केवल दृष्टि बदलनी होती है। अभी हम कर्म कर रहे हैं किन्तु हमारी दृष्टि फल पर लगी है। इसके दो परिणाम होते हैं – प्रथम तो हम कर्म को पूरे मनोयोग से नहीं कर पाते अतः हमारा कर्म सुचारु नहीं बन पाता। ऐसे अधूरे मन से किया गया कर्म प्रायः विफल ही हो जाता है, और यदि फल दे भी दे तो पूरा फल नहीं देता। दूसरे, हमारी दृष्टि तो फल पर है और फल हमारी इच्छानुकूल न हुआ तो हमारे हाथ दुःख ही लगता है।

अप्राप्त की लालसा

एक तथ्य और भी चिन्तनीय है। हमारी कामनाएँ इतनी अनन्त हैं कि वे कभी पूरी नहीं होतीं। हम कर्म करते हैं और उससे अभीष्ट फल मिल भी जाता है। किन्तु फिर भी हमें कभी तृप्ति नहीं होती क्योंकि जैसे ही हमें कोई फल मिल जाता है, हमें उस फल में कोई रस नहीं रह जाता है। मन का स्वभाव है कि वह प्राप्त की उपेक्षा करके अप्राप्त को ही प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। यही हमारे असंतुष्ट तथा दुःखी रहने का मूल कारण है।

हम फल पर दृष्टि न रखें। फल की चिन्ता भगवान् पर छोड़ दें। हम स्वयं कर्म की चिन्ता करें। कर्म सदा वर्तमान में होता है, फल सदा भविष्य में रहता है। कर्म करने का अपना आनन्द है। वह आनन्द हमारे आधीन है। हम उसी आनन्द में रमें। इससे हमारे कर्म में कुशलता आती चली जाएगी। जैसे-जैसे हमें कर्म में आनन्द आएगा, वैसे-वैसे कर्मकुशलता बढ़ेगी और जैसे-जैसे कर्मकुशलता बढ़ेगी वैसे-वैसे कर्म का आनन्द बढ़ेगा। एक समय ऐसा आयेगा कि कर्म ही हमारे लिए भगवान् बन जाएगा और फल की हमें परवाह ही नहीं रहेगी।

पहले तो समझना यह है कि फल हमारे आधीन नहीं है। दूसरी समझ यह होनी चाहिए कि कर्म भी हम नहीं कर रहे, प्रकृति में कर्म हो रहे हैं। हमें यह बात माननी नहीं है कि हम कर्त्ता नहीं हैं, अपितु यह जाननी है कि हम कर्त्ता नहीं हैं। कर्म का भार प्रकृति पर है, और फल भगवान् के आधीन है – यह समझ लेने पर साधक स्वयं भारहीन हो जाता है। वह केवल निमित्त-मात्र रह जाता है, दृष्टा और ज्ञाता ही रह जाता है।

मूल तथा अनुवाद

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

सभी भूतों से द्वेष न करने वाला, मित्र, करुण तथा ममता-रहित, अहङ्कार-रहित, सुख-दुःख में समान, क्षमावान्, सन्तुष्ट, निरन्तर योगयुक्त, संयमी, दृढ़निश्चय, ऐसा मुझमें मन तथा बुद्धि को लगा देने वाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।१३-१४।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

और जिससे प्राणी उद्विग्न न हो तथा जो प्राणियों से उद्विग्न न हो, जो हर्ष, क्रोध, और भय के आवेगों से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है।।१५।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

जो आकाङ्क्षा रहित, शुद्ध, कुशल, तटस्थ, दुःखरहित है वह सभी कर्मों (के कर्तृत्व) का त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥

जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है, वह शुभ-अशुभ दोनों को छोड़ देने वाला भक्तिमान् मुझे प्रिय है॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥१८॥

जो शत्रु तथा मित्र में, मान तथा अपमान में, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख में समान है तथा सभी आसक्ति से मुक्त है॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१९॥

जो निन्दास्तुति में समान है, मौन, जो मिल जाये उसी से सन्तुष्ट है, अगृही तथा स्थिर मति है, वही मुझे प्रिय है ॥१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

जो श्रद्धायुक्त मत्परायण इस उक्त धर्मामृत की उपासना करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं॥२०॥

विपुल-भाष्य

भगवान् का प्रिय कौन

गीता के बारहवें अध्याय के तेरहवें श्लोक से लेकर अन्तिम बीसवें श्लोक तक यह बताया गया है कि परमात्मा को प्रिय कौन है? इन आठ श्लोकों में एक आदर्श भक्त का पूरा चरित्र चित्रित कर दिया गया है। परमात्मा तो वीतराग है, उसे कुछ भी न प्रिय है, न अप्रिय। परमात्मा के प्रिय होने का अर्थ केवल इतना है कि जिसमें आगे बताए जाने वाले गुण होते हैं, वह परमात्मा को ग्रहण कर लेता है। पहला गुण है – प्राणीमात्र के प्रति द्वेष का अभाव और मैत्री तथा करुणा का सद्भाव। द्वेष हमें दूसरों से काट देता है। मैत्री और करुणा हमें दूसरों से जोड़ती है। कटकर हम निर्बल हो जाते हैं, जुड़कर हम सशक्त हो जाते हैं। हममें मैत्री हो, पर ममता न हो; करुणा हो, पर अहंकार न हो। मित्रता सामने वाले को राग-द्वेष से ऊपर उठाती है, ममता उसे राग-द्वेष में धकेलती है। करुणा सब को अपने बराबर समझती है, अहंकार अपने को सबसे ऊपर समझता है। इसलिए कहा गया कि करुणा हो, पर अहंकार न हो। मैत्री हो, पर ममता न हो। जो दुःख से डरेगा, वह दुःख के कारण के प्रति द्वेष भी रखेगा। जो सुख चाहेगा, उसको सुख के साधनों के प्रति ममता भी होगी। इसलिए साधक को दुःख और सुख में समान रहना चाहिए। इसी में उसकी क्षमता का वास्तविक परिचय मिलता है।

भक्त सदा सन्तुष्ट रहता है। उसके लिए सभी परिस्थितियाँ भगवान् का वरदान हैं। इसलिए उसके असन्तुष्ट होने का प्रश्न ही नहीं है। वह आत्मसंयमी और दृढ़-निश्चय वाला होता है। वह अपने मन और बुद्धि को पूर्णतः भगवान्

को अर्पित कर देता है। न वह स्वयं उद्विग्न होता है और न उससे ही कोई उद्विग्न हो सकता है। उसकी शान्ति इतनी गहरी होती है कि उसे किसी प्रकार का हर्ष, शोक या भय भंग नहीं कर सकता।

सहज पाप और कृत्रिम पुण्य

हम प्रायः समझते हैं कि सुख अच्छा है। लेकिन श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा को वह प्रिय है जो दुःख के साथ हर्ष को भी छोड़ दे। हमारा हर्ष भी दुःख को छिपाने का एक साधन है। अज्ञानी तो सदा ही दुःखी है। वह कोई कारण ढूँढ़कर हँस लेता है तो लगता है कि वह सुखी हो गया। जिसका अज्ञान चला गया, उसे ऐसे हर्ष की आवश्यकता ही नहीं रहती। हमारा पुण्य भी हमारे पाप को छिपाने के लिए होता है। पुण्य स्वाभाविक नहीं है, पाप तो हमसे सहज ही हो जाता है। लेकिन पुण्य हम बहुत प्रयत्नपूर्वक करते हैं। ऐसे पुण्य से केवल अहंकार पुष्ट होता है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि भक्त शुभ और अशुभ दोनों को छोड़ देता है। उसमें कोई आसक्ति का भाव नहीं होता। इसलिए उसके लिए शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सुख और दुःख दोनों समान होते हैं।

भक्त निन्दा और स्तुति में समान रहता है। स्तुति से हम प्रसन्न इसलिए होते हैं कि स्तुति से हमारा अहंकार पुष्ट होता है और निन्दा से हम दुःखी इसलिए होते हैं कि निन्दा से हमारे अहंकार पर चोट पड़ती है। भक्त तो यह मानकर ही चलता है कि वह कुछ भी नहीं है, जो कुछ है भगवान् है। ऐसे में उसमें अहंकार रहता ही नहीं तो वह स्तुति से प्रसन्न क्यों होगा और निन्दा से दुःखी क्यों होगा? वस्तुतः स्तुति और निन्दा से सुखी या दुःखी होने वाला अपने को दूसरों की दया पर छोड़ देता है। उसे स्वयं को अपने पर कोई भरोसा नहीं है कि वह कैसा है? यदि उसे दूसरे अच्छा बता दें तो वह अपने को अच्छा मानने लगता है और दूसरे बुरा बता दें तो बुरा मानने लगता है। मानों वह स्वयं तो अपने को जानता नहीं है, उसे दूसरे ही जानते हैं। जबकि सच यह है कि दूसरे हमें जान ही नहीं सकते, हम स्वयं ही अपने को जान जाएँ तो बहुत बड़ी बात है। हमारे भाग्य का निर्णय इससे होता है कि हम वस्तुतः कैसे हैं। दूसरों के प्रमाण-पत्र से हमारे भाग्य का निर्णय नहीं होता। ऐसे में दूसरों की स्तुति-निन्दा वस्तुतः कोई महत्व नहीं रखती।

संतोष का अर्थ

गीता ने संतोष की बात बार-बार की है। किसी भी परिस्थिति के नकारात्मक और विधायक दोनों पक्ष होते हैं। कोई परिस्थिति ऐसी नहीं है जो शुद्ध रूप से नकारात्मक हो या विधायक। संतोष का अर्थ व्यक्ति के या परिस्थिति के विधायक पक्ष को देखने वाली दृष्टि है। जो विधायक पक्ष को देखेगा वह सदा सन्तुष्ट ही रहेगा।

हम सोचते हैं कि परिस्थिति बदल जाए तो हम सुखी हो जाएँगे। इसलिए प्रायः हम स्थान बदलना चाहते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि भक्त किसी स्थान को अपना मानता ही नहीं, वह अनिकेत होता है। जब कोई स्थान उसका है ही नहीं तो वह किसी एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाए, यह प्रश्न ही नहीं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि भक्त में ये सब गुण होते हैं किन्तु वह इन गुणों के बदले में कुछ चाहता नहीं है।

गीता की यह विशेषता है कि उसमें दर्शन को भी उतना ही महत्व दिया गया है जितना महत्व आचरण को दिया गया है। इसलिए गीता दर्शन का तो एक गम्भीर ग्रन्थ है ही, समाज-व्यवस्था का भी एक उत्तम निदर्शन है। भारतीय चिन्तन में एक आदर्श सामाजिक प्राणी का पूरा विवरण है लेकिन उसका आधार समाज नहीं है, भगवद्दर्शन है। गीता के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्त के जो गुण यहाँ गिनाए गए हैं वे भक्त को एक आदर्श सामाजिक प्राणी भी बना देते हैं। किन्तु सामाजिक कर्त्तव्यों के विवेचन में और गीता के वर्णन में कुछ मौलिक भेद हैं।

प्रथम तो समाज का आधार एक संविदा है, एक द्विपक्षी समझौता है। उसमें सदा यह सम्भावना रहती है कि यदि एक पक्ष समझौता तोड़ देगा तो दूसरा पक्ष भी समझौता मानने के लिए बाध्य नहीं है। किन्तु भक्त का चरित्र बिना शर्त के है। दूसरा कुछ भी करे, वह अपना व्यवहार बदलता नहीं है।

दूसरा भेद यह है कि सामाजिक चिन्तन में जहाँ कर्त्तव्य का विचार होता है वहाँ अधिकार का विचार भी होता है। यदि अधिकार प्राप्त न हो तो सामाजिक प्राणी उद्विग्न हो सकता है। किन्तु भक्त कर्त्तव्य-पालन के बदले में किन्हीं अधिकारों की माँग नहीं करता।

वस्तुस्थिति तो यह है कि भक्त के कर्त्तव्य-पालन में कोई प्रयत्न रहता ही नहीं है, उससे सहज वही होता है जिसमें सबका कल्याण होता है। उसे तो यह बोध भी नहीं होता कि वह किसी कर्त्तव्य का पालन कर रहा है। इसलिए उसमें उसे किसी प्रकार का अहंकार भी नहीं होता। समाजदर्शन में लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। भक्त की चर्या का लक्ष्य भगवद्दर्शन है। भगवद्दर्शन का एक आनन्द है जो अलौकिक है, जबकि सुख नितान्त लौकिक है।

उपकार के बिना करुणा

सामाजिक प्राणी यह समझता है कि वह दूसरों को सुख देगा। भक्त का व्यक्तित्व इतना निर्मल होता है कि वह कुछ भी न करे तो भी उसकी उपस्थिति मात्र से दूसरों को अपूर्व आनन्द मिलता है। उसकी करुणा सर्वत्र प्रवाहित होती है किन्तु वह उपकार का बोझ किसी पर लादता नहीं है।

भक्त के सम्बन्ध में एक बात और भी विशिष्ट है। उसमें मित्रता तथा करुणा का भाव रहने से उसकी चर्या सरस होती है जबकि ज्ञानी की चर्या कदाचित् नीरस भी हो सकती है। ज्ञानी पिता के समान है किन्तु भक्त तो माँ के समान है। एक बड़ा सत्य यह है कि भक्त को क्योंकि भगवान् प्राप्त रहते हैं इसलिए उसे उन क्षुद्र वस्तुओं की बिल्कुल भी चिन्ता नहीं होती जिनकी चिन्ता सामान्य संसारी जीव किया करते हैं।

इस प्रकार भक्त की चर्या में और उसके व्यवहार में एक असाधारणता स्पष्ट झलकती है। इसी असाधारणता का विवरण देते हुए गीता का द्वादश अध्याय सम्पन्न होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

श्रीभगवान् बोले –

हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। जो इसे जानता है उसे तत्त्वविद् क्षेत्र कहते हैं।।१।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

हे अर्जुन! सभी क्षेत्रों में तुम मुझे क्षेत्रज्ञ समझो। जो इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है मेरे मत में वह (वास्तविक) ज्ञान है।।२।।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श‍ृणु।।३।।

वह क्षेत्र जो है और जैसा है, जिनसे उत्पन्न हुआ है और जिन विकारों वाला है, उसका जो प्रभाव है, संक्षेप में तुम उसे मुझसे सुनो।।३।।

विपुल-भाष्य

शरीर और चेतना पृथक्-पृथक् हैं

चाहे सगुण साकार की उपासना करें, चाहे निर्गुण निराकार की, लक्ष्य तो दोनों ही उपासनाओं की अतीन्द्रिय ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। अन्तर इतना है कि सगुण साकार की उपासना करने वाला सगुण साकार के माध्यम से अतीन्द्रिय तत्व तक पहुँचता है और निर्गुण निराकार की उपासना करने वाला बिना किसी माध्यम के ही उस तत्व तक पहुँचता है। जो माध्यम का सहारा लेते हैं, उन्हें सरलता रहती है किन्तु अंत में तो उन्हें भी माध्यम के पार ही जाना होता है। सगुण साकार को एक शब्द में कहना चाहें तो शरीर कह सकते हैं और निर्गुण निराकार को एक शब्द में चेतन कह सकते हैं। गीता के तेरहवें अध्याय के प्रारम्भ में शरीर को क्षेत्र और चेतना को क्षेत्रज्ञ कहा है। शरीर 'इदं' है, चेतना 'अहं' है। शरीर ज्ञेय है, चेतना ज्ञाता है। शरीर विषय है, ऑब्जेक्ट है; चेतना विषयी है, सब्जेक्ट है।'

पहले शरीर को देखें तो इसके तीन स्तर हैं। पहला माता-पिता के रज-वीर्य से बनने वाला पंच भूतात्मक स्थूल शरीर जो अन्न पर टिका रहने के कारण अन्नमय कोष भी कहलाता है। दूसरा स्तर सूक्ष्म शरीर का है जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राण, मन और बुद्धि से बना है। इसमें प्राण, मन और बुद्धि को केन्द्र में रखकर बनने वाले क्रमशः प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय नामक तीन कोष रहते हैं।

जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था

बुद्धि से परे अज्ञान है। इस अज्ञान का अधिकरण कारण शरीर कहलाता है। इसे आनन्दमय कोष भी कहा जाता है। शरीर की इन तीनों स्थितियों का अनुभव हमें अपनी ही तीन स्थितियों में होता है। जागृत अवस्था में हमें स्थूल

शरीर का भान होता रहता है। स्थूल शरीर का यह भान स्वप्न अवस्था में नहीं रहता वहाँ सूक्ष्म शरीर का भान बना रहता है। इसलिए वहाँ मन और बुद्धि अपना काम करते रहते हैं, जिसके कारण हमें स्वप्न दिखाई देते हैं। सुषुप्ति अवस्था में हमें सूक्ष्म शरीर का भी भान नहीं रहता अर्थात् मन और बुद्धि का भी भान नहीं रहता किन्तु फिर भी यह अनुभव होता है कि आज मुझे बहुत सुख की नींद आई। यह सुख का अनुभव कारण शरीर को होता है और क्योंकि यहाँ दुःख नहीं रहता, इसीलिए इसे आनन्दमय कोष कहा जाता है।

शरीर को शरीर कहने का प्रयोजन यह है कि वह प्रति क्षण नष्ट होता है क्योंकि शरीर का शब्दार्थ है - जिसकी प्रति क्षण हिंसा हो रही है, शरीर को क्षेत्र कहने का प्रयोजन यह है, जैसे खेत में खेती की जाती है वैसे ही शरीर से कर्म करके शरीर में ही उन कर्मों का फल प्राप्त किया जाता है। मूल बात यह है कि किसी भी स्तर पर शरीर ज्ञेय ही है, ज्ञाता नहीं है। ज्ञाता तो चेतना है, जो इस शरीर को जानने के कारण क्षेत्रज्ञ कहलाती है। यह जानने पर ही साधक का देहाभिमान छूटता है अर्थात् साधक यह जानता है कि वह शरीर नहीं है, अपितु शरीर का ज्ञाता है। यह जान लेने पर शरीर में होने वाले विकार साधक को प्रभावित नहीं कर पाते। वह शरीर में होने वाले दुःख-सुख को देखता-जानता तो है किन्तु उन्हें अपना नहीं मानता। इसीलिए वह दुःख और सुख में समान रह पाता है। यदि दुःख और सुख वस्तुतः साधक के हैं, तब तो सुख में अनुकूलता दुःख में प्रतिकूलता मानना उचित ही होगा। ऐसी स्थिति में वह सुख और दुःख में समानता का भाव कैसे रख सकता है? अतः शरीर में और चेतना में भेद करना अथवा दूसरे शब्दों में 'मैं शरीर हूँ' इस देहाभिमान को छोड़ना, साकार और निराकार, दोनों ही प्रकार की उपासनाओं के लिए आवश्यक है।

देहाभिमान को छोटे-छोटे अभ्यासों से छोड़ा जा सकता है। जब हम भोजन करें तो यह न समझें कि मैं भोजन कर रहा हूँ। विवेक यह किया जाए कि भोजन शरीर कर रहा है और मैं जान रहा हूँ कि शरीर भोजन कर रहा है। चलना, बोलना, उठना, बैठना सभी क्रियाओं में यह अभ्यास किया जा सकता है कि कोई भी क्रिया शरीर में हो रही है, मुझमें नहीं। मैं केवल उस क्रिया को देख-जान रहा हूँ। इस अभ्यास के निरन्तर करते रहने से हमारा देहाभिमान छूट जाएगा और तभी हमारी साधना सफल हो पाएगी।

अभीष्ट की प्राप्ति

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ। क्षेत्र अनेक हैं; क्षेत्रज्ञ एक ही है। इसे ऐसे समझें जैसे अनेक घड़े रखे हैं, किन्तु उन घड़ों में रहने वाला घटाकाश एक ही है। घट की उपाधि से विभक्त होने के कारण अनेक घटाकाश प्रतीति में आ सकते हैं, लेकिन वस्तुतः आकाश एक ही है। शरीर की उपाधि के कारण चेतना, जीव के रूप में अनेक हैं – ऐसा प्रतीति में आता है किन्तु चेतना वस्तुतः एक ही है। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। हम सूक्ष्मता में जाकर देखें तो हम अनेक प्रकार के ज्ञान इसलिए अर्जित करते हैं कि उन ज्ञानों के द्वारा अभीष्ट की प्राप्ति कर सकें। हमारा अन्तिम अभीष्ट तो दुःख से छुटकारा पाना है और समस्त दुःख शरीराश्रित है। क्योंकि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान से देहाभिमान छूट जाता है और दुःख से भी छुटकारा मिल जाता है, इसलिए वास्तविक ज्ञान तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही है –

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।

यहाँ यह बात भी जानने योग्य है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह ज्ञान तभी कार्यकारी होता है जब अनुभवजन्य हो। शब्दशः यह जान लेना कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, व्यवहार में उपयोगी सिद्ध नहीं होता। इसलिए इस तत्व का अनुभव साधक को स्वयं करना होता है। भौतिक विज्ञान और अध्यात्म में यह अन्तर है कि यदि कोई वैज्ञानिक एक आविष्कार करे तो दूसरे लोग भी उस आविष्कार का लाभ उठा सकते हैं; उन्हें स्वयं विज्ञान का सिद्धांत जानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु मार्ग तो दिखा सकता है किन्तु साध्य तक पहुँचने के

लिए उस मार्ग पर चलना साधक को स्वयं ही पड़ता है। इसलिए जिस प्रकार विज्ञान के आविष्कारों का लाभ पैसा देकर खरीदा जा सकता है उस प्रकार अध्यात्म के फल दूसरों से क्रय नहीं किये जा सकते। दूसरे शब्दों में अभ्युदय की प्राप्ति धन से हो सकती है किन्तु निःश्रेयस की प्राप्ति धन से नहीं होती। उसके लिए तो स्वयं ही साधना के तप में तपना पड़ता है।

समस्त विकार क्षेत्र में होते हैं, क्षेत्रज्ञ निर्विकार है। इस बात को समझने के लिए क्षेत्र का स्वरूप समझना होगा। कार्य-कारण सिद्धांत क्षेत्र पर ही लागू होता है, क्षेत्रज्ञ पर नहीं। क्षेत्र के मूल को मूल प्रकृति कहते हैं क्योंकि यह बुद्धि आदि का कारण तो है किन्तु स्वयं किसी कारण का कार्य नहीं है। इस मूल प्रकृति में सर्वप्रथम महत्तत्व अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है। यह मूल प्रकृति का कार्य अर्थात् विकृति है और अहंकार का कारण अर्थात् प्रकृति है। इसी प्रकार अहंकार बुद्धि से उत्पन्न होने के कारण विकृति भी है और पंच महाभूतों को उत्पन्न करने के कारण प्रकृति भी है। अहंकार से उत्पन्न होने के कारण पाँच महाभूत विकृति भी हैं और इन्द्रियों को जन्म देने के कारण वे प्रकृति भी हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ पंच महाभूतों से उत्पन्न होने के कारण विकृति तो हैं किन्तु स्वयं किसी को उत्पन्न न करने के कारण प्रकृति नहीं हैं। इस प्रकार क्षेत्र में कुल चौबीस तत्व आते हैं –

१. एक मूल प्रकृति जो केवल प्रकृति है, विकृति नहीं।
२. पंच महाभूत, एक अहंकार और एक बुद्धि, ये सात जो प्रकृति भी हैं और विकृति भी।
३. दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय, ये सोलह जो केवल विकृति हैं।

क्षेत्रज्ञ की निर्विकारता

इन चौबीस तत्वों के समुदाय रूप शरीर में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, जैसे विकार उत्पन्न होते रहते हैं और विलीन होते रहते हैं। इन क्षेत्र के विकारों को ही अज्ञानवश क्षेत्रज्ञ जब अपने विकार मान लेता है तो दुःख उत्पन्न होता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच भेद करना, जिसे विवेक-ख्याति कहा जाता है, दुःख से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय है। विवेक ख्याति का फल यह है कि इसके द्वारा क्षेत्रज्ञ की निर्विकारता को जान कर हम यह समझ लेते हैं कि हम तो तीनों ही कालों में शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन स्वरूप हैं। हमें अपूर्ण से पूर्ण बनना नहीं है अपितु यह समझना है कि हम पूर्ण ही हैं और भ्रमवश अपने को अपूर्ण समझे हुए हैं। यदि हम वस्तुतः अपूर्ण हों तो फिर कभी पूर्ण हो ही नहीं सकते।

मूल तथा अनुवाद

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

ऋषियों ने उसे अनेक प्रकार से विविध वेद मन्त्रों में विभक्त करके तथा सुनिश्चित युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रों द्वारा कहा है॥४॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥६॥

महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, एकादश इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियों के विषय तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख (पाँच भूतों का), सङ्घात, चेतना, धृति - इन विकारों सहित को सङ्क्षेप में क्षेत्र कहा गया है॥५-६॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।७।।

निरभिमानिता, दम्भ का अभाव, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्य की उपासना, शुद्धि, स्थिरता, आत्मसंयम।।७।।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।८।।

इन्द्रियों के विषयों में संयम, वैराग्य, अहङ्कार का अभाव, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि में दुःख के दोष को देखना।।८।।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।९।।

पुत्र-स्त्री-गृह आदि में अनासक्ति, असङ्गता, इष्ट-अनिष्ट में नित्य समता।।९।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१०।।

मुझमें अनन्यतायुक्त एकान्त भक्ति, एकान्त सेवन, जन-समूह में अरति।।१०।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

नित्य अध्यात्म ज्ञान में स्थिति, तत्त्व ज्ञान का दर्शन - ये ज्ञान है, इससे विपरीत (सब) अज्ञान कहा गया है।।११।।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

मैं जो जानने योग्य है तथा जिसे जानकर अमृतत्व प्राप्त होता है, उसे कहूँगा। वह अनादि है, परम ब्रह्म न सत् कहलाता है, न असत्।।१२।।

विपुल-भाष्य

ज्ञानी का आचरण

गीता के बारहवें अध्याय में भक्त की जीवन शैली बताई गई है जबकि तेरहवें अध्याय में सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक ज्ञानी के गुणों का वर्णन है। इन दोनों सूचियों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट होती है कि भक्त और ज्ञानी की चर्या लगभग एक जैसी है। दोनों ही निरहंकार, विरक्त और सुख-दुःख में समभाव रखने वाले होते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि ज्ञान और भक्ति की साधना का मार्ग भिन्न है तथापि दोनों का साध्य एक ही है।

ज्ञानी का प्रथम लक्षण निरभिमानता को बताया गया है। अभिमान आत्मा का तो किया नहीं जा सकता क्योंकि आत्मा सबकी समान है। जाति, विद्या, गुण, पद आदि का ही अभिमान हो सकता है। अतः जिसमें अभिमान है उसका अर्थ यह है कि उसकी दृष्टि आत्मा पर नहीं है, अपितु अनात्मा पर है। ज्ञान का दूसरा घटक दम्भ का अभाव है। यदि हम जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय दूसरों को दिखाने के लिए करते हैं तो वह दम्भ कहलाता है। दम्भ का अर्थ है कि साधक की दृष्टि दूसरों पर है, अपने पर नहीं। तदनुसार चाहे वह दूसरों की प्रशंसा तो प्राप्त कर ले लेकिन उसका

स्वयं का कल्याण नहीं हो पाता। वस्तुतः तो यह पता चलने पर कि साधक क़ी साधना प्रदर्शन के लिए है, उसके लिए दूसरों की प्रशंसा भी लुप्त हो जाती है। दूसरे यह समझ जाते हैं कि वह ढोंगी है।

स्वभाव से क्षमाशील

ज्ञानी यह जानता है कि दूसरों को कष्ट देना अपने लिए ही दुःखों को आमंत्रित करता है। यदि हम दूसरों को कष्ट देते हैं तो वे भी हमें बदले में कष्ट ही देना चाहेंगे और इस प्रकार हिंसा के द्वारा हम अपने लिए ही विपरीत परिस्थिति पैदा कर लेंगे। अतः ज्ञानी हिंसा से बचता है। हमें दूसरों के दोषों पर रोष आ सकता है, किन्तु ज्ञानी को यह दिखाई देता है कि दूसरों के दोषों से अधिक दोष स्वयं उसमें है। इसलिए यह स्वभाव से ही क्षमाशील होता है। ज्ञानी द्वैत मानता ही नहीं, इसलिये उसके पास किसी से कुछ भी छिपाने के लिये नहीं होता; वह सहज ही ऋजु होता है।

ज्ञान के लिए गुरु का बहुत महत्व है। गुरु की उपासना का अर्थ है - अहंकार का विसर्जन। अहंकारी व्यक्ति किसी को अपना गुरु मान ही नहीं सकता। ज्ञान के मार्ग में अनेक बार निराशा होने लगती है। ऐसे में गुरु की उपासना ही साधक को सान्त्वना दे सकती है। ज्ञानी अपने व्यवहार में पवित्रता रखता है अर्थात् कोई भी अनुचित साधन नहीं बरतता।

हम जानते हैं कि धर्म का मार्ग कौन-सा है फिर भी हम उस मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाते क्योंकि हम इन्द्रियों के विषयों से आकृष्ट हो जाते हैं। आवश्यक है कि हम इन्द्रियों के विषयों के प्रति रागबुद्धि न रखें। इन्द्रियों के विषयों में लिप्त रहने के कारण हमें यह पता ही नहीं चल पाता कि जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि के दुःख हमें सदा घेरे हुए हैं। यदि इन दुखों पर हमारी दृष्टि जाए तो सहज ही जन्म-मरण के चक्र से छूटने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है। यह इच्छा ही साधना के मार्ग पर साधक को चलाती है।

सारे सुख, जो संयोग से उत्पन्न होते हैं, अन्त में दुःख में बदल जाते हैं। इस कारण ज्ञानी संयोग से मिलने वाले पदार्थों के साथ किसी प्रकार की आसक्ति न रखते हुए अनुकूल-प्रतिकूल के प्रति समभाव रखता है। होता यह है कि जैसे ही कोई अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है हम तत्काल अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त कर देते हैं। इसलिए उस परिस्थिति के बारे में तटस्थ भाव से सोचने का हमें अवसर ही नहीं मिलता।

यह तत्काल की गई प्रतिक्रिया यान्त्रिक होती है और इसलिए इसमें हमारे ज्ञान का कोई योगदान नहीं होता। यदि हम उस परिस्थिति से थोड़ी दूरी बनाकर तटस्थ भाव से देखेंगे तो हम उस परिस्थिति पर युक्तियुक्त प्रतिक्रिया कर सकेंगे। अभ्यास के बढ़ जाने पर हमें पता चलेगा कि किसी भी परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करने का अर्थ है – परिस्थिति की दासता स्वीकार करना। ऐसा ज्ञान होने पर हम परिस्थिति से मुक्त हो जाएँगे और किसी भी परिस्थिति के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया न करते हुए नित्य समभाव में रह सकेंगे।

अनन्य भक्ति

ज्ञानी की एक शर्त यह भी है कि उसकी भक्ति अनन्य होती है। ज्ञान बुद्धि-प्रधान है, भक्ति हृदय-प्रधान। प्रधानता की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग को बुद्धि-प्रधान माना जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ हृदय का नितांत अभाव हो जाता है। किसी भी साधक में दोनों ही पक्ष एक साथ रहते हैं। शङ्कराचार्य विशुद्ध ज्ञान-मार्गी थे किन्तु उनके बनाए स्तोत्र अत्यन्त भक्ति-भाव से भरे हुए हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा भक्ति में प्रधान-गौण भाव हो सकता है किन्तु कोई विरोध नहीं है।

ज्ञानी का एक गुण है कि वह एकान्तप्रिय होता है और उसे भीड़-भाड़ में कोई रुचि नहीं होती। भीड़ अपने से विमुख होकर परमुखापेक्षी होने का साधन है। भीड़ में हम अपने को भुला सकते हैं किन्तु ज्ञान तो निरन्तर आत्म-स्मृति की अपेक्षा रखता है। अतः ज्ञानी एकान्तप्रिय होता है। सत्य की यात्रा अकेले ही करनी होती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि परमार्थतः हम अकेले ही हैं। भीड़ इस सत्य को भुलाने का साधन है; लेकिन भूल जाने से सत्य झूठ नहीं बन जाता।

ज्ञानी की रुचि अध्यात्म में एकनिष्ठ होती है। सामान्य व्यक्ति की रुचि अनेक चीजों में रहती है। ऐसा नहीं है कि उन अनेक चीजों में से एक अध्यात्म भी हो सकता हो। जिन अनेक चीजों में व्यक्ति की रुचि होती है, वे सब समानजातीय हैं। अतः उनमें एक साथ रुचि हो सकती है। व्यक्ति स्वादिष्ट भोजन में भी रुचि रखता हो और सुंदर वस्त्र भी पहनना चाहता हो – यह सम्भव है। इन दोनों रुचियों का सम्बन्ध इन्द्रियों के विषयों से है किन्तु अध्यात्म का विषय विजातीय है; वह अतीन्द्रिय है। अतः उसका तालमेल अन्य रुचियों से नहीं हो सकता। अतः अध्यात्म की रुचि एकनिष्ठ ही होनी चाहिए। ज्ञानी के यहाँ अनेक गुण ऐसे बताए गए जिनका सम्बन्ध आचरण से है। अन्त में यह भी कहा गया कि ज्ञानी तत्वज्ञान का दृष्टा होता है। गीता अथवा वेदान्त आचार-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा को समान महत्व देते हैं।

बौद्ध परम्परा ने आचार-मीमांसा पर तो बल दिया किन्तु तत्त्व-मीमांसीय प्रश्नों को अव्याकृत अथवा अव्याख्येय कह कर छोड़ दिया। अतः गीता की आचार-मीमांसा की यदि धम्मपद की आचार-मीमांसा से तुलना की जाए तो परस्पर बहुत समानता मिलेगी किन्तु फिर भी इन दोनों में एक मौलिक भेद है। गीता की आचार-मीमांसा का आधार सांख्य तथा वेदान्त की तत्व मीमांसा है जबकि बौद्ध परम्परा आत्मा, परमात्मा तथा प्रकृति जैसे तत्त्वों पर प्रायः विचार किए बिना ही सदाचार का प्रतिपादन करती है।

व्यावहारिक दृष्टि

गीता उपर्युक्त सारे अमानित्व आदि गुणों को गुण न कह कर ज्ञान ही कह देती है। ज्ञान से ये गुण उत्पन्न होते हैं। अतः कारण में कार्य का उपचार करके गुणों को ज्ञान ही कह दिया गया है। यही दृष्टि गीता को व्यावहारिक बना देती है। चाहे भक्ति हो, चाहे ज्ञान, आचरण का महत्व सर्वत्र है। यह दृष्टि पश्चिम से सर्वथा भिन्न है। वहाँ किसी दार्शनिक के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की ही चिन्ता की जाती है, उसके आचरण की चर्चा नहीं होती। आचरण उसका व्यक्तिगत जीवन माना जाता है। भारतीय परम्परा यह मानती है कि ज्ञान की कसौटी आचरण है। यदि ज्ञान सच्चा है तो यह हो ही नहीं सकता कि वह व्यक्ति के आचरण में न उतरे। इसलिए पश्चिम में दर्शन कुछ गिने-चुने शिक्षा-क्षेत्र के व्यक्तियों की चीज बनकर रह गया जबकि भारत में दर्शन जन-साधारण तक पहुँच सका। गीता जहाँ पण्डितों की चर्चा का विषय बनी, वहाँ सामान्य व्यक्ति भी इसमें बराबर की रुचि लेता है।

मूल तथा अनुवाद

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१३॥

सब ओर हाथ-पैर, सब ओर नेत्र, सिर तथा मुख, सब ओर कान - ऐसा वह संसार में सबको घेर कर स्थित है॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१४॥

सब इन्द्रियों के गुणों को आभासित करने वाला, परन्तु (वस्तुतः) सब इन्द्रियों से रहित, आसक्ति रहित (किन्तु) सबका भरण-पोषण करने वाला, निर्गुण (किन्तु) गुणों को भोगने वाला वह है॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥१५॥

(वह) भूतों के बाहर तथा अन्दर (भी) है, चराचर वही है, वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय तथा समीप एवं दूर भी है॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

वह विभाग-रहित होने पर भी प्राणियों में विभक्त-सा होकर स्थित है तथा वह ज्ञेय परमात्मा प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला, संहार करने वाला तथा उत्पन्न करने वाला है।।१६।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

वह ज्योतियों की भी ज्योति, तम से परे कही गयी है। वह सबके हृदय में ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञानगम्य है।।१७।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

मैंने इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय का सङ्क्षेप में वर्णन किया है। मेरा भक्त इसे जानकर मेरे स्वरूप में ही लीन हो जाता है।।१८।।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।१९।।

प्रकृति और पुरुष – इन दोनों को ही अनादि मानो। विकार और गुणों को प्रकृति से उद्भूत हुआ समझो।।१९।।

विपुल-भाष्य

द्वन्द्वातीत परमात्मदर्शन से अमृतत्व-प्राप्ति

ज्ञान के लक्षण के रूप में ज्ञानी के निरहंकारता आदि गुण बताए गए। प्रश्न होता है कि इन गुणों के होने पर साधक किस तत्व को जान लेता है? उत्तर में कहा गया है कि ज्ञानी के लिए वही तत्व जानने योग्य है जिसके जानने पर वह अमृतत्व को प्राप्त कर ले। वस्तु जगत् के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त करके हम विज्ञान और तकनीक के द्वारा नाना प्रकार की सुख सुविधाएँ प्राप्त करते हैं, किन्तु अमृतत्व को प्राप्त नहीं कर सकते। मैत्रेयी ने उपनिषद् में अपने पति याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न किया था कि क्या वह धन के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त कर लेगी? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि धन के द्वारा किसी को अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती। इस पर मैत्रेयी ने यह मार्मिक बात कही कि अन्त में यदि मृत्यु ही आनी है तो फिर शेष सुख-सुविधाओं का क्या महत्त्व रह जाता है।

ज्ञान का परम लक्ष्य

इसलिए श्रीकृष्ण ने ज्ञान का परम लक्ष्य अमृतत्व को माना और बताया कि ब्रह्म को जानकर अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है। ब्रह्म के प्रथम लक्षण के रूप में एक विचित्र वक्तव्य दिया गया कि न उसे सत् कहा जा सकता है, न असत् कहा जा सकता है। सामान्य तर्क यह है कि या तो पदार्थ सत् या असत् होगा। किन्तु यदि थोड़ा गम्भीरता से विचार करें तो पता चलेगा कि हम 'है' का प्रयोग उसी के लिए करते हैं जिसके न होने की भी सम्भावना हो। उदाहरणतः जब-जब हम यह कहते हैं कि 'घट' है तो उसका यह अर्थ होता है कि इसकी सम्भावना है कि घट न हो। इस सम्भावना को नकारने के लिए ही हम 'है' शब्द का प्रयोग करते हैं। उत्पत्ति से पहले भी घट नहीं होता और नष्ट हो जाने के बाद भी घट नहीं रहता। 'घट है' यह कहने का यह अर्थ है कि घट उत्पन्न हो चुका है और नष्ट नहीं हुआ है।

किन्तु परमात्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी नष्ट होता है। इसलिए उसके सम्बन्ध में यह कहना कि 'परमात्मा है' कोई अर्थ नहीं रखता। जब यह सदा से है और सदा रहता है तो उसके सम्बन्ध में यह कहने का भी कोई अर्थ नहीं है कि परमात्मा नहीं है क्योंकि वह तो अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। शास्त्रीय भाषा में कहें तो ब्रह्म का घट के समान प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार परमात्मा अनादि-अनन्त है उस प्रकार संसार का कोई अन्य पदार्थ अनादि-अनन्त है नहीं। इसलिए हम उन पदार्थों के सम्बन्ध में सत् अथवा असत् शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और करते भी हैं। अन्य शब्दों की भी यही स्थिति है।

जब हम दिन शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका यह अर्थ होता है कि दिन की प्रतिद्वंद्वी रात भी है। यदि रात हो ही नहीं तो दिन शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष यह है कि हमें संसार में पदार्थ द्वन्द्व रूप में विभक्त हुए ही दिखाई पड़ते हैं और हमारी सारी भाषा द्वन्द्वात्मकता को ही अभिव्यक्त करने के लिए बनी है और क्योंकि परमात्मा निर्द्वन्द्व है इसलिए उसके सम्बन्ध में भाषा का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

निराकार की दृष्टि से देखें तो परमात्मा का वर्णन उपर्युक्त दृष्टि से होगा। किन्तु साकार की दृष्टि से देखें तो परमात्मा को सत् रूप में मानना होगा क्योंकि उसका अस्तित्व सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। इसलिए कहा गया कि उसके हाथ, पाँव, आँख, कान, सिर और मुख सर्वत्र हैं। जैसे सोने में सारे आभूषण रहते हैं अथवा स्याही में सारी वर्णमाला रहती है, वैसे ही भगवान् में समस्त प्राणी रहते हैं। इसलिए जहाँ कोई भी अवयव है वह अवयव भगवान् का ही है। जो द्वन्द्वातीत को जान लेता है उसे द्वंद्व में भी द्वंद्वातीत का ही दर्शन होता है। जिसकी दृष्टि महाकाश पर है उसे घटाकाश में भी महाकाश ही दिखता है। जिसकी दृष्टि निराकार पर है उसे साकार में भी निराकार दिख जाता है।

साकार और निराकार

साकार रूप में परमात्मा ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे सब इन्द्रियों से और सब गुणों से युक्त हैं। किन्तु निराकार रूप में वे सब इन्द्रियों से रहित हैं। निराकार रूप में व आसक्ति से रहित हैं किन्तु साकार रूप में वे सबका भरण-पोषण करते हैं। वे निर्गुण भी हैं और समस्त गुणों का भोग भी करते हैं। यही लीला है। जब कोई व्यक्ति लीला करता है तो वह सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता। यदि वह सचमुच कुछ करे तो फिर उसका करना कर्म हो जाएगा, लीला नहीं रहेगी। यह संसार भगवान् की लीला है। इसलिए इसमें जो कुछ भी हो रहा है वह भगवान् ही कर रहा है, किन्तु वस्तुतः वह कुछ भी नहीं कर रहा।

यदि पानी को घड़े के आकार में जमा कर बर्फ के ऐसे घड़े बना लिए जाएँ जो अन्दर से खोखले हों और उन्हें नदी में डाल दिया जाए तो उन घड़ों के अन्दर भी पानी भर जाएगा और बाहर भी पानी रहेगा और स्वयं वे घड़े भी बर्फ के बने होने के कारण पानी ही हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि पानी घड़ों के अन्दर भी है और बाहर भी है और तरल पानी तो पानी है ही, सघन बर्फ भी पानी है। उसी प्रकार से कहा जा सकता है कि परमात्मा सबके अन्दर भी है, सबके बाहर भी है। वही जड है और वही चेतन भी है।

पृथ्वी से जल सूक्ष्म है, जल से अग्नि सूक्ष्म है, अग्नि से वायु सूक्ष्म है, वायु से आकाश सूक्ष्म है और आकाश से भी अधिक सूक्ष्म मूल प्रकृति है। किन्तु परमात्मा मूल प्रकृति से भी अधिक सूक्ष्म है। हम मूल प्रकृति को ही नहीं जान पाते तो उससे भी अधिक सूक्ष्म परमात्मा को कैसे जान सकते हैं? इसलिए परमात्मा को दूर से भी दूर बताया गया है। किन्तु क्योंकि वह सर्वव्यापक है इसलिए उसे निकट से भी निकट बताया गया। जो बुद्धि से जानना चाहे परमात्मा उससे इतनी दूर है कि उसे जाना ही नहीं जा सकता। किन्तु जो अनुभव से जानना चाहे उसके लिए परमात्मा इतना निकट है कि वह सदा से ही जाना हुआ है।

बर्फ का टुकड़ा पानी के बीच रख दें तो लगता है कि पानी दो भागों में बँट गया। किन्तु वस्तुतः बर्फ भी स्वयं पानी है इसलिए वह पानी को बाँट नहीं सकता। पानी तो अविभक्त ही रहता है। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है।

इसलिए वह ब्रह्म को बाँटती नहीं है। जो जगत् खंडित दिखाई देता है वह भी अखंड ही है। प्रायः हम परमात्मा को स्रष्टा के रूप में जानते हैं किन्तु वह स्रष्टा ही नहीं है, संहारक भी है। सर्जन और संहार एक ही प्रक्रिया के दो भाग हैं। इसलिये जो स्रष्टा है वह संहारक भी है। वही पालक भी है।

हम समझते हैं कि सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि प्रकाश हैं क्योंकि इसके आलोक में हम पदार्थों को देख सकते हैं किन्तु वास्तव में ये सब तो पदार्थों को प्रकाशित करने में निमित्त मात्र हैं। पदार्थों को वस्तुतः तो ज्ञान ही प्रकाशित करता है। ज्ञान न हो तो हजार सूर्य भी पदार्थों को ज्ञापित नहीं कर सकते। अतः ज्ञान रूप परमात्मा को ज्योतियों की भी ज्योति कहा गया है। इस ज्योति को जान पाना ही ज्ञान है, यही ज्ञान से प्राप्त करने योग्य है।

मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि

इन्द्रियाँ विषयों को प्रकाशित करती हैं किन्तु यदि मन साथ न दे तो इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष होने पर भी विषयों का ज्ञान नहीं होता। अतः कहना चाहिए कि मन इन्द्रियों को प्रकाशित करता है। मन से जानने पर भी बुद्धि के विवेक के बिना हेय-उपादेय का ज्ञान नहीं होता। अतः बुद्धि मन की प्रकाशिका है। हेय-उपादेय का ज्ञान होने पर भी हम ही हेय का त्याग तथा उपादेय का ग्रहण करते हैं। यदि हम त्याग अथवा ग्रहण न करें तो हेय-उपादेय का ज्ञान भी कार्यकारी नहीं बनता। अतः हम स्वयं बुद्धि के भी प्रकाशक हैं।

हम स्वयं भी परमात्मा के ही अंश हैं। परमात्मा की इच्छा के बिना हम हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण भी नहीं कर पाते। अतः परमात्मा ही हमारा भी प्रकाशक है। जिस प्रकार मन इन्द्रियों का प्रकाश है किन्तु इन्द्रियाँ मन की प्रकाशक नहीं हैं, उसी प्रकार परमात्मा सबका प्रकाशक है, किन्तु परमात्मा को कोई इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रकाशित नहीं कर सकते। इसलिए उसे ज्योति की भी ज्योति तथा अन्धकार से परे कहा गया। इन्द्रिय आदि को मन का प्रकाश न मिले तो वे अज्ञान रूपी अन्धकार में रहती है। किन्तु परमात्मा तो बिना किसी की सहायता के स्वयं ही सदा प्रकाशित है उसमें अन्धकार का प्रश्न ही नहीं उठता।

वस्तुतः हमारा अपना स्वरूप ही परमात्मा है। अतः परमात्मा हम सबके हृदय में ही विराजमान है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने ज्ञान अथवा ज्ञानी के लक्षणों के साथ ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य ब्रह्म का स्वरूप भी संक्षेप में प्रकट किया। इस उपदेश का प्रयोजन यह है कि साधक स्वयं परमात्मा रूप ही हो जाए। यही स्थिति उसे अमृतत्व भी प्रदान कर देती है।

मूल तथा अनुवाद

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥२०॥

कार्य और करण का हेतु प्रकृति है। सुख और दुःख के भोगने का हेतु पुरुष है॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥२१॥

प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। गुणों का सङ्ग उसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥२२॥

इस शरीर में (स्थित) पुरुष (वस्तुतः) परमात्मा ही है। परमात्मा साक्षी, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर है॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥२३॥

जो पुरुष को और गुणों सहित प्रकृति को ऐसा समझता है वह सब कुछ करता हुआ भी पुनः जन्म नहीं लेता ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४॥

कुछ आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में ही देखते हैं, कुछ ज्ञान-योग के द्वारा तथा कुछ कर्मयोग के द्वारा॥२४॥

विपुल-भाष्य
आत्मदर्शन के चार उपाय

विज्ञान मूल तत्वों की खोज करता है और उन तत्वों की संख्या कभी ९८ या कभी उससे कुछ कम-ज्यादा बताता रहता है। वैज्ञानिक यह आक्षेप भी करते हैं कि भारतीय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश से पाँच तत्व मानते हैं जबकि ये मूल तत्व नहीं हैं अपितु सांयोगिक हैं। उदाहरणतः जल कोई एक तत्व नहीं है अपितु हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन के मेल से बना है।

गीता कहती है कि तत्व तो दो ही हैं – जड अर्थात् प्रकृति और चेतन अर्थात् पुरुष। इनमें से विज्ञान पुरुष की तो चिन्ता करता नहीं है किन्तु जिन ९८ के आस-पास तत्वों की चर्चा विज्ञान करता है, गीता उन सबका समावेश प्रकृति में ही कर लेती है। चाहे पृथ्वी आदि पाँच तत्व हों अथवा विज्ञान सम्मत ९८ तत्व, वे सब प्रकृति के ही विकार हैं। आज विज्ञान भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि सृष्टि का निर्माण करने वाले कोई ठोस कण नहीं हैं अपितु ऊर्जा-समूह हैं। यह ऊर्जा समूह, जिन्हें क्वाण्टम कहा जाता है, सांख्य की प्रकृति के समान सर्वव्यापक हैं, न्याय के परमाणु के समान एकदेशीय नहीं।

प्रकृति के विकार दो भागों में बँटे हैं - कार्य और करण। कार्य नाम पृथ्वी आदि ज्ञेय पदार्थों का है तथा करण नाम श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि एवं अहङ्कार रूप अन्तःकरण का है, जो ज्ञेय पदार्थों को जानने का साधन होने के कारण करण कहलाते हैं। प्रकृति कार्य और करण, दोनों को उत्पन्न करती है। करण द्वारा कार्यों अर्थात् ज्ञेयों को जानने पर जो सुख-दुःख का भाव उत्पन्न होता है, उसका कारण पुरुष अर्थात् चेतन है।

अनुकूलता और प्रतिकूलता

प्रकृति में विकार होते रहते हैं। वे विकार न सुख रूप हैं, न दुःख रूप। मान लें कि एक पदार्थ अत्यन्त स्वादिष्ट है, मधुर है जैसे पका हुआ मीठा अंगूर और दूसरा पदार्थ कटु बेस्वाद जैसे नीम का पत्ता। अब स्वयं अंगूर में कोई अनुकूलता या स्वयं नीम में कोई प्रतिकूलता नहीं रहती। न स्वयं अंगूर को यह पता है कि मैं बहुत रुचिकर हूँ, न नीम के पत्ते को यह पता है कि मैं अरुचिकर हूँ। वे दोनों तटस्थ हैं, वे जैसे हैं, हैं, न अच्छे हैं, न बुरे। चेतना अंगूर में अच्छापन और नीम में बुरापन अपनी ओर से आरोपित करके सुख-दुःख का अनुभव करती है, जिसे शास्त्रीय भाषा में भोग कहा जाता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि भोग चेतना के आधीन है, प्रकृति के आधीन नहीं। यही चेतना की स्वतंत्रता का बीज मन्त्र है। एक मधुमेह का रोगी मीठे अंगूर में प्रतिकूलता आरोपित कर लेता है और नीम के पत्ते में अनुकूलता, तो उसके लिए वे दोनों, जो सामान्य व्यक्ति के लिए सुख तथा दुःख का कारण थे, क्रमशः दुःख तथा सुख का कारण बन जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि सुख-दुःख का भोग प्रकृति के आधीन नहीं है; अपितु पुरुष के आधीन है।

सामान्य व्यक्ति तथा मधुमेह के रोगी दोनों की भिन्न-भिन्न दृष्टि है जिसके कारण एक को जिसमें प्रतिकूलता नजर आती है, दूसरे को उसी में अनुकूलता नजर आती है। एक की दृष्टि जिह्वेन्द्रिय की तृप्ति पर है, दूसरे की दृष्टि मधुमेह रोग में क्या हानिकर और क्या लाभप्रद है – इस पर है। जिह्वेन्द्रिय भी प्रकृति है, करण है, मधुमेह भी भौतिक शरीर में है, जो प्रकृति का कार्य है। न जिह्वेन्द्रिय चेतन है, न शरीर। इन दोनों दृष्टियों में केन्द्र में प्रकृति है। यह प्रकृति-केन्द्रित दृष्टि अनुकूलता-प्रतिकूलता उत्पन्न करती है। चेतना पर दृष्टि डालें तो वह तो केवल जानती है, उसके लिए न कुछ अनुकूल है, न कुछ प्रतिकूल। स्वाभाविक है कि ऐसी दृष्टि होने पर हम सुख-दुःख दोनों से ऊपर उठ जाते हैं, केवल ज्ञाता-द्रष्टा रह जाते हैं।

कठिनाई तब आती है जब हम प्रकृति से अपना तादात्म्य स्थापित करके पदार्थों में अनुकूलता-प्रतिकूलता आरोपित कर लेते हैं। यही राग-द्वेष का बीज है, जो राग-द्वेष अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है। ध्यान रहे कि राग-द्वेष केवल बुरी योनि में ही जन्म का कारण नहीं है। अच्छी योनि में जन्म का कारण भी राग-द्वेष ही है। हम दुःख से द्वेष करते हैं और सुख के प्रति हमारा राग है तो हम ऐसा उपाय करते हैं कि सुख मिले और दुःख न मिले। शास्त्र कहते हैं कि ऐसा उपाय पुण्य कर्म है तो हम पुण्य कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। पुण्यकर्म से स्वर्ग में देवयोनि मिल जाती है, किन्तु इस पुण्यकर्म का प्रेरक भी राग-द्वेष ही हुआ, न कि वीतरागता।

वीतरागता का मूल तो यह समझ है कि प्रकृति में स्वयं में न कुछ अनुकूल है, न प्रतिकूल तथा प्रकृति की कोई स्थिति चेतना के लिए अर्थात् हमारे लिए न अनुकूल है, न प्रतिकूल। जब तक यह समझ दृढ़ न हो जाए तब तक प्रकृति के गुणों को भोगते हुए हम जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहेंगे। तब तक हम अपने को शरीर से सम्बद्ध शरीर के कार्यों का अनुमोदक, शरीर का भरण-पोषण करने वाला तथा शरीर के सुख-दुःखों को भोगने वाला शरीर का स्वामी मानते रहेंगे। किन्तु प्रकृति के प्रति तटस्थ भाव अपनाते ही हम शरीर में रहते हुए भी परमात्म भाव को प्राप्त कर लेंगे। परमात्म भाव को प्राप्त करने के लिए शरीर छोड़ना आवश्यक नहीं है, आवश्यक है शरीर के प्रति तादात्म्य-बुद्धि का छोड़ना। बहुतों को यह भ्रम रहता है कि मुक्ति मरणोपरान्त प्राप्त होती है; मुक्ति देह के रहते हुए ही प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न होता है कि शरीर से तादात्म्य सम्बन्ध छूटने पर तो कोई क्रिया होगी ही नहीं क्योंकि हम ही तो शरीर को सञ्चालित करते हैं। जब हमारा शरीर से सम्बन्ध रहेगा ही नहीं तो हम शरीर को सञ्चालित क्यों करने लगे? अतः क्या ज्ञानी निष्क्रिय होकर बैठ जाएगा? इस विषय में प्रथम तो यह जान लेना चाहिए कि हमारा यह मानना कि हम शरीर की क्रियाओं का सञ्चालित करते हैं; आधा ही सत्य है। क्या नाड़ियों का स्पन्दन अथवा रक्त-प्रवाह हमारे सञ्चालित करने से सञ्चालित हो रहा है? ये अनैच्छिक क्रियायें हमारे कुछ न करने पर भी, नींद की स्थिति में अथवा मूर्च्छा की स्थिति में भी, स्वतः होती रहती है। यहाँ तक श्वास-प्रश्वास भी स्वतः चालू रहता है। हाँ, हाथ से उठाने-धरने जैसी स्वैच्छिक क्रियायें अवश्य हमारे द्वारा होती प्रतीत होती हैं। प्रतीत होना इसलिए कहा जा रहा है कि यदि वस्तुतः ये क्रियायें सचमुच हमारे द्वारा ही सञ्चालित होतीं तो हम जिन-जिन क्रियाओं को चाहते वे सब क्रियायें अवश्य होतीं और जिन क्रियाओं को नहीं चाहते वे क्रियायें कदापि नहीं होतीं। किन्तु अनेक क्रियायें हम चाहने पर भी बहुत बार नहीं कर पाते हैं। जैसे स्वास्थ्य के लिए प्रातः भ्रमण को लाभकर मानकर हम करना चाहते हैं किन्तु तेज सर्दी में देर तक रजाई में ही लिपटे रहते हैं और विलम्ब से उठने के कारण बिना भ्रमण किए जल्दी-जल्दी अपने कार्य स्थान पर चले जाते हैं।

इसी प्रकार, न चाहने पर भी आदी हो जाने के कारण हम मादक द्रव्य का सेवन कर बैठते हैं। सिद्ध होता है कि स्वैच्छिक क्रियाओं पर भी हमारा नियंत्रण अधूरा ही है। वस्तुस्थिति यह है कि हमारी क्रियाएँ हमारे संस्कारों द्वारा सञ्चालित होती हैं। ये संस्कार हमने जन्म-जन्मान्तर में अभ्यास द्वारा अर्जित किए हैं। ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञानी के पूर्वार्जित संस्कार बने रहते हैं और वह उन्हीं संस्कारों से प्रेरित होकर सामान्य व्यक्ति की तरह समस्त आहारादि क्रियायें

करता रहता है। किन्तु ज्ञान के कारण उसका द्रष्टाभाव जागृत रहता हैं और वह यह जानता है कि उसका शरीर अमुक क्रिया कर रहा है। किन्तु वह यह नहीं मानता कि वह क्रिया उसकें द्वारा हो रही है। अतः वह सब कुछ करते हुए भी राग-द्वेष से बँधता नहीं है और न उसका पुनर्जन्म होता है – **सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।** यही जीवन्मुक्ति है।

आवागमन से मुक्ति के चार उपाय

यह आत्मदर्शन, जो आवागमन से छुटकारा दिला देता है, कैसे हो - यह जिज्ञासा ही वस्तुतः करने योग्य जिज्ञासा है। शेष सभी जिज्ञासायें समय और शक्ति का अपव्यय करने वाली ही हैं। गीता अत्यन्त संक्षेप में, केवल दो श्लोकों में, ऐसे चार उपायों का वर्णन करती है जो आवागमन के चक्र से छुटकारा दिला सकते हैं। ये चारों उपाय सफलता देने वाले हैं। साधक अपनी रुचि के अनुसार इनमें से किसी भी एक उपाय को अपना कर अपना कल्याण कर सकता है। गीता का कोई ऐसा आग्रह नहीं है कि अमुक उपाय ही अपनाया जाए। यही दृष्टि गीता की सर्वप्रियता का कारण है।

आत्मदर्शन का प्रथम उपाय है – ध्यान। दूसरा उपाय ज्ञान है। तीसरा उपाय कर्मयोग है और चौथा उपाय सत्सङ्ग है। इन उपायों में से कौन सा उपाय हमारे लिए अनुकूल होगा – इस खोज में इन उपायों के स्वरूप को संक्षेप में जानना सहायक सिद्ध होगा।

प्रथम ध्यान को लें। यह आत्मानुभूति का सीधा उपाय है। ध्यान का अर्थ है – द्रष्टा का स्वरूप में स्थित हो जाना। इस उपाय की सबसे बड़ी बाधा है – चित्त की चञ्चलता। चञ्चलता साधक को स्वरूप में स्थिर नहीं रहने देती। पातञ्जल योगसूत्र में चित्त को एकाग्र करने के उपायों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवेचन है। वस्तुतः योग का अन्तिम लक्ष्य चित्तवृत्ति की एकाग्रता भी नहीं है, अपितु चित्तवृत्ति का निरोध है, जिसे संतों ने अमन की स्थिति कहा है। ध्यान की दूसरी कठिनाई यह है कि प्रारम्भ में भले ही कोई साधन ध्यान में सहायक हो जाए किन्तु अन्त में सभी साधन ध्यान में बाधक हैं क्योंकि किसी भी साधन में चित्तवृत्ति का योग तो रहता ही है, जबकि ध्यान का अन्तिम लक्ष्य चित्त-वृत्ति का निरोध है। इन सब बातों पर विचार करके अपने बलाबल को देखते हुए साधक को यह उपाय बरतना चाहिए।

दूसरा उपाय ज्ञान है। यह उपाय भी सीधा है। जब पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को जान लिया तो फिर अन्य प्रपञ्चों में पड़ने की क्या आवश्यकता है? यह ज्ञान ही मुक्त कर देगा। इस मार्ग में कठिनाई यह है कि ज्ञान हो जाने पर भी संस्कार बारम्बार साधक को मार्गच्युत करके देहाभिमानी बना देते हैं। देहाभिमान का संस्कार अनादि है और अत्यन्त दृढ़ है। केवल कह देने और सुन लेने मात्र से उस संस्कार से पीछा छूट जाना दुर्लभ ही है। अतः श्रवण के साथ-साथ मनन और निदिध्यासन की भी आवश्यकता प्रायः रहती ही है। किसी का संस्कार पहले से ही अत्यन्त क्षीण हो तो वह उत्तम पात्र है और सुनने मात्र से भी ऐसे पात्र को आत्मोपलब्धि हो जाने के उदाहरण मिलते हैं, किन्तु वे विरल हैं।

तीसरा उपाय कर्मयोग है। कर्मयोग में सामान्य जीवन-चर्या को बदलने की आवश्यकता नहीं है। केवल कर्म के प्रति दृष्टिकोण बदलना होता है। कर्म प्रकृति का क्षेत्र है। अतः कर्म द्वारा आत्मा का कोई उपकार नहीं होता – इस समझ के द्वारा कर्मयोगी अपने कर्म को स्वार्थपूर्ति से सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेता है जबकि अज्ञानी सभी कर्म स्वार्थ-पूर्ति के लिए ही करता है। स्वार्थ से सम्बन्ध विच्छिन्न करके कर्मयोग के अन्तर्गत कर्म करने का प्रयोजन अन्य जीवों की सेवा रह जाती है। सेवा का प्रयोजन यह है कि मैं अपने कर्मों द्वारा दूसरे जीवों के आत्मकल्याण में सहायक बनूँ। यूँ परमार्थतः सभी जीव ब्रह्म हैं किन्तु व्यवहार में जीव अपूर्ण होने के कारण दूसरों के सहयोग की अपेक्षा रखता है। कर्मयोग में जीव को परमात्मा का अंश मान कर उसकी सहायता करने का भाव मनुष्य को स्वार्थ तथा अहङ्कार से शनैःशनैः मुक्त कर देता है और इस प्रकार उसका कर्म ही उसे आत्म-साक्षात्कार कराने का साधन बन जाता है। इस मार्ग की बाधा यह है कि यदि सेवा अहङ्कार की पोषक बन जाए तो फिर वह भी बन्धन बन जाती है।

सत्सङ्ग का लाभ

उपर्युक्त तीनों उपाय भी जिन्हें कठिन लगें, गीता उनके लिए चौथे उपाय का वर्णन करती है। यह उपाय है – सत्सङ्ग। सन्त वह है जिसने स्वयं आत्मसाक्षात्कार कर लिया है। ऐसे सन्त की उपासना भी आत्मदर्शन करा देती है। मनुष्य अनुकरणधर्मा है। बालक अनुकरण से ही सीखता है। अनुकरण से सीखने के लिए प्रथम तो यह आवश्यक है कि यह माना जाए कि हमें ज्ञान नहीं है। दूसरे यह माना जाए कि सामने वाले को इतना ज्ञान है कि उसका अनुकरण करना हमारे लिए कल्याणकर होगा। बालक में ये दोनों गुण होते हैं। इसलिए वह अनुकरण के द्वारा जितनी जल्दी सीखता है, बड़ा व्यक्ति नहीं सीख पाता। उसका अहङ्कार बाधा डालता है। सत्सङ्ग का लाभ तब ही मिल पाता है जब हममें बालक जैसी श्रद्धा हो। गुरु आत्मज्ञानी है। उसकी हर क्रिया में आत्मज्ञान की सुगन्ध रहती है। उसकी उपासना से उसके पास अपने अहङ्कार को छोड़कर बैठने से उसकी वह सुगन्ध हममें भी संक्रमित हो जाती है। यह आत्मदर्शन का चौथा उपाय है।

इन चारों उपायों के अपने-अपने लाभ हैं और चारों की अपनी-अपनी कठिनाइयाँ भी हैं। साधक को अपनी रुचि, बलाबल तथा सुविधा देख कर एक अथवा एकाधिक उपाय का अवलम्बन लेना चाहिए। साध्य तो प्रत्येक दशा में एक ही है कि वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से चराचर की सृष्टि को जानकर विवेक-ख्याति को प्राप्त करे।

मूल तथा अनुवाद

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥२५॥

दूसरे लोग यह कुछ (भी) न जानकर, दूसरों से सुनकर ही उपासना करते हैं, वे श्रवण-परायण भी मृत्यु को तर जाते हैं॥२५॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥२६॥

ये जो भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से (उत्पन्न) होते हैं - ऐसा समझो॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२७॥

सब भूतों में, जो नश्वर हैं, अनश्वर परमात्मा को जो समान रूप से स्थित देखता है, वस्तुतः वही सत्यदर्शी है॥२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

समभाव से सर्वत्र स्थित ईश्वर को जो समान रूप में देखता है वह अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता और परम गति को प्राप्त होता है॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥२९॥

सत्यदर्शी वही है जो (सभी) कर्मों को सब प्रकार प्रकृति के द्वारा किये गये ही समझता है, और अपने को अकर्त्ता ही समझता है॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥३०॥

जो भिन्न-भिन्न भूतों को एक में स्थित तथा उस एक से ही सबका विस्तार देखता है, वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

हे अर्जुन! अनादि तथा निर्गुण होने से वह अव्यय परमात्मा शरीरस्थ होने पर भी न कुछ करता है, न लिप्त होता है॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥

जैसे सर्वगत होने पर (भी) आकाश सूक्ष्म होने से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार सर्वत्र स्थित आत्मा शरीर में (होने पर भी) लिप्त नहीं होता॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३३॥

जैसे एक सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार क्षेत्री पूरे क्षेत्र को प्रकाशित करता है॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा भूत, प्रकृति और मोक्ष को जो ज्ञानचक्षु से जान लेते हैं वे परम गति को प्राप्त होते हैं॥३४॥

विपुल-भाष्य

आत्मा दृष्टा है, कर्त्ता नहीं

गीता के त्रयोदश अध्याय का मूल विषय क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ है। उसी विषय का विस्तार अनेक प्रकार से किया गया है। जीवन का परम लक्ष्य जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाना है। इस लक्ष्य की सिद्धि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को समझे बिना नहीं हो सकती।

संसार में सभी पदार्थ नष्ट होते हुए दिखाई देते हैं। दूसरी ओर मनुष्य यह चाहता है कि वह जिन पदार्थों को प्राप्त करे, वे नष्ट न हों। किन्तु मनुष्य के चाहने से पदार्थ अपनी क्षण-भंगुरता के स्वभाव को छोड़ नहीं देते। यही मनुष्य के दुःख का कारण बन जाता है। वह जिन पदार्थों को चाहता है उनमें से उसे एक पदार्थ मिल जाए तो दूसरा छूट जाता है। दूसरा मिल जाए तो तीसरा छूट जाता है। वह सोचता है कि पैसा इकट्ठा हो जाए तो सब ठीक हो जाएगा। किन्तु जितने पैसा इकट्ठा होता है, उतने में कोई बीमारी आ घेरती है। सोचता है बीमारी से छुटकारा हो जाए। किन्तु जितने बीमारी ठीक होती है, उतने में किसी प्रियजन का विछोह हो जाता है। इस प्रकार पदार्थों की क्षण-भंगुरता मनुष्य को कभी भी सुखी नहीं होने देती। यह क्षेत्र पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करने का परिणाम है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

इस क्षेत्र के बीच, जो कि नश्वर है, क्षेत्रज्ञ रहता है, जो कि अनश्वर है। जिसकी दृष्टि क्षेत्रज्ञ पर टिक जाती है उसका सुख शाश्वत हो जाता है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ न कभी बदलता है, न नष्ट होता है। दूसरी बात यह है कि क्षेत्र में तारतम्य है। किसी के पास कम पैसा है, किसी के पास ज्यादा। कोई कम ताकतवर है, कोई ज्यादा ताकतवर है। किसी की बुद्धि अधिक है, किसी की कम है। किन्तु आत्मा सब में समान है। ऐसा नहीं है कि किसी की आत्मा कम है, किसी की ज्यादा। सच तो यह है कि आत्मा अलग-अलग है ही नहीं। इसलिए गीता कहती है कि देखना तो उसका है जो परमात्मा को देख सके। जगत् को तो पशु भी देखते हैं।

जिसकी आत्मा पर दृष्टि है वह किसी की हिंसा नहीं कर सकता। दुःख तो सदा दूसरे को दिया जाता है। कोई भी अपने को दुःख नहीं देता है। शरीर अपना और पराया होता है। आत्मा तो एक ही है, वह न अपनी है न पराई। मेरे शरीर को कष्ट न हो इसलिए मैं दूसरे को दुःखी बना सकता हूँ। ऐसा राग और द्वेष शरीर-केन्द्रित दृष्टि से ही उत्पन्न हो सकता है। किन्तु जिसने सर्वत्र एक ही आत्मा को ओत-प्रोत देख लिया, वह हिंसा नहीं कर सकता। उसका यह अहिंसक जीवन ही उसकी मुक्ति का कारण बन जाता है।

समस्त क्रिया प्रकृति में ही हो रही है, आत्मा कुछ भी नहीं करती। यह ज्ञान क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार का मुख्य केन्द्र बिन्दु है। प्रकृति कभी निश्चल नहीं रह सकती। जब हम अपने को प्रकृति मानते हैं तो ऐसा लगता है कि हम सदा कुछ न कुछ करते रहते हैं। यह सदा कुछ न कुछ करते रहने का भाव हमें प्रति क्षण क्षीण करता है। क्योंकि किसी भी क्रिया में लगने वाली ऊर्जा का तो व्यय होता ही है। इस कारण हमें ऐसा लगता है कि प्रतिदिन हमारी ऊर्जा क्षीण होती जा रही है।

शरीर के साथ तो वस्तुतः यह स्थिति घटित भी होती है। दिन पर दिन शरीर क्षीण होता है और वृद्ध होकर अन्त में समाप्त हो जाता है। इस स्थिति को कोई भी प्रक्रिया बदल नहीं सकती और यह स्थिति सुखदायी नहीं है। इसलिए यदि हम शरीर हैं तो फिर तो हमारी नियति दुःख ही है। किन्तु हम वस्तुतः शरीर नहीं हैं और न हममें कोई क्रिया हो रही है। फिर हमारी ऊर्जा के व्यय होने का प्रश्न ही नहीं होता। इसलिए वस्तुतः न हम कभी जराग्रस्त होते हैं, न मरते हैं।

आत्म-सम्मोहन की स्थिति

कठिनाई यह है कि जन्म-जन्मान्तर से हमने अपने-आपको शरीर ही माना हुआ है। इस मान्यता ने हमें हिप्नोटाइज किया हुआ है। इस आत्म-सम्मोहन की स्थिति को तोड़ना ही सम्पूर्ण साधना का एकमात्र लक्ष्य है। सम्मोहन में बहुत शक्ति है। हम जैसा सोचते हैं वैसा ही बन जाते हैं। हम सोचते रहे हैं कि हम शरीर हैं तो हम ऐसा ही व्यवहार करने लगते हैं कि मानो हम सचमुच ही शरीर हैं। एक दृष्टि को दूसरी दृष्टि से ही काटा जा सकता है। इसलिए गीता में बारम्बार 'देखना' क्रिया का प्रयोग हुआ है - जो यह देख लेता है कि आत्मा कर्त्ता नहीं है वही वस्तुतः देखता है - **यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।** यदि बन्धन वास्तविक होता तो उसे काटने के लिए भी वस्तुतः कुछ करना पड़ता। किन्तु शरीर में आत्म-बुद्धि तो काल्पनिक है। उस अज्ञान को हटाने के लिए ज्ञान ही पर्याप्त है, किसी कर्म की आवश्यकता नहीं है।

क्षेत्र का विस्तार बहुत बड़ा है। केवल स्थूल शरीर ही क्षेत्र नहीं है मन, बुद्धि और अहंकार भी क्षेत्र हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि हमारे क्रोधादि भाव और पाप-पुण्यादि विचार भी प्रकृति का हिस्सा हैं, हमारा स्वरूप नहीं है। मैं हाथ-पैर आदि नहीं हूँ - यह समझ लेना अपेक्षाकृत आसान है, किन्तु क्रोधादि भाव और पाप-पुण्यादि तथा विचारों के साथ हमारा तादात्म्य और भी अधिक शक्तिशाली है। किन्तु यदि थोड़ा गहरे में जाएँ तो पता चलेगा कि विचार भी दृश्य ही हैं, दृष्टा नहीं।

यह सच है कि क्षेत्रज्ञ भी क्षेत्र में ही रहता है किन्तु फिर भी वह क्षेत्र नहीं है। जैसे हम जिस मकान में रहते हैं उस मकान के नष्ट हो जाने पर हम नष्ट नहीं हो जाते। उसी प्रकार शरीर या मन में कुछ भी विकार क्यों न आएँ,

हम निर्विकार ही रहते हैं। गीता ने आत्मा की उपमा आकाश से दी है जिन पदार्थों में भी परिवर्तन हो रहे हैं वे सब पदार्थ आकाश में ही हैं, आकाश से बाहर नहीं हैं। उन पदार्थों में अच्छे-बुरे कैसे भी परिवर्तन क्यों न हों, इससे आकाश में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृति में कुछ भी परिवर्तन हो, आत्मा निर्लिप्त ही रहती है। आत्मा केवल निर्विकार ही नहीं है, वह अद्वैत भी है। प्रकाशित होने वाले पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उन्हें प्रकाशित करने वाला सूर्य एक ही है।

क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु क्षेत्रज्ञ एक ही है, यह सब विषय ज्ञान द्वारा हीं जाना जा सकता है। अनेक बार यह भ्रम होता है कि साधना से हममें परिवर्तन हो रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि साधना से भी जो परिवर्तन होता है वह प्रकृति में ही होता है, आत्मा में नहीं। समाधि भी चित्त की एक अवस्था है अथवा चित्तवृत्ति का निरोध है। इससे आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता है। आत्मा तो सदा से ही अपने सहज रूप में स्थित है। इसे सन्तों ने सहज समाधि कहा है। यह साधना का फल नहीं है, अपितु आत्मा का स्वभाव है।

कृत्रिम पवित्रता स्थायी नहीं

इस विषय में यह भी समझ लेना चाहिए कि किसी भी प्रयत्नजन्य क्रिया का फल सीमित ही होता है। यदि आत्मा अपवित्र है और साधनों से पवित्र होती है तो उसकी पवित्रता सदा नहीं बनी रह सकती। इसलिए यह मानना होगा कि आत्मा सदा से ही पवित्र है। कोई अच्छी या बुरी क्रिया उसे प्रभावित नहीं करती। यह ज्ञान ही हमें अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति में समभाव में रहने की शक्ति प्रदान करता है। इस उपदेश के साथ गीता का त्रयोदश अध्याय सम्पन्न हुआ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।१।।

श्रीभगवान् बोले –

मैं तुम्हें ज्ञानों में श्रेष्ठ परम ज्ञान पुनः समझाऊँगा जिसको समझ कर सब मुनि इस संसार से परम सिद्धि को प्राप्त हो गये।।१।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे समान-धर्मा बन कर व्यक्ति न सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हैं न प्रलय काल में व्यथित होते हैं।।२।।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

हे अर्जुन! महत् ब्रह्म मेरी योनि अर्थात् गर्भाधान का स्थान है। मैं उसमें गर्भ स्थापित करता हूँ जिससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है।।३।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

हे अर्जुन! अनेक प्रकार की योनियों में जो मूर्त प्राणी उत्पन्न होते हैं महत् ब्रह्म उनकी योनि अर्थात् माता है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ।।४।।

विपुल-भाष्य

प्रकृति के क्रिया-कलाप

हमारा अज्ञान का संस्कार जन्म-जन्मान्तर में बारम्बार आवृत्त होने के कारण अत्यन्त सुदृढ़ हो गया है। शास्त्र तो निरन्तर घोषणा करते हैं कि हम शरीर नहीं हैं किन्तु एक जरा-सा काँटा शरीर में चुभ जाए तो हमें यही लगता है कि यह काँटा मुझे चुभा है। यह नहीं लगता कि काँटा शरीर में चुभा है, मुझे नहीं। मैं शरीर ही हूँ – यह संस्कार इतना सुदृढ़ हो गया है कि खाते-पीते, सोते-जागते सदा बना रहता है और हम शरीर की समस्त क्रियाओं को अपनी ही क्रिया मानते हैं।

अभ्यास और वैराग्य

इस संस्कार को क्षीण करने के गीता में दो उपाय बताए – अभ्यास और वैराग्य। इनमें अभ्यास का अर्थ है – बारम्बार आवृत्ति करना। अज्ञान का विरोधी ज्ञान है। जैसे अज्ञान की बारम्बार आवृत्ति से अज्ञान का संस्कार सुदृढ़ हो गया है, उसी प्रकार अज्ञान को काटने के लिए ज्ञान की भी बारम्बार आवृत्ति करनी चाहिए। यही अभ्यास है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन का अज्ञान दूर करने के लिए बारम्बार ज्ञान का उपदेश दिया। विचारकों को यह पुनरावृत्ति लग सकती है। यह है भी पुनरावृत्ति। पुनरावृत्ति को एक दोष ही माना गया है। जब हमारे पास कहने को कुछ नया नहीं होता तो हम पुरानी ही बात को बारम्बार दोहराने लगते हैं। इससे हमारी वैचारिक दरिद्रता प्रकट होती है। किन्तु गीता में तथा अन्य शास्त्रों में भी यह पुनरावृत्ति पाई जाती है। आदि शङ्कराचार्य ने इस आपत्ति का यह कहकर समाधान किया है कि मंत्रों को आलस्य नहीं होता - **न मन्त्राणां जामितास्ति।** अतः श्रुति एक बात को एक बार कह कर फिर दुबारा भी उसी बात को कहती रहती है।

इस बारे में प्रथम तो यही समझ लेना चाहिए कि शास्त्रों का प्रयोजन विचार के स्तर पर तथ्यों का सम्प्रेषण नहीं है अपितु संस्कारों के स्तर पर मनुष्य का रूपान्तरण है। विचार के स्तर पर तथ्यों की सूचना देनी हो तो एक तथ्य को एक बार ही कह देना पर्याप्त है। उदाहरणतः यदि हमें यात्री को यह बतलाना हो कि दिल्ली जाने वाली गाड़ी दो घंटे विलम्ब से आएगी तो यह सूचना एक बार ही दे देना पर्याप्त है। यहाँ हमें यात्री के किसी संस्कार को तोड़ना नहीं है, उसे केवल एक सूचना देनी है और यदि यात्री जडमूर्ख नहीं है तो एक बार में ही यह सूचना उस तक पहुँच जाती है।

किसी साधक को एक बार यह कह देने पर कि वह शरीर नहीं है, प्रायः कार्यसिद्धि नहीं होती क्योंकि साधक तो जन्म-जन्मान्तर से यही मान रहा है कि वह शरीर है। 'मैं शरीर हूँ, मैं शरीर हूँ' यह कोई रटता नहीं है। लेकिन यह भाव हमारे दैनन्दिन क्रियाकलाप में ओत-प्रोत रहता है। अतः यह संस्कार दृढ़ हो जाता है। अब यदि शास्त्र अथवा गुरु यह कह दे कि 'तू शरीर नहीं है' तो हम यह न मान लें कि हमारा वह दृढ़ संस्कार इतना सुनकर ही टूट जाएगा। 'मैं शरीर नहीं हूँ', इसका भी अभ्यास करना पड़ता है ताकि यह एक विचार न रहकर भाव बन जाए। इस अभ्यास को कराने के लिए शास्त्र एक ही बात को बारम्बार कहते हैं। यह पुनरावृत्ति भूषण है, दूषण नहीं।

दूसरी बात यह है कि 'मैं शरीर हूँ', यह विचार अनेक प्रसङ्गों में पुष्ट होता रहता है। शरीर ने भोजन किया तो 'मैंने भोजन किया', ऐसा हम कहते भी हैं और समझते भी हैं। सिर में दर्द हुआ तो 'मेरे दर्द हो रहा है', ऐसा हम कहते भी हैं और समझते भी हैं। इस प्रकार न जाने कितने प्रसङ्गों में शरीर के साथ अपना तादात्म्य हम जोड़ते रहते हैं। अब इसी प्रकार 'मैं शरीर नहीं हूँ', इस बात को भी अनेकानेक प्रसङ्गों में अनेकानेक प्रकार से समझना आवश्यक है। बात एक ही है, किन्तु प्रसङ्ग भिन्न हैं। त्रयोदश अध्याय में गीता ने समझाया कि क्षेत्रज्ञ अर्थात् चेतना क्षेत्र अर्थात् प्रकृति नहीं है। अब चतुर्दश अध्याय में कहा जाएगा कि प्रकृति के कार्य चेतना के कार्य नहीं हैं। बात एक ही है, किन्तु प्रसङ्ग बदल दिया गया है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! मैं तुझे पुनः वह परम उत्तम ज्ञान दूँगा जिसे पाकर मुनि परम सिद्धि को प्राप्त हो गए। ज्ञान तो यह पहले भी दिया, अब प्रकारान्तर से पुनः वही ज्ञान दिया जाएगा। ज्ञान हमारे पास बहुत से हैं। उन ज्ञानों से सफलता भी हमें मिलती है। किन्तु सफलता और सिद्धि में अन्तर है। एक सफलता मिलने पर दूसरी सफलता प्राप्त करने की इच्छा हो जाती है किन्तु सिद्धि मिलने पर दूसरी सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती। अणिमा, गरिमा आदि भी सिद्धियाँ कहलाती हैं, किन्तु इनके बारे में यह सत्य नहीं है कि इनके प्राप्त होने पर फिर कुछ करने की इच्छा उत्पन्न न हो। यहाँ इन सिद्धियों का वर्णन नहीं है, अपितु परम सिद्धि का प्रसङ्ग है। यह परम सिद्धि जिस ज्ञान से प्राप्त होती है, वह ज्ञान भी साधारण नहीं अपितु परमोत्तम ज्ञान है। परम सिद्धि मिलने पर फिर कुछ और प्राप्त करने की इच्छा शेष नहीं रहती। जब तक इच्छा है तब तक चैन नहीं मिल सकता।

इच्छा हमें भटकाती है। यह भटकन मृत्यु के साथ भी समाप्त नहीं हो जाती क्योंकि मृत्यु शरीर को समाप्त करती है, इच्छा को समाप्त नहीं करती। हम मृत्यु के समय यह नहीं समझते कि हम कृत-कृत्य हो गए अपितु यह समझते हैं कि अभी तो बहुत कुछ करने की इच्छा शेष थी किन्तु विवश होकर यह शरीर छोड़ना पड़ रहा है, यदि शरीर रहता तो अभी हम बहुत कुछ और करते। यह इच्छा एक ओर तो मृत्यु को दुःखदायी बना देती है, दूसरी ओर व्यक्ति को

दुबारा शरीर धारण करने पर मजबूर कर देती है। दुःख तो यह है कि इच्छाएँ अधूरी रह गईं और मजबूरी यह है कि उन अधूरी इच्छाओं को शरीर में रहकर ही पूरा किया जा सकता है। अतः एक शरीर छूट रहा है तो अब शीघ्र ही दूसरा शरीर धारण करना चाहिए। परम सिद्धि तो वह स्थिति है, जहाँ कोई इच्छा शेष ही नहीं रह जाती। अतः वहाँ न मृत्यु का दुःख रहता है, न दूसरा शरीर धारण करने की इच्छा ही होती है।

परम सिद्धि के साधक

श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसी परम सिद्धि को प्राप्त साधक परमात्मा के सधर्मा हो जाते हैं। जैसे परमात्मा नित्य तृप्त है, उसी प्रकार वे भी परम तृप्त रहते हैं। वे सृष्टि के उत्पन्न होने पर भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय में भी व्यथित नहीं होते। इस वक्तव्य का अर्थ समझने के लिए प्रलय और सृष्टि के स्वरूप को संक्षेप में जान लेना चाहिए।

यह पृथ्वी सदा से नहीं है, न सदा रहेगी। पृथ्वी का उत्पन्न होना सर्ग है और पृथ्वी का नष्ट हो जाना प्रलय है। प्रश्न होता है कि जब पृथ्वी नहीं होती तब जीवों का क्या होता है। उत्तर है कि उस समय जीवों का स्थूल शरीर नहीं रहता, किन्तु उनके संस्कार नष्ट नहीं होते। इन संस्कारों का अधिकरण ही कारण शरीर कहलाता है। प्रलय की स्थिति में जीव कारण शरीर सहित बने रहते हैं। सृष्टि के पुनः बनने पर उनका यह कारण शरीर ही उनके स्थूल शरीर धारण करने का कारण बन जाता है।

यह स्थिति उन अज्ञानी जीवों की है जो परम सिद्धि को प्राप्त नहीं हुए और जिनकी इच्छाएँ रह गईं। दूसरी ओर जिन्हें परम सिद्धि मिल गई है उनकी तो कोई इच्छा रही नहीं और न ही संस्कार शेष रहा। अतः उनका कारण शरीर भी नहीं रहा। अब सृष्टि उत्पन्न होने पर भी उनमें शरीर धारण करने का कोई आकर्षण शेष नहीं रह जाता। न प्रलय होने पर उन्हें कोई दुःख होता है। सृष्टि और प्रलय प्रकृति के कार्य हैं, यह प्रकृति में होते रहते हैं। जिन्होंने अपना तादात्म्य प्रकृति से जोड़ रखा है वे सृष्टि के साथ उत्पन्न होते हैं और प्रलय के साथ प्रकृति में लीन हो जाते हैं। किन्तु ज्ञानी न उत्पन्न होता है, न प्रलीन होता है।

जीवों की उत्पत्ति

प्राणियों की उत्पत्ति न केवल प्रकृति से होती है क्योंकि प्रकृति तो जड है और न केवल चेतना ही कुछ उत्पन्न कर सकती है क्योंकि चेतना तो निर्विकार है। प्राणियों की उत्पत्ति प्रकृति और चेतना के संयोग से होती है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रकृति योनि है और चेतना जब उसमें गर्भाधान करती है तो समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि ईश्वर को सृष्टि उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता है। वस्तुतः स्वरूप से सृष्टि के दोनों घटक – प्रकृति और पुरुष – अनादि हैं। ये कभी उत्पन्न नहीं होते। जीव अपने संस्कारों से जनित कर्मों के कारण जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। संसार हमारे बाहर नहीं है। हमारे अन्दर रहने वाले संस्कार ही वास्तविक संसार हैं। संस्कार है तो हिमालय की किसी एकान्त गुफा में भी संसार बना रहेगा, संस्कार विलीन हो गए तो भीड़ में भी संसार विलुप्त ही रहेगा।

इन संस्कारों से उत्पन्न कर्म अपना फल तत्काल नहीं देते प्रत्युत फलोन्मुख होने के लिए उन्हें परिपक्व होने में काल की अपेक्षा रहती है। एक समय ऐसा आता है कि सभी जीवों के सभी कर्म ऐसे रह जाते हैं जिनमें से कोई भी अपने फल देने के लिए परिपक्व नहीं होता। ऐसे में वे कर्म अपना फल नहीं दे सकते। फल-भोग्य कर्मों के अभाव में सृष्टि निरर्थक हो जाती है। अतः उस समय प्रलय हो जाती है। काल के बीतने पर ये ही अपरिपक्व कर्म परिपक्व होकर फलोन्मुख हो जाते हैं। इन कर्मों का फल सृष्टि के बिना भोगा नहीं जा सकता। अतः कर्माध्यक्ष परमेश्वर के मन में सिसृक्षा उत्पन्न हो जाती है।

निष्कर्ष यह हुआ कि सृष्टि में जीवों के कर्मों की फल देने की सामर्थ्य उत्पन्न करने वाली परिपक्वता ही हेतु बनती है। इसी स्थिति को गीता ने प्रकृति की योनि में गर्भाधान करना कहा है। कारण-शरीर सहित जीव अपने परिपक्व होने वाले कर्मों का फल भोगने के लिए सृष्टि में स्थूल शरीर धारण कर ले – यही गर्भाधान है। यह गर्भाधान परमेश्वर

की इच्छा के बिना केवल प्रकृति से होना सम्भव नहीं है और न केवल चेतना प्रकृति की सहायता के बिना सृष्टि बना सकती है। अतः चेतना और प्रकृति का संयोग ही सृष्टि का कारण बनता है।

चार प्रकार के शरीर

यह भी स्पष्ट है कि सृष्टि का निर्माण हो जाने पर भी सभी जीवों को एक सा शरीर नहीं मिल सकता क्योंकि जीवों के कर्म भिन्न-भिन्न हैं। यह कर्मों की भिन्नता इतनी अधिक है कि शरीर मुख्यतः चार प्रकार के होकर भी चौरासी लाख प्रकार के हो जाते हैं। चार प्रकार के शरीर जरायुज मनुष्यादि, अण्डज पक्षी आदि, स्वेदज जूं आदि तथा उद्भिज वृक्ष आदि हैं। इन्हीं चार प्रकारों के चौरासी लाख भेद हैं। उन भेदों में भी किसी एक योनि के सब प्राणी एक से नहीं होते। उदाहरणतः किन्हीं दो मनुष्यों की आकृति, आवाज और स्वभाव, बिल्कुल एक से नहीं हो सकते। यह कर्मों की विचित्रता का फल है। कर्मों की यह विविधता सत्व, रजस् तथा तमस् नामक प्रकृति के तीन गुणों के सम्मिश्रण में गुणों के तारतम्य के कारण उत्पन्न होती है जिसका वर्णन आगे के श्लोकों में किया जाएगा।

मूल तथा अनुवाद

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥५॥

हे अर्जुन! सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुण हैं जो अव्यय देही को देह में बाँधते हैं॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥६॥

हे अर्जुन! उन तीन गुणों में सत्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और दुःख रहित है। वह सुखासक्ति से और ज्ञानाभिमान से बाँधता है॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥७॥

रजोगुण राग रूप है इसे कामना और आसक्ति से उत्पन्न होने वाला समझो। यह जीवात्मा को कर्म की आसक्ति से बाँधता है॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

हे अर्जुन! सब जीव आत्माओं को मोहित करने वाला तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बाँधता है॥८॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥९॥

हे अर्जुन! सत्वगुण सुख से जोड़ देता है, रजोगुण कर्म में लगाता है और तमोगुण ज्ञान को ढँक कर प्रमाद में डालता है॥९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥

हे अर्जुन! सत्वगुण, रजस् और तमस् को अभिभूत करता है। तमस्, रजस् और सत्व को अभिभूत करता है और रजोगुण तमस् और सत्व को अभिभूत करता है॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥११॥

जब शरीर में अन्तःकरण और सब इन्द्रियों में प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है तो समझना चाहिये कि सत्वगुण बढ़ा हुआ है॥११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥

हे अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का उपक्रम, अशान्ति और स्पृहा उत्पन्न होते हैं॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥१३॥

हे अर्जुन! तमोगुण के बढ़ने पर प्रकाश का अभाव, आलस, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं॥१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥१४॥

यदि मनुष्य सत्व गुण बढ़ने पर शरीर छोड़ता है तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त करता है॥१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

रजोगुणों की स्थिति में शरीर छोड़ने पर कर्मासक्तों में उत्पन्न होता और तमोगुण की स्थिति में मरने पर मूढ़ योनियों में जाता है॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

श्रेष्ठ कर्म का निर्मल सात्विक फल है, रजोगुण का फल दुःख है और तमोगुण का फल अज्ञान है॥१६॥

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

सत्व गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लाभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

सत्वगुणी उच्च लोकों में जाते हैं, रजोगुणी मध्य में रहते हैं और निम्न वृत्ति में रहने वाले तमोगुणी अधोगति को प्राप्त होते हैं॥१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

जब द्रष्टा गुणों के अतिरिक्त किसी और को कर्त्ता नहीं समझता तथा (अपने को) गुणों के परे समझ लेता है, तो वह मेरे रूप को प्राप्त कर लेता है।।१९।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

शरीरधारी शरीरोद्भूत इन तीन गुणों का अतिक्रमण कर जाता है तो जन्म, मृत्यु तथा जरा के दुःखों से छूट कर अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।।२०।।

विपुल-भाष्य

गुणों के बाँधने की प्रक्रिया

प्रकृति और पुरुष पृथक्-पृथक् हैं किन्तु फिर भी पुरुष प्रकृति से बँध जाता है। पुरुष को प्रकृति से बाँधने वाला तत्व गुण है। गुण का एक अर्थ रस्सी भी है। जैसे रस्सी से किसी व्यक्ति या पशु को बाँध दिया जाता है वैसे ही गुण पुरुष को प्रकृति से बाँध देते हैं। वस्तुतः ये गुण प्रकृति में ही रहते हैं। किन्तु अज्ञानवश मनुष्य इन्हें अपने ऊपर आरोपित कर लेता है और इन गुणों की क्रियाओं को अपनी क्रिया समझने लगता है। यही उसके बन्धन का कारण बन जाता है। जैसे ही उसे यह समझ में आता है कि गुणों के कार्य प्रकृति के हैं उसके नहीं, वैसे ही वह अपने सहज शुद्ध स्वभाव में स्थित हो जाता है।

प्रथम बन्धन सत्त्वगुण का है। सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण सुख देता है और प्रकाश रूप होने के कारण ज्ञान उत्पन्न करता है। किन्तु यह सुख ही बन्धन का कारण हो जाता है। क्योंकि साधक यह चाहता है कि यह सुख हमेशा बना रहे। ज्ञान भी इसी प्रकार बन्धन का कारण बनता है क्योंकि साधक में यह लालच रहता है कि उसका ज्ञान सदा बना रहे और बढ़ता रहे जबकि सच्चाई यह है कि गुणों में उतार-चढ़ाव होता रहता है। अतः न सदा सुख बना रह सकता है और न सदा ज्ञान।

सुख और आनन्द में अन्तर है। सुख आगन्तुक है, उसमें न्यूनाधिक्य होता रहता है और इसलिए यह भय भी बना रहता है कि हमारा सुख कम न हो जाए और यह इच्छा भी बनी रहती है कि हमारा सुख बढ़ता रहे। इसके विपरीत आनन्द एकरस है। इसलिए उसमें किसी प्रकार के भय अथवा इच्छा के लिए अवकाश नहीं है। इसी प्रकार सात्त्विकज्ञान और तत्वज्ञान में भी अन्तर है। सात्त्विकज्ञान में यह अभिमान सम्भव है कि मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ, जबकि तत्त्वज्ञान हमारा स्वभाव है और उसमें किसी प्रकार का अभिमान नहीं हो सकता।

कर्म की दौड़

रजोगुण का काम है तृष्णा उत्पन्न करना। यह गुण आसक्ति के द्वारा मनुष्य को सदा कर्म में लगाए रखता है, उसे कभी चैन से नहीं बैठने देता। सात्विक व्यक्ति कोई भी कर्म स्वेच्छा से करता है इसलिए उसे कर्म बाँधते नहीं। किन्तु राजसी व्यक्ति को रजोगुण के कारण विवश होकर कर्म करने पड़ते हैं। वह कर्म करने या न करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। कर्म करना उसकी मजबूरी है, इसलिए उसके लिए कर्म बन्धन का कारण बन जाते हैं। वह अपना कर्त्तव्य मान कर कोई काम नहीं करता है अपितु उसका हर कर्म किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर किया जाता है। यदि किसी एक कर्म के द्वारा स्वार्थ विशेष की पूर्ति हो जाने पर उसे चैन मिल जाता तो वह शान्त हो सकता था। किन्तु ऐसा होता नहीं। अभी एक स्वार्थ की पूर्ति हो भी नहीं पाती है कि दूसरे स्वार्थ का आकर्षण उसे दूसरे कर्म में लगा देता है। यह दौड़ कभी समाप्त नहीं होती।

रजोगुण के ठीक विपरीत तमोगुण व्यक्ति को कर्म करने ही नहीं देता। यह तीसरे प्रकार का बन्धन है। तामसी व्यक्ति यदि कर्म करता भी है तो ऐसे कर्म करता है जो या तो निरर्थक होते हैं और या अनिष्ट फल देने वाले होते हैं। आलस्य का एक रूप निद्रा भी है। शरीर एक यन्त्र है जिसके लिए श्रम और विश्राम दोनों आवश्यक हैं। ऐसा आवश्यक विश्राम तमोगुण का प्रभाव नहीं है। तमोगुण का प्रभाव वह निद्रा है जो अनावश्यक होने पर भी आलस्यवश ली जाती है। दोनों निद्राओं में अन्तर यह है कि आवश्यक निद्रा के अनन्तर मनुष्य स्फूर्ति अनुभव करता है जबकि अनावश्यक निद्रा मनुष्य के शरीर और मन को भारी बना देती है।

उपर्युक्त तीनों ही गुण आसक्ति के कारण बन्धन डालने वाले बनते हैं। यदि आसक्ति न हो तो सुख नहीं बाँधता। जनक आदि राजर्षि थे। उन्हें राज्य का सुख प्राप्त था, किन्तु आसक्ति के अभाव में वह सुख बन्धनकारक नहीं हुआ। इसी प्रकार कर्मफल की आसक्ति के कारण बाँधता है। फलासक्ति न हो तो कर्म बाँधता नहीं प्रत्युत चित्त को निर्मल बनाता है। आलसी में और समाधिस्थ में भी अन्तर समझ लेना चाहिए क्योंकि बाहर से दोनों एक जैसे होते हैं। न आलसी कुछ करता है, न समाधिस्थ कुछ करता है किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। आलसी मानता है कि मैं कुछ नहीं करूँगा। उसके न करने के पीछे भी कर्तृत्व का अभिमान छिपा है। इसके विपरीत समाधिस्थ पुरुष यह जानता हैं कि मैं केवल दृष्टा हूँ, कर्ता नहीं। इस प्रकार वह कर्तृत्व के अभिमान से रहित होता है।

मुख्य और गौण गुण

अभिप्राय यह है कि तीनों ही गुण अपने-अपने ढंग से मनुष्य को बाँधते हैं। ये तीनों गुण एक दूसरे के विरोधी हैं और यदि तीनों समान बल वाले हों तो इनमें से कोई भी अपना कार्य न कर पाएगा, जैसे एक रस्सी को यदि बिल्कुल समान बल वाले पुरुष अपनी-अपनी ओर खींचें तो रस्सी किधर भी नहीं खिंच पाएगी। इसी प्रकार यदि रजोगुण व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त करे और तमोगुण उसे कर्म न करने दे और ये दोनों गुण बिल्कुल समान बल वाले हों, तो फिर व्यक्ति न कर्म में प्रवृत्त हो पाएगा, न निवृत्त हो पाएगा। किन्तु ऐसा होता नहीं है। जब किसी एक गुण को अपना कार्य करना होता है तो वह शेष दो गुणों को अभिभूत कर लेता है। इस प्रकार वह गुण मुख्य हो जाता है और शेष गुण गौण हो जाते हैं।

स्पष्ट है कि जब ज्ञान बढ़ोतरी पर हो तो समझना चाहिए कि सत्त्वगुण मुख्य हो गया है। सत्त्वगुण के बढ़ने पर इन्द्रियों में और अन्तःकरण में निर्मलता आ जाती है जिसे प्रकाश कहा जाता है और अच्छे-बुरे का विवेक जाग जाता है जिसे ज्ञान कहा जाता है।

जब रजोगुण मुख्य होता है तो प्रवृत्ति, अशान्ति और कामना बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति अपना चित्त स्थिर नहीं कर सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने कार्य का लक्ष्य ऊँचा रखता है तो इसे लोभ नहीं समझना चाहिए। अन्तर यह है कि लक्ष्य ऊँचा रखने पर तो चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है, किन्तु यदि लोभ है तो चित्त एकाग्र होने के स्थान पर विक्षिप्त रहता है।

जब तमोगुण मुख्य होता है तो व्यक्ति का ज्ञान और विवेक कुंठित हो जाता है तथा वह प्रमादवश करणीय कर्म तो करता नहीं, अकरणीय कर्म अवश्य करने लगता है।

इस प्रकार मनुष्य अपनी वृत्तियों को देख कर यह पहचान सकता है कि उसमें किस समय कौन सा गुण मुख्य हो गया है। महत्त्वपूर्ण यह है कि कोई भी गुण प्रधान या गौण क्यों न हो किन्तु साधक यह माने कि उन गुणों के कारण उसकी वृत्तियों में भले ही अन्तर आए पर उन वृत्तियों के जानने वाले चेतन तत्त्व में कोई अन्तर नहीं आता। यह समझ लेने पर वृत्तियों के उतार-चढ़ाव के बीच साधक समभाव से अविचलित रह सकता है। सत्त्वगुण की यह विशेषता है कि वह साधक को हल्का बनाता है। इससे उसकी ऊर्ध्व गति हो जाती है; इसे ही शास्त्र स्वर्ग प्राप्ति कहते हैं। रजोगुण का फल मनुष्य लोक की प्राप्ति है। तमोगुण का काम है – आलस्य। आलस्य भारीपन का ही दूसरा नाम है। भारीपन सदा नीचे ले जाता है। इसलिए तमोगुण अधोगति का कारण है।

सुख और निर्मलता

सात्त्विक व्यक्ति में ज्ञान और विवेक बना रहता है, इसलिए वह गलत काम नहीं कर सकता। यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है कि अच्छे काम मनुष्य को प्रसन्नता देते हैं। संस्कृत भाषा में प्रसन्न के दो अर्थ हैं – सुख और निर्मलता। अभिप्राय यह है कि जहाँ निर्मलता है वहीं सुख है। रजोगुण चैन नहीं लेने देता इसलिए दुःख का कारण है। तमोगुण में मूढ़ता रहती है।

इस समस्त विवेचन का प्रयोजन यह है कि साधक अपनी वृत्ति में उतार-चढ़ाव को प्रकृति के गुणों से जोड़कर देखेगा तो यह पाएगा कि सब अपरिवर्तित रहता है। जब साधक अपनी अपरिवर्तनीयता को जान लेता है तो वह परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाता है क्योंकि अपरिवर्तनीय तो परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस परमात्म-भाव को प्राप्त होने पर जन्म-मृत्यु, जरा और दुःख का प्रश्न ही नहीं उठता। ये देह के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। यह समझ साधक को गुणातीत बना देती है।

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

अर्जुन बोले –

इन तीन गुणों से अतीत व्यक्ति के क्या लक्षण हैं, उसका क्या आचरण है। हे प्रभो! कोई इन तीन गुणों का अतिक्रमण कैसे करता है।।२१।।

श्रीभगवानुवाच –

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।२२।।

श्रीभगवान् बोले –

हे अर्जुन! वह सत्त्व, रजस् और तमस् के प्रवृत्त होने पर न उनसे द्वेष करता है न उनके निवृत्त होने की इच्छा करता है।।२२।।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।

जो उदासीन भाव से रहकर गुणों से विचलित नहीं होता और 'गुण ही अपना कार्य कर रहे हैं' ऐसा समझ कर अविचलित रहते हुए स्थित रहता है।।२३।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

अपने में स्थित, सुख-दुःख को समान समझने वाला मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव रखने वाला, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति में तुल्य बुद्धि रखने वाला ज्ञानी।।२४।।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

मान और अपमान में समान, शत्रु और मित्र में समान समस्त कर्तृत्व के अभिमान को छोड़ने वाला व्यक्ति गुणातीत कहलाता है॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥२६॥

जो व्यक्ति एकान्त भक्ति-योग के द्वारा मेरी उपासना करता है वह इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्म-रूप ही हो जाता है॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

अव्यय ब्रह्म का, अमृत का, सनातन धर्म का, और निर्बाध आनन्द का अवलम्बन मैं हूँ॥२७॥

विपुल-भाष्य

अपने भावों के भी द्रष्टा बनें

गुणातीत व्यक्ति जन्म-मृत्यु, जरा और दुःख से मुक्त होकर अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। यह सुनकर अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा हुई कि गुणों का अतिक्रमण कर लेने वाले व्यक्ति के क्या लक्षण हैं और उसका किस प्रकार का आचरण होता है। गीता के चतुर्दश अध्याय के बाईसवें श्लोक से लेकर अन्तिम श्लोक तक श्रीकृष्ण अर्जुन की इसी जिज्ञासा का उत्तर देते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि गुणों के अपने कार्य हैं। सत्व का कार्य है – प्रकाश अर्थात् ज्ञान, रजोगुण का कार्य है – प्रवृत्ति और तमोगुण का कार्य है – मोह। गुणातीत व्यक्ति न तो इन तीन प्रकार के कार्यों के प्रवृत्त होने से परेशान होता है और न यह चाहता है कि यह कार्य प्रवृत्त न हों। जिस प्रकार जब तक शरीर रहता है तब तक भूख-प्यास लगती रहती है, उसी प्रकार जब तक गुण रहते हैं तब तक गुणों के कार्य भी बने रहते हैं। ज्ञानी यह जानता है कि यह कार्य गुणों के हैं, उसके नहीं। इसलिए वह अपने प्रति तटस्थ भाव रखता है। अन्तःकरण में तीनों गुण बने हैं। उनके कारण वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं।

गुण के अतिक्रमण करने का यह अर्थ नहीं है कि साधक के अन्तःकरण में वृत्तियों का उदय ही नहीं होगा। रजोगुण के दो कार्य हैं – राग और क्रिया। गुणातीत में क्रिया होती रहेगी किन्तु उस क्रिया के प्रति राग या द्वेष नहीं होगा। इसी प्रकार तमोगुण के भी दो कार्य हैं – पारमार्थिक विवेक का न होना और व्यवहार में भ्रमित हो जाना। गुणातीत व्यक्ति का पारमार्थिक विवेक तो बना रहेगा लेकिन व्यवहार में उससे भी इस प्रकार की भूल हो सकती है कि वह रस्सी को साँप समझ ले।

अपरिवर्तनशील स्वरूप

वस्तुतः गुण अपना कार्य पूरे संसार में कर रहे हैं। जिस प्रकार संसार में त्रिगुणों के कारण सर्वत्र होने वाली क्रियाओं के प्रति हम उदासीन रहते हैं, उसी प्रकार गुणातीत पुरुष अपने अन्तःकरण में होने वाली गुणों की वृत्तियों के प्रति भी उदासीन रहता है। वृत्तियाँ बदलती रहती हैं लेकिन साधक की दृष्टि अपने अपरिवर्तनशील स्वरूप पर ही रहती है। इसलिए वृत्तियों का आना-जाना उसे प्रभावित नहीं करता।

जब हम किसी भाव से अपने को दूर कर लेते हैं तो हम उस भाव के सम्बन्ध में युक्तिसंगत निर्णय ले सकते हैं। उदाहरणतः यदि कोई दूसरा व्यक्ति क्रोध में हो तो हमें तत्काल ऐसा लगता है कि उसका क्रोध करना अनुचित है और हम उसे समझाने लगते हैं कि उसे क्रोध नहीं करना चाहिए। हममें यह समझदारी इसलिए पैदा हो जाती है कि दूसरे के क्रोध के साथ हम तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित नहीं करते, अपितु उसके क्रोध के प्रति एक दूरी बनाए रखते

हैं। हमें उसके क्रोध का अनौचित्य दृष्टिगोचर हो जाता है। किन्तु जब हमें स्वयं क्रोध आता है तब हमारी यह समझदारी लुप्त हो जाती है क्योंकि हम अपने क्रोध के साथ दूरी न रखकर तादात्म्य सम्बन्ध बना लेते हैं। इसी प्रकार जब कोई दूसरा व्यक्ति दुःख में होता है तब तो हम उसे समझाते हैं कि उसे दुःखी नहीं होकर धैर्य रखना चाहिए; किन्तु जब हम स्वयं दुःख में होते हैं तो धैर्य नहीं रख पाते। यदि हम अपने क्रोध और दुःख के प्रति भी दूरी रखते हुए द्रष्टा का भाव रख सकें तो हम अपने दुःख और क्रोध के प्रति भी वैसा ही समझदारी का दृष्टिकोण अपना सकेंगे जैसा समझदारी का दृष्टिकोण हम उस समय अपनाते हैं जब दूसरा क्रोध या दुःख में होता है। किसी अच्छी या बुरी वृत्ति के प्रति हम ऐसी दूरी तब ही रख सकते हैं, जब हम समझ लें कि वह वृत्ति गुणों की है, हमारी नहीं। ऐसी स्थिति में हम उस वृत्ति से विचलित नहीं होकर अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं।

स्वरूप में स्थित होने का फल यह होता है कि हमारे लिए दुःख और सुख समान हो जाते हैं। वस्तुतः दुःख और सुख को हमारी इच्छा पैदा करती है। हम जिसे चाहते हैं वह सुख हो जाता है और हम जिसे नहीं चाहते वह दुःख हो जाता है। जिसमें इच्छा ही नहीं रही उसके लिए न कुछ सुख है, न कुछ दुःख है। हमारे प्रतिदिन के अनुभव में आता है कि जो व्यक्ति हमें आज प्रिय लग रहा है कल वही अप्रिय लग रहा है, वही कल पुनः प्रिय लगने लगता है। इससे यह समझा जा सकता है कि प्रियता या अप्रियता व्यक्ति या वस्तु में नहीं, हमारी मनःस्थिति में रहती है। गीता बहुत सारगर्भित शब्दों में कहती है कि गुणातीत व्यक्ति दुःख-सुख, पाषाण-स्वर्ण, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति और शत्रु-मित्र में समभाव रखता है। इस कारण उसका व्यवहार पक्षपातपूर्ण नहीं होता।

निर्गुण पुरुष

वस्तुतः गुणातीत तो पुरुष है। उसका वास्तविक स्वरूप बताना शब्दों में सम्भव नहीं है। किसी पदार्थ को गुणों के द्वारा ही जानते हैं। निर्गुण पुरुष को हम मन या बुद्धि द्वारा जान नहीं सकते और शब्दों द्वारा कह भी नहीं सकते। यहाँ गीता ने निषेध की भाषा में गुणातीत के लक्षण बताए हैं। जैसा व्यवहार अज्ञानी करता है उस व्यवहार का गुणातीत में निषेध करते हुए गीता ने गुणातीत का वर्णन किया है।

इस वर्णन को सूक्ष्म में जाकर समझना होगा अन्यथा बहुत बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। एक व्यक्ति क्रोध कर सकता है और यह कह सकता है कि यह क्रोध तो रजोगुण का कार्य है, मुझमें नहीं हो रहा है। क्रोध करने और क्रोध आ जाने में अन्तर है। क्रोध करने में कर्तृत्व है, क्रोध आ जाने में सहजता है। जिसमें कर्तृत्व का अहंकार है वह यह कैसे कह सकता है कि समस्त भाव विकार प्रकृति के हैं, मेरे नहीं! बहुत सूक्ष्म में जाकर देखें तो यह ख्याल कि 'मैं क्रोध नहीं करूँगा' भी इस कर्तृत्वाभिमान के बिना पैदा नहीं हो सकता कि 'मैं क्रोध करने वाला हूँ' जिस क्रोध के करने वाला ही मैं नहीं हूँ, उस क्रोध को न करने पर भी मेरा वश कहाँ है। अतः गीता कहती है कि गुणातीत व्यक्ति गुणों के कार्यों के प्रवृत्त होने पर परेशान नहीं होता और न उन कार्यों के निवृत्त होने की आकांक्षा करता है – **न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।** यही साक्षिभाव है।

जिस प्रकार का साक्षिभाव गुणातीत का अच्छी-बुरी मनःस्थिति के सम्बन्ध में रहता है, वैसा ही साक्षिभाव उसका अच्छी-बुरी परिस्थिति के बारे में भी रहता है। हम गलती से यह समझ लेते हैं कि मनःस्थिति का सम्बन्ध चेतना से है और परिस्थिति का सम्बन्ध जड से है क्योंकि मनःस्थिति आन्तरिक है और परिस्थिति बाह्य है। वस्तुतः मन-स्थिति भी एक परिस्थिति ही है। आज विज्ञान ने यह खोज की है कि मनःस्थिति एक रासायनिक प्रक्रिया विशेष का परिणाम है। यदि रासायनिक प्रक्रिया बदल दी जाए तो मनःस्थिति भी बदल जाएगी। निष्कर्ष यह है कि भाव भी प्रकृति-जन्य है, चेतना-जन्य नहीं।

गुणातीत स्थिति को कैसे प्राप्त किया जाए – यह प्रश्न सर्वाधिक महत्त्व का है। गीता ने पहले अनेकानेक उपायों – कर्मयोग, ज्ञान, ध्यान का वर्णन किया है तथापि यहाँ अव्यभिचारी भक्तियोग को गुणातीत होने का उपाय बताया गया है। अन्यान्य उपायों में जिन साधनों का सहारा लिया जाता है वे सब साधन गुणात्मक ही हैं, गुणातीत

तो भगवान् ही है। भक्ति में अन्य किसी साधन का सहारा न लेकर भगवान् का ही सहारा लिया जाता है। अतः भक्ति में साधन भी गुणातीत है और साध्य भी गुणातीत है।

भक्ति का अर्थ है – भजन। भजन का अर्थ गीतात्मक कीर्तन नहीं है, भजन का अर्थ है – चिन्तन का विषय बनाना। हम धन को अपने चिन्तन का विषय बनाकर धन की भक्ति भी कर सकते हैं, पद-प्रतिष्ठा की भक्ति भी कर सकते हैं। हम प्रायः अनेक विषयों की भक्ति एक साथ किया करते हैं। हमें धन भी चाहिए, प्रतिष्ठा भी चाहिए, सत्ता भी चाहिए, सुविधा भी चाहिए। यह व्यभिचारिणी भक्ति हुई। ऐसी व्यभिचारिणी भगवद्भक्ति से कार्य सिद्धि नहीं होती है क्योंकि इसमें मन की शक्ति बँट जाती है। अव्यभिचारिणी भक्ति का अर्थ है – एकनिष्ठ चिन्तन। एकनिष्ठ चिन्तन ही गुणातीतता तक ले जाता है।

अनेक इच्छाएँ

हमने अनेक इच्छाएँ पाली हुई हैं। उन्हीं इच्छाओं में से एक भगवत्प्राप्ति की इच्छा भी है। यह इच्छा फलवती नहीं होती। अन्य इच्छाओं के साथ-साथ भगवत्प्राप्ति की इच्छा करना इस अज्ञान का सूचक है कि हमें यह ज्ञात नहीं है कि सब इच्छाओं का शान्त हो जाना ही भगवत्प्राप्ति है। जब इच्छा है – वह हमें अपने से दूर दौड़ाएगी और भगवान् दौड़ने से नहीं, ठहरने से मिलते हैं। अतः इच्छा और भगवत्प्राप्ति में परस्पर विरोध है।

एक समाजधर्म है, जो समय के साथ बदलता है। राजतंत्र में राजा के विरुद्ध बोलना देशद्रोह था किन्तु प्रजातंत्र में शासक के दोषों की आलोचना करना राष्ट्रहित के लिए आवश्यक है। यह सामयिक धर्म है। गुणातीतता सामयिक धर्म नहीं है, शाश्वत धर्म है। इस धर्म के लक्ष्य के गीता ने तीन विशेषण दिए – अमृत, अव्यय तथा ऐकान्तिक सुख। ये तीनों भगवान् के विशेषण हैं। परिवर्तनशील जगत् में कुछ भी अमृत, अव्यय तथा ऐकान्तिक नहीं है। किन्तु यह परिणामी प्रकृति के बारे में ही सत्य है। पुरुष अपरिणामी है। समस्त परिणमन को प्रकृतिस्थ मान कर पुरुष को कूटस्थ जान लेने पर ही अमृतत्व की प्राप्ति सम्भव है। यही भगवत्प्राप्ति है, यही मोक्ष है। इस विवरण के साथ गीता का चतुर्दश अध्याय सम्पन्न होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

श्रीभगवान् बोले –

यह (संसार रूपी) अश्वत्थ वृक्ष अविनाशी है जिसका मूल ऊपर और शाखा नीचे है, वेद जिसके पत्ते हैं, जो उसे जानता है वही वेदवित् है।।१।।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

उसकी गुणों से बढ़ने वाली विषय रूपी कोंपलों वाली शाखायें नीचे-ऊपर सब ओर फैली हैं और मनुष्य लोक में कर्म से बाँधने वाली जड़ें (भी) नीचे सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं।।२।।

रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल–
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं–
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

इसका रूप वैसा यहाँ (विचार करने पर) मिलता नहीं है, इसका न आदि है न अन्त, न यह सुप्रतिष्ठित है। इस सुदृढ़ मूलवाले अश्वत्थ को दृढ़ अनासक्ति रूपी शस्त्र से काट कर उस पद की खोज करनी चाहिये जहाँ जाकर व्यक्ति लौटता नहीं और जिस परमेश्वर से इस पुरातन वृक्ष का विस्तार हुआ उस आदि पुरुष की शरण में मैं हूँ (ऐसा माने)।।३-४।।

विपुल-भाष्य

संसार-वृक्ष का विस्तार

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से संसार बना है। क्षेत्र त्रिगुणात्मक है। क्षेत्रज्ञ गुणातीत है। गुणातीत होने पर भी क्षेत्रज्ञ अज्ञानवश अपना सम्वन्ध गुणों से मान लेता है और संसार में भटकता रहता है। श्रीकृष्ण एक रूपक के द्वारा

संसार का स्वरूप समझाते हैं ताकि साधक संसार से मुक्त हो सके। वे कहते हैं कि संसार एक ऐसा अश्वत्थ वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। वेद इस वृक्ष के पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को जानता है, वस्तुतः वही वेदवित् है।

यहाँ संसार को अश्वत्थ वृक्ष बताया। अश्वत्थ का अर्थ है – प्रतिक्षण परिवर्तनशील, जो आज है कल नहीं है। संसार एक प्रवाह है, यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं। आधुनिक विज्ञान कहता है कि यदि हम किसी ऐसे ठोस पदार्थ की खोज करना चाहें जिसे जोड़-जोड़कर यह विश्व बना है तो ऐसा कोई भी ठोस पदार्थ नहीं है। अन्तिम विश्लेषण करने पर केवल एक ऊर्जा उपलब्ध होती है जो निरन्तर स्पन्दनशील है, स्थिर ठोस कुछ भी नहीं है।

एक का अंत, दूसरे की सृष्टि

यह संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष ऊर्ध्व मूल है, इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। संसार का मूल परमात्मा है। परमात्मा को प्राप्त करना हो तो वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाना होता है, अधोगामी वृत्तियाँ संसार की शाखाओं में उलझा देती हैं।

परिवर्तनशील होने पर भी यह संसार-वृक्ष कभी समाप्त नहीं होता - यह अव्यय है। संसार को प्रवाह-नित्य कहा गया है। एक सौर-मण्डल नष्ट होता है तो दूसरा सौर-मण्डल उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रवाह से संसार सदा बना रहता है।

इस संसार-वृक्ष के वेद पत्ते हैं। वेद में प्रतिपादित कर्मों पर ही यह संसार टिका है। वेद का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म यज्ञ है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। यह यज्ञ प्रकृति में निरन्तर चल रहा है। यदि यह यज्ञ एक क्षण को भी रुक जाए तो न व्यष्टि की स्थिति रह सकती है, न समष्टि की। अतः वेद ही इस संसार-वृक्ष के पत्ते हैं।

वेद का मुख्य प्रतिपाद्य सृष्टि ही है। जो सृष्टि को जानता है वही वेदवित् है। हिन्दू-शास्त्रों में तीन प्रकार की दृष्टियाँ हैं – वेद की दृष्टि ब्रह्माण्ड-मूलक है, स्मृतियों की दृष्टि समाज-मूलक है तथा दर्शन की दृष्टि व्यक्ति-मूलक है। ब्रह्माण्ड के स्वरूप को समझ लेना ही वेदवित् हो जाना है। ब्रह्माण्ड शब्द ही बतला रहा है कि इस संसार का मूल ब्रह्म है। हमारी भाषा में सभी शब्द अपनी कहानी स्वयं ही कह देते हैं जगत् का शब्दार्थ है - जो निरन्तर गतिशील है, संसार का शब्दार्थ है – जिसमें जीव संसरण करता है, भ्रमण करता है, विश्व का शब्दार्थ है - जिसमें परमात्मा प्रविष्ट है। वेदों में ब्रह्म को वृक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसी से जगत् की रचना बताई गई है। ऋग्वेद में जिज्ञासा की गई कि वह वन कौन-सा है, वह वृक्ष कौन-सा है जिसे तराश कर द्यावापृथिवी बनाए गए – **किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।** उत्तर देते हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया कि ब्रह्म ही वह वन है। ब्रह्म ही वह वृक्ष है जिसे तराश कर द्यावापृथिवी बनाए गए – **ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।** ब्रह्म संसार का उपादान कारण है अतः कभी ब्रह्म को वृक्ष कह दिया जाता है और कभी संसार को वृक्ष कह दिया जाता है। उपादान कारण का कार्य से तादात्म्य सम्बन्ध होता है। मिट्टी और घट में तादात्म्य है।

गीता में संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष का विस्तार बताते हुए कहते हैं कि इसकी शाखाएँ ऊपर भी गई हैं और नीचे भी गई हैं। इन शाखाओं की सत्त्व, रजस् तथा तमस् रूप गुणों से वृद्धि होती है। विषय इस वृक्ष की कोपलें हैं। मनुष्य लोक में कर्म इस वृक्ष से बाँधने वाले हैं। इस वृक्ष का आदि और अन्त उपलब्ध नहीं होता। यह वृक्ष अत्यन्त दृढ़ रूप में स्थित है। अनासक्ति रूपी शस्त्र से ही इसे काट कर उस स्थान को प्राप्त किया जा सकता है जहाँ से दुबारा लौटना नहीं पड़ता। इसके लिए उस आदि पुरुष की शरण में जाना होता है जहाँ से यह अनादि सृष्टि प्रवृत्त हुई है।

जीव अपने कर्मानुसार इस संसार-वृक्ष में ऊर्ध्व गति तथा अधोगति को प्राप्त होते हैं। मरणोपरान्त स्थूल शरीर तो यहीं पञ्चभूतों में मिल जाता है। आत्मा सर्वव्यापक है, अतः उसमें गति सम्भव ही नहीं है। गति केवल सूक्ष्म शरीर करता है। सूक्ष्म शरीर में मन मुख्य है। इस मन की प्रधानता के कारण अधिकतर जीव चन्द्रलोक में जाते हैं किन्तु कुछ विशिष्ट जीव जो मन को बुद्धि से अभिभूत कर लेते हैं, वे चन्द्र मण्डल का भेदन करके सूर्य मण्डल में चले

जाते हैं। चन्द्रमण्डल पितृ लोक है, सूर्य मण्डल देव लोक है। यही दोनों शास्त्रों में पितृयान तथा देवयान नाम से प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ऊर्ध्व लोक हैं। इनमें भी पितृ लोक तीन तथा स्वर्ग लोक अथवा सूर्य लोक सात हैं।

शनि सूर्य की परिक्रमा कर रहा है। शनि का जो भाग सूर्य की ओर है वह धर्मराज तथा सूर्य की विरुद्ध दिशा वाला भाग यमराज कहलाता है। शनि का ज्योतिर्मय भाग ही पितृ लोक है। यह तीन भागों में बँटा है – इनमें प्रथम अप्तत्वबहुल है जिसे उदन्वती कहा जाता है, दूसरा वायु प्रधान है जिसे पीलूमती कहते हैं, तीसरा सोम प्रधान है जिसे प्रद्यौ कहते हैं।

इसी प्रकार सूर्य से सम्बद्ध स्वर्ग सात हैं। ये सूर्य के अठारहवें, अहर्गण से लेकर तेइसवें अहर्गण तक हैं। अठारहवें अहर्गण पर ऋतधामा नामक आग्नेय स्वर्ग, उन्नीसवें पर अपरोदक नामक वायव्य स्वर्ग, बीसवें पर अपराजित नामक ऐन्द्र स्वर्ग, इक्कीसवें पर ऐन्द्र नामक ऐन्द्राग्न स्वर्ग, बाईसवें पर अभिद्यौ नामक वारुण स्वर्ग, तेइसवें पर प्रद्यौ नामक मुच्यु स्वर्ग तथा चौबीसवें पर रोचन नामक ब्राह्म स्वर्ग है।

पितृ लोक नामक चन्द्र लोक तथा देवलोक नामक सूर्य लोक – ये दोनों ऊर्ध्व लोक हैं। जिनका मन धन, भवन आदि पार्थिक पदार्थों में ही अटका रह जाता है वे चन्द्र लोक में भी न पहुँच कर पृथ्वी लोक पर बारम्बार जन्म लेते रहते हैं। यह अधोगति है।

जीवों का आवागमन चक्र

यह उन जीवों का वर्णन हुआ जो आवागमन के चक्र में फँसे हैं। स्वर्ग लोक से पुण्य क्षीण होने पर जीव मर्त्य लोक में ही आ जाते हैं – क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। शास्त्र कहते हैं कि सूर्य पर्यन्त सब मृत्यु से व्याप्त है - **यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्।** सूर्य लोक की गति सकाम कर्मों से प्राप्त होती है। ये सकाम कर्म भी दो प्रकार के हैं – विद्या-सापेक्ष प्रवृत्ति कर्म अर्थात् यज्ञ, तप और दान तथा विद्या-निरपेक्ष प्रवृत्ति कर्म अर्थात् इष्ट, आपूर्त और दत्त। विद्या-सापेक्ष कर्मों में त्रयी विद्या का ज्ञान अपेक्षित रहता है जबकि विद्या-निरपेक्ष कर्म बिना त्रयी के ज्ञान के भी हो जाते हैं, यथा धर्मशाला बनवाना आदि लोक हितकारी कार्य। ये छहों कर्म पितृयान अथवा देवयान में गति करवाते हैं।

गीता कहती है कि ये सब तो संसार-वृक्ष की वृद्धि करने वाले ही हैं संसार-वृक्ष का उच्छेद असङ्ग-रूपी शस्त्र से होता है। जहाँ सकाम कर्म पितृपथ अथवा देवपथ पर ले जाते हैं वहाँ निष्काम कर्म ब्रह्मपथ पर ले जाता है जिस पथ पर जाने वाले जीव को पुनः लौटना नहीं पड़ता। गीता का बल निष्काम कर्म पर ही है। ब्रह्मपथ पर जाने वाला सूर्य मण्डल का भी भेदन कर जाता है। सूर्य-मण्डल के भेदन करने का अर्थ है बुद्धि का अतिक्रमण कर जाना। बुद्धि तक त्रिगुणात्मक प्रकृति है। प्रकृति के आकर्षण से ऊपर उठ जाने वाला गुणातीत हो जाता है, उसे आवागमन के चक्र से मुक्ति मिल जाती है।

यह मुक्ति भी दो प्रकार की है – अपरा मुक्ति तथा परा मुक्ति। एक तीसरे प्रकार की मुक्ति समवलय मुक्ति है। अपरा मुक्ति में जीव पाप-पुण्य का अतिक्रमण कर जाता है किन्तु उसका जीवत्व बना रहता है। इसके दो भेद हैं – कामप्र और अशोकमहिम। कामप्र मुक्ति में जीव जो भी कामना करता है, वह पूरी हो जाती है। वह ब्रह्म के सान्निध्य में रहता है, अतः इसे सालोक्य अथवा सामीप्य भी कहा जाता है। अशोकमहिम लोक में कामनाएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं। ब्रह्म के समान हो जाने के कारण इसे सारूप्य अथवा सायुज्य भी कहा जाता है।

परा मुक्ति में जीव जीवत्व से भी मुक्त हो जाता है। इसके दो भेद हैं – क्षीणोदर्क और भूमोदर्क। ज्ञान मार्ग से क्षीणोदर्क मुक्ति होती है तथा योग मार्ग से भूमोदर्क। क्षीणोदर्क में समस्त प्रपञ्चों का त्याग होता है जबकि भूमोदर्क में समस्त प्रपञ्च में भूमा भाव रहता है। क्षीणोदर्क आत्मलीन रहता है किन्तु भूमोदर्क लोकसंग्रह का भाव भी रखता है।

अपरा तथा परा मुक्ति के अतिरिक्त तीसरी मुक्ति समवलय मुक्ति है। समवलय मुक्ति उस जीव की होती है जिसे शरीर में रहते हुए सर्वत्र आत्मा के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं देता। यह विदेह मुक्ति अथवा सद्योमुक्ति

है। जीव इस दशा में कहीं भी नहीं जाता अपितु यहीं आत्मभाव में लीन हो जाता है – **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते।** ये जीव भी क्षीणोदर्क तथा भूमोदर्क भेद से दो प्रकार के होते हैं।

भक्तियोग का फल अपरा मुक्ति है, ज्ञानयोग का फल परा मुक्ति है तथा बुद्धियोग का फल समवलय मुक्ति है।

सात्विक, राजसी और तामसिक

भिन्न-भिन्न कर्मों से कौन-सी गति प्राप्त होती है – इस विवेचन का वैज्ञानिक आधार है। हम जो कर्म करते हैं, वे ज्ञानपूर्वक होते हैं। कुछ कर्मों में ज्ञान मुख्य है, वे कर्म सात्त्विक हैं। जहाँ क्रिया मुख्य है वे कर्म राजसी हैं तथा जहाँ ज्ञान का लगभग अभाव है वे कर्म तामसिक हैं। सात्विक कर्म सूर्य लोक में ले जाते हैं, राजसी कर्म चन्द्र लोक में तथा तामसी कर्म पृथ्वी लोक में। पार्थिव कर्म स्वार्थ के पोषक हैं। राजसी कर्म परोपकार के हैं। जैसा कि पहले कहा गया, ये तीन हैं - इष्ट अर्थात् स्मार्त यज्ञ, आपूर्त अर्थात् जन कल्याण के कार्य एवं दत्त अर्थात् जरूरतमन्दों की सहायता। इन तीनों कर्मों में वेद ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत सात्विक कर्म भी तीन हैं – यज्ञ, तप और दान। इन तीनों कर्मों में वेद ज्ञान की अपेक्षा रहती है।

सात्विक कर्म सौर प्राण से, राजसी कर्म चान्द्र प्राण से तथा तामसी कर्म वैश्वानर प्राण से सम्पन्न होते हैं। जो कर्म जिस प्राण से सम्पन्न होता है, वह कर्म उसी प्राण को पुष्ट करके जीव को उसी लोक में ले जाता है। यह सब सकाम कर्मों का फल है जो संसार-वृक्ष की ही वृद्धि करने वाला है। गीता उस असङ्गता को महत्त्व देती है जो संसार-वृक्ष का उच्छेद ही कर देती है। जो कर्म सकाम भाव से करने पर आवागमन का कारण बनते हैं वे ही कर्म निष्काम भाव से किए जाने पर बन्धन का कारण नहीं बनते। इस प्रकार असङ्गता संसार-वृक्ष का उच्छेद कर देती है।

मूल तथा अनुवाद

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै–
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

जिनका अहंकार और मोह नष्ट हो गया, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया, जो सदा आत्मा में लीन हैं, जिनकी कामनाएँ नष्ट हो गईं, जो सुख-दुःख के दोषों से छूट गये – ऐसे ज्ञानी उस अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं।।५।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

जिस पद को प्राप्त करके पुनः संसार में नहीं आया जाता, ऐसा मेरा परम धाम है; जहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा, न अग्नि।।६।।

विपुल-भाष्य

संसार-वृक्ष का मूल : परमात्मा

संसार रूपी अश्वत्थ के वृक्ष का न कोई आदि है न कोई अन्त। यह हमारा अज्ञान है कि हम समझते हैं कि एक दिन हम संसार का अन्त पा लेंगे। भौतिक अर्थों में देखें तो वैज्ञानिक संसार का ओर-छोर अभी तक नहीं ढूँढ़ सके हैं और वे मानने भी लगे हैं कि संसार का आदि-अन्त ढूँढ़ना सम्भव नहीं है, न यह पता लगता है कि यह

कहाँ से लेकर कहाँ तक फैला हुआ है और न यह पता लगता है कि यह कब से चला आ रहा है और कब तक चलता रहेगा। जब भौतिक रूप से ही संसार का छोर पता नहीं लगता तो मनोवैज्ञानिक रूप से यह सोचना और भी बड़ी भ्रान्ति है कि हमारी सांसारिक समस्याओं का कभी अन्त आ जाएगा।

होता यह है कि जब कोई एक समस्या हमारे सम्मुख होती है तो हम उस समस्या से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि हम ये मान लेते हैं कि यदि वह समस्या हल हो गई तो फिर कोई समस्या रहेगी ही नहीं। किन्तु वस्तुतः जब तक एक समस्या समाहित भी नहीं हो पाती कि एक दूसरी समस्या उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार जिस तरह संसार का कोई अन्त नहीं है, उसी प्रकार संसार की समस्याओं का कोई अन्त नहीं है। यह हमारा भ्रम है कि हम एक दिन सब समस्याओं का हल कर लेंगे।

परिवर्तन ही स्वभाव

एक दूसरी भूल यह है कि हम संसार के पदार्थों को स्थिर मान लेते हैं। विज्ञान मानता है कि संसार का कोई भी पदार्थ एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रह सकता। इसी आधार पर भगवान् बुद्ध ने क्षणिकवाद का प्रतिपादन किया। आज के विज्ञान में क्वांटम सिद्धान्त के अन्तर्गत भी यही माना जाता है कि संसार में कुछ भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो स्थिर हो, सभी पदार्थ निरन्तर बदल रहे हैं, बल्कि 'होना' (बिकमिंग) ही एकमात्र सत्य है, 'है'(बीइंग) जैसा कुछ भी नहीं है। ऐसी स्थिति में हम जिस पदार्थ को चाहते हैं – धन, पद, बन्धु-बान्धव, वह पदार्थ सदा बना रहे, यह सम्भव ही नहीं है। पदार्थ का एक नाम है 'द्रव्य' अर्थात् जो सदा द्रवित होता रहता है। धन का भी एक नाम है 'द्रविण' जिसका भी अर्थ है कि जो सदा बहता रहे। ऐसे में किसी पदार्थ के सदा बना रहने की इच्छा अज्ञानजनित है। जो पदार्थ आता है, वह जाता भी है – **संयोगाः विप्रयोगान्ताः**। हम गलती से यह समझते रहते हैं कि पदार्थ हमारी भूल से चला गया। इस बार हम सावधानी बरतेंगे तो पदार्थ नहीं जाएगा। किन्तु ऐसा नहीं है, परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव है। हम कितनी भी सावधानी बरतें वह अवश्य बदलेगा।

बौद्ध साहित्य में आम्रपाली नाम की एक वेश्या की कथा आती है। वह वेश्या भगवान् बुद्ध पर आसक्त हो गई। भगवान् बुद्ध ने उसे एक आम का फल दिया और कहा कि इस फल को वह सँभाल कर रखे। यदि उनके कुछ दिनों बाद वापिस लौटने तक वह फल ज्यों का त्यों रहा तो वे उसकी मनोकामना पूरी कर देंगे। आम्रपाली ने फल को पूरा सँभाल कर रखा। किन्तु फिर भी उसमें परिवर्तन होना चालू हो गया। वह बहुत चिन्तित हो गई और आम को सुरक्षित रखने का भरसक प्रयत्न करने लगी। किन्तु आम बदलते-बदलते अन्त में सड़ गया। बुद्ध आए और आम माँगा तो वह सड़ चुका था। बुद्ध बोले – एक आम को तुम बदलने से और सड़ने से नहीं रोक सकीं तो अपने यौवन और सौन्दर्य को समाप्त होने से कैसे रोकोगी? आम्रपाली की आँखें खुल गईं।

इसलिए समझना चाहिए कि प्रथम तो हमारी कामनाओं का कभी अन्त ही नहीं आता; एक कामना पूरी होती है कि दूसरी कामना उत्पन्न हो जाती है। दूसरे यदि अभीष्ट पदार्थ हमें मिल भी जाता है, तो वह सदा नहीं रहता। इस प्रकार कामनाएँ हमें सदा-सदा भटकाती रहती हैं।

समझना यह है कि आसक्ति में यह दोष है कि वह हमें कभी चैन से नहीं बैठने देती और न कभी समाप्त होती है, वह दुष्पूर है। यह संसार के अनादि-अनन्त अश्वत्थ वृक्ष में उलझे रहने की प्रक्रिया है। यह संसार-वृक्ष अस्थिर है, किन्तु इसका मूल स्थिर है। प्रत्येक अस्थिर पदार्थ को टिकने के लिए एक स्थिर आधार चाहिए। संसार का अस्थिर वृक्ष जिस स्थिर आधार पर टिका है वह स्थिर आधार ही परमात्मा है। वही संसार-वृक्ष का मूल है। मूल तक जाने के लिए हमें शाखाओं की दिशा से उलटी दिशा की ओर चलना होता है। विषय-भोग ही इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ हैं। शाखाओं से उलटी दिशा में जाने का अर्थ है - कामनाओं को छोड़ देना।

कामनाओं का प्रथम आधार है - शरीर। शरीर के लिए ही हमें अनेक सुख-भोग चाहिए। यही हमारे मोह का कारण है। हमारा मन सम्मान की इच्छा करता है। यही अहंकार का हेतु है। शरीर और मन संसार के हिस्से हैं। जब

तक इनसे ऊपर न उठा जाए, संसार से ऊपर नहीं उठा जा सकता, संसार में भटकते रहने का अन्त नहीं आ सकता। जब तक संसार है, तब तक सुख-दुःख का द्वन्द्व बना रहता है, क्योंकि संसार हमें उन्हीं पदार्थों में अटकाता है जो आने-जाने वाले हैं। बाहर देखें तो संसार है; अन्तर्मुख होकर देखें तो परमात्मा है। अन्तर्मुख हो जाना ही अध्यात्म है। बहिर्मुख रहना मूढ़ता है। मोह चला जाए तो संसार से विमुखता हो जाती है और मूढ़ता चली जाए तो जीव परमात्मा की ओर अभिमुख हो जाता है।

आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक

संसार के तीन पक्ष हैं – आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। उदाहरणतः सूर्य का पिण्ड आधिभौतिक है, उसका अधिष्ठाता देवता अर्थात् सौर-प्राण आधिदैविक है और पिण्ड-स्थानीय बुद्धि आध्यात्मिक है। ब्रह्माण्ड और पिण्ड में समतुलित भाव है - **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**। संसार के ये तीनों ही पक्ष परिवर्तनशील हैं। वस्तुतः ये स्वप्रकाश न होकर परप्रकाश हैं। जिसके प्रकाश से ये प्रकाशित हैं, उस स्वप्रकाश चेतना को ये प्रकाशित नहीं कर सकते। जब बुद्धि की ही पहुँच चेतना तक नहीं है तो मन, इन्द्रिय आदि तो बुद्धि से भी निकृष्ट हैं, फिर उनकी पहुँच चेतन तत्त्व तक हो ही कैसे सकती है? सामान्य नियम यह है कि जो ज्ञान का विषय बन सके वह ज्ञेय हो सकता है, ज्ञाता नहीं तथा जो भी ज्ञेय है वही संसार है, परमात्मा नहीं। जहाँ तक संसार है वहाँ तक आवागमन है, आवागमन से छुटकारा परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति में ही है। उपनिषद् कहते हैं कि ज्ञाता के प्रकाश से ही सब ज्ञेय ज्ञात होते हैं, ज्ञेयों में स्वयं ज्ञात हो जाने की शक्ति नहीं है – **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**। किन्तु ज्ञाता स्वतः प्रकाशित है।

हम भाग रहे हैं सुख के प्रति। हम स्थिर नहीं हैं, अतः हमें वह दिखाई नहीं दे सकता जो स्थिर है। अस्थिर चित्त को परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। सुखों का आकर्षण ही मोह है, आसक्ति है। अपने चित्त की चञ्चलता के कारण हम यह भी नहीं देख पाते कि जहाँ हमने सुख समझा था, वहाँ सुख मिला नहीं।

असल में सुख कुछ नहीं है, संसार की भाग-दौड़ से जो तनाव, श्रान्ति और कुण्ठा पैदा होती है उसे भुलाने के उपाय को हम सुख कह देते हैं। सुख से दुःख दूर नहीं हो जाता, केवल कुछ समय के लिए भूल जाता है। भगवान् महावीर ने संसार के सुखभोगों का नाम दिया – मूर्च्छा। मूर्च्छा से दुःख दूर नहीं होता। किन्तु जब तक मूर्च्छा बनी रहती है, दुःख प्रतीति में नहीं आता। मूर्च्छा टूटने पर दुःख जहाँ का तहाँ बना रहता है। सब सुख केवल एक मूर्च्छा है। इस मूर्च्छा की आवश्यकता हमें केवल इसलिए प्रतीत होती है कि हमारे पास दुःख है। किन्तु दुःख के दूर करने का उपाय मूर्च्छा नहीं, जागरण है।

हम इस सत्य के प्रति जागें कि अस्थिरता संसार का स्वभाव है, वहाँ स्थायित्व की आशा करना सदा विफलता को ही जन्म देगा। संसार में कभी कोई सफल होता ही नहीं, सफल वही हो पाता है जो परमात्म-तत्त्व में अपना चित्त लगा दे। संसार की विफलता एक जन्म की विफलता नहीं है, जन्म-जन्मान्तर की विफलता है। हम जन्म-जन्मान्तर में इसीलिए भटकते हैं कि हम विफल हो रहे हैं। राजा भी विफल है, रङ्क भी विफल है। राजा के अपने दुःखड़े हैं। रङ्क के अपने रोने हैं। रङ्क समझता है कि राजा बन जाऊँ तो सुखी हो जाऊँगा। ऐसा वह इसलिए समझता है कि उसे इस जन्म में राजा बनने का अनुभव है नहीं और पिछले जन्मों में वह राजा रह चुका है किन्तु उसका उसे स्मरण नहीं है।

भोग की प्रवृत्ति

विस्मृति की महिमा अपरम्पार है। हम भोग भोगते हैं किन्तु अन्त में हाथ कुछ नहीं लगता अतिरिक्त आत्मग्लानि के। क्योंकि भोग से शक्ति का क्षय होता है, अतः भोग से आत्मग्लानि होती है। किन्तु जैसे ही कुछ समय बाद शक्ति-क्षय की पूर्ति हो जाती है हम फिर भोग के लिए उत्सुक हो जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। पूर्ववर्ती भोग के बाद जो आत्मग्लानि उत्पन्न हुई थी, वह हमें विस्मृत हो जाती है। यदि उसकी स्मृति बनी रहे तो हम दुबारा भोग में प्रवृत्त ही न हों। भोग की प्रवृत्ति ही तो हमें उस अव्यय पद की प्राप्ति नहीं करने देती जहाँ प्रकाश है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं है, जो नित्य है। उस पद की प्राप्ति की गीता ने कुछ शर्त लगाई। जिसने मान और मोह को जीत लिया है, जो

आसक्तिरहित है, अन्तर्मुख है और कामनाओं से विमुख हो गया है अतः जिसके भीतर द्वन्द्व नहीं रहा वही उस अव्यय पद को प्राप्त करता है, जहाँ सूर्य, चन्द्र और अग्नि का प्रकाश नहीं है। वहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

मूल तथा अनुवाद

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥

शरीर में सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है (जो) प्रकृति में स्थित पाँच इन्द्रियों और मन को आकृष्ट करता है॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥८॥

जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, वैसे जीवात्मा जिस (शरीर को) छोड़ता है (उस शरीर से) इन्द्रियों सहित मन को ग्रहण करके (उस शरीर में) ले जाता है जिस शरीर को वह प्राप्त होता है॥८॥

विपुल-भाष्य

शान्ति प्रकृति में नहीं है

चञ्चलता कहो, असन्तोष कहो, अशान्ति कहो, दुःख कहो – ये सब पर्यायवाची हैं। यदि हमें कहीं सन्तोष अथवा शान्ति मिल जाए तो फिर हम वहीं स्थिर हो जाएँगे – चञ्चल क्यों बनेंगे? चञ्चल हम इसीलिए होते हैं कि हमें कहीं भी सुख नहीं मिलता। हम समझते हैं कि यहाँ इस स्थिति में सुख नहीं मिला तो शायद कहीं और किसी स्थिति में सुख मिल जाएगा। इस प्रकार हम अपनी स्थिति बदलते रहते हैं – यही चञ्चलता है।

किन्तु किसी भी स्थिति में हमें चैन नहीं मिलता। इसलिए हम कभी भी स्थिर नहीं हो पाते, सदा अस्थिर बने रहते हैं। हमें किसी भी स्थिति में सुख क्यों नहीं मिलता? हमें सुख इसलिए नहीं मिलता कि हम सुख वहाँ खोज रहे हैं, जहाँ वह है ही नहीं। हम जड प्रकृति में सुख खोज रहे हैं – धन, पद आदि जड हैं। उनमें सुख कैसे हो सकता है? हम जड में सुख की खोज ही नहीं कर रहे, अपितु स्वयं को जड माने हुए हैं। अपने को शरीर मानना अपने को जड मानना ही तो है। हम यह विचार नहीं करते कि जड को सुख कैसे हो सकता है?

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जीवन भगवान् का ही अंश है। यह एक सनातन सत्य है। अंश जब तक अंशी को प्राप्त न कर ले तब तक उसे सुख नहीं मिलता। नदी समुद्र में गिरकर ही शान्त होती है, अन्यथा निरन्तर बहती रहती है।

भक्ति ऊपरी, अंतरतम अछूता

हम मन को भगवान् में लगाना चाहते हैं किन्तु मन भगवान् में लगता नहीं है। हम अपने आपको भगवान् में नहीं लगाते – अपना पूरा अस्तित्व भगवान् में नहीं लगाते। जब हम वासना-ग्रस्त होते हैं तो केवल हमारा मन या बुद्धि ही वासना में लिप्त नहीं होता, हमारा पूरा अस्तित्व वासना में डूब जाता है। इसलिए हमारी वासना सच्ची होती है – वह अपना पूरा प्रभाव दिखाती है। किन्तु हमारी भक्ति ऊपरी होती है – वह केवल मन और बुद्धि के स्तर को ही छू पाती है, हमारे अन्तरतम को नहीं भिगोती। इसलिए हमारी भक्ति अपना पूरा प्रभाव नहीं दिखाती।

हमारा राग का भाव आन्तरिक है, हम किसी के कहने से राग नहीं करते, राग हमारे अन्दर से उपजता है। इसलिए हमारा राग स्वाभाविक है। वैराग्य हमारे अन्दर से नहीं पैदा होता है। हम शास्त्र अथवा गुरु की आज्ञा का पालन करने के लिए बलपूर्वक वैराग्य पैदा करते हैं। यह वैराग्य कृत्रिम है। कृत्रिम वैराग्य स्वाभाविक राग से पराजित हो जाता है। राग में बल रहता है, वैराग्य निर्बल होता है। ऐसा इसलिए है कि हम अपने को प्रकृति माने हुए हैं, अतः प्रकृति हमें अपनी प्रतीत होती है, भगवान् हमें पराए लगते हैं। यह भाव आते ही कि हम प्रकृति नहीं हैं, भगवान् के अंश हैं, हमारा प्रकृति के प्रति राग-भाग एक अभिनय-मात्र रह जाएगा और भगवद्भाव वास्तविकता हो जाएगी।

हमें सदा एक ही प्रतीति होती रहती है कि मैं मोटा हूँ अथवा पतला हूँ, मूर्ख हूँ अथवा विद्वान् हूँ। यह प्रतीति इस आधार पर टिकी है कि मैं शरीर, मन अथवा बुद्धि हूँ। यदि हमें यह प्रतीत होने लगे कि मैं सत्, चित् आनन्द हूँ तो फिर हमारी दृष्टि आत्मा पर चली जाएगी। आत्मा पर दृष्टि जाते ही चित्त-वृत्ति स्थिर हो जाएगी। चित्त-वृत्ति की स्थिरता का ही नाम शान्ति है। यूं तो शान्ति ही वास्तविक सुख है किन्तु कभी-कभी हम स्वादिष्ट भोजनादि को सुख मान लेते हैं किन्तु अशान्त चित्त वाले व्यक्ति को कथित सांसारिक सुख भी सुखी नहीं कर पाते - **अशान्तस्य कुतः सुखम्।**

हमारी अशान्ति निरन्तर यह सूचित करती है कि हमसे कहीं भूल हो रही है। यदि अशान्ति हमारा स्वभाव ही होती तो हम अशान्ति में ही सन्तुष्ट हो जाते, शान्ति की खोज ही न करते। शान्ति की खोज का होना ही इस बात का प्रमाण है कि जीव परमात्मा का ही अंश है। परम शान्ति का ही नाम तो परमात्मा है। जीव शान्ति की खोज करता है यह इस बात की सूचना है कि वह परमात्मा का अंश है।

कठिनाई यह है कि जीव प्रकृति में शान्ति खोज रहा है और अपने को भी प्रकृति ही मान रहा है। अपने को प्रकृति मानने का परिणाम यह है कि जीव प्रकृति के ही अङ्गभूत मन तथा इन्द्रियों को अपनी ओर खींच लेता है। मन और इन्द्रियाँ हमें नहीं खींच रही हैं, हम मन और इन्द्रियों को खींच रहे हैं। मन तथा इन्द्रियों के बिना प्रकृति का भोग सम्भव नहीं है। हम प्रकृति को भोगना चाहते हैं, इसलिए मन तथा इन्द्रियों का विकास कर लेते हैं। मन तथा इन्द्रियाँ तो बने ही प्रकृति का भोग करने के लिए हैं, फिर उन्हें भोग से विरत कैसे किया जा सकता है - **पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः।** अतः इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करना होगा, मन से अमन में जाना होगा।

यदि किसी को कोई बहुमूल्य वस्तु मिलने की आशा हो तो वह अल्पमूल्य वाली वस्तु को छोड़ सकता है। यदि भगवान् की विभूति मिले तो मन विषयों को छोड़ सकता है। जीव भगवान् का अंश है, अतः भगवान् की विभूति पर उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। यह जानने पर जीव प्रकृति के आकर्षण से मुक्त हो सकता है। प्रकृति का आकर्षण छूटने का अर्थ है मन तथा शरीर का आकर्षण छूटना। मन तथा शरीर का आकर्षण छूट जाए तो फिर शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रकृति के तीन घटक

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसके तीन घटकों में एक रजोगुण है। रजोगुण का काम है – चञ्चलता। रजोगुण प्रकृति को स्थिर नहीं रहने देता। अध्यात्म में काम-क्रोध रजोगुण के परिणाम हैं। ये काम-क्रोध ही मनुष्य को निश्चल नहीं रहने देते। रजोगुण के कारण हमारा पूरा अस्तित्व सदा स्पन्दित रहता है। यह स्पन्दन ही कर्म है। इस स्पन्दन के कारण हम कुछ न करते हुए भी नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं होते। प्रकृति में नैष्कर्म्य है भी नहीं। नैष्कर्म्य चेतना में है। चेतना एक प्रकाश है। प्रकाश कोई कर्म नहीं है। जो प्रकाश की परिधि में आ जाता है वह प्रकाशित हो जाता है। इसके लिए चेतना को कुछ करना नहीं पड़ता। वह निष्पन्द स्थिर रहती है।

चेतना का प्रकाश सर्वव्यापी है, वह कहीं आता-जाता नहीं है। आता-जाता सूक्ष्म शरीर है। किसी के मर जाने पर हम प्रायः समझते हैं कि उसके शरीर में से आत्मा निकल गई। आत्मा तो सर्वव्यापक है, वह कहीं से निकल कैसे सकती है? निकलता सूक्ष्म शरीर है; किन्तु अज्ञानवश हम अपने को शरीर माने हुए हैं और सूक्ष्म शरीर के निकलने

को आत्मा का ही निकलना मान लेते हैं। मरने पर स्थूल शरीर तो यहीं हमारे सामने भस्म हो जाता है। अतः उसके कहीं आने-जाने का प्रश्न ही नहीं। इसीलिए चार्वाक ने कहा था शरीर जब भस्म हो गया तो पुनः कहाँ से आ सकता है – **भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?** यह उसका तर्क है जो स्थूल शरीर को ही 'मैं' माने हुए है जो आत्मा को 'मैं' माने है उसकी दृष्टि में भी पुनर्जन्म नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाती नहीं है – वह तो सर्वव्यापक है – न जायते म्रियते वा कदाचित्। आवागमन सूक्ष्म शरीर का ही होता है।

सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध फूल का सुगन्ध से है। फूल एक स्थान पर ही रहता है किन्तु उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर यहीं रह जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर दूर तक की यात्रा करता है। यही सूक्ष्म शरीर अपने कर्म तथा ज्ञान के अनुसार नया स्थूल शरीर धारण कर लेता है –

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।

यह अपने को शरीर मानने का फल है। जो जीव अपने को आत्मा अथवा परमात्मा का अंश मानकर स्थिरत्व को प्राप्त हो जाते हैं उनका सूक्ष्म शरीर अपने मूल कारण प्रकृति में लीन होने पर आवागमन से मुक्त हो जाता है।

अहम्भाव अथवा ममता

जीव है परमात्मा का अंश किन्तु माने हुए है कि वह शरीर का स्वामी है। इसीलिए शरीर के छूटने पर वह दुःखी होता है। यह तो निश्चित है कि शरीर देर-सबेर छूटेगा। अतः मृत्यु का दुःख अवश्यम्भावी है। शरीर बूढ़ा भी होगा। अतः जरा का दुःख भी होगा ही। स्पष्ट है कि अपने को शरीर मानना अर्थात् अहम्भाव अथवा शरीर को अपना मानना अर्थात् ममता निश्चित ही दुःख में ले जाएँगे। यह अहम्भाव तथा ममता ही एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने का कारण बनते हैं –

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।

मुक्त होने की इच्छा और आत्महत्या करने की इच्छा – दोनों मूलतः दुःख से छूटने की इच्छा हैं। दोनों इच्छाओं में शरीर से छूटना अभीष्ट होता है। जब हम अत्यन्त दुःखी होते हैं तो आत्महत्या करके शरीर से छुटकारा पाना चाहते हैं। किन्तु आत्महत्या से स्थूल शरीर छूटता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता; फूल नष्ट हो जाते हैं, फूल की गन्ध समाप्त नहीं होती, बल्कि और भी मजबूत हो जाती है। जब हम यह समझते हैं कि शरीर के नष्ट होने पर दुःख समाप्त हो जाएँगें तो हम शरीर के साथ अपना तादात्म्य और भी सघन बना लेते हैं। वस्तुतः दुःख का कारण शरीर नहीं, शरीर से तादात्म्य सम्बन्ध मानना है। शत्रुता शरीर से नहीं करनी है, अपने को शरीर मानना अथवा शरीर को अपना मानना छोड़ना है। जिस दिन शरीर को अपने से पृथक् जान लिया उस दिन शरीर के रोग, जरा और मृत्यु अपने रोग, जरा और मृत्यु नहीं रह जाएँगे। फिर मृत्यु का भय नहीं रहेगा। जिसे मृत्यु का भय नहीं रहा, वही जन्म-मरण से मुक्त हो सकता है। वासना ही वह गन्ध है जो एक शरीर के छूटने पर दूसरे शरीर में प्रवेश करा देती है। शरीर को अपने हाल पर छोड़ दें – रहे तो रहे, जाए तो जाए। समाप्त वासना को करें। वासना गई तो फिर शरीर धारण नहीं करना पड़ेगा।

मूल तथा अनुवाद

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

यह जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मन का सहारा लेकर ही विषयों का सेवन करता है।।९।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

शरीर छोड़कर गमन करने वाले अथवा शरीर में स्थित अथवा विषयों को भोगने वाले अथवा गुणों से युक्त (इस आत्मा को) जिनके पास ज्ञान चक्षु हैं, वे देख लेते हैं। (किन्तु) अज्ञानी नहीं जान पाते॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मनो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥११॥

पुरुषार्थ करने वाले योगी अपने में स्थित इस आत्मा को जानते हैं किन्तु जिन्होंने अपने को पवित्र नहीं किया ऐसे अज्ञानी यत्न करने पर भी इसे नहीं जान पाते॥११॥

विपुल-भाष्य

प्रकृति से ही प्रकृति का भोग

शास्त्रों में इस विषय पर विधिवत् विचार हुआ है कि विषयों का क्या स्वरूप है और जीव उन विषयों का भोग किस प्रकार करता है। अस्तित्व दो भागों में बँटा है – चेतन और जड। चेतन ज्ञाता द्रष्टा है और जड कर्त्ता-भोक्ता है। हम कर्मेन्द्रियों के द्वारा कुछ भी करें और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा कुछ भी जानें, ज्ञाता और दृष्टा चेतन उससे प्रभावित नहीं होता। विषय का सेवन करते समय प्रकृति ही प्रकृति का सेवन करती है। चेतना न कुछ करती है; न कुछ भोगती है। यह जान लेने पर हम किसी कर्म या भोग से प्रभावित नहीं होते। तब हमें कर्म बाँधता नहीं है। यही मोक्ष है।

प्रकृति के तीन गुण प्रसिद्ध हैं। प्रकृति के सत्वगुण से ज्ञानेन्द्रियाँ बनी हैं। रजोगुण से कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं और तमोगुण से भोग के विषय बने हैं। क्योंकि महाभूत पाँच हैं इसलिए ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं और भोग के विषय भी पाँच हैं। आकाश के सत्व गुण से श्रोत्रेन्द्रिय और रजोगुण से वागिन्द्रिय बनी है तथा उनका विषय तमोगुण से बनने वाला शब्द है। इस प्रकार तमोगुण प्रधान शब्द का सत्वगुण प्रधान श्रोत्रेन्द्रिय ग्रहण कर रही है। अर्थात् प्रकृति ही प्रकृति का भोग कर रही है। शब्द श्रोत्र में आता है और चला जाता है। चेतना उसे जानती तो है किन्तु उसका भोग नहीं करती; शब्द आए या जाए, किन्तु चेतना वहीं की वहीं रहती है। इसे ही गीता में गुण ही गुणों में व्यवहार कर रहे हैं – गुणाः गुणेषु वर्तन्ते – कहकर प्रकट किया गया है।

निर्विकार चेतना

यही स्थिति अन्य विषयों की भी है। वायु के तमोगुण प्रधान स्पर्श विषय का सत्वगुण प्रधान त्वगिन्द्रिय से, अग्नि के तमोगुण प्रधान रूप विषय का सत्वगुण प्रधान नेत्रेन्द्रिय से, जल के तमोगुण प्रधान रस विषय का सत्व गुण प्रधान रसनेन्द्रिय से तथा पृथ्वी के तमोगुण प्रधान गंध विषय का सत्व गुण प्रधान घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण होता है। अर्थात् प्रकृति ही प्रकृति का भोग कर रही है। चेतना इन सब विषयों से अस्पृष्ट शुद्ध-बुद्ध-निरञ्जन ही बनी रहती है। वह प्रकृति में होने वाले विकारों को केवल जानती है, किन्तु उनमें लिप्त होकर स्वयं विकृत नहीं होती। यह जान लेने पर साधक निर्भार हो जाता है। वह अपनी स्वाभाविक शुद्धता का अनुभव करने लगता है।

इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता के रूप में मन है जो निरन्तर संकल्प-विकल्प किया करता है। मन में जो संकल्प-विकल्प चलते हैं उन पर हम बुद्धि का नियंत्रण रखते हैं। इसलिए उन सभी संकल्प-विकल्पों को हम प्रकट नहीं करते। यदि हम उन्हीं संकल्प-विकल्पों को प्रकट कर दें तो दूसरों को पता चल जाएगा कि हमारा मन कितना विक्षिप्त है। भले ही बुद्धि के नियंत्रण के कारण हम उन संकल्प-विकल्पों को प्रकट नहीं करते हैं तथापि इससे इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता कि हमारा मन विक्षिप्त है जो रात-दिन निरर्गल संकल्प-विकल्प किया करता है। इस विक्षिप्तता के कारण हम दुःखी भी रहते हैं। हम चाहते हैं कि मन के अनावश्यक संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाएँ; किन्तु ऐसा होता नहीं। मन प्रकृति का एक विकार है। हम चेतन हैं अर्थात् मन से भिन्न हैं। यह जान लेने पर मन और हमारे बीच एक दूरी पैदा हो जाती है। तब मन के अनावश्यक संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं। तब मन विक्षिप्त नहीं होता।

पाँच कर्मेन्द्रियों का पाँच ज्ञानेन्द्रियों से गहरा सम्बन्ध है। इसलिए यदि ज्ञानेन्द्रियों पर संयम कर लिया जाए तो कर्मेन्द्रियाँ भी वश में हो जाती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय पर संयम करने से वाक्, त्वचा पर संयम करने से हाथ, नेत्र पर संयम करने से पाद, रसना पर संयम करने से उपस्थ और घ्राण पर संयम करने से गुदा वश में हो जाती है, क्योंकि कर्म ज्ञान पर ही टिका है।

संकल्प-विकल्प

जब तक जीव मन के संकल्प-विकल्प तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के वश में रहता है तब तक वह एक स्थूल शरीर के छूट जाने पर दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता रहता है। शरीर की स्थिति बनाए रखने के लिए आवश्यक विषयों को उपयोग में लेना एक बात है और विषयों के प्रति आसक्ति रखना दूसरी बात है। धर्म का साधन मानकर शरीर की स्थिति बनाए रखने के लिए त्यागी भी आहार करता है। किन्तु जिह्वा के स्वाद को अपना आनन्द मान कर रस के प्रति लोलुपता रखना राग का लक्षण है। बंधन का कारण राग है, विषयों का सेवन नहीं। प्रकृति प्रकृति का भोग कर रही है, यह समझ लेने पर विषयों के प्रति राग उत्पन्न नहीं होता। जीव चेतन स्वरूप है। अतः वह चेतन परमात्म तत्व का ही आनन्द ले सकता है, जड प्रकृति का भोग नहीं कर सकता। किन्तु अज्ञानी अपने आपको प्रकृति मानकर प्रकृति के भोग को अपना भोग मान लेता है। यही राग है, यही बंधन है।

जो स्थिति पाँच विषयों के भोग की है, वही स्थिति जन्म और मरण की भी है। जन्म और मरण प्रकृति के होते हैं, आत्मा के नहीं। यह जान लेने पर न जन्म का सुख होता है, न मृत्यु का दुःख होता है। जन्म और मरण अनुकूलता और प्रतिकूलता के उपलक्षण हैं। कोई भी परिवर्तन प्रकृति में होता है। उसमें किसी परिवर्तन को हम अनुकूल मान लेते हैं। किसी परिवर्तन को हम प्रतिकूल मान लेते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि प्रकृति में होने वाला कोई भी परिवर्तन न हमारे अनुकूल है और न हमारे प्रतिकूल। यह ज्ञान हो जाने पर हम सब परिस्थिति में समभाव रख सकते हैं। क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही सम रूप है। अतः जैसे ही हम समभाव को प्राप्त होते हैं वैसे ही हम आत्मा को उपलब्ध हो जाते हैं।

अज्ञानी को सुख और दुःख दोनों मनोराज्य में भटकाते हैं। वह अतीत के सुख और दुःख की स्मृति में और भविष्य के सुख और दुःख की कल्पना में खोया रहता है। वह रहता वर्तमान में है और जीता भूत अथवा भविष्य में है। सत्य तो वर्तमान में ही है। अतः जो भूत और भविष्य में रहता है वह सत्य को नहीं जानता। सत्य ही भगवान् है इसलिए भगवान् भी सदा वर्तमान में है। जो भगवत्प्राप्ति के लिए भविष्य की योजनाएँ बनाया करते हैं, वे भगवान् की कल्पना ही करते हैं, भगवान् की वास्तविकता उनसे छूट जाती है।

परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों में जन्म और मृत्यु सबसे बड़े परिवर्तन हैं। क्योंकि उस समय केवल देश और काल ही नहीं बदलता शरीर भी बदल जाता है। हमारी जिन विषयों में भी आसक्ति है उनमें सबसे प्रगाढ़ आसक्ति शरीर के प्रति है। इसलिए हम यह समझते हैं कि शरीर नष्ट हो जाएगा, तो हम ही नष्ट हो जाएँगे। इसलिए सबसे बड़ा भय मृत्यु का है। इसे शास्त्रों में अभिनिवेश नाम का पाँचवाँ क्लेश बताया गया है। यदि हम मृत्यु के समय होश में रह सकें तो यह देख सकेंगे कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी हम नष्ट नहीं हो रहे। किन्तु होता यह है कि हम अधिकतर मृत्यु के समय बेहोश हो जाते हैं। ऐसा मृत्यु के कारण कम होता है, मृत्यु के भय के कारण अधिक होता है। इस बेहोशी के कारण हम यह देख ही नहीं पाते कि मृत्यु के समय किस तरह शरीर हमसे छूट रहा है, हम अलग हैं और शरीर अलग है। यदि हम मृत्यु के समय होश में रह सकें तो हम शरीर और आत्मा की भिन्नता को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। किन्तु मृत्यु के समय होश में रहने के लिए पूरे जीवन में होश में रहने का अभ्यास करना आवश्यक है। होश में रहने का अर्थ है कि हम जो भी क्रिया करें, हमारा मन भी पूरी तरह वहीं हो, अतीत की स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं में न खोया रहे। पूर्ण मनोयोगपूर्वक कर्म करना पारमार्थिक दृष्टि से तो लाभप्रद है ही, लौकिक सफलता का भी जनक है।

अन्तःकरण की शुद्धि

एकाग्रता के साथ अन्तःकरण की शुद्धि भी आवश्यक है। विषयों के सेवन के समय भी एकाग्रता हो जाती है। चोर चोरी करते समय बहुत एकाग्र होता है। विषयी को विषय भोग करते समय जैसी एकाग्रता होती है; शुद्ध अन्तःकरण वाले को वैसी ही एकाग्रता भगवद् चिन्तन के समय होती है। यही एकाग्रता कार्यकारी है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा कि कामी व्यक्ति को जिस प्रकार स्त्री का भोग प्यारा लगता है अथवा लोभी व्यक्ति को जिस प्रकार धन प्यारा लगता है, उसी प्रकार मुझे राम प्रिय लगें;

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

अन्तर केवल इतना है कि भोगों का प्रेम वहाँ सुख की आशा करता है जहाँ सुख है ही नहीं। किन्तु राम के प्रति प्रेम सुख की खान से सुख की आशा करना है। इसलिए भोगासक्ति के हाथ सदा निराशा, कुण्ठा, विषाद और सन्त्रास लगता है जबकि राम के प्रति प्रेम की परिणति असीम आनन्द है। गीता कहती है कि मूढ़ मन का सहारा लेकर श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना तथा घ्राण विषयों का सेवन करते हैं। मूढ मृत्यु, जीवन अथवा भोग के समय गुणों से युक्त प्रकृति को अपने से पृथक् नहीं देख पाते, ज्ञानी देख लेते हैं। ज्ञानी के लिए भी परमात्म-तत्व का दर्शन तब ही सम्भव है, जब वह पहले अपना अन्तःकरण शुद्ध कर ले –

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

मूल तथा अनुवाद

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

सूर्य का जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में और जो तेज अग्नि में है उसको तुम मेरा ही जानो॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

मैं पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसात्मक चन्द्रमा बनकर सब औषधियों को पुष्ट करता हूँ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

मैं सब प्राणियों के शरीर में रह कर प्राण और अपान से युक्त वैश्वानर अग्नि के रूप में चारों प्रकार के अन्न को पचाता हूँ॥१४॥

विपुल-भाष्य

प्रकृति परमात्म-प्रकाश्य है

साधक बारम्बार शास्त्रों में पढ़ता है कि प्राकृतिक पदार्थों में सुख नहीं है तथापि उसका उन पदार्थों के प्रति आकर्षण छूटता नहीं है। दूसरी ओर लौकिक पदार्थों का आकर्षण जितना अधिक होता है परमात्मा के प्रति आकर्षण उतना ही कम होता जाता है। यही दुःख का कारण है।

विश्लेषण करने पर पता चलता है कि लौकिक पदार्थों के प्रति आकर्षण इसलिए होता है कि उन पदार्थों का प्रभाव प्रत्यक्ष गोचर है। किसी का भव्य मकान देखकर लोक में उसकी प्रशंसा होती है कि अमुक का मकान बहुत भव्य है। किसी के स्वस्थ सुडौल शरीर को देखकर हम उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं। जिसके पास अधिक धन होता है, हम उसका सम्मान करते हैं। इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति का सर्वत्र अपमान होता है। ऐसे में स्वाभाविक है कि हममें अधिकाधिक धन अर्जित करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा का ही दूसरा नाम आसक्ति है। आसक्ति ही हमें बाँधती है। लौकिक पदार्थों की महिमा के कारण उनमें हमारी आसक्ति रहती है। यह अस्वाभाविक नहीं है किन्तु प्रश्न यह है कि लौकिक पदार्थों की महिमा उनकी अपनी है अथवा उनकी यह चमक-दमक कहीं से उधार ली गई है? गीता कहती है कि प्राकृतिक पदार्थों की महिमा उनकी अपनी नहीं है अपितु भगवान् की ही विभूति लौकिक पदार्थों में प्रतिबिम्बित होती है। सूर्य में जो तेज है जिससे समस्त जगत् प्रकाशित हो रहा है, अथवा जो तेज चन्द्रमा अथवा अग्नि में भी है, वह तेज वस्तुतः भगवान् का ही है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।

यह तो हम विज्ञान की कृपा से सभी जानते हैं कि चन्द्रमा का प्रकाश उसका अपना नहीं है अपितु वह सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि चन्द्रमा ही पर प्रकाश्य नहीं है, स्वयं सूर्य का प्रकाश भी उसका अपना नहीं है, वह प्रकाश भी भगवान् का ही है। इस बात को वेदविज्ञान के आलोक में थोड़ा समझना होगा।

ब्रह्म ही उपादान कारण

वेदविज्ञान के अनुसार समस्त दृश्यमान ब्रह्माण्ड ब्रह्म से उत्पन्न हुआ। ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है। जो पदार्थ किसी उपादान कारण से बनता है उस पदार्थ में अपने उसी उपादान कारण के गुण-धर्म आया करते हैं। जैसे घड़ा मिट्टी से बना तो घड़े में मिट्टी के ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आ जाते हैं; घड़े का अपना कुछ भी नहीं होता, सब मिट्टी से ही उधार लिया हुआ होता है। जब सूर्य, चन्द्र, अग्नि का समवाय रूप यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म से ही बना है तो इनकी तेजस्विता ब्रह्म से ही आई हुई होनी चाहिए – यह बात तर्क से सिद्ध होती है।

ब्रह्म से सृष्टि कैसे बनी यह विषय सृष्टि विद्या का है और बहुत विस्तृत है। तथापि प्रसङ्गानुकूल संक्षेप में उसे यहाँ समझ लेना चाहिए। आईंस्टीन ने यह स्पष्ट किया कि $E=Mc^2$ के सूत्रानुसार पदार्थ ऊर्जा में और ऊर्जा पदार्थ में बदल जाती है। ऐतरेयारण्यक ने इससे आगे का एक सूत्र दिया कि चेतना पदार्थ में और पदार्थ चेतना में बदल जाता है। जिस प्रक्रिया से यह होता है, उसी प्रक्रिया का नाम यज्ञ है— वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यद्यज्ञः। आत्मा के तीन घटक हैं – मन, प्राण और वाक्। मन की कामना से प्राण गतिशील हो जाते हैं। प्राणों की यह गतिशीलता ही तप कहलाती है। प्राणों की गतिशीलता भूतों को गतिशील बना देती है। भूतों की यह गतिशीलता श्रम कहलाती है। सारांश यह है कि चेतना की कामना ही चेतना को पदार्थ रूप में परिणत कर देती है। अतः पदार्थ चेतना का ही घनीभूत रूप है। संक्षेप में जगत् के समस्त पदार्थों का उपादान कारण चेतना अथवा ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति में लौकिक पदार्थों की कोई भी महिमा उनकी अपनी न होकर ब्रह्म की ही है। महिमा का आकर्षण स्वाभाविक है किन्तु हमें महिमा के मूल स्रोत को पकड़ना चाहिए न कि प्रतिबिम्ब को। सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि में भगवान् की महिमा उसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो रही है जिस प्रकार भौतिक जगत् में सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा में प्रतिबिम्बित हो रहा है।

अभिप्राय यह है कि तेज तो एक ही है – भगवान् का। शेष सब पदार्थ उन्हीं से अपना तेज उधार लेते हैं। सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के प्रकाश में घटपटादि पदार्थ प्रकाशित होते हैं किन्तु यदि चेतना का प्रकाश न हो तो क्या सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि के प्रकाश में हम घटपटादि पदार्थों को जान सकेंगे? निष्कर्ष यह हुआ कि अन्ततः तो पदार्थों को प्रकाशित चेतना ही करती है, भौतिक पदार्थ चेतना की सहायता भले ही कर दें किन्तु वे स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ हैं।

स्पष्ट है कि अन्तिम शक्ति चेतना है। चेतना ही कामना कर सकती है। कामना ही गति दे सकती है। गति ही संसार है। जगत् का शब्दार्थ ही है – जो निरन्तर गतिशील है। इस प्रकार जगत् का मूल चेतना है। जगत् तूल है, चेतना मूल है। जगत् प्रत्यक्ष गोचर है, चेतना परोक्ष है। मूल तो सदा ही परोक्ष रहता है। वृक्ष की जड़ अथवा मकान की नींव हमें दिखाई कहाँ देती है? किन्तु वृक्ष जड़ पर तथा मकान नींव पर ही टिका है। हम प्रत्यक्ष से अभिभूत होकर परोक्ष को न भूलें। जो वृक्ष जड़ से कट जाता है, वह सूख जाता है। हमारा मूल भगवान् है। यदि हम अपने मूल से कट जाएँगे तो सूख जाएँगे। जीवन का आमोद-प्रमोद तब ही तक है जब तक हम पदार्थ को महत्व न देकर चेतना को महत्व दें। चेतना के भुला देने पर पदार्थ कलह का कारण बनते हैं, सुख का साधन नहीं बन पाते।

सूर्य, चन्द्र और अग्नि

गीता ने प्राकृतिक पदार्थों के उपलक्षण के रूप में तीन का उल्लेख किया – सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि। सूर्य द्युलोक को, चन्द्र अन्तरिक्ष को तथा अग्नि भूलोक को उपलक्षित करती है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि से तीनों लोकों का बोध होता है और तीनों लोकों से तीनों लोकों के सभी प्राकृतिक पदार्थों का बोध हो जाता है। अग्नि से पार्थिव सुख, चन्द्र से पितृलोक के सुख तथा सूर्य से स्वर्ग के सुखों का बोध होता है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के कहने से तीनों लोकों के भोग्य व पदार्थ तथा उन पदार्थों से प्राप्त होने वाले सुख का बोध हो जाता है। त्रिलोकी के इन समस्त पदार्थों की महिमा भगवान् की ही महिमा है तथा इन पदार्थों में जो सुख की प्रतीति हमें होती है वह सुख भगवान् के आनन्दरूप की छाया-मात्र है। हम छाया को वास्तविक मानकर उसी के पीछे पागल हैं। यही माया का चक्र है। किन्तु अभीष्ट की प्राप्ति मूल पदार्थ से होती है, उसकी छाया से नहीं। मूल तो भगवान् है – यह जान लेने पर प्राकृतिक पदार्थों का आकर्षण समाप्त हो जाता है और भगवान के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इसी अभिप्राय से श्रीकृष्ण प्रकृति का परप्रकाशत्व तथा भगवान् का स्वप्रकाशत्व अर्जुन को समझा रहे हैं। सूर्य, चन्द्र और अग्नि की भाषा अधिदैव की भाषा है। यदि अधिदैव ही परतःप्रकाशित है तो अधिभूत तो परतःप्रकाशित होगा ही। श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवान् ही पृथ्वी में प्रविष्ट होकर समस्त भूतों को धारण करते हैं तथा वे ही रसात्मक सोम बन कर समस्त औषधियों को पुष्ट करते हैं–

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

अग्नि भू का देवता है। उसका तेज भगवान् का ही तेज है। यह अधिदैव का वर्णन था। अब अधिभूत का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि सभी भूतों को भी भगवान् ही अपने तेज से धारण किए हैं। आगे चल कर गीता के इसी पंद्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण तीन पुरुषों का वर्णन करेंगे – क्षर, अक्षर और अव्यय। क्षर पुरुष ही भूत हैं – **क्षरः सर्वाणि भूतानि।** किन्तु भूत भी है पुरुष ही। वेद के अनुसार सभी पुरुष हैं – **पुरुष एवेदं सर्वम्।** जब सभी पुरुष है तो भूत ही पुरुष से भिन्न कैसे हो सकते हैं? वैदिक परम्परा से अपरिचित आलोचकों को यह आपत्ति है कि हिन्दू जड की पूजा करते हैं। कहीं भी किसी वृक्ष के नीचे एक पाषाण खण्ड रख कर उस पर तेल तथा सिन्दूर लगाकर उसे ही भैरोंजी मानकर उसकी पूजा करने लगते हैं। वास्तविकता यह है कि हिन्दू समस्त चराचर को भगवद्रूप ही मानता है। वह जब किसी पाषाण खण्ड के आगे नतमस्तक होता है तो वह पत्थर को नहीं भगवान् को ही नमस्कार करता है। पाषाण खण्ड में भी वह शक्ति तो मौजूद है जो उसे धारण किए है और वह शक्ति कुछ और नहीं भगवान् ही

है। इसीलिए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूतों में सर्वत्र चिच्छक्ति है, उसे कहीं भी अपनी श्रद्धा अर्पित की जा सकती है।

प्रकाशकत्व तथा पोषकत्व।

चन्द्रमा में दो गुण हैं – प्रकाशकत्व तथा पोषकत्व। चन्द्रमा का प्रकाशकत्व भगवान् से आया है यह पहले बता दिया। अब कहा जा रहा है कि चन्द्रमा का पोषकत्व भी भगवान् से ही आया है। चन्द्रमा को औषधियों का पति कहा गया है। औषधियों में जो रस आता है वह चन्द्रमा से ही आता है। सोमलता की यही महिमा है कि वह सीधी चन्द्रमा से जुड़ी है। उसकी पत्तियाँ चन्द्रमा की कला के साथ घटती-बढ़ती हैं। वह चन्द्रमा की सम्पूर्ण रसात्मकता का प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए सोमरस देवताओं को परमप्रिय है। श्रौतविधि से किए जाने वाले सोमयाग में सोमरस का प्रयोग होता था। दुर्भाग्य से आज सोमलता विलुप्त हो चुकी है।

सोम का महत्व

अतः वर्तमान में सोमलता के स्थान पर पूतिका आदि अन्य औषधियों के उपयोग से ही सन्तोष करना पड़ता है। वेदविज्ञान के अनुसार सोम का एक अन्य महत्व भी है। अग्नि, वायु, और आदित्य तो आग्नेय देव हैं। ये क्रमशः भू, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक के देवता हैं। सोम सौम्य है। अग्नि में जब तक सोम की आहुति न पड़े यज्ञ पूरा नहीं होता। अतः सोम का अपना अलग महत्व है। अग्नि और सोम के समन्वय से ही जगत् का यज्ञ चल रहा है – अग्निषोमात्मकं जगत्। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि औषधियों में रस का संचार करने वाला सोम भी भगवान् की ही महिमा से महत्वशाली है।

मूल तथा अनुवाद

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो–
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

मैं सबके हृदय में स्थित हूँ और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और बुद्धि के दोषों का निवारण होता है। सब वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ और वेदान्त का बनाने वाला तथा वेदज्ञ भी मैं ही हूँ। ॥१५॥

विपुल-भाष्य

परमात्मा ही वेदों का सार

सूर्य, चन्द्र, अग्नि में जो तेज है वह भगवान् का ही है। भगवान् ही अपने तेज से सब भूतों को धारण किए हैं। वे अपने रसात्मक सोम रूप से औषधियों का पोषण कर रहे हैं और वैश्वानर अग्नि बन कर प्राणियों के शरीर में अन्न पचा रहे हैं। यह भगवान् की सर्वव्यापकता का वर्णन हुआ। प्रश्न होता है कि यदि भगवान् सर्वव्यापक हैं तो क्या उन्हें कहीं भी उपलब्ध किया जा सकता है? उत्तर यह है कि जिस प्रकार वायु सर्वत्र है किन्तु वह प्राणप्रद तब ही बनती है जब श्वास नली से फेफड़ों तक पहुँच जाए। उसी प्रकार यद्यपि भगवान् सर्वत्र हैं तथापि उनके आनन्द की प्राप्ति तभी होती है जब हम उन्हें अपने हृदय में स्थापित हुआ अनुभव करें।

कर्म, ज्ञान और भाव

हृदय शरीर का केन्द्र है। समस्त भावों का स्थान ही हृदय है। भाव का स्थान कर्म और ज्ञान से ऊँचा है। हम कर्म द्वारा किसी की सेवा सीमित समय तक ही कर सकते हैं, कोई कर्म भी सदा नहीं चल सकता। विचार के स्तर पर ज्ञान भी आता है और जाता है, कोई ज्ञान सदा नहीं बना रहता। एक भाव ही ऐसा है जो सदा बना रहता

है। यदि भगवान् हमारे विचार का विषय है तो हम थोड़ी देर के लिए भगवान् पर विचार कर सकते हैं। किन्तु शेष समय में हमें संसार के विचार ही घेरे रहेंगे। किन्तु यदि भगवान् हृदय में स्थापित कर लिए जाए और हमारे भाव का विषय बन जाएँ तो जिस प्रकार माता सारे काम करते हुए और अनेकानेक विषयों पर विचार करते हुए एक क्षण के लिए भी अपने शिशु पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव से रहित नहीं होती, उसी प्रकार भगवद्भाव से भरा हुआ भक्त कुछ भी करे अथवा कुछ भी सोचता रहे उसका हृदय सदा भगवद्भाव से ही आप्लावित रहेगा। भगवान् की निरन्तर स्मृति बनी रहे उसका यही एकमात्र उपाय है। यह उपाय इसलिए कठिन नहीं है कि भगवान् तो पहले से हमारे हृदय में सन्निविष्ट हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक हृदय में स्थापित नहीं करना पड़ता, केवल संसार से दृष्टि मोड़ कर हृदय में स्थित भगवान् पर दृष्टि लगानी होती है। जो पहले से ही हमें प्राप्त है उसे प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना है। केवल यह पहचानना है कि वे वहाँ पहले से ही विद्यमान हैं। यदि भगवान् प्रयत्न से प्राप्य होते तो वे प्राप्त होने के बाद छिन भी जाते, क्योंकि जो कुछ प्रयत्न से प्राप्त होता है वह सदा नहीं रहता। किन्तु हृदय में तो भगवान् सदा से हैं और सदा रहेंगे। अपने भाव द्वारा उन्हें केवल पहचानना है, प्राप्त तो वे सदा से ही हैं। इसे ही शास्त्र में प्रत्यभिज्ञा कहा गया है। यदि मेरे किसी कर्म से परमात्मा प्राप्त होते हों तो मेरा कर्म परमात्मा से बड़ा सिद्ध हो जाएगा। भला जड शरीर, मन, बुद्धि आदि की क्रिया परमात्मा से बड़ी कैसे हो सकती है?

श्रीकृष्ण ने कहा कि भगवान् सबके हृदय में सन्निविष्ट हैं। उन्हीं से स्मृति, ज्ञान और निस्सन्देहता की स्थिति होती है। इन तीनों बातों का विशेष अर्थ है। यहाँ स्मृति किसी और की नहीं किन्तु अपनी ही है। किसी का नाम हम भूल जाते हैं फिर स्मरण हो आता है, किन्तु फिर भूल जाते हैं। ऐसा इसलिए है कि यह स्मरण दूसरे का स्मरण है; स्मरण करने वाला कोई और है स्मृति का विषय कुछ और है। किन्तु भगवान् की स्मृति किसी दूसरे की स्मृति नहीं है, अपने स्वरूप की ही स्मृति है। इसलिए एक बार यह स्मृति होने पर विस्मृत नहीं होती। जैसे यदि किसी का पिता अकस्मात् चल बसे और अपने पुत्र को यह न बता पाए कि उसने अपने पुत्र के लिए भूयसी स्वर्णादि सम्पत्ति स्थान-विशेष पर रख दी है, तो पुत्र अपने आपको निर्धन मानता है। किन्तु यदि पिता का कोई अन्तरंग मित्र उसे विश्वसनीय रूप से उस सम्पत्ति का स्थान और ब्यौरा बता दे तो उसका यह भ्रम दूर हो जाता है कि वह निर्धन है। अब उसे दुबारा यह भ्रम नहीं हो सकता कि वह निर्धन है। जीवात्मा के हृदय में परमात्मा की सम्पत्ति है, किन्तु जीव को यह पता न होने के कारण वह दीन-हीन दशा में रहता है। जैसे ही कोई गुरु अथवा शास्त्र उसे छिपी हुई परमात्मा रूपी सम्पत्ति की सूचना दे देता है और वह भाव से परमात्मा को हृदय में अनुभव कर लेता है तो फिर वह स्मृति निरन्तर बनी रहती है। ऐसी निरन्तर स्मृति केवल भगवान् की होती है, किसी लौकिक विषय की नहीं।

सन्देहरहित ज्ञान भी भगवान् का ही सम्भव है, क्योंकि वहाँ आत्मा ही आत्मा को जानती है। अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक ही हैं। यदि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों अलग-अलग बने रहेंगे तो भले ही वे दोनों एक-दूसरे के कितने भी निकट क्यों न हों, कुछ न कुछ दूरी तो उन दोनों के बीच बनी रहेगी। इसलिए उस ज्ञान में सन्देह का अवसर भी रहेगा। सर्वथा सन्देहरहित ज्ञान तो वहीं सम्भव है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक हों। ऐसा ज्ञान आत्मज्ञान ही है।

वेद का वास्तविक तात्पर्य

श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान ही समस्त वेदों का सार है। जो आत्मा को नहीं जानता वह केवल वेदों के भार को वहन करता है – वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः। वेद भगवान् से ही उत्पन्न हुए हैं। अतः भगवान् ही वेद के मर्म को यथार्थतः जानते हैं। हम जानते हैं कि वेदों के आशय के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। गीता के अनुसार वेद का वास्तविक तात्पर्य आत्मज्ञ अथवा परमात्मा ही जानता है –

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

वेद की चर्चा चली तो त्रयी के माध्यम से तत्त्व का विश्लेषण करते हुए तीन पुरुषों की चर्चा भी आई। वे तीन पुरुष हैं – क्षर, अक्षर और अव्यय। क्षर भूत हैं, जिन्हें हम जड कहते हैं। सब प्राणियों के शरीर भी क्षर हैं, क्योंकि वे नाशवान् हैं। अक्षर जीवात्मा है, क्योंकि वह नष्ट नहीं होता। अव्यय ईश्वर है, क्योंकि वह तीनों लोकों का उसी प्रकार भरण-पोषण करता है जिस प्रकार शासक अपनी प्रजा का भरण-पोषण करता है। क्षरपुरुष तथा अक्षरपुरुष की अपेक्षा श्रेष्ठ होने के कारण अव्यय पुरुषोत्तम कहलाता है।

क्षर को अपराप्रकृति अथवा क्षेत्र भी कहते हैं, अक्षर को पराप्रकृति अथवा क्षेत्रज्ञ कहते हैं और अव्यय को ईश्वर अथवा परमात्मा कहते हैं।

कहा जा चुका है कि वैदिक दृष्टि से आत्मा के तीन घटक हैं – मन, प्राण और वाक्। यही तीन घटक त्रयी विद्या के आधार हैं। अव्यय पुरुष मनः-स्थानीय है, अक्षर पुरुष प्राण-स्थानीय है तथा क्षर पुरुष वाक्-स्थानीय है। वेदों को देखें तो ऋग्वेद वाक्-स्थानीय है, यजुर्वेद प्राण-स्थानीय है और सामवेद मनः-स्थानीय है। इस प्रकार ऋक्, यजु और साम की त्रयी विद्या का इतना बड़ा विस्तार है कि विश्व का कोई भी तत्त्व त्रयी विद्या से बहिर्भूत नहीं है। गीता में उसी त्रयी विद्या का अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष के रूप में विस्तार किया गया है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर

क्षर के अन्तर्गत केवल स्थूल शरीर को न लेकर सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर को भी लेना चाहिए। ये तीनों ही शरीर नाशवान् हैं, इसलिए क्षर कहलाते हैं। ये तीनों शरीर प्रकृति के भाग हैं, इनकी क्रियाएँ भी प्रकृति की क्रियाएँ हैं।

अक्षर पुरुष अथवा जीवात्मा है तो परमात्मा का अंश किन्तु भूल से उसने अपना सम्बन्ध प्रकृति से मान लिया है, इसलिए वह अक्षर अर्थात् अविनाशी होते हुए भी अपने को नश्वर मानकर दुःखी होता है और निर्विकार होते हुए भी अपने को विकृत मानता है। उसकी इसी भूल का स्मरण दिलाने के लिए गीता में अक्षर को कूटस्थ बताया।

जीवात्मा के समान परमात्मा में कोई भ्रम नहीं है, इसलिए उसमें कोई दुःख भी नहीं है। अक्षर भी अपना सम्बन्ध क्षर से तोड़कर अव्यय से जोड़ ले तो जीवात्मा भी परमात्मा ही है।

भारतीय दर्शनों में क्षर पुरुष का वर्णन वैशेषिक दर्शन ने सात पदार्थों के अन्तर्गत किया, जिनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव आते हैं। सांख्य दर्शन ने पच्चीस तत्त्वों के माध्यम से अक्षर पुरुष का वर्णन किया और वेदान्त दर्शन ने ब्रह्म के माध्यम से अव्यय पुरुष का वर्णन किया। इस प्रकार इन तीन पुरुषों के वर्णन में ही समस्त भारतीय दर्शन लगे हैं, क्योंकि इन तीन पुरुषों में ही सब तत्त्वों का समावेश हो जाता है। गीता के सम्बद्ध श्लोक हैं–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषत्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

मूल तथा अनुवाद

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

संसार में क्षर और अक्षर से दो पुरुष हैं (इनमें) सारे भूत प्राणियों के शरीर क्षर हैं और जीवात्मा को अक्षर बताया गया है ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१७।।

किन्तु वह उत्तम पुरुष (क्षर और अक्षर से) भिन्न है जो त्रिलोकी में प्रविष्ट होकर सबको धारण किये है और जिसे अव्यय, ईश्वर तथा परमात्मा कहा जाता है।।१७।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रक्षितः पुरुषोत्तमः ।।१८।।

क्योंकि मैं क्षर से परे और अक्षर से भी श्रेष्ठ हूँ अतः लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ।।१८।।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९।।

हे अर्जुन! जो विवेकी व्यक्ति मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है व सर्ववेत्ता, सर्वभावेन मेरी ही उपासना करता है।।१९ ।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।२०।।

हे निष्पाप अर्जुन! यह मैंने अत्यन्त गोपनीय शास्त्र बताया है, इसे जानकर बुद्धिमान् कृतार्थ हो जाता है ।।२०।।

विपुल-भाष्य

आत्मा पाप-पुण्यातीत

साधना की दृष्टि से तीन साधन मनुष्य के पास हैं – शरीर, बुद्धि और हृदय। शरीर से कर्म होता है, बुद्धि से ज्ञान और हृदय से भक्ति। इसलिए परमात्मा की प्राप्ति के लिए भी तीन ही मार्ग हैं – कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्म के अंतर्गत हम कुछ करना चाहते हैं, ज्ञान से जानना चाहते हैं और भक्ति से प्राप्त करना चाहते हैं। अनुभव में आता है कि हम कुछ भी करें, फिर भी कुछ न कुछ करने को शेष रह जाता है। हम कितना भी जान लें, फिर भी कुछ न कुछ जानने को शेष रह जाता है। हमें कितना भी प्राप्त हो, और अधिक प्राप्त करने की इच्छा बनी ही रहती है। इसलिए हमारे संसार की दौड़ कभी समाप्त नहीं होती। इस दौड़ का भाव इतना गहरा है कि जब एक शरीर छूट भी जाता है तो कुछ और करने, जानने और प्राप्त करने की इच्छा हमें दूसरा शरीर धारण करने के लिए बाध्य कर देती है। यही आवागमन के चक्र का हेतु है।

सर्ववित् साधक

आवागमन से मुक्त होना हो तो करने की, जानने की तथा प्राप्त करने की दौड़ को विराम देना होगा। यह तब ही सम्भव है जब कि हम कुछ ऐसा करें कि कुछ और करने को शेष न रह जाए, कुछ ऐसा जानें कि कुछ और जानने को शेष न रह जाए तथा कुछ ऐसा प्राप्त कर लें कि कुछ और प्राप्त करने को शेष न रह जाए। गीता कहती है कि पुरुषोत्तम अव्यय पुरुष को जान लेने पर न कुछ जानने को शेष रहता है, साधक सर्ववित् बन जाता है, न कुछ और प्राप्त करने को शेष रहता है, साधक प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है तथा न कुछ करने को शेष रहता है, साधक कृत-कृत्य हो जाता है –

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।

मूल श्लोक के तीन शब्द विचारणीय हैं –

१. सर्वविद् अर्थात् विदितवेदितव्य

२. सर्वभाव से भजन अर्थात् प्राप्तप्राप्तव्य

३. कृतकृत्य।

सर्वविद् होने पर बुद्धि को विश्राम मिल जाता है, उसे और कुछ जानने के लिए दौड़ना नहीं पड़ता। सर्वभाव से भजन करने पर हृदय को शान्ति प्राप्त हो जाती है, उसे अन्यान्य भावों में भटकना नहीं पड़ता। कृतकृत्य होने पर शरीर तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को विराम मिल जाता है क्योंकि फिर कुछ करने को शेष ही नहीं रहता। यह परमगति है, यही मोक्ष है, यही आवागमन के चक्र से छुटकारा है।

पुरुषोत्तम के जानने पर यह स्थिति बनने का हेतु है कि साधक की पुरुषोत्तम को जान लेने पर मूढ़ता समाप्त हो जाती है। बड़े-बड़े विद्वान् तथा कर्मठ पुरुष भी भगवान् को जाने बिना मूढता में ही फँसे हुए माने जाते हैं। मूढता का अर्थ है कि यह पता न हो कि क्या करना है और कहाँ जाना है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक प्रकृति के रहस्यों को जानने में लगे रहते हैं फिर भी आइंस्टीन जैसे धुरन्धर वैज्ञानिक कहते हैं कि हम तो ज्ञान के सागर के किनारे पड़े हुए कुछ कंकड़-पत्थर ही चुन पाए हैं, ज्ञान के सागर की थाह पा लेना तो दूर की बात है। यह क्षर-पुरुष की खोज में निकलने वाले भौतिक वैज्ञानिकों की स्थिति है। अक्षर-पुरुष जीवात्मा में मन की गहराइयों को नापने का प्रयत्न मनोवैज्ञानिक करते हैं किन्तु वे अब तक कोई ऐसा अचूक उपाय नहीं खोज पाए कि मनुष्य के मन की विक्षिप्तता को दूर कर सकें अथवा उसे कुछ कम भी कर सकें। बल्कि पिछली शताब्दी में मनोविज्ञान ने जितनी प्रगति की है उसके साथ-साथ मनुष्य की विक्षिप्तता बढ़ी ही है।

अभी कोई ऐसा लक्षण दिखाई भी नहीं दे रहा कि इस क्रम में कहीं कमी आ जाएगी। हाँ, इतना अवश्य है कि क्षर-पुरुष अर्थात भूत-जगत् के रहस्य को खोलने में जो अपूर्व उन्नति भौतिक विज्ञान ने की है उसके कारण सुख की सामग्री में भी अपूर्व वृद्धि हुई है। यह बात दूसरी है कि सारी पृथ्वी को बीस बार प्राणियों से रहित कर दिया जा सके, इतने शस्त्र भी मनुष्य ने इकट्ठे कर लिए हैं। लेकिन न कहीं कर्म को विराम मिला है, न बुद्धि को विश्राम मिला है। बढ़ रहे हैं – तनाव, कुण्ठा, संत्रास और अवसाद तथा निराशा।

उपनिषद् कहते हैं कि पुरुषोत्तम को जाने बिना जिस दिन मनुष्य शांति को प्राप्त कर लेगा उस दिन समझना चाहिए कि वह आकाश को चमड़े की तरह लपेट लेगा। कारण स्पष्ट है – जब तक कोई अपने स्वभाव को प्राप्त न हो जाए, वह शांत नहीं हो सकता । जल को कितनी भी बार गरम करें, वह पुनः-पुनः शीतल हो जाता है क्योंकि शीतलता उसका स्वभाव है। वह शीतलता के बिन्दु पर ही शांत रह सकता है। जीव का स्वभाव प्रकृति नहीं है, परमात्मा है। वह प्रकृति पर कितना भी भटके, शांति उसे परमात्मा के बिन्दु पर ही मिलेगी – मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे? जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवे।

अखण्ड व्यक्तित्व का लक्षण

गीता कहती है कि जो पुरुषोत्तम को जान लेता है, उसे फिर कहीं और भटकना नहीं पड़ता। वह सर्वतो भावेन परमात्मा का ही भजन करता है। यही अखण्ड व्यक्तित्व का लक्षण है। अन्य सब कार्यों में हम खण्डित रूप में ही लग पाते हैं, केवल परमात्मा का भजन करते समय ही हम अखण्ड हो सकते हैं। यह अखण्डता ही योगदर्शन में चित्तवृत्ति का निरोध कहलाती है और वेदान्त में ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति कहलाती है। एक ही स्थिति को योग निषेध की भाषा में चित्तवृत्ति का निरोध कह रहा है तथा वेदान्त विध्यात्मक भाषा में ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति कह रहा है।

परमात्म तत्व का वर्णन गुह्य नहीं, अपितु गुह्यतम है। प्रकृति के रहस्य – क्षर पुरुष के रहस्य भी – गुह्य हैं। एक परमाणु को भी पूरी तरह जान पाना अभी तक सम्भव नहीं हुआ है। भौतिक प्रकृति – अपरा प्रकृति – के रहस्य

गुह्य हैं तो मनोजगत् – परा प्रकृति अथवा अक्षरपुरुष – के रहस्य और भी गुह्यतर हैं। वेद कहता है कि जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में समस्त अरे जुड़े रहते हैं उसी प्रकार ऋक्, साम और यजुः मन से जुड़े हैं। ऐसी गुह्यतर महिमा है मन की। किन्तु परमात्मा की महिमा तो गुह्यतम है – उससे अधिक गुह्य कुछ भी नहीं। मन उसे नहीं जान सकता अपितु मन जानने की शक्ति उसी से प्राप्त करता है –

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

ऐसा गुह्यतम वह परमात्मा है जिसका वर्णन गीता में है। इसलिए गीता गुह्यतम शास्त्र है। किसी शास्त्र में तीन ही विषयों का वर्णन रहता है – संसार, जीव तथा परमात्मा। संसार क्षर-पुरुष, जीव अक्षर-पुरुष, परमात्मा अव्यय-पुरुष। क्षर अधिभूत है, अक्षर अधिदैव है तथा अव्यय अध्यात्म है। इन तीनों से बहिर्भूत कुछ भी नहीं। इन तीनों का वर्णन करने के कारण गीता सम्पूर्ण शास्त्र है। इसलिए कहा जाता है कि गीता को ठीक से पढ़ लिया जाए, तो अन्य शास्त्रों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है – **गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।**

गीता का प्रत्येक पद रहस्य से भरा है। यहाँ अर्जुन को 'अनघ' अर्थात् निष्पाप कहकर सम्बोधित किया गया है। गीता का प्रारम्भ इसलिए किया गया कि अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्ध में पाप का भय था – अपने बन्धुओं का मारने से लगने वाली हिंसा के पाप का भय। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन निष्पाप है। जीव मात्र निष्पाप है। पाप का अपराध-बोध जीव को इतनी बुरी तरह से भाराक्रान्त किए रहता है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों दीन-हीन स्थिति से उबरना चाहता है त्यों-त्यों वह और अधिक दीनता-हीनता में उसी प्रकार धँसता जाता है जिस प्रकार दलदल में फँसा हाथी। साधक के लिए सबसे पहला काम इस अपराध-बोध से मुक्ति पाना है।

हीनता और अहंकार के भाव

ऐसा कौन है जिससे जीवन में गलत काम न हुए हों? उन पापों की स्मृति ही अपने प्रति एक हीनता का भाव उत्पन्न कर देती है। इसका उलटा भी होता है। जो तप, उपवास आदि साधते हैं और कठोर नैतिकता का जीवन जीते हैं, वे अहंकार से भर जाते हैं। जहाँ कर्तृत्व का भाव है वहाँ, चाहे अच्छे कर्म ही क्यों न हो, बन्धन हो जाता है। हीनता की ग्रन्थि नहीं बँधती तो श्रेष्ठता की ग्रन्थि बँध जाती है – बन्धन दोनों हैं।

किन्तु यह ज्ञान गुह्यतम है। अपात्र को यह ज्ञान मिले तो वह तत्काल यह निर्णय लेगा कि जब कर्म मुझे स्पर्श ही नहीं करते तो क्यों न मैं बुरे कर्म करूँ, शराब पियूँ, वैश्यागमन करूँ? यह शास्त्र की दुर्व्याख्या है। जब शास्त्र ने यह कह दिया कि कर्त्ता मैं हूँ ही नहीं तो फिर करने का संकल्प उठने की बात कहाँ से आ गई? संकल्प तो कर्तृत्व-भाव हटते ही समाप्त हो गया। अब जो होगा, प्रकृति के करे होगा – मैं तो दृष्टा ज्ञाता हूँ।

जीवन्मुक्त का आचरण कैसा होगा? जीवन्मुक्त अपने से कुछ भी नहीं करता। जीवन्मुक्ति प्राप्त करने के पूर्व के उसके संस्कार, जो उससे करवाते हैं, वह करता रहता है, बल्कि कहना चाहिए वही उससे होता रहता है। पूर्वार्जित संस्कार समाप्त हो जाने पर उसका शरीर भी छूट जाना है। पूर्वार्जित संस्कार जीवन्मुक्त को भी दुःख दे सकते हैं, वह रुग्ण होकर शारीरिक कष्ट भोग सकता है। यह प्रारब्ध कर्मों का फल है। किन्तु क्या उससे पापकर्म होंगे? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सोलहवें अध्याय में श्रीकृष्ण दैवी सम्पदा तथा आसुरी सम्पदा का विस्तार से वर्णन करेंगे। पन्द्रहवाँ अध्याय यहीं सम्पन्न होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।।१५।।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षोडशोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

श्रीभगवानुवाच –

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान बोले –

अभय, बुद्धि की शुद्धि, ज्ञानयोग में स्थिति, दान, इन्द्रिय संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दा का अभाव, प्राणियों के प्रति दया, अलोलुपता, मृदुता, (दुराचार करने में) लज्जा, स्थिरता, तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धि, अद्रोह, विनम्रता— हे अर्जुन! ये सब दैवीसम्पदायुक्त व्यक्ति में होते हैं ॥१-२-३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

हे अर्जुन! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और कठोरता और अज्ञान – ये आसुरी सम्पदा से युक्त व्यक्ति के लक्षण हैं ॥४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पदा मोक्ष देने वाली है, आसुरी सम्पदा बाँधने वाली मानी गई है। हे अर्जुन! तुम शोक मत करो, तुम दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए हो ॥५॥

विपुल-भाष्य

दैवी सम्पदा

जीवन्मुक्त के लिए शुभ-अशुभ दोनों बराबर हैं। आत्मा को तो पाप-पुण्य स्पर्श करते नहीं। किन्तु जीवन्मुक्ति तक पहुँचने का मार्ग शुभ है, अशुभ नहीं। आत्मा की प्राप्ति आसुरी भाव वाले पापियों को नहीं होती – दुष्कृतिनो मूढा आसुरं भावमाश्रिताः मां न प्रपद्यन्ते। दैवी भाव वाले पुण्यात्मा ही आत्मा की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं और वे ही आत्मा को प्राप्त कर भी सकते हैं – सुकृतिनो मां भजन्ते, दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः मां भजन्ते।

हम सबमें देवासुर-संग्राम निरन्तर चल रहा है। हम शुभ करने की सोचते हैं और अशुभ कर बैठते हैं। यही जीवन की सबसे बड़ी पराजय है। हम दूसरों से नहीं; अपने से ही हार जाते हैं। यदि आसुरी भावों पर दैवी भावों की विजय हो जाए तो वही जीवन की सबसे बड़ी विजय है। इस सोलहवें अध्याय में श्रीकृष्ण दैवी भाव और आसुरी

भावों का विस्तार से वर्णन करते हैं। पृष्ठभूमि यह है कि दैव सम्पत्ति मोक्ष का हेतु है और आसुरी भाव बंधन के हेतु हैं – **दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।** दैवी सम्पत्ति गिनाते समय श्रीकृष्ण कहते हैं : अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान में दृढ़ स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, दया, अलोलुपता, मृदुता, पापभीरुता, स्थिरता, तेज, क्षमा, धैर्य, निर्मलता, अद्रोह और विनम्रता दैवी सम्पदा हैं।

मृत्यु : भय का मूल

साधक के लिए पहली शर्त है भय का अभाव। सब भयों का मूल है मृत्यु का भय, जिसे योगसूत्र में अभिनिवेश नाम का पाँचवाँ क्लेश माना है। मृत्यु के भय का अर्थ है कि हम अपने आपको शरीर माने हुए हैं और यह नहीं जानते कि हम आत्मा हैं, जो कभी नहीं मरती। सारे दुःखों की अंतिम परिणति मृत्यु है। इसलिए जो मृत्यु से डरता है वह दुःखों से डरता है और जो दुःखों से डरता है वह कोई बड़ा सांसारिक कार्य भी नहीं कर सकता, परमार्थ की तो बात ही क्या है?

आत्मा तो सदा शुद्ध है किन्तु उसका साक्षात्कार करने के लिए मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपी अन्तःकरण भी शुद्ध होना चाहिए। अशुद्ध अन्तःकरण राग-द्वेष से भरा होने के कारण परमात्मा में प्रवृत्त ही नहीं होने देता। अशुद्ध अन्तःकरण तो सांसारिक सुखों को ही अंतिम लक्ष्य मानता है। मूर्च्छावश उसे लौकिक सुखों में कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता। अन्तःकरण प्रकृति का विकार है। उसकी अशुद्धि को अपनी अशुद्धि नहीं मानकर उसके प्रति साक्षिभाव रखने से अन्तःकरण शीघ्र शुद्ध होता है।

ज्ञान में स्थित रहने का अर्थ है कि हम जो कुछ भी करें ज्ञानपूर्वक करें। हमारा मन दो भागों में बँटा है – चेतन तथा अवचेतन। चेतन मन के कार्य तो ज्ञानपूर्वक होते हैं किन्तु अवचेतन मन हमारी जानकारी के बिना ही हमसे कुछ न कुछ कराता रहता है। चेतन मन से हम उपदेश देते हैं वैराग्य का और अवचेतन मन देखता रहता है कि हमारे उपदेश देने की प्रभावशाली शैली को श्रोता सराह रहे हैं या नहीं। अर्थात् चेतन मन वैराग्य में लगा है, अवचेतन मन लोकैषणा के राग में डूबा है। अवचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा नौगुना अधिक शक्तिशाली है। अतः हमें फल उसका मिलता है जो अवचेतन मन में घटित हो रहा है, चेतन मन की क्रिया फल नहीं दे पाती। हम जप, तप, ध्यान, पूजा, पाठ सब करते हैं किन्तु जब उनका फल नहीं मिलता तो मान लेते हैं कि ये सब साधन व्यर्थ हैं। हम यह नहीं देखते कि जब हम जप-तप आदि कर रहे थे तब हमारा अवचेतन मन संसार में भटक रहा था। फिर जप-तप का फल कैसे मिलता? ज्ञानयोग का अर्थ है, हम जो करें पूरे मनोयोग से करें। सोए मन को जगाएँ।

दान का अर्थ है कि अपना सुख बाँटें। बिना बाँटे सुख भी दमघोंटू हो जाता है। जो दे नहीं पाते उन कृपणों की अट्टालिकाएँ उनके स्वयं के लिए ही कारागार बन जाती हैं। वे घर में रहते हैं तो नितान्त एकाकी। किसी से बात करने में उन्हें डर लगता है कि कोई उनसे कुछ माँग न ले। वे घर से बाहर निकलते हैं तो सबको संशक दृष्टि से देखते हैं कि कहीं लोग उन्हें इस निंदा की दृष्टि से तो नहीं देख रहे कि वे कृपण और गरीबों का शोषण करने वाले हैं। इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। वे स्वभावतः ही विषयों में रस लेती हैं। विषयलिप्सा मनुष्य को चैन से नहीं बैठने देती। विषयों की प्राप्ति के लिए ही तो मनुष्य अनुचित कार्य करता है। दम का अर्थ है – इन्द्रिय निग्रह। दम का परिणाम है – कर्त्तव्य में प्रवृत्ति और अकर्त्तव्य से निवृत्ति।

यज्ञ की अवधारणा बहुत व्यापक है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए सोम को आहुत होना पड़ता है। यदि माता-पिता अपने सुख की बलि न दें तो संतान का पालन नहीं कर सकते। परिवार में एक का दुःख दूर करने के लिए दूसरे को अपना सुख छोड़ना पड़ता है। यदि परिवार में कोई भी अपना सुख छोड़ने को तैयार न हो तो 'तू भी राजा मैं भी रानी, कौन भरेगा घर का पानी' वाली स्थिति बन जाती है। समाज का पूरा ढाँचा ही आदान-प्रदान पर टिका है। पदार्थों से स्वत्व की भावना हटा कर उन्हें समष्टि के सुख के लिए अर्पित कर देना यज्ञ है।

स्वाध्याय का अर्थ शास्त्रों का अध्ययन है। किन्तु वह स्वाध्याय तब ही बनता है जब शास्त्रों का वचन अपने अनुभव में भी उतर जाए। अपने अनुभव में उतरने पर शास्त्रों के वचन अपने ही वचन प्रतीत होने लगते हैं। तब हम कह सकते हैं कि शास्त्रों के वचन सत्य हैं। इसके लिए प्रयोग में उतरना पड़ता है। शास्त्र कहते हैं कि सत्य ही विजयी होता है – **सत्यमेव जयते**। अब यदि हमारा अनुभव यह हो कि सर्वत्र झूठ जीत रहा है और सत्य हार रहा है तो हम शास्त्र का पाठ भले ही करते रहें किन्तु हम शास्त्र का स्वाध्याय नहीं पर पाएंगे। महात्मा गांधी ने शास्त्रों की सत्य के सम्बन्ध में कही गई बातों को अपने जीवन में उतार कर खरा पाया और उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम रखा, **'मेरे सत्य के प्रयोग'**। यह स्वाध्याय हुआ।

तप विपरीत परिस्थिति में अविचलित रहने का नाम है। परमार्थ पर चलने वाले को सांसारिक व्यक्ति समझ नहीं पाते। क्योंकि बहुमत सांसारिक व्यक्तियों का है अतः साधक के लिए सामान्य से भी अधिक प्रतिकूलता रहती है। उसे इस प्रतिकूलता से विचलित नहीं होना है। भगवद्भक्ति का मार्ग सांसारिक दृष्टि से सुख का मार्ग नहीं होता है। उस पर भी प्रारब्धवश प्रतिकूलताएँ आती रहती हैं। उन सब प्रतिकूलताओं का समभाव से सहन करना ही तप है।

कुटिलता और ऋजुता

अंदर कुछ, बाहर कुछ – यह कुटिलता है। जो अंदर है, वही बाहर है – यह ऋजुता है। परमार्थ के मार्ग में हम किसी को धोखा नहीं दे सकते क्योंकि वहाँ कोई दूसरा है ही नहीं। यदि हम किसी को धोखा देते हैं तो अपने को ही धोखा देते हैं। परमार्थ में हमें अपने को निर्मल बनाना है, दूसरों को यह दिखाना नहीं है कि हम निर्मल हैं। ऐसे में कुटिलता का कोई स्थान नहीं है। जब हम अपने दोषों को दूसरों से छिपाना चाहते हैं तो वे दोष स्वयं हमसे भी छिप जाते हैं। जब दोष हमें दिखेंगे ही नहीं, तो उन्हें हम दूर कैसे करेंगे?

अहिंसा का अर्थ है किसी को दुःख न देना। मनुष्य की एक सहज प्रवृत्ति होती है कि वह दूसरों के सुख से ईर्ष्या करता है और दूसरों के दुःख में उसे थोड़ी तसल्ली मिलती है कि दुःख दूसरे पर ही आया, वह स्वयं दुःख से बच गया। साधक को यह प्रवृत्ति बदलनी होती है। उसे दूसरों के सुख में ईर्ष्या के स्थान पर प्रमोद-भावना तथा दूसरों के दुःख में करुणा का भाव रखना होता है। इस प्रकार वह दूसरों से तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह अभेद-बुद्धि ही अन्त में परमात्म-बुद्धि में बदल जाती है। हम दूसरों के सुख को ईर्ष्या भाव से देखें यह द्वेष है, किन्तु दूसरों के सुख में प्रमोद भाव रखें। यह राग नहीं है क्योंकि दूसरों का सुख हमारा सुख नहीं है। अतः उसमें राग नहीं बन पाता, साक्षिभाव ही बना रहता है। दूसरों के दुःख में सुख मानना दुष्टता है। यह ऐसी दुष्टता है कि हम इसे अभिव्यक्त भी नहीं कर पाते। जब किसी पर दुःख आता है तो हम सहानुभूति ही प्रकट करते हैं, भले ही मन में खुश हों। इसी प्रकार मन में दुःखी होने पर भी किसी के अभ्युदय में हम बधाई ही देते हैं। यह हमारे व्यक्तित्व का पाखण्डी रूप है।

सत्य व्यापक

पाखण्ड का अभाव सत्य है। सत्य बहुत व्यापक अवधारणा है। वह हमारे अखण्ड व्यक्तित्व की द्योतक है। क्रोध का अर्थ है कि हम चाहते हैं सब हमारे अनुकूल आचरण करें। यह दूसरों की स्वतंत्रता में दखल है। अक्रोध का अर्थ है कि दूसरों को स्वतंत्रता दें कि वे जैसा चाहें करें किन्तु हम उससे प्रभावित न हों। अप्रभावित रहना मुख्य है। आप निंदा से प्रभावित होकर क्रुद्ध न हों – इतना ही पर्याप्त नहीं है, आप प्रशंसा से प्रभावित होकर प्रसन्न भी न हों। प्रशंसा से प्रसन्न होना और निंदा से क्रुद्ध होना – एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहाँ एक होगा, वहाँ दूसरा भी होगा ही।

त्याग के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता। हम समझते हैं कि धन से कुछ प्राप्त होता है, किन्तु वस्तुतः प्राप्त धन के त्याग से होता है। आप अपना धन अपने पास ही रखें, किसी को दें नहीं तो धन से आपको क्या मिलेगा? हर चीज की कीमत है; चीज जितनी बड़ी, कीमत उतनी ज्यादा। अब परमात्मा से बड़ा तो कुछ है नहीं, उसे पाना हो

तो अपना सर्वस्व ही कीमत के रूप में चुकाना होगा। जो कीमत चुकाने को तैयार नहीं, उन्हें पाने की आशा भी नहीं करनी चाहिए। यहाँ कुछ भी मुफ्त थोड़े ही मिलता है? त्याग के बिना प्राप्ति नहीं है।

मूल तथा अनुवाद

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

हे अर्जुन! संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं – दैवी प्रकृति वाले और आसुरी प्रकृति वाले, दैवी प्रकृति वालों का मैंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया। अब आसुरी प्रकृति वालों के बारे में मुझसे सुनो ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥७॥

आसुरी प्रकृति वाले न प्रवृत्ति को जानते हैं न निवृत्ति को, उनमें न शुद्धि है न आचरण और न सत्य ही है ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं कि संसार बिना किसी प्रतिष्ठा के और बिना ईश्वर के असत्य रूप है (जो) अपने आप उत्पन्न हो गया, काम ही उसका हेतु है, इसके अतिरिक्त क्या है? ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

इस प्रकार की दृष्टि का अवलम्बन लेकर भ्रष्ट प्रकृति वाले अल्प-बुद्धि, अपकारी, क्रूरकर्मा व्यक्ति संसार का नाश कर सकते हैं ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

दम्भ, मान और मद से युक्त वे कभी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का सहारा लेकर मोहवश मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके अपवित्र व्रतों वाले प्रवृत्ति करते हैं ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

वे प्रलयपर्यन्त रहने वाली चिन्ताओं को लेकर कामभोगों में संलग्न ऐसा मानते हैं कि सुख इतना ही होता है॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

वे आशाओं के सैकड़ों पाशों से बँधकर काम-क्रोध में डूबे कामभोगों के लिये अन्यायपूर्वक अर्थ सञ्चय करना चाहते हैं ॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

आज मुझे यह मिल गया, इस इच्छा को अब पूरी कर लूँगा, मेरे पास यह धन तो है और फिर यह भी हो जायेगा ॥१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

इस शत्रु को मैंने मार दिया फिर दूसरों को मार दूँगा। मैं ईश्वर, मैं भोगी, मैं सिद्ध बलवान् और सुखी हूँ ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मैं कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मुदित रहूँगा – इस प्रकार अज्ञानवश दिग्भ्रान्त, मोह जाल में फँसे हुए विषय-भोगों में आसक्त अपवित्र नरक में गिरते हैं ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

अनेक प्रकार के चित्त की भ्रान्तियों में पड़े हुए, मोह के जाल में फँसे हुए तथा काम-भोगों में आसक्त अपवित्र नरक में पड़ते हैं ॥१६॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने को उत्तम मानने वाले वे घमण्डी पुरुष धन और मान के मद से युक्त नाममात्र के यज्ञों का दम्भपूर्वक बिना विधि के अनुष्ठान करते हैं ॥१७॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोध का आश्रय लेकर ईर्ष्या से युक्त अपने तथा दूसरों के शरीर में स्थित मुझसे द्वेष करते हैं ॥१८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन द्वेषी, अशुभ, क्रूरकर्मी नीच लोगों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही फेंकता हूँ ॥१९॥

विपुल-भाष्य

आसुरी सम्पदा

संसार में सब ओर अशान्त लोग हैं जो सब तरफ अशांति फैला रहे हैं। हमें अपने ही चारों तरफ एक कवच का निर्माण करना होगा। कहावत प्रसिद्ध है कि पाँव में जूता पहना जाता है, सड़क पर चमड़ा नहीं मढ़ा जाता। हमारे आसपास सब शांत हो जाएँ तो हम शांत हो जाएँगे – यह सोचना हास्यास्पद है क्योंकि दूसरे भी यही सोच रहे हैं कि यदि आप शांत हो जाएँ तो वे शांत हो जाएँगे। सभी अपनी शांति दूसरों पर टाल रहे हैं। जिन्हें शांत होना होता है वे हो जाते हैं, दूसरों के शांत होने की प्रतीक्षा नहीं करते।

दूसरों को चुगली करने में हमें रस इसलिए आता है कि इस प्रकार हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सब खराब हैं, हम ही अच्छे हैं। दूसरों के खराब होने से हम अच्छे नहीं हो जाते। बल्कि दूसरों की बुराई को देख पाना, कई बार तो इस बात का सूचक होता है कि हम खुद बुरे हैं। क्योंकि यदि वह बुराई हम में न होती तो हम दूसरे में भी उस बुराई को देख ही न पाते। बुराई का पता भी तो तब ही चलता है, जब हमें बुराई की पहचान हो। चालाक आदमी दूसरे की चालाकी को पकड़ लेता है। सरल व्यक्ति को तो दूसरे की चालाकी का पता भी नहीं चलता। दूसरे की बुराई दिखी तो कहीं न कहीं अपने में वह बुराई है।

अहिंसा है किसी को दुःख न देना। दया है दुःखी का दुःख दूर करना। जब हम किसी का दुःख दूर करने में प्रवृत्त होते हैं तो अपना दुःख भूल जाते हैं। यह सेवा की महिमा है। सेवा में हम अपने से ऊपर उठ जाते हैं। सुखलोलुप सेवा नहीं कर सकता। वस्तुतः वह कुछ भी श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता।

अहंकार कठोरता लाता है। निरंहकारी मृदु होता है। दिखावटी मृदुता तो अहंकार को छिपाने का एक आवरण है। ऐसी मृदुता शत्रुता उत्पन्न कर देती है किन्तु वास्तविक मृदुता मधुरता पैदा करती है। इस मधुरता के सामने संसार के बड़े से बड़े दुःख भी तुच्छ प्रतीत होते हैं। जो पाप से डरता है, वही अभय रह सकता है। पापी तो सदा इस भय में जीता है कि कहीं उसका पाप प्रकट न हो जाए। डरना पाप से है, पाप के प्रकट होने से नहीं। दैवी सम्पदा की कुछ उपलब्धियाँ भी हैं। तेजस्विता तथा पवित्रता दैवी सम्पदा की उपलब्धि हैं। क्षमा, धृति, अवैर तथा निरहंकारिता उस उपलब्धि की प्राप्ति के साधन हैं।

आत्मसाक्षात्कार

दैव सम्पत्ति का ऐसा विवरण देख कर किसी भी साधक को लग सकता है कि इतने सद्गुण तो उसमें नहीं हैं। इससे वह निराश हो सकता है। वास्तव में सद्गुणों की संख्या अधिक है किन्तु इन सद्गुणों का आधार एक ही है – बहिर्मुखता से हटकर अन्तर्मुखता द्वारा आत्मसाक्षात्कार। यह हो जाए तो सभी सद्गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। आत्मरमण करने पर चिदानन्द इतना आकर्षक होता है कि विषयासक्ति स्वतः ही छूट जाती है। विषयासक्ति का छूटना सारी दैवी सम्पदा को प्रकट कर देता है। अर्जुन अन्तर्मुख हुआ तो उसे यह दंश लगा कि वह अपने भाई-बंधुओं को मारने का पाप करने जा रहा है। यह उसके दैवी सम्पदा के अभिमुख होने का परिणाम है। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम दैवी सम्पदा से सम्पन्न हो, शोक मत करो। इस प्रकार गीता के सोलहवें अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में दैवी सम्पदा का विस्तार से वर्णन करने के बाद श्रीकृष्ण आसुरी सम्पदा के घटक बताते हैं – दम्भ, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान। स्पष्ट है कि आसुरी सम्पदा दैवी सम्पदा के विपरीत है।

वैदिक परम्परा मानती है कि देव ३३ हैं और असुर ९९ हैं। इन संख्याओं से उपलक्षण द्वारा यही मानना चाहिए कि देव कम हैं, असुर अधिक हैं। गीता में दैवी सम्पत्ति का वर्णन ३ श्लोकों में है और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन १६ श्लोकों में है। गीता के अनुसार आसुरी सम्पदा के घटक हैं – कर्त्तव्याकर्त्तव्य का अज्ञान, अपवित्रता, अनाचार, असत्य, नास्तिकता, कामुकता, अनात्मवाद, अदूरदर्शिता, उग्रता, विनाशकारी प्रवृत्ति, वासना, दम्भ, मान, मद, मोह, असत्प्रवृत्ति, अशुचि, असीम चिन्ता, विलासिता, क्रोध, अन्यायपूर्वक अर्थोपार्जन, मनोराज्य में विचरण, संहार, अहंकार, आत्मविकत्थन, चापल्य, स्तब्धता, विधि-विरुद्ध कर्म, दर्प, परमात्मद्रोह तथा लोभ। गीता के सोलहवें अध्याय के शेष श्लोक इन्हीं आसुरी भावों की व्याख्या करते हैं।

घुणाक्षर न्याय

गीता कहती है – आसुरी वृत्ति वालों को यह पता ही नहीं होता कि कहाँ प्रवृत्त हों और कहाँ से निवृत्त हों। उनके लिए अधर्म जैसी कोई चीज ही नहीं है। फिर पवित्रता, सदाचार अथवा सत्याचरण का प्रश्न ही कहाँ से उत्पन्न होगा? उनकी दृष्टि में संसार स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है, फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता है। पंचभूतों के आकस्मिक संयोग से यदृच्छा से विश्व बंन गया। यह संसार किसी पर टिका है – ऐसा मानना उनकी दृष्टि में भ्रम

ही है। वे यह विचार नहीं करते कि विश्व में जो व्यवस्था है वह घुणाक्षर न्याय से नहीं हो सकती। विश्व में व्याप्त व्यवस्था को देख सकें – इतनी सूक्ष्म दृष्टि उनकी नहीं होती। भूतों के संघात से ही चेतना बन जाती है, ऐसा मान कर वे आत्मा की भी आवश्यकता नहीं मानते। उनके लिए किसी को मार देना एक मशीन तोड़ देने से अधिक कुछ नहीं है। अतः उसमें पाप का प्रश्न नहीं है। वे स्वार्थी होते हैं; अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए वे किसी का कितना भी अहित कर सकते हैं।

उनकी कामनाएँ कभी पूरी नहीं होतीं। इसलिए वे कामनाओं को छोड़ते नहीं हैं, अपितु इस दम्भ, मान और मद से भरे रहते हैं कि वे गलत-ठीक किसी भी तरीके से अपनी सभी इच्छाएँ पूरी कर लेंगे। इसलिए उनकी चिन्ताओं की भी कोई सीमा नहीं होती। वे प्रलयकाल तक का इन्तजाम करने में लगे रहते हैं, बिना इस बात की चिन्ता किए कि उन्हें मौत कभी भी धर दबोचेगी। उनका यह दृढ़ मत होता है कि भोगोपभोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

तरह-तरह की आशाएँ उनके इर्द-गिर्द जाल की तरह लिपटी रहती हैं। यदि उनकी कोई कामना पूरी न हो तो वे तत्काल क्रुद्ध हो जाते हैं। यदि न्यायपूर्वक उन्हें धन न मिल पाए तो अन्यायपूर्वक धन संग्रह करने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता; क्योंकि उन्हें धन से मतलब है, धन किस तरीके से आता है – इसकी चिन्ता उन्हें नहीं है।

उन्हें कहीं थोड़ी-सी सफलता मिल जाए तो घमंड से भर जाते हैं और यह मंसूबे बाँधते हैं कि आज इतना मिला, भविष्य में और भी प्राप्त कर लूँगा। आज अमुक को पछाड़ दिया, कल दूसरों को भी धूल चटा दूँगा। मैं पैसे वाला हूँ, पैसे से जो चाहूँ कर सकता हूँ। मैं मामूली परिवार का नहीं हूँ, खानदानी रईस हूँ। मेरे जैसा दूसरा है कौन?

प्रशंसा से अहंकार की पुष्टि

ऐसा नहीं है कि आसुरी वृत्ति वाले धार्मिक कार्य न करते हों। वे घोषणा करते हैं कि मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और मौज मारूँगा। किन्तु वस्तुतः उन्हें यज्ञ अथवा दान से कोई प्रयोजन नहीं होता, उन्हें तो यज्ञ अथवा दान से जो प्रशंसा मिलती है उससे अहंकार पुष्ट करने से मतलब है। उनका चित्त एक जगह टिकता नहीं। वे एक संकल्प करते हैं, फिर उसे बीच में ही छोड़ कर दूसरे संकल्प की पूर्ति में लग जाते हैं। इस प्रकार वे विभ्रान्त ही रहते हैं। उनका मोहजाल से कभी छुटकारा नहीं होता।

वे अपने को सदा तीसमारखाँ समझते हैं। उन्हें कुछ समझ नहीं आता, वे यंत्रवत् कार्य करते रहते हैं। वे यज्ञ भी करते हैं तो दम्भपूर्वक। शास्त्रीय विधि की उन्हें चिन्ता नहीं होती। उनका सहारा है – अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध। ईश्वर के तो नाम से भी उन्हें चिढ़ है।

यह आसुरी वृत्ति व्यक्ति को शीघ्र ही नरकगामी बनाती है। उनका आवागमन के चक्र से निकलना कठिन है। वे दिन-प्रतिदिन अधोगति को ही प्राप्त होते हैं।

आसुरीवृत्ति का इतना विस्तृत वर्णन गीता ने किया है कि हम में से कोई भी अपने अन्दर झाँककर देख सकता है कि हम कहाँ खड़े हैं। यदि इन आसुरी वृत्तियों का वर्गीकरण करना चाहें तो आठ कोटियाँ हमें प्राप्त होती हैं।

१. अज्ञानः- अज्ञान का एक फल है कि हम कर्म करने की विधि नहीं जानते। कर्म में सफलता का कारण पुरुषार्थ तो है ही, किन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण कर्म की विधि है जिसे आज की भाषा में मैथोडोलोजी कहा जाता है। विधि-पूर्वक न करने पर सफलता में विलम्ब होता है अथवा विफलता हाथ लगती है, बल्कि कभी-कभी तो विपरीत फल भी मिल जाता है।

अज्ञान का दूसरा फल यह है कि जो कार्य हमें करने चाहिए – जप, तप, त्याग, सेवा – वे कार्य तो हम करते नहीं क्योंकि उनमें कठिनाई प्रतीत होती है और जो कार्य नहीं करने चाहिए – छल, कपट, बलप्रयोग – वे कार्य हम इसलिए कर लेते हैं कि उनके द्वारा शीघ्र कार्य सिद्धि होती प्रतीत होती है। ऐसा इस अज्ञान के कारण होता है कि हम यह नहीं जानते कि जो प्रारम्भ में मधुर प्रतीत हो रहा है उसका परिणाम कटुक है। मनु ने कहा है कि अधर्म से व्यक्ति वृद्धि प्राप्त करता है, समस्त सुख-सुविधाएँ जुटा लेता है तथा स्पर्द्धा में आगे भी निकल जाता है, किन्तु उसकी जड़ सूख जाती है –

अधर्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
सपत्नाञ्जयते सर्वान्, समूलस्तु विनश्यति ॥

यह अज्ञान का फल है।

२. रजोगुणः- ज्ञान सत्वगुण का कार्य है। अज्ञान का अर्थ है कि व्यक्ति में सत्वगुण अल्प है। सत्वगुण अल्प होने पर रजोगुण तथा तमोगुण मुख्य हो जाता है। रजोगुण का कार्य है – अहंकार। अहंकार के ही भिन्न-भिन्न रूप दम्भ, मान, मद तथा दर्प हैं। रजोगुण का दूसरा फल चंचलता है। रजोगुणी व्यक्ति राजसी ठाठबाट को महत्व देता है। उसे विलासिता प्रिय होती है। वह अपनी डींग हाँका करता है। वह मानता है कि उससे बढ़कर कोई नहीं है।

३. तमोगुणः- तमोगुण का प्रभाव स्तब्धता है। स्तब्धता हमें कुछ सूझने ही नहीं देती। क्रोध रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रित रूप है। क्रोध में जो हम होश खो बैठते हैं वह तमोगुण का प्रभाव है तथा क्रोध में की जाने वाली क्रियाएँ रजोगुण से प्रवृत्त होती हैं।

४. खंडित दृष्टिः- अर्थ और काम को ही जीवन का लक्ष्य मान लेना खंडित दृष्टि का परिणाम है। अर्थ और काम भी पुरुषार्थ है किन्तु धर्म और मोक्ष का भी महत्व है। शरीर के लिए अर्थ तथा मन के लिए काम अपेक्षित है। किन्तु बुद्धि के लिए धर्म तथा आत्मा के लिए मोक्ष भी आवश्यक है। जो धर्म और मोक्ष की उपेक्षा करता है, वह अपने दो घटकों की उपेक्षा करता है। यह खंडित दृष्टि व्यक्ति को कभी सन्तुष्ट नहीं कर सकती।

५. रुग्ण मानसिकताः- दूसरे के दुःख में सुख मानना रुग्ण मानसिकता का सूचक है। किसी का दुःख हमें कैसे सुख दे सकता है? नियम तो यह है कि हम जो देते हैं हमें वही मिलता है। दुःख देने पर हमें दुःख ही मिलता है। कुशलता सर्जन में है, विनाश में नहीं। क्रोध से विनाश होता है; सर्जन नहीं। वर्तमान की चिन्ता न करके भविष्य के मनोराज्य में विचरण करना भी रुग्ण मानस का काम है। वस्तुतः समस्त वे विचार जो निरर्थक होते हैं, स्वस्थ मानस में नहीं उठते। आसुरी वृत्ति हमें काल्पनिक चिन्ताओं में घेर देती है। ये चिन्ताएँ क्योंकि काल्पनिक होती हैं, अतः इनका निवारण कभी भी नहीं होता।

६. अनाचारः- एक आचार-संहिता पर समाज टिका है। स्वार्थी व्यक्ति अपने अनाचार से समाज को निर्बल बनाता है। वह यह नहीं जान पाता कि वह समाज का अविभाज्य अंग है और समाज के कमजोर होने से, वह स्वयं भी कमजोर होता है। इसलिए वह समाजविरोधी तस्करता आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है।

७. स्थूल दृष्टिः- स्थूल दृष्टि से भौतिक पदार्थ ही प्रत्यक्ष होते हैं। किन्तु जीवन के अनेक महत्वपूर्ण तत्व – प्रेम, सौन्दर्य, आनन्द आदि प्रत्यक्ष नहीं हैं। इसलिए मानना पड़ेगा कि सब कुछ प्रत्यक्ष गोचर नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से ही आत्मा-परमात्मा आदि का ख्याल आ सकता है। आसुरी वृत्ति वाले के पास ऐसी सूक्ष्म दृष्टि नहीं होती। इसलिए वह जीवन के सूक्ष्म पक्ष से वंचित रह जाता है।

८. प्रदर्शनः- आसुरी वृत्ति वाले व्यक्ति भी धार्मिक कार्य करते हैं किन्तु उनका प्रयोजन प्रदर्शन होता है। ऐसे में किसी भी धार्मिक कार्य से उन्हें कोई लाभ नहीं होता, केवल कुछ मतलबी या चापलूस लोगों की झूठी प्रशंसा उन्हें मिल जाती है। कभी-कभी वे धार्मिक अनुष्ठान स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी किया करते हैं जिससे राग-द्वेष का भाव बजाए घटने के बढ़ता ही है। इतिहास में राक्षसों द्वारा ऐसे अनुष्ठान करने का वर्णन मिलता है।

प्रतिपक्ष की भावना

आसुरी वृत्तियों से बचने का एक सहज उपाय है – प्रतिपक्ष की भावना। लोभ को दान की वृत्ति से जीतें। क्रोध को क्षमा से जीतें। सन्देह को श्रद्धा से जीतें। सत्य से अनृत को जीतें। सामवेद में एक सेतुसाम नामक अरण्य-गान आया है। उसमें कहा है कि ये चार दुस्तर सेतु हैं, जो इन्हें पार कर लेता है, वह अमृत, स्वर्ग तथा ज्योति को प्राप्त करता है। यही एक उपाय है –

सेतूँस्तर दुस्तरान्। दानेनादानम्। अक्रोधेन क्रोधम्।
श्रद्धयाश्रद्धाम्। सत्येनानृतम्। एषा गतिः। एतदमृतम्।
स्वर्गच्छ। ज्योतिर्गच्छ। सेतूँस्तीर्त्वा चतुरान्॥

संक्षेप में हम अपने अन्दर रहने वाले आसुरी वृत्तियों से न उलझें, दैवी सम्पदा को इतना बलवान् बनाएँ कि आसुरी वृत्तियाँ उनके सम्मुख टिक ही न पाएँ।

यदि आसुरी वृत्तियों की उपस्थिति हम अपने में पाएँ तो घबराएँ नहीं। मनुष्य योनि बनी ही देवासुर संग्राम के लिए है। पाप-पुण्य का द्वंद्व मनुष्य में ही चलता है।

जिनमें यह द्वंद्व ही नहीं वे या तो देवता हैं या असुर हैं। अर्जुन के सामने यह द्वंद्व था। श्रीकृष्ण ने उसे कुरुक्षेत्र के युद्ध में लगाने से पहले देवासुर संग्राम में दैवीपक्ष के जीतने का उपाय बताया। जो देवासुर संग्राम में देवपक्ष को जिता देता है, संसार के छोटे-मोटे संघर्षों में विजय प्राप्त करना उसके बाएँ हाथ का खेल हो जाता है।

मूल तथा अनुवाद

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

हे अर्जुन ! वे मूढ मुझको तो प्राप्त न करके जन्म-जन्मान्तर में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं तथा वहाँ से अधम गति को प्राप्त होते हैं॥२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

अपना नाश करने वाले काम, क्रोध तथा लोभ नरक के तीन द्वार हैं, इसलिये इन तीनों को छोड़ देना चाहिये॥२१॥

विपुल-भाष्य

नरक के तीन द्वार

आसुरी सम्पदा का विस्तार बहुत है। पदे-पदे हमसे जो प्रमाद होता रहता है, उसका लेखा-जोखा रखना बहुत कठिन है। आसुरी सम्पदा की नींव बहुत गहरी है। हम जन्म-जन्मान्तर में इसीलिए भटक रहे हैं कि आसुरी भाव हमें पकड़े हैं। आसुरी भाव छूट जाते तो आवागमन का चक्र ही छूट जाता। इस सारी आसुरी सम्पदा को श्रीकृष्ण ने तीन ही शब्दों में समाहित कर दिया – काम, क्रोध तथा लोभ। ये तीनों नरक के द्वार हैं; नरक के द्वार क्या, स्वयं नरक ही हैं –

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

वस्तुतः मूल तो काम है। संसार का मूल बीज काम है – **कामस्तदग्रे समवर्तताधि।** जहाँ कामना है वहाँ संसार है, जहाँ कामना नहीं है, वहाँ संसार भी नहीं है। कामना से ही संसार की उत्पत्ति हुई है, कामना से ही हमारी उत्पत्ति हुई है। काम मन का सहज धर्म है। काम की महिमा का पार पाना कठिन है। अथर्ववेद कहता है कि काम का पार न देव पा सकें, न पितर, न गन्धर्व, वह विश्वव्यापी है, उसे तो नमस्कार ही करना होता है –

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि॥

फ्रायड ने काम की सर्वग्राहता का जैसा वर्णन किया है उससे भारतीय परिचित थे। कहा गया कि काम ही देने वाला है, काम ही लेने वाला है – **कामो दाता, कामः प्रतिगृहीता।**

काम की ऐसी स्थिति देखकर शास्त्रकारों ने काम के सीमाकरण की एक विधि निकाली। काम की सर्वत्र निन्दा है किन्तु अकामता भी दुर्लभ है। अतः कामना को दो चीजों में लगाना चाहिए – वेदाध्ययन में तथा वेदोक्त कर्मों के आचरण में –

कामात्मता न प्रशस्ता नैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥

कृत्रिम कामनाएँ

जहाँ काम की थोड़े विस्तार से बात की गई, वहाँ काम और क्रोध की भी चर्चा की गई। कामना में अवरोध आ जाए तो क्रोध उत्पन्न होता है। जितनी कामना गहरी होगी, क्रोध उतना तीव्र होगा। हम सबको समझाते रहते हैं कि क्रोध बुरा है। हम यह नहीं कहते कि कामना बुरी है। हमारे मन में कहीं यह बात छिपी रहती है कि कामना तो अच्छी है; कामना करके ही तो हम संसार के पदार्थ प्राप्त करते हैं। यदि कामना ही न होगी तो जीवन-यात्रा ही कैसे चलेगी। वस्तुस्थिति यह है कि जीवन यात्रा चलाने के लिए जितनी कामना आवश्यक है वह स्वाभाविक है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता। किन्तु हमारी अधिकतर कामनाएँ कृत्रिम हैं, हमने अपनी कल्पना से उन्हें जन्म दिया है, वे जीवन-यात्रा के लिए अनावश्यक हैं। अनावश्यक कामनाओं का विस्तार ही लोभ है। अतः यहाँ गीता ने काम और क्रोध के साथ लोभ का भी परिगणन कर दिया। और अधिक विस्तार करें तो काम, क्रोध तथा लोभ के साथ मोह, मद और मत्सर को भी जोड़ देने पर षड् रिपु बन जाते हैं। जो प्राप्त है वह छिने नहीं यह मोह है। जो प्राप्त है वह बहुत बढ़िया है – यह मद है। दूसरों को क्यों प्राप्त हो गया – यह भाव मत्सर है।

इन सबके पीछे भोगों में सुख पाने की आशा काम करती है। भोग में सुख मिलता नहीं है। मनुष्य को लगता है कि उसने तो प्राणपण से पुरुषार्थ किया किन्तु फल कुछ भी नहीं निकला। यह निराशा ही अँधेरा है, यही नरक है। मनुष्य को सौ में सुख नहीं मिलता तो हजार के पीछे भागता है, हजार में भी सुख नहीं मिलता तो लाख के पीछे दौड़ता है। यह मृगतृष्णा कभी समाप्त नहीं होती, जीवन ही समाप्त हो जाता है – आशा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः। किन्तु जीवन समाप्त होने पर दौड़ समाप्त नहीं होती। दूसरे जन्म में फिर वही दौड़। यह दौड़ आज तक खत्म नहीं हुई। यह भ्रम टूटे कि भोगों में सुख नहीं है – तो दौड़ खत्म हो।

मूल तथा अनुवाद

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे अर्जुन! इन तीन अन्धकार के द्वारों से मुक्त होकर व्यक्ति अपना कल्याण करता है और फिर परम गति को प्राप्त होता है ॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो शास्त्र की विधि को छोड़कर मनमानी करता है, वह न तो सफलता को प्राप्त करता है न परमगति को, न सुख को ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिये क्या करना क्या नहीं करना - इस विषय में तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है अतः तुम्हें शास्त्रोक्त विधि से ही काम करने चाहिये ॥२४॥

विपुल-भाष्य

सुख-दुख और प्रेम-वैर

मृगतृष्णा का सन्तोष तो हमें अपनी मूर्खता के कारण नहीं मिलता, और गुस्सा हम दूसरों पर उतारते हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि समाधान वह कहीं और होता है और झूँझल कहीं और पीटता है। पति और पत्नी ने एक दूसरे से सुख की आशा की थी, सुख मिला नहीं तो एक-दूसरे के प्रति प्रेम वैर में परिणत हो जाता है – **वैरीभवति सौहृदम्।** मूल में भूल यह थी कि सुख बाहर से नहीं आता। स्वयं में सुख हो तो हम दूसरे को भी सुख दे सकते हैं। हम स्वयं दुःखी हैं तो दूसरे को सुख कहाँ से देगे? हम वही तो दे सकते हैं जो हमारे पास है? सुख की कामना सदा निराशा में बदल जाती है।

जो हमें चाहिए, वह सबको चाहिए। इसलिए जो हमारे पास है, उसे बाँटकर भोगना चाहिए। किन्तु हम मान बैठे हैं कि बाँटने से खत्म हो जाएगा। यही लोभ है। वस्तुतः आनन्द बाँटने से ही बढ़ता है।

कामना अन्धी गली हैं – यह कहीं नहीं ले जाती। क्रोध में ताप है किन्तु प्रकाश बिल्कुल नहीं है। लोभ एक बन्द मुट्ठी है। तीनों में अँधेरा है। जो इन तीन से छूटता है वही कल्याण के मार्ग पर चल सकता है –

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।

काम, क्रोध और लोभ पर शास्त्र अंकुश लगाता है। प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से सब सत्य नहीं जाना जाता। प्रत्यक्ष तो स्थूल को जानता ही है; अनुमान भी जिस लिङ्ग के सहारे जानता है वह लिङ्ग प्रत्यक्ष ही होता है। शास्त्र का प्रमाण उस सत्य को जानता है जिस सत्य को, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा हम इसलिए नहीं जान सकते कि वह अत्यन्त सूक्ष्म है –

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

असदाचरण पर नियंत्रण

अग्नि से ठंड दूर हो जाती है – **अग्निर्हिमस्य भैषजम्** – यह जानने के लिए वेद पढ़ने की आवश्यकता नहीं है; यह तो प्रत्यक्ष द्वारा ही जान लिया जाता है। वेद तो बताता है कि अग्नि यज्ञ का देव है, पुरोहित है, ऋत्विज है – **अग्निमीले पुरोहितं। यज्ञस्य देवमृत्विजम्।** जिसकी शास्त्र में श्रद्धा नहीं है वह शास्त्र के वचनों को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा सिद्ध न होता देखकर अश्रद्धेय मानता है। यहीं से स्वच्छन्दाचार पैदा होता है।

शास्त्र की यह महिमा अन्धश्रद्धा का फल नहीं है। लोग असदाचरण से सम्पन्न हो रहे हैं – यह प्रत्यक्ष गोचर है। फिर असदाचरण पर नियंत्रण कैसे किया जा सकता है? शास्त्र-प्रमाण ही असदाचरण पर अंकुश लगा सकता है। जहाँ शास्त्र का उल्लंघन होता है, वहाँ निःश्रेयस की बात तो छोड़ें, इहलौकिक सुख भी नहीं मिल पाता –

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

प्रश्न होता है शास्त्र की प्रामाणिकता का आधार क्या है? वस्तुतः शास्त्र साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों की वाणी है। जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया तथा जिनका चित्त एकाग्र हो गया, पारमार्थिक सत्य का दर्शन वे ही कर सकते हैं। हम तो सत्य को सदा अपने राग-द्वेष के चश्मे से रंग कर देखते हैं। यही शास्त्रों की प्रामाणिकता का आधार है कि वे वीतरागों की वाणी है।

अर्जुन स्वेच्छा से पाप-पुण्य का निर्णय करना चाहता था। शास्त्रानुसार क्षत्रिय को अन्याय का दमन शस्त्र द्वारा करने का अधिकार है। दुर्योधन-पक्ष के अन्याय के विरुद्ध लड़ना क्षत्रिय अर्जुन का धर्म बनता है। इस शास्त्रोक्त धर्म के पालन में वह यदि अपनी बुद्धि से पाप मानकर उस धर्म को छोड़ता है तो यह उसका स्वच्छन्दाचार होगा।

व्यक्ति समाज का अङ्ग है। उसका समाज के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। आश्रम व्यवस्था मुख्यतः व्यक्तिगत है। वर्णव्यवस्था समाजगत है। हम समाज से इतना ग्रहण करते हैं तो समाज को कुछ देना भी हमारा कर्तव्य बनता है। इसी आधार पर वर्ण-धर्म का निरूपण शास्त्र करते हैं। अहिंसा उत्तम है, किन्तु सामाजिक दायित्व का निर्वाह करते समय अन्याय का प्रतिकार करना भी क्षत्रिय का धर्म है। अर्जुन अपने इस क्षात्रधर्म की उपेक्षा कर रहा है – इसी ओर श्रीकृष्ण का संकेत है कि कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय शास्त्र के आधार पर ही होना चाहिए –

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥

शास्त्रानुसार कार्य

बारम्बार एक प्रश्न उठता है कि यदि शास्त्रानुसार ही कार्य करना है तो फिर हमारी बुद्धि का तो कोई उपयोग ही नहीं है। मनु ने धर्म के चार लक्षण बताये – **श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।** इनमें श्रुति और स्मृति मूल है – उनके विषय में तर्क नहीं लगाया जा सकता –

योऽवमन्येत तौ मूलौ हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिः बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

आज लोकसभा में खूब बहस होती है किन्तु कोई सदस्य संविधान की मूल भावना के विरुद्ध तर्क नहीं दे सकता; संविधान के प्रति वफादारी की तो वह शपथ लेता है। श्रुति-स्मृति संविधान है – उसके अन्तर्गत ही तर्क का उपयोग किया जा सकता है। बल्कि तर्क का उपयोग श्रुति की रक्षा के लिए होता है – **श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।**

आक्षेप नहीं करने की परम्परा

आगमों पर आक्षेप न करने की मर्यादा का पालन सभी भारतीय आचार्य करते रहे। यद्यपि जैन तथा बौद्ध वेद को प्रमाण नहीं मानते थे किन्तु किसी भी जैन अथवा बौद्ध आचार्य ने तर्क देकर किसी वेदमन्त्र का खंडन नहीं किया। न ही किसी वैदिक आचार्य ने भगवान् महावीर की अथवा भगवान् बुद्ध की आगमोक्त अथवा त्रिपिटक में संगृहीत वाणी का खंडन किया। आचार्य आपस में एक-दूसरे के तर्कों को भले काटते रहें किन्तु स्वतः प्रमाण माने जाने वाले वचनों का खंडन उन्होंने नहीं किया। यह एक मर्यादा थी। यदि आप्तपुरुषों के वचनों का ही हम तर्क से खंडन कर देंगे तो फिर धर्म का आधार ही कुछ नहीं रहेगा, क्योंकि तर्क से कोई भी बात अकाट्य रूप में प्रमाणित नहीं होती।

आगम-प्रामाण्य की इस स्वीकृति के कारण भारतीयदर्शन धर्म से समन्वित है। इसका अर्थ यह है कि वह केवल बुद्धिविलास नहीं प्रत्युत जीवन जीने की कला है।

कर्म की, विशेषकर वैदिक कर्मकांड की, एक शास्त्रोक्त विधि है, महाकवि कालिदास ने कर्म के तीन घटक बताए हैं – श्रद्धा, सामग्री और विधि। इन तीनों में से किसी भी एक के अभाव में कर्म में न्यूनता रह जाती है और अभीष्ट फल नहीं मिल पाता। यहाँ अर्जुन ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि यदि कोई व्यक्ति श्रद्धा से युक्त तो है किन्तु शास्त्रोक्त विधि का पालन नहीं करता तो उसके कर्म को कैसा माना जाए – सात्विक, राजसिक या तामसिक? कर्म की विधि अत्यंत सूक्ष्म और जटिल होती है इसलिए अनेक साधक उस विधि की उपेक्षा कर देते हैं और यह कहा करते हैं कि विधि का पालन तो उनके लिए दुष्कर है किन्तु उनकी श्रद्धा भरपूर है। इसलिए उन्हें कर्म का अभीष्ट फल मिल जाएगा।

इस पर श्रीकृष्ण का कहना है कि कर्म तो शास्त्रोक्त विधि से ही होना चाहिए। जहाँ तक श्रद्धा का प्रश्न है सभी श्रद्धा एक जैसी नहीं होतीं। श्रद्धा के भी तीन भेद हैं – सात्विक, राजसिक और तामसिक। यही विषय अगले अध्याय में विस्तार से दिया गया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन बोले –

हे कृष्ण ! जो शास्त्र की विधि को छोड़कर श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कौन-सी होगी – सात्त्विक अथवा राजसी अथवा तामसी ? ॥१॥

श्री भगवानुवाच –

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीभगवान् ने कहा –

शरीरधारियों की वह स्वाभाविक श्रद्धा सात्त्विक, राजसी तथा तामसी तीनों ही प्रकार होती है - तुम यह सुनो ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे अर्जुन ! सभी की श्रद्धा सत्त्व के अनुरूप होती है। व्यक्ति श्रद्धामय ही है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही है॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक व्यक्ति देवताओं की उपासना करते हैं, राजसी यक्ष-राक्षसों की तथा तामसी व्यक्ति प्रेत और भूतों की उपासना करते हैं ॥४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

जो व्यक्ति शास्त्र में नहीं बतलायी गयी विधि से तप करते हैं, दम्भ और अहङ्कार से युक्त, काम, राग तथा बलाभिमान से युक्त वे – ॥५॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

शरीर में स्थित भूत समुदाय को तथा शरीर के अन्दर स्थित मुझे भी कृश करते हैं। उन अज्ञानियों को तुम आसुरीवृत्ति वाले समझो ॥६॥

विपुल-भाष्य

तीन प्रकार के व्यक्तित्व

श्रद्धा के सात्विक, राजसिक और तामसिक, तीन भेद हैं। मनुष्य के स्वभाव के भी यही तीन भेद हैं। इनमें रजोगुण और तमोगुण एक-दूसरे के विपरीत हैं। रजोगुण गति देता है, तमोगुण रोकता है। जिनमें रजोगुण मुख्य है वे सदा कुछ न कुछ करना चाहते हैं। जिनमें तमोगुण प्रधान है वे कुछ भी नहीं करना चाहते। सत्वगुण विवेक-प्रधान होता है इसलिए वह कर्म और अकर्म के बीच संतुलन रखता है। इन तीन प्रकार के स्वभाव के कारण लोगों की श्रद्धा भी तीन ही प्रकार की हो जाती है। रजोगुण वाला व्यक्ति यह चाहता है कि उसे सदा अपने कर्म में सफलता मिले। सफलता के लिए कुछ भी करना पड़े इसमें वह उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। इसलिए वह कर्मठ तो होता है किन्तु यदि सफलता प्राप्त होती हो तो उसके लिए अनुचित कर्म करने में भी उसे कोई आपत्ति नहीं होती। यह राजसी श्रद्धा का स्वरूप है।

तामसी श्रद्धा वाला व्यक्ति चाहता है उसे बिना कुछ किए ही सब कुछ मिल जाए। वह ऐसे उपाय खोजता है कि कुछ करना न पड़े और अभीष्ट की सिद्धि हो जाए। सात्विक श्रद्धा वाला व्यक्ति विवेकपूर्वक शुभकर्म में प्रवृत्त होता है और अशुभ कर्म से निवृत्त रहता है इसलिए वह राजस और तामस दोनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसके कर्मों में संतुलन रहता है। सात्विक श्रद्धा वाला व्यक्ति भी शुभ और अशुभ के बीच शुभ का वरण करता है और इसलिए वह गुणातीत स्थिति को प्राप्त नहीं हो पाता किन्तु फिर भी तामसिक और राजसिक व्यक्ति की अपेक्षा उसके लिए गुणातीत स्थिति में जाना सरल होता है।

शास्त्र अनुशीलन से ही कल्याण

देखने में आता है कि तीनों ही प्रकार के व्यक्ति कभी-कभी ऐसी बात किया करते हैं कि मानो वे शास्त्र का ही अनुसरण कर रहे हैं। तमोगुणी व्यक्ति कहा करते हैं कि करने वाला तो भगवान् है हमने तो सब उसी पर छोड़ रखा है। हम करने वाले कौन होते हैं? ऐसा कहकर वे अकर्तव्य की आड़ में अपना आलस्य ही छिपाया करते हैं। दूसरी ओर राजसी प्रवृत्ति के व्यक्ति कहा करते हैं कि हमारी पूजा तो कर्म ही है। हमें किसी और चीज में विश्वास नहीं है। ऐसा कहकर वे अपनी लोभ की प्रवृत्ति ही छिपाते हैं और कर्म को करते तो स्वार्थपूर्ति के लिए हैं लेकिन कह देते हैं कि वे तो कर्म को ही पूजा समझते हैं। सात्विक प्रवृत्ति के लोगों का ज्ञान निर्मल होता है और इसलिए वे शास्त्र की विशद व्याख्या कर सकते हैं। वे मान लेते हैं कि शास्त्रानुशीलन से ही उनका कल्याण हो जाएगा। जबकि सच्चाई यह है कि शास्त्र के अनुशीलन मात्र से किसी का कल्याण नहीं होता। कल्याण तो शास्त्र को जीवन में उतारने से होता है।

श्रद्धा कथन का विषय नहीं है, अन्तःकरण की प्रवृत्ति का विषय है। यह कह देने से कि हमारी ईश्वर में दृढ़ श्रद्धा है, श्रद्धा सिद्ध नहीं होती। जिसकी जिस पर श्रद्धा होती है वह तद्रूप ही हो जाता है। जब तक ऐसा हार्दिक श्रद्धा का भाव न हो तब तक वह श्रद्धा कहीं भी नहीं ले जाती। हम यह सुनते रहते हैं कि उपासना से दुःख दूर हो जाते हैं। परन्तु हमारी श्रद्धा जिस कोटि की होती है हमारी उपासना का लक्ष्य भी उसी कोटि का हो जाता है। उदाहरणतः यदि हमारी श्रद्धा तामसिक है तो हम ये चाहेंगे कि हमारी उपासना के द्वारा हमें बिना कुछ किए ही सब कुछ मिल जाए। ऐसे लोग ऐसे गण्डे, ताबीज आदि की खोज में रहते हैं जिन्हें बाँधने मात्र से सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाएँ। ऐसे लोगों को ढोंगी व्यक्ति ठग भी लिया करते हैं। गीता कहती है कि ऐसे व्यक्ति भूत-प्रेतों की उपासना किया करते हैं।

रजोगुणी व्यक्ति मुख्यतः धन और सत्ता की इच्छा किया करते हैं। धन के अधिष्ठाता यक्ष हैं और शक्ति के प्रतीक राक्षस हैं। इसलिए राजस व्यक्ति यक्ष और राक्षसों की पूजा करते हैं। सात्विक व्यक्ति ज्ञान की कामना करते हैं। इसलिए वे देवों की उपासना करते हैं। देव सौर प्राण हैं। ये सौर प्राण प्रकाश और ज्ञान को देने वाले हैं। गायत्री मंत्र में की गई प्रार्थना इसीलिए सर्वोत्कृष्ट मानी गई है कि उसमें सविता से बुद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। बुद्धि से

ही धर्म और अधर्म का विवेक होता है। धर्म का आचरण करने पर अर्थ और काम की स्वयं ही सिद्धि हो जाती है, उसके लिए अलग से याचना नहीं करनी पड़ती।

गुणों में उतार-चढ़ाव

जब हम व्यक्तियों को गुणों के आधार पर तीन भागों में बाँटते हैं तो उसका आधार किसी एक गुण की प्रधानता होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो व्यक्ति सात्विक है उसमें राजस या तामस भाव का सर्वथा अभाव है। सभी मनुष्यों में तीनों गुण रहते हैं। ऐसा भी आवश्यक नहीं है कि किसी एक व्यक्ति में एक गुण सदा ही मुख्य रहे। गुणों में उतार-चढ़ाव आता रहता है क्योंकि प्रकृति परिवर्तनशील है इसलिए सत्वगुण का भी अभिमान नहीं करना चाहिए। प्रकृति की गति बड़ी विचित्र है। ऐसा भी देखने में आता है कि कोई अधम कोटि का पापी अकस्मात् पुण्यात्मा बन जाता है तथा पुण्यात्मा पाप के गर्त में गिर जाता है।

गुणातीत की अपेक्षा तीनों ही गुण बंधन का कारण हैं। किन्तु तीनों के बंधन में अंतर है। तमोगुण की अपेक्षा रजोगुण का और रजोगुण की अपेक्षा सत्वगुण का बंधन सिद्धि के लिए अधिक अनुकूल माना जाता है। तमोगुणी कुछ भी नहीं करता। रजोगुणी अच्छे-बुरे का विवेक किए बिना सब कुछ करता रहता है। सात्विक व्यक्ति बुरे कर्मों को छोड़कर केवल अच्छे कर्म करता है। जो कुछ भी नहीं करता वह जड के समान है, उसमें किसी भी प्रकार का पुरुषार्थ है ही नहीं। उसके धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि तो क्या होगी, उसके तो अर्थ और काम भी सिद्ध नहीं होते। उसका बंधन सबसे गहरा है। रजोगुणी व्यक्ति कर्म द्वारा कम से कम अर्थ और काम की सिद्धि तो कर लेता है किन्तु उचित-अनुचित विचार न करने के कारण उसका भी धर्म और मोक्ष सिद्ध नहीं हो पाता।

अभिमान मोक्ष में बाधक

सात्विक व्यक्ति विवेक के कारण धर्म पुरुषार्थ भी सिद्ध कर लेता है, जिससे उसके अर्थ और काम स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु कर्तृत्व का अभिमान रखने के कारण उसका भी मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो पाता। यदि वह कर्तृत्व का अभिमान छोड़ दे तो उसका मोक्ष भी सिद्ध हो जाता है। स्पष्ट है कि उसके लिए मोक्ष तक की यात्रा का मार्ग सबसे छोटा है जबकि उसकी अपेक्षा राजस व्यक्ति का मार्ग लम्बा है और तामस के लिए तो यह मार्ग और भी लम्बा है। यह सामान्य नियम है किन्तु अपवाद के रूप में यदि तामस और राजस व्यक्ति भी कर्तृत्व का अभिमान छोड़ दें तो उन्हें मोक्ष मिल सकता है। मोक्ष का द्वार सबके लिए खुला है।

गीता में इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथी कोटि के व्यक्तियों का भी वर्णन है। वे आसुरी वृत्ति वाले लोग हैं। उन्हें शास्त्र की विधि से कुछ लेना-देना नहीं है। ऊपरी तौर पर वे घोर तप करते हैं, लेकिन आंतरिक रूप में उनके मन में दम्भ और अहंकार भरा रहता है। वे मानते हैं कि केवल उन्हें ही तत्त्व का ज्ञान है। वे तप तो करते हैं लेकिन उनके मन में भोगों के प्रति आसक्ति रहती है। यह आसक्ति ही उनका बल है। वे केवल अपने को ही कष्ट नहीं देते, अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा को भी पीड़ित करते हैं। आसुरी-सम्पदा का वर्णन करते समय ऐसे लोगों की वृत्तियों का विस्तार पहले किया जा चुका है।

इस प्रकार अर्जुन की जिज्ञासा के उत्तर में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि शास्त्रविहित कर्म ही करने चाहिए। जहाँ तक श्रद्धा का प्रश्न है, श्रद्धा सात्विक होनी चाहिए। हम भगवान से चित्त की निर्मलता ही माँगें, भौतिक सुख और भोग नहीं। यही सात्विक श्रद्धा का स्वरूप है।

मूल तथा अनुवाद

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

सबको तीन प्रकार का आहार प्रिय लगता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप तथा दान के भी इन भेदों को सुनो॥७॥

आयुः – सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख तथा प्रीति को बढ़ाने वाले सरस, स्निग्ध और सुस्थिर तथा हृदयाह्लादकर आहार सात्त्विक व्यक्तियों को प्रिय होते हैं ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

कटु, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक, दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले आहार राजस व्यक्ति को प्रिय होते हैं ॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

बासी, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, बचा-खुचा तथा झूठन और अपवित्र भोजन तामसी लोगों को प्रिय होता है ॥१०॥

विपुल-भाष्य

तीन प्रकार के आहार

जब तक हम गुणों का अतिक्रमण न कर जाएँ, तब तक हम गुणों के प्रभाव में ही अपने जीवन को संचालित करते हैं। गुणों का यह प्रभाव हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। हमारी उपासना पद्धति, हमारी साधना तथा हमारे स्वार्थ एवं परार्थ किए जाने वाले कर्म – सभी में तीनों गुणों का प्रभाव प्रतिबिम्बित होता है। उपासना अथवा साधना सभी नहीं करते, किन्तु भोजन तो सभी करते हैं। भोजन का चुनाव भी हम अपनी रुचि के अनुसार ही करते हैं।

साधारणतः हम यह समझते हैं कि भोजन की क्रिया बहुत स्थूल है। व्यक्ति कुछ भी खाकर अपना पेट भर ले, इससे उसकी प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। प्रसिद्ध है – 'जैसा अन्न वैसा मन' यह लोकोक्ति छान्दोग्योपनिषद् के वाक्य का ही अनुवाद है – अन्नमयं हि सोम्य मनः। आयुर्वेद में इस विषय को तर्कपूर्वक समझाया गया है। जो अन्न हम खाते हैं वह क्रमशः वैश्वानर अग्नि के प्रभाव से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जाता है। रस से रक्त, मांस, मज्जा आदि बनते-बनते अंत में वीर्य बनता है। वीर्य अन्न का पार्थिव दृष्टि से सूक्ष्मतम भाग है। किन्तु अन्न की यही अंतिम परिणति नहीं है। वीर्य से भी अधिक सूक्ष्म ओज है। यह ओज हमारे शरीर के चारों ओर आभामंडल के रूप में है किन्तु यह भी अन्न का आंतरिक्ष्य रूप ही है, यह भी अन्न की अंतिम परिणति नहीं है। ओज से भी अधिक सूक्ष्म मन है। मन अन्न का ही सर्वाधिक सूक्ष्म रूप है। वीर्य ओज में और ओज मन में बदलता है। वीर्य पार्थिव है, ओज आंतरिक्ष्य है और मन दिव्य है। इस प्रकार अन्न ही अपनी अंतिम, सूक्ष्मतम अवस्था में मन बन जाता है। इसलिए शास्त्र कहते हैं कि यदि आहार शुद्ध होगा तो मन भी शुद्ध होगा – आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। इस तथ्य को न समझ कर अज्ञानवश कुछ लोग कह दिया करते हैं कि खाने-पीने में क्या रखा है, व्यक्ति कुछ भी खाए, विचार शुद्ध होने चाहिए। यह दृष्टि वैज्ञानिक नहीं है।

भोजन मौलिक आवश्यकता

भारतीय परम्परा में स्मृति आदि ग्रन्थों में भोजन सम्बन्धी विवेक पर पृष्ठ के पृष्ठ रंगे हुए हैं। हमें भले ही यह व्यर्थ का प्रपंच लगे, किन्तु इसके पीछे एक वैज्ञानिक तथ्य है। हमारे जीवन की सर्वाधिक मौलिक आवश्यकता भोजन है। कोई व्यक्ति वस्त्र तथा मकान के बिना पूरा जीवन निकाल सकता है – कई आदिवासी जातियाँ आज भी

नहीं के बराबर कपड़े पहनती हैं और मकान के नाम पर भी गुफा में ही अपना सिर छिपा लेती हैं, किन्तु भोजन उन्हें भी चाहिए। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हमें कैसा भोजन प्रिय है, हम उस भोजन को किन साधनों से अर्जित करते हैं तथा भोजन बनाने वाला किस भावना से भोजन बनाता है और भोजन करने वाला किस भावना से भोजन करता है। इन प्रश्नों के उत्तर से यह जाना जा सकता है कि हमारा व्यक्तित्व कैसा है और अपने को किस साँचे में ढाल रहे हैं।

पहले कहा गया है कि गुणों के अनुसार स्थूल रूप में व्यक्तित्व के तीन प्रकार हैं – सात्त्विक, राजस और तामस। इनमें सात्त्विक व्यक्ति को रसपूर्ण, स्निग्ध, सुपाच्य तथा हृदय को सशक्त बनाने वाले भोजन प्रिय होते हैं। उसके भोजन करने का प्रयोजन है – शरीर की दीर्घकालिक स्थिति, प्राणशक्ति, शारीरिक शक्ति, आरोग्य, सुख तथा प्रेम की वृद्धि। अभिप्राय यह है कि उसके भोजन करने के पीछे जिह्वा के स्वाद का पोषण नहीं रहता अपितु भोजन का दूरगामी परिणाम ध्यान में रखकर ही वह भोजन का चयन करता है।

भोजन का तात्कालिक फल है – जबान के स्वाद का पोषण। भोजन पेट में जाकर पचता बाद में है, पहले तो जबान पर ही रखा जाता है। यदि जिह्वा की संवेदनशीलता को हमने कुण्ठित नहीं कर दिया है तो हमें वही भोजन स्वादु लगेगा जो प्रकृति के निकट है। उदाहरणतः फल प्रकृति में जिस प्रकार से मिलते हैं उसी प्रकार से बिना किसी कृत्रिम साधन बरते खाए जा सकते हैं। वे रसपूर्ण हैं, स्निग्ध हैं, सुपाच्य हैं और हृदय तथा शरीर की शक्ति को बढ़ानेवाले तथा आरोग्यप्रद हैं। इसलिए हमारी परम्परा में फलाहार को बहुत महत्त्व दिया गया है। उपवास के दिन अन्न न खाकर फलाहार करने की परम्परा है। आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति भी फलाहार का अनुमोदन करती है। किन्तु यदि हमने कृत्रिम प्रकार के तेज मिर्च-मसाले वाले भोजन से अपनी जिह्वा की संवेदनशीलता भौंटी कर ली है तो फिर सात्त्विक आहार हमारी तृप्ति नहीं कर पाता।

सात्त्विक भोजन

भोजन किस प्रकार प्राप्त किया जाए – यह भी महत्वपूर्ण है। यदि भोजन अर्जित करने में हमने अनुचित साधन बरते हैं तो फलाहार भी सात्त्विक नहीं रह जाएगा। सात्त्विक व्यक्ति तो विवेकयुक्त होता है जबकि अनुचित साधन बरतने में हम अपना विवेक तो पहले ही खो देते हैं। फिर हम कुछ भी क्यों न खायें – वह भोजन सात्त्विक नहीं रह जाता। कुछ लोग इस महत्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा करके शाकाहारी होने मात्र से अपने को सात्त्विक मान लेते हैं। बेईमानी से कमाए गए पैसे से तैयार किया गया शाकाहार भी सात्त्विक नहीं हो सकता।

तीसर पक्ष है – भोजन करने के पीछे हमारा भाव क्या है? निश्चित ही भोजन से शरीर की स्थिति बनी रहती है किन्तु शरीर अपने आप में साध्य नहीं है। शरीर धर्म का प्रथम तथा मुख्य साधन है – **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।** अशरीरी शुद्ध आत्मा धर्म-अधर्म कुछ भी सम्पादित नहीं कर सकती। शरीर में रहकर ही हम धर्म अथवा अधर्म अर्जित कर सकते हैं। अतः भोजन का उद्देश्य शरीर की स्थिति और आरोग्यता के द्वारा धर्म-सम्पादन की सामर्थ्य प्राप्त करना है, न कि केवल शरीर का पोषण। यह भाव आते ही भोजन भी साधना का एक अंग बन जाता है; वह भोग नहीं, योग हो जाता है। तब हम स्वतः ही भोजन करते समय शांत तथा सौम्य भाव रखेंगे।

शांत भाव से किया गया सामान्य भोजन भी उद्विग्नतापूर्वक किए गए अत्यन्त समृद्ध भोजन की अपेक्षा कई गुणा अधिक लाभकारी होता है। इस तथ्य को चिकित्सा शास्त्र वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर भी सिद्ध कर चुका है। हमारी परम्परा में शांत भाव की दृष्टि से भोजन के समय मौन रखने की परम्परा है।

शांत भाव से भोजन

शांति बनी रहे इसलिए भोजन के पूर्व हाथ-पाँव धोने की परम्परा भी है। आज तर्क दिया जाता है कि हम तो चम्मच आदि से भोजन करते हैं, फिर हाथ धोने की क्या आवश्यकता है। हाथ-पाँव केवल शारीरिक स्वच्छता की दृष्टि से ही नहीं धोए जाते अपितु मानसिक शांति की स्थिरता के लिए भी धोए जाते हैं। विदेश में सर्दी बहुत अधिक पड़ती है; अतः वहाँ जल का कम प्रयोग होता है किन्तु हमें अपने गर्म देश में उन देशों का अंधानुकरण नहीं करके अपनी परम्पराओं का महत्व समझना चाहिए। इन बातों को छोटा समझकर इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

उदाहरणतः मेज-कुर्सी पर भोजन करते समय जूते उतारने की आवश्यकता नहीं है – यह कहा जाता है। देखने में बात ठीक लगती है। किन्तु मानसिक दृष्टि से विचार करें तो पता चलेगा कि जूता पहनते ही हमारे मन में त्वरा का भाव आ जाता है कि हमें कहीं जाना है। इस भाव के रहते हम न तसल्ली से भोजन कर पाते हैं और न भोजन की क्रिया के प्रति एकाग्र हो पाते हैं। इस प्रकार की जीवन-शैली के क्या दुष्परिणाम होते हैं – यह किसी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पुस्तक में विस्तार से वर्णित मिल जाएगा। उच्च रक्तचाप, मधुमेह, हृदयरोग आदि सब इसी जीवन-शैली के अभिशाप हैं।

भोजन बनाने वाले का भाव भी महत्वपूर्ण है। भोजन कराने वाले को भोजन बनाने में आनन्द का भाव रखना चाहिए। वह यह न समझे कि यह भोजन बनाने का बोझा मुझ पर कहाँ से आ गया अथवा भोजन पर इतना अधिक खर्चा मुझे करना पड़ रहा है। ऐसे भाव से बनाया गया भोजन, भोजन कराने वालों के लिए तो दुःखदायी होता ही है, भोजन करने वाले के लिए भी सुखदायी नहीं होता। मुझे काम अधिक करना पड़ता है और तनख्वाह कम मिलती है – ऐसी भावना रखने वाले नौकर के हाथ के भोजन और निःस्वार्थ भाव से भोजन बनाने वाली ममतामयी माता के हाथ के भोजन का जो अंतर है, वह भावना के अंतर के कारण है।

राजसी प्रवृत्ति के व्यक्ति का लक्ष्य यह रहता है कि वह जो भोजन करे वह उसे अधिक से अधिक भागदौड़ करते रहने योग्य बना दे। वह व्यक्ति कड़वे, खट्टे, तीखे, रूखे तथा जलन पैदा करने वाले पदार्थ खाता है। ये पदार्थ अन्ततोगत्वा दुःख देते हैं और रोग भी उत्पन्न करते हैं। ऐसा व्यक्ति यह विवेक भी नहीं कर पाता कि उसने भोजन के लिए पैसा उचित साधनों से जुटाया है या अनुचित साधनों से। वह भोजन करते समय भी हड़बड़ी में ही भोजन करता है क्योंकि शांत रहना उसकी प्रकृति में नहीं होता। आज तो त्वरित भोजन (फास्ट फूड) चला है। उसके नाम से ही हड़बड़ी का आभास हो जाता है। हम कहते हैं कि सब भाग-दौड़ हमारे सिर पर इतनी बुरी तरह सवार हो जाती है कि जब भोजन करने का समय आता है तो हम सोचते हैं कि भोजन जल्दी से कर लिया जाए क्योंकि भोजन करने का हमारे पास समय नहीं है। हमारे पास भोजन बनाने का समय भी नहीं है इसलिए डिब्बों में बंद – जंक फूड – का प्रचलन बढ़ रहा है, हालांकि डॉक्टर ऐसे भोजन की हानियाँ बराबर बताते रहते हैं। यह सब रजोगुण का प्रभाव है जो प्रवृत्ति को तो करा देता है किन्तु प्रवृत्ति में विवेक नहीं रहने देता।

तामसिक प्रवृत्तियाँ

रजोगुण के ठीक विपरीत तमोगुण है। तमोगुणी भोजन के लिए भोजन करता है। उसके जीवन का उद्देश्य केवल खाना और सोना है। उसकी किसी काम में कोई रुचि नहीं होती। बैठे-बैठे भोजन मिल जाए तो वह संतुष्ट है। अतः वह ऐसा भोजन करना पसन्द करता है जो उसे आराम करने में सहायक हो। उसके आराम में खलल न पड़े तो इसे वह जीवन की परम उपलब्धि मानता है। दुष्पच, भारी, बासी तथा मांस, मछली, अण्डे आदि उसे पसन्द होते हैं। ऐसे भोजन से उसका शरीर स्थूल होता जाता है। ऐसा भोजन पचाने के लिए व्यक्ति की सारी ऊर्जा भोजन पचाने में ही लग जाती है। अतः उसका मस्तिष्क कुछ काम नहीं कर पाता। उससे कोई सूक्ष्म तत्व चर्चा की जाए तो कहता है कि उसकी यह कुछ समझ में नहीं आता। झूठ, छल, कपट, चोरी आदि करने के विविध उपायों में उसकी विशेष गति रहती है। अनुचित साधनों से पैसा एकत्रित करके वह मेहनत और ईमानदारी से पैसा कमाने वालों को मूर्ख समझता है। तामसी व्यक्ति को मदिरा अत्यन्त प्रिय होती है क्योंकि यह तत्काल व्यक्ति को मूर्च्छा में ले जाती है। मदिरा-पान को शास्त्रों में महापातक माना गया है। मदिरा-पान से कितने परिवार नरक बने हुए हैं – यह स्वतंत्र अनुसंधान का विषय है।

सात्त्विक पदार्थों की गणना शास्त्रों में है, किन्तु उन पदार्थों के खाने में भी यदि रसलोलुपता का भाव है तो वे पदार्थ सात्त्विक नहीं रहते। इसलिए कौन से पदार्थ खाए जाएँ, इसके साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि भोजन किस भावना से किया जाए।

देहासक्ति सबसे प्रबल

सब आसक्तियों में देहासक्ति सबसे अधिक बलवती है। देहासक्ति मुख्यतः भोजन के प्रति आसक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिसकी भोजन के प्रति आसक्ति छूट गई उसकी देहासक्ति छूट जाती है और जिसकी देहासक्ति छूट गई उसकी स्त्री, धन, पुत्र, मकान आदि के प्रति आसक्ति भी स्वयं ही छूट जाती है। इसलिए कहा गया है जिसने जबान का स्वाद जीत लिया उसने सब कुछ जीत लिया – जिते रसे जितं सर्वम्। हमारी भोजन-प्रक्रिया हमारे व्यक्तित्व की सूचक भी है और व्यक्तित्व की निर्मात्री भी है। हम उसकी उपेक्षा न करें।

मनुस्मृति में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक युग का एक पृथक् धर्म होता है। कृतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः तप, ज्ञान, यज्ञ तथा दान प्रधान धर्म होते हैं –

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥

यह इस बात का सूचक है कि धर्म का एक रूप शाश्वत है तथा धर्म का दूसरा रूप देशकालानुसार परिवर्तनशील भी है। हमारे देश में एक विवाद इतिहासकारों के बीच चलता है। कुछ इतिहासकार लिखते हैं कि प्राचीन काल में अमुक प्रथा थी। अब हमारा समाज उस प्रथा को मान्यता नहीं देता। अतः कुछ इतिहासकार यह मानने को तैयार नहीं हैं कि प्राचीनकाल में भी ऐसी प्रथा थी। ये दोनों ही इतिहासकार इस बात पर ध्यान नहीं दे रहे कि यदि कोई प्रथा किसी समय प्रचलित थी तो वह उस युग के लिए उचित हो सकती है किन्तु वर्तमान युग के लिए भी वह उचित हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। स्मृतिकारों ने ऐसी मान्यताओं को कलिवर्ज्य कहा है अर्थात् वे प्रथाएँ कभी मान्य थीं किन्तु वर्तमान युग के वे अनुरूप नहीं रहीं। धर्म की अवधारणा भी बदलती है। किन्हीं इतिहासकारों का यदि यह मानना हो कि प्राचीनकाल में ऐसा होता था तो वर्तमान में भी ऐसा ही होना चाहिए अथवा कुछ इतिहासकार यदि ऐसा मानते हों कि क्योंकि वर्तमान में ऐसा नहीं होता अतः प्राचीनकाल में भी ऐसा नहीं होता था – तो ये दोनों ही प्रकार के इतिहासकार धर्म को एक कूटस्थ स्थिर अवधारणा मानकर चल रहे हैं जबकि मनु के अनुसार धर्म भी युगानुसार परिवर्तनशील होता है।

अस्तु, प्रकृत में हमें गीता के इस वक्तव्य की व्याख्या करनी है कि जिन तप, ज्ञान, यज्ञ तथा दान को मनुस्मृति ने भिन्न-भिन्न युगों में धर्म बताया है वे धर्म भी कर्ता की प्रकृति के अनुसार तीन-तीन प्रकार के हो जाते हैं। यह वक्तव्य इस बात का सूचक है कि धर्मानुष्ठान कोई रूढ़ि नहीं है। किसी ने यज्ञ, तप अथवा दान किया तो उस क्रिया का बाह्य स्वरूप उस क्रिया की मूल्यवत्ता तो निर्धारित नहीं करेगा अपितु कर्ता का आन्तरिक आशय उस क्रिया का मूल्यांकन करने की सच्ची कसौटी होगा। यह सिद्धान्त धर्म को यान्त्रिक होने से बचाता है।

श्रीकृष्ण द्वापर में बोल रहे हैं। कलियुग अभी नहीं आया है, थोड़े समय बाद अर्जुन के पौत्र परीक्षित के समय में आएगा। मनु के अनुसार द्वापर का मुख्य धर्म यज्ञ है। अतः श्रीकृष्ण ने यज्ञ के ही तीन प्रकारों से अपना विवेचन प्रारम्भ किया। दूसरी दृष्टि से देखें तो वैदिक धर्म का केन्द्र यज्ञ ही है। अतः यज्ञ का ही विवेचन प्रथम करना उचित है। आहार के तीन प्रकार बताए। आहार लौकिक कर्म है। यज्ञ लौकिक कर्म नहीं प्रत्युत वैदिक कर्म है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ के भी तीन प्रकार हैं। गीता कहती है कि जो यज्ञ शास्त्रोक्त विधि के अनुसार किसी फल की इच्छा के बिना अपना कर्तव्य मानकर किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक होता है। जो यज्ञ फल को लक्ष्य बनाकर प्रदर्शन करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए किया जाता है, वह यज्ञ राजस है। जो यज्ञ विधि के बिना, अन्नदान किए बिना, मन्त्र-रहित तथा दक्षिणा और श्रद्धा के बिना किया जाता है, वह यज्ञ तामस है।

यान्त्रिक अनुष्ठान

बाहर यज्ञ की प्रक्रिया एक जैसी दिखती है किन्तु यजमान के आन्तरिक भाव भिन्न-भिन्न हैं तो एक ही क्रिया के फल भी अलग-अलग हो जाते हैं। गीता की यह दृष्टि धर्म को मैकेनिकल (यान्त्रिक) होने से बचाती है। धर्म का उद्देश्य कोई भौतिक परिवर्तन करना नहीं है अपितु आन्तरिक रूपान्तरण करना है। इसलिए वहाँ भाव मुख्य है, बाह्य क्रिया नहीं। एक ठेकेदार ने कुछ मजदूरों को पत्थर तोड़ने के लिए लगाया। उन्होंने एक निश्चित मात्रा में निश्चित समय में पत्थर तोड़ दिए तो उस ठेकेदार का कार्य सिद्ध हो गया। मजदूरों ने पत्थर किस भावना से तोड़े इससे उस ठेकेदार को कोई प्रयोजन नहीं। कुछ मजदूर पत्थर तोड़ते समय गीत गा सकते हैं, कुछ परेशान हो सकते हैं और कुछ उदासीन रह सकते हैं लेकिन यदि उन्होंने निश्चित अवधि में निश्चित मात्रा में अपने-अपने हिस्से के पत्थर तोड़ दिए तो सभी को समान फल – बराबर मजदूरी – मिल जाएगी। किन्तु वहाँ कर्त्ता का भाव मुख्य नहीं है। धर्मानुष्ठान यान्त्रिक क्रिया नहीं है।

मूल तथा अनुवाद

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जो शास्त्र विहित यज्ञ इस प्रकार मानकर कि 'करना ही चाहिये', फल की आकाङ्क्षा छोड़ कर किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

जो दम्भवश फल को लक्ष्य बनाकर यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ को तुम राजस समझो ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

शास्त्र विधि से रहित, अन्नदान से रहित, मन्त्रहीन तथा बिना दक्षिणा के श्रद्धारहित यज्ञ को तामस कहा जाता है ॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, द्विज, गुरु तथा विद्वानों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा – यह तप शारीरिक तप कहलाता है ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

किसी को पीड़ा न पहुँचाने वाला प्रिय और हितकारक तथा सत्य वचन एवम् स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप कहलाता है ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की निर्मलता, सौम्यभाव, मौन, आत्मसंयम और आत्मशुद्धि यह मानस तप कहलाता है ॥१६॥

विपुल-भाष्य

यज्ञ

यज्ञ एक कर्मकाण्ड है। कर्मकाण्ड को अनेक विद्वान् यान्त्रिक क्रिया मानते हैं और प्रायः हम कर्मकाण्ड का अनुष्ठान यान्त्रिक ढंग से ही करते भी हैं। गीता ने कर्मकाण्ड को भाव के साथ जोड़ा। जैसा भाव वैसा कर्म का मूल्याङ्कन।

सात्त्विक वृत्ति का व्यक्ति यज्ञ का सम्पादन शास्त्रोक्त विधि से करता है। यज्ञ की विधि का निर्धारण इस आधार पर किया जाता है देव जिस प्रक्रिया से अपना कार्य करते हैं उसी प्रक्रिया का अनुसरण हम भी करें – **यद्देवा अकरवँस्तत्करवाणि**। देवों की प्रक्रिया प्राण-प्रधान है, भूत-प्रधान नहीं। इसलिए उस प्रक्रिया को साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही जान सकते हैं, हम जैसे स्थूलदृष्टि अर्वाक्दृक् प्राकृत जन नहीं। यज्ञ को ऋषियों द्वारा प्रदर्शित विधि से ही किया जाना चाहिए, उसमें हमें अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिए। कुछ कर्म श्रुतिनिरपेक्ष हैं, उन्हें अपनी बुद्धि से किया जा सकता है। उदाहरणतः यदि हमें कोई प्याऊ लगानी है अथवा धर्मशाला बनवानी है तो यह जन-कल्याण का कार्य है। इसमें हम अपनी बुद्धि लगा सकते हैं कि प्याऊ अथवा धर्मशाला कहाँ, कब, कितनी बड़ी बनवाई जाए। किन्तु यज्ञ श्रौतकर्म है, उसकी विधि में हम अपनी अकल लगाकर फेर-बदल नहीं कर सकते। प्याऊ से मनुष्यों का भला होता है और मनुष्यों की अनुकूलता-प्रतिकूलता हम देख सकते हैं। यज्ञ देवों की प्रसन्नता के लिए किया जाता है, देव कैसे प्रसन्न होंगे यह श्रुति ही बता सकती है, हम अपनी बुद्धि से इसे नहीं जान सकते। अतः यज्ञ शास्त्रोक्त विधि से ही किया जाना चाहिए।

कामनाविहीन सात्त्विक यज्ञ

दूसरी बात सात्त्विक यज्ञ के लिए यह है कि उसे कर्तव्य मानकर किया जाए, फल की कामना से नहीं। जो कर्तव्य होता है, वह हमारे लिए अपरिहार्य होता है। हम कर्तव्य का पालन करके किसी पर कोई अहसान नहीं करते। हम पर देवों का ऋण है; सूर्य, वायु तथा अग्नि का हम पर कितना उपकार है इसका अन्दाजा लगाना मुश्किल है। संक्षेप में इन देवों की कृपा के बिना एक क्षण के लिए भी हमारा अस्तित्व ही नहीं टिक सकता – यह बात प्रत्यक्ष-सिद्ध है। अब यदि हम इन देवों को यज्ञ में आहुति देकर इनके ऋण को यत्किञ्चित् चुकाते हैं – पूरी तरह तो उस ऋण को चुकाया नहीं जा सकता – तो इसमें हम ऐसा कौन-सा बड़ा काम कर रहे हैं कि जिसके बदले में किसी फल की आशा करें। यज्ञ करने के बावजूद हम तो देवों के ऋण से दबे ही रहते हैं। कल्पना करें कि किसी व्यक्ति ने मुझे हजार रुपए दिए; मेरे पास उसे वापिस देने के लिए हजार रुपए तो नहीं हैं किन्तु सौ रुपए हैं। अब मैं उसे सौ रुपए ही देता हूँ तो क्या कोई ऐसा बड़ा पुण्य कार्य कर रहा हूँ जिसके बदले मुझे पुरस्कृत किया जाना चाहिए? मेरे जितनी शक्ति है, उतना कर्ज मैंने चुका दिया, शेष के लिए उस व्यक्ति से क्षमा माँग ली और कृतज्ञता की अभिव्यक्ति कर दी। इसमें मैंने अपना कर्तव्य ही यथाशक्ति पूरा किया, कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिसके बदले में मुझे पुरस्कार मिले। देव-ऋण चुकाने के लिए किए गए यज्ञ की यही स्थिति समझनी चाहिए। हमें तो देवों के प्रति सदा आभार ही व्यक्त करना चाहिए। वे बिना माँगे ही इतना दे रहे हैं जितने के हम अधिकारी नहीं हैं। फिर और माँग करना तो हमारी धृष्टता ही समझी जाएगी। हाँ, हमारी जितनी सामर्थ्य है उतनी देवोपासना करना हमारा कर्तव्य अवश्य बनता है। यज्ञ में सात्त्विक व्यक्ति की यही दृष्टि रहती है।

राजसी प्रकृति के व्यक्ति को जो मिला है, उससे उसे कभी सन्तोष नहीं होता। वह सदा अधिक से अधिक की कामना करता रहता है। यज्ञ तो देवों के प्रति आभार अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया है किन्तु राजस व्यक्ति यज्ञ में भी याचना का कटोरा लेकर ही देवों के सम्मुख जाता है और देवों के सामने आभार व्यक्त करना तो दूर, वह उनसे भिन्न-भिन्न पदार्थों की भीख ही माँगता रहता है। उसकी इस याचना-वृत्ति का कोई अन्त नहीं होता, आज एक पदार्थ

मिल गया तो कल दूसरा पदार्थ चाहिए। वह सदा तनाव में रहता है, कभी तृप्ति की मुद्रा में आता ही नहीं। इस पर यह तुर्रा और है कि वह चाहता है कि लोग देखें कि वह कितना बड़ा यज्ञ कर रहा है, और उसकी प्रशंसा करें। सोचने की बात है कि क्या कभी किसी भिखारी की भी प्रशंसा की जाती है?

तामस व्यक्ति की स्थिति और भी अधिक दयनीय है। प्रथम तो उसकी शास्त्रोक्त विधि में ही आस्था नहीं होती। वह वहाँ अपना तर्क लगाता है कि ऐसा क्यों किया जाए, ऐसा क्यों नहीं। शास्त्रविधि सूक्ष्म प्राण-विद्या पर आधृत है किन्तु तामस व्यक्ति स्थूल तर्क के आधार पर विधि में मनमाना परिवर्तन कर लेता है। वह आग में घी झोंक सकता है लेकिन यज्ञ कदापि नहीं कर सकता।

तामस व्यक्ति को दानादि व्यर्थ प्रतीत होते हैं। वह स्वयं आलसी होता है तो उसे दान ग्रहण करने वाले ब्राह्मणादि भी आलसी ही नजर आते हैं और वह समझता है कि यज्ञ का सम्पादन वह स्वयं ही कर लेगा, पुरोहित को बुलाकर पैसे का अपव्यय क्यों किया जाए। वह मन्त्र का भी उच्चारण न कर सके तो मन्त्रोच्चार के बिना – अथवा अशुद्ध मन्त्र बोलकर – ही यज्ञानुष्ठान कर लेगा। वह तर्क देगा कि मन्त्र बोलने से क्या होगा, क्या देवता बिना मन्त्र बोले हमारी हृदय की भावना को नहीं जानते? वह दान देने से भी कतराता है, फिर दक्षिणा का तो प्रश्न ही कहाँ है। हम जिसे दान देते हैं, उसके प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं कि उसने हमारा दान स्वीकार करने की कृपा की। इस कृतज्ञता की अभिव्यक्ति हम दक्षिणा देकर करते हैं। तामसी व्यक्ति तो यदि किसी को दो पैसे देगा भी तो उस पर सौ बार रौब गाँठेगा कि उसे दान देकर उसने उस पर कितनी बड़ी कृपा की है। फिर वह दक्षिणा किस बात की देगा? ऐसा श्रद्धाहीन ढंग से किया गया यज्ञ तामस होता है।

मनोवृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण

चाहे आहार जैसा लौकिक कर्म हो अथवा यज्ञ जैसा वैदिक कर्म – श्रीकृष्ण सर्वत्र त्रिगुणों के माध्यम से कर्म के कर्त्ता की मनोवृत्ति का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं कि हम अपना चेहरा गीता के दर्पण में स्पष्टतः देख सकते हैं और अपने सम्बन्ध में किसी भ्रम में नहीं रहते कि हम बहुत धर्मात्मा हैं। धर्म कोई बाह्य यान्त्रिक क्रिया नहीं है जिसे दिखाकर हम दुनिया की वाहवाही लूट सकें अपितु वह एक ऐसी आंतरिक मनःस्थिति है जिसे भले दुनिया जाने या न जाने, हम स्वयं तो जानते ही हैं। उस अपनी आन्तरिक मनःस्थिति को जानकर हम ईमानदारी से देखें कि हम सात्त्विक हैं, राजसी हैं अथवा तामसिक। अपने मूल्यांकन के लिए हम परमुखापेक्षी न रहें कि दुनिया हमारे बारे में क्या कहती है। हमारी बाहरी क्रियाओं को देखकर दूसरों को हमारे सम्बन्ध में धोखा हो सकता है। लेकिन हम स्वयं तो अपने सम्बन्ध में धोखा न खाएँ। अपने को निर्दोष बनाने की दिशा में पहला कदम यह है कि सबसे पहले हम अपने दोषों को देखें। तामसी, राजसी तथा सात्त्विक दृष्टि से आहार-यज्ञादि पर विचार करने से हमें अपने गुण-दोष नजर आ जाते हैं। यह एक कसौटी है जिस पर हम अपने खरे-खोटेपन की पहचान कर सकते हैं।

यज्ञ, तप और दान

यज्ञ में मंत्र-शक्ति मुख्य है। मंत्र शक्ति का अर्थ है – मनन की शक्ति अथवा मन की शक्ति। मन की शक्ति ब्राह्मण में विशेष होती है इसलिए यज्ञ में ब्राह्मण की मुख्यता है। तप में प्राण शक्ति का प्रयोग होता है। प्राणशक्ति क्षत्रिय में अधिक होती है। इसलिए तप में क्षत्रिय विशेष निपुण होते हैं। दान में अर्थशक्ति की मुख्यता है। अर्थ वैश्य के पास विशेष होता है। इसलिए दान में वैश्य वर्ग अग्रणी रहता है। गीता में इसी क्रम से यज्ञ, तप और दान का वर्णन है।

तीन प्रकार के यज्ञ बताने के बाद अब गीता में तप का विवरण दिया गया है। तप के दो प्रयोग मुख्य हैं – प्रथम कर्म के संस्कारों को जलाकर नष्ट कर देना, दूसरे साधक को इतना परिपक्व बना देना कि उस पर कोई नए संस्कार न जम पाएँ। तप में साधक के किसी न किसी अंतरंग विकार का त्याग अन्तर्निहित रहता है। गीता ने तप के तीन साधन बतलाए – शरीर, वाणी और मन। शारीरिक तप में देव, द्विज, गुरुजन और ज्ञानियों का पूजन, शौच, ऋजुता,

ब्रह्मचर्य और अहिंसा को गिनवाया गया। जब हम किसी का पूजन करते हैं तो उसमें अहंकार के भाव को छोड़ना पड़ता है। ब्रह्मचर्य के पालन के लिए विषयों के सुख छोड़ने पड़ते हैं। अहिंसा के पालन के लिए द्वेषभाव छोड़ना पड़ता है। इस प्रकार शारीरिक तप के सभी प्रकारों में अंतरंग त्याग करना पड़ता है। इस त्याग से पूर्वार्जित संस्कार नष्ट हो जाते हैं और नए संस्कारों का निर्माण नहीं होता। पूजन अथवा नमस्कार एक शारीरिक क्रिया है किन्तु यह शारीरिक क्रिया भी यदि सच्चे मन से की जाए तो अहंकार को मिटाती है।

जिनको नमस्कार करने को कहा गया है, वे ज्ञान में ऊँचे हैं, किसी पद या लौकिक वैभव के कारण ऊँचे नहीं हैं। देव प्रकाश के सूचक हैं और प्रकाश ज्ञान का सूचक है। इसी प्रकार ब्राह्मण, गुरुजन और ज्ञानी ये सभी ज्ञान के कारण पूज्य हैं। जिस समाज या राष्ट्र में ज्ञान के स्थान पर सत्ता और पैसे की पूजा होने लगती है वह समाज और राष्ट्र तप को छोड़कर विलासिता में डूब जाता है।

शारीरिक तप का दूसरा अंग शौच है। योगसूत्र में शौच का यह फल बताया है कि साधक शरीर के इस स्वभाव को जान ले कि निरन्तर साफ करते रहने पर भी शरीर मलिनता से ही भरा रहता है। यह ज्ञान शरीर के प्रति आसक्ति समाप्त कर देता है।

ऋजुता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को भी शारीरिक तप के अंतर्गत गिनवाया गया है। व्यक्ति की सरलता अथवा कुटिलता उसकी शारीरिक क्रियाओं से प्रकट हो जाती है। उसके शरीर से यदि सरलता अभिव्यक्त होती है तो इसे शारीरिक तप कहा गया है। सैक्स में शारीरिक आकर्षण का प्रतिरोध कर सके तो ही कोई ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। यद्यपि हिंसा के प्रेरक राग-द्वेष मन में रहते हैं किन्तु हिंसा का मुख्य साधन शरीर ही है इसलिए अहिंसा को भी शारीरिक तप में गिनवा दिया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ शरीर को कष्ट देना तप के अंतर्गत नहीं माना गया। वस्तुतः तप विषय-विकारों का त्याग करने में है, अपने को कष्ट देने में नहीं। यदि साधक की दृष्टि सम्यक् है तो विषय विकारों के त्याग से सुख ही मिलता है, दुःख नहीं।

हितकारी और प्रियवाणी

शरीर के समान वाणी भी तपस्या का साधन है। वाणी के द्वारा हम दूसरे का हित भी कर सकते हैं और अहित भी कर सकते हैं। वाणी के द्वारा हम किसी को ठीक मार्ग पर भी लगा सकते हैं और गलत मार्ग पर भी लगा सकते हैं। मंत्रशक्ति भी वाक्शक्ति का ही एक रूप है। गीता कहती है कि ऐसा वचन बोलना जो दूसरे को उद्विग्न न करे, सत्य हो, प्रिय भी लगे और हितकारी भी हो तथा स्वाध्याय का अभ्यास करना – यह सब वाङ्मय तप है। कई बार हम ऐसे वाक्य बोलते रहते हैं जिनमें सुनने वाले की कोई रुचि नहीं होती। यह वाक्शक्ति के अपव्यय का उदाहरण है। हम कितनी भी हितकारी बात क्यों न कहें लेकिन जब तक वह बात सुनने वाले को प्रिय नहीं लगेगी तब तक वह उसे मानेगा नहीं। बात हितकारी भी हो, प्रिय भी लगे इसके लिए बहुत साधना करनी पड़ती है। यह साधना ही वाणी का तप है। राग-द्वेष की वृत्ति को उभारने वाले वाक्य अधिकतर लोगों को आकृष्ट करते हैं। ऐसे वाक्यों को बोलने वाला व्यक्ति सस्ती लोकप्रियता भी अर्जित कर लेता है। किन्तु अन्ततोगत्वा वह सबका अहित ही करता है। ऐसी सस्ती लोकप्रियता के प्रलोभन में न आना वाङ्मय तप है।

मानसिक तप के पाँच घटक

मानसिक तप के पाँच घटक गीता ने गिनवाए – मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मननशीलता, मनःसंयम और भावशुद्धि। तप को कष्ट से नहीं अपितु प्रसन्नता से जोड़ना चाहिए। कष्ट में हम अपनी सूझ-बूझ खो देते हैं। अतः ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि मन प्रसन्न रहे। निर्मल होने पर मन प्रसन्न रहता है। वस्तुतः प्रसन्न शब्द का अर्थ ही निर्मलता है। जिसके मन में स्वार्थ नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, अहंकार नहीं है और जो सबका सदा हित सोचता है, वह प्रसन्न रह सकता है। मनुष्य में सहज ही ऐसा भाव रहता है कि विपरीत परिस्थिति में उद्विग्न हो जाता है। इसके विपरीत हर परिस्थिति में सौम्य भाव रखना मानस तप है।

गीता ने मौन को भी वाणी का तप न मानकर मन का तप माना है, क्योंकि वस्तुतः मौन मन का अपेक्षित है, न कि वाणी का। यदि हम एक घंटे के लिए वाणी को विराम दे दें तो पाएँगे कि उस एक घंटे में मन में संकल्प विकल्पों का ताना-बाना बुनता रहता है। यह वास्तविक मौन न हुआ। वास्तविक मौन तो तभी है जब मन भी मौन हो जाए। साधक चाहे वहाँ मन को लगा सके और जहाँ से चाहे वहाँ से हटा सके, यह मन का संयम है। भाव शुद्धि का यह अर्थ है कि कोई हमारे प्रति कैसा भी व्यवहार क्यों न करे, किन्तु हमारे मन में उसके प्रति विकार का भाव न आए। वस्तुतः दूसरे के व्यवहार से हमारा कभी कुछ नहीं बिगड़ता। हमारा बिगाड़ तभी होता है जब दूसरे का व्यवहार हमारे मन में विकार उत्पन्न कर दे। दूसरे का व्यवहार हमारे अधीन नहीं है, किन्तु उस व्यवहार से हम अपने भावों को विकृत न होने दें, यह हमारे अधीन है। इसे गीता ने मानस तप कहा है।

सर्वविध तप में अंतरंग त्याग रहता है। यह अंतरंग त्याग ग्रहण की क्षमता उत्पन्न करता है। जैसे सूख जाने पर जमीन पानी को सोख लेने की क्षमता उत्पन्न कर लेती है। यदि हमें तप के बिना कुछ मिल भी जाए तो हम उसे आत्मसात् नहीं कर पाएँगे। शास्त्रीय भाषा में हमारा उससे बहिर्याम सम्बन्ध भले ही हो जाए किन्तु अन्तर्याम सम्बन्ध नहीं हो पाएगा। अतः वेद में स्थान-स्थान पर तप की महिमा कही गई है।

अथर्ववेद में पृथ्वी को धारण करने वाले तत्वों में तप का भी परिगणन किया गया है – **सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।**

कहा गया है कि ब्रह्मचर्य तथा तप से ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की – **ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नन्।** ब्रह्मचर्य तथा तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है – **ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।**

तप का महत्त्व

सृष्टि की उत्पत्ति में तप का ही प्रथम योगदान है। ऋत और सत्य उग्र तप से ही उत्पन्न हुए – **ऋतञ्च सत्यञ्चाभीधात्तपसोऽध्यजायत।**

सृष्टि की प्रक्रिया में कामना के अनन्तर तप ही होता है। आत्मा ने एक से अनेक होने की कामना की तो तप ही किया – **सोऽकाम्यत एकोऽहं बहु स्याम्। स तपोऽप्यत।**

ऋग्वेद में कहा गया है कि तपोलोक में वे जाते हैं जो तप के कारण अजेय होते हैं तथा स्वर्ग को प्राप्त करते हैं –

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥

अभिप्राय यह है कि तप वैदिक जीवन दृष्टि का एक अविभाज्य अंग है। उसी का विस्तार गीता में हुआ है।

मूल तथा अनुवाद

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

तप तीन प्रकार का है – उसमें फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धापूर्वक किया गया तप सात्त्विक कहलाता है॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये अथवा ऐसे ही किसी स्वार्थ के लिये दम्भपूर्वक किया जाता है वह अनिश्चित तथा क्षणिक फल वाला तप राजस कहलाता है॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप, मूढ़ता को पकड़ कर या अपने को पीड़ा देते हुए दूसरे की हानि के लिये किया जाता है वह तप तामस कहलाता है ॥१९॥

विपुल-भाष्य

तीन प्रकार के तप

शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप भी सात्विक, राजसी अथवा तामसी होते हैं। जो तप परमश्रद्धा के साथ, फल की आकांक्षा किए बिना किया जाता है, वह तप सात्विक है। गीता में फल की इच्छा का बारम्बार निषेध है। वस्तुतः हम अधिकतर फल की इच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं। प्रायः यह शंका होती है कि यदि फल की इच्छा ही न होगी तो व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त ही क्यों होगा। फल की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त होने का अर्थ है भोग के लिए कर्म। भोग के लिए कर्म किया जा सकता है किन्तु वह कर्मयोग नहीं बन सकता जबकि गीता का प्रतिपाद्य कर्मयोग है, कर्म नहीं। कर्मयोग और कर्म में रात-दिन का अन्तर है; कर्मयोग मोक्ष का उपाय है और कर्म बन्धन का कारण है। किसी को जिस जंजीर से बाँधा जाता है, उस जंजीर के खुलने से ही तो वह मुक्त भी होता है। अन्तर यह है कि जंजीर से बाँधते समय जंजीर को जिस दिशा में घुमाया जाता है, खोलते समय जंजीर को उससे उल्टी दिशा में घुमाया जाता है। कर्म ही बाँधते हैं, कर्म ही मुक्त भी कर सकते हैं, केवल दिशा बदलनी पड़ती है। फल की प्राप्ति के लिए किया गया कर्म बाँधता है, फल की आकांक्षा के बिना किया गया कर्म मुक्त कर देता है।

कर्म और कर्तव्य

फल की आकांक्षा के बिना कर्म क्यों किया जाए – इस प्रश्न का उत्तर है कि कर्म अपना कर्तव्य समझ कर किया जाना चाहिए। फल शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। हम एक वृक्ष लगाते हैं तो क्या वृक्ष में फल इसलिए आते हैं कि हम फल की इच्छा करते हैं? आम का बीजा बोया, समय पर खाद-पानी दिया, पशु आदि से वृक्ष की रक्षा की तो फल तो समय आने पर स्वयं ही प्रकट होगा, उसके लिए फल की इच्छा करने की आवश्यकता नहीं है। विधिपूर्वक कर्म किया, तो फल स्वयं प्रकट होगा।

सच में फल की इच्छा ही तनाव उत्पन्न करती है। कर्म वर्तमान में होता है। कर्म से कोई तनाव नहीं होता। फल की इच्छा तनाव उत्पन्न करती है क्योंकि फल भविष्य में है और सदा यह शंका बनी रहती है कि मालूम नहीं फल हो या न हो। कर्म वर्तमान में होता है, उससे थकावट हो सकती है, तनाव नहीं। थकावट और तनाव एक ही बात नहीं है। थकावट से नींद आती है, व्यक्ति विश्राम में जाता है; तनाव से नींद उड़ती है, व्यक्ति अशान्त हो जाता है। कर्म का फल शान्ति है, फलेच्छा का फल अशान्ति है। आत्मनिरीक्षण करेंगे तो पाएँगे कि अत्यधिक कर्म से कभी थकावट तो हुई है, लेकिन अशान्ति नहीं हुई। अशान्ति इस भय से हुई है कि पता नहीं फल अनुकूल होगा या नहीं।

आशंका अथवा सन्देह का अर्थ है – श्रद्धा का अभाव। शास्त्र में जिस कर्म का प्रतिपादन है, उस कर्म के फल का भी प्रतिपादन है। यदि हमारी शास्त्र में श्रद्धा है तो फल के प्रति सन्देह उत्पन्न ही नहीं हो सकता। गीता कहती है सात्त्विक तप करने वाले की अटूट श्रद्धा होती है। हमारी श्रद्धा अटूट नहीं होती। शास्त्र ने कहा कि भक्त की रक्षा भगवान् करते हैं। हम स्वयं को भक्त समझते हैं किन्तु पाते हैं कि भगवान् ने हमारी रक्षा नहीं की। हमारी शास्त्र पर से श्रद्धा हट जाती है। हम यह विचार नहीं करते कि क्या हम सचमुच भक्त थे भी? हम शास्त्र पर सन्देह करते हैं, अपने पर सन्देह नहीं करते। सात्त्विक व्यक्ति सदा अपने में दोष ढूँढता है, शास्त्र में नहीं। इसलिए उसकी श्रद्धा अटूट बनी रहती है।

कर्म करने पर भी फल न मिले तो विचार करना चाहिए कि मेरे कर्म में क्या कमी रह गई – **यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः?** अपने कर्म की कमी को देखकर उस कमी को दूर करना चाहिए, न कि शास्त्र के प्रति अपनी श्रद्धा को ही छोड़ देना चाहिए।

कर्म में कमी आने का मुख्य कारण चित्त की एकाग्रता का अभाव है। चित्त एकाग्र इसलिए नहीं हो पाता कि कर्म करना है वर्तमान में और हमारा चित्त अटका है फल में, जो भविष्य में है। भविष्य में रहने वाला चित्त वर्तमान में किए जाने वाले कर्म को सुचारु रूप में कैसे कर सकता है?

दुविधापूर्वक कर्म अधूरा

श्रद्धा का अभाव भी कर्म को ठीक से नहीं होने देता। हम एक कर्म कर रहे हैं किन्तु मन में यह विकल्प चल रहा है कि पता नहीं यह कर्म ठीक है भी या नहीं। ऐसा दुविधापूर्वक किया गया कर्म सदा अधूरा ही होता है।

तप का फल स्थूल नहीं है, सूक्ष्म है। कपड़े पहनने से सर्दी से बचाव होता है – यह फल स्थूल है और प्रत्यक्ष गोचर है। इनमें सब की ही श्रद्धा होती है। यहाँ फल के बारे में सन्देह का अवकाश ही नहीं है। किन्तु देवपूजा से सुख मिलता है – यहाँ फल प्रत्यक्ष गोचर नहीं है। अतः यहाँ श्रद्धा करना सरल नहीं है। बार-बार मन में यह विकल्प आता ही रहता है कि पता नहीं देवपूजा से कुछ हो या नहीं। फिर भी चलो आज तो देवपूजा कर लेते हैं, लाभ नहीं होगा तो हानि भी तो कुछ नहीं है, किन्तु कल से इस व्यर्थ के कार्य में समय नहीं खोएँगे – ऐसे भाव से किया गया तप सात्विक नहीं हो सकता।

धर्म के क्षेत्र में दिखावे को कोई स्थान नहीं है। हमें धर्म का फल कोई और नहीं देगा कि हम उसे जतावें कि हम धर्म कर रहे हैं। दूसरे यह जानकर कि हम तप कर रहे हैं, हमारा सम्मान कर सकते हैं। किन्तु यह सम्मान तप का फल नहीं है, तप का फल तो आत्मशुद्धि है। राजस व्यक्ति महत्वाकांक्षी होता है। आत्मशुद्धि जैसी सूक्ष्म चीज तो उसकी पकड़ में आती नहीं, दूसरों के द्वारा किया गया सम्मान ही उसे दिखाई पड़ता है। अतः वह तप के वास्तविक फल से चूक जाता है। तप तो किया जाता है अहंकार-विसर्जन के लिए और राजसी व्यक्ति का तप उसके अहंकार को बढ़ा देता है। गीता कहती है कि राजस व्यक्ति का तप क्षणिक फल ही देता है अथवा वह फल भी कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता। कुछ तप तो ऐसे हैं जो राजस व्यक्ति के द्वारा हो ही नहीं सकते क्योंकि उनका प्रदर्शन करना कठिन है। उदाहरणतः ऋजुता का तो प्रदर्शन भी राजस व्यक्ति कठिनता से ही कर पाएगा। इसी प्रकार भावशुद्धि मानस तप है किन्तु भावशुद्धि ऐसी सूक्ष्म आन्तरिक क्रिया है कि उसका प्रदर्शन प्रायः असम्भव है। राजस व्यक्ति देवपूजा जैसी क्रियाओं का ही दिखावा कर सकता है क्योंकि इनका स्थूल रूप है।

भोगपरक और योगपरक प्रवृत्ति

भोगपरक और योगपरक प्रवृत्ति तप के साथ हमारे मन में कष्ट की अवधारणा जुड़ी है। हम समझते हैं कि तप करेंगे तो कष्ट तो होगा ही। किन्तु गीता आत्म-पीड़न को तामस तप कहती है। गीता तो मन की प्रसन्नता को मानसिक तपों में गिनती है। फिर कष्ट का तप से कोई सम्बन्ध कैसे हो सकता है? वस्तुस्थिति यह है कि जिसकी प्रवृत्ति भोगपरक है उसे सहज ही सभी योगपरक प्रवृत्ति कष्टप्रद प्रतीत होती है। इसलिए वह घोषणा कर देता है कि तप में कष्ट है। यह भोगी की दृष्टि है। योगी तो तप द्वारा अपनी शुद्धि होती देखकर प्रसन्न ही होता है। सर्दी में स्नान करने में शरीर ठिठुर सकता है। किन्तु जिसकी दृष्टि शरीर का मैल दूर करने पर है वह स्नान करने के कष्ट को कष्ट नहीं मानता अपितु शरीर का मैल दूर हट जाने से हल्केपन और प्रफुल्लता का ही अनुभव करता है। तप आन्तरिक शुद्धि करता है और प्रफुल्लता देता है किन्तु तामसिक व्यक्ति के लिए आन्तरिक शुद्धि इष्ट ही नहीं है, अतः उसे तप पीड़ाप्रद ही लगता है।

मूल तथा अनुवाद

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दान देना चाहिये, ऐसा मान कर जो दान देश, काल तथा पात्र को प्रत्युपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है वह दान सात्विक माना जाता है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान दुःख मानकर प्रत्युपकार के लिए या फल को दृष्टि में रखकर दिया जाता है वह दान राजस कहलाता है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान बिना सत्कार के अपमानपूर्वक अयोग्य देश-काल में कुपात्र को दिया जाता है वह तामस माना गया है ॥२२॥

विपुल-भाष्य

सदा करणीय कर्म

देश, काल तथा पात्र का विचार करके दिया गया दान भी राजस हो जाता है यदि मन में यह विचार रहे कि यह दान तो मैं शास्त्र की आज्ञानुसार दे रहा हूँ अतः अवश्य ही फल मिलेगा।

दान में धन का त्याग करना पड़ता है। धन हमें प्रिय होता है। अतः उसका त्याग कष्टप्रद लगता है। ऐसा कष्ट पाकर दिया गया दान राजस ही होगा क्योंकि यद्यपि हमने धन तो दिया पर धन के प्रति हमारी आसक्ति बनी रही। अतः दान वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ।

यदि देशकाल का विचार किए बिना कुपात्र को अपमानपूर्वक दिया जाए तो वह दान तामस कहलायेगा। दान के दो रूप हैं – आध्यात्मिक और सामाजिक। आध्यात्मिक दृष्टि से तो दान सम्मानपूर्वक ही देना चाहिए। उसी से आत्मा की शुद्धि होती है। किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी धन का संविभाग महत्त्वपूर्ण है। इसलिए श्रुति ने कह दिया कि देना चाहिए, भले ही भय-वश या लज्जा-वश ही क्यों न दिया जाये – **भिया देयं ह्रिया देयम्।** यह सामाजिक दृष्टि है। सब दे रहे हैं, मैं न दूँगा तो लोग क्या समझेंगे – यह मानकर लोकलाज से भी दिया जाए तो लेने वाले की आवश्यकता की तो पूर्ति हो ही जाती है। अतः सामाजिक दृष्टि से ऐसा दान भी देय है। गीता कहती है कि ऐसा दान देय होने पर भी तामसिक ही कहलायेगा।

तामसिक यज्ञ हो अथवा तप अथवा दान यद्यपि उससे कुछ न कुछ लौकिक प्रयोजन तो सिद्ध हो जाता है तथापि आत्मा का पतन ही होता है, अतः उन्हें आसुरी सम्पत्ति कहा गया है। वह अधोगति का कारण है। वह सम्पत्ति है, लौकिक प्रयोजन की साधिका है, किन्तु आत्मपतन का कारण होने से आसुरी है।

मनुष्य-सुलभ राजस-वृत्ति

राजस-वृत्ति मनुष्य-सुलभ है। सर्वथा अहंकार तथा फलासक्ति से मुक्त होना कठिन है। अतः राजसी वृत्ति मनुष्यलोक की प्राप्ति कराती है।

दैवी-सम्पत् तो सात्त्विक वृत्ति ही है, जहाँ न अहंकार है, न फलासक्ति। यह वृत्ति न केवल स्वर्ग-प्राप्ति का हेतु है प्रत्युत परम्परया मोक्ष का कारण भी है। अतः साधक को सात्त्विक वृत्ति का ही आश्रय लेना चाहिए। सात्त्विक वृत्ति लौकिक अभ्युदय का कारण होने से सम्पत्ति तो है ही। आत्मोत्थान का कारण होने से वह दैवी भी है।

वैदिक दृष्टि में व्यक्ति के समान ही समाज भी महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद के एक सूक्त में दान की महिमा बहुत विस्तार से बतायी है। कहा गया है कि मृत्यु तो उसे भी आती है जिसके पास विपुल भोजन है किन्तु जो दूसरों को देता नहीं है। समय आने पर उसकी कोई सहायता नहीं करता। जो निर्बल के प्रति क्रूर होकर उसकी सहायता नहीं करता, उसे कोई भी सुख नहीं मिलता। जो उदारतापूर्वक दान देता है, उसके सब मित्र हो जाते हैं। जो मित्र की सहायता न करे वह मित्र नहीं है। धन तो रथ के पहिये की तरह घूमता है कभी एक के पास जाता है, कभी दूसरे के पास।

जो समझदार नहीं है उसका वैभव व्यर्थ है। सत्य तो यह है कि उसका वैभव उसकी मृत्यु ही है। जो मित्र की सहायता नहीं करता, जो अकेले ही सुख भोगता है, वह वस्तुतः पाप ही भोगता है –

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

इसी भावना को गीता में इस प्रकार कहा गया है कि जो अपने लिए ही भोजन पकाता है, वह केवल पाप का ही भोग करता है – **भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।**

यज्ञ, दान तथा तप – ये तीनों कर्म सदा करणीय हैं। ये तीनों कर्म सत्कर्म हैं। किन्तु इन तीनों कर्मों के करने की एक विधि है। इन तीनों कर्मों को प्रारम्भ करते समय 'ओ३म् तत्सत्' इन तीन शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। इन तीन शब्दों का अर्थ यदि ध्यान में रहेगा तो ये तीन कर्म ही नहीं, कोई भी कर्म सत्कर्म बन जाएगा। इन तीन शब्दों का अर्थ बहुत गम्भीर और गौरवपूर्ण है। इन तीन शब्दों का आशय छूट जाए तो सभी कर्म असत् हो जाते हैं।

कहने को तो अन्य शब्दों के समान ही 'ओ३म् तत्सत्' भी तीन शब्द ही हैं किन्तु इनका अर्थ अत्यन्त रहस्यमय है। ये तीनों ब्रह्म के – परम तत्त्व के – वाचक हैं। वह परम तत्त्व ही समस्त ब्रह्मज्ञानियों, वेदों और यज्ञों का मूल उद्‌गम स्रोत है।

प्रथम ओ३म् को लें। ओ३म् में तीन अक्षर हैं – अ, उ, म्। ये तीन अक्षर पूरी त्रयी विद्या के प्रतीक हैं। गीता में तीन गुणों का विवरण है। यहाँ प्रसंगानुसार हम कह सकते हैं कि अ, उ, म् तीन गुणों के वाचक हैं – इनमें सारी प्रकृति आ जाती है। अ, उ, म् के उच्चारण के अनन्तर एक अनक्षर गूँज जैसी ध्वनि शेष रह जाती है जो मौन में जाकर सम्पन्न होती है। यह चतुर्थ अनक्षर मौन गुणातीत पुरुष का प्रतीक है। इस प्रकार ओ३म् में प्रकृति-पुरुष दोनों समाहित हैं। जितने भारतीय मूल के धर्म हैं – वैदिक, जैन, बौद्ध तथा सिक्ख – वे सभी ओ३म् को स्वीकार करते हैं, यद्यपि अन्यान्य विषयों पर उनका गहरा मतभेद है। यह तथ्य ओ३म् की महिमा को प्रकट करता है। गीता कहती है कि यज्ञ, दान और तप कुछ भी किया जाए, उससे पहले ओ३म् का उच्चारण अवश्य कर लें। इससे हमें यह ध्यान में आ जाएगा कि हम पूरे अस्तित्व से जुड़े हैं। हम और हमारा कर्म अस्तित्व से जुड़े हैं। हम और हमारा कर्म अस्तित्व के सागर में उठी एक लहर है – जो कल तक नहीं थी और आने वाले कल में नहीं रहेगी। इससे अधिक न हम हैं, न हमारा कर्म। हम और हमारा कर्म क्षणभंगुर है। न अपना अहंकार, न अपने कर्म का अहंकार –

जाना है, रहना नहीं, जाना बिस्वा बीस।
सहजो तनिक सुहाग पर क्या गुँथवाये सीस?

मृत्यु और अमृत

तब सत्य क्या है? बौद्ध धर्म संसार की क्षणभंगुरता पर ही रुक गया। संसार की क्षणभंगुरता वैदिक धर्म की दृष्टि में भी आई कि जगती में सब कुछ जगत् – गमनशील है – जगत्यां जगत्। एक परमाणु भी एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं है। किन्तु साथ ही वैदिक दृष्टि ने इस क्षणभंगुरता में – मृत्यु में – ओतप्रोत अमृत तत्त्व को भी देखा।

यही वैदिक दृष्टि की बौद्ध दृष्टि से विशेषता है। बौद्ध शून्य पर पहुंचे, वेद ब्रह्म पर पहुँचे, चले दोनों संसार की क्षणभंगुरता से। जो सत्य है उसका कोई नाम नहीं है, इसलिए उसे एक सर्वनाम् – तत् – से कहा गया। उसका कोई नाम नहीं, और सभी नाम उसके हैं। अतः उसे सर्वनाम से कहा। वहाँ न 'मैं' न 'तू', वहाँ 'वह' है। 'वह' में न 'मैं' है, न 'तू'। 'मैं' और 'तू' का द्वैत 'वह' के अद्वैत में विलय हो जाता है। 'मैं' भी चला जाता है, 'तू' भी चला जाता है, किन्तु 'वह' सदा रहता है। इसलिए वह ही सत्य है – तत्सत्।

कर्म के पहले 'तत्' कहने का अभिप्राय है – क्षणभंगुर व्यक्ति क्षणभंगुर कर्म से क्षणभंगुर फल की आकाङ्क्षा करे – यह अविचारित रमणीय है; विचार करें तो इस आकाङ्क्षा की निस्सारता और व्यर्थता स्पष्ट हो जाती है। कौन कर्त्ता सदा रहा, कौन कर्म सदा रहता है और कौन कर्मफल सदा रहा जिसके लिए 'तू तू-मैं मैं' हो रही है? पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात। आकाश में मेघों से बना शहर, जिसे गन्धर्वनगर कहा जाता है, देखते-देखते ही विलीन हो जाता है। हमारे सपनों का महल भी तो गन्धर्वनगर ही है। हमारे सभी कर्मों के सभी अभीष्ट फल हमें मिल भी जायें तो वे फल कितने समय टिकेंगे?

कर्म और फल

'तत्' पर ध्यान टिकायेंगे तो फल तुच्छ नजर आयेगा, फल से हट कर हमारी दृष्टि उस पर जाएगी जो स्थायी है; यह विराट् अस्तित्व जिसका न आदि है, न अन्त। फल पर से दृष्टि हटी तो क्षणभंगुरता से मुक्त हुए और 'तत्' पर दृष्टि टिकी तो अमृत्व को प्राप्त हुए। यही मोक्ष है। इस दृष्टि से किए गए कर्म भी मोक्षदायक हो जाते हैं। कर्मफल 'एतत्' है, प्रत्यक्ष है; परमात्मा 'तत्' है, परोक्ष है। प्रत्यक्ष तो मृत्यु ही है; अमृतत्व कहाँ दिखता है, वह तो परोक्ष है। लेकिन मृत्यु में हीं अमृतत्व है – मृत्यावमृतमाहितम्। परमात्मा कहीं ऊपर आकाश में नहीं बैठा है, कण-कण में व्याप्त है – **ईशावास्यमिदं सर्वम्।** नश्वर कर्म फल से अपनी दृष्टि मोड़ने की आवश्यकता है, फिर शाश्वत अनाद्यनन्त अस्तित्व का संगीत सुनायी पड़ने लगता है जिसे ब्रह्मानन्द कहा जाता है। यह संगीत हमारे हर कर्म में ओत-प्रोत हो जाता है और हमारा हर कर्म तत् से जुड़ कर सत् हो जाता है – **यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोस्तवाराधनम्।** जो कहा जाता है कि कर्म ही पूजा है, वह ऐसे कर्म के लिए ही कहा जाता है। क्षणिक भोगविलास की इच्छा से प्रेरित होकर किए गए कर्म पूजा नहीं हैं, बन्धन हैं।

मूल तथा अनुवाद

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३॥

ओ३म् तत्सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम है। उसने सबसे पहले ब्राह्मण, वेद और यज्ञ बनाये॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥२४॥

इसलिये ब्रह्मवादी विधिपूर्वक यज्ञ, दान और तप की क्रिया सदा ॐ का उच्चारण करके प्रारम्भ करते हैं॥२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥२५॥

तत् (वह परमात्मा), (परमात्मा ही सब है) इस प्रकार फल की इच्छा न करके मुमुक्षुओं द्वारा नाना यज्ञ, तप और दान की क्रियायें की जाती हैं॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥२६॥

सत् यह शब्द, सत्य और श्रेष्ठ के लिये प्रयुक्त होता है। हे पार्थ! उत्तम कर्म के अर्थ में भी सत् शब्द का प्रयोग होता है॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥२७॥

यज्ञ, तप और दान में लगना भी सत् कहलाता है तथा उस (परमात्मा) के लिए किया हुआ कर्म भी सत् कहलाता है॥२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

हे अर्जुन! बिना श्रद्धा के किया गया यज्ञ, दान और तप और जो कुछ भी और कर्म है वह असत् कहलाता है। जो न यहाँ काम का है, न मरने के बाद॥२८॥

विपुल-भाष्य

ब्रह्म का त्रिविध निर्देश

सत् शब्द अस्तित्व को भी बताता है और श्रेष्ठता को भी बताता है। जो अस्तित्व से जुड़ा है, वही श्रेष्ठ है; जो तत् है, वही सत्य है। कौन सा कर्म करना और कौन सा कर्म नहीं करना – यह चिरन्तन काल से चले आने वाले प्रश्न हैं। इस प्रश्न के उत्तर में जो मतभेद है वे ही अनेकानेक सम्प्रदायों के जन्मदाता हैं। गीता ने इस प्रश्न के उत्तर में तीन शर्तें लगायीं। किसी कर्म को सत्कर्म होने के लिए प्रथम तो उस कर्म को सत् – शाश्वत – तत्व पर टिका होना चाहिए। जिस कर्म के करते समय परमात्मा का स्मरण नहीं हो, वह कर्म अत्यन्त तुच्छ लौकिक कामनाओं से जुड़कर हेय हो जाता है, भले ही वह कर्म शास्त्रोक्त ही क्यों न हो। दूसरे वह कर्म उदात्त उद्देश्य से किया जाए, किसी संकीर्ण स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं। तीसरे वह कर्म निन्दनीय न हो। यदि किसी कर्म के साथ ये तीन शर्तें पूरी होती हैं तो ही वह कर्म सत्कर्म बन पाता है। स्पष्ट है कि ऐसा कर्म सात्त्विक ही होगा, राजसी या तामसिक नहीं।

प्रतिकूल के प्रति भी अनुकूल

गीता कहती है कि सत्कर्म की ये तीनों शर्तें 'सत्' शब्द में ही समाहित हैं। सत् के तीन अर्थ हैं – सत्ता, साधुता और प्रशस्तता। जब हम 'ओ३म् तत्सत्' का उच्चारण करते हैं तो हम परमसत्ता से भी जुड़ते हैं, अपनी भावना को शुद्ध भी बनाते हैं और अपने कर्म की प्रशस्तता को भी ध्यान में रखते हैं। परमात्मा से जुड़ने का अर्थ है – कर्तृत्वाभिमान का विसर्जन। अहंकार भी बना रहे और परमात्मा का स्मरण भी हो – यह सम्भव नहीं है। परमात्मा के स्मरण का अर्थ ही है कि करने वाली कोई उच्च सत्ता है, हम केवल निमित्त हैं। साधुता का अर्थ है कि किसी भी स्थिति में किसी के अहित की कामना न की जाए। हमारे चारों ओर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति और व्यक्ति हैं। साधु किसी का अहित नहीं चाहता। अनुकूल के प्रति तो सभी अनुकूल होते हैं, किन्तु साधु प्रतिकूल के प्रति भी अनुकूल व्यवहार ही करता है।

प्रश्न होता है कि जब फल की आकाङ्क्षा ही नहीं करनी तो कर्म क्यों किया जाए? उत्तर है कि कर्म परमात्मा की प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर किए जाने चाहिए। फिर प्रश्न होता है कि नश्वर कर्म अनश्वर परमात्मा की प्राप्ति कैसे करवा सकते हैं? उत्तर है कि कर्म का एक फल तो धन, पद आदि नश्वर है जिसका निषेध कर दिया गया है; कर्म का दूसरा फल अन्तःकरण की शुद्धि है, जो इष्ट है। यह अन्तःकरण की शुद्धि ही परमात्मा की प्राप्ति करवाती है।

इस विषय को थोड़ा समझना चाहिए। एक व्यक्ति कुछ भी नहीं करता – वह किस बात का अहंकार करेगा? यह तामसिक व्यक्ति है; अत्यन्त आलसी। इसका अहंकार ऐसा ही है जैसा शान्त जल की तलहटी में पड़ी हुई मिट्टी। जरा-सा जल हिले तो मिट्टी पानी में उभर आयेगी। इसे छेड़ दें तो इसका अहंकार उभरेगा, अन्यथा चुपचाप पड़ा रहेगा। यह अकर्मण्य व्यक्ति के अहंकार का रूप है। राजसिक व्यक्ति रात-दिन कर्म करता है। वह बहुत डींग हाँकता रहता है कि वह आराम करना जानता ही नहीं, वह तो सदा अपने कर्त्तव्य-पालन में लगा रहता है। यह अहंकार का जागृत रूप है।

अन्तःकरण की शुद्धि

एक व्यक्ति सात्त्विक है। वह मानता है कि करने वाला परमात्मा है। अतः दैवी प्रेरणानुसार वह कर्म करता है। किन्तु कर्तृत्व का भार वह परमात्मा पर डालता है, अपने अहंकार पर नहीं। न तो वह अकर्मण्य व्यक्ति की भांति दीन-हीन रहता है, हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त; न वह राजसी व्यक्ति की भांति गर्वोन्मत्त रहता है, श्रेष्ठता की ग्रन्थि से ग्रस्त। भारत आलस्य में पड़कर दीन-हीन हो गया और पश्चिम कर्मण्यता से गर्वोन्मत्त है। गीता के अनुसार दोनों गलत हैं। कर्म करें और अहंकार न करें – यही अन्तःकरण की शुद्धि का मार्ग है। तामसिक व्यक्ति का अहंकार दबा रहता है, राजसी का अहंकार जागृत रहता है; एक शान्त जल की तलहटी में पड़ी मिट्टी है, दूसरा विक्षिप्त जल का मटमैलापन है। सात्विक व्यक्ति ऐसे जल के समान है जिसकी मिट्टी ईश्वरार्पण – बुद्धि के वस्त्र से छान कर निकाल दी गयी है। निष्कर्षतः कर्मफल नहीं चाहिए तो कर्म क्यों किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर है कि अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करने चाहिये लौकिक फल-प्राप्ति के लिए नहीं।

गीता ने एक दूसरी महत्वपूर्ण घोषणा की कि ब्रह्म सत् है, कर्म क्षणभंगुर है किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के लिए किया गया कर्म भी सत् हो जाता है। लोहा अग्नि नहीं है किन्तु अग्नि में पड़ कर लोहा भी लाल होकर अग्नि ही बन जाता है। परमात्मप्राप्ति के लिए किया गया कर्म क्षणभंगुर होने पर भी सत् कहलाता है।

प्रश्न होगा कि इस प्रकार तो ब्रह्म और कर्म दोनों ही सत् हो गए, फिर असत् तो कुछ रहा ही नहीं? उत्तर है कि श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान और तप भी असत् हो जाते हैं, सामान्य कर्मों की तो बात ही क्या है। श्रद्धा का सम्बन्ध शास्त्रोक्त कर्मों से है। यदि हम कुछ करने वाले नहीं हैं, केवल निमित्त हैं – तो यह निर्णय कैसे होगा कि कौन से कर्म किए जायें? उत्तर यह है कि भगवान् ने अपनी इच्छा शास्त्रों के माध्यम से प्रकट की है। अब यदि हमें भगवान् की इच्छानुसार ही कर्म करने हैं, हमारी स्वयं की कोई इच्छा है ही नहीं तो इसका यह अर्थ हुआ कि हम शास्त्रोक्त कर्म ही करें। इसके लिए शास्त्रों में श्रद्धा होनी चाहिए। इस श्रद्धा के बिना यदि हम यज्ञ, दान अथवा तप भी करते हैं तो उसका अभीष्ट फल नहीं होगा। यह नहीं समझना चाहिए कि श्रद्धा के बिना हम यज्ञादि करेंगे ही क्यों। अपने माता-पितादि का मन रखने को अथवा लोक-प्रशंसा प्राप्त करने को भी यज्ञादि कर्म श्रद्धा न होने पर भी किए जाते हुए देखने में आते हैं। ऐसे कर्म केवल दिखावे के लिए होते हैं, उनका कोई फल नहीं होता। ये कर्म असत् हैं। अभिप्राय यह है कि शास्त्र विरुद्ध कर्म तो असत् हैं ही, शास्त्रोक्त कर्म भी तब ही सत् होते हैं, जब श्रद्धा-पूर्वक किए जायें।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टादशोऽध्यायः

मूल तथा अनुवाद

अर्जुन उवाच –

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥१॥

अर्जुन बोले –

हे महाबाहो ! अन्तर्यामिन वासुदेव ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को अलग-अलग जानना चाहता हूँ॥१॥

श्रीभगवानुवाच –

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥२॥

श्रीभगवान् बोले –

विज्ञजन काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं (एवम् अन्य) चिन्तक सभी कर्मों के फल के त्याग को संन्यास कहते हैं ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥३॥

कुछ मनीषी कहते हैं कि दोष-युक्त होने के कारण कर्मों को छोड़ देना चाहिये और दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिये॥३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥४॥

हे पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन ! त्याग के विषय में मेरी सम्मति सुनो। त्याग तीन प्रकार का है ॥४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥५॥

यज्ञ, दान और तप रूप कर्म छोड़ना नहीं चाहिये, अपितु करना ही चाहिये। यज्ञ, दान और तप ही मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं॥५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥६॥

हे पार्थ ! मेरा यह निश्चित उत्तम मत है कि (यज्ञ, दान और तप) तथा अन्य कर्म भी आसक्ति और फल को छोड़कर करने चाहिये ॥६॥

विपुल-भाष्य

संन्यास का तत्त्व

गीता के अठारहवें अध्याय का नाम मोक्ष-संन्यास योग है। यह उचित ही है। यह अठारहवाँ अध्याय गीता का अन्तिम अध्याय है और मोक्ष पुरुषार्थ तथा संन्यास आश्रम भी अन्तिम पुरुषार्थ तथा अन्तिम आश्रम है। अन्तिम अध्याय में अन्तिम पुरुषार्थ तथा अन्तिम आश्रम की चर्चा की जाए, यह सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

अर्जुन ने गीता के प्रारम्भ में भी भिक्षाचर्य्या द्वारा जीवन-यापन की इच्छा प्रकट की थी। वह इच्छा भी संन्यास की इच्छा का ही पर्याय थी। श्रीकृष्ण ने उस इच्छा का अनुमोदन नहीं किया क्योंकि वह इच्छा मोह से उत्पन्न हुई थी; अपने भाई-बन्धुओं के मरने-मारने से डरना मोह का परिणाम ही था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पूरी गीता में वह उपाय बताया कि किस प्रकार वह युद्ध करते हुए भी निष्पाप रह सकता है। संसार में रहते हुए भी मनुष्य मुक्त हो सकता है – यही गीता का विशिष्ट सन्देश है। वस्तुतः तो संसार से बाहर जाने का कोई उपाय है ही नहीं। हिमालय भी संसार का ही हिस्सा है, और असली संसार तो मन के अन्दर रहने वाले राग-द्वेष हैं; बाहर की स्थिति का नाम संसार नहीं है। राजर्षि जनक के लिए महल के भीतर भी संसार नहीं है, रागी के लिए हिमालय की गुफा में भी संसार भरा पड़ा है।

प्रश्न होता है कि फिर संन्यास का क्या अर्थ है? अर्जुन ने यही प्रश्न अठारहवें अध्याय में प्रारम्भ में श्रीकृष्ण के सम्मुख रखा कि संन्यास का तत्त्व क्या है और त्याग का वास्तविक अर्थ क्या है।

चार प्रकार के संन्यास

प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने बहुत उदारता बरती और उन सभी अवधारणाओं का संन्यास में समावेश कर दिया जो अवधारणायें इस सम्बन्ध में हो सकती हैं; उन्होंने संन्यास की किसी भी अवधारणा का निषेध नहीं किया। इसका अर्थ इतना ही है संन्यास किसी एक प्रकार का ही हो – यह आवश्यक नहीं है तथापि उसकी मूलभूत पहचान इतनी है कि उसमें न कर्म के प्रति आसक्ति होती है, न कर्मफल की इच्छा। इन दो का अभाव हो तो साधक मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, यद्यपि उसके बाहरी आचरण में चार प्रकार की विविधता देखी जा सकती है –

(१) प्रथम संन्यासी वे हैं जो काम्य कर्मों को छोड़ देते हैं। जब कर्मफल की इच्छा ही नहीं है तो फिर काम्य कर्म किसलिए होंगे? नित्य-नैमित्तिक आवश्यक कर्म तो किसी से छूटते हैं नहीं, अतः आहारादि लौकिक दृष्टि से आवश्यक कर्म तथा सन्ध्या-गायत्री आदि शास्त्रों द्वारा अवश्य-कर्त्तव्यतया निर्धारित कर्म संन्यासी भी करता रहता है किन्तु ये कर्म उसे बाँधते नहीं क्योंकि इन कर्मों को वह 'कर्त्तव्यपालन के लिए कर्त्तव्य-पालन' की दृष्टि से करता है, किसी फल की कामना से नहीं। काम्य कर्म तो सदा किसी कामना से ही किए जाते हैं, यथा – पुत्रेष्टि पुत्र की कामना से ही किया जाता है अन्यथा उसे करने की आवश्यकता नहीं है। जब कामना नहीं रही तो काम्य कर्म भी नहीं रहे। यह संन्यास का प्रथम प्रकार है।

(२) दूसरे मत के अनुसार कर्म और कर्म में कोई भेद करना आवश्यक नहीं है। कर्म कोई भी हो, फल तो उसका होता ही है। कौन सा कर्म किया जाए, कौन सा छोड़ा जाये – यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण केवल यह है कि कर्म के फल की इच्छा छोड़ दी जाए, फिर कर्म कोई भी क्यों न हो।

(३) तीसरा मत है कि कर्म कोई भी हो, वह बाँधता है। अमुक कर्म अमुक प्रकार से अमुक समय में मुझे करना है – यह बन्धन तो हुआ ही। फिर कर्म में हिंसादि दोष भी संलग्न रहते हैं। अतः कर्म-मात्र को छोड़ देना संन्यास है।

(४) चौथा मत यह है कि तीन कर्म तो हमें कभी भी नहीं छोड़ने चाहिए – यज्ञ, दान और तप। यही श्रीकृष्ण का अपना मत भी है।

वस्तुस्थिति यह है कि उपर्युक्त चारों मतों में ही संन्यास का भाव आ गया है तथापि श्रीकृष्ण को चौथा मत अधिक पसन्द है। हम कह चुके हैं कि शास्त्रों में दो प्रकार के साधकों का उल्लेख है – क्षीणोदर्क और भूमोदर्क। क्षीणोदर्क साधक अपनी ही मुक्ति की चिन्ता करता है, भूमोदर्क साधक अपनी मुक्ति के साथ-साथ लोक-कल्याण का भी भाव रखता है। क्षीणोदर्क की तुलना बौद्ध धर्म के हीनयान से की जा सकती है और भूमोदर्क महायान का आदर्श है। जैन परम्परा का एकलविहारी मुनि क्षीणोदर्क है तथा तीर्थङ्कर-गणधर प्रभृति भूमोदर्क है। श्रीकृष्ण का झुकाव भूमोदर्क के प्रति है, क्षीणोदर्क के प्रति नहीं, यद्यपि क्षीणोदर्क भी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

क्षीणोदर्क उपर्युक्त मतों में से प्रथम तीन मतों के मानने वाले संन्यासी हैं जो या तो काम्य कर्म छोड़कर केवल नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हैं, फल की आकाङ्क्षा उन्हें नहीं है, या फिर वे केवल कर्म-फल छोड़ देते हैं, कर्म सभी प्रकार के करते रहते हैं या फिर वे कर्म मात्र को छोड़ने का आग्रह रखते हैं, यद्यपि ऐसा करना किसी के लिए सम्भव नहीं है।

दिव्यात्मा का प्रवेश

भूमोदर्क संन्यासी काम्य कर्म भी छोड़ देता है और कर्मफल की कामना भी छोड़ देता है किन्तु लोक कल्याण के कार्य नहीं छोड़ता। इसलिए वह श्रीकृष्ण के समान लोक-सङ्ग्रह भी करता है। ये लोक कल्याण के कार्य तीन भागों में समाविष्ट हो जाते हैं क्योंकि हमारे तीन ही शरीर हैं – स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर। स्थूल शरीर से दान, सूक्ष्म शरीर से तप तथा कारण शरीर से यज्ञ सम्पन्न होता है। दान द्वारा हम दूसरों के स्थूल शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करते हैं, तप से सूक्ष्म शरीर निर्मल होता है तथा यज्ञ से कारण शरीर में दिव्यात्मा का प्रवेश होता है। तीनों में ही कुछ न कुछ त्याग करना पड़ता है। यह त्याग यदि स्वार्थवश किया जाए तो बन्धन का कारण बन जाता है किन्तु यदि यही त्याग लोकोपकार के लिए किया जाए तो संसार का उपकार तो होता है किन्तु स्वयं को कर्म बाँध नहीं पाता। इस मार्ग को अपनाए बिना साधक क्षीणोदर्क तो हो सकता है किन्तु भूमोदर्क नहीं हो सकता।

गीता केवल ब्रह्मविद्या नहीं है, यह योगशास्त्र भी है; इसमें ज्ञानमार्ग का ही प्रतिपादन नहीं है, कर्मयोग का भी रहस्य उद्घाटित किया गया है। यज्ञादि श्रौतकर्म गृहस्थ के लिए हैं, संन्यासी के लिए नहीं – ऐसी मान्यता प्रसिद्ध है। किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण संन्यासी के लिए भी यज्ञ, दान तथा तप का विधान कर रहे हैं। यह उनकी संन्यास की अपनी मौलिक अवधारणा है।

प्रश्न हो सकता है कि संन्यासी के लिए यज्ञ को करणीय मानना तो शास्त्र विरुद्ध है – वह तो अग्नि का स्पर्श भी नहीं करता, फिर यज्ञ कैसे करेगा? इस सम्बन्ध में प्रथम तो श्रुति की यह आज्ञा विचारणीय है कि मनुष्य सौ वर्ष तक अर्थात् पूर्णायु पर्यन्त कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करे – कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। दूसरे शास्त्रों में यज्ञ के दो प्रकार बताए गए हैं – सोमयज्ञ जो कि स्वर्ग प्राप्ति का साधन है तथा चयन-यज्ञ जो कि मोक्ष का साधन है। यह विषय तकनीकी है और इसे समझने के लिए यज्ञ-विद्या के विस्तार में जाना होगा। अग्नि में सोम की आहुति सोमयज्ञ है, अग्नि पर अग्नि की चिति अग्निचयन है। अग्निचयन मोक्ष का हेतु है। अतः यज्ञ संन्यासी के लिए भी मोक्ष का साधन बन जाता है। यह शास्त्रीय पक्ष हुआ।

दूसरे यज्ञ की अवधारणा इतनी सङ्कीर्ण नहीं है जितनी कि प्रायः समझी जाती है। तैत्तिरीय आरण्यक कहता है, "आत्मा यजमान है, श्रद्धा यजमान-पत्नी है, शरीर समिधा है, वक्षस्थल वेदी है, हृदय यूप है, काम घृत है, मन्यु पशु है, तप अग्नि है, दम शांति है, वाक् दक्षिणा है, प्राण होता है, चक्षु उद्गाता है। मन अध्वर्यु है। श्रोत्र ब्रह्मा है। यावज्जीवन दीक्षा है। भोजन ही हवि है, पेय का पान ही सोमपान है, उठना-बैठना आदि क्रिया प्रवर्ग्य है, मुख आवाहनीय अग्नि है, प्रातः, मध्याह्न तथा सायं ही सवन है, रात-दिन दर्शपूर्ण मास है, पक्ष तथा मास चातुर्मास्य है, संवत्सर अहर्गण हैं, मरण अवभृथस्नान है। यह यावज्जीवन चलने वाला अग्निहोत्र सत्र है।"

अहिंसक यज्ञ का स्वरूप

यह वर्णन आत्म-याजी का है। संन्यासी इसी यज्ञ को करता है। गीता में यही यज्ञ अभिप्रेत है। यज्ञ की प्रक्रिया एक प्रतीक है उस कर्म का जो अपने लिए नहीं, संसार के उपकार के लिए होता है। भूमोदर्क साधक को यह यज्ञ छोड़ना नहीं है। शरीर की समिधा में तप की अग्नि प्रज्वलित कर हृदय के यूप से बाँधकर मन्यु रूपी पशु को आहुत करना अहिंसक यज्ञ का स्वरूप है।

तप विलासिता का त्याग है। विलासिता हमारी शक्तियों को क्षीण करती है, तप तेजस्विता को बढ़ाता है। उस तप का प्रयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए भी किया जा सकता है। वह तामसिक अथवा राजसी तप होगा। राक्षस इसी प्रकार का तप तथा यज्ञ भी करते थे। तप तथा यज्ञ से प्राप्त शक्ति का वे परपीड़न के लिए उपयोग करते थे।

वस्तुतः सभी त्याग तामस, राजस तथा सात्विक हो सकते हैं। तामसी व्यक्ति कुछ नहीं करना चाहता। एक परम्परा संन्यास का अर्थ कर्म का त्याग मानती है। यह परम्परा तामसी व्यक्ति को बहुत भाती है क्योंकि वह तो स्वभावतः ही काम नहीं करना चाहता। ऐसा व्यक्ति सहज ही संन्यास ले लेता है।

मूल तथा अनुवाद

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।७।।

नियत कर्मों का त्याग उचित नहीं है। मोहवश उनका त्याग तामस कहलाता है ।।७।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।८।।

सब कर्म दुःख रूप हैं, ऐसा मानकर शरीर के दुःख से डर कर जो कर्मों को छोड़ देता है वह राजस त्याग करके त्याग के फल को भी प्राप्त नहीं करता ।।८।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।९।।

हे अर्जुन ! जो कर्म अपना कर्त्तव्य समझकर आसक्ति और फल छोड़कर किया जाता है वही सात्विक माना गया है ।।९।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१०।।

वह बुद्धिमान् जो सत्त्वगुण से सम्पन्न है और जिसमें कोई संशय नहीं, न बुरे कर्मों से द्वेष करता है और न अच्छे कर्मों में आसक्त होता है ।।१०।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

शरीरधारी सब कर्मों को नहीं छोड़ सकता। जो कर्म के फल को छोड़ देता है वही त्यागी कहलाता है।।११।।

विपुल-भाष्य

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक

राजसी व्यक्ति भी त्याग करता है। राजसी व्यक्ति तामसी के ठीक विपरीत है; तामसी व्यक्ति कुछ भी नहीं करना चाहता, राजसी व्यक्ति को करने के लिए हर समय कुछ न कुछ चाहिए। कुछ करने में भी त्याग है; आराम छोड़कर ही कुछ किया जा सकता है। राजसी व्यक्ति नींद छोड़ता है। खाना-पीना भी छोड़ देता है। उसे हर समय काम चाहिए। वस्तुतः वह निश्चल बैठ नहीं सकता किन्तु अपनी चञ्चलता को छिपाने के लिए वह कर्मठता का आवरण ओढ़ लेता है। लोग उसकी प्रशंसा करते हैं कि वह अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाता, वह समय की कीमत जानता है, इत्यादि-इत्यादि। वस्तुस्थिति यह है कि वह निश्चल बैठ ही नहीं सकता। तम आवरण है तो रजोगुण विक्षिप्तता है। जैसे हम काई से ढके जल में अपना मुख नहीं देख सकते, तम के आवरण के कारण भी हम आत्मदर्शन नहीं कर सकते। जिस प्रकार निरन्तर हिलने वाले पानी में भी हमें अपना बिम्ब ठीक-ठीक नहीं दिखता उसी प्रकार रजोगुण से चलायमान चित्त में भी आत्मस्वरूप अविकृत रूप में नहीं दीखता। आवरण और विक्षेप के अतिरिक्त मल भी आत्मदर्शन में बाधक है। मैले पानी में भी हमें अपना बिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता।

गीता कहती है कि यज्ञ, दान और तप मनीषी को पवित्र कर देते हैं। मनीषी सत्त्वगुणी है। उसका त्याग इस गहरे बोध में से प्रकट होता है कि उसका कुछ है ही नहीं। उसका शरीर भी उसका नहीं, तो फिर दूसरी चीजों की तो बात ही क्या? उसका प्रत्येक कर्म यज्ञ की एक आहुति बन जाता है – **यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोस्तवाराधनम्**। सत्त्व का काम ज्ञान है। ज्ञान का फल त्याग है। त्याग का अर्थ न तो यह है कि भोगा न जाए, न यह है कि अपना कुछ किसी को दे दिया जाए। त्याग का अर्थ यह समझ है कि मेरा कुछ भी नहीं है। पदार्थ का इस समझ के साथ उपयोग किया जाए – **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**। शरीर तथा पदार्थों का दूसरों की सेवा में उपयोग दान है। इन्द्रियों तथा मन का ऐसा निग्रह कि उनके द्वारा सबका हित ही हो, किसी का अहित न हो, तप है। अपने समस्त कलुषों को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देना यज्ञ है – **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन**। इन तीन कर्मों को आसक्ति तथा फल की कामना छोड़कर करते रहना – श्रीकृष्ण की दृष्टि में संन्यासी के लिए भी हितकर है, फिर अस्मदादि गृहस्थों की तो बात ही क्या है?

प्रत्येक धर्म एक आचार-संहिता नियत करता है। उस आचार-संहिता में दिए गए कर्म नियत कर्म कहलाते हैं। वर्ण धर्म के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के कुछ कर्म नियत किए गए हैं। आश्रम धर्म के अंतर्गत प्रत्येक आश्रम के कुछ कर्म नियत हैं। शास्त्रों में दिए गए ये कर्म उपलक्षण हैं, वस्तुतः अभिप्राय तो उन कर्त्तव्य कर्मों से है जो किसी परिस्थिति विशेष में व्यक्ति को करने चाहिए। उदाहरणतः एक अध्यापक को अपनी कक्षा में अध्यापन करवाने के लिए जाने से पहले कक्षा में पढ़ाए जाने वाले विषय की तैयारी परिश्रमपूर्वक करनी चाहिए। यह उसका नियत कर्म हुआ। इसी प्रकार एक सैनिक को देश की रक्षा के लिए युद्ध करते समय अपनी जान बचाने के लिए कायरता का आश्रय नहीं लेना चाहिए, एक व्यापारी को अधिक लाभ के लालच में जमाखोरी नहीं करनी चाहिए, एक पहरेदार को रात के समय सो नहीं जाना चाहिए, इत्यादि-इत्यादि सब नियत कर्म हैं। आज की भाषा में इन्हें व्यावसायिक आचार-संहिता का भाग कह सकते हैं। गीता कहती है कि इन नियत कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है।

संसार में दो ही मार्ग हैं – राग का मार्ग और त्याग का मार्ग। राग का मार्ग सिखाना नहीं पड़ता – **सीख बिना नर सीखत हैं विषयादिक सेवन की चतुराई**। त्याग के मार्ग का उपदेश देना ही शास्त्र का कार्य है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि त्याग क्या है। प्रायः समझा जाता है कि घरबार छोड़ देना त्याग है। सभी आरण्यक पशु घर-बार छोड़े हुए ही हैं तो क्या ये त्यागी कहलाएँगे? किसी भी पशु के पास कोई रुपया पैसा नहीं रहता तो क्या वे त्यागी हो जाएँगे? वस्तुतः राग का त्याग, त्याग है।

कर्म की प्रकृति

राग के दो रूप हैं – सुख की इच्छा तथा दुःख का भय। पशु का घर-बार भी नहीं है और उसके पास रुपया-पैसा भी नहीं है किन्तु क्योंकि उसमें सुख की इच्छा और दुःख का भय है, अतः वह त्यागी नहीं है, रागी ही है। हम अपने नियत कर्म – लौकिक कर्त्तव्य – क्यों छोड़ देते हैं? या तो सुख की इच्छा से हम प्रमाद करते हैं या दुःख के भय से। एक तीसरा कारण आलस्य भी है। कर्त्तव्य कर्म के महत्व को न समझने के कारण आलस्यवश हम उन्हें नहीं करते।

एक विचित्र विसंगति है। भोगों के भोगने में दुःख है और कर्त्तव्य-कर्मों के नहीं करने में दुःख है। किन्तु हमें इससे उल्टी प्रतीति होती है – हमें भोगों को भोगने में सुख की प्रतीति होती है और कर्त्तव्य-कर्मों के करने में दुःख की प्रतीति होती है। अतः हम भोग तो भोगना चाहते हैं किन्तु कर्त्तव्य-कर्म नहीं करना चाहते। यही व्यक्ति के दुःख का कारण बन जाता है और यही समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में बाधक बन जाता है। जिस राष्ट्र के नागरिक भोग अधिक से अधिक भोगना चाहें और कर्म कम से कम करना चाहें, वह राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता। यह अधम मार्ग है। आज हम भारत में अधिकार अधिकाधिक पाना चाहते हैं और कर्त्तव्य कर्म कम से कम करना चाहते हैं। यही हमारी दरिद्रता का एकमात्र हेतु है। दूसरी ओर पश्चिम के विकसित देश इसलिए विकसित हो गए कि वहाँ का नागरिक भोग तो अधिकाधिक चाहता है किन्तु साथ ही अपने कर्त्तव्य कर्म भी अप्रमादपूर्वक कर रहा है। यह भी मध्यम मार्ग ही है, उत्तम नहीं। उत्तम मार्ग है कि भोगों के प्रति आसक्ति न हो और कर्त्तव्यों के प्रति जागरूकता भी हो। जिस राष्ट्र में यह हो जाएगा उस राष्ट्र में सम्पन्नता तो होगी किन्तु विलासिता नहीं होगी। अतः वहाँ सुख होगा किन्तु साथ ही मानसिक शान्ति भी होगी। यही उत्तम मार्ग है।

मोह के कारण किया गया कर्मों का त्याग तामस त्याग है। यह अधोगति का कारण है। मोह भी दो प्रकार का है – एक स्वाभाविक, दूसरा अर्जित। स्थूल शरीर तमोगुणी है। वह स्वभाव से ही श्रम नहीं करना चाहता, यह स्वाभाविक मोह हुआ। अर्जित मोह वह है जो हम शास्त्रों की गलत व्याख्या सुनकर यह धारणा बना लेते हैं कि कर्म करने से बंधन होता है, अतः कर्म नहीं करने चाहिए –

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए सबके दाता राम॥

दृष्टान्त सदा एकदेशीय होते हैं। संत मलूक का अभिप्राय तो यह है कि पशु-पक्षियों के बिना कुछ किए भी उनकी उदरपूर्ति की व्यवस्था होती है तो मनुष्य को पेट भरने की चिन्ता से ग्रस्त नहीं होना चाहिए। उनका यह अभिप्राय नहीं था कि मनुष्य को पुरुषार्थ नहीं करना चाहिए। दृष्टान्त द्वारा कहा यह जा रहा था कि उदर-पूर्ति कोई इतनी बड़ी बात नहीं कि मनुष्य उसकी चिन्ता में ही जिन्दगी भर घुलता रहे; सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की खोज भी उसकी चिन्ता का विषय होना चाहिए। दृष्टांत का यह अभिप्राय नहीं था कि मनुष्य को अजगर के समान रहना चाहिए किन्तु आलसी व्यक्ति इसमें से यही अर्थ निकाल लेगा। यह शास्त्र की दुर्व्याख्या हुई।

सभी कर्त्तव्य कर्म आपाततः दुःखप्रद प्रतीत होते हैं। यदि मनुष्य सहज ही उन कर्मों को कर लेता तो उनको उपदेश देने की आवश्यकता ही नहीं थी। उदाहरणतः कोई शास्त्र यह उपदेश नहीं देता कि भोजन करना चाहिए, सोना चाहिए, सामने शेर आ जाए तो भाग कर बचना चाहिए। ये कर्म तो मनुष्य स्वतः ही करता है, क्योंकि इन कर्मों में उसे सुख नजर आता है। उपदेश दिया जाता है कि सप्ताह में एक दिन उपवास करना चाहिए अथवा दिन में नहीं सोना चाहिए अथवा भय नहीं करना चाहिए इत्यादि। अब उपवास करने में अथवा ऊनोदरी करने में आपाततः तो कष्ट ही प्रतीत होगा किन्तु दूरदृष्टि से देखें तो उससे आत्मा का लाभ तो होगा ही, शरीर को भी लाभ होगा। कर्त्तव्य कर्म की प्रकृति ऐसी होती है कि वह तत्काल दुःखप्रद प्रतीत होता है किन्तु अन्ततोगत्वा सुखद होता है। शास्त्र यही समझाते हैं।

कई बार यह आपत्ति की जाती है कि कर्म अपना फल तत्काल क्यों नहीं दे देते। हम पाप आज करेंगे, उसका फल अगले जन्म में मिलेगा। यह ठीक नहीं है। फल तत्काल मिलना चाहिए। इसमें पहली बात तो यह समझने की है कि कोई बीज बोते ही फल नहीं देता। बीज आज बोते हैं, फल महीनों अथवा सालों बाद आता है। यह प्रकृति का नियम है। किन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि पाप-पुण्य के फल तत्काल मिलने लगें तो फिर पाप-पुण्य नाम की चीज ही नहीं रहेगी। झूठ बोलते ही जबान कटकर गिरने लगे तो फिर झूठ बोलना संभव ही न होगा क्योंकि झूठा तत्काल पकड़ा जाएगा और ऐसे झूठ का कोई अर्थ नहीं होता जो सामने वाले की पकड़ में आ जाए। सत्य बोलते ही घर में सोने की वर्षा हो जाए तो फिर कौन सत्य नहीं बोलेगा?

पाप-पुण्य की महिमा यही है कि पाप प्रारम्भ में सुखद प्रतीत होता है और पुण्य दुःखद, किन्तु पाप विपाक के समय दुःखद हो जाता है और पुण्य विपाक के समय सुखद हो जाता है। जिनकी दृष्टि परिणाम पर होती है वे पुण्य कर सकते हैं। अदूरदृष्टि को पुण्य कर्म नहीं सुहाता। पुण्य का ऐसा स्वभाव है, इसीलिए पुण्य श्लाघनीय है। यहाँ भी कुछ लोग ऐसा कुतर्क करते हैं कि शास्त्रों में ही तो संसार को दुःख रूप कहा गया है फिर हम दुःखद कर्मों को क्यों करें? शास्त्र में भोगों को दुःख बताया है न कि कर्त्तव्यों को।

दुःख के भय से कर्त्तव्यों को छोड़ना भी राजस त्याग ही है। दुःख सर्वथा हेय नहीं है, यदि दुःख सर्वथा हेय होता तो फिर तपस्या का कोई स्थान ही न होता। राग-द्वेष के कारण जो दुःख हमारी इच्छा के विरुद्ध हम पर आ पड़ते हैं, वे हेय हैं, किन्तु कर्त्तव्य कर्मों की पूर्ति के लिए जो दुःख हम स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं, वे तपस्या का अंग हैं। इसलिए बुद्धादि ने दुःखों से बचने के लिए गृहत्याग किया किन्तु उन्होंने अपने कर्त्तव्य कर्म नहीं छोड़े।

कर्त्तव्य कर्म करने में दुःख होता है तो फिर भी उन्हें क्यों किया जाए? कर्त्तव्य कर्मों के करने में होने वाला दुःख हमारे अन्तःकरण के मैल को धो देता है। अहंकार और आसक्ति अन्तःकरण के मैल हैं। 'मैंने पुण्य कार्य किया' यह अहंकार है, 'मुझे पुण्य से स्वर्ग मिलेगा' यह आसक्ति है। अहंकार ज्ञान से दूर होता है, आसक्ति भक्ति से जाती है। 'मैं कर्त्ता हूँ' यह अज्ञान है। आत्मा में कर्तृत्व है ही नहीं फिर मैं पुण्यों का करने वाला कौन ? यह ज्ञान होने पर अहंकार दूर हो जाता है। 'मुझे भगवान् सदा ही, अभी और यहीं प्राप्त है' भक्त का ऐसा भाव उसे भविष्य में स्वर्गादि मिलने के प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न होने देता। जिसके हाथ में हीरे हों, वह भला भविष्य में कंकर-पत्थर मिलने की आशा के प्रति क्यों आसक्त होने लगा? 'मैं कर्त्ता हूँ' इस अहंकार को और 'मुझे अनुकूल फल मिलेगा' इस आशा को छोड़ देने पर भी पुण्य कर्मों को न छोड़ना सात्विक त्याग है। अर्थात् त्याग का सम्बन्ध कर्म से नहीं, कर्त्ता के आन्तरिक भाव से है। हाँ, स्वरूपतः भी नियत कर्मों के अतिरिक्त निषिद्ध कर्मों का तो त्याग करना ही है। न कर्तृत्व का अहंकार है, न फल की आसक्ति फिर भी कर्त्तव्य भाव से नियत कर्म किए जाएँ – यह अन्तःकरण की निर्मलता का सूचक है। पुण्य में आसक्ति बुरी है, किन्तु स्वयं में पुण्य त्याज्य नहीं है। श्रीकृष्ण की यह खोज अनुपम है। इतनी बात तो स्वतःसिद्ध है कि जब शरीर है, कर्म छोड़ना संभव नहीं है। यदि हम दृढ़तापूर्वक आहारादि छोड़ भी दें तो भी श्वास-प्रश्वासादि स्वतः संचालित क्रियाएँ होती रहेंगी। शरीर प्रकृति का भाग है और प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। तीन गुणों में रजोगुण सदा प्रवृत्ति कराता रहता है। अतः प्रकृति का एक अणु भी एक क्षण भी गति किए बिना नहीं रह सकता। अतः हम कर्म छोड़ने की बात न सोचें। फिर कर्म करेंगे तो बंधन तो होगा ही। अतः बंधन से कैसे मुक्त हों? श्रीकृष्ण कहते हैं कि पुण्य करो किन्तु उसके प्रति आसक्ति न रखो, पाप मत करो किन्तु पाप के प्रति भी द्वेष मत रखो। राग-द्वेष तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पाप से द्वेष होगा तो पुण्य से राग हो ही जाएगा। यह राग बाँध लेगा। पुण्य भी बंधन बन जाएगा।

यहाँ संशय के लिए स्थान नहीं है। कर्म अच्छे हों या बुरे, प्रकृति के हैं। प्रकृति के कर्मों के प्रति मैं राग-द्वेष रखूँ यह अज्ञान है। मेधावी में यह संशय होता ही नहीं कि ये कर्म मेरे हैं। यह ज्ञान का फल है।

गीता का दर्शन व्यक्ति के लिए मुक्ति का मार्ग तो प्रशस्त करता है किन्तु समाज व्यवस्था को छिन्न-भिन्न नहीं करता। इस देश में प्राचीन काल से ही पूर्वमीमांसक संन्यास के विरोधी रहे हैं। उन्हें लगा कि संन्यासी सामाजिक

व्यवस्था को भंग करता है। संन्यासी का यह घोष कि पुण्य भी बंधन का कारण है – समाज कल्याण के कार्यों का प्रतिबंधक है। दूसरी ओर उत्तरमीमांसक अर्थात् वेदान्ती यह कहते रहे कि संन्यास के बिना मुक्ति ही नहीं है। दोनों अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। दोनों अपने-अपने पक्ष में श्रुति उद्धृत कर रहे हैं। पूर्वमीमांसक कह रहा है – **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** – पूरा सौ वर्ष का जीवन कर्म करते हुए बिताओ। वेदान्ती कह रहा है – **न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः** – न कर्म से, न सन्तान से, न धन से अमृतत्व केवल एक त्याग से मिलता है।

गीता दोनों श्रुतियों के विरोध का परिहार करते हुए कहती है – कर्म का त्याग, त्याग नहीं है और न यह संभव है; कर्मफल का त्याग ही त्याग है और वह संभव भी है –

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।

इस प्रकार गीता ने दोनों आपाततः विरोधी प्रतीत होने वाली श्रुतियों के विरोध का परिहार करके वास्तविक श्रौत मार्ग का दर्शन करा दिया। इसीलिए तो वैदिक परम्परा ने गीता को इतना अधिक महत्व दिया है। गीता वैदिक परम्परा के लिए सभी सम्प्रदायों में समान रूप से सम्मान पा गई।

परमात्मा पदार्थ नहीं

जैन परम्परा का एक पुराना नाम ही निर्ग्रन्थ है। यह ग्रन्थिभेद विवेकख्याति का फल है। विवेकख्याति का अर्थ है – प्रकृति और पुरुष के बीच भेद का ज्ञान। यह ज्ञान मार्ग है। इसे ही गीता में सांख्य कहा है –

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।

कर्मयोग इससे भिन्न है। कर्मयोगी कर्म में तो अधिकार मानता है; किन्तु फलासक्ति छोड़ देता है। उसका भाव रहता है कि कर्म मैंने कर दिया किन्तु फल भगवान् के आधीन है। बाँधती फलासक्ति है, कर्म नहीं। अतः जो कर्मयोगी फल के प्रति आसक्ति छोड़ देता है उसे भी कर्म नहीं बाँधते। अतः गीता में त्याग के दो अर्थ हैं। ज्ञानी के लिए त्याग का अर्थ है – कर्तृत्व के अहङ्कार का त्याग तथा कर्मयोगी के लिए त्याग का अर्थ है – फल के प्रति आसक्ति का त्याग। फल दोनों का एक ही है – कर्मबन्धन का अभाव।

कर्तृत्व का अहङ्कार और कर्म-फल के प्रति आसक्ति साधक के संस्कारों में एक खरोंच जैसी लगा देते हैं जिससे उसका व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। यही बन्धन है। कर्तृत्व के अहङ्कारी के चेहरे पर एक घमण्ड का अथवा दीनता का भाव झलकता है तथा कर्मफल के प्रति आसक्त व्यक्ति के चेहरे पर लोलुपता का भाव रहता है।

प्रश्न होता है कि जिसने अहङ्कार और आसक्ति को छोड़ दिया क्या उसे कर्मफल नहीं मिलेगा? देखने में आता है कि ज्ञानी को भी मान-अपमान, स्वास्थ्य-रुग्णता जैसी अनुकूलता-प्रतिकूलता आती रहती है। उत्तर यह है कि कर्म प्रकृतिकृत है और उसका फल भी प्रकृति में ही रहता है। ज्ञानी को रोग घेर सकता है किन्तु ज्ञानी उस रुग्णता को अपनी रुग्णता नहीं मान कर अपने शरीर अर्थात् प्रकृति की रुग्णता ही समझता है। अतः उसके शरीर में रोग रह सकता है किन्तु उसका अपना स्वरूप उस रुग्णता में भी स्वस्थ ही बना रहता है। यह ज्ञान का फल है। जब गीता ने कहा कि संन्यासी को कर्म-फल नहीं मिलता तो इसका यही अभिप्राय है कि कर्म अपना फल प्रकृति पर दिखा कर चला जाता है। संन्यासी उससे अप्रभावित ही रहता है। यह समस्या का स्थायी तथा सुनिश्चित समाधान है।

प्रायः साधक इस प्रक्रिया को कठिन समझकर यह निर्णय लेता है कि वह शुभ कर्म करके इष्ट फल प्राप्त करेगा। इस निर्णय में 'मैं शुभ कर्म करूँगा' यह अहङ्कार भी रहता है और 'इष्ट फल प्राप्त करूँगा' यह फलासक्ति भी रहती है। कठिनाई यह है कि शुभ कर्म करते हुए भी हमें कभी-कभी इष्ट फल नहीं मिलता और तब हमारी श्रद्धा शास्त्र पर से हट जाती है। यहाँ प्रथम तो मूल में यही भूल है कि प्रकृति के कर्म को हम अपना कर्म मान रहे हैं। दूसरी भूल यह है कि वर्तमान के ही शुभ कर्म को देखते हैं। अतीत के अशुभ कर्म तो हमें दिखाई देते नहीं। फल

हमें अतीत के अशुभ कर्म देते हैं और शिकायत हम यह करने लगते हैं कि हम शुभ कर्म कर रहे हैं फिर भी फल अनिष्ट मिल रहे हैं।

वस्तु स्थिति यह है कि कर्मफल का आधार प्रकृति है अतः वह हमारे आधीन नहीं। सारी भोग-सामग्री प्रकृति ही तो है। हम चाहते हैं कि वह हमें मिले। किन्तु प्रकृति तो हमारे आधीन है नहीं। हम सत्य को जानने का निर्णय ले लें तो कोई हमें रोक नहीं सकता; यदि कोई रोकता है तो यह कि हमारी सत्य की जिज्ञासा पूर्णतः तीव्र नहीं होती। जिज्ञासा को तीव्र बनाने में हम स्वाधीन हैं।

निष्कर्ष यह कि हम योग में स्वाधीन हैं, भोग की प्राप्ति में हम प्रारब्ध के आधीन हैं। जितनी तीव्र हमारी लालसा भोग-प्राप्ति की है, उतनी तीव्र जिज्ञासा सत्य को जानने की हो जाए तो भोग तो तीव्र लालसा के बावजूद प्राप्त नहीं होते किन्तु सत्य का साक्षात्कार तीव्र जिज्ञासा करने पर अवश्य हो जाएगा।

हम परमात्मा को भी प्राप्त करना चाहते हैं और भोगों को भी प्राप्त करना चाहते हैं अर्थात् हमने परमात्मा को भी भोग के अनेक पदार्थों में से एक पदार्थ समझ रखा है। परमात्मा पदार्थ का अत्यन्ताभाव है, पदार्थ नहीं है। उसे पदार्थ समझ कर प्राप्त नहीं किया जा सकता।

भोगों के द्वारा समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न इसीलिए स्थायी समाधान नहीं दे पाता कि कोई भी भोग सदा रहता नहीं। यदि भोग रह भी जाए तो भोगने की शक्ति नहीं रहती। यदि भोगने की शक्ति भी बनी रहे तो मृत्यु भोगों को छीन लेती है। परमात्मा तो हमें सदा से ही प्राप्त है और सदा ही प्राप्त रहने वाला है। वह हमारा अपना ही स्वरूप है।

भोगी को कर्मफल बाँधता है – यहाँ भी और परलोक में भी। त्यागी को कर्म फल न यहाँ बाँधता है, न ही परलोक में। इस अन्तर का कारण यह है कि यद्यपि प्रारब्धानुसार अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति दोनों को आती हैं – भोगी को भी, त्यागी को भी, किन्तु भोगी उस परिस्थिति में सुख-दुःख मानता है जबकि त्यागी उस परिस्थिति को प्रकृति में घटती हुई देखता तो है किन्तु अपने को प्रकृति से भिन्न मानने के कारण उस परिस्थिति से सुखी या दुःखी नहीं होता। यही मोक्ष है। यही संन्यास है। कर्म-बन्ध से बचने का यही एकमात्र उपाय है।

मूल तथा अनुवाद

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥१२॥

मरने के बाद जो त्यागी नहीं है उसे कर्मों का अच्छा, बुरा या मिश्रित फल मिलता है किन्तु संन्यासी को कभी भी (कर्म का फल) नहीं मिलता ॥१२॥

विपुल-भाष्य

कर्म बन्धन

हम कोई भी कर्म करें, उसका फल अवश्य होता है। न्यूटन ने इस तथ्य को भौतिक विज्ञान की भाषा में इस प्रकार कहा कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। गीता कहती है कि क्योंकि कर्म या तो अशुभ होता है या शुभ या शुभाशुभ, अतः उसके फल भी या तो अनिष्ट होते हैं या इष्ट या मिश्रित। किन्तु ये फल उसके लिए ही बन्धन बनते हैं जो त्यागी नहीं हैं, संन्यासी के लिए कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते –

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥

कर्म प्रकृति में होते हैं, आत्मा में नहीं क्योंकि कर्म रजोगुण का कार्य है और आत्मा तो गुणातीत है। अतः कर्म रजोगुण सहित त्रिगुणात्मिका प्रकृति में ही सम्भव है, गुणातीत आत्मा में नहीं। प्रकृति में क्योंकि तीनों ही गुण रहते हैं, अतः वस्तुतः कोई भी कर्म न पूर्णतः शुभ होता है न पूर्णतः अशुभ। अतः किसी भी कर्म का फल न पूर्णतः इष्ट होता है, न पूर्णतः अनिष्ट। सभी कर्मों का फल मिश्रित ही होता है। उदाहरणतः धन आने पर इष्टता की प्रतीति होती है किन्तु उस धन की सुरक्षा की चिन्ता भी साथ ही लग जाती है जो कि अनिष्ट है। तथापि जहाँ इष्टता की प्रधानता होती है उसे इष्ट तथा जहाँ अनिष्टता की प्रधानता होती है उसे अनिष्ट कह दिया जाता है। जहाँ इष्टता तथा अनिष्टता लगभग तुल्य-बल होती है उसे मिश्रित फल कह दिया जाता है। यह जिज्ञासा होती है कि क्या अनिष्ट फल से बचने का कोई उपाय है? इसी जिज्ञासा से धर्म तथा दर्शन का प्रादुर्भाव होता है – **दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।**

इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के लिए हम लौकिक उपाय बरतते हैं। उदाहरणतः रोग-निवृत्ति के लिए औषधोपचार किया जाता है किन्तु औषधि से भी कभी-कभी रोग शान्त नहीं होता और यदि एक बार शान्त हो भी जाए तो दुबारा हो जाता है; वही रोग न हो तो दूसरा रोग घेर लेता है। आजकल एलोपैथिक पद्धति से किए जाने वाले उपचार में तो प्रायः ऐसा और भी अधिक है। यह लौकिक उपाय की स्थिति है। अलौकिक उपाय – जप, तप, अनुष्ठान आदि की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है – **दृष्टवदानुश्रविकः।** मणि, मन्त्रादि रोग-शोक का निवारण तब ही कर पाते हैं जबकि सुख का प्रतिबन्धक कारण प्रबल न हो। यदि प्रतिबन्धक कारण प्रबल है तो अलौकिक उपाय भी विफल होते हुए देखे जाते हैं। उपाय आखिर उपाय है चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक। उपाय सदा ही सफल हो ऐसा नहीं होता। कारण यह है कि उपाय निर्बल हो और प्रतिबन्धक बलवान् हो तो उपाय सफल नहीं होगा। बड़े से बड़ा चिकित्सक अच्छा से अच्छा इलाज करता है फिर भी रोगी नहीं बचता तो इस कारण न हम चिकित्सक को दोष दे सकते हैं, न औषधि को। आयु शेष हो तो ही औषधि कारगर होगी, नहीं तो नहीं।

अलौकिक उपायों में जप, अनुष्ठान आदि का विधान शास्त्रों में है। हम जप, अनुष्ठान आदि करने पर भी यदि सफल न हों तो तत्काल शास्त्रों को मिथ्या घोषित कर देते हैं, यह नहीं विचारते कि चिकित्सा के विफल होने पर हम चिकित्साशास्त्र को मिथ्या घोषित क्यों नहीं करते? हम मानते हैं चिकित्साशास्त्र प्रयोग से सिद्ध है। समझना होगा कि शास्त्रोक्त विधियाँ भी प्रयोग-सिद्ध ही हैं, अन्यथा हजारों वर्षों तक कोई अन्धविश्वास नहीं चला करता। आयुर्वेद की अनेक मान्यताएँ आज एलोपैथी द्वारा प्रयोग करके सत्यापित की जा रही हैं। यह घुणाक्षर न्याय से नहीं हो सकता। आयुर्वेद के प्रवर्तकों ने भी वे खोजें प्रयोग से की होंगी यद्यपि उनके प्रयोग के ढंग दूसरे थे। वे अपनी मानसिक शक्ति का इतना विकास कर लेते थे कि पशु-पक्षियों पर प्रयोग करके किसी वनस्पति के गुण-दोष जानने की अपेक्षा वे अपने अतीन्द्रिय ज्ञान से ही तत्तद् वनस्पति के गुण-दोष जान लेते थे। आज हम अतीन्द्रिय ज्ञान पर विश्वास न करके, ऐन्द्रिक ज्ञान को ही वैज्ञानिक मानते हैं। शीघ्र ही वह समय आने वाला है कि हमें अतीन्द्रिय ज्ञान पर भी विश्वास करना होगा क्योंकि परा-मनोविज्ञान इस सम्बन्ध में गहरे अनुसंधान कर रहा है।

अस्तु, अब प्रस्तुत प्रसङ्ग यह है कि यदि लौकिक-अलौकिक दोनों ही प्रकार के उपाय एकान्तिक अर्थात् शत-प्रतिशत सफलता की गारण्टी नहीं दे सकते और न वे आत्यन्तिक ही हैं अर्थात् सदा के लिए ही समस्या का समाधान करते हैं तो फिर क्या हम सदा अनिश्चय की स्थिति में ही समस्याओं से भयभीत रहकर संघर्ष करते रहेंगे अथवा समाधान का कोई स्थायी उपाय भी है।

गीता का उत्तर है कि समस्याओं के समाधान का स्थायी तथा निश्चित उपाय तो संन्यास ही है। जो त्यागी नहीं है उसे तो अपने कर्म का इष्टानिष्ट फल भोगना ही होगा – यहाँ नहीं तो परलोक में या अगले जन्म में। त्याग अथवा संन्यास कैसे सब समस्याओं का स्थायी तथा निश्चित समाधान प्रस्तुत करेगा – यह समझने योग्य बात है, बल्कि कहना चाहिए कि संसार में वस्तुतः यही एक बात समझने योग्य है।

पहली बात – सभी कर्म प्रकृति में होते हैं, आत्मा में नहीं । मैं आत्मा हूँ, प्रकृति नहीं। अतः मैं कर्मों का कर्त्ता नहीं हूँ। इस समझ से कर्तृत्व का अहङ्कार समाप्त हो जाता है। कर्तृत्व के अहङ्कार समाप्त होने का अर्थ है – श्रेष्ठता अथवा हीनता की ग्रन्थि से मुक्त होना। अहङ्कार का शब्दार्थ है – मैंने किया, यह भाव। प्रायः हम अहङ्कार का अर्थ गर्व समझ लेते हैं। वस्तुतः अहङ्कार में गर्व के साथ दीनता-हीनता का भाव भी शामिल है। मैंने अच्छा किया, यह गर्व का भाव है, मैंने बुरा किया, यह हीनता का भाव है। मैंने किया, यह दोनों स्थितियों में है। मैंने किया ही नहीं, यह निरहङ्कारिता है – इसमें न गर्व का भाव है न हीनता का अर्थात् अहङ्कार गया तो श्रेष्ठता की ग्रन्थि भी गई, हीनता की ग्रन्थि भी गई। यह ग्रन्थि तब ही जाती है जब भेद स्पष्ट हो जाए। तब समस्त कर्म स्वतः झड़ जाते हैं। तब यह संशय भी नहीं रहता कि हम कर्म में सफल होंगे या नहीं –

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

जैन परम्परा में भी इसे ग्रन्थिभेद कहा गया है।

मूल तथा अनुवाद

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥१३॥

हे महाबाहो ! किसी कर्म को सम्पन्न होने के लिये कर्मों का अन्त करने वाले सांख्य ने पाँच कारण बताये हैं। उन्हें तुम मुझसे सुनो ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥

कर्मों की सिद्धि में उनका आधार, कर्त्ता, साधन, विविध चेष्टायें और दैव – ये पाँच कारण हैं ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

ठीक या गलत, मनुष्य शरीर, वाणी और मन से जो काम करता है, उसमें ये पाँच कारण हैं ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

ऐसी स्थिति में अपरिपक्व समझ होने के कारण जो केवल अपने को ही कर्त्ता समझता है वह मन्द बुद्धि ठीक नहीं समझता ॥१६॥

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥१७॥

जिसमें कर्त्तृत्व का अहंकार नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है वह प्राणियों को मार कर भी नहीं मारता और न बन्धन में पड़ता है ॥१७॥

विपुल-भाष्य

सांख्य दर्शन का सार

कर्म में सफलता भी मिले और कर्म बाँधे भी नहीं – यह हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। कर्म में सफलता नहीं मिलेगी तो हम दीन-हीन हो जाएँगे और कर्म बन्धन का कारण बन जाएगा तो सारी सुविधाएँ होने पर भी हम

सुखी नहीं हो पाएँगे। सांख्य दर्शन में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विस्तार से विचार किया गया है। उस विस्तार का सार यह है कि पुरुष निर्विकार है। सब विकार प्रकृति में हैं। प्रकृति में अनेक क्रियाएँ हो रही हैं। स्वयं पृथ्वी सूर्य के चारों ओर निरन्तर चक्कर लगा रही है। वायु निरन्तर बह रही है। यही नहीं, एक परमाणु में भी पार्टिकल्स इतनी तेजी से घूम रहे हैं कि जिसकी कल्पना करना भी दुष्कर है। प्रकृति का एक कण भी एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं रह सकता। किन्तु प्रकृति इन क्रियाओं से बँधती नहीं है। जो जिसका स्वभाव है, वह उसके लिए बंधन का कारण नहीं बनता। प्रकृति के पास यह विकल्प नहीं है कि वह क्रिया करे या न करे, रजोगुण उसे सक्रिय ही बनाए रखेगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि पुरुष के पास भी यह विकल्प नहीं है कि वह क्रिया करे या न करे क्योंकि उसमें जानने की शक्ति है, क्रिया करने की नहीं। स्पष्ट है कि न प्रकृति के पास यह विकल्प है कि वह क्रिया न करे, न पुरुष के पास यह विकल्प है कि वह क्रिया करे। जहाँ विकल्प न हो वहाँ पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं होता। न प्रकृति को कुछ करने में पाप-पुण्य होता हैं, न पुरुष को कुछ करने में पाप-पुण्य होता है, न पुरुष को कुछ न करने में पाप-पुण्य होता है। यह सांख्य दर्शन की स्थिति है।

पुरुष के पास चेतन होने के नाते यह विकल्प अवश्य है कि वह पुरुष और प्रकृति के उपयुर्क्त स्वरूप को समझ कर या तो विवेक करे या यह विवेक न करके अज्ञानवश प्रकृति की क्रियाओं को अपनी क्रिया मान ले। जैसे ही हम प्रकृति की क्रियाओं को अपनी क्रिया मानते हैं वैसे ही हम उस क्रिया से बँध जाते हैं। क्रिया से बँधने के दो आयाम हैं। प्रथम आयाम अहंकार है, दूसरा आयाम आसक्ति है। अहंकार के कारण हम या तो श्रेष्ठता की दृष्टि से ग्रस्त हो जाते हैं कि हमने कोई बहुत बड़ा या अच्छा काम कर दिया या फिर इस हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्त हो जाते हैं कि हमने कोई बुरा काम किया है। ये दोनों ही ग्रन्थियाँ पीड़ादायक हैं। आसक्ति का यह फल होता है कि यदि हम सफल हो गए तो मदमत्त हो जाते हैं और विफल हो गए तो कुंठाग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए यह समझना आवश्यक है कि किसी भी क्रिया में पाँच हेतु होते हैं। क्रिया का एक आधार होता है, दूसरा कर्त्ता, तीसरा साधन, चौथा चेष्टा और पाँचवाँ पूर्व संस्कार।

क्रिया का आधार शरीर है या वह प्रदेश है जिस प्रदेश में शरीर स्थित है। शरीर तथा प्रदेश दोनों ही प्रकृति हैं। ३सी प्रकार कर्त्ता भी प्रकृति ही है क्योंकि क्रिया का सामर्थ्य रजोगुण में है और रजोगुण प्रकृति में ही रहता है, निर्गुण पुरुष में नहीं रह सकता। कर्म का साधन पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं। ये सब भी प्रकृति के ही विकार हैं। इनके द्वारा ही सब चेष्टाएँ होती हैं। कर्मेन्द्रियाँ न हों तो भौतिक क्रिया नहीं हो सकती, ज्ञानेन्द्रियों के बिना ज्ञान नहीं हो सकता और मन, बुद्धि तथा अहंकार के बिना मानसिक व्यापार नहीं हो सकता। क्रिया का पाँचवाँ घटक दैव है। दैव का अर्थ है – संस्कार। कोई भी क्रिया अन्तःकरण पर पड़े हुए संस्कारों के बिना नहीं हो सकती। ये संस्कार भी प्रकृति के विकारभूत अन्तःकरण में ही रहते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कोई भी क्रिया जिन घटकों से सम्पन्न होती है वे सब घटक प्राकृतिक हैं, पौरुष नहीं।

हमारी क्रियाएँ शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक होती हैं। वे क्रियाएँ उचित भी हो सकती हैं और अनुचित भी, किन्तु उन सभी क्रियाओं में उपर्युक्त प्रकृति में पाँच घटक ही रहते हैं। शारीरिक क्रियाओं में शरीर प्रधान है जो आधार है, वाचिक क्रियाओं में वाक् प्रधान है जो साधन है और मानसिक क्रिया में मन प्रधान है जो अन्तःकरण है। ये सब प्रकृति के ही विकार हैं। पुरुष इन सभी क्रियाओं में केवल साक्षी रहता है।

संसार के रंगमंच पर प्रकृति-नटी के ही सब पात्र क्रियाएँ कर रहे हैं। पुरुष केवल दर्शक है किन्तु जैसे नाटक में दर्शक नाटक में दिखाए जाने वाले अनुकूल-प्रतिकूल दृश्यों के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध जोड़कर हँसकर या रो कर अपने सुख या दुःख को अभिव्यक्त करता है उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृति के कार्यों से अपना सम्बन्ध जोड़कर सुखी या दुःखी होता रहता है। अन्तर इतना है कि नाटक में दर्शक नाटक के दृश्यों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेने पर भी मन में यह जानता है कि उन दृश्यों की अनुकूलता या प्रतिकूलता से वस्तुतः उसका कोई सम्बन्ध है ही नहीं। इस

ज्ञान के कारण नाटक के दृश्यों से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख भले ही ऊपरी तौर पर उसमें दिखाई दें किन्तु आन्तरिक रूप से तो वह आनन्दित ही रहता है। यह दृष्टा होने का फल है। इसी प्रकार ज्ञानी प्रकृति के दृश्यों को देखकर ऊपर से भले ही सुख या दुःख भी अभिव्यक्त कर दे किन्तु अन्दर से वह आनन्दित ही रहता है। इसके विपरीत अज्ञानी नाटक का पात्र न होने पर भी अपने आपको सचमुच ही प्रकृति के नाटक का पात्र मान लेता है और प्रकृति में जन्म, मृत्यु आदि घटनाएँ होती हैं उनको अपना जन्म, मृत्यु मानकर सुखी-दुःखी होता रहता है।

प्रायः यह होता है कि जब कोई क्रिया हमारे अनुकूल होती है तब तो हम अपने आपको उसका कर्त्ता मान लेते हैं किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में हम दृष्टा बनने का प्रयत्न करते हैं। यह सम्भव नहीं हो सकता। जन्म में तो सुख मानें और मृत्यु पर दुःखी न हों – यह नहीं हो सकता।

मूल तथा अनुवाद

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥१८॥

कर्म की प्रेरणा, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; इन तीन से होती है तथा कर्म का संग्रह कर्त्ता, करण और क्रिया; इन तीन से होता है ॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

गुणों का विचार करने पर, गुणों के भेद से ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी तीन ही प्रकार के हो जाते हैं। उन्हें भी तुम मुझसे यथावत रूप में सुनो ॥१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

जिस ज्ञान में व्यक्ति अलग-अलग प्राणियों में एक अविनाशी भाव को अविभक्त रूप में देखता है उस ज्ञान को तुम सात्विक समझो ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१॥

जिस ज्ञान के द्वारा व्यक्ति सब प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को देखता है उस ज्ञान को तुम राजस समझो ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

जो ज्ञान एक शरीर को ही सब कुछ समझ कर उसमें आसक्त रहता है वह तर्क विरुद्ध, अतात्विक और तुच्छ ज्ञान तामस कहलाता है॥२२॥

ज्ञान के प्रकार

हमारे व्यक्तित्व के दो मुख्य घटक हैं – ज्ञान और कर्म। ज्ञान के तीन अंश हैं – ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता। कर्म के भी तीन अंश हैं – करण, कर्म और कर्त्ता। ज्ञान के तीनों अंश होने पर ही कर्म होता है। इसलिए इन तीनों को कर्म की प्रेरणा करने वाला बताया गया है। उदाहरणतः देवदत्त को भूख लगी तब उसे प्रथम भूख का ज्ञान हुआ

और वह उस ज्ञान का ज्ञाता हुआ। इसके अनन्तर वह भोजन के लिए प्रवृत्त हुआ, वह भोजन ज्ञेय हुआ। इस प्रकार ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता ने मिलकर कर्म की प्रेरणा दी।

इस कर्म की प्रेरणा से प्रेरित होकर जैसे ही देवदत्त में 'मैं भोजन करूँ' यह भाव उत्पन्न हुआ वैसे ही देवदत्त कर्त्ता बन गया जिसने भोजन प्राप्ति के साधनों के द्वारा भोजन करने की क्रिया की। भोजन करने की यह क्रिया कर्म हो गई।

यहाँ सूक्ष्म विवेक करने की आवश्यकता है। भोजन की क्रिया के तीन अंग हैं – शरीर, इन्द्रिय और भोज्य पदार्थ; ये तीनों ही प्रकृति हैं। हाथ के द्वारा मुख में भोजन डाला, रसना ने उसे चखा, हाथ कर्मेन्द्रिय है, रसना ज्ञानेन्द्रिय है। भोजन शरीर में गया। जठराग्नि ने भोजन को रस, रक्त, मांसादि में परिणत किया। भूख बुझी, शरीर पुष्ट हुआ। ये सब क्रियाएँ प्रकृति में हो रही हैं। देवदत्त आत्मा है; आत्मा में इनमें से कोई भी क्रिया नहीं हुई, फिर भी अज्ञानवश देवदत्त ने भोजन की क्रिया का कर्ता अपने को मान लिया। इस मान्यता ने देवदत्त को कर्ता बना दिया और भोजन की क्रिया कर्म बन गई। यही कर्म बन्धन का कारण हुआ। यदि देवदत्त इस क्रिया को अपनी न मानता तो वह इस क्रिया का ज्ञाता तो रहता किन्तु कर्त्ता नहीं बनता। यदि वह कर्त्ता नहीं बनता तो फिर इस कर्म का अच्छा या बुरा फल भी उसे नहीं बाँधता। ऐसी स्थिति में देवदत्त निर्लिप्त ही रहता। वस्तुस्थिति तो यह है कि वह सदा ही निर्लिप्त है किन्तु अज्ञानवश अपने को कर्ता मानकर कर्मफल से जुड़ जाता है।

इस प्रकार गीता जहाँ एक ओर पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा के गुणातीत शुद्ध-बुद्ध स्वरूप का निरूपण करती है वहाँ दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान, कर्म और कर्ता के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद बताकर शुभ में प्रवृत्त होने की और अशुभ से निवृत्त होने की प्रेरणा भी देती है। ज्ञान, कर्म और कर्ता में सबसे अधिक सूक्ष्म ज्ञान ही है। अतः सर्वप्रथम ज्ञान के ही तीन भेद बताए गए हैं।

ज्ञान के बिना कोई कर्म नहीं होता, यदि ज्ञान सात्त्विक होगा तो कर्म स्वतः ही सात्त्विक होगा। इसलिए सर्वप्रथम सात्त्विक ज्ञान का ही निरूपण करते हुए गीता ने कहा कि जो ज्ञान पृथक्-पृथक् स्थित प्राणियों में अविभक्त-अविनाशी सत्ता को जानता है वह ज्ञान सात्त्विक है। प्राणियों की पृथक्ता तो प्रत्यक्ष गोचर है। वह तो पशुओं को भी दिखाई देती है। सात्त्विक ज्ञान की विशेषता यह है कि वह इस स्थूल अनेकता में ओत-प्रोत सूक्ष्म एकता को भी देख लेता है। अनेकता में एकता हमारे व्यवहार में भी दिखाई देती है। कोई व्यक्ति बचपन में किसी और प्रकार का होता है, यौवन तथा बुढ़ापे में किसी और प्रकार का। किन्तु इस विविधता के बीच भी हम यह जानते और मानते हैं कि वह व्यक्ति एक ही है, अनेक नहीं। एक ही व्यक्ति की विविधता में तो हम एकता को जान और मान लेते हैं किन्तु दो भिन्न व्यक्तियों के बीच एकता को हम नहीं देख पाते।

संसार दो भागों में विभक्त है – द्रष्टा और दृश्य। इसी कारण हमें द्वैत सत्य प्रतीत होता है। द्रष्टा उत्तम पुरुष है अर्थात् 'मैं' है और दृश्य मध्यम पुरुष अर्थात् 'तू' है। इन दोनों में जो दूर होता है वह अन्य पुरुष अर्थात् 'वह' हो जाता है। यही हमारी भेद बुद्धि का आधार है। किन्तु यह भेद केवल व्यावहारिक अर्थात् सापेक्ष है। जो मेरे लिए 'तू' है स्वयं उसके लिए वह 'मैं' है। वस्तुतः तो हम दोनों ही हैं। दोनों का अस्तित्व है अर्थात् दोनों में है-पना है। यह है-पना ही अपेक्षा भेद से कभी 'मैं' हो जाता है कभी 'तू' हो जाता है। निरपेक्ष रूप में तो न मैं, मैं हूँ; न तू, तू है, केवल अस्तित्व है। यह अस्तित्व ही परमात्मा है जो एक है और जो सब परिवर्तनशीलों में अपरिवर्तित रहने के कारण सत्य है। जो कभी हो और कभी न हो वह व्यावहारिक सत्य हो सकता है, पारमार्थिक सत्य तो वही है जो तीनों कालों में है।

विचार करें तो यह नित्य अस्तित्व ही अनेक रूप धारण करने के कारण विविध दिखाई देता है। अस्तित्व के अनेक रूपों में कोई अल्पजीवी है, कोई दीर्घजीवी किन्तु नित्य कोई भी नहीं है। ऐसी स्थिति में अस्थायी रूपों पर टिकी हुई विविधता को स्थायी अथवा सत्य कैसे माना जा सकता है? स्थायी तो अस्तित्व ही है और वह एक ही है

इसलिए एकता ही पारमार्थिक सत्य है। यदि अस्तित्व को स्थायी न मानेंगे तो असत् में परिणत हो जाने का अनिष्ट प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। निष्कर्ष यह है कि विविधता प्रतीयमान है, पारमार्थिक नहीं और अविभक्तता पारमार्थिक सत्य है। यह पारमार्थिक सत्य सूक्ष्म ज्ञान से ही जाना जा सकता है। यही सूक्ष्म ज्ञान सात्त्विक है।

जब तक प्राणियों में ओत-प्रोत एकता के साथ-साथ प्राणियों की विविधता भी दिखती रहती है तब तक ज्ञान सात्त्विक कहलाता है किन्तु जब केवल एकता दिखायी देने लगे और विविधता लुप्त ही हो जाए तो सब ओर ब्रह्म ही दिखायी देने लगता है।

दूसरी ओर राजस ज्ञान तो केवल विविधता को देखता है। राजस ज्ञान कर्म में प्रवृत्त करता है। कर्म और प्रवृत्ति बिना भेद-ज्ञान के हो ही नहीं सकती। भेद तो प्रकृति में है और प्रकृति में ही क्रिया होती है। अतः कर्म का आधार राजस ज्ञान ही है।

मूल तथा अनुवाद

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

जो कर्म विधिपूर्वक अनासक्त भाव से फल की इच्छा किये बिना तथा राग-द्वेष के बिना किया जाता है वह सात्त्विक कहलाता है ।।२३।।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

जो कर्म बहुत परिश्रम से भोगों की इच्छा से तथा अहंकारपूर्वक किया जाता है, वह कर्म राजस कहलाता है ।।२४।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

जो कर्म परिणाम, नाश और हिंसा तथा सामर्थ्य का विचार न करके मोहवश किया जाता है, वह तामस कहलाता है ।।२५।।

विपुल-भाष्य

जैसा ज्ञान, वैसा कर्म

द्वैत का एक स्वाभाविक फल है कि जो हमें दो के बीच तुलना में उत्तम प्रतीत होता है उसके प्रति हमारे मन में राग उत्पन्न हो जाता है और जो निकृष्ट प्रतीत होता है, उसके लिए हमारे मन में द्वेष उत्पन्न हो जाता है। यह राग-द्वेष हमें तत्त्वज्ञान से दूर ले जाता है। अनेकत्व की प्रतीति होने के कारण रजोगुण चित्त को चंचल ही रखता है। यह चंचलता भी सत्य का दर्शन नहीं होने देती।

राजस ज्ञान में इतनी कमी होने पर भी उत्कृष्टता, गुणवत्ता और पुण्य के प्रति आकर्षण बना रहता है। किन्तु तामस ज्ञान में मनुष्य की दूरदृष्टि लुप्त हो जाती है। वह अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए सत्य की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। वह अपने शरीर और शरीर के सुख के सामने अपनों की भी उपेक्षा कर देता है और इसलिए उसे इतनी स्थूल बात भी समझ में नहीं आती कि समाज में सबके लौकिक सुख भी आपस में एक दूसरे से जुड़े हैं। इस कारण वह किसी का अहित करने में हिचकिचाता नहीं है, भले ही इसमें उसका स्वयं का भी अहित क्यों न हो जाए।

इस प्रकार सात्त्विक ज्ञान में 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं रहता, राजसी ज्ञान में 'मैं' और 'तू' दोनों रहते हैं किन्तु तामसी ज्ञान में केवल 'मैं' ही रह जाता है अर्थात् केवल अपना ही संकीर्ण स्वार्थ। इन तीन प्रकार के ज्ञानों से तीन ही प्रकार के कर्म फलित होते हैं।

जैसा ज्ञान होगा वैसा कर्म होगा, ज्ञान सात्त्विक तो कर्म भी सात्त्विक, ज्ञान राजस तो कर्म भी राजस, ज्ञान तामस तो कर्म भी तामस। वेद की त्रयी देवों की त्रयी से सम्बद्ध है। अग्नि से ऋक् का, वायु से यजु का तथा आदित्य से साम का सम्बन्ध है। दूसरी ओर ऋक् से मूर्त्त पदार्थ, वायु से गति तथा साम से तेज अथवा ज्ञान उत्पन्न होता है। यह मूर्त्त पदार्थ ही तमोगुण है, गति ही रजोगुण है तथा ज्ञान ही सत्त्वगुण है। इन तीन गुणों का विवेचन सांख्य दर्शन में हुआ। इस प्रकार सांख्य दर्शन का आधार पूर्णतः वैदिक है। यह हम इसलिए कह रहे हैं कि कई विद्वानों ने सांख्य का मूल वेदेतर बताने का प्रयत्न किया है। त्रिगुण का सिद्धान्त, जो कि सांख्य दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है, स्पष्ट रूप से अथर्ववेद संहिता में उल्लिखित है – **पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्** (अथर्ववेद १०.८.४३) अथर्ववेद के इसी त्रिगुण के सिद्धान्त का आधार लेकर अथर्ववेद के उपवेद, आयुर्वेद में पित्त, वात तथा कफ का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ।

गीता के अष्टादश अध्याय में नामोल्लेखपूर्वक सांख्य को आधार बना कर इस त्रिगुण सिद्धान्त का ऐसा विस्तार किया गया कि पूरा जीवन-दर्शन ही इस विवेचन में समाहित हो गया। यह गीता का अपना मौलिक योगदान है।

सात्त्विक ज्ञान का लक्षण है – **विविधता में एकत्व की अनुभूति।** समस्त राग-द्वेष द्वैत से फलित होता है। श्रुति कहती है कि दूसरे से भय होता है – **द्वितीयाद्वै भयं भवति**। जहाँ कोई दूसरा है ही नहीं वहाँ कोई किससे डरेगा। सात्त्विक ज्ञान का एक फल यह है कि साधक यह जान लेता है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है किन्तु पुरुष त्रिगुणातीत है। अतः पुरुष न अच्छे या बुरे कर्म से लिप्त होता है न अच्छे या बुरे कर्मफल को भोगता है अर्थात् न वह कर्ता है न भोक्ता। ऐसे में सात्त्विक ज्ञान से सम्पन्न साधक किसी कर्म के प्रति आसक्ति भी नहीं रखता, न किसी कर्म के फल की इच्छा रखता है। कर्म के प्रति आसक्ति तो तब रखी जाए जब कर्म का कर्ता पुरुष हो। जो कर्ता है ही नहीं, वह कर्म के प्रति क्या आसक्ति रखेगा? जो भोक्ता नहीं है, वह कर्म के फल की भी क्या इच्छा करेगा?

प्रश्न होता है कि क्या राग-द्वेष के बिना, यह जानते हुए भी कि हम कर्म के कर्ता नहीं हैं और न कर्म फल के भोक्ता हैं, कर्म करना संभव है? आपाततः लगता है कि कर्म की प्रेरणा किसी फल की इच्छा से उत्पन्न होती है, किन्तु गीता कहती है कि बिना फल की इच्छा के भी शास्त्र की आज्ञापालन करने के लिए शास्त्रोक्त कर्म किए जा सकते हैं।

गीता में पहले अनेक बार यह कह दिया गया है कि कर्म के बिना कोई नहीं रह सकता। इसे दूसरी तरह से समझें तो प्रकृति त्रिगुणात्मक है, अतः तीन गुणों में से एक रजोगुण निरन्तर क्रियाशीलता बनाए रखता है। ऐसे में कर्म छोड़ने की बात सोचना एक मिथ्या अहंकार है। दूसरी ओर यह भी कहा जा रहा है कि पुरुष कर्म का कर्ता नहीं है और कर्मफल का भोक्ता भी नहीं है। तब बिना अहंकार और बिना फल-लोलुपता के कौन से कर्म किए जाएँ और कौन से कर्म न किए जाएँ, इसका निर्णय उनके वचनों से हो सकता है, जो अहंकार और एषणाओं से छूट कर जीवन्मुक्ति का जीवन जिए हैं। ऐसे जीवन्मुक्तों के वचन ही शास्त्र हैं। अतः अहंकार और इच्छा न रहने पर भी साधक को शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिए और शास्त्र में निषिद्ध कर्मों से बचना चाहिए। किसी भी साधक की बुद्धि सीमित होती है। हमारे अनुभव भी सीमित ही हैं। श्रुति में उन ऋषियों के वचन संगृहीत हैं जिन्होंने बुद्धि से परे जाकर पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लिया। स्मृति में उन अनुभवों का निचोड़ है जो अनुभव किसी जाति ने लम्बे समय में अर्जित किए। यदि साधक अपनी बुद्धि को श्रुति के ऊपर मानेगा और अपने अनुभवों के आधार पर स्मृतियों का तिरस्कार करेगा, तो वह धोखा ही खाएगा। इसलिए सभी धर्म अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार शास्त्र को ही सर्वोपरि मानते हैं। फिर भी गीता ने सात्त्विक कर्म की एक कसौटी दे दी कि कर्म के पीछे राग-द्वेष की भावना नहीं होनी चाहिए। यह कसौटी साधक को मार्ग भ्रष्ट होने से पूरी तरह बचा लेती है।

मूल तथा अनुवाद

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥२६॥

जो कर्त्ता आसक्ति को छोड़ के अहंकार रहित भाव से धैर्य और उत्साहपूर्वक, सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है, वह सात्विक है ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

जो कर्त्ता आसक्ति से युक्त कर्मफल की इच्छा करने वाला लोभी, हिंसक, अपवित्र तथा हर्ष-शोक युक्त है वह राजस कहलाता है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥२८॥

जो कर्त्ता अनुपयुक्त, असंस्कृत, जड, शठ, हिंसक, आलसी, विषादी, आलसी और दीर्घसूत्री है उसे तामस कहा जाता है ॥२८॥

विपुल-भाष्य

कर्ता के प्रकार

जिसमें अहंकार है वह अपने से ऊपर शास्त्र को भी नहीं मानता। वह मानता है कि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय वह अपनी बुद्धि से करेगा। हम यह नहीं देख पाते कि हम जब भी कोई निर्णय लेते हैं, तो सूक्ष्म रूप में उसके पीछे हमारा कोई न कोई स्वार्थ छिपा रहता है। यहाँ तक कि शास्त्र की व्याख्या भी हम ऐसी कर लेते हैं, जो हमारे स्वार्थ के अनुकूल हो। इस प्रकार अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित किए गए कर्म राजस कहलाते हैं। स्वार्थ का कोई अन्त नहीं है। एक स्वार्थ पूरा होता है, तो दूसरा स्वार्थ खड़ा हो जाता है। इस प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया गया कर्म राजस कहलाता है। इस राजस कर्म का कोई अन्त नहीं। सात्त्विक कर्म तो अकर्म ही है। जब तक ज्ञान में प्रकृति के साथ थोड़ा बहुत भी सम्बन्ध साधक मानता है, तब तक कर्म कर्म है, किन्तु जैसे ही विवेक-ख्याति द्वारा पुरुष और प्रकृति का भेद सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रकृति की क्रियाएँ तो शेष रहती हैं, कर्म शेष नहीं रहता। रजोगुण विवेक-ख़्याति नहीं होने देता है। फलतः राजस कर्म से कभी छुटकारा नहीं होता। सात्त्विक कर्म जहाँ अनायास होते हैं वहाँ राजस कर्म में बहुत आयास रहता है। कारण यह है कि राजस व्यक्ति अधिकाधिक कर्म करता है। उसकी दृष्टि फल पर है इसलिए वह कर्म में आनन्द नहीं ले सकता। इसीलिए उसके सारे कर्म उस पर बोझ बन जाते हैं।

राजस कर्म में फल का लक्ष्य रहता है। किन्तु तामस कर्म में यह विवेक भी नहीं रहता कि किस कर्म का क्या फल होगा? राजस कर्म की प्रेरणा फल की इच्छा होती है, किन्तु तामस कर्म मोह के वशीभूत होकर किया जाता है। किस कर्म का क्या फल होगा – यह निश्चय करने के लिए भी ज्ञान चाहिए। तमोगुण इतना ज्ञान भी नहीं होने देता। अतः तामसी कर्म लौकिक विवेकपूर्वक भी नहीं होते, पारमार्थिक विवेक का तो प्रश्न ही नहीं है। तामस कर्म के तीन फल होते हैं। पहला तो तामस कर्म का परिणाम प्रतिकूल ही होता है। दूसरे, तामस कर्म से स्वयं की हानि होती है। तीसरे, तामस कर्म दूसरों की भी हानि करता है। वस्तुतः जैसा नाम से स्पष्ट है, तमस् का अर्थ अन्धकार है। अन्धकार अज्ञान का सूचक है। इसलिए गीता में ज्ञान की चर्चा करते समय सात्त्विक और राजस के साथ तो ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु तामस के साथ ज्ञान शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। वस्तुतः तमोगुण तो कोई कार्य

करने नहीं देता, क्योंकि उसका परिणाम आलस्य है, तथापि शुद्ध तामस नहीं रहता। इसलिए तमोगुणी व्यक्ति भी रजोगुण से प्रेरित होकर कभी-कभी कुछ कर बैठता है। किन्तु वे कर्म पारमार्थिक या व्यावहारिक किसी भी प्रकार के ज्ञान से संचालित नहीं होते।

संक्षेप में सात्त्विक कर्म पारमार्थिक ज्ञानपूर्वक होते हैं। राजसी कर्म लौकिक ज्ञानपूर्वक होते हैं। तामस कर्म अज्ञानपूर्वक होते हैं। जब पारमार्थिक ज्ञान इतना निर्मल हो जाता है कि साधक में कर्तृत्व का भाव रहता ही नहीं तब यह त्रिगुणातीत अकर्म की अवस्था है। अकर्म का यह अर्थ नहीं है कि कर्म न हो, क्योंकि यह असंभव है। अकर्म का अर्थ है साधक कर्मों का द्रष्टा, ज्ञाता तो रहे किन्तु कर्ता, भोक्ता न बने। यही साधना का चरमोत्कर्ष है।

गीता के अठारहवें अध्याय में सत्त्व, रजस् और तमस् का आधार लेकर एक इस प्रकार की तालिका उपस्थित कर दी गई है कि उसके आधार पर कोई भी साधक अपना मूल्यांकन सहज ही स्वयं कर सकता है कि वह जीवन में विकास के किस सोपान पर खड़ा है। मनुष्य कुछ त्याग करता है। त्याग की प्रशंसा है, किन्तु त्याग के पीछे मोह है या राग है या अनासक्ति का भाव है – यह जाने बिना त्याग का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। मोहवश किया गया त्याग तामस है। रागवश किया गया त्याग राजस है। सात्त्विक त्याग तो वही है जो अनासक्ति और निष्कामता के भाव से किया जाए।

इसी प्रकार तीन गुणों के आधार पर ज्ञान और कर्म का भी विभाजन कर दिया गया है। सभी कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं, क्योंकि ज्ञान त्रिविध है। अतः कर्म भी त्रिविध है। यह बता देने के बाद श्रीकृष्ण त्रिविध कर्ता की भी पहचान बताते हैं।

सात्त्विक कर्ता वह है जो अनासक्त है। सत्त्वगुण ज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञान प्रकाश के समान है। ज्ञान और प्रकाश स्वभाव से ही निर्लिप्त हैं। प्रकाश पुष्प जैसे पवित्र पदार्थ पर पड़े या मल जैसे अपवित्र पदार्थ पर, वह न पुष्प की पवित्रता से पवित्र होता है, न मल की मलिनता से अपवित्र होता है। ज्ञान की भी यही स्थिति है। ज्ञान पवित्र या अपवित्र किसी भी पदार्थ को जाने, वह स्वयं निर्लिप्त ही रहता है। सत्त्व गुण प्रधान साधक क्योंकि ज्ञाननिष्ठ होता है इसलिए वह कर्म अथवा कर्मफल से निर्लिप्त रहता है। इस निर्लिप्तता का एक फल यह है कि उसमें अहंकार नहीं होता।

सात्त्विक कर्ता के सामने कितनी भी बाधाएँ आएँ उसके धैर्य और उत्साह में कोई कमी नहीं आती; क्योंकि सात्त्विक कर्ता का उत्साह कर्त्तव्य कर्म से जुड़ा है, न कि कर्मफल से। इसलिए विफलता उसे हतोत्साहित नहीं कर पाती। वह सफलता और असफलता में निर्विकार रहता है। हम सामान्यतः समझते हैं कि दुःख ही मन को विकृत करता है, किन्तु वस्तुतः सुख भी मन को समता में नहीं रहने देता। सुख से मन में जो उत्तेजना उत्पन्न होती है वह हमें अनुकूल प्रतीत होती है। इसलिए हम उसके प्रति चिंतित नहीं होते। दुःख से जो उद्विग्नता उत्पन्न होती है वह हमें प्रतिकूल लगती है। अतः हम उससे मुक्त होना चाहते हैं।

मूल तथा अनुवाद

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥२९॥

हे अर्जुन ! बुद्धि और धैर्य के भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार के भेद पूर्व रूप से अलग-अलग रूप से सुनो ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥

हे अर्जुन ! जो बुद्धि प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, भय, अभय, बन्धन और मोक्ष को यथार्थ रूप में जानती है वह बुद्धि सात्त्विक है ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

हे अर्जुन ! जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य को ठीक से नहीं जानती, वह बुद्धि राजसी है ।।३१।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

हे अर्जुन ! अज्ञान से घिरी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म मान लेती है और सब पदार्थों को उल्टा समझती है वह बुद्धि तामसी है ।।३२।।

विपुल-भाष्य

भाव का महत्व

वस्तुस्थिति यह है कि सुख की उत्तेजना और दुःख की उद्विग्नता दोनों ही हमारी स्वाभाविक मनःस्थिति को विकृत कर देती हैं। इसलिए साधक को दोनों से ही बचना चाहिए। सात्त्विक कर्ता न सफलता में उत्तेजित होता है न विफलता में उद्विग्न। राजसी कर्ता सुख-दुःख के झूले में झूलता रहता है। उसके सभी कर्म फल को दृष्टि में रखकर किए जाते हैं। वह सुख-लोलुप होता है। इसलिए वह कभी भी आराम से नहीं बैठ सकता। उसकी गतिविधि में यह स्पर्द्धा का भाव रहता है कि वह सबसे आगे निकल जाए। इस स्पर्द्धा के कारण वह दूसरों को अपने क्रियाकलापों से न चाहते हुए भी चोट पहुँचाता है। उसकी जीवन-शैली का आधार यह है कि जब तक दूसरे के मर्म पर चोट न की जाए तब तक सफलता नहीं मिल सकती क्योंकि संसार इस मत्स्य-न्याय पर चलता है कि बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। राजसी व्यक्ति पद, प्रतिष्ठा और पैसे की दौड़ में उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। उसका सिद्धान्त होता है कि यदि साध्य ठीक है तो उसकी प्राप्ति के लिए उपयोग में लाए जाने वाले सभी साधन भी उचित ही हैं। संक्षेप में सात्त्विक जीवन यदि अध्यात्म का जीवन है, तो राजस जीवन राजनीति का जीवन है। तामसी कर्ता न पारमार्थिक सफलता प्राप्त कर पाता है न व्यावहारिक सफलता, क्योंकि वह कर्म और कर्मफल के बीच क्या सम्बन्ध है – यह विचार ही नहीं कर सकता। विचार करना ज्ञान का काम है। तमोगुण ज्ञान को ढक लेता है। अतः तमोगुणी व्यक्ति विवेक नहीं कर पाता।

व्यक्ति दो प्रकार के हैं – एक संस्कृत और एक प्राकृत। हम जैसे उत्पन्न होते हैं वही हमारी प्राकृत स्थिति है। शिक्षा के द्वारा हम उस स्थिति में सुधार करते हैं। तमोगुणी व्यक्ति की ज्ञान में कोई रुचि नहीं होती। इसलिए वह यथाजात प्राकृत रूप में ही रह जाता है।

विद्या विनय प्रदान करती है। विद्या के अभाव में तमोगुणी कर्ता उद्दण्ड होता है। राजसी व्यक्ति तो किन्हीं गुणों के कारण अहंकार करता है किन्तु तामसी व्यक्ति बिना किसी गुण के ही अपने को सर्वोपरि मानता है। उसकी जडता उसे किसी से कुछ नहीं सीखने देती। तामसी व्यक्ति स्वयं तो कुछ कर नहीं पाता, दूसरे कुछ करते हैं तो वह ईर्ष्यावश उनके रास्ते में अड़चन डालने में रुचि लेता है। दूसरे शब्दों में उसकी ध्वंसात्मक प्रकृति होती है। ध्वंसकारी कार्य करने से उसे जो कुख्याति मिलती है, उस कुख्याति को भी वह अपनी ख्याति ही मानता है। तामसी व्यक्ति किसी का अपकार तो कर सकता है किन्तु उपकार नहीं। कोई उसका उपकार करे तो भी वह उसका अपकार ही करता है। वह आलस्य के कारण हर काम को भविष्य पर टालता रहता है।

तामसी व्यक्ति की एक पहचान है कि वह सदा दुःखी रहता है। उसके दुःखी रहने के अनेक कारण हैं। प्रथम तो वह यह जानता है कि वह अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहा। इसलिए वह स्वयं से ही असंतुष्ट रहता है।

आलस्य के कारण वह अपना कर्त्तव्य नहीं कर पाता इसलिए उसका असंतोष सदा बना रहता है। दूसरे, उसके आस-पास दूसरे लोग उन्नति कर जाते हैं। अतः वह ईर्ष्या की भावना से तप्त रहता है। तीसरे, आलस्य के कारण वह सदा अभावग्रस्त रहता है इसलिए दुःखी रहना उसका स्वभाव ही बन जाता है। दुःख को रजोगुण से जोड़ा जाता है किन्तु यहाँ तमोगुण से जोड़ा गया है। जो दुःख चंचलता के कारण होता है वह रजोगुण का परिणाम है, किन्तु जो दुःख आलस्य के कारण होता है वह तमोगुण का परिणाम है।

कर्ता के ये तीन प्रकार इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि कोई भी क्रिया अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं होती। कर्त्ता का भाव उस क्रिया को अच्छा या बुरा बना देता है। जीवन स्वयं एक युद्ध है। अतः संघर्ष से नहीं बचा जा सकता। कर्ता सात्विक बनकर संघर्ष करते हुए भी अपने आपको संघर्ष की आँच से बचा सकता है। यही जीवन का वह विज्ञान है जो गीता सिखाती है।

गीता में त्रिगुण सिद्धान्त का प्रतिपादन और विस्तार इस प्रकार किया है कि कोई भी साधक अपना प्रतिबिम्ब उसमें देखकर यह पता लगा सकता है कि वह कहाँ खड़ा है। कर्म बन्धन के पहले तीन घटक बताए हैं – करण, कर्म और कर्ता। इनमें तीन प्रकार के कर्म और कर्ता बताने के बाद तीन प्रकार के करण बताने चाहिए। इन करणों में बुद्धि मुख्य है। अतः तीन प्रकार की बुद्धि गीता बता रही है। तीन प्रकार की बुद्धि का विवरण देखकर कोई भी सरलता से यह जान सकता है कि उसकी बुद्धि सात्विक है, या राजसी, या तामसी।

बुद्धि का कार्य है – जानना। जीवन में पद-पद पर बुद्धि ही हमारा मार्गदर्शन करती है। सात्विक बुद्धि प्रकाश के समान है, जिसमें क्या ठीक है क्या गलत यह साफ-साफ दिखाई देता है। तमोगुणी बुद्धि अन्धकार के समान है जिसमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। बल्कि सब-कुछ उलटा ही दिखाई देता है। राजसी बुद्धि धुँधले प्रकाश के समान है जिसमें आधा सत्य दिखता है और आधा सत्य नहीं दिखता।

अपने अहंकार के कारण हम यह मान लेते हैं कि हमें सब कुछ पता है। किन्तु सत्य का दर्शन करने के लिए अहंकार और राग तथा मोह और आलस्य छोड़ना होता है। अहंकार और राग रजोगुण के काम हैं, मोह और आलस्य तेमोगुण के कार्य हैं, क्योंकि सत्त्वगुण में ये चारों ही नहीं होते, इसलिए सात्विक बुद्धि ही यथार्थ ज्ञान कर पाती है। गीता में यथार्थ ज्ञान के आठ विषय बताए – प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्तव्य, अकर्तव्य, भय, अभय तथा बन्ध और मोक्ष। सामान्यतया हम समझते हैं कि हम इन आठों को जानते हैं, किन्तु इनके विषय में हमारा ज्ञान बहुत सतही ही है।

बुद्धि के प्रकार

कोई व्यक्ति व्यापार कर रहा है तो हम मानते हैं कि यह प्रवृत्ति है, कोई व्यक्ति ध्यान कर रहा है तो हम समझते हैं कि यह निवृत्ति है। गीता कहती है कि यह समझ ऊपरी है। यदि कोई गृहस्थ किसी व्यक्तिगत कामना के बिना व्यापार करता है तो उसका कर्म भी अकर्म है। यदि वह व्यापार में न किसी का शोषण करता है, न किसी प्रकार की बेईमानी करता है, तो वह व्यापार के द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है। दूसरी ओर एक व्यक्ति तपस्या करता है, ध्यान करता है किन्तु साथ ही यह भी समझता है कि इस साधनामय जीवन के कारण वह दूसरों से बड़ा हो गया है, तो उसकी निवृत्ति भी प्रवृत्ति बन जाएगी। ऐसा ही विवेक कर्तव्य और अकर्तव्य में करना चाहिए। शास्त्र में कर्तव्यों का पालन करते समय कोई ऐसी आत्मप्रशंसा करे कि उसने सदा धर्म का पालन किया है, वह कभी अधर्म पर नहीं चला, चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ आई हों, संसार में तो सब ओर पाप ही पाप फैला है, वह अकेला है जो सत्य के मार्ग पर अडिग खड़ा रहा है, तो ऐसी आत्मप्रशंसा कर्तव्य को भी अकर्तव्य में बदल देगी। जैसे विष की एक बूँद भी पात्र के पूरे दूध को विष बना देती है, ऐसे ही अहंकार का थोड़ा सा भी स्पर्श पुण्य को पाप में बदल देता है।

हम समझते हैं कि रोटी, कपड़े, मकान और चिकित्सा की व्यवस्था हो गई तो अब भय का कोई कारण नहीं रहा। इसलिए हम सारी उम्र उन्हीं का जुगाड़ करने में लगा देते हैं। लेकिन फिर भी बुढ़ापा आता है और बीमारी आती है और पैसे के रहते भी हम दीन-हीन हो जाते हैं और कुछ न भी हो, तो भी मौत तो आती ही है। वस्तुतः

हमें यह खबर ही नहीं कि जीवन का प्रयोजन क्या है। मौत अवश्यम्भावी है। उससे डरना व्यर्थ है। डरना तो इस बात से चाहिए कि कहीं ऐसा न हो कि हम वासना की दल-दल में फँसे रह जाएँ और मौत हमें धर दबोचे।

हम समझते हैं कि जो पदार्थ हमें चाहिए यदि वे हमें मिल गए तो हम परतन्त्र नहीं रहे, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि हम उन वस्तुओं के पराधीन हो गए। वस्तु मिले या नहीं मिले, वस्तु के बिना हमें दुःख होगा, यह पराधीनता का भाव तो हमारे मन में है ही। मोक्ष के सम्बन्ध में हमारी धारणा और भी विचित्र है। इस समझते हैं कि मोक्ष मृत्यु के बाद होती है। मोक्ष वासना से छूटने का नाम है, शरीर से छूटने का नहीं। वासना को शरीर के रहते हुए ही छूटना होता है। यह सब विवेक सात्त्विक बुद्धि का कार्य है।

राजसी बुद्धि भी धर्म-अधर्म और कर्तव्य तथा अकर्तव्य के भेद को जानती तो है, किन्तु बारम्बार उसे अपने ज्ञान पर संदेह हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि राजसी बुद्धि चंचल होती है। वह एक क्षण में सोचती है कि मुझे तो अपने शत्रु से भी प्रेम करना है, किन्तु दूसरे ही क्षण शत्रु के प्रति क्रोध से भर जाती है और कहने लगती है कि धैर्य की भी एक सीमा है, अब मेरा धैर्य समाप्त हो चुका है, समय आ गया है कि शत्रु को उसकी करनी का फल दे दिया जाए, लातों के भूत बातों से नहीं मानते। किन्तु जैसे ही उसके क्रोध का आवेश शान्त होता है वह फिर प्रेम के गुणगान गाने लगता है। यह चंचल बुद्धि की स्थिति है। केवल धर्म का जानना ही पर्याप्त नहीं है, धर्म पर स्थिर रहना भी आवश्यक है। इसलिए गीता ने बुद्धि के साथ धृति को भी आवश्यक बताया है।

चंचलता के अतिरिक्त रजोगुण का एक दूसरा कार्य राग है। रजोगुणी बुद्धि धर्म का चिन्तन करती है, किन्तु जहाँ स्वार्थ आड़े आ जाए वहाँ धर्म को छोड़ देती है, वस्तुस्थिति यह है कि जब तक स्वार्थ की हानि न होती हो तब तक तो अधिकांश लोग धर्म का आचरण करते ही हैं, व्यक्ति की परीक्षा तो तब होती है जब वह बड़े से बड़े लालच से या डर से भी धर्म को न छोड़े। रजोगुणी बुद्धि ऐसा नहीं कर पाती।

तीसरी कोटि तमोगुणी बुद्धि की है। तमोगुणी बुद्धि धर्म-अधर्म का विवेक नहीं कर पाती। इतना ही नहीं है वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझती है। अधर्म से कई बार तत्काल लाभ हो जाता है इसीलिए अधर्म में आकर्षण है। रजोगुणी व्यक्ति तो अधर्म की वृत्ति आने पर दुःखी होता है, किन्तु तमोगुणी व्यक्ति के लिए अधर्म ही धर्म है। इसलिए उसके मन में पश्चाताप का भाव भी नहीं आता। अपने चारों ओर जो धर्म का स्वर सुनाई पड़ता है उसे वह ढोंग मानता है। वह बड़े विश्वासपूर्वक कहता है कि आत्मा-परमात्मा को किसने देखा है, जीवन का एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियों का सुख है।

तामसी बुद्धि अधर्म को धर्म सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क दिया करती है, यथा – स्त्री-स्त्री, पुरुष-पुरुष सब समान हैं, फिर सेक्स की इच्छा पर यह प्रतिबन्ध क्यों लगाया जाए कि वह पति-पत्नी के बीच सीमित रहना चाहिए? शाकाहारी इसलिए दुर्बल होते हैं कि उनके शरीर को पूरा पोषण नहीं मिल पाता। जप-तप से क्या लाभ है? देखने में आता है कि भले लोग पिछड़ जाते हैं इत्यादि। ये सब तामसी बुद्धि के तर्क हैं जो सारे शास्त्रों को असत्य मानती है।

बुद्धि प्रकृति का विकार होने के कारण त्रिगुणात्मक है। वस्तुतः हमें बुद्धि से परे जाना है। गुणातीत होने में सात्त्विक बुद्धि ही सहायक बनती है। अतः तमोगुणी बुद्धि को छोड़कर और रजोगुणी बुद्धि की चंचलता और रागात्मकता को नियन्त्रित करके सात्त्विक बुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

मूल तथा अनुवाद

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

हे अर्जुन ! जिस अनन्य धृति से योग द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को व्यक्ति धारण करता है वह धृति सात्विक है ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥३४॥

हे पार्थ अर्जुन ! फल की कामना करने वाला व्यक्ति जिस धृति द्वारा आसक्तिपूर्वक धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है वह धृति राजसी है ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥३५॥

हे अर्जुन ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृति से निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और मद को नहीं छोड़ता वह धृति तामसी है ॥३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥३६॥

हे अर्जुन ! अब मुझसे तीन प्रकार के सुखों के बारे में सुनो। जिसका अभ्यास करने से सुख होता है और दुःखों का अन्त हो जाता है ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥३७॥

जो सुख आरम्भ में विष के समान और अन्त में अमृत के समान है ऐसा अपनी बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न होने वाला सुख सात्विक कहलाता है ॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८॥

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह प्रारम्भ में अमृत के समान और अन्त में विष के समान है उस सुख को राजस कहा गया है ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥३९॥

जो सुख भोग काल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है – वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ॥३९॥

विपुल-भाष्य

धैर्य और सुख

गीता ने तीन गुणों के आधार पर ज्ञान, कर्म, कर्ता तथा बुद्धि के तीन-तीन भेद बताए। सात्विक, राजसी और तामसी लक्षणों के आधार पर कोई व्यक्ति यह निर्णय आसानी से कर सकता है कि वह कहाँ खड़ा है और उसे कहाँ जाना है। कोई साधक कहीं भी खड़ा हो, जाना तो उसे गुणातीत स्थिति में है। विशेषता यह है कि सात्विक स्थिति से गुणातीत स्थिति में जाना सरल है। क्योंकि यह विषय साधना में उपयोगी है, अतः श्रीकृष्ण इस विषय का और भी विस्तार करते हुए धृति तथा सुख के तीन-तीन भेद बताते हैं।

साधना में धृति अर्थात् धैर्य का बहुत महत्व है। प्रायः साधक साधना में चलते हुए धैर्य के अभाव में सफलता न मिलती देखकर साधना छोड़ बैठते हैं। विचार यह करना चाहिए कि अज्ञान जन्म-जन्मान्तरों से हमें घेरे है। हम अल्पकालिक साधना से ही चमत्कार की आशा करने लगते हैं। साधना से अज्ञान की परत-दर-परत झड़ते हुए समय लगता है। ऐसे में साधक अधीर होकर साधना छोड़ देता है। सफलता के लिए धीरज रखना आवश्यक है।

सभी धैर्य भी अभीष्ट नहीं हैं। योग में धैर्य चाहिए। योग का अर्थ है – जुड़ना। हम अपने मन, प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को परमात्मा से जोड़ें, यह योग है। हमारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक श्वास तथा प्रत्येक क्रिया परमात्मा की प्राप्ति के लिए हो। संस्कार बारम्बार संसार की ओर ले जाते हैं, बार-बार मन में राग-द्वेष के भाव आते हैं। परमात्मा को भी प्राप्त करना चाहें और संसार का भी चिन्तन करते रहें, यह दो नावों पर सवार होना व्यभिचार है। परमात्मप्राप्ति के लिए की जाने वाली क्रियाएँ अव्यभिचरित होनी चाहिए, उनका कोई लौकिक लक्ष्य न हो। यह सात्विक धैर्य का लक्षण है।

शास्त्रों में पढ़कर अथवा लोगों से सुनकर सहज ही साधक के मन में इहलौकिक तथा पारलौकिक इच्छाएँ आ जाती हैं क्योंकि बारम्बार ऐसा कहा जाता है कि इस साधना से धन मिल जाता है, पुत्र-प्राप्ति हो जाती है, पद मिल जाता है अथवा स्वर्ग मिल जाता है। अनेकानेक शास्त्रों में ऐसी फलश्रुति मिलती है। यह फलश्रुति मिथ्या नहीं है किन्तु साधक को इन प्रलोभनों में नहीं आना चाहिए। जिस रत्न से परमात्मा की प्राप्ति की जा सकती है उस रत्न को संसार के वृक्ष पर बैठे विषय रूपी कौवे को उड़ा देने के लिए हाथ से नहीं फेंक देना चाहिए। गीता का यह सन्देश विशेष है कि कर्म तो न छोड़ें किन्तु कर्म का प्रयोजन भगवत्प्राप्ति के अतिरिक्त कोई और नहीं रखना चाहिए। सकाम कर्मों से मिलने वाले फलों के बारे में सुनकर सभी के मन में लालच आ जाता है। ऐसे समय में ही साधक के धैर्य की परीक्षा होती है। कठोपनिषद् की कथा प्रसिद्ध है कि किस प्रकार नचिकेता ने ब्रह्मज्ञान के बदले में सारे लौकिक-पारलौकिक प्रलोभनों को ठुकरा दिया था। इसीलिए यमराज ने उसे सत्यधृति वाला बताया था।

फल की इच्छा से भी लोग धैर्य रखते हैं किन्तु वह धैर्य राजसी है, भोगेच्छा जन्य है। धन की इच्छा से मनुष्य कितना अपमान चुपचाप पी लेता है? वासना के पीछे भी मनुष्य कितने ही कष्ट सहता है। अज्ञान की अवस्था में तुलसीदास अपनी पत्नी से उसके पीहर में मिलने के लिए कितने जोखिम उठाकर गए। यह कथा प्रसिद्ध है। इसमें भी धैर्य तो चाहिए। अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए धारण किया गया धैर्य राजसी है। यहाँ तक कि फलेच्छा से धर्माचरण में दिखाया गया धैर्य भी राजसी है। कर्तव्य के लिए कर्तव्य का पालन उस कर्तव्य-पालन से भिन्न है जो फलेच्छा से किया जाता है। माता-पिता का कर्तव्य है कि सन्तान का पालन करे किन्तु जब इसके साथ उनकी यह कामना जुड़ जाती है कि सन्तान उनका बुढ़ापे में सहारा बनेगी तो फिर उनका सन्तति-वात्सल्य दूषित हो जाता है। ऐसे कर्तव्यपालन में दिखाया गया धैर्य भी राजसी है।

तामसी व्यक्ति का धैर्य तो सबसे ही अनूठा है। उसे किसी बात की जल्दी है ही नहीं। आलस्यवश वह हर चीज टालता रहता है। वह दुःख में रहता है। सोचता भी है कि दुःख दूर करने का उपाय करूँ। फिर सोचता है, आज नहीं सही, कल देखूँगा। उसका कल कभी नहीं आता। फलतः उसके शोक और विषाद भी कभी दूर नहीं होते। अब उठूँ, अब उठूँ करते-करते वह उठ ही नहीं पाता, सब कार्य लटके रह जाते हैं। कर्तव्य न कर पाने के कारण वह सदा भयभीत ही रहता है। फिर भी ठोकर पर ठोकर खाकर भी वह चेतता नहीं। यह उसका विपरीत धैर्य है, जिसे गीता ने तामसी धैर्य कहा।

धैर्य के समान सुख भी त्रिविध है। भोजन, शयन, मैथुन का सुख तो पशु को भी होता है। सात्विक सुख वह है जिसके लिए अभ्यास करना पड़े। शास्त्र में पहले कोई सुख मालूम नहीं होता, शास्त्र बिल्कुल नीरस प्रतीत होते हैं किन्तु जिसका अभ्यास हो जाता है वह व्याकरण जैसे शुष्क विषय में भी इतना रस लेते हैं कि उसके पीछे खाना-पीना तक भूल जाते हैं। यह अभ्यास से ही सम्भव है। जिसका अभ्यास नहीं है, उसे यह सुख बकवास लगता

है। पहले-पहल तो सभी करणीय कर्म विषोपम लगते हैं। यदि कर्तव्यपालन कड़वा न हो तो सभी कर्तव्य का पालन न करने लगें? किन्तु धर्माचरण का फल सदा अमृतोपम होता है। यह सात्विक सुख का स्वरूप है। यह सुख उसे ही प्राप्त होता है जिसकी बुद्धि निर्मल है।

राजसी सुख की स्थिति इससे उल्टी है – प्रारम्भ में मधुर, अन्त में कटु। यह सुख इन्द्रियजन्य है। कोई भी इन्द्रियजन्य सुख क्रमशः क्षीण ही होता है। भोजन को देखें। भूख में प्रथम ग्रास मधुर लगता है। दो-चार ग्रास के बाद भोजन की मधुरता कम होने लगती है। फिर हम कहने लगते हैं कि कोई बढ़िया चीज हो तो ले आओ, अन्यथा रोटी-दाल अब नहीं चलेगी। एक स्थिति में जाकर बढ़िया से बढ़िया चीज भी रुचिकर नहीं रह जाती। जहाँ भी इन्द्रिय के विषय के साथ संयोग से सुख उत्पन्न होता है, वहाँ यही स्थिति है। अन्त में इन्द्रियाँ क्षीण होने लगती हैं तो सम्मुख विषय होने पर भी व्यक्ति उन्हें भोग नहीं पाता। अब उसकी समझ में नहीं आता कि क्या करे?

मूल तथा अनुवाद

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी में अथवा स्वर्ग में देवों में भी कोई ऐसा प्राणी नहीं जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले इन तीन गुणों से मुक्त हो ॥४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभावानुसार गुणों के अनुसार बताये गये हैं ॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तम, सिद्धि, क्षमा, ऋजुता, आस्तिकता, ज्ञान और विज्ञान – ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, चतुरता और युद्ध से न भागना, दान और ऐश्वर्य – ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। सेवा करना, शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ॥४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

अपने-अपने कर्म में तत्पर व्यक्ति सिद्धि प्राप्त करता है। अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य कैसे सिद्धि प्राप्त करता है? वह तुम मेरे से सुनो ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥

जिससे सब भूतों की पूर्ति हुई है और जिससे यह जगत् व्याप्त है अपने कर्म से उसकी अर्चना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है ॥४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

दूसरे का धर्म अच्छी प्रकार भी निभाया जाये उसकी अपेक्षा आधा-अधूरा भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। क्योंकि स्वभावानुसार निर्धारित किये गये कर्म करते हुए मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता ॥४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

हे अर्जुन ! दोषयुक्त होने पर भी स्वाभाविक कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिये (वैसे) सभी कर्म धुएँ से अग्नि के समान दोषयुक्त हैं ॥४८॥

विपुल-भाष्य

गुणों की पहचान

कौन नहीं जानता की नींद का भी अपना सुख है। पर यह सुख मोहजन्य है। अतः तामस है। नशे से मिलने वाला सुख भी ऐसा ही है। वस्तुतः नींद और नशे में तो मूर्च्छा रहती है। होश ही नहीं रहता तो फिर सुख का अनुभव भी कैसे होगा? मूर्च्छा में दुःख प्रतीति में नहीं आता, उसे ही हम सुख मान लेते हैं। किन्तु इससे दुःख दूर नहीं हो जाता। तमोगुणी में आलस्यवश जो चीजों को टालने की प्रवृत्ति रहती है, उसी के कारण वह नींद में समय निकालता है। जब कार्य भी करता है तो असावधानी से। इसे प्रमाद कहते हैं। इससे कार्य का अनुकूल फल निकलने की जगह प्रतिकूल फल निकलता है। वस्तुतः मूर्च्छा कोई सुख नहीं है, उसमें केवल दुःख दब जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये तीन गुण प्रकृति के हैं। अतः मनुष्य तो क्या देवता भी इनसे मुक्त नहीं हो पाते। इनसे तो मुक्त वही है जो प्रकृति से अपनी भिन्नता को समझ लेता है। इन गुणों के वर्णन के अनन्तर इन गुणों के आधार पर ही वर्णधर्म का वर्णन श्रीकृष्ण करेंगे। उस प्रसङ्ग से पूर्व अब तक के विवरण के आधार पर हम देखें कि इन तीन गुणों की क्या पहचान है।

सत्वगुण की पहचान है – अद्वैत दृष्टि। अद्वैत दृष्टि का फल है – वीतरागता। जहाँ वीतरागता है वहाँ समता है। सात्विक साधक धर्माधर्म में विवेक रखता है। उसकी सभी क्रियाएँ भगवत्प्राप्ति का ही एकमात्र लक्ष्य लेकर चलती हैं। वह प्रतिकूल प्रतीत होने वाले कर्तव्यों से भी च्युत नहीं होता। ये सत्व गुण के लक्षण हैं। ये लक्षण उसी में मिल सकते हैं जो अहङ्कार तथा फलासक्ति से मुक्त हो।

राजसी व्यक्ति की दृष्टि भेदप्रधान होती है। वह अहङ्कारपूर्वक फलासक्ति से प्रेरित होकर ही कार्य करता है। वह सदा हर्ष और शोक के झूले में ही झूलता रहता है। उसे धर्म का ज्ञान होता है किन्तु चञ्चलतावश वह कभी धर्म का पालन कर पाता है, कभी नहीं। वह स्वार्थ के लिए तो अपमान भी सहन कर लेता है किन्तु जहाँ स्वार्थ न हो वहाँ अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेता है। ऐन्द्रिक सुख ही उसका लक्ष्य रहता है।

तामसी व्यक्ति अपने को ही सब कुछ समझता है। वह तर्कबुद्धि से काम नहीं लेता। उसे परिणाम की चिन्ता नहीं होती। उसकी अपनी हानि भी क्यों न होती हो, वह मोह के वशीभूत कुछ भी कर बैठता है। वह सदा दुःख में ही रहता है। वह अधर्म को ही धर्म मानता है। आलस्यवश वह कुछ भी नहीं कर पाता, किन्तु यदि कुछ करता है तो अविवेकवश विपरीत कार्य ही करता है। यह मूर्च्छा की स्थिति है जिसमें व्यक्ति को यह मिथ्या आभास हो जाता है कि उसका दुःख दूर हो गया।

शास्त्रानुसार मनुष्य लोक में राजसी वृत्ति के ही जीव होते हैं। सात्विक वृत्ति वाले ऊर्ध्वलोक में तथा तमोगुणी अधोलोक में होते हैं। तथापि सभी लोकों में गुणों का तारतम्य रहता है। अर्थात् इस मनुष्य लोक में व्यक्ति के रजोगुणी होने पर कुछ में सत्त्व अधिक होता है, कुछ में तम अधिक होता है। यही आधार मनुष्यों में वर्णव्यवस्था का है। शास्त्रकारों ने इन्हीं गुणों के तारतम्य के आधार पर पृथक्-पृथक् वर्णों के पृथक्-पृथक् कर्म निर्धारित किए हैं जिसका वर्णन विस्तार से आगे होगा।

त्रिगुणों का यह विवरण साधना के सोपानों के वर्णन के समान है। तमोगुण से लेकर सत्त्व तक की एक यात्रा है। सत्त्व गुण से गुणातीत में छलाँग साधना का एक दूसरा आयाम है। सत्त्व गुण तक की यात्रा धर्म पुरुषार्थ के अन्तर्गत है। गुणातीत स्थिति मोक्ष पुरुषार्थ है। गीता इन दोनों के बीच समन्वय बनाकर चलती है। दृष्टा भाव में रहकर कर्म करने वाला मुक्त रहकर भी धर्माचरण कर सकता है। स्वयं श्रीकृष्ण इसके उत्तम निदर्शन हैं। वे अर्जुन से भी इसी उच्च आदर्श के पालन की आशा कर रहे हैं।

वर्ण व्यवस्था

समाज की आवश्यकताओं को देखते हुए ही वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत श्रमिक, व्यापारी, शासक और चिन्तक के रूप में चार वर्णों की व्यवस्था की गई। तारतम्य यह बिठाना था कि किस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा कार्य मिले जो उसके स्वभाव के अनुकूल भी हो और जिस कार्य से समाज की किसी आवश्यकता की पूर्ति भी होती हो। यही तालमेल बैठाने के कारण चार वर्ण बन गए। ये चार वर्ण किसी ने बनाए नहीं, व्यक्ति की अभिरुचि और समाज की आवश्यकता के परस्पर समन्वय ने इन चार वर्णों को जन्म दे दिया है।

ये चार वर्ण मनुष्यकृत नहीं हैं, बल्कि स्वाभाविक हैं। इस वर्ण व्यवस्था को लेकर भगवान बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी तक अनेक प्रकार के ऊहापोह हुए हैं। इस सारे ऊहापोह का कारण सबसे अधिक संवेदनशील बिन्दु शूद्रों के सम्बन्ध में शास्त्रों के दृष्टिकोण को लेकर रहा है। इस सम्बन्ध में एक विचार तो यह रहा कि शूद्रों के साथ हिन्दू समाज ने ज्यादती की है। इसमें संदेह नहीं कि शास्त्र में अनेक उद्धरण बिखरे पड़े हैं जिनसे शूद्रों के प्रति अन्याय का भाव झलकता है। ऐसे उद्धरणों को खूब उछाला गया है। किन्तु कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जो या तो अल्प परिचित हैं या परिचित होने पर भी हम उन्हें भुलाये रहते हैं।

पहला प्रसंग पंडित मधुसूदन ओझा ने उठाया है जिसके अनुसार जब ब्रह्मा ने प्रथम बार सद्वाद, असद्वाद आदि की पृष्ठभूमि में ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया तो उसे चारों वर्णों में से सर्वप्रथम शूद्रों ने ही ग्रहण किया। उस समय शूद्रों को तुषित कहा जाता था। यह ब्रह्मवाद बाद में भारतीय दर्शन का मेरूदण्ड सिद्ध हुआ। आज भी जो भी वैदिक साहित्य हमें उपलब्ध होता है उसमें कवष ऐलूष ऋषि का अक्ष सूक्त है जिन्हें परम्परा शूद्र मानती है। ऋग्वेद के ही व्याख्या ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महीदास ऐतरेय शूद्र थे। ये ऐसे प्रमाण हैं जिन्हें नकार कर यह कहना कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है किसी के लिए भी बहुत कठिन होगा।

कहा जाता है कि संस्कृत ब्राह्मणों की भाषा है किन्तु महाभारत, जिसे परम्परा ने पाँचवें वेद का गौरवपूर्ण स्थान दिया वेदव्यास की कृति है, जो एक मछुआरे की पुत्री के पुत्र थे। पूरी महाभारत में यदि कोई चरित्र सबसे गम्भीर और निर्दोष है तो वह विदुर का है जो एक दासी के पुत्र थे। प्रायः सभी पुराण का प्रारम्भ इस वाक्य से होता है कि – 'सूतजी बोले' यानी पुराणों के वक्ता सूत थे। यद्यपि कर्ण सूत नहीं था पर समाज में गलती से उसे सूत मानकर

उसका अपमान होता रहा। किन्तु उसी सूत जाति ने पुराणों का प्रणयन किया जिनका ज्ञान वेदों का मर्म समझने के लिए आवश्यक माना गया।

हमारे ज्यादा निकट संत रैदास और कबीर हैं। परम्परा ने इन सबको किसी भी ब्राह्मण से कम सम्मान नहीं दिया। अभिप्राय यह है कि जहाँ एक ओर शूद्रों के साथ अन्याय होने के संकेत हैं वहाँ दूसरी ओर गुणों के आधार पर उनके सम्मान का इतिहास भी है। दृष्टि की पूर्णता इसमें है कि हम दोनों पक्षों को संतुलित दृष्टि से देखकर जो उचित है उसे ग्रहण करें और अनुचित को छोड़ दें।

गीता ने तमोगुण की निंदा की है, सेवाधर्म की नहीं। जहाँ तमोगुण है, चाहे वह ब्राह्मण में ही क्यों न हो, निन्दनीय है। सत्त्वगुण के कारण शूद्र भी पूरे सम्मान के पात्र हैं जैसा ऊपर दिए गए कुछ उदाहरणों से प्रमाणित हो जाता है। यह सामाजिक स्थिति का स्वरूप है। जहाँ तक व्यक्ति का प्रश्न है गीता का सभी वर्णों के लिए एक ही संदेश है कि व्यक्ति को भेदबुद्धि छोड़कर अभेदबुद्धि रखनी चाहिए। राग-द्वेष से बचकर सफलता और विफलता में समभाव रखना चाहिए। धर्म-अधर्म के बीच विवेक रखते हुए बाधाओं की चिंता न करते हुए भगवत् प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। द्रष्टा-ज्ञाता भाव में अपने गुणातीत स्वभाव को जानना चाहिए। यह संदेश चारों वर्णों के लिए समान है। इस सामान्य धर्म का पालन करते हुए शूद्र अपने विशेष धर्म के द्वारा उसी स्थिति को प्राप्त कर लेगा जिस स्थिति को ब्राह्मण अपने धर्म का पालन करते हुए प्राप्त करेगा। इस विषय में गीता को रंचमात्र भी संदेह नहीं है।

सत्त्वगुण-प्रधान ब्राह्मण है। रजोगुण-प्रधान क्षत्रिय है। वैश्य रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण से निष्पन्न होते हैं। तमोगुण-प्रधान शूद्र हैं। इन गुणों के अनुसार ही चारों वर्णों के कर्मों का विभाजन किया गया है। यह सत्य है कि तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है। इस दृष्टि से साधक को उत्तरोत्तर प्रगति करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् अपने ज्ञान, बुद्धि, धृति और सुख को सात्त्विक बनाना चाहिए।

यह लक्ष्य सभी वर्णों के लिए समान है अर्थात् साधक किसी भी वर्ण का क्यों न हो उसे अद्वैत भाव रखना चाहिए, अनासक्त होना चाहिए, अहंकार नहीं करना चाहिए, सुख-दुःख में विचलित नहीं होना चाहिए, धर्म-अधर्म का विवेक करना चाहिए और शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए ही सुख तथा भगवत्प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए। यह आचार संहिता सभी वर्ण वालों के लिए समान है।

वर्ण–व्यवस्था और त्रिगुण सिद्धान्त

अब तक सत्व, रजस् और तमस् का जो विस्तार ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि, धृति और सुख के संदर्भों में किया गया है उससे व्यक्ति की विभिन्न मानसिक स्थितियों का पता चलता है। यह सारा विश्लेषण व्यक्तिगत प्रतीत होता है। प्रश्न होता है कि इस विश्लेषण का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में क्या उपयोग है? गीता के अनुसार त्रिगुण के सिद्धांत का सामाजिक रूप वर्ण व्यवस्था है। त्रिगुण का सम्बन्ध प्रकृति से है। संस्कृत-हिन्दी के प्रकृति शब्द तथा अंग्रेजी के नेचर शब्द के भी दो अर्थ हैं। पहाड़, नदी, जंगल इत्यादि भी प्रकृति कहलाते हैं। मनुष्य के स्वभाव को भी प्रकृति कहा जाता है। प्रश्न होता है कि हमारे बाहर फैले पहाड़, नदी आदि प्रकृति का हमारी आंतरिक प्रकृति अर्थात् स्वभाव से क्या सम्बन्ध है। सांख्य दर्शन के अनुसार बाहरी पहाड़, नदी आदि भी त्रिगुणात्मक हैं तथा हमारा स्वभाव भी त्रिगुणात्मक है। अतः प्रकृति शब्द के द्वारा दोनों को कहा जाना उचित ही है। इस प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् का भेद मनुष्य कृत नहीं है, अपितु प्रकृति की देन है। जिस प्रकार यह त्रिगुण का सिद्धांत स्वाभाविक है, उस प्रकार वर्ण व्यवस्था भी स्वाभाविक है।

वर्ण का अर्थ है – रंग। इस आधार पर कुछ लोगों ने यह कल्पना की कि आर्य लोग गौर वर्ण के थे और भारत के मूल निवासी काले रंग के थे। अतः आर्यों ने मूल निवासी को शूद्र कहकर काले रंग का बता दिया। यह कल्पना सर्वथा निर्मूल है। वैदिक साहित्य में ही तीन गुणों के तीन रंग बताए हैं – सफेद, लाल और काला – **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्।** सत्त्व गुण सफेद है, रजोगुण लाल है और काला रंग तमस् है। रंगों के माध्यम से मानसिक

स्थितियों का प्रतीकात्मक वर्णन सार्वभौम है। हम सदा से ही ज्ञान को प्रकाश और अज्ञान को अंधकार कहते हैं। गुस्से में लाल-पीले होने का मुहावरा बोल-चाल में आज भी प्रचलित है। इसलिये रङ्गों को आर्य और आर्येत्तर के बीच काल्पनिक संघर्ष के प्रसंग से जोड़ना सर्वथा अप्रामाणिक है। गीता का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्णों का सम्बन्ध प्रकृति के तीन गुणों से है, किन्हीं दो जातियों के बीच संघर्ष से नहीं।

वर्ण व्यवस्था के पीछे दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि तो यह है कि व्यक्ति ऐसे कर्म करे जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो। एक दार्शनिक स्वभाव के व्यक्ति को युद्ध में खड़ा कर दिया जाए तो वह दार्शनिक ऊहापोह में ही उलझा रह जाएगा और युद्ध में पराजित हो जाएगा। युद्ध में क्रियाशीलता चाहिए। जो जितना निरन्तर क्रियाशील रह सके, वह युद्ध में उतना ही सफल होगा। क्रियाशीलता रजोगुण से आती है। अतः रजोगुणी व्यक्ति ही सफल योद्धा हो सकता है। रजोगुण का एक कार्य अहंकार है। व्यापार में सफल होने के लिए व्यवहार में विनम्रता आवश्यक है। अतः अहंकारी व्यक्ति व्यापार में सफल नहीं हो सकता है। उसके सेवा करने का तो प्रश्न ही नहीं है। वह शासन अवश्य कर सकता है। अभिप्राय यह है कि वर्णधर्म का निर्णय व्यक्ति के स्वभाव के आधार पर किया गया है। यदि व्यक्ति स्वभाव के अनुसार कार्य करेगा तो वह कार्य उसके लिए सहज होगा। आज की भाषा में कहें तो स्वभाव के अनुकूल कार्य करने में व्यक्ति को 'जॉब सेटिसफेक्शन' मिलेगा। यह वर्ण-व्यवस्था का प्रथम आधार है।

वर्ण व्यवस्था का दूसरा आधार यह है कि समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति के कार्यों का विभाजन होना चाहिए। समाज की कुछ आवश्यकताएँ शारीरिक हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति वे कर सकते हैं जो शारीरिक श्रम करें। कपड़ा तो जुलाहा ही बुन सकता है। समाज की दूसरी आवश्यकता मानसिक इच्छाओं की पूर्ति की है। इन इच्छाओं की पूर्ति उन पदार्थों से होती है जो पदार्थ व्यापारी बाजार में बेचने के लिए लाता है। तीसरी आवश्यकता समाज की यह है कि समाज में न्याय और व्यवस्था बनी रहे। यह काम शासक ही कर सकता है। चौथी आवश्यकता उच्चतर मानवीय मूल्यों के संवर्द्धन की है, जो काम चिन्तक वर्ग का है।

वर्ण-व्यवस्था का मनोविज्ञान

जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, प्रत्येक वर्ण वाले को कर्म भी सात्त्विक ही करना चाहिए अर्थात् आसक्ति, राग-द्वेष और फल इच्छा छोड़कर शास्त्र विहित कर्म करने चाहिए। यही सात्त्विक कर्म का लक्षण है। चाहे ब्राह्मण अपना कर्म करे चाहे शूद्र, यदि वह निष्काम भाव से और अनासक्तिपूर्वक अपना कार्य करता है तो उसका कर्म सात्त्विक ही कहलाएगा। अर्थात् कौनसा कर्म सात्त्विक है अथवा राजसी या तामसी है, इसका आधार कर्म का स्वरूप नहीं है, अपितु कर्म के पीछे कर्ता की भावना है। ब्राह्मण वेद पढ़ा रहा है, क्षत्रिय युद्ध कर रहा है, वैश्य व्यापार कर रहा है, और शूद्र सेवा कर रहा है, तो इन चारों के ही ये चारों ही कर्म सात्त्विक भी हो सकते हैं और तामसी अथवा राजसी भी। समझने की बात यह है कि यदि वेद के अध्यापन का कार्य भी अहंकार और लोभ से प्रेरित होकर किया जाएगा तो राजसी हो जाएगा और मोह के वशीभूत होकर किया जाएगा तो तामसी हो जाएगा। यदि सेवा का कार्य भी अनासक्तिपूर्वक, राग-द्वेष से रहित होकर किया जाएगा तो वह सात्त्विक हो जाएगा। अभिप्राय यह हुआ कि कोई कार्य अपने आप में न बड़ा अर्थात् सात्त्विक है और न तामसी अर्थात् छोटा है। कबीर का जुलाहे का काम भी सात्त्विक था। रावण का वेद का वैदुष्य भी तामसी था। इसीलिए हमारी परम्परा ने जुलाहे कबीर को सम्मान दिया और ब्राह्मण रावण को दुर्जनता का पर्याय माना। मान-अपमान का निर्णय तीन गुणों के आधार पर किया गया न कि शूद्र या ब्राह्मण होने के आधार पर। यही गीता-सम्मत दृष्टि है।

गीता ने जहाँ गुणों के आधार पर कर्मों को तीन भागों में बाँटा वहाँ वर्ण के आधार पर चार भागों में बाँट दिया। गुणों के आधार पर कर्मों का विभाजन व्यक्तिगत है अर्थात् किसी व्यक्ति के मूल्यांकन का आधार नैतिकता है। जब वर्ण-व्यवस्था के आधार पर कर्मों का विभाजन किया जाता है तो उसका आधार समाज की आवश्यकता है। चारों ही वर्णों के कर्म समाज की एक न एक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। इनमें कोई भी कर्म छोटा या बड़ा नहीं

है। इसलिए सामाजिक दृष्टि से चारों वर्णों के चारों कर्मों का समान महत्व है। किसी भी साधक को इसलिए हीनता या श्रेष्ठता की ग्रन्थि से ग्रस्त नहीं होना चाहिए कि वह अमुक व्यवसाय कर रहा है। सभी व्यवसाय समाज की एक न एक आवश्यकता को पूरा करते हैं। प्रश्न होता है कि कौन व्यक्ति कौन-सा व्यवसाय अपनाए। उत्तर यह है कि व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुकूल व्यवसाय अपनाना चाहिए।

सत्त्वगुण-प्रधान ब्राह्मण का स्वभाव शान्त, संयमित, सरल, शुद्ध तथा क्षमाशील होता है। इसलिए अध्ययन-अध्यापन तथा स्वयं धर्माचरण करते हुए दूसरों को धर्माचरण में लगाना ब्राह्मण का सहज कर्म है। स्पष्ट है कि ये कर्म अर्थकारी विद्या नहीं है, यद्यपि समाज के लिए आवश्यक है। समाज को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाना समाज के विकास के लिए आवश्यक है। इस कार्य को करने वाला ब्राह्मण समाज से प्रश्रय पाने का भी अधिकारी है। प्राचीन भाषा में वह दान देने के साथ दान लेने का भी अधिकारी है।

पब्लिक स्कूलों की कुछ भी विशेषता क्यों न हो किन्तु इतना तो अवश्य है कि वे इतने महँगे हैं कि उनमें कृष्ण के साथ सुदामा तो नहीं पढ़ सकता। सुदामा तो तभी पढ़ सकता है जब सान्दीपनि को अपना आश्रम चलाने के लिए समाज से दान लेने का अधिकार दिया जाए और समाज सान्दीपनि को दान देने में पुण्य माने। शर्त यह है कि आश्रम को प्राप्त होने वाले दान में से सान्दीपनि अपने लिए उतना ही रख सकते हैं जितने का अनाज एक घड़े में समा जाए। इसलिए ब्राह्मण को कुम्भीधान्य कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो उसके पास बचे वह उसे समाज के हित में ही समर्पित कर देना है।

क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण हैं – शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, युद्धवीरता, दान और शासकत्व। इस नाते जहाँ ब्राह्मण उपदेश के द्वारा लोगों को धर्म प्रवृत्त करता है वहाँ क्षत्रिय दंडनीति द्वारा न्याय की स्थापना करता है और शस्त्र द्वारा आततायियों को दमन करता है।

वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रियों से रक्षित होकर गुप्त कहलाते हैं। वैश्य धन का स्वामी है, क्योंकि वह कृषि, पशुपालन और व्यापार करता है और ये तीनों ही धन प्राप्ति के सबसे बड़े साधन हैं। भारतवर्ष पर प्राचीन काल से अंग्रेजों तक के सभी आक्रमण धन के लोभ से किए गए। इन आक्रमणों से देश की रक्षा क्षत्रिय वर्ग इसीलिए नहीं कर पाया कि वह आपस में लड़ने में लगा रहा। क्षत्रिय वर्ग को ब्राह्मण वर्ग वेद का 'संगच्छध्वं संवदध्वं' का पाठ नहीं सिखा पाया। यही हमारे देश के पराधीन होने का कारण बना। जब गुप्त अर्थात् वैश्य की रक्षा नहीं हो पाई तो हमारे शिल्प और व्यापार ठप हो गए और हम दरिद्र हो गए। परिचर्या का कार्य शूद्र को दिया गया। तमोगुण-प्रधान शूद्र होता है। तमोगुण में न ज्ञान की प्रधानता होती है, न विवेक की। इसीलिए वह स्वयं उचित-अनुचित का निर्णय नहीं ले पाता। उसे सेवा कार्य सौंपने का यह अर्थ है कि वह सेव्य की आज्ञानुसार कार्य करेगा तो स्वतः ही अनुचित कार्य से बचा रहेगा। दूसरे तमोगुण व्यक्ति को आलसी बनाता है। सेवा-कार्य उसे आलस्य से बचाता है। सेवा-कार्य छोटा नहीं है। सेवा का मर्म है – आज्ञाकारिता। आज्ञाकारिता के अभाव में अनुशासनहीनता फैलती है।

गीता का संदेश स्पष्ट है। समाज शूद्रवर्ग के सेवा कार्य को छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा न करे, उसे उचित सम्मान दे और शूद्र वर्ग अपना अज्ञान छोड़कर ज्ञान द्वारा तमोगुण से सत्त्व की ओर अग्रसर हो। हमारा लक्ष्य अपने को गीता तक ही सीमित रखना है। अतः वर्ण-व्यवस्था से परिवर्तीकाल में जुड़ गए अस्पृश्यता जैसे मुद्दों पर हम विचार नहीं कर रहे। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि न वेद में और न गीता में, अस्पृश्यता का साक्षात् या परोक्ष उल्लेख है। अतः अस्पृश्यता अवैदिक है।

संकल्प-विकल्प की सीमा

मैं कर्त्ता हूँ तो कर्म भी करूँ। यदि मैं कर्त्ता नहीं हूँ तो कर्म क्यों करूँ? इस तर्क के आधार पर साधक यह सुनकर कि वह कर्त्ता नहीं है सहज ही कर्म छोड़ने की बात सोच लेता है। किन्तु सूक्ष्म रूप से देखें तो यह कल्पना कि मैं कर्म नहीं करूँगा इस अज्ञान पर टिकी है कि मैं कर्म का कर्त्ता हूँ। जब मैं कर्म करने वाला ही नहीं हूँ तो कर्म

का छोड़ने वाला भी मैं कैसे हो सकता हूँ? जो कर्म का करने वाला है उसकी इच्छा पर निर्भर करता है कि वह कर्म करे या न करे। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को कहा मैं युद्ध नहीं करूँगा। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को कहा था कि मैं बिना युद्ध के सुई की नोक बराबर भी भूमि पाण्डवों को नहीं दूँगा। अर्जुन भी अज्ञान में है, दुर्योधन भी अज्ञान में है। अर्जुन कह रहा है 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' दुर्योधन कह रहा है 'मैं बिना युद्ध के नहीं दूँगा।' दोनों ही इस अहंकार में पड़े हैं कि कुछ करना न करना उनके हाथ में है।

श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन का ध्यान इस बात की ओर दिलाया कि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और उसमें निरन्तर क्रिया होती रहती है। उस क्रिया को करना न करना हमारे हाथ में नहीं। जैसा अहंकार इस बात में है कि मैं युद्ध करूँगा वैसा ही अहंकार इस बात में भी है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा।

ऐसी स्थिति में साधक को करना न करना प्रकृति पर छोड़ देना चाहिए। प्रकृति क्या चाहती है इसकी पहचान शास्त्रों में वर्ण धर्म का वर्णन करते समय दे दी है। अपने-अपने वर्ण धर्म का पालन करना प्रकृति की इच्छा का पालन करना ही है। आज के समय में अपने वर्ण का निर्णय करना भी कठिन हो गया है। प्रथम तो वर्ण जन्म से है या कर्म से यही विवाद का विषय है। दूसरे यदि जन्म से भी वर्ण मान लें तो दिन पर दिन भिन्न वर्ण के स्त्री-पुरुषों में अधिकाधिक विवाह सम्बन्ध हो रहे हैं। ऐसे में भिन्न वर्ण वाले माता-पिता की सन्तान का वर्ण धर्म क्या हो – वह कहना कठिन हो गया है। सवर्ण माता-पिता की सन्तान भी प्रायः अपने परम्परागत व्यवसायों को दिन पर दिन छोड़ रही है। इसके अतिरिक्त जिन मनुष्य समूहों में वर्ण व्यवस्था है ही नहीं वे कैसे अपने कर्त्तव्य का निर्णय करें। यह भी एक विचारणीय बिन्दु है।

कहा जा सकता है कि सत्व, रजस् और तमस् गुणों के लक्षणों को देख कर मनुष्य को अपने वर्ण का निर्णय कर लेना चाहिए। किन्तु प्रायः व्यक्ति में तीनों ही गुणों का ऐसा मिश्रण रहता है कि उसके लिए यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि उसका क्या वर्ण है? हमारा संविधान भी वर्ण व्यवस्था की मर्यादा को मान कर नहीं बना है। ऐसी स्थिति में गीता भक्तिमार्ग के विकल्प को सर्वोत्तम मानती है। हमें वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में भले ही दुविधा हो अथवा चाहे हम वर्ण-व्यवस्था के विरोधी भी क्यों न हों, इतना तो निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना स्वभाव होता है, अपनी-अपनी रुचि होती है। उसकी यह रुचि उसे भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रवृत्त करती है। यदि वह कार्य उसके स्वभाव के अनुकूल होगा तो उसे उस कार्य में आनन्द आएगा, अन्यथा उसे वह कार्य भार रूप प्रतीत होगा। अर्जुन स्वभाव से योद्धा है। द्रोणाचार्य के सभी शिष्यों में वह युद्ध विद्या में अग्रणी रहा है। अब वह मोह के वशीभूत होकर अपने स्वभावानुकूल युद्ध को न करके भिक्षा-चर्या से जीवनयापन करना चाहता है। युद्ध-क्षेत्र में उसके विरोध में उसके अपने ही भाई-बन्धु और गुरुजन खड़े हैं। इसीलिए वह युद्ध नहीं करना चाहता। अन्यथा इससे पहले जब दिग्विजय के लिए निकला तो उसने बिना किसी हिचक-झिझक के अनेक घमासान युद्ध किए। यह अपने और पराए का भेद मोह है, वैराग्य नहीं। मोह में लिया गया कोई भी निर्णय तामसी ही होता है, सात्त्विक नहीं। यह तो ज्ञान की चर्चा हुई। किन्तु कृष्ण ज्ञान से भी बढ़ कर भक्ति को मानते हैं। 'मैं निर्णय लूँगा' यह अहंकार है। सब निर्णय भगवान् पर छोड़ दिए यह भक्ति है।

व्याकुलता और वासना चली जाएँ यही शाश्वत और परम शान्ति है। किन्तु भगवान् के स्वरूप की समझ हमारी बुद्धि में उसी प्रकार नहीं आ सकती जिस प्रकार लोटे में समुद्र नहीं समा सकता। इसलिए भगवत्प्राप्ति का उपाय बौद्धिक तर्क-वितर्क नहीं है, अपितु शरणागति है। जब तक कर्म करने की व्याकुलता है और उसका फल भोगने की वासना है तभी तक संकल्प-विकल्प हैं। जब तक संकल्प-विकल्प हैं तब तक हम बुद्धि की पकड़ में हैं। बुद्धि से यह जान लेना कि संकल्प-विकल्प व्यर्थ हैं, बुद्धि को भगवान् में लगा देना बुद्धि योग है, क्योंकि वहाँ संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं। पतञ्जलि ने इसे ही ध्यान में रखकर चित्तवृत्ति के निरोध को योग बताया है – **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**

व्यष्टि और समष्टि

कर्म से जीवन की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। व्यक्ति के कर्म से समाज की आवश्यकता पूरी होती है और समाज बदले में व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी करता है। यही वह आदान-प्रदान है जिसे सनातन धर्म कहा गया है – **ददाति प्रतिगृह्णाति एष धर्मः सनातनः।** यह शाश्वत धर्म है। कर्म के बिना न व्यक्ति का जीवन-निर्वाह हो सकता है न समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है क्योंकि कर्म ही व्यक्ति और समाज को धारण करता है। इसीलिए वह धर्म है।

दूसरी ओर कर्म बाँधता है। पुनर्जन्म और परलोक की बात छोड़ भी दें तो वर्तमान में इस जीवन में भी अगर हम बँधे हैं तो इस भावना से कि हमें अमुक-अमुक कर्म करने हैं। यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि कोई भी कर्म सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता। जैसे ही हम कुछ करेंगे उसमें न केवल अपूर्णता रह जाएगी, अपितु उस कर्म के द्वारा किसी न किसी को चोट भी अवश्य पहुँचेगी, क्योंकि आकाश के सभी प्रदेश जीवों से खचाखच भरे हैं और हमारे साँस लेने तक से किसी न किसी सूक्ष्म जीव को कष्ट होता ही है। अध्यापक छात्र को अनुशासित करता है तो छात्र को बुरा लगता है। क्षत्रिय अपराधी को दण्ड देता है तो अपराधी को बुरा लगता है। अभिप्राय यह है कि किसी भी कर्म में किसी न किसी को कष्ट पहुँचता है। ऐसी स्थिति में एक ओर कर्म आवश्यक है दूसरी ओर वह बंधन और हिंसा का कारण भी है। अर्जुन हिंसा का दोष मान कर ही युद्ध से विरत होना चाहता था। अनेक संन्यासियों ने भी कर्म छोड़ने की प्रशंसा की है। इस संदर्भ में गीता का मत है कि सभी व्यक्ति अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करते हुए सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य आत्मा और शरीर का जोड़ है। आत्मा पुरुष है, शरीर प्रकृति है। पुरुष कारण-कार्य-परम्परा से ऊपर है। वह न किसी का कारण है न किसी का कार्य, किन्तु प्रकृति कारण-कार्य-परम्परा से बँधी है। इसीलिए पुरुष निष्क्रिय है, किन्तु प्रकृति निष्क्रिय नहीं हो सकती। कर्म ही प्रकृति को अभिव्यक्त होने का अवसर देता है।

यदि हम दुराग्रहपूर्वक कर्म छोड़ना चाहेंगे तो उसका परिणाम कुंठा होगा। कुंठित व्यक्तित्व व्यावहारिक क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, पारमार्थिक क्षेत्र की तो बात ही क्या है? विश्व ईश्वर का शरीर है। विश्व का एक हिस्सा होने के नाते हम ईश्वर के ही शरीर का एक अंग हैं। अंग अपने लिए कुछ भी नहीं करता, जो कुछ भी करता है अंगी के लिए करता है। हाथ भोजन बनाता है तो अपने लिए नहीं, पूरे शरीर के लिए। मुख भोजन चबाता है तो पूरे शरीर के लिए। हम जो भी कार्य करें वह अपने लिए न करकें ईश्वर के लिए करें, जिसके हम अंग हैं। ऐसी स्थिति में हमारे सभी कर्म सिद्धि प्रदान करने वाले बन जाएँगे। इसी बात को समझाने के लिए ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चारों वर्णों को विराट् पुरुष का अंग बताया। मुख ब्राह्मण है, भुजाएँ क्षत्रिय हैं, वैश्य जंघा है और शूद्र पाँव है। शरीर के सभी अंग जिस प्रकार अपना ही कार्य करते हैं दूसरे अंग का नहीं उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण स्वभाव के अनुरूप शास्त्र निर्दिष्ट कर्म तो करना चाहिए, किन्तु उस कर्म को अपने लिए न मानकर समष्टि के लिए मानना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे कर्म का फल नहीं मिलेगा, किन्तु उसका लक्ष्य कर्म फल न होकर कर्म करना है। हाथ भोजन बना देता है, भोजन से मिलने वाली पुष्टि पर उसकी दृष्टि नहीं रहती। फिर भी वह पुष्टि उसे स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। ऐसा कर्म बंधन नहीं बनता।

कर्म का एक लक्ष्य प्रकृति को अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करना भी है। इसलिए कर्म स्व-स्वभाव के अनुकूल ही होना चाहिए। गीताकार की दृष्टि में यह तथ्य है कि समाज में कुछ कार्यों को ऊँचा और कुछ कार्यों को छोटा समझा जाता है। ऐसी स्थिति में सहज ही व्यक्ति ऊँचे कार्यों को तो करना चाहेगा छोटे कार्यों को नहीं। गीता सावधान करती है कि अपने स्वभाव के अनुरूप छोटा काम भी श्रेष्ठ है स्वभाव के प्रतिकूल बड़ा भी श्रेष्ठ नहीं। वस्तुतः तो कोई कर्म छोटा या बड़ा होता ही नहीं। आज के संदर्भ में देखें तो कुछ बच्चों की सहज रुचि कला में होती है, कुछ की विज्ञान में। किन्तु समाज में विज्ञान को अधिक मान्यता प्राप्त है। इस कारण माता-पिता कलात्मक

अभिरुचि वाले बालक को भी ठोक-पीट कर वैज्ञानिक बनाना चाहते हैं। वह बालक यदि वैज्ञानिक बनेगा भी तो उसे जीवन में कभी संतोष नहीं मिलेगा।

जहाँ तक दोष का प्रश्न है, हमारे कर्म से किसी न किसी को कष्ट होता है तो इतने मात्र से हिंसा नहीं हो जाती। हिंसा तभी होती है जब हम राग या द्वेष के कारण किसी को कष्ट देना चाहें। यदि हमारे कर्म समष्टि को समर्पित हों तो राग और द्वेष का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे में हिंसा का दोष नहीं आता है। समष्टि के लिए किए गए सभी कर्म यज्ञ हो जाते हैं, और यज्ञ के लिए किया गया कर्म बंधन का कारण नहीं बनता।

स्वाभाविक कर्म में आनन्द रहता है। गीता में इसे अभिरति कहा है। कर्म में उत्साह है, यह अभिरति है। फल के प्रति लालच है; यह आसक्ति है। अभिरति में राग-द्वेष नहीं रहता, आसक्ति में राग-द्वेष रहता है। आसक्ति न रखना जड से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना है क्योंकि कर्म के फल के रूप में जो कुछ भी मिल सकता है वह जड ही हो सकता है। कर्म को समष्टि के लिए करने से साधक परमात्मा की ओर अभिमुख होता है क्योंकि जीव की समष्टि ही तो ईश्वर है। अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करने से कर्त्ता में तो संतोष और उल्लास का भाव आता ही है जो भाव उसे परमात्मा के निकट ले जाता है क्योंकि परमात्मा आनन्द रूप है, किन्तु साथ ही उसके कर्म में गुणात्मकता भी आ जाती है, जो सामाजिक अभ्युदय का मूल है।

इस सारी चर्चा में यह बात ध्यान देने योग्य है कि शास्त्र ऐसे किसी भी कार्य की अनुमति नहीं देते जो समाज विरोधी हो। यदि कोई यह कहे कि मेरे स्वभाव के अनुकूल तो चोरी करना है तो यह मानना चाहिए कि वह अपने को धोखा दे रहा है क्योंकि चोर की अन्तरात्मा भी उसे चोरी करने से रोकती है। यह दूसरी बात है कि वह अन्तरात्मा की आवाज को दबा लेता है।

मूल तथा अनुवाद

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

सर्वत्र अनासक्त, निस्पृह तथा संयमी व्यक्ति संन्यास द्वारा परम नैष्कर्मय की सिद्धि प्राप्त करता है॥४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

जो ज्ञान की पराकाष्ठा है उस सिद्धि को प्राप्त करके मनुष्य किस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है इसे तुम, हे अर्जुन ! मुझसे संक्षेप में सुनो॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त अल्पभोगी, शब्दादि विषयों का त्याग करके, एकान्त का सेवन करते हुए धैर्यपूर्वक अपने को वश में करके मन, वाणी और शरीर को संयमित करके, राग-द्वेष को छोड़कर, वैराग्य

के सहारे, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह के त्यागपूर्वक नित्य ध्यान योग में लगा हुआ ममत्व रहित शान्त पुरुष ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर लेता है ॥५१-५२-५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

ब्रह्मरूप प्रसन्नचित्त व्यक्ति न शोक करता है, न इच्छा। सब प्राणियों के प्रति समान भाव रखने वाला वह मेरी पराभक्ति को उपलब्ध कर लेता है ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

भक्ति के द्वारा वह मुझे जैसा मैं हूँ और जितना हूँ यह तत्त्वतः जान लेता है। तदनुसार मुझे तत्त्वतः जानकर वह मुझसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है ॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

मेरा सहारा लेकर सदा सब कर्म करते हुए भी वह मेरी कृपा से सनातन अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है ॥५६॥

विपुल-भाष्य

भक्ति का अर्थ

जब साधक अपने बलबूते पर विषय-वासनाओं से लड़ना चाहता है तो वस्तुतः वह अपने ही एक खण्ड से अपने ही दूसरे खण्ड को जीतना चाहता है। इस संघर्ष में वह कभी जीत भी जाता है तो कभी हार भी जाता है। यदि उसका सत्त्वगुण बलवान् हो जाए तो वह जीत जाता है, तमोगुण बलवान् हो जाए तो वह हार जाता है। यह देवासुर संग्राम सदा चलता रहता है। न किसी की अंतिम विजय होती है न किसी की अंतिम पराजय। साधक पाप और पुण्य के बीच, स्वर्ग और नरक के बीच परिभ्रमण करता रहता है। उसे उस द्वंद्व से भक्ति ही छुटकारा दिला पाती है।

भक्ति का अर्थ है कि साधक कुछ नहीं करेगा। उससे जो कुछ भी करवाना है भगवान् करवाएँगे। साधक यह भी नहीं मानता कि उसे अपने परिश्रम से कुछ मिलने वाला है, उसे जो कुछ मिलेगा भगवान की कृपा से मिलेगा। अब उसका अन्तर्द्वंद्व समाप्त हो जाता है। अब वह स्वयं से लड़ नहीं रहा। संघर्ष तो उसने सारा भगवान् पर छोड़ दिया। भगवान् गुणातीत हैं। उनकी शरण में जाने का अर्थ है – अपने ही गुणातीत स्वरूप में स्थित हो जाना। यह गुणातीत स्वरूप असंग है, इस पर न पाप का प्रभाव होता है न पुण्य का।

इस स्थिति को व्यक्ति प्रयत्न से नहीं पा सकता, क्योंकि प्रयत्न से वे ही पदार्थ पाए जाते हैं जो पहले न हों अथवा पहले हों तो सही किन्तु उस रूप में न हों जिस रूप में हमें अभीष्ट हैं।

उदाहरणतः मैं जयपुर में हूँ और मुझे दिल्ली चाहिए क्योंकि दिल्ली जयपुर में नहीं है इसलिए दिल्ली को प्राप्त करने के लिए गमन रूप प्रयत्न करना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि मुझे भोजन चाहिए और आटा है तो सही किन्तु उस रूप में नहीं है जिस रूप में मुझे चाहिए तो आटा गूँथकर रोटी सेंकने का प्रयत्न करना पड़ेगा। भगवान् के साथ ये दोनों बातें नहीं हैं। भगवान् कहीं दूर भी नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि वह उस रूप में न हो जिस रूप में हमें चाहिए क्योंकि वह तो सदा ही शुद्ध-बुद्ध है। ऐसी स्थिति में उन्हें पाने के लिए प्रयत्न करना तो निरर्थक ही है। कभी-कभी ऐसा होता है कि चाबी हमारे हाथ में होती है और हम भुलक्कड़पन में चारों तरफ शोर मचाते फिरते हैं, कि न जाने चाबी कहाँ रख दी, मिल ही नहीं रही। तब घर का कोई व्यक्ति हमें चेताता है कि चाबी तो तुम्हारे हाथ में ही

है, उसे कहाँ ढूंढ रहे हो? उसके ये कहते ही हम देखते हैं कि चाबी तो वस्तुतः हमारे ही हाथ में थी। तब अपने पर ही हँसी आती है कि हम सचमुच ही चाबी ढूँढने के सारे प्रयत्न व्यर्थ ही कर रहे थे। भगवान् हमारा अपना स्वरूप है। उससे अधिक निकट और कुछ भी नहीं है लेकिन जब गुरु यह सुझाता है कि तुम स्वयं ही ब्रह्म हो तो फिर भगवान् के लिए की जाने वाली सारी भाग-दौड़ की निरर्थकता समझ में आ जाती है। संसार में भी कुछ काम ऐसे हैं जो बिना प्रयत्न के होते हैं। उदाहरणतः जब हम नींद में जाना चाहते हैं तो उसके लिए प्रयत्न करना नहीं होता, अपितु सब प्रयत्न छोड़ देने होते हैं।

जब तक प्रयत्न रहेगा तब तक नींद नहीं आ पाएगी। यहाँ तक कि प्रयत्न छोड़ने का प्रयत्न भी नींद नहीं आने देगा। नींद आने की शर्त यह है कि चित्त शान्त हो, शरीर स्वस्थ हो और हम इतने थके हों कि हमें नींद की आवश्यकता हो। परमात्मा की प्राप्ति के लिए भी यह आवश्यक है कि हमारा चित्त शान्त हो जाए, हम स्व में स्थित हो जाएँ और सांसारिक भाग-दौड़ से थक कर वैराग्य को प्राप्त हो जाएँ जब ऐसी स्थिति होती है तो परमात्मा स्वयं प्राप्त हो जाता है।

क्योंकि परमात्मा हमारे प्रयत्न से प्राप्त नहीं होता है। इसलिए यह मानना होगा कि उसकी प्राप्ति उसकी कृपा से ही होती है। जैसे विषयों का एक आकर्षण है वैसे परमात्मा का भी एक आकर्षण है। जब हम विषयों के आकर्षण-क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं तो परमात्मा का आकर्षण हमें स्वयं अपनी ओर खींच लेता है। इसे ही परमात्मा की कृपा कहा जाता है।

जैसे जब तक हम विषयों के आकर्षण-क्षेत्र में रहते हैं तब तक विषय हमें स्वयं खींचते हैं, हमें उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार परमात्मा के आकर्षण-क्षेत्र में हमें कुछ नहीं करना पड़ता, परमात्मा हमें स्वयं खींच लेता है। हम सारा पुरुषार्थ विषयों के आकर्षण से छुटकारा पाने में लगा दें। शेष कार्य भगवत्कृपा स्वयं कर लेगी।

परा भक्ति का स्वरूप

अनासक्ति, वीतरागता, संयम, ध्यान और वैराग्य से अहंकार, काम, क्रोध और लोभ को छोड़कर साधक शान्त हो जाता है। यही उसका ब्रह्म रूप हो जाना है।

ब्रह्मरूप होने पर साधक न किसी चीज की आकांक्षा करता है न शोक करता है। प्रत्युत प्रसन्नचित्त रहकर सभी प्राणियों के प्रति समान दृष्टि रखता है। ब्रह्मज्ञानी के सम्बन्ध में ये बातें उपनिषद् में भी कही हैं। किन्तु गीता ने एक अतिरिक्त बात कह दी कि ब्रह्मज्ञानी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है – **'भक्तिं लभते पराम्'** । यह गीता की अपनी विशेषता है। इसलिए गीता में ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त भक्ति का भी महत्त्व है। विशेषकर गीता के इस अठारहवें अध्याय में तो भक्ति को ही सर्वोपरि बताया गया है। अर्जुन ने संन्यास और त्याग के बारे में प्रश्न किया किन्तु श्रीकृष्ण ने ज्ञान के फलस्वरूप मिलने वाली सिद्धि और ब्रह्मरूपता को बताने के बाद यह कहा कि साधनों की परिपूर्णता इतने मात्र से ही नहीं हो जाती। ब्रह्मज्ञानी भी ब्रह्मज्ञान के अनन्तर पराभक्ति को प्राप्त होता है।

इस प्रसंग में पहली बात तो यह विचारणीय है कि ब्रह्मज्ञानी शोक और हर्ष से तो ऊपर उठ जाता है किन्तु प्रसन्न रहता है। हर्ष में और प्रसन्नता में अंतर है। आनन्द दो प्रकार के हैं। सांसारिक वैभव मिलने से भी आनन्द होता है वह आनन्द समृद्धानन्द कहलाता है। ब्रह्मज्ञानी को समृद्धि में कोई रस नहीं आता। इसीलिए कहा जाता है कि शोक और हर्ष से रहित हो जाता है। जिसे समृद्धि के मिलने में सुख होगा उसे समृद्धि के छिन जाने में दुःख भी होगा। ब्रह्मज्ञानी इन दोनों से ऊपर है क्योंकि उसका इन्द्रियों के विषयों में कोई रस नहीं रहा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका जीवन नीरस हो जाता है। समृद्धानन्द के अतिरिक्त एक दूसरा आनन्द भी है – शान्तानन्द। यह आनन्द सांसारिक पदार्थों के मिलने से प्राप्त नहीं होता अपितु अन्तः करण की शुद्धि से प्राप्त होता है। इसे ही गीता ने प्रसन्नता कहा है क्योंकि प्रसन्नता का मूल अर्थ निर्मलता ही है। आत्मा तो स्वतः ही आनन्द रूप है, अन्तःकरण का मल हटते

ही वह आनन्द आविर्भूत हो जाता है। अतः ब्रह्मज्ञानी हर्ष अर्थात् समृद्धानन्द से ऊपर उठकर भी प्रसन्न अर्थात् शान्तानन्द में लीन रहता है। परवर्ती साहित्य में समृद्धानन्द को विषयानन्द तथा शान्तानन्द को ब्रह्मानन्द कहा गया है। ब्रह्म को जानना एक बात है और ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाना दूसरी बात है। हम इंग्लैंड के बारे में पुस्तकादि पढ़कर जानें – यह एक प्रकार का ज्ञान है और स्वयं इंग्लैंड में जाकर उसे देखें यह दूसरी बात है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मजिज्ञासा का अर्थ करते हुए यह अन्तर स्पष्ट किया है। 'ब्रह्म के बारे में जानने की इच्छा' सच्ची ब्रह्मजिज्ञासा नहीं है, सच्ची ब्रह्मजिज्ञासा 'ब्रह्म को जानने की इच्छा है'। संस्कृत व्याकरण के अनुसार कहें तो ब्रह्मजिज्ञासा, पद में सम्बन्धमात्र को बतलाने के लिये षष्ठी विभक्ति नहीं है, अपितु कर्म को बताने के लिए षष्ठी विभक्ति है।

गीता कहती है कि ज्ञानी भगवान् के स्वरूप को तत्त्वतः जानकर उसमें प्रविष्ट ही हो जाता है – **ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्**। यह भगवान् में प्रवेश कर जाना ही भगवान् की पराभक्ति है, जिसकी आकांक्षा ज्ञानी भी किया करते हैं। जल के प्रबल प्रवाह में हाथी भी बह जाते हैं क्योंकि हाथी जल का अंश नहीं बन पाते किन्तु उसी प्रवाह में छोटी-सी मछली भी प्रवाह के प्रतिकूल तैर जाती है क्योंकि वह जल का अंग बन गई है।

वासना का प्रवाह बहुत तीव्र है। उसमें विश्वामित्र जैसे ज्ञानी भी बह गए – ऐसा शास्त्रों में वर्णन है किन्तु कोई भक्त वासना के वशीभूत होकर मार्गच्युत हुआ हो, ऐसा कहीं भी वर्णन नहीं है। कारण यह है कि ज्ञानी अपने बल पर भरोसा रखता है किन्तु भक्त के लिए तो एकमात्र सहारा भगवान् ही है। जिसने सर्वशक्तिमान् भगवान् को अपना अवलम्ब बना लिया उसके सम्मुख सांसारिक आकर्षण अत्यन्त निर्बल पड़ जाते हैं।

मूल तथा अनुवाद

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

सब कर्मों को मुझ पर छोड़कर बुद्धि योग का सहारा लेकर मेरे में तत्पर रहते हुए निरन्तर मेरा ही चिन्तन करे ॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

मुझमें चित्त लगा मेरी कृपा से तुम समस्त संकटों को पार कर लोगे और यदि अहंकारवश (मेरी) न सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे ॥५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥५९॥

जो तुम अहंकार का सहारा लेकर यह मान रहे हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा – तुम्हारा यह निर्णय व्यर्थ है; प्रकृति तुम्हें बलपूर्वक युद्ध में लगा देगी ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥६०॥

हे अर्जुन ! जो तुम मोह के कारण नहीं करना चाहते हो उसे अपने स्वाभाविक कर्म से बँध कर विवश होकर करोगे ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥६१॥

हे अर्जुन ! यन्त्र पर आरूढ़ सब प्राणियों को ईश्वर अपनी माया से घुमाते हुए उन सबके हृदय में स्थित है ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे अर्जुन ! सब प्रकार उस परमेश्वर की शरण में जाओ, उसकी कृपा से शान्ति और शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

यह मैंने तुम्हें गूढ़ से गूढ़ ज्ञान दे दिया। इस पर सब प्रकार से विचार करके तुम जैसा चाहो वैसा करो ॥६३॥

विपुल-भाष्य

परमात्म-प्राप्ति का मार्ग

भारतीय परम्परा में नैष्कर्म्य की बहुत महिमा है। नैष्कर्म्य का अर्थ है कर्म में लिप्त न होना। ज्ञान पक्ष से देखें तो कर्म पुरुष को लिप्त कर ही नहीं सकते क्योंकि पुरुष स्वभाव से ही निर्लिप्त है। अज्ञान की ऐसी महिमा है कि व्यक्ति निर्लिप्त होते हुए भी अपने को बद्ध मान लेता है। मान्यता में बहुत बल है। जब व्यक्ति अपने को अज्ञानवश बद्ध मान लेता है तो वह वस्तुतः मुक्त होते हुए भी बद्ध पुरुष के समान आचरण करने लगता है।

अज्ञान का प्रतियोगी ज्ञान है। जैसे ही ज्ञान से अज्ञान नष्ट होता है साधक को अपने नैष्कर्म्य स्वरूप का बोध होने लगता है। इस बोध के दो फल हैं – अन्तःकरण की शुद्धि और ब्रह्म की प्राप्ति। अन्तःकरण की शुद्धि को गीता में सिद्धि कहा गया है। ब्रह्म प्राप्ति का अर्थ है – साधक का स्वयं ब्रह्म रूप हो जाना। अन्तःकरण की शुद्धि साधन है, ब्रह्म प्राप्ति साध्य है।

गीता ने अन्तःकरण की शुद्धि के लक्षण विस्तार से दिए हैं ताकि साधक यह पहचान सकें कि उसका अन्तःकरण कितना शुद्ध अथवा अशुद्ध है। जैसे अन्धकार का दूर होना और प्रकाश का प्रकट होना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; उसी प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि और ब्रह्म की प्राप्ति युगपद् होते हैं। अन्तःकरण की शुद्धि का मूल लक्षण है कि बुद्धि अनासक्त रहे। वस्तुतः आसक्ति ही अन्तःकरण को अशुद्ध बनाती है, कर्म नहीं। हम शरीर नहीं हैं किन्तु हमने अपने आपको शरीर मान लिया है तो हमारा समस्त व्यवहार भी ऐसा ही हो गया है कि मानो हम शरीर ही हैं। मिथ्या मान्यता का इतना प्रभाव है तो फिर यह सच्ची मान्यता तो और भी अधिक प्रभावशाली होगी कि कर्म प्रकृति में होते हैं, चेतना केवल साक्षी बनती है। यह समझ आते ही कर्म होते रहते हैं, किन्तु आसक्ति नहीं रहती। इस अनासक्त बुद्धि के दूरगामी परिणाम हैं। हमारे अन्दर एक द्वन्द्व चलता रहता है। हमारा एक मन हमें पाप में प्रवृत्त करता है। दूसरा मन पाप से रोकता है। यदि आसक्ति हो तो पाप का पक्ष प्रबल हो जाता है। अनासक्ति होने पर संयम का पक्ष प्रबल रहता है। ऐसी स्थिति को ही जितात्मा कहा जाता है। संसार स्पर्द्धा का नाम है। धन में, पद में, प्रतिष्ठा में सभी सांसारिक विषयों में मनुष्य की यह स्पर्द्धा रहती है कि वह दूसरों से आगे निकल जाए। पदार्थ कम हैं और उनके चाहने वाले अधिक हैं। अतः यह स्पर्द्धा संघर्ष में बदल जाती है। यह आसक्ति का फल है। जो संसार से विमुख होकर परमात्मा की ओर अभिमुख हो जाता है उसमें स्पर्द्धा की भावना समाप्त हो जाती है। परमात्मा को चाहे कितने भी लोग कितना भी चाहें, उनमें स्पर्द्धा नहीं होती क्योंकि परमात्मा अनन्त है। अनन्त में से अनन्त निकल जाए तो भी अनन्त ही शेष रह जाता है। इसलिए परमात्मा का कभी किसी के लिए अभाव नहीं रहता।

बुद्धि का स्वभाव विवेक करना है किन्तु विषयों की आसक्ति बुद्धि को भी अशुद्ध बना देती है। यदि हम शान्त मन से विचार करें तो पता चलेगा कि हमारी बुद्धि सहज ही उचित-अनुचित का भेद कर देती है किन्तु राग-द्वेष के वशीभूत होकर हम धर्म का अनुकरण नहीं कर पाते। कभी-कभी राग-द्वेष इतना प्रबल होता है कि हमें यह पता भी नहीं चलता कि हम अमुक कार्य राग-द्वेषवश कर रहे हैं। पहचान यह है कि यदि हम दूसरे के स्थान पर अपने को रखकर सोचेंगे तो तत्काल पता चल जाएगा कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इसीलिए धर्म की एक कसौटी दी गई कि जो अपने को प्रतिकूल प्रतीत होता हो, ऐसा व्यवहार दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए – आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

राग-द्वेष का कारण इन्द्रियों के विषय बनते हैं। इन्द्रियों की प्रवृत्ति बहिर्मुख होने की है। इसलिए वे रूप, रस आदि विषयों से आकृष्ट हो जाती हैं। उन विषयों की प्राप्ति के लिए साधक शरीर, मन और वाणी से अनुचित क्रियाएँ कर बैठता है। जिसके अन्दर आनन्द का स्रोत फूट पड़ा हो उसे विषयों में कोई आकर्षण नहीं रहता। ऐसा साधक पर-मुखापेक्षी नहीं होता। इसलिए वह एकान्तप्रिय होता है।

परमात्मा का ध्यान वैराग्य

अन्न से केवल हमारा शरीर ही नहीं बनता मन भी बनता है। शरीर की आसक्ति और भोजन की आसक्ति में परस्पर गहरा सम्बन्ध है। यदि शरीर के प्रति आसक्ति नहीं होगी तो भोजन के प्रति भी आसक्ति नहीं होगी। परिणामतः साधक मिताहारी होगा।

लक्ष्य बदलने से ध्यान का विषय भी बदला जा सकता है। सांसारिक सुखों की इच्छा रहे तो ध्यान भी उन्हीं का होता है। यदि लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति हो जाए तो ध्यान भी सदा परमात्मा का ही रहता है। विषयों का ध्यान राग है। परमात्मा का ध्यान वैराग्य है।

हम अहंकार के पोषण के लिए विषय-भोग की सामग्री चाहते हैं और विषयभोग की सामग्री से हमारा अहंकार पुष्ट होता है। हम समझते हैं कि शक्ति से कार्य की सिद्धि होती है। यह शक्ति अनेक प्रकार की है – शारीरिक शक्ति, आर्थिक शक्ति और सत्ता की शक्ति। जैसे-जैसे ये शक्तियाँ बढ़ती हैं वैसे-वैसे हमारी इच्छाएँ भी बढ़ती हैं और दर्प भी बढ़ता है। हम समझने लगते हैं कि हम सर्वशक्तिमान् हैं। सबको हमारी आज्ञा में रहना चाहिए। यदि कोई हमारी इच्छा के विरुद्ध थोड़ा-सा भी चला जाए जो हम क्रोध में आपा खो बैठते हैं। संसारी व्यक्ति समझता है कि वह वस्तुओं का स्वामी है, किन्तु यथार्थ में वस्तु ही उसकी स्वामी हो जाती है। इसे ही परिग्रह कहा जाता है। जैसे-जैसे वस्तुएँ बढ़ती हैं व्यक्ति समझता है कि वह स्वावलम्बी होता जा रहा है किन्तु वस्तुतः वह परावलम्बी होता जाता है। यह सब परिस्थिति अशान्ति की ओर ले जाती है। जब तक पदार्थ का ममत्व नहीं छूटता तब तक शान्ति नहीं मिल सकती।

अशान्त मन का लक्षण है कि वह वर्तमान से सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु परमात्मा सदा वर्तमान में है। अशान्त मन सदा भविष्य में रहता है, इसलिए अशान्त मन का कभी परमात्मा से मिलन नहीं होता। हम समझते हैं कि परमात्मा मिल जाएगा तो शान्ति मिल जाएगी। हमारा अभ्यास सांसारिक वस्तुओं की कामना करने का है। सांसारिक वस्तुओं का नियम है कि वे मिलने पर सुख देती हैं। परमात्मा का नियम इसके विपरीत है। परमात्मा मिलेगा तो शान्ति नहीं मिलेगी, अपितु हम शान्त हो जाएँगे तो परमात्मा मिल जाएगा। बल्कि ठीक तो यह कहना होगा कि हमारा अपना शान्त रूप ही परमात्मा है। अर्थात् जब हम अशान्त हैं तो जीव हैं जब शान्त हैं तो परमात्मा हैं।

गीता कहती है- 'शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।

परमात्मा को प्राप्त करना है – यह सुनते ही हमारा मन उसी दिशा में दौड़ने लगता है जिस दिशा में पैसे या पद को प्राप्त करने के लिए दौड़ता है। पैसा या पद हमसे दूर हैं इसलिए उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ना पड़ता है। परमात्मा हम स्वयं हैं, उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ना नहीं पड़ता, स्थिर होना पड़ता है। हम स्थिर होना चाहते हैं किन्तु विषयों का आकर्षण हमें स्थिर नहीं होने देता। हम समझते हैं कि जिस प्रकार प्रयत्न करने से पैसा मिल जाता

है उसी प्रकार प्रयत्न करने से परमात्मा भी मिल जाएगा। पैसा छोटी चीज है इसीलिए उसके लिए थोड़ा प्रयत्न करना पड़ता है, परमात्मा बड़ी चीज है उसके लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ेगा – यह सब विचार हमारे मन की वासना से पैदा होते हैं। पैसे से थोड़ा सुख मिला तो अधिक सुख के लिए परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए – यह आवाज़ मन में बैठी हुई सुख के प्रति आसक्ति से निकल रही है। इस मार्ग पर शान्ति नहीं, अशान्ति ही है। किसी को यह अशान्ति है कि उसे पैसा नहीं मिला तो किसी के लिए परमात्मा का न मिलना भी अशान्ति का ही कारण बनेगा, क्योंकि दोनों खोजों के मूल में आसक्ति है। संसार की उपलब्धि के मार्ग से परमात्मा की उपलब्धि का मार्ग उल्टा है। संसार की उपलब्धि आसक्तिपूर्वक होती है। परमात्मा की उपलब्धि अनासक्तिपूर्वक होती है। यदि अनासक्ति हो तो सांसारिक उपलब्धि भी विभूति ही बन जाती है – परिग्रह नहीं। परम अनासक्ति भाव के कारण ही समस्त विश्व ईश्वर की विभूति है, परिग्रह नहीं। अनासक्ति हो तो जीव भी ईश्वर है।

ज्ञानी की भक्ति

श्रीकृष्ण ने विवेचन भक्ति का किया किन्तु अन्त में उसे गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान बता दिया। अभिप्राय यह हुआ कि ज्ञान की चरम परिणति भक्ति है। एक स्थिति बुद्धि के पूर्व की है जिसे हम भोलापन कहते हैं। निषाद, शबरी और गोपियों की भक्ति ऐसी ही है। उन्हें समझदारी से कोई मतलब नहीं। वे सहज, सरल और ऋजु हैं। वे समझदारी के बोझ से आक्रान्त नहीं रहते। उनके रक्त-चाप या हृदय-रोग नहीं होता। वे सहज ही समर्पित हैं। उन्हें किसी विधि-विधान का पता नहीं है, किन्तु वे यह जानते हैं कि भगवद्भक्ति में आनन्द है। भगवद्भक्ति का आनन्द उन्हें विषयों के आनन्द से स्वतः ही मुक्त कर देता है। फिर उन्हें किसी योगाभ्यास की भी आवश्यकता नहीं रहती। यह भक्ति का एक स्वरूप है। ऐसे भक्तों से ज्ञान की चर्चा करो तो उनकी उस चर्चा में कोई रुचि नहीं है।

बुद्धिमानों को ऐसी सरलता प्राप्त नहीं होती। अर्जुन बुद्धिमान् है। वह गीता के प्रारम्भ में युद्ध के विरोध में वे सारे तर्क दे देता है, जो किसी के भी द्वारा दिए जा सकते हैं। उसके तर्क सुनकर श्रीकृष्ण को भी कहना पड़ा कि तुम बहुत बुद्धिमानों की तरह बातें कर रहे हो – **प्रज्ञावादांश्च भाषसे।** श्रीकृष्ण ने उसे प्रारम्भ में ही बता दिया कि आत्मा अजर-अमर है। न कोई मरता है और न किसी को कोई मारता है। क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए और जीत-हार की चिन्ता न करते हुए उसे स्थितप्रज्ञ रूप में युद्ध करना चाहिए। बात तो यहीं समाप्त हो गई थी। अर्जुन को इतना सुनकर ही युद्ध के लिए तत्पर हो जाना चाहिए था। किन्तु अर्जुन ने पुनः प्रश्न उठा दिया कि यदि ज्ञानयोग श्रेष्ठ है, तो फिर उसे कर्म के लिए क्यों कहा जा रहा है। यही नहीं, अर्जुन प्रश्न करता ही रहा – कैसे जानूँ कि पुनर्जन्म होता है, कर्म और योग में कौन श्रेयस्कर है, चित्त को स्थिर कैसे किया जाए, योग भ्रष्ट की क्या गति होती है, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव क्या है, भगवान् की दिव्य विभूतियाँ कौन-सी हैं, भक्त और अव्यक्त अक्षर के उपासकों में श्रेष्ठ कौन है, अविधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान का क्या फल है तथा संन्यास का क्या स्वरूप है। अर्जुन प्रश्न करता रहा श्रीकृष्ण उत्तर देते रहे। किन्तु अर्जुन ने यही नहीं कहा कि उसने श्रीकृष्ण की युद्ध करने की आज्ञा का पालन करने का निर्णय ले लिया है। श्रीकृष्ण ने तो आज्ञा पहले ही दे दी थी – **तस्माद्युध्यस्व भारत।** यह बुद्धिमान् व्यक्ति की स्थिति है; वह प्रश्न करता रहता है, उसे उत्तर भी मिलता रहता है। इस प्रश्नोत्तरी में ही जीवन निकल जाता है किन्तु सही निर्णय नहीं लिया जाता। सही निर्णय तो समर्पण में है, इस समझ में है कि व्यक्ति के करे कुछ नहीं होता, ईश्वर की इच्छा ही सर्वोपरि है। यही भक्ति है। जब बुद्धि विचार कर करके हार जाती है तो व्यक्ति सब कुछ भगवान् पर छोड़ देता है। एक भक्ति उनकी है जो बुद्धिमान् नहीं हैं, सरल हैं – निषाद, शबरी, गोपियाँ। एक भक्ति उनकी है जो बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा को प्राप्त करके जान गए हैं कि जीवन का रहस्य बुद्धिगम्य नहीं है, बुद्धि से परे है। इसी स्थिति के लिए कहा गया है कि भक्ति गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान है। ज्ञानी अज्ञान से लड़ता है। किन्तु यह अज्ञान कहीं बाहर से आया नहीं, अपने ही अन्दर है। अज्ञान से लड़ना अपने से ही लड़ना है। मजेदार बात यह है कि अहङ्कार-वश हम अपने अज्ञान को ही ज्ञान समझ लेते हैं। जहाँ तक प्रकृति है, बुद्धि है, वहाँ तक तीन गुणों का ही साम्राज्य है। ये तीनों ही

गुण माया हैं। माया ही माया से लड़ती है। देवासुर संग्राम में हम देवों की विजय की कामना भले ही करें किन्तु यदि असुर माया से ग्रस्त हैं तो देवता भी माया से मुक्त नहीं हैं। बौद्धिक स्तर पर तमस् और रजस् से सत्त्व श्रेष्ठ है; जो सत्त्व को सर्वोपरि मानकर सात्त्विक जीवन जीने में ही अपनी कृतकृत्यता मान लेते हैं वे भी इस सूक्ष्म अहङ्कार में ही जी रहे हैं कि वे बहुत पवित्र हैं, महात्मा हैं।

अहङ्कार से मुक्ति तो अपने को मिटा देने में है। यह अपने को मिटा देना ही भक्ति है, समर्पण है। अपने को मिटाने का अर्थ अपने मन को मिटाकर कर्तृत्व की भावना को मिटा देना है। जब तक मन है तब तक यह अहङ्कार है कि मैं विचार करके सत्य को जान लूँगा। सत्य को जानने में विचार ही तो बाधक है, विचार से सत्य को कैसे जाना जाएगा? जब तक कर्तृत्व का अहङ्कार है तब तक यह भाव रहेगा कि मैं पुरुषार्थ करके सत्य को पा लूँगा। किन्तु क्या कोई विचार करके सत्य को जान पाया या पुरुषार्थ करके सत्य को पा सका? सत्य को उन्होंने जाना और उन्होंने पाया जिन्होंने अपने को छोड़ दिया, मिटा दिया।

भक्ति की भाव-दशा की एक झलक सांसारिक प्रेम में मिल सकती है। किन्तु प्रेम होना चाहिए, वासना नहीं। जब हम अपने शिशु पुत्र का मुग्ध भाव देखते हैं तो क्या उस समय कोई विचार रहता है कि यह मेरा पुत्र है, मैं इसका प्रयत्नपूर्वक अच्छी प्रकार पालन-पोषण करूँ ताकि बड़ा होने पर ये मेरी सेवा कर सके? यदि हम अपने शिशु पुत्र के प्रति प्रगाढ़ प्रेम से (वात्सल्य भाव से) आविष्ट होते हैं, तो उस समय न कोई विचार होता है, न कुछ करने का भाव; केवल आनन्द की अनुभूति ही शेष रह जाती है। वस्तुतः अनुभूति में और विचार में विरोध है। यदि हम स्वादिष्ट भोजन का भी आनन्द ले रहे हों तो उस समय विचार उस भोजन के आनन्द में बाधक ही बनता है। प्रत्येक अनुभव मौन में होता है।

मूल तथा अनुवाद

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

सबसे गूढ़ मेरे इस परम वचन को पुनः सुनो। मुझे तुम अत्यन्त प्रिय हो। इसलिये यह हितकारी बात तुमसे कह रहा हूँ॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥

मुझमें अपना मन लगाओ। मेरे भक्त बन कर मेरा यजन करो, मुझे प्रणाम करो। इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो। यह मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा कर रहा हूँ॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर एक मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा। दुःखी मत हो ॥६६॥

विपुल-भाष्य

शरणागति

श्रीकृष्ण का उपदेश सम्पन्नता की ओर जा रहा है। अर्जुन ने अनेक प्रश्न किए। श्रीकृष्ण ने उत्तर भी दिए। प्रश्न बुद्धि से उत्पन्न होते हैं उत्तर भी बुद्धि से ही दे दिया जाता है। अनादि काल से प्रश्न उठते रहे हैं और अनन्त काल तक उठते रहेंगे। उत्तर भी दिए जाते रहे हैं और दिए जाते रहेंगे। इस प्रश्नोत्तरी का कोई अन्त नहीं है। यह बुद्धि

विलास है। शतरंज के खेल में मोहरे वही रहते हैं लेकिन बाजी हर बार नए ढंग से खेली जाती है। बाजी खेलने के कितने ढंग हो सकते हैं, इसका कोई अन्त नहीं। इसलिए उन्हीं गिने-चुने मोहरों से शतरंज के खिलाड़ी रोज नया खेल खेल लेते हैं।

जीवन भी एक शतरंज का खेल है। वही थोड़े से मोहरे हैं – पद, पैसा, प्रतिष्ठा, पुत्र, पौत्र, जमीन, मकान और इन्हीं थोड़े से मोहरों से जो कि गिने-चुने हैं, हम जीवन की शतरंज रोज नए सिरे से खेलना चालू कर देते हैं। इस खेल का अन्त एक जीवन में नहीं आता तो फिर नए जीवन से वही खेल दुबारा चालू हो जाता है।

जीवन के वही चार पड़ाव बचपन, यौवन, प्रौढ़ता और जरा बार-बार आते रहते हैं। पर शतरंज का खेल खतम नहीं होता –

चाहत हौं धन होय किसी विध तो सब काज सरौं जियराजी।
गेह चुनाय करौं गहना कछु ब्याही सुतासुत बाँटिये भाजी।
चिन्तत यौं दिन जाहि चले, जम आन अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलाड़ी गए, रहि जाय रुपि शतरंज की बाजी।

इस खेल के कुछ नियम हैं। उन नियमों के कुछ शास्त्र हैं – अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र नियम बनाते हैं। पुराने नियमों में इस आशा से सुधार किया जाता है कि सुधरे हुए नियमों का पालन करने से शतरंज के खेल में हार नहीं होगी। लेकिन जीवन इतना जटिल है कि उसकी पहेलियाँ इन नियमों के बावजूद उलझी रह जाती हैं। राज्य संस्था बनी, राजतंत्र आया, प्रजातंत्र आया, समाजवाद आया किन्तु मनुष्य अन्दर से उतना ही खोखला है। त्रिविधताप का भय ज्यों का त्यों बना है। अतीत की स्मृतियों का अनावश्यक भार और भविष्य की चिन्ताओं का तनाव वर्तमान में भी चैन नहीं लेने देता। तब मनुष्य ऊहापोह करता रहता है। प्रश्न उठाता है, उत्तर खोजता है, किन्तु हर उत्तर के बाद फिर नया प्रश्न खड़ा हो जाता है। यह इस बात का सूचक है कि जो उत्तर खोजा गया था वह उत्तर अंतिम नहीं था।

उपनिषद् में प्रश्न उठाया गया कि क्या कोई ऐसा ज्ञान है जिसे जान लेने पर फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता – कस्मिन्नु खलु भगवन्! विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति? मनुष्य विदितवेदितव्य कब बन जाता है? ऐसा ज्ञान ही तो परम वचन हो सकता है, क्योंकि उसके बाद बोलने की आवश्यकता नहीं रहती। वह ज्ञान गुह्यतम भी है। यदि ऐसा न होता तो उसे सभी जान लेते और सभी तापत्रय से मुक्त हो जाते।

गीता के अन्त में सारे ऊहापोह के बाद वह ज्ञान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दे दिया। वेद व्यास जी ने उस ज्ञान को लिपिबद्ध करके कृपापूर्वक हम तक पहुँचा भी दिया। गीता के एक श्लोक में घनीभूत होकर वह ज्ञान समाहित है – सब ऊहापोह को छोड़कर भगवान की शरण में आने से सभी पाप और दुःख से मुक्ति मिल सकती है। जब सभी कर्म भगवान् पर छोड़ दिए तो क्या गलत हुआ? और क्या ठीक हुआ? इसकी चिन्ता से स्वतः ही मुक्ति मिल गई। जब सभी कर्मों का फल भी भगवान् को अर्पित कर दिया तो अपने लिए तो न कुछ अनुकूल रहा न प्रतिकूल रहा। यही शान्ति का एक मात्र उपाय है। एक इच्छा पूरी हो जाने पर क्षण भर के लिए ऐसा लग सकता है कि व्यक्ति कृत-कृत्य हो गया, किन्तु दूसरे ही क्षण कोई दूसरी इच्छा व्यक्ति को व्याकुल बना देती है। जैसे चर्म रोगी को खाज खुजाने पर आराम मिलता हुआ सा दिखाई पड़ता है किन्तु खुजाने से चर्मरोग मिट नहीं जाता और जब तक चर्म रोग है तब तक खुजली का अन्त नहीं।

विषय-भोगों की यही स्थिति है। जब तक भोग की कामना है तब तक समस्या का अन्त नहीं क्योंकि एक भोग मिल जाने पर दूसरे भोग की कामना दौड़ाने लगती है। इस दौड़ का अन्त नहीं होता, जीवन का ही अन्त हो जाता है। परम वचन यह है कि इस दौड़ का अन्त शरणागति में है। शरणागति इस ज्ञान से उत्पन्न होती है कि अस्तित्व में हम अकेले नहीं हैं। अस्तित्व बहुत बड़ा है। हम उसके एक अत्यन्त छोटे हिस्से हैं।

समर्पण ही भक्ति

विचार में हम किसी अनुभव के बारे में सोच सकते हैं, लेकिन किसी अनुभव का साक्षात्कार विचार में नहीं, निर्विचारता में ही होता है। जब विचार नहीं होता तो मानो हम नहीं होते और जब हम नहीं होते तो भगवान् होते हैं। यही समर्पण है, यही भक्ति है। श्रीकृष्ण का सारा प्रयास इस दिशा में है कि अर्जुन 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस कर्तृत्वजन्य अहङ्कार को छोड़कर यह समर्पण करे कि मैं वही करूँगा जो प्रभु की इच्छा होगी। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो तेरी इच्छा हो सो कर – यथेच्छसि तथा कुरु। होना यह चाहिए था कि अर्जुन कहता कि इच्छा मेरी नहीं, आपकी चलेगी। मेरी कोई इच्छा नहीं है। किन्तु इच्छाओं से भरा हुआ मन ऐसा कैसे कह सकता है? हम तो स्वयं भगवान् की इच्छानुसार चलने की जगह भगवान् को अपनी इच्छानुसार चलाने का आग्रह करते रहते हैं – भगवान् ! यह कार्य इस प्रकार हो जाए, यह कार्य इस प्रकार न हो जाए। भक्त की प्रार्थना इससे विपरीत होती है – मैं भगवान् की सारी इच्छाएँ पूरी करूँ, मेरी स्वयं की कोई इच्छा है ही नहीं।

भगवान् ने अपनी इच्छा शास्त्र के माध्यम से प्रकट कर दी है। शास्त्र में सन्देह हो तो गुरु से सन्देह का निवारण किया जा सकता है। भगवान् ने एक और भी हमें ऐसा उपकरण दिया है जो सदा हमारे साथ है और जिससे हम पूछ सकते हैं कि भगवान् की क्या इच्छा है। वह उपकरण है – हमारा अन्तःकरण। हम अन्तःकरण की आवाज को लगातार ठुकराकर उस उपकरण को भी निष्क्रिय बना दें तो यह हमारी नालायकी है, अन्यथा भगवान् की क्या इच्छा है, यह हमारा अन्तःकरण ही बता देता है। वह सदा कहता है – सत्याचरण करो, आलस्य छोड़ो, समभाव रखो। जिन्होंने शास्त्र भी बनाए हैं उन्होंने अन्तःकरण की आवाज सुनकर ही बनाए हैं। यही ऋषियों का साक्षात्कृतधर्मत्व है। फिर भी दुविधा तो है। शास्त्रों में मतभेद है। सम्प्रदाय परस्पर विरोधी बातें कहते हैं। अर्जुन पाप से डरकर युद्ध नहीं करना चाहता था किन्तु श्रीकृष्ण ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। आज भी ऐसे लोग मिल जाएँगे जो कहेंगे कि अर्जुन का ही निर्णय ठीक था, श्रीकृष्ण ने उसे गलत राय दी।

बहुत कोशिश की गई है कि संसार के सब लोग एकमत हो जाएँ। संसार में एक धर्म रह जाए, क्योंकि परस्पर विरोधी धर्मों में कोई एकमत ही ठीक हो सकता है, सब मत ठीक कैसे हो सकते हैं। किन्हीं नासमझ लोगों ने तो तलवार के बल पर भी एकमत स्थापित करने का प्रयत्न किया। लेकिन मतभेद आज भी कायम है। जिन लोगों ने सारे संसार को एकमत बनाने की बात सोची थी, उनमें स्वयं में ही परस्पर मतभेद हो गए। यह स्वाभाविक है क्योंकि मत बुद्धिपूर्वक बनते हैं और बुद्धि प्रकृति का कार्य है तथा प्रकृति में विषमता रहती ही है। प्रकृति की साम्य अवस्था तो प्रलय में ही होती है। जब तक संसार है, तब तक मतभेद रहेंगे। फिर ठीक-गलत के निर्णय की क्या कसौटी है? एक ही कसौटी है, जो अहङ्कार को छोड़कर भगवान् की शरण में आ गया, वह सब पापों से छूट गया। अहङ्कार का छोड़ना कोई बौद्धिक कार्य नहीं है, यह हार्दिक प्रेम का कार्य है। जहाँ तक बुद्धि है वहाँ तक मतभेद है और जहाँ तक मतभेद हैं वहाँ तक बुद्धि है। यह बुद्धि ही अहङ्कार की जननी है। हम सबको अपनी बुद्धि सर्वश्रेष्ठ लगती है। फिर भला हम दूसरे की बात क्यों मानेंगे? यही अहङ्कार है। अहङ्कार में अपनी गलत बात भी ठीक लगती है और दूसरे की ठीक बात भी गलत लगती है। फिर हम अपने अनुकूल तर्क ढूँढ लेते हैं। तब तर्क-वितर्क चलते हैं निर्णय कुछ नहीं हो पाता। समझा यह जाता है कि सत्य की लड़ाई हो रही है। वस्तुतः लड़ाई अहङ्कारों की होती है।

सत्य लड़कर प्राप्त नहीं होता है। मतभेदों में न उलझें – सर्वधर्मान् परित्यज्य। सत्य समर्पण से मिलता है – मामेकं शरणं व्रज। यहाँ श्रीकृष्ण बौद्धिक स्तर पर नहीं, आत्मीय स्तर पर बोल रहे हैं। जब तक गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, पिता-पुत्र कोई भी बौद्धिक स्तर पर बोलेगा द्वंद्व ही छिड़ेगा। द्वंद्व ही पाप है। द्वन्द्वातीता ही पाप से छुटकारा दिला सकती है। द्वन्द्वातीता आत्मिक स्तर पर हो सकती है। यह केवल परमार्थ का सूत्र ही नहीं है, सांसारिक सम्बन्ध भी आत्मिक स्तर पर होंगे तो ही मधुर होंगे, बौद्धिक स्तर पर तो टकराहट ही टकराहट है।

श्रीकृष्ण आत्मिक स्तर पर बोल रहे हैं, बौद्धिक स्तर पर नहीं। इसलिए गीता का कोई सम्प्रदाय नहीं बन सका। सम्प्रदाय के लिए एक आग्रह चाहिए – कर्म ही ठीक है, ज्ञान नहीं; अद्वैत ही ठीक है, द्वैत नहीं। गीता का

ऐसा कोई आग्रह नहीं। इसलिए यह द्वैतवादी सांख्य को भी मान्य है, अद्वैतवादी वेदान्ती को भी, ज्ञानवादी शङ्कर भी इसके अनुयायी हैं, कर्मवादी तिलक भी। आत्मा में सभी बुद्धियाँ समाहित हैं – हाथी के पाँव में सबके पाँव की तरह।

मूल तथा अनुवाद

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

यह ज्ञान उसे कभी भी नहीं देना चाहिये जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, सुनना नहीं चाहता और जो मुझसे ईर्ष्या रखता है उसे भी नहीं देना चाहिये ।।६७।।

विपुल-भाष्य

ज्ञान का अधिकारी

अस्तित्व अखंड है। कहीं एक तिनका भी हिलता है तो उससे पूरा अस्तित्व प्रभावित होता है। इसके साथ ही जब तक पूरा अस्तित्व ही न चाहे एक तिनका भी नहीं हिल सकता। यह पूरा अखंड अस्तित्व ही भगवान् है। जो सत् है वही तो चिदानन्द है और जो सच्चिदानन्द है वही भगवान् है। पूरे अस्तित्व की इच्छा आनंद की ही हो सकती है। पूरा अस्तित्व हमारा अहित कभी नहीं चाह सकता। दुःख पैदा तब होता है जब हम अस्तित्व की आह्लादनीय इच्छा के सम्मुख अपनी क्षुद्र इच्छा लेकर जाते हैं। भक्ति की पहली शर्त अपनी क्षुद्र इच्छाओं को छोड़ना है। इसी का नाम शरणागति है।

जीवन का परम सत्य तो श्रीकृष्ण ने गीता में बता दिया। हमने उसे सुन भी लिया। फिर भी यदि हमारे जीवन में शान्ति घटित नहीं होती है तो वह इसलिए कि हम अभी उस उपदेश के अधिकारी नहीं बन पाए। इसलिए श्रीकृष्ण ने कहा यह उपदेश उसे नहीं देना चाहिए जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, इस उपदेश को सुनना न चाहे और जिसकी दृष्टि सदा दोष ढूँढ़ने में लगी रहे।

तपस्या का अर्थ है दुःख में विचलित न होना। ये दुःख अनेक प्रकार के हैं। धन की हानि हो जाए, अपमान हो जाए, प्रियजन का वियोग हो जाए तो हमें दुःख होता है। कोई हमारी बात काट दे, हमारे मत को गलत बताए तो भी हमें दुःख होता है। हम पराजित हो जाएँ, दूसरा विजयी हो जाए, तो भी हमें दुःख होता है। इन सब प्रकार के दुःखों में मनुष्य अविचल भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रहे, यह तपस्या है। सामान्य सांसारिक सफलता प्राप्त करने के लिए भी बड़ी तपस्या करनी पड़ती है फिर परम सत्य को प्राप्त करने के लिए तो पूरे जीवन को ही बाजी पर लगाना होता है। जो इसके लिए तैयार है वही इस उपदेश का अधिकारी है क्योंकि शरणागति का अर्थ अपने को मिटा देना ही तो है –

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुई धरै, तो पैठे घर माहिं।।

× × ×

मिटा-दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मर्तबा चाहे,
कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है।

जिसमें भोग की इच्छा शेष है वह बचना चाहता है वह मिटने के लिए तैयार नहीं होता। वह भगवान् की शरण पाने का अधिकारी नहीं है।

भक्ति का अर्थ है कि हम गुरु के भाग बन जाएँ। एक ज्ञान सूचना-परक होता है, वह बौद्धिक ज्ञान है। जैसे एक कैसेट में भरा हुआ सन्देश दूसरे कैसेट में उतार लिया जाए, वैसे ही गुरु के मस्तिष्क में एकत्रित सूचनाएँ

शिष्य के मस्तिष्क में चली जाती हैं। इसके लिए भक्ति की आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक ज्ञान बौद्धिक स्तर पर नहीं होता, अपितु अनुभूति के स्तर पर होता है। गुरु शरणागति में जिस आनन्द का अनुभव कर रहा है शिष्य उस आनन्द का अनुभव तभी कर सकता है जब वह गुरु से संवेदना के स्तर पर जुड़े। यही भक्ति है।

शिष्य के मन में यदि सुनने की इच्छा नहीं है तो यह परम गुह्य ज्ञान उसके लिए बेकार हो जाता है। प्रथम तो वह इस ज्ञान को सुनेगा ही नहीं और यदि येन-केन-प्रकारेण उसे सुना भी दिया जाए तो वह इसमें हजार दोष निकाल देगा – यह सब अन्धविश्वास है, भगवान् कुछ नहीं है। भगवान् को किसने देखा? सब कुछ भगवान् करता है – यह मान लेने पर तो सब आलसी हो जाएंगे इत्यादि। वस्तुतः यह विषय तर्क का नहीं श्रद्धा का है। इसलिए श्रीकृष्ण ने यह नहीं कहा कि बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त कर लेता है, बल्कि यह कहा कि श्रद्धावान् ज्ञान को प्राप्त होता है –

मोहब्बत के लिए भी कुछ दिले मखसूस होते हैं।
ये वो नगमा है जो हर साज पर गाया नहीं जाता।।

गीता ज्ञान के कुपात्र

गीता के ज्ञान के भी कुछ कुपात्र हैं। पहले बता दिया कि जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसमें सुनने की इच्छा नहीं है और जो ईर्ष्या करता है उसे गीता का ज्ञान नहीं देना चाहिए। अब सारी बात को समेटते हुए कह दिया गया कि इस परम गुह्य ज्ञान को भक्त के प्रति ही कहना चाहिए। जिसमें भक्ति नहीं है उसके प्रति यह ज्ञान देना भैंस के सामने बीन बजाने के समान है। वीणावादक वर्षों की साधना के बाद किसी राग की सूक्ष्मता में जाता है। लेकिन भैंस के लिए उस सूक्ष्मता का कोई अर्थ नहीं। जिसमें श्रद्धा नहीं है उसके सामने गीता का ज्ञान कहा जाए तो उसकी यही स्थिति होती है।

यह महत्वपूर्ण है कि गीता के अधिकारी के लिए भक्ति, श्रद्धा और अनुसूया अर्थात् ईर्ष्या के अभाव की शर्त लगाई गई है। बहुत पढ़े-लिखे होने की शर्त नहीं लगाई गई, न बहुत बुद्धिमान होने की शर्त लगाई गई। परम सत्य परम सरल है। सब कुछ भगवदर्पण कर दो – इससे ज्यादा सरल और क्या हो सकता है? सब भार भगवान् पर डाल दिया, स्वयं निर्भार हो गए। लेकिन बुद्धि इतना सरल नहीं होने देती। वह तर्क करती है कि सब कुछ भगवान् पर डालने पर भी उचित-अनुचित का निर्णय तो हमें ही लेना होगा। लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाए, इसकी युक्ति तो हमें ही सोचनी होगी। पुरुषार्थ भी हमें करना होगा। तर्क के स्तर पर ये सब बातें ठीक ही नजर आती हैं। इसलिए जो बुद्धि के स्तर पर जीते हैं वे समर्पण नहीं कर सकते।

समर्पण का क्षेत्र प्रेम का है, तर्क का नहीं। मां बच्चे से प्रेम करती है तो स्वयं सारे कष्ट उठाती हैऔर उन कष्टों में दुःख भी नहीं मानती। किन्तु यदि बच्चे को जरा सा भी कष्ट हो जाए तो अधीर हो उठती है। स्वयं का कष्ट कुछ नहीं है, बच्चे का कष्ट सब कुछ है – यह तर्क से समझ में नहीं आता है, लेकिन प्रेम में घटित हो जाता है। तर्क में समर्पण नहीं होगा। भक्ति में समर्पण घटित हो जाएगा। घटित हो जाना हम इसलिए कह रहे हैं कि समर्पण स्वतः ही घटित होता है, किया नहीं जाता। जैसे प्रेम स्वयं घटित होता है, किया नहीं जाता। जब प्रेम घटित होता है तो हमारे यह चाहने पर भी कि हम प्रेम न करें, प्रेम हो ही जाता है, क्योंकि हम प्रेम के कर्त्ता नहीं हैं। भक्ति में समर्पण घटित होता है। समर्पण के हम कर्त्ता नहीं होते। इसलिए मीरा जैसे भक्तों ने अपने को प्रेम दीवानी कहा है। दीवाना स्वयं कुछ थोड़े ही करता है, दीवानगी उससे कुछ भी करवा लेती है। प्रेम में हम उस अकर्त्तृत्व का पाठ पढ़ते हैं जो अकर्त्तृत्व ज्ञान का चरम लक्ष्य है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो परमभक्ति को प्राप्त हो जाता है वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। भक्त ही गीता का अधिकारी है। शुभ कर्म करने वाला भी भगवान को प्रिय है, लेकिन भक्त उन्हें सबसे अधिक प्रिय हैं।

स्वयं भक्तिपूर्वक ज्ञान की बात कह कर ही श्रीकृष्ण समाप्त नहीं कर देते। वे यह भी कहते हैं कि इस ज्ञान को स्वयं प्राप्त करके दूसरे भक्तों को भी सुनाना चाहिए। यह गीता का लोक-संग्रह का भाव है। जो मुक्ति को स्वार्थ

परायणता मानते हैं, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि मुक्त पुरुष अपनी ही मुक्ति से सन्तुष्ट नहीं होता दूसरों की मुक्ति का भी प्रयत्न करता है। तब उन्हें स्वार्थी कैसे कहा जा सकता है? कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य – इनमें कोई भी स्वयं के आत्मानन्द में दूसरों को भूलते नहीं हैं बल्कि प्राणिमात्र के कल्याण के लिए जितना अथक प्रयत्न करते हैं उतना प्रयत्न परोपकार का झूठा ढोल पीटने वाले कभी भी नहीं कर पाते। श्रीकृष्ण ने केवल श्रद्धापूर्वक ज्ञान की बात नहीं कही, ज्ञानयज्ञ के द्वारा भगवान् अर्थात् समष्टि को तृप्त करने की बात भी की है। यहाँ स्वार्थ और परार्थ दोनों परमार्थ में एकाकार हो जाते हैं।

मूल तथा अनुवाद

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

जो इस परम गूढ़ तथ्य को मुझमें परमभक्ति रखते हुए मेरे भक्तों में इसे कहेगा वह निश्चय ही मुझे ही प्राप्त कर लेगा ।।६८।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

उससे बढ़कर मनुष्यों में मुझे कोई भी प्रिय नहीं है और पृथ्वी में उससे बढ़कर प्रिय और कोई भी दूसरा नहीं होगा ।।६९।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

मैं मानता हूँ कि जो कोई हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का मनन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित हो जाऊँगा ।।७०।।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

जो व्यक्ति श्रद्धायुक्त और ईर्ष्या रहित होकर इसे सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वालों के उत्तम लोकों को प्राप्त होगा ।।७१।।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

हे अर्जुन ! क्या तुमने इसे एकाग्रचित्त से सुना? हे अर्जुन ! क्या तुम्हारा ज्ञान और मोह दूर हुआ? ।।७२।।

अर्जुन उवाच –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अर्जुन बोले –

हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह चला गया, मुझे होश आ गया। सन्देह को छोड़कर मैं उपस्थित हूँ। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। ।।७३।।

विपुल-भाष्य

गीता की फलश्रुति

संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों के अन्त में फलश्रुति रहती है। गीता के अन्त में भी गीता के पढ़ने-पढ़ाने की फलश्रुति दी गई है। फलश्रुति से पाठक के मन में उस ग्रन्थ का महत्व अंकित हो जाता है। गीता का महत्व कम से कम भारतीय के मन में तो सहज ही अङ्कित है। पण्डित मधुसूदन ओझा ने तो गीता को श्रुति कहा है। श्रुति का अर्थ है – वे वाक्य जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध हो। सामान्यतः हम कुछ भी कहें, उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता पर ऊहापोह किया जा सकता है, किन्तु श्रुति की प्रामाणिकता पर ऊहापोह का अवकाश नहीं होता। कारण यह है कि श्रुति का वक्ता आप्त होता है। आप्त पुरुष का वाक्य शब्दप्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों के अतिरिक्त शब्दप्रमाण का एक अपना पृथक् स्थान है अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा हम जब किसी पदार्थ को जान लेते हैं तब हमें अपने ज्ञान के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। उसी प्रकार शब्दप्रमाण द्वारा भी हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उस सम्बन्ध में हमें कोई सन्देह नहीं रहता।

आप्त का शब्दार्थ है – पहुँचा हुआ। बोलचाल की भाषा में भी हम किसी सिद्ध व्यक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं कि अमुक व्यक्ति तो पहुँचा हुआ है। ऐसा कहने पर यह बताने की आवश्यकता नहीं रहती कि वह कहां पहुंचा हुआ है। 'पहुँचा हुआ' एक मुहावरा है जिसका अर्थ है – सत्य का साक्षात्कार। जिस व्यक्ति ने सत्य का साक्षात्कार कर लिया हो उसे हम आप्त पुरुष कहते हैं। ऐसे व्यक्ति के वचनों पर हम सन्देह नहीं करते। कुछ पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से होता है। घट पट आदि हमें आँख से दिखाई देते हैं। बुद्धि से हम अनुमान करते हैं। पृथ्वी घूम रही है यह ज्ञान हमें अनुमान से होता है। यहाँ तक का ज्ञान इन्द्रिय और बुद्धि का विषय है। इन्द्रिय और बुद्धि से संसार का व्यवहार चलता है। परमात्मा का ज्ञान न इन्द्रिय का विषय है न बुद्धि का। वह केवल अनुभव का विषय है – गूंगे का गुड़ केहरी खाए ओ मुस्काय। आप्त पुरुष जो शब्द कहते हैं वे केवल संकेत होते हैं। वास्तविक ज्ञान इन शब्दों के पीछे छिपा रहता है। आप्त पुरुषों का हर शब्द परम सत्य का प्रतीक है। अभिधा में तो सत्य को कहा ही नहीं जा सकता। यह कठिनाई वेद और उपनिषद् के ऋषि के सामने भी है और श्रीकृष्ण के सामने भी है। वेद कहता है कि एक ऐसा परम तत्त्व है जिसमें सब देवता समाहित हैं। जो उस तत्त्व को नहीं जानता उसका ऋचा भी कोई भला नहीं कर सकती। समाहित वही होता है जो उस तत्त्व को जानता है – **ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् अधि विश्वे देवा निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य एतद्विदुस्त त् उ समासते॥**

यहाँ वेद ने स्पष्ट ही शब्द की सीमा स्वीकार की है। दूसरी ओर गीता भाषा की दृष्टि से अत्यन्त सरल संस्कृत में लिखी गई है। जहां तक भाषा का प्रश्न है संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को भी गीता समझने में कोई कठिनाई नहीं है फिर भी श्रीकृष्ण गीता के ज्ञान को परमगुह्य बताते हैं। कुछ चीजें गोपनीय होती हैं; उदाहरणतः राष्ट्र परमाणु शस्त्र बनाने की प्रक्रिया को प्रकट नहीं करते। हम अपने घर में मूल्यवान् वस्तुओं को खुले में फैला कर नहीं रखते, छिपा कर रखते हैं। परमाणु शस्त्र बनाने की प्रक्रिया को इसलिए छिपाया जाता है कि आतंककारियों के हाथ न पड़ जाये। मूल्यवान् वस्तुओं को हम इसलिए छिपाते हैं कि उन्हें चोर न चुरा ले। आतंककारी और चोर ज्ञान और धन के कुपात्र हैं।

शस्त्र और शास्त्र का समन्वय

गीता बहुत तनावपूर्ण वातावरण में प्रारम्भ हुई थी। न केवल कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए कौरव-पाण्डव इकट्ठे हो गए थे बल्कि दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ होने का सूचक शङ्खनाद भी हो गया था, यहाँ तक कि स्वयं अर्जुन ने भी अपना देवदत्त नामक शङ्ख बजा दिया था। अभी तक अर्जुन को यह होश ही नहीं आया कि उसे अपनों के ही विरुद्ध युद्ध करना है। यदि उसे यह ख्याल आ जाता तो कम से कम अपना शङ्ख तो न बजाता और कह देता कि मैं युद्ध

नहीं करूँगा। अपनों से लड़ने वाली बात तो उसे तब ख्याल में आई जब उसके कहने पर श्रीकृष्ण ने उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच खड़ा किया और उसने विरोधी पक्ष में खड़े अपने ही गुरुजनों और भाई-बन्धुओं को देखा। उन्हें देखते ही सारा पासा पलट गया और उसने घोषणा कर दी कि वह युद्ध नहीं करेगा – **न योत्स्ये**, भले ही भिक्षा माँग कर अपना पेट पालना पड़े। इस घोषणा से कितना तहलका मचा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। उसने केवल यह घोषणा ही नहीं की बल्कि युद्ध के विरुद्ध ऐसी दलीलें भी दीं कि जिन्हें काटना आज भी कठिन लगता है। बल्कि तथाकथित शान्तिवादियों के लिए तो वे दलीलें आज भी बहुत काम की हैं।

अर्जुन साधारण व्यक्ति नहीं था। परम्परा श्रीकृष्ण को नारायण कहती है तो अर्जुन को भी नर की महनीय उपाधि देती रही है। ऐसा अर्जुन धर्मशास्त्र के सारे प्रमाण देता हुआ युद्ध करने से मना कर दे, तो उसे कौन समझा सकता है। समझाने को है भी क्या – वह नरसंहार करने से ही तो मना कर रहा है, कोई अच्छा काम करने से तो मना कर नहीं रहा कि उसे युद्ध के लाभ समझा कर युद्ध में प्रवृत्त किया जा सके। कोई नैतिकतावादी उसे शाबाशी अवश्य दे सकता है कि उसने राज्य के लोभ को छोड़ अहिंसक जीवन अपनाने का फैसला किया। ऐसे में भी श्रीकृष्ण ने जब उसे युद्ध करने को कहा – **तस्माद्युध्यस्व भारत !** तो स्वयं अर्जुन तथा दूसरे भी इस सम्वाद को सुनने वाले सञ्जय, धृतराष्ट्र आदि एक बार चकित तो अवश्य हुए होंगे कि श्रीकृष्ण शान्ति के सहज प्राप्त अवसर को युद्ध के अवसर में बदलने के लिए क्यों उत्सुक हैं।

इसी पसोपेश के बीच गीता के अठारह अध्याय पूरे हो गए। अर्जुन प्रश्न पर प्रश्न पूछते रहे, श्रीकृष्ण उत्तर पर उत्तर देते गए। प्रश्न सीधे और पैने थे। युद्ध का कर्म अत्यन्त घोर है, फिर श्रीकृष्ण अर्जुन को उस कर्म में क्यों लगाना चाहते हैं। प्रश्न बहुत व्यापक है। जीवन में अपना कर्त्तव्यपालन करने के लिए बहुत निर्मम और कठोर निर्णय लेने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में कर्त्तव्यपालन किया जाए या अहिंसा के नाम पर कर्त्तव्य से विमुख हो जाया जाए? मोटे तौर पर यही ऊहापोह पूरी गीता में चलता रहा। समाधान सरल नहीं था। लेकिन समस्या का समाधान होना आवश्यक था, नहीं तो श्रीकृष्ण की धर्म संस्थापना के लिए अवतरित होने की प्रतिज्ञा का क्या होता?

तर्क-वितर्क भी हुए, शास्त्रों की दुहाई भी दी गई, लेकिन समाधान मिला शरणागति में, भक्ति में। विचारणीय है कि क्या सारे तर्क और शास्त्र मिलकर भी जीवन की समस्या का समाधान दे सके हैं?

गीता कहती है कि जीवन में दुःख है नहीं, दुःख हमने अज्ञान और मोह के कारण पैदा कर लिया है। इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से यह नहीं पूछते कि तुझे इतना समझा दिया है, अब तो तू युद्ध करेगा न? श्रीकृष्ण पूछते हैं कि तेरा अज्ञान और सम्मोह जड़मूल से नष्ट हुआ या नहीं – **कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय?** हम सबको एक ही प्रश्न पूछना है – क्या हम अज्ञान और सम्मोह की स्थिति से छूटे? अज्ञान और सम्मोह छूट गया तो सब समस्याएँ स्वतः समाहित हो जाएँगी क्योंकि वस्तुतः समस्या कहीं कोई है ही नहीं, समस्या तो हमारे अज्ञान ने ही पैदा की है।

वेदान्त तो कहता है कि यह संसार ही अज्ञान से उत्पन्न हुआ है। मन अपनी आवरण शक्ति से सच्चाई को ढक लेता है और विक्षेप शक्ति से जो है ही नहीं उसे उत्पन्न कर देता है। मन में विक्षेपण की – प्रोजेक्ट करने की – शक्ति है। जैसे सिनेमा में पट पर प्रोजेक्टर उन पदार्थ और क्रियाओं को प्रोजेक्ट करके उत्पन्न कर देता है जो पट पर है ही नहीं, उसी प्रकार मन अपनी विक्षेप शक्ति से उन पदार्थ और क्रियाओं का क्षेपण कर देता है जो वस्तुतः हैं ही नहीं। हम उन पदार्थ तथा क्रियाओं से अज्ञानवश सम्मोहित होकर सुख-दुःख के झूले में झूलने लगते हैं, पाप-पुण्य की दुविधा में उलझे रहते हैं।

अर्जुन कहता है कि उसका मोह टूट गया है। उसे स्मृति प्राप्त हो गई है। वह सन्देह रहित होकर स्थिर हो गया है। अब वह वही करेगा जो श्रीकृष्ण कहेंगे – **करिष्ये वचनं तव।** मोह से उत्पन्न युद्ध न करने का निश्चय, मोह नष्ट हो जाने पर श्रीकृष्ण के वचनों का पालन करने की प्रतिज्ञा में बदल गया। यह सब स्वयं के पुरुषार्थ से नहीं, श्रीकृष्ण की कृपा से प्राप्त हुआ है – **त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।**

मूल तथा अनुवाद

सञ्जय उवाच –

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

सञ्जय बोले –

(हे धृतराष्ट्र ! हे राजन् !) ऐसा मैंने श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुन के इस अद्‌भुत रोमहर्षक सम्वाद को सुना है ।।७४।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

व्यासजी की कृपा से मैंने ये परम रहस्यमय योग बतलाते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण से साक्षात् सुना है ।।७५।।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

हे राजन् ! कृष्ण और अर्जुन के इस पुण्यमय अद्‌भुत संवाद को याद कर-करके मैं बारम्बार प्रसन्न हो रहा हूँ ।।७६।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

हे राजन् ! श्रीकृष्ण के उस अत्यन्त अद्‌भुत रूप को याद करके मेरे मन में महान् विस्मय हो रहा है और मैं बारम्बार पुलकित हो रहा हूँ ।।७७।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं वहाँ श्री, विजय, विभूति और ध्रुवनीति है – ऐसी मेरी समझ है ।।७८।।

विपुल-भाष्य

योगेश्वर और धनुर्धर

अर्जुन जैसे दृढ़ सङ्कल्पी ने सर्वतोभावेन समर्पण कर दिया तो एक अद्‌भुत घटना घट गई। अर्जुन जैसे बलशाली धनुर्धर ने भी अपने जीवन की बागडोर भगवान् के हाथ में सौंप दी तो हम अर्जुन से अधिक बलवान् तो नहीं हैं कि अपने जीवन का संचालन स्वयं करने का अहङ्कार लिए बैठे हैं? अर्जुन केवल बलवान् ही नहीं था, बुद्धिमान् भी था, सुंदर भी था। सारे कौरवों और पाण्डवों में वह श्रेष्ठ था। उसका श्रीकृष्ण की शरण में चला जाना गीता को सुनकर घटित हो गया। जो ज्ञान अहङ्कार को विगलित कर दे, वही ज्ञान तो पुण्यमय है। गीता के इस पुण्यमय ज्ञान को सुन सञ्जय रोमांचित हो गए। उनके हर्ष का कोई पारावार नहीं रहा – विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः। कोई अपना अहं छोड़ सकता है – यह विस्मय की बात है। अहं छोड़ेंगे तो अहं छोड़ने का अहं पकड़ लेगा। कोई अपने ही कन्धे पर कैसे चढ़ेगा? अर्जुन का अहं छूटा किन्तु उसे मालूम है कि यह उसके अपने किए से नहीं हुआ

है, यह श्रीकृष्ण की कृपा से हुआ है। सञ्जय कहते हैं कि उन्हें भी यह सम्वाद व्यास की कृपा से सुनने को मिल गया है – व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यं परम्।

गीता कहती है कि श्री, विजय और भूति तो वहीं रहती है जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धर अर्जुन हैं। बात बहुत साधारण सी लगती है लेकिन सञ्जय जैसा सञ्जीदा व्यक्ति गीता के अन्त में कोई बात कहेगा तो उसका महत्व होना चाहिए। गीता का सम्वाद एक योगेश्वर और धनुर्धर के बीच का सम्वाद है। एक कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और बुद्धियोग का अधिकृत ज्ञाता है, योगेश्वर है, दूसरा शस्त्रविद्या में निष्णात है। शस्त्र शक्ति का प्रतीक है, योग अनासक्ति का नाम है। शक्ति स्वयं में तटस्थ है, वह आसक्ति से जुड़ जाए तो न श्री है, न विजय, न विभूति। सिकन्दर या चंगेज खां या हिटलर शक्ति में कम नहीं थे लेकिन उन्हें न श्री मिली, न विजय, न विभूति। इतिहास में इनके नाम श्री-हीन लोगों की सूची में बहुत ऊपर दर्ज किए गए हैं। इन्होंने कहीं विजय भी पाई तो इतिहास उसे पराजय ही मानेगा, विभूति का तो प्रश्न ही नहीं है। चाँदी या सोने के टुकड़ों से विभूति बिल्कुल भिन्न चीज है। विभूति है जैसे सूर्य का प्रकाश, जैसे फूल की सुगन्ध, जैसे कोयल की कूक। इनमें से इनके पास कुछ भी तो नहीं था। इनके पास था तृष्णा का अँधेरा, वासना की दुर्गन्ध और मरुस्थल की शुष्कता। यह योगेश्वरों के बिना धनुर्धारियों की कहानी है।

बहुत बार सवाल उठता है कि भारत में तो गीता जैसा शास्त्र था फिर इस देश ने हजारों साल पराधीनता क्यों भोगी? यह देश दरिद्र क्यों हुआ? यहाँ अशिक्षा क्यों है? प्रश्न करना उचित है। लेकिन अर्जुन के बाद इस देश में किसी धनुर्धारी को गीता सुनाई ही किसने? अथवा किस धनुर्धारी ने गीता सुनने की जिज्ञासा प्रकट की? गीता को योगियों के लिए मान लिया गया, धनुर्धारियों ने गीता से अपना नाता ही तोड़ लिया। गीता संन्यासियों के द्वारा मंदिरों में उन वृद्ध स्त्री-पुरुषों के बीच कहने-सुनने की चीज मान ली गई जिनमें न वक्ता धनुर्धारी हो सकता है, न श्रोता। अलबत्ता कोई योगी भले ही हो जाए। पर इससे क्या? योग के साथ धनुर्धारी भी चाहिए न?

यदि धनुर्धारियों ने गीता सुनी होती तो क्या इस देश के अद्वितीय योद्धा इस बात को भूलकर कि 'आपस में विरोध होने पर हम पाण्डव पाँच तथा वे कौरव सौ हैं, किन्तु किसी अन्य के साथ विरोध होने पर हम एक सौ पाँच हैं – वयं पञ्चोत्तरं शतम्, विदेशियों के आक्रमण के समय जयचन्द वाला काम करते? और यदि यह न होता तो क्या इस देश को कोई परतंत्र बना सकता था? हमने योग का अर्थ सिर नीचा करके पाँव ऊपर करना तो मान लिया लेकिन गीता के इस लक्षण को हम क्यों भूल गए कि योग कर्मकुशलता का नाम है – योगः कर्मसु कौशलम्? कर्मकुशलता साधी जाती तो क्या दरिद्रता आ सकती थी? धनुर्धारी पार्थ की कर्मकुशलता तो 'चिड़िया की आँख' वाले मुहावरे के रूप में आज भी बच्चे-बच्चे की जवान पर है। तब ही तो वह 'धनञ्जय' बन सका। गीता के ज्ञान के साथ दो शर्तें लगाई – श्रद्धा और जितेन्द्रियता – श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। क्या हमने अपनी शिक्षा प्रणाली में ज्ञान का यह स्वरूप अपनाया?

सवाल और भी हैं, हो सकते हैं। जवाबों के लिए पढ़ते रहिए गीता को। आपको निराशा न होगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

—*—

कर्पूरचन्द्रेण सुधीवरेण प्रणोदितोऽहं श्रुतिसेवनार्थम्।
वेदाब्धिमध्ये नितरां निमग्नः प्राप्नोमि निद्रां न दिने न रात्रौ।।१।।

कथं श्रुतेर्मङ्गलकारिवाणी पतेज्जनानां श्रवणे सलीलम्,
इत्येव चिन्ता महती मदीयं चित्तं सदा व्याकुलितं व्यधत्त।।२।।

मार्गस्तदायं भगवत्कृपातो दृष्टो मया यद्यदि कृष्णगीतां,
गीतां कथञ्चिद्विवृणोमि पूर्णां मनोरथस्स्यात्सफलस्तदा मे।।३।।

भाष्याण्यपूर्वाणि कृतानि पूर्वैर्न नव्यभाष्ये प्रतिबन्धकानि।
गङ्गाजलं पीतमनेकलोकैरन्योऽपि पातुं न निषिध्यते तत्।।४।।

यथा यथा भाष्यमिदं क्रमेण कृतं मया शास्त्रपरायणेन।
कर्पूरचन्द्रेण तथा तथेदं प्रकाशितं दैनिकपत्रमध्ये।।५।।

राजस्थाने प्रथितपदवी पत्रिका या तदीया
तस्या लेखान् निजविरचितान् सूक्ष्मदृष्ट्या समीक्ष्य
यस्मात्सोऽहं झटिति कृतवानस्मि भाष्यं गभीरं
तस्मात्तस्यै नम इति वचः पत्रिकायै ब्रुवेऽहम्।।६।।

श्रावणे कृष्णपक्षीयचतुर्थ्यां शनिवासरे।
षड्षष्टिद्विसहस्राब्दे भाष्यं पूर्त्तिमगादिदम्।।७।।

इति श्रीपण्डितचिरञ्जीलालभार्गवाच्छ्रीमतीसूरजकलायां जातो राजस्थान्तर्गताल-वररजनपदस्थबेरोजग्रामवास्तव्यो राष्ट्रपतिसम्मानित आचार्यदयानन्दभार्गवः शैशव एव दुर्घटनावशाद्विवङ्गतस्य स्वपौत्रस्य विपुलस्य स्मृतौ भाष्यमिदं विपुलेति नाम्नाभिहितवान्।

तच्चेदमद्य सम्पूर्त्तिं प्राप्नुवल्लोककल्याणाय प्रभवेदिति।

विद्वद्वरेण्य श्री कर्पूरचन्द्र जी ने मुझे श्रुति भगवती की सेवा के लिये प्रेरित किया। मैं वेद-समुद्र में ऐसा डूबा कि न दिन में चैन पड़ता था न रात में ॥१॥

इस गहरी चिन्ता ने मेरे चित्त को व्याकुल कर दिया कि किस प्रकार श्रुति की मङ्गलकारिणी वाणी सरलतापूर्वक लोगों के कानों तक पहुँचे॥२॥

भगवत्कृपा से तब मुझे यह मार्ग दिखायी पड़ा कि यदि मैं किसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा प्रोक्त पूरी गीता की व्याख्या कर दूँ तो मेरा मनोरथ सफल हो जायेगा॥३॥

पूर्व में जो अपूर्व व्याख्यायें हुई हैं वे नयी व्याख्या करने में बाधक नहीं हैं; अनेक लोगों ने पहले गङ्गाजल पिया है तो दूसरों के लिये भी उसे पीना निषिद्ध नहीं है॥४॥

शास्त्रानुशीलन करते हुए जैसे-जैसे क्रमशः मैंने यह भाष्य लिखा वैसे-वैसे श्री कर्पूरचन्द्र जी ने अपने दैनिक पत्र में क्रमशः इसे प्रकाशित भी कर दिया॥५॥

उनकी जो राजस्थान में सुविश्रुत पत्रिका– राजस्थान पत्रिका है उसमें से सूक्ष्मतापूर्वक अपने ही लिखे लेखों को भलीप्रकार देख कर क्योंकि मैं शीघ्र ही यह गम्भीर भाष्य पूरा कर सका, इसलिये मैं उस पत्रिका का आभारी हूँ॥६॥

श्रावण कृष्णा चतुर्थी सम्वत् २०६६ को शनिवार के दिन यह भाष्य पूरा हुआ॥७॥

इस प्रकार पण्डित श्री चिरञ्जीलाल भार्गव एवं श्रीमती सूरजकला के पुत्र, राजस्थान में अलवर जिले के अन्तर्गत बेरोज गाँव के मूलनिवासी, राष्ट्रपतिसम्मानित, आचार्य दयानन्द भार्गव ने दुर्घटनावश शैशव में ही दिवङ्गत अपने पौत्र विपुल की स्मृति में इस भाष्य का नाम ''विपुल'' रखा।

यह भाष्य आज पूर्ण हुआ है। प्रार्थना है कि वह भाष्य लोककल्याणकारी सिद्ध हो।

—

भाष्यकार-परिचय



नाम : दयानन्द भार्गव
जन्म : 22 फरवरी, 1937
शिक्षा : बी.ए. ऑनर्स (अँग्रेजी),
एम.ए. (संस्कृत),
पीएच.डी.

पद :

- अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, रामजस कॉलेज, दिल्ली
- रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू तथा इलाहाबाद
- आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
- आचार्य एवम् अध्यक्ष, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ
- प्रोफेसर एमेरेटिस, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ
- विजिटिंग प्रोफेसर, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
- सम्प्रति-अध्यक्ष, वेदवाचस्पति मधुसूदन ओझा वेदविज्ञान पीठ, जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

कृतित्व

शोध प्रकाशन

1. ऋचा रहस्य, 2. तर्कसंग्रह, 3. सांख्यकारिका-युक्तिदीपिका-भाष्य, 4. अपरवाद, 5. आवरणवाद, 6. पितृसमीक्षा, 7. व्योमवाद, 8. वर्णसमीक्षा, 9. वेदविद्याप्रवेशिका, 10. वेद-विज्ञानवीथिका, 11. वेदविज्ञानवाक्यमाला, 12. भृगुवंश, 13. जैन जीवन दर्शन की पृष्ठभूमि, 14. महाप्रज्ञदर्शन, 15. आधुनिक संस्कृतसाहित्य, 16. Holistic Approach of the Vedas, 17. Who Am I, 18. Earthen Lamps, 19. Philosophy of Non-violence, 20. Glimpses of Indian Philosophy and Sanskrit Literature, 21. Integral World-view of the Vedas, 22. Jain Ethcis, 23. Jainatarka-Bhasa

पुरस्कार

1. शिक्षा विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर 2. राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर 3. आचार्य हस्तिमल पुरस्कार 4. प्रेक्षा पुरस्कार 5. राष्ट्रपतिसम्मान, भारतसरकार, नई दिल्ली

सांस्कृतिक-शैक्षणिक विदेश यात्रा

अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड, थाइलैण्ड, नेपाल

सम्मानित पद

1. सम्पादक, सर्वभाषाकालीदासीयम्, 2. सदस्य, राजस्थान संस्कृत अकादमी, 3. प्रधान संपादक, लाला सुन्दर लाल जैन रिसर्च सीरीज, 4. सदस्य, केन्द्रीय संस्कृत समिति, नई दिल्ली, 5. सदस्य, सिन्डीकेट, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

व्यक्तित्व

मुझे भार्गव साहब ईश्वरीय देन के रूप में मिले हैं।...मुझे तो एक की तलाश थी, हजारों-लाखों की नहीं, और वह एक मुझे भार्गव साहब में मिल गया।

– श्री कर्पूरचन्द्र जी कुलिश

Prof. Bhargava is not only an eminent scholar, researcher and ideal teacher, but also an original thinker.

– Prof. M.L. Mathur, Ex-V.C., Jodhpur

गीता से मैं शोक में भी मुस्कराने लगता हूँ

जब मुझे शंकायें घेरती हैं, निराशायें मेरा सामना करती हैं, और मुझे आकाश–मण्डल पर कोई ज्योति की किरण दृष्टिगोचर नहीं होती, उस समय मैं गीता की ओर ध्यान देता हूँ। उसमें कोई न कोई श्लोक मुझे शान्तिदायक अवश्य मिल जाता है और घोर शोकाकुल अवस्था में मैं तुरन्त मुस्कराने लगता हूँ। गीता शास्त्रों का दोहन है, गीता मेरे लिये केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, वह मेरे लिये माता हो गयी है। जो इस माता की शरण लेता है, उसे वह ज्ञानामृत से तृप्त करती है।

—महात्मा गान्धी

हिन्दु–धर्म के तत्त्वों को समझा देने वाला गीता की जोड़ का दूसरा ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में है ही नहीं।

—लोकमान्य बा.गं.तिलक

किसी भी जाति को उन्नति के शिखर पर चढ़ाने के लिये गीता का उपदेश अद्वितीय है।

—वारेन हेस्टिंग्ज

गीता उपनिषदों से चयन किये हुए आध्यात्मिक सत्य के सुन्दर पुष्पों का गुच्छा है

—स्वामी विवेकानन्द

ऐसा अपूर्व धर्म, ऐसा अपूर्व एक्य, केवल गीता में ही दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अद्भुत धर्मव्याख्या किसी भी देश में और किसी भी काल में किसी ने की हो ऐसा जान नहीं पड़ता।

—बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

गीता का जो सकमा पाठ करते हैं उनको मनोवांछित फल प्राप्त होता है और जो निष्का पाठ करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध होने उनको परमानन्द की प्राप्ति होती है।

—परमहंस स्वामी आनन्दगिरि

गीता आध्यात्मिक और दार्शनिक दोनों है। इसमें नयदृष्टि का पद पद पर उपयोग उपलब्ध है इसलिये यह द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों के लिये आधारभूत ग्रन्थ है।

—आचार्य महाप्रज्ञ

गीता सब सुखों की नीवं है और सब विद्याओं की मूल भूमि है।

—सन्त ज्ञानेश्वर

गीता विश्व के भ[illegible] के प्रति भ[illegible]त का अमूल्य योगदान है।

—श्री [illegible] ब्रूक्स

Sri Aurobindo considers the message of the Gita to be the basis of the great spiritual movement.

-The Mother

Gita is the most beautiful, perhaps, the only true philosophical song existing in any known tongue.

-Mr. William Von Humboldt